मुद्रा एवं मौद्रिक संस्थाएँ

(अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार, राष्ट्रीय आय एवं राजस्व सहित)

[भारतीय विश्वविद्यालयों के लिए]

(चतुर्दश संशोधित एवं परिवर्द्धित संस्करण)

प्रकाशक
ज्ञानदा प्रकाशन
पटना-800004

शाखाएं :—
दिल्ली—4837/2 अंसारी रोड, 24 दरियागंज,
दिल्ली 6
मुजफ्फरपुर—अशोक मार्केट, मोतीझील,
मुजफ्फरपुर
आरा—महादेवा रोड, आरा
रांची—एस० एन० गांगुली रोड रांची
भागलपुर—गुरुद्वारा रोड भागलपुर 2
गया—पीर मंसूर रोड गया

[मूल्य रु० 20 00 मात्र

प्रथम	संस्करण	सितम्बर, 1960
द्वितीय	संस्करण :	अक्टूबर, 1961
तृतीय	संस्करण	सितम्बर, 1962
चतुर्थ	संस्करण :	जुलाई, 1963
पंचम	संस्करण	जुलाई, 1964
षष्ठ	संस्करण :	जुलाई, 1965
सप्तम	संस्करण	जुलाई, 1966
अष्टम	संस्करण	जनवरी 1968
नवम	संस्करण	मार्च, 1969
दशम	संस्करण	जुलाई, 1970
एकादश	संस्करण	अगस्त, 1971
द्वादश	संस्करण	अगस्त, 1972
त्रयोदश	संस्करण	अगस्त, 1973
चतुर्दश	संस्करण	जुलाई 1975

(पूर्णतया संशोधित एवं परिवर्द्धित)

मुद्रक
ज्ञान प्रचारक प्रेस
पटना—4

विषय-सूची

खंड 1 : मुद्रा

1. मुद्रा का आविष्कार 3-15
(The Invention of Money)

प्राक्कथन, वस्तु विनिमय प्रणाली की कठिनाइयाँ, मुद्रा का विकास—वस्तु मुद्रा, धात्विक मुद्रा, मुद्रा के रूप में बहुमूल्य धातुएँ, सिक्के, पत्र-मुद्रा, चेक, निष्कर्ष।

2. मुद्रा की परिभाषा एवं कार्य 16-25
(Definition and Functions of Money)

मुद्रा की परिभाषा—सामान्य स्वीकृति पर आधारित परिभाषाएँ, कार्यवाहक परिभाषाएँ, वैधानिक परिभाषाएँ, मुद्रा के कार्य—प्राथमिक कार्य, गौण कार्य, आकस्मिक कार्य।

3. आर्थिक जीवन मे मुद्रा का महत्त्व 26-39
(Importance of Money in Economic life)

प्रतिष्ठित अर्थशास्त्र मे मुद्रा का महत्त्व, प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों के दृष्टिकोण मे दोष, आर्थिक जीवन मे मुद्रा का महत्त्व,आर्थिक प्रणाली के नियन्त्रक के रूप मे मुद्रा का महत्त्व, आयोजित अथवा समाजवादी अर्थ-व्यवस्था मे मुद्रा, मुद्रा के गुण एव अवगुण—मुद्रा के लाभ, मुद्रा के दोष, निष्कर्ष, मुद्रा की वास्तविक प्रकृति।

4. मुद्रा का वर्गीकरण 40-52
(Classification of Money)

मुद्रा के विभिन्न रूप—धात्विक मुद्रा एव पत्र-मुद्रा, धात्विक मुद्रा-प्रामाणिक सिक्के, सांकेतिक सिक्के, पत्र-मुद्रा, प्रतिनिधि पत्र-मुद्रा, प्रतिनिधि पत्र-मुद्रा के गुण, प्रतिनिधि पत्र-मुद्रा के दोष, परिवर्तनीय पत्र-मुद्रा, परिवर्तनीय पत्र-मुद्रा के गुण, परिवर्तनीय पत्र-मुद्रा के दोष, अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा—अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा के गुण, अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा के दोष, पत्र-मुद्रा के गुणावगुण, पत्र-मुद्रा के लाभ,वास्तविक मुद्रा तथा हिसाब की मुद्रा,विधिग्राह्य-मुद्रा तथा ऐच्छिक मुद्रा, अपरिमित विधि-ग्राह्य मुद्रा, परिमित-विधि-ग्राह्य-मुद्रा, ऐच्छिक मुद्रा, अच्छे मुद्रा-पदार्थ के गुण, ग्रेशम का नियम।

5. बैंकों की प्रकृति एवं कार्य 53-60
(The Nature and Functions of Bank)

प्राक्कथन, बैंको का विकास, बैंक की परिभाषा, आधुनिक बैंको के कार्य एव सेवाएँ-प्राथमिक कार्य, सामान्य उपयोगिता-सम्बन्धी कार्य, एजेन्सी-सम्बन्धी कार्य।

6. बैंक-जमा का सृजन 61-68
(The Creation of Bank Deposit)

बैंक-जमा अथवा साख का महत्त्व, बैंक-जमा सृजन के तरीके, बैंक जमा अथवा साख-सृजन की शक्ति की सीमाएँ, नकद कोष का अनुपात, जमानत की प्रकृति, प्राथमिक जमा की मात्रा, केन्द्रीय बैंक की साख-नीति।

7. मुद्रा का मूल्य 69-71
(Value of Money)

मुद्रा के मूल्य का अर्थ, सामान्य मूल्य-तल, मुद्रा का थोक मूल्य, मुद्रा का फुटकर मूल्य, मुद्रा का श्रम-मूल्य, मुद्रा के मूल्य-सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण प्रश्न।

8. निर्देशांक 72-81
(Index Number)

प्राक्कथन, निर्देशांक किसे कहते हैं ?, निर्देशांक का निर्माण, आधार वर्ष का चुनाव, वस्तुओं एवं सेवाओं का चुनाव, मूल्यों का सकलन, मूल्यों को प्रतिशत में दिखलाना, भारशील निर्देशांक, निर्देशांक बनाने की कठिनाइयाँ, निर्देशांकों के विभिन्न प्रकार, निर्देशांकों की उपयोगिता।

9. मुद्रा के मूल्य में परिवर्तन 82-89
(Changes in the Value of Money)

प्राक्कथन, मुद्रा के मूल्य में परिवर्तन का समाज के विभिन्न वर्गों पर प्रभाव, मुद्रा के मूल्य में परिवर्तन का धन के वितरण पर प्रभाव, मुद्रा के मूल्य में परिवर्तन का उत्पादन पर प्रभाव, निष्कर्ष।

10. मुद्रा का परिमाण सिद्धांत 90-106
(The Quantity Theory of Money)

प्राक्कथन, सिद्धांत का प्राचीन रूप, परिमाण सिद्धांत का आदान-प्रदान रूप, मुद्रा की पूर्ति, मुद्रा की माँग, फिशर का समीकरण, फिशर के समीकरण की मान्यताएँ, मुद्रा की पूर्ति के निर्धारक तत्त्व, मुद्रा के भ्रमण-प्रवाह के निर्धारक तत्त्व, क्रय-विक्रय के परिमाण के निर्धारक तत्त्व, फिशर के सिद्धांत की आलोचनाएँ, परिमाण सिद्धांत में सत्यता का अंश।

11. परिमाण सिद्धांत का कैम्ब्रिज रूप अथवा मुद्रा-संचयन दृष्टिकोण 107-115
(Cash Balance Approach)

प्राक्कथन, मुद्रा की पूर्ति, मुद्रा की माँग, कैम्ब्रिज समीकरण, मार्शल का समीकरण, राबर्टसन का समीकरण, प्रो० पीगू का समीकरण, केन्स की मुद्रा की माँग की धारणा, फिशर एवं कैम्ब्रिज विचारधारा में अन्तर, कैम्ब्रिज समीकरण की आलोचनाएँ, कैम्ब्रिज समीकरण में केन्स द्वारा संशोधन।

12. मुद्रा का आय सिद्धांत 116-126
(The Income Theory of Money)

परिमाण सिद्धान्त के मूल दोष, आय का प्रभाव, टूक के विचार, विकसेल के विचार, अफ्तालियन के विचार, केन्स के मौलिक सिद्धान्त, केन्स के मौलिक समीकरण, केन्स के मौलिक समीकरणों की आलोचना, जेनरल थियरी में केन्स के विचार।

13. बचत एवं विनियोग सिद्धांत 127-135
(Saving and Investment Theory)

प्राक्कथन, प्रतिष्ठित दृष्टिकोण, स्वीडेन के अर्थशास्त्रियों का दृष्टिकोण, राबर्टसन का दृष्टिकोण, केन्स का दृष्टिकोण—केन्स के प्रारम्भिक विचार, केन्स के बाद के विचार, बचत एवं विनियोग सिद्धान्त की परिमाण सिद्धान्त से तुलना।

14. व्यापार-चक्र 136-158
(The Trade cycle)

प्राक्कथन, व्यापार-चक्र का अर्थ, व्यापार-चक्र की विशेषताएँ व्यापार-चक्र की प्रावस्थाएँ, व्यापार-चक्र के कारण, व्यापार-चक्र के विभिन्न सिद्धात—1 जलवायु-सम्बन्धी सिद्धात, 2 व्यापार-चक्र सम्बन्धी मौद्रिक सिद्धात, 3 हॉब्सन का अति-बचत सिद्धात, 4 केन्स का सिद्धान्त, 5 मकड़ी जाला सिद्धात, 6. हॉट्रे का व्यापार-चक्र-सम्बन्धी सिद्धांत 7. शुम्पीटर का सिद्धान्त, 8. हिक्स का सिद्धान्त, व्यापार-चक्र के निदान ।

खण्ड 2 : बैंकिग

15. व्यावसायिक बैंकों का संगठन 161-169
(Organisation of Commercial Banks)

प्राक्कथन, शाखा एव एकक बैंकिंग प्रणाली, शाखा एव एकक बैंकिंग प्रणाली के गुण एव दोष—शाखा बैंकिंग प्रणाली के गुण-दोष, एकक बैंकिंग प्रणाली के गुण-दोष भारत एव शाखा बैंकिंग प्रणाली, विभिन्न देशों में व्यावसायिक बैंकों का संगठन—इग्लैंड सयुक्त राज्य अमेरिका, फ्रास जर्मनी तथा भारतवर्ष की बैंकिंग प्रणाली का सक्षिप्त विवरण बैंको का समाशोधन गृह ।

16 व्यावसायिक बैंकों का स्थिति-विवरण या तल-पट 170-174
(Balance sheet of Commercial Banks)

बैंक के तल-पट का अर्थ, बैंक के तल-पट का नमूना, व्यावसायिक बैंको का दायित्व, व्यावसायिक बैंक के साधन या सम्पत्ति ।

17 व्यावसायिक बैंकों के साधनों का वितरण 175 180
(Distribution of the Assets of Commercial Banks)

बैंक के साधनो के वितरण का आर्थिक महत्त्व, व्यावसायिक बैंको के सिद्धान्त, साधनो की तरलता, लाभदायकता, साधनो की सुरक्षा, बैंक के ऋणो की माग मे परिवर्त्तन ।

18 साख-पत्र 181-187
(Credit Instrument)

साख क्या है ?, साख क आवश्यक तत्त्व, विभिन्न प्रकार के साख-पत्र, चेक, विनिमय-बिल, प्रतिज्ञा-पत्र या रुक्का, हुण्डी, बैंक ड्राफ्ट, साख प्रमाण-पत्र, यात्रियों के चेक, पुस्तकीय साख, साख के कार्य एव उपयोगिता, साख की हानियाँ ।

19 लंदन तथा न्यूयार्क मुद्रा-बाजार 188-198
(London & New York Money Market)

मुद्रा-बाजार का अर्थ, मुद्रा-बाजार का आर्थिक महत्त्व, लंदन मुद्रा-बाजार—लदन मुद्रा-बाजार की निर्मायक सस्थाएँ, स्वीकृति-गृह, बट्टा-गृह, बिल-ब्रोकर, प्रचलित दलाल, लदन मुद्रा-बाजार की कार्य-प्रणाली, विनिमय बिल, ट्रेजरी बिल, अल्पकालीन सरकारी ऋण-पत्र, लन्दन के मुद्रा-बाजार के अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व मे कमी, लदन मुद्रा-बाजार मे आधुनिक समय मे परिवर्तन, न्यूयार्क का मुद्रा-बाजार—व्यावसायिक वित्त, विनिमय बिल, ट्रेजरी सर्टिफिकेट, शेयर-बाजार को दिया जाने वाला ऋण, अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय केन्द्र के रूप मे न्यूयार्क मुद्रा-बाजार ।

20. ✓ भारतीय मुद्रा-बाजार 199-204
(The Indian Money Market)
मुद्रा-बाजार का अर्थ, भारतीय मुद्रा-बाजार की प्रधान विशेषताएँ, भारतीय मुद्रा-बाजार की निर्मायक संस्थाएँ, भारतीय मुद्रा-बाजार के विभिन्न अंग, भारतीय मुद्रा-बाजार के मुख्य दोष, भारतीय मुद्रा-बाजार के दोषो को दूर करने के सुझाव, भारत मे बिल बाजार, रिजर्व बैंक के बिल-बाजार की योजना।

21. केन्द्रीय बैंकिग 205-212
(Central Banking)
केन्द्रीय बैंक का आशय, विकास, केन्द्रीय एव व्यावसायिक बैंको मे मूल अन्तर, बैंक ऑफ इगलैंड, फेडरल रिजर्व प्रणाली, रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया, अन्य देशो के केन्द्रीय बैंक।

22. केन्द्रीय बैंक के कार्य 213-226
(Functions of Central Bank)
केन्द्रीय बैंक के कार्य—पत्र-मुद्रा जारी करने का कार्य, पत्र मुद्रा जारी करने के सिद्धात—करेन्सी सिद्धात—गुण एव दोष, बैंकिंग सिद्धात—गुण-दोष, नोट जारी करने की रीतियाँ, पत्र-मुद्रा जारी करने की कौन-सी रीति सबसे अच्छी है ?, भारत मे नोट जारी करने की प्रणाली, केन्द्रीय बैंक का सरकार के बैंकर, एजेंट एव सलाहकार के रूप मे कार्य, बैंको के बैंक के रूप मे कार्य, देश की अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष का सरक्षक, अन्तिम सहायक के रूप मे कार्य, बैंक ऑफ इगलैंड का अन्तिम सहायक के रूप मे कार्य, समाशोधन गृह के रूप मे कार्य, साख-नियन्त्रण का कार्य, निष्कर्ष।

23. साख का नियंत्रण 227-231
(Credit Control)
प्राक्कथन, साख-नियन्त्रण की आवश्यकता, साख-नियन्त्रण के उद्देश्य, साख-नियन्त्रण की नीति की सफलता की शर्तें, साख-नियन्त्रण के तरीके।

24. बैंक-दर का सिद्धांत 232-240
(The Theory of Bank Rate)
बैंक-दर का अर्थ, बैंक-दर के सिद्धात का विकास, बैंक दर नीति का सिद्धात, हाट्रे की विचारधारा, केन्स की विचारधारा, 1914 ई० के बाद बैंक-दर नीति, बैंक-दर के महत्व में कमी के कारण, मुद्रा-बाजार की नीति में महान् परिवर्तन, आर्थिक व्यवस्था मे परिवर्तन, साख-नियन्त्रण के अन्य सप्रवाहिक साधनो का अधिकाधिक प्रयोग, सस्ती मुद्रा नीति का समावेश, बैंक-दर के महत्व में पुनः वृद्धि, अर्द्ध-विकसित देशों में बैंक-दर नीति।

25. खुले बाजार की नीति 241-247
(Open Market Operation)
खुले बाजार कार्यक्रम का अर्थ, खुले बाजार कार्यक्रम का विकास, खुले बाजार की नीति का सिद्धात, खुले बाजार की नीति की सफलता की शर्तें, खुले बाजार की नीति का क्षेत्र, बैंक ऑफ इगलैंड की खुली-बाजार-नीति, फेडरल रिजर्व प्रणाली की खुली बाजार-नीति, रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया की खुली बाजार-नीति, बैंको के नकद कोष के अनुपात मे परिवर्तन।

26. गुणात्मक नियंत्रण के तरीके 248-253
(Methods of Qualitative or Selective Credit Control)

गुणात्मक नियंत्रण का अर्थ एवं उद्देश्य, गुणात्मक नियंत्रण के विभिन्न तरीके—साख की रैशनिंग के प्रत्यक्ष तरीके-नैतिक दबाव, उपभोक्ता की साख का नियंत्रण, प्रचार, शेयर बाजार के ऋण की सीमा में परिवर्तन करना, निष्कर्ष।

27. रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया 254-266
(Reserve Bank of India)

रिजर्व बैंक की स्थापना-विधान, प्रबन्ध, संगठन, रिजर्व बैंक के कार्य, साख-नियंत्रण, साख-नियंत्रण की नीति के अप्रभावपूर्ण होने के कारण, रिजर्व बैंक एवं कृषि-साख, रिजर्व बैंक औद्योगिक वित्त, रिजर्व बैंक के कार्यों का मूल्यांकन।

28. बैंकों का राष्ट्रीयकरण 267-272
(Nationalisation of Banks)

प्राक्कथन, केन्द्रीय बैंक का राष्ट्रीयकरण, केन्द्रीय बैंक के राष्ट्रीयकरण के पक्ष में तर्क, विपक्ष में तर्क, व्यावसायिक बैंकों का राष्ट्रीयकरण—राष्ट्रीयकरण के पक्ष में तर्क—कार्य-क्षमता-सम्बन्धी तर्क, एकीकरण-सम्बन्धी तर्क, मुद्रीकरण-सम्बन्धी तर्क, समाजीकरण-सम्बन्धी तर्क, व्यावसायिक बैंकों के राष्ट्रीयकरण के विपक्ष में तर्क, निष्कर्ष।

29. भारतीय बैंकों का राष्ट्रीयकरण 273-286
(Nationalisation of Commercial Banks in India)

प्राक्कथन, भारत में व्यावसायिक बैंकों के राष्ट्रीयकरण के पक्ष में तर्क, विपक्ष में तर्क, बैंको का सामाजिक नियंत्रण, चौदह बड़े बैंको का राष्ट्रीयकरण, राष्ट्रीयकरण के उद्देश्य, बैंको के राष्ट्रीयकरण को सफल कैसे बनाया जाय ?, राष्ट्रीयकृत बैंकों की प्रगति।

खण्ड 3 : मौद्रिक एवं वित्तीय नीति

30. मौद्रिक नीति 289-305
(Monetary Policy)

प्राक्कथन, मौद्रिक नीति का आरोप, मौद्रिक-नीति के उद्देश्य-विनिमय-दर का स्थायित्व, मूल्य-तल को स्थायी बनाना, धीरे-धीरे बढ़नेवाला मूल्य-तल, तटस्थ मुद्रा, मौद्रिक नीति एवं पूर्ण रोजगार, मौद्रिक-नीति एवं आर्थिक विकास, अन्तिम विचार, अर्द्ध-विकसित देशों के लिए मौद्रिक-नीति, अर्द्ध-विकसित देशों के लिए मौद्रिक नीति की सीमाएँ।

31. सस्ती मुद्रा नीति 306-310
(Cheap Money Policy)

प्राक्कथन, सस्ती मुद्रा-नीति का अर्थ, निम्न सूद की दर के पक्ष में तर्क, सस्ती मुद्रा-नीति के विपक्ष में तर्क, व्यवहार में सस्ती मुद्रा-नीति।

32. प्रशुल्क नीति 311-317
(Fiscal Policy)

प्राक्कथन, राजकीय बजट तथा आर्थिक क्रियाएँ, प्रशुल्क नीति के उद्देश्य—प्रशुल्क नीति तथा आर्थिक विकास, प्रशुल्क नीति एवं आर्थिक स्थायित्व, प्रशुल्क नीति एवं आर्थिक समानता, मौद्रिक एवं प्रशुल्क नीतियों में सम्बन्ध।

33. प्रशुल्क नीति एवं पूर्ण रोजगार 318-324-
(Fiscal Policy and Full Employment)

पूर्ण रोजगार के सम्बन्ध में प्रमुख नीति का प्रतिष्ठित मत, केन्स के विचार, पूर्ण रोजगार की प्राप्ति के लिए प्रशुल्क नीति-सार्वजनिक व्यय तथा पूर्ण रोजगार, करारोपण एव पूर्ण रोजगार, सार्वजनिक ऋण तथा पूर्ण रोजगार, निष्कर्ष।

34. मुद्रा-स्फीति एवं मुद्रा-संकुचन का कारण एवं निदान 325-337
(Inflation and Deflation Causes and Cure)

प्राक्कथन, **मुद्रा-स्फीति का अर्थ**, मुद्रा-स्फीति के विभिन्न रूप, मुद्रा-स्फीति के कारण, मुद्रा-स्फीति के परिणाम, मुद्रा-स्फीति का नियत्रण, मुद्रा-सकुचन, **मुद्रा-सकुचन का अर्थ**, मुद्रा-सकुचन के कारण, मुद्रा-सकुचन के परिणाम, मुद्रा-सकुचन का नियन्त्रण, मुद्रा-सस्फीति एव मुद्रा-विस्फीति।

35. केन्स का सामान्य सिद्धांत 338-357
(Keynes' General Theory)

प्राक्कथन, केन्स एव प्रतिष्ठित अर्थशास्त्र, रोजगार का प्रतिष्ठित सिद्धात, प्रभावपूर्ण माग का सिद्धान, प्रभावपूर्ण माग के निर्धारक तत्व, उपभोग प्रवृत्ति, विनियोग की प्रेरणा या विनियोग क्रिया, पूँजी की सीमात क्षमता, ब्याज की दर, विनियोग एव उपभोग मे सम्बन्ध, आय एव व्यय मे सम्बन्ध, गुणक, गति वर्द्धक सिद्धात, जेनरल थियरी का व्यावहारिक महत्त्व।

खण्ड 4 : अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक प्रणालियाँ एवं सस्थाएँ

36. स्वर्ण-मान 358-381
(Gold Standard)

प्राक्कथन, स्वर्ण-मान क्या है ?, स्वर्ण-मान के विभिन्न रूप, स्वर्ण-चलन मान—विशेषताएँ, स्वर्ण-चलन मान के लाभ, स्वर्ण चलन मान के दोष, स्वर्ण धातु मान—विशेषताएँ, स्वर्ण-धातु मान के लाभ, स्वर्ण-धातु मान के दोष, स्वर्ण-विनिमय मान—विशेषताएँ, स्वर्ण-विनिमय मान के गुण, स्वर्ण-विनिमय मान के दोष, स्वर्ण-मान के कार्य अथवा उद्देश्य, स्वर्ण मान के लाभ, स्वर्ण-मान की हानियाँ, अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्ण-मान की सचालन विधि, दोनो विश्व युद्धो के बीच का स्वर्ण-मान, स्वर्ण-मान के सफल सचालन के लिए आवश्यक दशाएँ—स्वर्ण-मान के पतन के कारण, स्वर्ण का भविष्य—अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष मे स्वर्ण का महत्व, निष्कर्ष।

37. अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष 382-398
(International Monetary Fund)

प्राक्कथन, अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष की स्थापना, मुद्रा कोष एव केन्द्रीय बैंक, अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष के उद्देश्य, अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष के साधन एव पूँजी, कोष की व्यवस्था एव सगठन, मुद्रा-कोष एव विनिमय स्थायित्व, समता-दर मे परिवर्तन, मुद्रा-कोष एव विनिमय-नियन्त्रण, मुद्रा-कोष के लेन-देन, अल्प मुद्राएँ, कोष के साधनो की तरलता, मुद्रा-कोष के कार्य, अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष मे स्वर्ण का स्थान, स्वर्ण-प्रमाप एव अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष मे अन्तर, कोष की व्यवस्था एव सगठन, मुद्रा-कोष के वास्तविक कार्य, अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष की आलोचनात्मक समीक्षा, भारत एवं मुद्रा-कोष, अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की समस्या, विशेष आहरण अधिकार, बर्नर योजना।

38. अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण एवं विकासार्थ बैंक 399-408
(International Bank For Reconstruction and Development)

प्रावकथन, अन्तर्राष्ट्रीय बैंक के उद्देश्य, विश्व बैंक की पूँजी एव इसके साधन, बैंक की पूँजी मे वृद्धि, बैंक की व्यवस्था, बैंक का कार्यक्रम, अन्तर्राष्ट्रीय बैंक के कार्यों की समीक्षा, बैंक तथा अविकसित एव अर्द्ध-विकसित देश, बैंक की व्यवस्था, भारत एव अन्तर्राष्ट्रीय बैंक।

39. अंतर्राष्ट्रीय वित्त-निगम एवं अंतर्राष्ट्रीय विकास-संघ 409-410

प्रावकथन, अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम, अन्तर्राष्ट्रीय विकास-सघ।

40. अंतर्राष्ट्रीय तरलता की समस्या एवं विशेष आहरण अधिकार 411-420
(Problems of International Liquidity &. S. D. R.)

प्रावकथन, अन्तर्राष्ट्रीय तरलता का अर्थ, अन्तर्राष्ट्रीय तरलता के साधन, अन्तर्राष्ट्रीय तरलता का महत्त्व, तरल कोषों की पर्याप्तता, अन्तर्राष्ट्रीय तरलता मे किस प्रकार वृद्धि की जाय ?, विशेष आहरण अधिकार क्या है ?, एस० डी० आर० योजना की विशेषताएँ, विकासशील देश एव विशेष आहरण अधिकार, विशेष आहरण अधिकार की आलोचना।

41. विदेशी विनिमय 421-437
(Foreign Exchange)

विदेशी विनिमय का अर्थ, विदेशी विनिमय-बाजार, विनिमय की दर— विनिमय की दर का अर्थ, विनिमय की दर का निर्धारण, विदेशी मुद्रा की माग के कारण, विनिमय-दर की समता, स्वर्ण मान वाले देशो में विनिमय-दर, टक-समता का निर्धारण, टक-समता मे परिवर्तन और अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा वाले देशो मे विनिमय की दर, क्रय-शक्ति-साम्य सिद्धात (Purchasing Power Parity Theory)) —परिभाषा, व्याख्या, क्रय-शक्ति साम्य सिद्धात की आलोचनाएँ, भुगतान-सतुलन का सिद्धान्त।

42. विनिमय-नियंत्रण 438-448
(Exchange Control)

विनिमय-नियन्त्रण का अर्थ, विनिमय-नियन्त्रण के उद्देश्य —अधिमूल्यन, अवमूल्यन, विनिमय-दर मे होनेवाले परिवर्तनो को रोकना, विनिमय-नियत्रण, के तरीके, —हस्तक्षेप, विनिमय-प्रतिबन्ध, विनिमय-नियन्त्रण का वाणिज्य पर प्रभाव, विनिमय-सरकारी कोष, जर्मनी का विनिमय-प्रतिबन्ध, परोक्ष तरीके, भारत मे विनिमय-नियत्रण, अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष तथा विनिमय-स्थायित्व।

खण्ड 5 : अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार
(International Trade)

42. (क) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की शर्त एवं लाभ 451-463
(Terms of International Trade)

प्रावकथन, आन्तरिक एव विदेशी व्यापार मे समानता, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिए एक पृथक् सिद्धान्त की आवश्यकता, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में उत्पादन-व्यय का अन्तर, उत्पादन व्यय मे पूर्ण अन्तर, समान अन्तर, उत्पादन-व्यय मे तुलनात्मक अन्तर, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे लाभ, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे लाभ की मात्रा के निर्धारक तत्त्व, व्यापार की शर्तें, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के गुण एवं दोष।

42. (ख) तुलनात्मक लागत का सिद्धांत (The Theory of Comparative Costs) 464-474

तुलनात्मक लागत का प्रतिष्ठित सिद्धान्त, रिकार्डो के सिद्धान्त मे मिल द्वारा सशोधन, तुलनात्मक लागत के प्रतिष्ठित सिद्धान्त मे आधुनिक सुधार, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का आधुनिक सिद्धान्त, शास्त्रीय सिद्धान्त से श्रेष्ठ ।

42. (ग) भुगतान-संतुलन (Balance of Payments) 475-481

व्यापार-सतुलन एव भुगतान-सतुलन मे अन्तर, भुगतान सतुलन का महत्त्व, भुगतान-सतुलन की मदें, भुगतान-सतुलन का साम्य, भुगतान-सतुलन में असमानता के कारण, भुगतान-सतुलन की असमानता को सुधारने के तरीके, भुगतान-सतुलन की विपक्षता को दूर करने के उपाय ।

42. (घ) स्वतन्त्र व्यापार बनाम संरक्षण (Free Trade VS Protection) 485-496

स्वतन्त्र व्यापार एव सरक्षण मे अन्तर, स्वतन्त्र व्यापार के सिद्धान्त का विकास, इगलड स्वतन्त्र व्यापार का नेता, सरक्षण की नीति का विकास, स्वतन्त्र व्यापार के पक्ष मे तर्क, सरक्षण के पक्ष में तर्क, सरक्षण के विपक्ष मे तर्क, सरक्षण प्रदान करने के तरीके ।

खण्ड 5 : भारतीय चलन एवं बैंकिग प्रणाली का विकास एवं समस्याएं

43. भारतीय चलन का इतिहास (History of the Indian Currency) 499 515

प्रारम्भिक इतिहास, 1835 ई० का भारतीय टकन अधिनियम एव रजतमान, रजत-मान का पतन, हर्शल कमिटी, 1892 ई०, फाउलर कमिटी, 1898 ई०, स्वर्ण-विनिमय मान, स्वर्ण-विनिमय मान के गुण एव दोष, 1913 ई० का चैम्बरलेन आयोग, प्रथम विश्व-युद्ध मे भारतीय मुद्रा-प्रणाली, बैबिंगटन स्मिथ कमिटी, हिल्टर यग आयोग, मुद्रा-मान का प्रश्न, विनिमय की दर, स्टर्लिंग विनिमय मान, स्वर्ण एव रजत का निर्यात, रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया की स्थापना, **भारतीय पत्र-मुद्रा**—प्रथम महायुद्ध का भारतीय पत्र-मुद्रा पर प्रभाव, पत्र-मुद्रा की वर्तमान प्रणाली, द्वितीय महायुद्ध और भारतीय मुद्रा, साम्राज्य डॉलर कोष, पौंड-पावना, अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा-कोष एव भारतीय मुद्रा, रुपये का अवमूल्यन—1949 ई० मे भारतीय रुपये के अवमूल्यन का प्रभाव, 1966 ई० में रुपये का अवमूल्यन, पचवर्षीय योजनाओ मे भारतीय मुद्रा ।

44. भारतीय रुपये का अवमूल्यन (Devaluation of the Indian Rupee) 516-522

अवमूल्यन का अर्थ, अवमूल्यन के उद्देश्य, 1949 मे भारतीय रुपये का अवमूल्यन, 1966 ई० मे अवमूल्यन, भारतीय रुपये के अवमूल्यन के लिए उत्तरदायी परिस्थितयाँ, अवमूल्यन के सभावित प्रभाव—निर्यात पर प्रभाव, आयात पर प्रभाव, आन्तरिक मूल्य-तल पर प्रभाव ।

45. भारतीय बैंकिंग व्यवस्था का विकास (Development of the Banking System in India) 523-529

प्रथम महायुद्ध तक बैंकिंग व्यवस्था का विकास, 1913-17 ई० का बैंकिंग-संकट, बैंकों के टूटने के कारण, दोनों महायुद्धों के बीच वाले समय मे बैंकों का विकास, द्वितीय महायुद्ध काल मे बैंकिंग व्यवस्था, भारतीय बैंकिंग व्यवस्था के दोष तथा इसे सुदृढ़ बनाने के उपाय, रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया, जीवन बीमा निगम, बैंकों का सामाजिक नियन्त्रण प्रमुख बैंकों का राष्ट्रीयकरण ।

46. स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया 530-534
(State Bank of India)

इम्पीरियल बैंक, स्टेट बैंक की पूँजी, प्रबन्ध, स्टेट बैंक के कार्य, केन्द्रीय बैंकिंग-सम्बन्धी कार्य, व्यावसायिक बैंक सम्बन्धी कार्य, स्टेट बैंक ऑफ इंडिया की प्रगति, स्टेट बैंक एवं ग्रामीण साख, लघु उद्योगों को सहायता, निष्कर्ष।

47. भारत में मिश्रित पूँजी वाले बैंक (व्यावसायिक बैंक) 535-540
(Joint Stock Banks in India)

प्राक्कथन, भारत में व्यावसायिक बैंकों के कार्य, व्यावसायिक बैंकों के विकास में कठिनाइयाँ एवं दोष, व्यावसायिक बैंकों के दोषों को दूर करने के सुझाव।

खण्ड 6 : राष्ट्रीय आय

48. राष्ट्रीय आय 543-557
(National Income)

राष्ट्रीय आय की परिभाषा, प्रो० मार्शल के विचार, मार्शल के विचारों की आलोचना, पीगू के विचार, पीगू के विचारों की आलोचना, फिशर के विचार, फिशर के विचारों की आलोचना, राष्ट्रीय आय के अध्ययन का महत्व, राष्ट्रीय आय एवं आर्थिक प्रगति, भारत की राष्ट्रीय आय के अनुमान, विभिन्न उद्योगों एवं सेवाओं से प्राप्त आय, अन्य देशों से तुलना, राष्ट्रीय आय समिति, पंचवर्षीय योजनाओं में राष्ट्रीय आय, दीर्घकालीन प्रत्याशा, निष्कर्ष।

खण्ड 7 : राजस्व
(Public Finance)

49. राजस्व परिचय 561-568
(Public Finance Introduction)

प्राक्कथन, राजस्व की परिभाषा, राजस्व की विषय सामग्री, राजस्व के मुख्य विभाग, वैयक्तिक वित्त-व्यवस्था एवं राजकीय वित्त व्यवस्था में अन्तर, राजस्व का क्षेत्र, अर्द्ध विकसित देशों में राजस्व।

50 अधिकतम सामाजिक कल्याण का सिद्धांत 569-575
(The Principle of Maximum Social Advantage)

प्राक्कथन, अधिकतम सामाजिक कल्याण के सिद्धांत की व्याख्या, अधिकतम सामाजिक कल्याण की जाँच के आधार, सिद्धांत की सीमाएँ अथवा व्यावहारिक कठिनाइयाँ, श्रीमती हिक्स के विचार।

51. सार्वजनिक व्यय 576-583
(Public Expenditure)

प्राक्कथन, आधुनिक समय में सार्वजनिक व्यय में वृद्धि, सार्वजनिक व्यय में वृद्धि के कारण, सार्वजनिक व्यय के सिद्धान्त, सार्वजनिक व्यय का वर्गीकरण।

52 सार्वजनिक व्यय के आर्थिक प्रभाव 584-587
(Economic Effects of Public Expenditure)

प्राक्कथन, सार्वजनिक व्यय का उत्पादन पर प्रभाव, सार्वजनिक व्यय का वितरण पर प्रभाव, आनुपातिक प्रगतिशील एवं प्रतिगामी व्यय, अन्य प्रभाव।

53. **सार्वजनिक आय के विभिन्न साधन** 588-594
(Sources of Public Revenue)

प्राक्कथन, सार्वजनिक आय के विभिन्न साधन-कर, राजकीय सम्पत्ति एवं उद्योग, फीस, विशेष-निर्धारण, कीमत, जुर्माना एवं दण्ड, उपहार एवं अनुदान, सार्वजनिक आय का वर्गीकरण।

54. **करारोपण के सिद्धांत** 595-602
(Principles of Taxation)

करारोपण के उद्देश्य, आदम स्मिथ के कर के सिद्धांत, समानता या योग्यता का सिद्धांत, निश्चितता का सिद्धांत, सुविधा का सिद्धांत, मितव्ययिता का सिद्धांत, करारोपण के अन्य सिद्धान्त, उत्पादकता का सिद्धांत, लोच का सिद्धांत, सरलता का सिद्धांत, विविधता का सिद्धांत, एक अच्छी कर प्रणाली के गुण, एक-कर तथा बहु-कर प्रणाली।

55. **कर-निर्धारण मे समानता अथवा न्याय की समस्या** 603 609
(Principle of Justice or Equity in Taxation)

प्राक्कथन, वित्तीय सिद्धांत, सेवा के मूल्य का सिद्धांत, कर-दान योग्यता का सिद्धांत, कर-दान क्षमता, कर दान क्षमता क्या है ? कर-दान क्षमता के निर्धारक तत्व।

56. **करो का वर्गीकरण** 610-620
(*Classification of Taxes*)

प्राक्कथन, प्रत्यक्ष एव अप्रत्यक्ष कर, प्रत्यक्ष करो के गुण-दोष, अप्रत्यक्ष करो के गुण-दोष, आनुपातिक, प्रगतिशील एव प्रतिगामी कर प्रगतिशील करो के गुण दोष, अर्द्ध-विकसित देशो मे प्रगतिशीलता का सिद्धांत, विशिष्ट कर तथा मूल्यानुसार कर।

57. **करारोपण के आर्थिक प्रभाव** 621 624
(*Economic Effects of Taxation*)

प्राक्कथन, करारोपण का उत्पादन पर प्रभाव, करारोपण का धन के वितरण पर प्रभाव, करारोपण का उपभोग पर प्रभाव, करारोपण एव आर्थिक स्थायित्व।

58 **कर का भार या करापात का सिद्धांत** 625 631
(Theory of Incidence of Taxation)

प्राक्कथन, कर-दवाव, कर भार और कर विवर्तन मे अन्तर, कर-दबाव के अध्ययन का महत्व कर विवर्तन के सिद्धांत, केन्द्रीयकरण सिद्धांत, प्रसार सिद्धांत, आधुनिक विचार, कर भार वस्तुओ की माग एव पूर्ति की लोच पर निर्भर करता है, पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति मे कर भार, एकाधिकार की स्थिति मे कर-भार एव स्थानापन्न वस्तुएं आयात तथा निर्यात करो का भार, आय-कर का भार, बिक्री-कर का भार।

59 **सार्वजनिक ऋण** 632-639
(Public Debt)

सार्वजनिक ऋण क्या है ?, सार्वजनिक एव व्यक्तिगत ऋण मे अन्तर, सार्वजनिक ऋण किन किन परिस्थितियो मे न्यायसगत है ?, सार्वजनिक ऋण के लाभ एव दोष, सार्वजनिक ऋणो का वर्गीकरण, आन्तरिक एव वाह्य, उत्पादक एव अनुत्पादक ऋण, सार्वजनिक ऋण को कम करने या चुकाने के तरीके।

60. भारतीय वित्त-व्यवस्था 640-655
(Indian Finance)
केन्द्र एवं राज्यों के बीच आय के साधनो का वितरण, नये संविधान के वित्तीय उपबन्ध, प्रथम वित्त आयोग, द्वितीय वित्त आयोग, तृतीय वित्त आयोग, चतुर्थ वित्त आयोग, पंचम वित्त आयोग, षष्ट वित्त आयोग,केन्द्र एवं राज्यो के बीच आय के वितरण की वर्तमान स्थिति।

61. केन्द्रीय एवं राज्य सरकारों का आय-व्यय 656-668
(Revenue & Expenditure of Central & State Govt.)
केन्द्रीय सरकार की वित्त-व्यवस्था, 1975-76 ई० के बजट-सम्बन्धी अनुमान, केन्द्रीय सरकार के आय-व्यय का विवरण, केन्द्रीय सरकार की आय के प्रमुख साधन, केन्द्रीय सरकार के व्यय की प्रमुख मदें, राज्यो की वित्त-व्यवस्था, बिहार सरकार की आय एव व्यय के साधन।

परिशिष्ट Important University Questions 669-698

खंड : 1

"Money is one of the most fundamental of all Man's inventions. Every branch of knowledge has its fundamental discovery. In mechanics, it is the wheel; in science fire; in politics the vote. Similarly, in economics, in the whole commercial side of Man's social existence, money is the essential invention on which all the rest is based"—*Crowther.*

मुद्रा

(Money)

* कुछ स्मरणीय उद्धरण *

1. "Money is that by the delivery of which debt-contracts and price-contracts are discharged and in the shape of which a store of general purchasing power is held." —*Keynes*.
2. "It is impossible for an economic system of any complexity to function with any reasonable degree of efficiency without a price mechanism." —*Learner*.
3. "Thus money, which is a source of so many blessings to mankind, becomes also, *unless we control it, a source of peril and confusion*." —*Robertson*.
4. "Thus inflation is unjust and deflation is *inexpedient*; *of the two perhaps deflation is the worse*, because it is worse in an impoverished world to provoke unemployment than to disappoint the rentier." —*Keynes*.
5. "The modern tendency in economic thinking is, indeed, to discard the old notion of quantity of money as a determinant of the value of money."
6. "It is not true, as is often alleged, that the cash balance equation is merely the quantity theory in new algebric dress." —*Hansen*.

अध्याय : 1

मुद्रा का आविष्कार

(The Invention of Money)

प्राक्कथन :—मानव एक चेतनशील प्राणी है। प्रारम्भ से ही वह उन वस्तुओ की खोज मे रहा है जिनसे उसका जीवन बन सके। मुद्रा का आविष्कार भी मनुष्य के इन्ही प्रयासो का परिणाम है। मुद्रा के आविष्कार का इतिहास प्रारम्भिक मानव की मानसिक शक्तियो का एक अत्यन्त रोचक अध्ययन प्रस्तुत करता है जिनकी सहायता से वह उन वस्तुओ का उपभोग करने मे भी सफल हुआ जिनका वह प्रत्यक्ष रूप से उत्पादन नही कर पाता था। मुद्रा का आविष्कार मानव जाति के व्यावसायिक जीवन की सर्वाधिक महत्वपूर्ण घटना है। यदि सच पूछा जाय तो मुद्रा के विकास का इतिहास एक तरह से मानव सभ्यता के विकास का इतिहास है।[1] मानव-सभ्यता के विकास के प्रारम्भ मे उत्पादन-व्यवस्था स्वावलम्बन के आधार पर आधारित थी। मनुष्य अपनी सारी आवश्यकताओ की पूर्ति स्वय अपने-आप या अपने परिवार के सदस्यो की सहायता के द्वारा कर लिया करता था। किन्तु आर्थिक जीवन मे विकास के साथ-साथ मानव की आवश्यकताएँ भी बढती गयीं जिससे वह अपनी सम्पूर्ण आवश्यकताओ की पूर्ति स्वय अपने आप करने मे असमर्थ सिद्ध होने लगा। वास्तव मे, आवश्यकताओ मे वृद्धि के कारण कोई भी मनुष्य उन सारी वस्तुओं, जिनके उपभोग की उसे भिन्न-भिन्न समय मे जरूरत होती थी, को उत्पन्न करने मे स्वय असमर्थ सिद्ध होने लगा। ऐसी स्थिति मे सभ्यता के विकास के प्रारम्भ मे, प्रारम्भिक मानव, जिसका जीवन अत्यत सरल एव जिसकी आवश्यकताएँ अत्यन्त सीमित थी, अपने उपभोग एव आवश्यकता की सतुष्टि के लिए एक-आध वस्तुओ को जिनका वह स्वय उत्पादन नही कर सकता था, दूसरो से बल-प्रयोग अथवा चोरी करके प्राप्त करता था। किन्तु शीघ्र ही उसने यह अनुभव किया कि वस्तुओ को प्राप्त करने का यह तरीका निश्चय ही अवाछनीय था। साथ ही, ऐसे उपायो के प्रयोग से समाज मे सदा एक प्रकार की अव्यवस्था बनी रहती थी जो निश्चित तरीके से जीवन-निर्वाह के अनुकूल नहीं थी। अतएव, ऐसी वस्तुओ को प्राप्त करने के लिए अन्य उपायो की खोज की जाने लगी। खोज के इसी क्रम मे वस्तु-विनिमय प्रणाली (barter) का आविष्कार हुआ। किसी एक वस्तु का अन्य वस्तु के साथ प्रत्यक्ष रूप से आदान-प्रदान (बगैर किसी माध्यम के) को वस्तु-विनिमय कहते हैं। (The act of direct exchange of one commodity for another without the mediation of money is known as barter) धीरे-धीरे प्रारम्भिक समाज मे कुछ मनुष्यो ने आवश्यकता से अधिक एक-आध वस्तुओ का उत्पादन प्रारम्भ किया। ऐसी परिस्थिति मे वह जिसके पास किसी एक वस्तु (जैसे मछली) की आवश्यकता से अधिक मात्रा थी तथा उसे किसी अन्य वस्तु (जैसे फल) की आवश्यकता होती थी, ऐसे व्यक्ति को ढूँढने लगा जिसे मछली की आवश्यकता थी तथा जिसके पास आवश्यकता से अधिक मात्रा मे फल था जिसे देकर वह मछली लेने को तैयार था।

---

1. "The development of money is, in a way, an epitome of the history of civilization."

वास्तव मे, वस्तु-विनिमय प्रणाली (Barter System) केवल ऐसी व्यवस्था के लिए ही उपयुक्त थी जिसमे मनुष्य की आवश्यकताएँ अत्यन्त सीमित तथा साधारण प्रकार की होती थी। अतएव, जैसे-जैसे सामाजिक सगठन का रूप बदलते गया एव मानवीय आवश्यकताएँ बढने लगी तथा श्रम-विभाजन के लाभों का अनुभव किया जाने लगा, वैसे-वैसे वस्तु-विनिमय प्रणाली की कठिनाइयाँ और अधिक अनुभव की जाने लगी।

वस्तु-विनिमय प्रणाली की कठिनाइयाँ

(The Inconveniences of the Barter System)

इस प्रकार मानव के व्यावसायिक जीवन के प्रारम्भ मे वस्तु-विनिमय प्रणाली का ही प्रचलन था। शिकारी अपने मास या चमडे का प्रत्यक्ष रूप से किसान के चावल, गेहूँ या चने के साथ विनिमय करता था। धीरे-धीरे ये दोनो अपने-अपने सामानो का ग्रामीण कलाकारो के सामानो से विनिमय करने लगे। वस्तु विनिमय प्रणाली के फलस्वरूप प्रत्येक व्यक्ति अपनी सम्पूर्ण शक्ति उसी वस्तु के निर्माण तथा उत्पादन मे लगाने लगा जिसमे वह सर्वाधिक कुशल था। इस प्रकार इस प्रणाली से विशिष्टीकरण को प्रोत्साहन मिला जिससे वस्तुओ की मात्रा तथा गुण मे पर्याप्त सुधार हुआ।

किन्तु, मनुष्य ने शीघ्र ही यह अनुभव किया कि वस्तु विनिमय प्रणाली व्यापार के लिए बहुत ही असुविधाजनक थी। इस प्रणाली के अन्तर्गत मनुष्य को कितनी कठिनाइयो का सामना करना पडता था इस बात का अन्दाजा केमरोन द्वारा वर्णित "All Across Africa" नामक पुस्तक के निम्न बयान से लगाया जा सकता है "सईद के पास एक नौका थी, किन्तु उसका कारिन्दा नौका के प्रयोग के बदले मे हाथी दाँत के रूप मे अपना पारितोषिक चाहता था जो मेरे पास नही था। परन्तु शीघ्र ही मुझे मालूम हुआ कि मोहम्मद ईब्न साहिब नामक एक व्यक्ति के पास हाथी दात था जो उसके बदले मे कपडा चाहता था। परन्तु मेरे पास कपडा भी नही था जिससे मोहम्मद इब्न साहिब का होना हमारे लिए कोई उपयोगी नही सिद्ध हुआ। थोडी देर बाद मुझे यह मालूम हुआ कि मोहम्मद इब्न गरीब नामक एक व्यक्ति के पास कपडा था जिसके बदले मे वह तार चाहता था जो सौभाग्यवश मेरे पास था। इब्न गरीब को तार देने पर उसने मुझे कपडा दिया जिसे इब्न साहिब को देकर हमने हाथी दाँत प्राप्त किया तथा जिसे सईद के कारिन्दे को देकर नदी पार करने के लिए नौका प्राप्त की।"[1] इस प्रकार वस्तु-विनिमय प्रणाली की कई कठिनाइयाँ है जिनके परिणामस्वरूप धीरे-धीरे यह प्रथा अत्यधिक असुविधाजनक सिद्ध होने लगी।

वास्तव मे, वस्तु-विनिमय प्रणाली की निम्नाकित प्रमुख कठिनाइयाँ है —

(1) *आवश्यकताओ के दोहरे सयोग का अभाव* (Lack of a double coincidence of wants) —वस्तु विनिमय प्रणाली की सबसे बडी कठिनाई इस बात को लेकर होती है कि यदि हमे किसी वस्तु विशेष की आवश्यकता है तो हमे किसी ऐसे व्यक्ति को ढूँढना पडगा जिसके पास हमारी आवश्यकता की वस्तु हो और साथ ही जो उस वस्तु के बदले मे हमारे पास की वस्तु को लेने के लिए तैयार हो। (A man must find another man who both has what he wants and wants what he has) उदाहरण के लिए, राम के पास चावल

1. Lt Cameron "All Across Africa" Quoted by Foster and Catchings "Money"—P 35

है जिसके बदले वह कपडा चाहता है, तो उसे ऐसे व्यक्ति को ढूंढना होगा जिसके पास कपडा हो और जो कपडे के बदले मे चावल लेने के लिए तैयार हो। किन्तु वास्तविक जीवन मे इस प्रकार का सयोग बहुत कठिनाई से दिखलाई देता है। अफ्रिका मे एक कहावत है जिसके अनुसार किसी यात्री को एक नाव की आवश्यकता थी। नाववाला व्यक्ति नाव के बदले गाय चाहता था, किन्तु उस यात्री के पास गाय नही थी। अत, वह दूसरे आदमी के पास गया जिसके पास गाय थी और जो गाय के बदले मे कपडा चाहता था। यात्री के पास कपडा था जिससे उसने गाय प्राप्त की और गाय के बदले मे नाव का उपयोग किया। इस प्रकार आवश्यकताओ की दोहरी अनुरूपता के अभाव मे विनिमय के कार्य मे निस्सदेह अत्यधिक कठिनाई होती है तथा इसका क्षेत्र बिल्कुल सकुचित हो जाता है। एक छोटे से समाज मे, जहां वस्तुओ की सख्या सीमित होती है, इस प्रकार के विनिमय म कोई विशेष कठिनाई नही होती, किन्तु व्यवसाय की उन्नति तथा श्रम-विभाजन एवं विनिमय-योग्य पदार्थों की सख्या म वृद्धि के साथ-साथ यह कठिनाई भी निरन्तर बढती ही जाती है।

मुद्रा इस कठिनाई को दूर करती है। वास्तव मे, "आजकल क्रय-विक्रय के कार्य मे मुद्रा विनिमय के माध्यम का कार्य करती है।" (Money serves as a medium of exchange) अब चावल का कपडे के साथ प्रत्यक्ष रूप मे विनिमय नही होता। चावल को बेच कर मुद्रा प्राप्त की जाती है और इस प्रकार प्राप्त मुद्रा से कपडा खरीदा जाता है। मुद्रा एक ऐसी वस्तु के रूप मे कार्य करती है जिसे सभी व्यक्ति सभी वस्तुओ तथा सेवाओ के बदले मे स्वीकार करना चाहते हैं। अतएव, आजकल प्रत्येक क्रय-विक्रय मे मुद्रा विनिमय की दर निश्चित करने के साथ साथ मध्यस्थ का कार्य भी करती है।

(ii) मूल्य के सर्वमान्य मापक का अभाव (Lack of a common denominator of value) —वस्तु-विनिमय प्रणाली की दूसरी प्रधान कठिनाई मूल्य के एक सर्वमान्य मापक के अभाव से सम्बन्धित है। इस प्रणाली मे मूल्य का कोई एक सर्वमान्य मापक (Common measure of value) नही होता। इससे दो वस्तुओ के बीच विनिमय की शर्तों के निर्धारण मे असुविधा होती है। दूसरे शब्दो मे, वस्तु-विनिमय प्रणाली मे वस्तुओ की अदला-बदली के पारस्परिक अनुपात को निश्चित करने मे कठिनाई होती है। उदाहरण के लिए, एक क्विन्टल गेहूं के बदले म कितना मीटर कपडा दिया जाय, एक बकरे के बदले मे कितना केला दिया जाय, इत्यादि की जानकारी प्राप्त करना इस प्रणाली मे निश्चय ही बहुत कठिन कार्य था। व्यापार की दो चार प्रचलित वस्तुओ के विनिमय की शर्तों के निर्धारण म भले ही कोई कठिनाई नही हो, किन्तु मूल्य के सर्वमान्य मापक के अभाव मे सैंकडो अन्य छोटी बडी वस्तुओ के विनिमय का आधार निश्चित करना निश्चय ही बहुत कठिन है। व्यावहारिक जीवन मे प्रत्येक मनुष्य को अपनी आवश्यकता की पूर्ति के लिए अनेक वस्तुओ के विनिमय की आवश्यकता पडती है अतएव इन सभी वस्तुओ की दरो को याद रखना जनसाधारण के लिए बहुत कठिन हो जाता है। मुद्रा के प्रयोग द्वारा वस्तु विनिमय प्रणाली की इस कठिनाई को दूर किया जाता है। आज सभी वस्तुओ अथवा सेवाओ के मूल्य को मुद्रा के रूप मे व्यक्त किया जाता है जिससे अब किन्ही दो वस्तुओ के विनिमय की दर सुगमतापूर्वक निश्चित हो जाती है। उदाहरण के लिए, एक रुपये मे 5 किलो गेहूं, 8 किलो चावल अथवा 10 मीटर कपडा मिलता है। इतना जान लेने के बाद गेहूं, चावल अथवा कपडा के विनिमय की शर्तों को निश्चित करने मे कोई कठिनाई नही रह जाती।

मुद्रा के प्रयोग द्वारा वस्तु-विनिमय प्रणाली की इस कठिनाई को भी दूर किया जाता है। मुद्रा के दो प्राथमिक कार्यों (Primary functions) मे यह एक है। मुद्रा हिसाब-किताब में इकाई का कार्य करती है। (Money serves as a unit of account) यह मूल्य के उस माप दण्ड की तरह है जिसकी सहायता से अन्यान्य पदार्थों की तुलना की जाती है। (It acts as a yardstick or standard measure of value to which all other things can be compared) आज भी व्यापार मे प्रत्यक्ष विनिमय का प्रचलन है—गेहूँ के बदले चावल, चावल के बदले में केला तथा केले के बदले चमडा। किन्तु अब विनिमय की शर्तें मुद्रा को आधार मानकर ही निश्चित की जाती हैं।

(iii) सह-विभाजन के साधन का अभाव (Lack of Divisibility) :—यह सामान्य अनुभव की बात है कि कुछ वस्तुएँ ऐसी होती हैं जिन्हें विभाजित करने से उनकी उपयोगिता नष्ट हो जाती है। *अतएव वस्तु विनिमय प्रणाली मे जब कभी इस प्रकार की अविभाजित* वस्तुओ के बदले मे दूसरी बहुत-सी वस्तुओं को प्राप्त करना होता है तो इसमें बहुत अधिक कठिनाई होती है। उदाहरण के लिए, किसी व्यक्ति के पास एक घोडा है जिसके बदले वह चावल, कपडा तथा दूध लेना चाहता है। ऐसी स्थिति में उसे ऐसे व्यक्ति को ढूँढना होगा जिसके पास ये सारी वस्तुएँ मौजूद हो और जो इन वस्तुओ के बदले मे घोडा लेना चाहता हो। वास्तविक जीवन मे इस प्रकार के व्यक्ति को ढूँढने मे बहुत ही कठिनाई होगी। साथ ही, घोड़े को तीन टुकडे मे *विभाजित कर भी इन तीनो वस्तुओ को प्राप्त नही किया जा सकता, क्योंकि ऐसा करने से घोडे की उपयोगिता बिल्कुल समाप्त हो जायगी। ऐसी स्थिति मे विनिमय का कार्य* नहीं हो सकता, क्योंकि इसमे दो कठिनाइयाँ हैं—(क) दो असामान्य मूल्य की वस्तुओ के विनिमय का अनुपात कैसे निश्चित होगा ?, तथा (ख) मूल्य एव उपयोगिता मे कमी लाये बगैर वस्तुओ का समखडन कैसे किया जाय ?

मुद्रा इस कठिनाई को भी दूर करती है। अब घोडा वाला व्यक्ति घोडा बेचकर मुद्रा प्राप्त करता है जिससे वह चावल, कपडा तथा दूध तीनो वस्तुएँ सुगमतापूर्वक प्राप्त कर सकता है।

(iv) मूल्य-सचय की सुविधा का अभाव (Lack of store of value) : वस्तु-विनिमय प्रणाली की एक प्रमुख कठिनाई मूल्य-सचय की सुविधा का अभाव है। इस पद्धति में *वही व्यक्ति सबसे अधिक धनी माना जायगा जिसके पास आवश्यक वस्तुओं, जैसे—अनाज,* कपडा, जानवर, दूध आदि का सबसे बडा भण्डार हो। किन्तु वस्तुओ के रूप मे मूल्य-सचय का कार्य निश्चय ही बहुत कठिन है क्योंकि किसी वस्तु को अधिक दिनो तक सचय करने मे बहुत सारी असुविधाएँ होती हैं।

मुद्रा के आविष्कार ने वस्तु-विनिमय प्रणाली की इस कठिनाई को भी दूर कर दिया है। मुद्रा ने धन की प्राप्ति एव सुरक्षा का कार्य बहुत ही सरल बना दिया है। अब लोग मुद्रा के रूप मे ही मूल्य-सचय का कार्य करते हैं। इसमें किसी भी प्रकार की असुविधा नही होती। साथ ही, *मुद्रा के द्वारा आवश्यकता की सारी वस्तुएँ भी सुगमतापूर्वक प्राप्त की जा सकती हैं। अतएव, मुद्रा के रूप मे क्रय-शक्ति के सचय का कार्य बहुत सुगमतापूर्वक किया जाता है।*

(v) भविष्य के भुगतान मे कठिनाई (Difficulties of future Payments) — वस्तु-विनिमय प्रणाली की एक प्रधान समस्या यह है कि इसके अन्तर्गत उधार का लेन-देन सभव नही है, क्योंकि भविष्य मे वस्तुओं के मूल्य मे निरन्तर उतार चढ़ाव होते रहता है। वस्तुओ

की उत्पत्ति में अत्यधिक उतार-चढ़ाव के कारण इनके पारस्परिक मूल्यों में भी अत्यधिक परिवर्तन होते हैं जिससे भविष्य के लेन-देन के कार्य में कठिनाई होती है।

किन्तु मुद्रा ने इस कठिनाई को भी दूर कर दिया है। आजकल भविष्य में लेन-देन का कार्य मुद्रा के रूप में किया जाता है; क्योंकि मुद्रा के मूल्य में अन्य वस्तुओं के मूल्यों की अपेक्षा कम परिवर्तन होता है।

वस्तु-विनिमय प्रणाली की असुविधाएँ निम्नांकित तालिका से अधिक स्पष्ट हो जाती हैं

वस्तु-विनिमय प्रणाली की असुविधाएं

आवश्यकताओं के दोहरे संयोग का अभाव	मूल्य के सर्वमान्य मापक का अभाव	सह-विभाजन के साधन का अभाव	मूल्य-सचय की सुविधा का अभाव	भविष्य के भुगतान की कठिनाई

वस्तु-विनिमय प्रणाली की इन कठिनाइयों की एक रोचक झलक एक फ्रांसीसी गायिका के उदाहरण से मिलती है जिसने एक ऐसे द्वीप में अपनी कला का प्रदर्शन किया था जहाँ पर मुद्रा का प्रचलन नहीं था। मुद्रा के प्रयोग के अभाव में उसे फलों और पशुओं के रूप में पुरस्कार प्राप्त हुआ। किन्तु जब इन पशुओं ने सभी फलों को खा लिया तो गायिका को इन्हें जीवित रखने के लिए और भी कई प्रदर्शन करने पर विवश होना पड़ा। इस प्रकार गायिका को बहुत अधिक असुविधा हुई और उसे अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। वस्तु-विनिमय प्रणाली की कठिनाइयों के कारण ही वह धनवान नहीं बन सकी।

वस्तु-विनिमय प्रणाली की उक्त कठिनाइयों के कारण धीरे-धीरे समाज में मुद्रा का विकास हुआ एवं मौद्रिक विनिमय (Money Exchange) की प्रणाली अपनायी गयी। मुद्रा का आविष्कार मानव की उपलब्धियों में महानतम है। क्राउथर (Crowther) के शब्दों में, "मनुष्य के सभी आविष्कारों में मुद्रा का आविष्कार एक प्रधान स्थान रखता है। ज्ञान की प्रत्येक शाखा में एक मौलिक आविष्कार होता है। यन्त्र शास्त्र (Mechanics) में चक्र (Wheel) का, विज्ञान में अग्नि का और राजनीति में मत (Vote) का जो स्थान है, वही स्थान मानव के आर्थिक जीवन में मुद्रा का है। मानव के सामाजिक जीवन का व्यावसायिक पक्ष पूर्णतः मुद्रा पर आधारित है।'

[Money is one of the most fundamental of all Man's inventions. Every branch of knowledge has its fundamental discovery. In mechanics, it is the wheel, in science fire, in politics, the vote Similarly, in economics, in the whole commercial side of Man's social existence money is the essential invention on which all the rest is based.][1] – *Crowther*

मुद्रा का विकास
(The Evolution of Money)

वस्तु-विनिमय प्रणाली की उपरोक्त असुविधाओं को मुद्रा के प्रयोग के द्वारा दूर किया जाता है। किन्तु विनिमय के माध्यम के रूप में मुद्रा सर्वप्रथम कहाँ और कब से प्रयोग में आयी, यह

1, Crowther ; An Outline of Money,

बतलाना सम्भव नही है। इतिहासकारो के अनुसार अति प्राचीन काल में दक्षिणी महासागर के टापू के रहनेवाले पत्थरो की मुद्रा का व्यवहार करते थे। प्राचीन भारत मे ऋगवेद के युग मे गाय को मुद्रा के रूप मे प्रयोग किया जाता था। अन्य स्थानो मे भी बहुत प्राचीन समय मे विभिन्न वस्तुओ को मुद्रा के रूप मे प्रयोग मे लाया जाता था। किन्तु कुछ विद्वानो के अनुसार मुद्रा का विकास सिक्को की ढलाई की कला से प्रारम्भ होता है। सुप्रसिद्ध इतिहासकार हेरोडोटस (Herodotus) के अनुसार सिक्को का प्रयोग सर्वप्रथम ईसा से छ-सात सौ वर्ष पूर्व लीडिया (Lydia) मे हुआ था। सिक्को की ढलाई की कला के विकास के साथ ही-साथ मुद्रा की राजकीय धारणा का भी प्रादुर्भाव हुआ। इससे व्यवस्थित मुद्रा (*managed money*) के विकास का कार्य सुगम हो गया। आजकल तो प्राय सभी देशो में अपरिवर्तनशील पत्र मुद्रा (*Inconvertible Paper Currency*) का प्रचलन है। फिर भी, इगलैंड एव सयुक्त राज्य अमरिका जैसे प्रगतिशील राष्ट्रो मे आज पत्र-मुद्रा की अपेक्षा चेक (Cheque) का ही अधिक प्रयोग किया जाता है।

इस प्रकार सभ्यता के अन्य मूलभूत तत्त्वों की तरह मुद्रा भी एक अत्यन्त प्राचीन तत्व है जिसमे मानव-सभ्यता मे विकास के साथ-साथ क्रमिक रूप से विकास होते आया है। सुप्रसिद्ध अर्थशास्त्री केन्स (Keynes) के अनुसार "इसके मूल उस समय कुहासो से ढँके थे जबकि बर्फ पिघल रही थी किन्तु उनका विस्तार बहुत पहले मानव इतिहास के अतरग्लेसियल युग के स्वर्गिक मध्यान्तरावस्था मे, जब मानव-मस्तिष्क नयी नयी बातो को सोचने के लिए स्वतन्त्र था, अतलांटिक के किसी द्वीप अथवा मध्य एशिया के किसी भाग मे पाया जा सकता है।" (Money, like certain other essential elements in civilization, is a far more ancient institution than we were brought to believe some few years ago Its origins are lost in the mists when the ice was melting and may well stretch back into the paradisaic intervals in human history of the interglacial periods, when the weather was delightful and the mind free to be fertile of new ideas in the islands of the Hesperides or some Atlantics or Eden of Central Asia)[1]

किन्तु मुद्रा की प्रकृति को समझने के लिए इसके विकास के विभिन्न स्तरो का अध्ययन अनिवार्य हो जाता है। मुद्रा के विकास के इतिहास मे हमे स्पष्ट रूप से निम्नांकित चार स्तर देखने को मिलते हैं—

1 प्रथम स्तर वस्तु मुद्रा (Commodity Money)—मुद्रा विकास के प्रारम्भ में समाज मे अत्यधिक प्रचलित किसी वस्तु को विनिमय का माध्यम मानकर विनिमय का कार्य किया जाता था। इस प्रकार शिकारी युग (Hunting Age) मे खाल या चमडा, पशुपालन युग (Pastoral Age) मे कोई पशु, जैसे—गाय या बकरी तथा कृषि युग (Agricultural Age) में किसी अनाज को विनिमय का माध्यम मानकर विनिमय का कार्य किया जाता था। प्रो॰ म्यूलर (F W Mueller) के अनुसार कुछ वर्ष पूर्व तक "कैनाडा के हडसन खाडी के क्षेत्र मे मूल्य निर्धारण के लिए खालो का प्रयोग किया जाता था। ग्रीक सभ्यता के प्रारम्भ मे बैल विनिमय के माध्यम के रूप मे प्रयोग किये जाते थे। आज भी, दक्षिणी सूडान म दिनका चरवाहा जाति के लोग अपनी सम्पत्ति को गाय, बैल तथा बकरियो के रूप म आंकते हैं। इसी प्रकार अमेरिका के मेरीलैंड

1. *A Treatise on Money* Vol I, J M Keynes

नामक प्रदेश में 1932 ई० मे मकई को वैधानिक मुद्रा घोषित किया गया था।" मुद्रा के विकास का यह प्रथम चरण है जिसे वस्तु-मुद्रा (Commodity Money) का स्तर कहा जाता है।

किन्तु किसी वस्तु को मुद्रा के रूप मे व्यवहार करने मे बहुत-सारी कठिनाइयाँ हैं। बकरी मुद्रा (goat money) के उदाहरण द्वारा इन कठिनाइयो को अधिक स्पष्ट किया जा सकता है। सभी बकरियो का रूप-रंग, आकार-प्रकार तथा वजन एक समान नही होता। यदि कोई व्यक्ति अपना अनाज 25 बकरियों के मूल्य पर बेचता है और यदि उसे खरीददार की बकरियों के झुण्ड मे से चुन-चुन कर दुबली-पतली तथा रोगी बकरियाँ दी जाती हैं तो वह अपने-आपको ठगा हुआ समझेगा। इसके अतिरिक्त बकरी मुद्रा के साथ और भी बहुत-सी कठिनाइयाँ हैं। बकरी या किसी अन्य वस्तु को सचय करने के लिए बहुत अधिक स्थान की आवश्यकता पड़ती है। इनकी रखवाली भी करनी होती है जिससे ये कही खो न जायँ अथवा किसी जगली जानवर का शिकार न बन जायँ। साथ ही, बकरियो को कोई बीमारी हो जाने से मनुष्य का धन अकारण ही घट सकता है। इसी प्रकार इनके प्रजनन के मौसम मे समाज मे मुद्रा की बहुत अधिक प्रचुरता भी हो सकती है। अतएव, किसी वस्तु को मुद्रा मानकर विनिमय का कार्य करने मे बहुत-सारी कठिनाइयाँ हैं।[1]

2. द्वितीय स्तर : धात्विक मुद्रा (Metallic Money) :—पर यदि पशु तथा अन्य किसी वस्तु को मुद्रा मानने से विनिमय के कार्य मे कठिनाई होती है, तो कुछ पदार्थ ऐसे भी हैं जिन्हे मुद्रा मानकर विनिमय का कार्य सुगमतापूर्वक किया जा सकता है। अन्य वस्तुओ की अपेक्षा धातुओ मे मुद्रा बनाने की योग्यता या क्षमता अधिक पायी जाती है; क्योकि इनका आदान-प्रदान सुगमतापूर्वक हो सकता है, इनकी गिनती भी अपेक्षाकृत सुगम होती है, इन्हे रखने के लिए बहुत कम स्थान की आवश्यकता पडती है तथा इनकी रखवाली पर विशेष ध्यान नही देना पड़ता। साथ ही, पृथ्वी के गर्भ मे धातुओ का जितना भंडार है उसका एक बहुत छोटा अश ही प्रतिवर्ष बाहर निकाला जा सकता है। इससे धातुओ का किसी वर्ष प्राचुर्य तथा किसी वर्ष अभाव नही होने पाता। इन्ही कारणो से मुद्रा-विकास के द्वितीय चरण मे धातुओ को मुद्रा के रूप में प्रयोग किया जाने लगा। इसे धात्विक मुद्रा (Metallic money) का स्तर भी कहते हैं।

मुद्रा के रूप मे ताँबा, लोहा, काँसा, सोना, चाँदी आदि सभी धातुओ का बारी-बारी मे प्रयोग हुआ है। किन्तु अन्य धातुओं की अपेक्षा सोना एव चाँदी का मुद्रा के रूप मे अपेक्षाकृत अधिक समय तक प्रयोग हुआ है। अतएव यहाँ पर बहुमूल्य धातुओ एव मुद्रा के सम्बन्ध की व्याख्या अधिक रोचक होगी।

मुद्रा के रूप मे बहुमूल्य धातुएँ (Precious metals as money) :—ज्योहि मुद्रा का आविष्कार हुआ, जनसाधारण इसे सर्वाधिक मूल्यवान वस्तु समझने लगा। चूँकि मुद्रा के द्वारा सभी वस्तुओं तथा सेवाओं का क्रय किया जा सकता है, यानी मुद्रा धन-प्राप्ति का साधन है,

1 वस्तु मुद्रा की कठिनाइयों का वर्णन करते हुए केन्स से युगन्डा (अफ्रीका) में काम करने वाले एक पदाधिकारी के अनुभवों का उदाहरण दिया है. 'A District Commissioner in Uganda today where goats are the customary native standard, tells me that it is a part of his official duty to decide, in case of dispute, whether a given goat is or is not too old or too scarggy to constitute a standard goat for the purpose of discharging a debt.''—A Treatise on Money Vol I. P. 13,

इसलिए इसे सर्वोत्तम संग्रहणीय पदार्थ भी समझा जाने लगा। साथ ही, जनसाधारण मे यह धारणा कार्य करने लगी कि चूँकि मुद्रा सभी प्रकार की धन-प्राप्ति का साधन है, अतएव मुद्रा-पदार्थ मे स्वकीय बहुमूल्यता होनी चाहिए। आज भी यदि किसी साधारण व्यक्ति से यह पूछा जाय कि मुद्रा को कीमती बनानेवाला तत्त्व क्या है तो वह यही कहेगा कि उसकी बहुमूल्यता ही उसकी कीमत है और तब यह पूछा जाय कि लोग कागज के रद्दी टुकडे को मुद्रा के रूप मे क्यो स्वीकार करते है तो वह कहेगा कि इसके पीछे रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया के उतने ही मूल्य चुकाने की गारन्टी है।

किन्तु, यह सोचना बिल्कुल निराधार है क्योकि यदि मूल्य से ही कोई वस्तु सुयोग्य मुद्रा पदार्थ होती तो प्रत्येक समाज मे सर्वाधिक मूल्यवान वस्तु को ही मुद्रा के रूप मे प्रयोग किया जाता। परन्तु ऐसा कभी नही हुआ है। मूल्यवान रत्न, जैसे हीरा, माणिक तथा मोती आदि धातुओ से सर्वदा अधिक बहुमूल्य माने जाते रहे हैं। किन्तु मुद्रा के रूप मे इनका किसी समय भी प्रयोग नही किया गया है। धातुओ मे से भी सोना चाँदी से अधिक बहुमूल्य है, किन्तु सिक्को के रूप मे चाँदी का ही अत्यधिक प्रचलन रहा है। इसका कारण क्या है? ध्यानपूर्वक देखने से यह स्पष्ट होता है कि अधिक मूल्यवान पदार्थों को मुद्रा के रूप मे प्रयोग करना असुविधाजनक है। उदाहरण के लिए, यदि हमे एक रोटी लेनी हो जिसका मूल्य केवल कुछ पैसा ही है, तो हमें इसके लिए सोने का बना इतना छोटा-सा सिक्का देना पडेगा जिसको हम देख नही सकते या यदि कही रख दें तो खो जाय। इस प्रकार बहुमूल्य धातुओ की मुद्रा होने पर छोटे-छोटे लेन-देन के कार्य में भी बहुत अधिक असुविधा होती है। यही कारण है कि औसत मूल्य वाले धातुओ को ही सिक्के के रूप मे प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार हीरा, माणिक तथा मोती मूल्यवान रत्नो को मुद्रा के लिए अनुपयुक्त इस कारण से समझा गया कि वे बहुत अधिक मूल्यवान थे, यानी बहुत अधिक दुर्लभ थे। अतएव, "मुद्रा पदार्थ को दुर्लभ तो होना चाहिए, किन्तु अत्यधिक परिमाण मे नहीं।" (The money substance must, therefore, be scarce but not too scarce) क्योकि अत्यधिक दुर्लभ होने से छोटे-छोटे लेन-देन के कार्य मे प्रयोग करने मे बहुत अधिक असुविधा होती है। साथ ही, इसे बहुत सुलभ भी नही होना चाहिए क्योकि ऐसा होने से इसका प्रयोग बहुत बडी मात्रा मे करना पडेगा। यही कारण है कि लोहा का प्रयोग मुद्रा के रूप मे कभी नहीं हुआ है। अत, हम इस निष्कर्ष पर आते हैं कि मुद्रा पदार्थ के चुनाव मे उसकी सतुलित दुर्लभता (Precise degree of scarcity) प्रमुख है न कि उसका मूल्य और चूँकि धातुओ मे अन्य कारणो से भी मुद्रा बनने की योग्यता बहुत अधिक है, अत मुद्रा-पदार्थ के लिए सबसे अच्छी धातु वही होगी जो दुर्लभ हो, किन्तु बहुत अधिक नही। यही कारण है कि धातुओ मे सोना एव चाँदी को मुद्रा के रूप मे प्रयोग किया जाता था और प्लेटिनम (जो बहुत अधिक दुर्लभ है) तथा लोहा (जो बहुत अधिक सुलभ है) को मुद्रा पदार्थ के लिए नही चुना गया।

किन्तु क्या दुर्लभ वस्तुएँ बहुमूल्य नही होती? मौद्रिक इतिहास के अधिकाश भाग मे यह बात सही थी, किन्तु आज यह सही नही रही। क्योकि आज पत्र मुद्रा (Paper money) के रूप मे समाज ने एक ऐसे मुद्रा पदार्थ का आविष्कार किया है जो बहुमूल्य नहीं हुए बगैर भी दुर्लभ है। जाली नोट बनाये जाने के विरुद्ध कानून होने के कारण नोट दुर्लभ हैं, किन्तु जिस कागज पर ये नोट छपते हैं, वह दुर्लभ नही है। नोटो की दुर्लभता उसे सुयोग्य मुद्रा-पदार्थ बनाती है किन्तु उनकी मूल्यहीनता उनके मार्ग मे किसी प्रकार की रुकावट नही उत्पन्न करती।

3. तृतीय स्तर: सिक्के (Coins) :– इस प्रकार मुद्रा-विकास के द्वितीय चरण में सोना एवं चाँदी आदि धातुओं को मुद्रा के रूप मे प्रयोग किया जाता था। किन्तु प्रारम्भिक काल में धातुओं को मुद्रा के रूप में प्रयोग करने मे भी दो प्रमुख दोष थे। पहला दोष यह था कि जन-साधारण के लिए धातु के सभी टुकडो को पहचानना बहुत अधिक कठिन था। साथ ही, हर समय धातुओं के सभी टुकडो की जाँच करना भी संभव नही था। दूसरा दोष यह था कि धातुओ को सुविधानुसार छोटे-छोटे टुकड़ो में विभाजित करना भी कठिन था। उदाहरण के लिए, यदि कोई दो औंस सोने के मूल्य के बराबर एक घोडा लेता है तो उसे सोने के एक पासे मे से दो औंस सोना काटकर देने मे निस्संदेह बहुत अधिक कठिनाई होगी। धात्विक मुद्रा की इन कठिनाइयो को सिक्कों (Coins) के आविष्कार के द्वारा दूर किया गया। धीरे-धीरे, देश के राजा ने मुद्रा जारी करने का कार्य अपने हाथो मे ले लिया। अब राजा द्वारा बहुत अधिक परिमाण में एक निश्चित वजन तथा उत्तमता (a standard weight and fineness) के विभिन्न प्रकार के सिक्के जारी किये जाने लगे। इन सिक्को की प्रामाणिकता के लिए राजा उन पर मुहर लगवा देता था। जब तक जनता को राजा की शक्ति एवं ईमानदारी पर विश्वास था तब तक ये निस्संदेह चलते रहते थे। यह मुद्रा-विकास का तृतीय चरण है।

सिक्को की ढलाई का कार्य कब से प्रारम्भ हुआ, यह कहना निश्चय ही बहुत कठिन है। फिर भी ईसा से लगभग 700 वर्ष पूर्व लीडिया (Lydia) मे संभवत: सर्वप्रथम सिक्को का प्रयोग किया गया था। सिक्को के इतिहास के साथ-साथ हम मौद्रिक विकास के इतिहास के उस स्तर पर पहुँच गये जिसके बाद सदियो तक मुद्रा-निर्माण की रीति मे बहुत कम परिवर्तन अथवा विकास हुआ।

4. चतुर्थ स्तर. पत्र-मुद्रा (Paper Money) :—मुद्रा विकास के इतिहास में सिक्को के बाद पत्र-मुद्रा का आविष्कार हुआ। वास्तव मे, मुद्रा के आविष्कार के बाद मुद्रा के इतिहास मे पत्र-मुद्रा का विकास सर्वाधिक महत्वपूर्ण घटना है। किन्तु पत्र-मुद्रा का विकास भी क्रमिक (gradual) रूप मे हुआ। अतएव पत्र-मुद्रा के विकास में भी हमे स्पष्ट रूप से निम्नांकित चार स्तर देखने को मिलते हैं :—

(क) लिखित प्रमाण-पत्र (Written evidences of Command over money)— धातु के सिक्को के भी दो प्रमुख दोष थे। पहला दोष यह था कि इन्हे बहुत अधिक मात्रा मे एक स्थान से दूसरे स्थान मे ले जाने मे असुविधा होती थी। साथ ही, इनके सदा चोरी हो जाने की आशंका भी बनी रहती थी। अतएव प्राचीन काल मे व्यापारी दूर-दूर के स्थानो से सिक्के ले जाने के बजाय मुद्रा की विद्यमानता के लिखित प्रमाण-पत्र (written evidences of their command over money) को ही ले जाते होंगे। व्यापारी अपने क्षेत्र के किसी प्रमुख व्यक्ति या किसी बडे व्यापारी के यहाँ अपना रुपया जमा करते थे जो उन्हे रुपये की विद्यमानता का एक लिखित प्रमाण-पत्र देता था जिसके आधार पर व्यापार किया जाता था। ये लिखित प्रमाण-पत्र स्वय मुद्रा नही, बरन मुद्रा के अस्थायी स्थानापन्न (temporary substitutes) थे। इनके भूलने अथवा चोरी हो जाने पर कोई हानि नहीं होती थी, क्योंकि रुपया व्यापारी के पास ज्यों-का-त्यों जमा रहता था और उस व्यापारी के हस्ताक्षर के बाद ही मिलता था। इस प्रमाण-पत्र पर यह लिखा रहता था कि अमुक व्यक्ति ने अमुक रकम उसके यहाँ जमा की है और वह वायदा करता है कि उस रकम से व्यापारी के पावनेदार (creditor) को उनके पावने के अनुसार देगा। पत्र-

मुद्रा के विकास का यह प्रथम चरण है। इस स्तर तक यह लिखित प्रमाण-पत्र मुद्रा का केवल एक अस्थायी स्थानापन्न (substitute) है।

(ख) मुद्रा की तरह प्रयोग—आगे चलकर यह लिखित प्रमाण पत्र धीरे-धीरे मुद्रा की तरह व्यवहृत किया जाने लगा। अब यह पत्र किसी खास व्यक्ति एवं रकम के लिए जारी नही करके छोटी-छोटी सुविधाजनक रकमो के लिए किसी भी लाने वाले (bearer) के नाम जारी किया जाने लगा। उदाहरण के लिए, यदि राम ने अपने महाजन के यहाँ 280 रुपये जमा किये तो इतनी रकम का एक ही प्रमाण-पत्र जारी करने के बजाय महाजन 2 रुपये, 5 रुपये तथा 10 रुपये इत्यादि चुकाने के कई प्रमाण-पत्र जारी करने लगा जिसके द्वारा कोई भी व्यक्ति इतनी रकम प्राप्त कर सकता था। अब इस कागज को लाने वाला ही इसका वास्तविक अधिकारी समझा जाने लगा। यह कागज पूर्ण रूप से आज के बैंक नोट की तरह हो गया। आज भी रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया द्वारा जारी किये गये प्रत्येक नोट पर यह लिखा रहता है कि "मैं नोट के वाहक द्वारा माँग करने पर इसमे अंकित रकम देने का वायदा करता हूँ।" (I promise to pay the bearer on demand the sum of Rs ten, five or two) यह पत्र-मुद्रा के विकास का द्वितीय चरण है। अब आधुनिक बैंक नोट का आगमन तो हो गया, किन्तु फिर भी यह बैंक मे जमा की गयी रकम की रसीद के अतिरिक्त और कुछ नही थी। अभी इसे प्राप्त करनेवाला मुद्रा नही समझकर मुद्रा का अधिकार मात्र ही समझता था। अतएव, इसे प्राप्त करने के बाद वह यथाशीघ्र इसे भुनाने का प्रयास करता था।

(ग) जमा की रकम से अधिक की पत्र-मुद्रा—जब बैंक-नोटो का प्रचार क्रमश बढने लगा तब धीरे धीरे इन्हे मुद्रा का स्थानापन्न नही समझकर स्वय मुद्रा समझा जाने लगा। अब बैंक-नोट का प्रयोग एक से अधिक लेन-देन के कार्य मे किया जाने लगा। उदाहरण के लिए, राम ने अपने बैंक से नोट लिया जिसे उसने अपने होटल वाले को दिया। होटल वाले ने अपने मजदूर को दिया, मजदूर ने उसी से कपडा खरीदा और इस प्रकार नोट का प्रयोग एक से अधिक भुगतान के कार्य मे किया जाने लगा। बैंक के लिए यह बडा ही महत्त्वपूर्ण था। इसका परिणाम यह हुआ कि बैंक जितना नोट जारी करता था, उनमे से केवल कुछ ही लौटकर भुगतान के लिए आते थे, शेष यो ही चलते रहते थे। इससे बैंक ने यह अनुभव किया कि यदि उसका व्यापार पर्याप्त साख वाला है, तो उसके द्वारा जारी किये गये नोट का केवल एक छोटा अश ही हर समय नकद मुद्रा की माग के लिए आता है और उस छोटे अश के बदले भी नकद रुपया देने के बजाय नये नोट ही दे देता है। इस अनुभव के आधार पर बैंको ने, जितनी उनके पास नकद मुद्रा होती थी, उससे अधिक मूल्य के नोट जारी करना प्रारम्भ किया। उदाहरण के लिए, यदि बैंक वाले ने यह देखा कि उसके द्वारा जारी किये गये 100 रुपये के नोटों मे से केवल 5 रुपय के नोट ही माग के लिए आते हैं और शेष बाजार मे चलते रहते हैं तो इसका अर्थ यह हुआ कि अपना कारोबार चालू रखने के लिए बैंक को अपने चालू नोटो का 5 प्रतिशत भाग ही नकद मुद्रा के रूप मे, अपने पास रखना आवश्यक है। अधिक निश्चिन्त रहने के लिए यदि बैंक अपने पास 10 प्रतिशत तक भी नकद मुद्रा रखता है, तो इसका अर्थ यह है कि 100 रुपये के मूल्य के नोट जारी करने के लिए बैंक को अपने पास केवल 10 रुपये नकद मुद्रा के रूप मे रखना पडता है। दूसरे शब्दों मे, यदि बैंक के पास 10 रुपये नगद मुद्रा के रूप मे है तो इसके आधार पर वह 100 रुपये तक की पत्र-मुद्रा जारी कर सकता है। यह पत्र-मुद्रा के विकास का तृतीय और सर्वाधिक

महत्त्वपूर्ण चरण है। यहाँ बैंक-नोट केवल मुद्रा के स्थानापन्न ही नहीं होकर मुद्रा की पूर्ति की वृद्धि मे भी सहायक होने लगे हैं।

(घ) केन्द्रीय बैंक को पत्र-मुद्रा जारी करने का एकाधिकार—बैंक-नोट 17वी तथा 18वीं शताब्दी मे इसी स्थिति मे थे, किन्तु प्रारम्भ मे बैंक नोटो का बहुत अधिक दुरुपयोग हुआ जिससे जन साधारण मे इनकी लोकप्रियता कम होने लगी। लोग यह सोचने लगे कि जब बैंक बिना किसी पूँजी के पत्र-मुद्रा बना लेते हैं तो वे निश्चय ही बहुत अधिक खतरनाक हैं। बैंको ने भी अपनी इस अपूर्व शक्ति का दुरुपयोग कर अपनी पूँजी से कई गुना अधिक के नोट छापना प्रारम्भ कर दिया। परिणाम यह हुआ कि अधिकाश बैंक माग होने पर भी चालू नोटो का एक छोटा अ श भी पूरा नही कर सके। कई बैंको के सम्बन्ध म जब यह बात प्रकट हुई कि उन्होने अपनी पूँजी से अधिक के नोट जारी किया है, तो सभी घबडाकर अपने नोटो को भुनाने के लिए आने लगे जिससे विवश होकर बैंक को अपना कारोबार बन्द करना पडा। इससे कई बैंक फेल कर गये तथा बैंक-नोट भी बदनाम हो गये। अतएव सरकार को बाध्य होकर इस स्थिति मे हस्तक्षेप करना पडा। वास्तव मे, इस प्रकार की दुर्व्यवस्था नहीं होने पर भी सरकार बक नोट जैसे महत्त्वपूर्ण आविष्कार, जो मुद्रा की पूर्ति मे कई गुना वृद्धि कर समाज मे भयानक उथल-पुथल उत्पन्न कर सकता था, की ओर से कैसे उदासीन रह सकती थी। अतएव प्राय: सभी देशो में बैंक नोटो पर नियन्त्रण-सम्बन्धी कानून बनाये गये। इन कानूनो के द्वारा बैंक-नोटो की मात्रा को बैंको की पूँजी एव जमा के अनुपात मे सीमित करने का प्रयत्न किया गया। धीरे-धीरे पत्र-मुद्रा जारी करने का एकाधिकार किसी एक बैंक को, जो आगे चलकर केन्द्रीय बैंक (Central Bank) के नाम से विख्यात हो गया, दिया जाने लगा। उदाहरण के लिए, इगलैंड मे बैंक ऑफ इगलैंड एव भारत मे रिजर्व बैंक ऑफ इडिया को अपने देश मे पत्र-मुद्रा जारी करने का पूर्ण एकाधिकार है। इतना ही नही, समय व्यतीत होने के साथ-साथ इन नोटो को वैधानिक मुद्रा (Legal Tender) भी घोषित किया जाने लगा। इससे कानून के द्वारा इन्हे मुद्रा का पद प्राप्त हो गया। सर्वप्रथम, 1833 ई० मे बैंक ऑफ इगलैंड के नोटो को कानूनी मुद्रा घोषित किया गया और आज तो विश्व के प्राय सभी देशो मे पत्र-मुद्रा को वैधानिक मुद्रा का पद प्राप्त है। इस प्रकार बैंक-नोट अपने विकास के अन्तिम स्तर पर मुद्रा का केवल स्थानापन्न नही रहकर स्वय मुद्रा हो गये। फिर भी बहुत दिनो तक जनसाधारण बैंक नोटों को तब तक सुरक्षित एव सुदृढ नही समझता था जब तक कि वे स्वर्ण-मुद्रा मे परिवर्तित नही हो।

अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा (Inconvertible Paper Money) —प्रथम महायुद्ध के पूर्व तक विश्व के प्राय अधिकाश देशो मे स्वर्ण-मुद्रा का प्रचलन था। अतएव उस समय तक बैंक नोट स्वर्ण-मुद्रा मे परिवर्तित थे। किन्तु, युद्ध के समय परिवर्तन की सुविधा (Convertibility) को स्थगित कर दिया गया। पुन 1925 ई० मे जब इगलैंड तथा अन्य देशो मे स्वर्ण-मान को अपनाया गया तो बैंक नोटो को स्वर्ण-मुद्रा मे परिवर्तित करने की व्यवस्था की गयी। किन्तु इस बीच पत्र-मुद्रा के सम्बन्ध मे लोगो की हिचक धीरे-धीरे समाप्त हो रही थी जिससे जनसाधारण कागजी मुद्रा को लेकर सतुष्ट होने लगा, क्योंकि इसके द्वारा सभी अपेक्षित वस्तुएँ तथा सेवाएँ प्राप्त की जा सकती हैं। आज तो सभी देशो मे कागजी नोटो को अपरिवर्तनीय (inconvertible) घोषित कर दिया गया है। इन नोटो के बदले मे स्वर्ण अथवा स्वर्ण-मुद्रा नही प्राप्त की जा सकती है। इन नोटो पर आज भी इनके जारी करनेवाले के भुगतान का वायदा (Promise to Pay) अकित रहता है, किन्तु अब इसका कोई अर्थ नही रह गया है। अब तो ये बैंक नोट कागज

के एक टुकड़े के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं हैं, इनका कोई अपना मूल्य (intrinsic value) नहीं रह गया है। आज यदि कोई व्यक्ति केन्द्रीय बैंक के पास नोट भुनाने के लिए ले जायगा, तो बैंक अपने छपे हुए वायदे की पूर्ति दूसरा नोट अथवा कागज के दूसरे टुकड़े को देकर ही कर सकता है।

पत्र-मुद्रा के विकास का यह चौथा एवं अन्तिम स्तर है। इस स्तर पर पत्र-मुद्रा ने पूर्णरूपेण मुद्रा का स्थान ग्रहण कर लिया। आज बहुमूल्य धातुओं का युग समाप्त हो गया। अब इनके सिक्के प्रचलन में नहीं रह गये। आज सर्वत्र पत्र-मुद्रा का ही साम्राज्य है और सिक्के पत्र-मुद्रा रूपी सेनापति के सिपाही बनकर रह गये हैं।

चेक (Cheque) —किन्तु पत्र-मुद्रा के विकास से ही मुद्रा के विकास का इतिहास समाप्त नहीं हो जाता। अभी एक प्रकार की मुद्रा का वर्णन शेष रह गया है—वह है 'चेक' (Cheque)। साधारण ढंग से देखने से यह जान पड़ता है कि चेक अन्य प्रकार की मुद्रा से सर्वथा भिन्न है, किन्तु ध्यानपूर्वक देखने से यह पता चलेगा कि आधारभूत सिद्धान्तों में यह पत्र-मुद्रा का ही एक रूप है। कागजी नोटों के विकास के प्रारम्भिक चरण में एक सुविधा यह थी कि ये मुद्रा नहीं थीं, वरन् मुद्रा होने का केवल दावा थीं। अतएव चोरी जाने अथवा खो जाने के भय से निर्द्वन्द्व होकर लोग इन्हें एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाते थे। किन्तु ज्योंहीं कागजी नोटों ने मुद्रा का पद प्राप्त कर लिया त्योंही उनसे यह सुविधा जाती रही। चेक के आविष्कार ने पत्र-मुद्रा की इस कठिनाई को भी दूर किया है।

बैंक नोट एक आई० ओ० यू० (I. O U—मैं आपका ऋणी हूँ) का पत्र है जिस पर पावनेदार (Creditor) का नाम अंकित नहीं रहता। यह इस बात का प्रमाण है कि इस नोट के जारी करनेवाले को बैंक से इतने रुपये पावने हैं। चेक भी ठीक इसी प्रकार का कार्य करता है। राम यदि 100 रुपये अपने बैंक में जमा करता है तो बैंक उसे नोट नहीं देकर उतनी रकम राम के नाम जमा कर लेता है। यदि राम इस 100 रुपए को श्याम को देना चाहता है तो वह अपने बैंक के नाम एक चेक लिखेगा जिसके द्वारा वह अपने बैंक को इस बात का आदेश देता है कि उतनी रकम उस चेक पानेवाले व्यक्ति को दे दी जाय जिसके द्वारा उसकी रकम राम के खाते से श्याम के खाते में चली जायगी। इस प्रकार चेक भी ठीक बैंक नोट की ही तरह कार्य करते हैं। किन्तु बैंक नोट एवं चेक में कुछ महत्त्वपूर्ण अन्तर भी हैं। चेक में तीन पक्षों का नाम अंकित रहता है। यह एक निश्चित रकम का होता है तथा निश्चित अवधि के पश्चात् एक बार के लेन-देन में ही समाप्त हो जाता है। परन्तु चेक कोई मुद्रा नहीं है, यह केवल वास्तविक मुद्रा को हस्तांतरित करने का एक साधन-मात्र है। वास्तविक मुद्रा बैंक में जमा के रूप में रहती है। यदि चेक के पीछे बैंक जमा नहीं हो तो इसे कोई स्वीकार नहीं करेगा। अतएव, बैंक जमा (Bank Deposit) को ही मुद्रा का नाम देना अधिक उपयुक्त होगा। इस प्रकार बैंक नोट एवं बैंक जमा में एक महत्त्वपूर्ण अन्तर यह है कि जहाँ तक बैंक नोट का सम्बन्ध है, यह एक कागज के टुकड़े पर अंकित रहता है और उस कागज के एक हाथ से दूसरे हाथ में हस्तांतरण के साथ-साथ उस ऋण का भी हस्तांतरण होते रहता है।

चेक के आविष्कार ने ऋण के लेन-देन के कार्य को बहुत ही सुगम कर दिया है। किन्तु चेक का विकास अभी पूर्ण नहीं हुआ है, यह अभी अपने विकास के तृतीय चरण में ही है। अभी चेक को कानूनी ग्राह्य (Legal Tender) मुद्रा का पद नहीं प्राप्त हुआ है जिससे किसी भी व्यक्ति को चेक लेने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता। साथ ही, बैंक का जमा परिवर्तनीय

है। केन्द्रीय बैंक अपने नोटों पर अंकित अदायगी के अपने वायदे को पूरा करने से इनकार भी कर सकता है। किन्तु, कोई दूसरा बैंक अपने जमा की अदायगी से इनकार नही कर सकता। वह इसकी अदायगी किसी कानूनी ग्राह्य मुद्रा के रूप मे करने के लिए बाध्य होता है। अतएव चेक का विकास अभी पूर्ण नही हुआ है। यदि किसी समय देश के सभी बैंकों का राष्ट्रीयकरण कर इन्हें राज्य के तत्वावधान मे एक सस्था के रूप मे परिणत कर दिया जाय तो ऐसी स्थिति मे इनका जमा कानूनी ग्राह्य तथा अपरिवर्तनीय दोनो हो सकता है और इस प्रकार चेक के विकास का क्रम भी पूरा हो जायगा।

निष्कर्ष :—इस प्रकार मुद्रा का वर्तमान रूप सदियो के क्रमिक विकास का परिणाम है। मुद्रा का आविष्कार मानव की विभिन्न उपलब्धियो मे अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। क्राउथर (Crowther) ने इस सम्बन्ध मे ठीक ही लिखा है कि "आज हमे यह आविष्कार बहुत साधारण जान पड़ता है। जिस विचार से प्रेरित होकर लम्बाई की माप के लिए मीटर का, तौल की माप के लिए 'ग्राम' का तथा तापक्रम की माप के लिए डिग्री का आविष्कार हुआ था, उसी विचार को मूल्य के क्षेत्र मे भी प्रयोग किया गया। लेकिन उस समय यह निस्सदेह एक महत्त्वपूर्ण आविष्कार था...किन्तु निस्सदेह यह एक आविष्कार था, क्योकि उस समय सरल वस्तु विनिमय प्रणाली से मौद्रिक प्रणाली की ओर कदम उठाने मे मनुष्य को अत्यधिक सजग रह कर अपनी तर्क-शक्ति का सहारा लेना पड़ा होगा।"[1]

विशेष अध्ययन सूची

1. J. M. Keynes : A Treatise on Money, Vo 1, Chapter 1.
2. Crowther : An Outline of Money, Chapter 1.
3. Marshall : Money, Credit and Commerce, Book I, Chapter 1.
4. Halm, G. N. : Monetary Theory, Chapter 1

1, "To us this invention seems very simple. It is merely the application to the sphere of value of the same idea that has produced the foot or the meter to measure length, the pound or gram to measure weight, the degree to measure temperature and so forth. But at the time, it was doubtless the invention, perhaps, of some lazy genius who found himself oppressed by the task of calculating how many bushels of corn should exchange for one tiger skin, if three bushels of corn were equal to five bananas, twenty bananas to one goat and twenty goats to one tiger-skin. And it undoubtedly was an invention; it needed the conscious reasoning power of Man to make the step from simple barter to money accountancy." Geoffrey Crowther : *An Outline of Money*, P. 23

अध्याय : 2

मुद्रा की परिभाषा एवं कार्य

(Definition and Functions of Money)

मुद्रा की परिभाषा (Definition of Money) —मुद्रा क्या है ? यद्यपि हम सभी मुद्रा के व्यवहार से पूर्णरूपेण परिचित हैं तथापि यह एक ऐसा प्रश्न है जिसका उत्तर कम ही व्यक्ति दे सकते हैं। साधारणतः, मुद्रा का अर्थ धातु के बने सिक्कों से समझा जाता है। किन्तु मुद्रा के सम्बन्ध में इस प्रकार की धारणा निश्चय ही अत्यधिक सकुचित है। मुद्रा के विकास के[1] अध्ययन के क्रम में हम देख चुके हैं कि बकरी, गाय, गेहूँ, चमड़ा, पत्थर, कौड़ी, लोहा, चाँदी एवं कागज आदि का समय-समय पर मुद्रा के रूप में प्रयोग हुआ है। किन्तु, आज विश्व के किसी भी देश में सोने अथवा चाँदी के सिक्कों का प्रचलन नहीं है। आजकल प्रायः 90 या 95 प्रतिशत भुगतान पत्र-मुद्रा अथवा चेक के द्वारा ही होता है।

भिन्न भिन्न अर्थशास्त्रियों ने मुद्रा की परिभाषा विभिन्न प्रकार से दी है। इन परिभाषाओं का अध्ययन इन्हें निम्नांकित तीन वर्गों में विभाजित करके किया जा सकता है :—

(1) सामान्य स्वीकृति पर आधारित परिभाषाएँ (General Acceptability Definitions),

(2) कार्यवाहक अथवा वर्णनात्मक परिभाषाएँ (Functional or Descriptive Definitions), तथा

(3) वैधानिक परिभाषाएँ (Legalistic Definitions)।

(1) सामान्य स्वीकृति पर आधारित परिभाषाएँ (General Acceptability Definitions) —इस वर्ग में उन परिभाषाओं को रखा जाता है जो मुद्रा की सामान्य स्वीकृति के गुण पर आधारित हैं। इस वर्ग की परिभाषाओं में मार्शल, केन्स, राबर्टसन तथा एली आदि की परिभाषाएँ आती हैं। सर्वप्रथम तो प्रो० राबर्टसन (Robertson) के अनुसार 'मुद्रा वह वस्तु है जो वस्तुओं के मूल्य अथवा अन्य व्यापारिक दायित्वों के भुगतान में व्यापक रूप से ग्रहण की जाती है।" (*Money is a commodity which is used to denote* anything which is widely accepted, in payment of goods, or in discharge of other kinds of business obligations) किन्तु राबर्टसन द्वारा दी गयी मुद्रा की उपर्युक्त परिभाषा मुद्रा के केवल एक गुण – वस्तुओं तथा सेवाओं के बदले सर्वमान्यता के गुण—को ही बतलाती है, अतएव यह अधूरी है।

केन्स (Keynes) ने भी इसी प्रकार से मुद्रा की परिभाषा दी है इसके अनुसार "मुद्रा वह वस्तु है जिसके द्वारा ऋण-संविदा (Debt contracts) एवं मूल्य संविदा (Price contracts) का भुगतान किया जाता है एवं जिसके रूप में सामान्य क्रय-शक्ति का संचय किया जाता

---

1. मुद्रा का अँगरेजी पर्यायवाची शब्द Money है जो लैटिन भाषा के Moneta शब्द से बना है। मोनेटा देवी जूनो का प्रारम्भिक नाम था। जिन्हें इटली में स्वर्ग की देवी माना जाता था तथा इनके मंदिर में ही सिक्कों की ढलाई का कार्य किया जाता था। अतएव देवी जूनो के मंदिर में जिस मुद्रा का निर्माण होता था उसे भी मोनेटा कहा जाने लगा और बाद में इसी को Money कहा गया।

है।" (Money is that by the delivery of which debt-contracts and price-contracts are discharged and in the shape of which a store of general purchasing power is held.)

इसी प्रकार मार्शल (Marshall) के अनुसार "मुद्रा के अन्तर्गत वे सारी वस्तुएं सम्मिलित की जाती हैं जो किसी समय अथवा स्थान में वस्तुओं को क्रय करने और खर्च करने में बिना सदेह अथवा विशेष जांच-पड़ताल के बगैर सामान्यतः प्रचलित रहती हैं।" [Money includes all those things which are (at any time or place) generally current without doubt or special enquiry as a means of purchasing commodities or services and of defraying expenses.)

सेलिगमैन (Seligman) के अनुसार भी "मुद्रा वह है जिसे सामान्य स्वीकृति प्राप्त हो।" (Money is one thing that possesses general acceptability.)

इसी प्रकार एली (Ely) के अनुसार "मुद्रा के अन्तर्गत वे सारी वस्तुएं आती हैं जिन्हें समाज में सर्वग्राह्यता प्राप्त हो।" (Money consists of all those things which, within a society, are of general acceptability.)

इस प्रकार उपरोक्त वर्णन से स्पष्ट है कि मुद्रा के इस वर्ग की सभी परिभाषाओ मे मुद्रा की एक प्रमुख विशेषता, सामान्य स्वीकृति या सर्वग्राह्यता (General acceptability) पर ही अधिक जोर दिया गया है। दूसरे शब्दो मे, इन परिभाषाओ के अनुसार "मुद्रा के अन्तर्गत उन सभी वस्तुओ को रखा जाता है जो दैनिक क्रय-विक्रय, लेन-देन तथा ऋणो के भुगतान मे निःसंकोच स्वीकार की जाती हो।" मुद्रा की ये परिभाषाएं अत्यन्त सरल तथा संक्षिप्त रूप मे मुद्रा का रूप प्रकट करती हैं किन्तु इनके अनुसार चेक, बिल एव ड्राफ्ट आदि भी मुद्रा के अन्तर्गत आ जाते हैं क्योकि अमेरिका तथा इगलैंड जैसी उन्नत बैंकिंग व्यवस्था वाले देशो में इनका बहुत बड़े पैमाने पर प्रयोग किया जाता है, परन्तु ध्यानपूर्वक विचार करने से स्पष्ट होता है कि चेक तथा ड्राफ्ट वास्तव मे मुद्रा नही हैं। इंगलैंड तथा अमेरिका जैसे देशो मे भी चेक आदि का प्रयोग केवल सुविधा के लिए ही किया जाता है। चेक बैंक जमा (Bank Deposit) के आधार पर जारी किये जाते हैं, अतः ये बैंक जमा के प्रतिनिधि मात्र हैं, स्वय मुद्रा नहीं है। फिर भी, मुद्रा की तरह इनका महत्त्व होने के कारण इन्हे बैंक-मुद्रा (Bank money) या साख-मुद्रा (Credit money) कहा जाता है।

(2) कार्यवाहक अथवा वर्णनात्मक परिभाषाएं (Functional or Descriptive Functions) :—दूसरे वर्ग की परिभाषाओ मे वे परिभाषाएं आती हैं जो मुद्रा के कार्यों का विशेष रूप से वर्णन करती हैं। अतः इन्हें कार्यवाहक अथवा वर्णनात्मक परिभाषाएं कहा जाता है। इनमें निम्नांकित उल्लेखनीय हैं :—

क्राउथर (Crowther) के अनुसार "मुद्रा वह वस्तु है जो विनिमय के माध्यम के रूप में सामान्यतः सर्वग्राह्य हो तथा साथ ही जो मूल्य-मापन एव मूल्य-सचय का कार्य करती हो।" (Anything that is generally acceptable as a means of exchange and at the same time acts as a measure and as a store of value is called money.—*Crowther.*)

प्रो० हार्टले विदर्स (Hartley Withers) की परिभाषा भी इसी प्रकार से है :—"मुद्रा वह है जो मुद्रा का कार्य करती हो।" (Money is what money does.) यह परिभाषा

बहुत अधिक विस्तृत इसलिए है कि इसके अनुसार मुद्रा के अन्तर्गत वे सारी वस्तुए आती हैं जिनका प्रयोग विनिमय के माध्यम के रूप मे किया जाता है। अतएव, इसके अनुसार सिक्को तथा पत्र मुद्रा के अतिरिक्त चेक, विनिमय बिल एव हुडी आदि भी मुद्रा के अन्तर्गत आ जाते हैं।

वाकर (Walker) के अनुसार "मुद्रा वह वस्तु है जो वस्तुओ के मूल्य अथवा ऋणो के भुगतान मे स्वतन्त्रतापूर्वक हस्तातरित होती रहती है, जो भुगतान करने वाले व्यक्ति के चरित्र अथवा साख के पता लगाये बगैर ही स्वीकार की जाती है, और जो व्यक्ति इसे प्राप्त करता है वह इसका उपयोग स्वय नही कर इसे किसी-न किसी समय विनिमय द्वारा स्थानातरित कर दता है।" (Money is that which passes freely from hand to hand in full payment of goods or in final discharge of indebtedness being accepted equally without reference to the character or credit of the person tendering it and without any intention on the part of the person receiving it himself to consume it or otherwise use it than by passing it on sooner or later in exchange)

वाकर की परिभाषा के अनुसार भी चेक (Cheque) तथा हुंडी आदि मुद्रा के अन्तर्गत नही आते क्योकि इनके देनेवाले की साख की जाच किये बगैर इन्हें कोई स्वीकार नही करता। इससे स्पष्ट है कि मुद्रा का विशेष गुण इनकी सर्वग्राह्यता है और चूंकि चेक एव विनिमय बिल मे यह गुण वर्तमान नहीं है, अतएव इन्हें मुद्रा नही कहा जा सकता।

प्रो० कोल (Cole) के अनुसार "मुद्रा क्रय शक्ति है कोई भी वस्तु जिससे अन्य वस्तुए खरीदी जा सकती हैं।" (Money is purchasing power something which buys otherthings) प्रो० काल ने चेक एव विनिमय बिलो को मुद्रा की श्रेणी मे नही रखा है। इस प्रकार इनके अनुसार मुद्रा एव क्रय-शक्ति पर्यायवाची शब्द हैं।

कोलबर्न (Coulborn) के अनुसार "मुद्रा वह है जो मूल्य-मापन तथा भुगतान का साधन है।" (Money may be defined as the means of valuation and of payment—*Coulborn*) कोलबन की परिभाषा के अनुसार मुद्रा के अन्तर्गत वे सारी वस्तुएं आती हैं जो मूल्य-मापन तथा भुगतान के साधन के रूप म प्रयोग की जाती हैं।

इसी प्रकार ट्रेसकॉट (Trescott) के अनुसार 'मुद्रा का कार्य करनेवाली प्रत्येक वस्तु चाहे वह धातु, सिक्का, सिगरेट अथवा सापियो की माला ही क्यो न हो, मुद्रा है।" (Whatever serves as money is money, whether it be a metal, coin, cigarette or a string of shells)

उपरोक्त परिभाषाओ मे मुद्रा के कार्यो का वर्णन किया गया है। दूसरे शब्दो मे, मुद्रा क्या है इसका उत्तर मुद्रा क कार्यो के वर्णन के द्वारा दिया गया है। वाउथर, कोलबर्न आदि द्वारा दी गयी परिभाषाओ के अनुसार मुद्रा वह वस्तु है जो विनिमय के माध्यम, मूल्य के मापन, भुगतान के साधन तथा मूल्य सचय के आधार का कार्य करती है। कोलबन ने विनिमय के माध्यम तथा मूल्य मापन को मान्यता प्रदान की है तो क्राउथर ने इसे ऋणो के भुगतान तथा सचय का आधार भी माना है। दूसरी ओर, ट्रेसकॉट इन लोगो से भी एक कदम आगे बढ जाते हैं। इनके अनुसार मुद्रा का काय करनेवाली प्रत्येक वस्तु चाहे वह धातु, सिक्का अथवा सिगरेट ही क्यो न हो, मुद्रा है। इस प्रकार मुद्रा की इन परिभाषाओ मे मुद्रा के कार्यों का ही वर्णन किया गया है। दूसरे शब्दो म, मुद्रा की परिभाषा का जानने के लिए इसके कार्यों का वर्णन अनिवाय

है। अतः यह कहा जा सकता है कि ये विचार मुद्रा के कार्यों का वर्णन करते हैं, मुद्रा की परिभाषा नही प्रस्तुत करते। साथ ही, इनमे मुद्रा की प्रमुख विशेषताओ—सर्वग्राह्यता, जनता का विश्वास आदि की ओर भी ध्यान नही दिया गया है।

(3) वैधानिक परिभाषाएं (Legalistic Definitions).—सामान्य स्वीकृति तथा वर्णनात्मक परिभाषाओ का एक प्रधान दोष यह है कि इनमे मुद्रा को वैधानिक मान्यता को कोई स्थान नही दिया गया है, किन्तु आधुनिक समय मे कोई भी वस्तु शासकीय स्वीकृति के वगैर मुद्रा के रूप मे स्वीकार नही की जाती।

अतः, वैधानिक दृष्टिकोण से भी मुद्रा की परिभाषाएँ दी जाती हैं। ये परिभाषाएँ मुद्रा के राजकीय सिद्धात (State Theory of Money) पर आधारित हैं। इस वर्ग की परिभाषाओ मे प्रो० नैप (Knapp) तथा हाट्रे (Hawtrey) की परिभाषाएँ श्रेष्ठ हैं। वैधानिक विचार के अनुसार मुद्रा वह वस्तु है जिसे सरकार द्वारा मुद्रा घोषित किया जाता है तथा जिसे स्वीकार करने के लिए प्रत्येक व्यक्ति बाध्य होता है। नैप के अनुसार कोई भी वस्तु जो राज्य द्वारा मुद्रा घोषित की जाती है मुद्रा हो जाती है। दूसरे शब्दो मे, नैप के अनुसार **"मुद्रा राजकीय नियमो की सृष्टि है।"** (Money is created by the imprimature of law). नैप के अनुसार, **"कोई भी वस्तु जो राज्य द्वारा मुद्रा घोषित की जाती है मुद्रा कहलाती है।"** (Anything which is declared money by the state, becomes money). यानी नैप के शब्दो मे राजकीय नियम किसी वस्तु को मुद्रा घोषित करते हैं और कानून के बल पर सम्पूर्ण समाज मे इसे सर्वमान्य बनाते हैं। इस प्रकार राज्य मुद्रा की वैधानिक मान्यता को सुरक्षित बनाता है। किन्तु नैप (Knapp) की परिभाषा मे कुछ दोष स्पष्टतः नजर आते हैं। सर्वप्रथम तो नैप ने इस बात पर ध्यान नही दिया कि मुद्रा की स्वीकृति केवल सरकारी घोषणा एवं शक्ति पर ही नहीं, वरन् जनता के विश्वास पर भी निर्भर करती है। जब कभी सरकार द्वारा घोषित मुद्रा पर से जनता का विश्वास समाप्त हो जाता है तो लोग इसे मानने के लिये तैयार नहीं होते। प्रथम महायुद्ध के बाद जर्मनी मे इसी प्रकार की स्थिति उत्पन्न हो गयी थी। सैद्धातिक दृष्टिकोण से भी इस परिभाषा मे कुछ दोष बतलाये जाते हैं, किन्तु इन सबके बावजूद हर एक देश की मौद्रिक व्यवस्था उत्तरोत्तर मुद्रा की राजकीय धारणा की ओर ही अग्रसर होती जा रही है।

इस प्रकार मुद्रा की विभिन्न परिभाषाएँ* दी जाती हैं। इन परिभाषाओं से मुद्रा के **निम्नांकित दो तत्त्व स्पष्ट हो जाते हैं**:—सर्वप्रथम तो मुद्रा की एक प्रमुख विशेषता इसकी सामान्य स्वीकृति (General acceptability) है। मुद्रा होने के लिए किसी वस्तु मे सामान्य स्वीकृति का गुण होना आवश्यक है। बहुत-सी वस्तुएँ केवल किसी खास कार्य के लिए स्वीकार्य

---

* मुद्रा को कुछ अन्य परिभाषाएँ इस प्रकार हैं :—

1. "An article that has the function of common measure for the valuation of other goods is called money. The primary and fundamental function of money is to secure as the basis of a scale of reckoning by which the values of exchangeable commodities can be determined." (Gustav Cassel—*The Theory of Social Economy*, p 4.)

2. "We understand, therefore, by the term 'money' the complex of those objects which in a given economic area and in a given economic system have as their normal purpose the facilitation of economic intercourse or the transfer of values between economic individuals." (Karl Helfferich : *Money*, Vol 1. p. 281)

होती हैं, किन्तु उन्हें सभी वस्तुओं के मूल्य के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता। अतः वे मुद्रा नहीं हैं। इसका दूसरा तत्व यह है कि कोई भी वस्तु जो सर्वमान्य हो, मुद्रा हो सकती है। बहुत से लेखकों ने केवल उन्हीं वस्तुओं को मुद्रा के रूप में स्वीकार किया है जो कानूनी रूप से मुद्रा घोषित की गयी हो। इस दृष्टिकोण से बैंक-जमा मुद्रा नहीं है क्योंकि इसे कानूनी मान्यता नहीं प्राप्त है। फिर भी, बैंक जमा (Bank Deposit) का भी उसी तरह प्रयोग किया जाता है तथा इसका आर्थिक व्यवस्था पर ठीक उसी प्रकार से प्रभाव पड़ता है जिस प्रकार से बैंक-नोट का। अतएव, ये दोनों मुद्रा हैं। अर्थशास्त्र के विद्यार्थी के लिए इन दोनों में वस्तुतः कोई अन्तर नहीं है।

अतः मुद्रा का एक प्रधान गुण सामान्य स्वीकृति है। उक्त सारे गुणों के आधार पर मुद्रा की एक सरल परिभाषा इस प्रकार से दी जा सकती है—"कोई भी वस्तु जो विनिमय के **माध्यम, मूल्य के सामान्य मापक, ऋण के भुगतान के मापदण्ड और अर्थ के संचय के साधन के रूप में स्वतन्त्र, विस्तृत तथा सामान्यतया सर्वग्राह्य हो, मुद्रा कहलाती है।"** कोई भी पदार्थ, जिसमें उक्त लिखित सारे गुण हों, मुद्रा हो सकता है। मुद्रा के लिए अपने-आप में मूल्यवान होना कोई आवश्यक नहीं है। इस प्रकार मुद्रा-पदार्थ का रूप कुछ भी हो सकता है और वास्तविकता भी यही है कि विभिन्न स्थान तथा विभिन्न काल में अलग-अलग वस्तुओं का मुद्रा के रूप में प्रयोग हुआ है।

मुद्रा के कार्य

(Functions of Money)

वर्तमान आर्थिक व्यवस्था में मुद्रा का बड़ा ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। प्राचीन काल में मनुष्य की आवश्यकताएँ बहुत कम थी इसलिए विनिमय की आवश्यकता भी बहुत ही कम पड़ती थी किन्तु जैसे-जैसे मानवीय आवश्यकताएं बढ़ती गयीं, वैसे-वैसे श्रम-विभाजन का विस्तार होता गया और श्रम-विभाजन के साथ-साथ विनिमय एवं मुद्रा का महत्त्व भी उत्तरोत्तर बढ़ता गया। मुद्रा आधुनिक समाज में बहुत-से कार्यों को सम्पन्न करती है। अतएव, मुद्रा की प्रकृति की जानकारी के लिए इसके कार्यों की पूर्ण जानकारी आवश्यक है। साधारणतया मुद्रा के चार कार्यों पर ही अत्यधिक जोर दिया जाता है। वे हैं (क) विनिमय का माध्यम (Medium of exchange), (ख) मूल्य का मापक (Standard measure of value), (ग) स्थगित भुगतान का मान (Standard of deferred Payment), तथा (घ) मूल्य का संचय (Store of value)।[1] *किन्तु आजकल अर्थशास्त्रियों द्वारा मुद्रा के और भी बहुत-से कार्य बतलाये जाते हैं। मुद्रा के इन विभिन्न कार्यों का अध्ययन हम इन्हें निम्नांकित तीन वर्गों*

---

3. Money is " anything that is commonly used and generally accepted as a medium of exchange or as a standard of value." (R. P Kent : *Money and Banking, Fourth Edition, p. 4.*)

4. Ely defines money as "anything that passes freely from hand to hand as a medium of exchange and is generally received in final discharge of debts" (*Elementary Principles of Economics*)

5. Hart and Kenen have defined money as that property with which the owner can pay off a definite amount of debt with certainty and without delay' -- *Money, Debt and Economic Activity-Third Edition, p. 4.*

1. Money is a matter of functions four,
A medium, a measure, a standard and store.

में विभाजित करके करेंगे :—

(1) प्राथमिक कार्य (Primary Functions);

(2) गौण कार्य (Secondary Functions), तथा

(3) आकस्मिक कार्य (Contingent Functions)।

(1) प्राथमिक कार्य (Primary Functions) :—मुद्रा के प्राथमिक कार्य वे कार्य हैं जिन्हें मुद्रा आर्थिक विकास की प्रत्येक अवस्था मे करती है। इन कार्यों को मुद्रा के मौलिक कार्य (Original functions) अथवा मुख्य कार्य भी कहा जाता है। मुद्रा के निम्नांकित दो प्राथमिक कार्य हैं :—

(क) विनिमय का माध्यम (Medium of Exchange), तथा

(ख) मूल्य-मापन की इकाई (Unit of Account)।

(क) विनिमय का माध्यम (Medium of exchange) :—मुद्रा का सर्वप्रमुख कार्य यह है कि यह विनिमय के माध्यम के रूप मे कार्य करती है। (Money serves as a medium of exchange) आज की आर्थिक व्यवस्था विनिमय पर ही आधारित है और विनिमय का कार्य मुद्रा को माध्यम मानकर किया जाता है। इस रूप मे मुद्रा सबसे अधिक तरल साधन (liquid asset) है। मुद्रा के आविष्कार के पहले समाज मे वस्तु-विनिमय प्रणाली का प्रचलन था जिसमे वस्तुओ का प्रत्यक्ष रूप मे एक-दूसरे के साथ विनिमय होता था। किन्तु वस्तु-विनिमय प्रणाली मे आवश्यकताओ के दोहरे सयोग के अभाव (Lack of double coincidence of wants) मे विनिमय के कार्य मे बहुत अधिक कठिनाई होती थी। मुद्रा वस्तु-विनिमय प्रणाली की इस कठिनाई को दूर करती है। अब विनिमय का कार्य मुद्रा को माध्यम मानकर किया जाता है। पहले वस्तु अथवा सेवा को बेचकर मुद्रा प्राप्त की जाती है और तब इस प्रकार से प्राप्त मुद्रा से आवश्यकता की अन्य वस्तुएँ प्राप्त की जाती हैं। अतएव, मुद्रा ने विनिमय के कार्य को बहुत ही सरल तथा सहज बना दिया है, किन्तु इस कार्य को सम्पादित करने के लिए मुद्रा का सर्वग्राह्य होना नितात आवश्यक है। (Money must be generally acceptable) सर्वग्राह्य होने के कारण सभी व्यक्ति मुद्रा को किसी कठिनाई के बगैर ही स्वीकार कर लेते हैं। सभी इस बात को जानते हैं कि चूँकि मुद्रा मे सामान्य क्रय-शक्ति (General Purchasing Power) निहित है, अतएव इसके द्वारा वे अपनी आवश्यकता की सारी वस्तुएँ भी सुगमतापूर्वक प्राप्त कर सकते हैं। इस प्रकार मुद्रा विनिमय के माध्यम का कार्य करती है।

(ख) मूल्य का मापक या मूल्य मापन की इकाई (Standard of Value or Unit of Account) :—मुद्रा का दूसरा प्रमुख कार्य यह है कि यह मूल्य-मापन की इकाई का कार्य करती है। (Money serves as unit of account.) मुद्रा मूल्य का मापक है। जिस प्रकार से किसी स्थान की लम्बाई-चौडाई को मीटर से, वजन को क्विंटल या किलो से मापा जाता है, ठीक उसी प्रकार से किसी वस्तु के मूल्य को मुद्रा के द्वारा मापा जाता है। मुद्रा के अभाव मे मूल्य का कोई सामान्य मापक नही था जिससे वस्तुओं का मूल्य एक-दूसरे के सम्बन्ध मे व्यक्त करना पडता था। इससे विनिमय के अनुपात को निश्चित करने मे बहुत अधिक कठिनाई होती थी। किन्तु आज हरेक वस्तु अथवा सेवा का मूल्य मुद्रा के रूप मे व्यक्त किया जाता है जिससे विनिमय के अनुपात को निश्चित करने मे कोई कठिनाई नही होती। मुद्रा को मूल्य के मापक के रूप मे प्रयोग करने से आर्थिक गणना का कार्य बहुत ही सुगम हो जाता है।

उपभोक्ता को इससे अपनी आवश्यकता की वस्तुएँ खरीदने मे सुगमता होती है तथा इनकी मांग के अनुसार ही उत्पादक भी वस्तुओं का उत्पादन करता है। व्यवस्थापक उत्पादन के साधनों का मूल्य जानता है जिससे वह उत्पादन का संगठन सर्वोत्तम तरीके से करता है। इस प्रकार मुद्रा का मूल्य-मापक के रूप मे कार्य आर्थिक व्यवस्था के लिए नितांत महत्त्वपूर्ण है।

विनिमय के माध्यम तथा मूल्य-मापन के कार्यों का आपसी सम्बन्ध (Inter-relationship between Medium of Exchange and Unit of Account) :—मुद्रा के उपरोक्त दो प्राथमिक कार्य हैं। मुद्रा के इन दोनो प्राथमिक कार्यों मे बड़ा ही घनिष्ठ सम्बन्ध है। वास्तव मे, मुद्रा के ये दोनो कार्य एक ही समय पर तथा साथ-साथ सम्पन्न किये जाते हैं। यह बिल्कुल स्पष्ट है क्योंकि किसी भी वस्तु अथवा सेवा के विनिमय के पूर्व उसका मूल्य जानना आवश्यक है। जबतक विनिमय की जानेवाली वस्तु का मूल्य मुद्रा के रूप म नही व्यक्त किया जाता तब तक मुद्रा को विनिमय के माध्यम के रूप मे प्रयोग नही किया जा सकता है। उदाहरण के लिए, जब दुकानदार यह बता देता है कि चावल 100 रुपये प्रति क्विंटल है तभी ग्राहक यह निश्चित करता है कि उसे कितना चावल खरीदना है। इस प्रकार पहले वस्तुओं का मूल्य मुद्रा के रूप मे आंका जाता है, तत्पश्चात् निश्चित अनुपात पर वस्तुओ की अदला-बदली की जाती है। अतएव मूल्य-मापन के बाद ही विनिमय की क्रिया प्रारम्भ होती है।

इसी प्रकार वस्तुओं तथा सेवाओ का मूल्य-मापन सदा उसी वस्तु के रूप मे होता है जो विनिमय का माध्यम हो। उदाहरण के लिए, भारत मे रुपया विनिमय का माध्यम है, अतएव वस्तुओ तथा सेवाओ का मूल्य रुपये के रूप मे ही व्यक्त किया जाता है। इसी प्रकार जर्मनी मे मार्क, जापान मे येन, रूस मे रूबल, ब्रिटेन मे पौंड तथा अमेरिका मे डॉलर विनिमय के माध्यम हैं, अत इन देशो म वस्तुओं तथा सेवाओ का मूल्य भी इन्ही के रूप मे व्यक्त किया जाता है।

(2) गौण कार्य (Secondary Functions —मुद्रा के गौण कार्यो के अन्तर्गत उसके अपेक्षाकृत कम महत्त्व के कार्य आते हैं। ये कार्य समाज के आर्थिक विकास के साथ-साथ दृष्टिगोचर होते हैं। इन कार्यों की उत्पत्ति भी मुद्रा के प्राथमिक कार्यों से ही होती है, अतएव, इन्हें गौण अथवा सहायक या कभी-कभी व्युत्पादित कार्य (Derived Functions) भी कहा जाता है। मुद्रा के गौण कार्य निम्नांकित हैं —

(क) विलम्बित भुगतान का मान (Standard of deferred payment),
(ख) मूल्य-संचय (Store of value), तथा
(ग) क्रय-शक्ति का हस्तांतरण (Transfer of Purchasing Power)।

(क) विलम्बित भुगतान का मान (Standard of deferred payment)—मुद्रा का पहला गौण कार्य यह है कि यह विलम्बित भुगतान के मान का कार्य करती है। आधुनिक युग में भिन्न-भिन्न कार्यों के लिए उधार लेने अथवा देने की आवश्यकता पड़ती है। दूसरे शब्दो में, आज के व्यवसाय मे साख का सर्वाधिक महत्त्व है। ऋण के लेन-देन का कार्य मुद्रा के माध्यम से ही होता है। वस्तुओ के रूप मे ऋण के लेन देन के कार्य मे कठिनाई होती है। अतएव आज इस कार्य के लिए एक प्रामाणिक वस्तु के रूप मे मुद्रा का प्रयोग किया जाता है। मुद्रा मे कुछ ऐसी विशेषताएँ होती हैं जो इसे इस कार्य के लिए सर्वाधिक उपयुक्त बना देती हैं। सर्वप्रथम तो अन्य वस्तुओ की अपेक्षा मुद्रा के मूल्य मे बहुत कम परिवर्तन होता है। इससे ऋण के लेन-देन मे दोनो पक्षो को हानि उठाने की सम्भावना नही रहती। साथ ही, मुद्रा मे सामान्य स्वीकृति का गुण भी पाया जाता है जिससे इसे सभी स्वीकार करते हैं। अन्य वस्तुओं की अपेक्षा मुद्रा मे टिका-

ऊपन भी अधिक होता है। इन सारी विशेषताओं के परिणामस्वरूप मुद्रा इस कार्य के लिए बहुत ही उत्तम होती है। मुद्रा के इस कार्य का आधुनिक युग मे बहुत अधिक महत्व है। इससे समाज मे उधार लेने अथवा देने की व्यवस्था को बहुत अधिक प्रोत्साहन मिला है जिससे समाज का इतने बड़े पैमाने पर आर्थिक विकास सम्भव हुआ है।

(ख) मूल्य का संचय (Store of value)—मुद्रा मूल्य अथवा क्रय-शक्ति के सचय का भी साधन है। वस्तु-विनिमय प्रणाली के अन्तर्गत मूल्य-सचय के साधन का अभाव था जिससे उस समय लोगो को अपनी बचत का सचय वस्तुओ के रूप मे ही करना पडता था किन्तु वस्तुओ के रूप मे मूल्य-सचय मे बहुत अधिक असुविधा होती है। साथ ही, वस्तुओ को बहुत दिनो तक सचय नही किया जा सकता है। मुद्रा इस कठिनाई को भी दूर करती है। आज मूल्य का सचय मुद्रा के रूप म किया जाता है और चूंकि इसमे सामान्य क्रय-शक्ति (General purchasing power) पायी जाती है, अत इससे कभी भी आवश्यकतानुसार वस्तुएं तथा सेवाएं प्राप्त की जा सकती हैं।

मूल्य-सचय (Store of value) के रूप मे मुद्रा का कार्य आजकल बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण हो गया है क्योकि आर्थिक विकास के लिए बहुत अधिक मात्रा मे पूंजी की आवश्यकता पडती है और पूंजी का निर्माण (capital formation) बचत पर ही निर्भर करता है। इस प्रकार मुद्रा मूल्य अथवा क्रय-शक्ति के सचय का सर्वाधिक उपयुक्त साधन है।

(ग) क्रय-शक्ति का हस्तातरण (Transfer of Purchasing Power)—मुद्रा का एक आवश्यक कार्य क्रय शक्ति का हस्तातरण भी है। वास्तव मे, विनिमय के माध्यम के रूप मे कार्य करने के ही कारण मुद्रा मूल्य के हस्तातरण का सर्वोत्तम साधन बन गयी है। आर्थिक विकास के साथ-ही-साथ विनिमय के क्षेत्र का निरतर विस्तार होते जा रहा है। इससे वस्तुओ का क्रय-विक्रय दूर-दूर तक होने लगा है। इस कार्य के लिए क्रय-शक्ति को एक स्थान से दूसरे स्थान मे हस्तातरित करने की आवश्यकता भी उत्पन्न हुई। मुद्रा इस कार्य को भी अत्यधिक सफलतापूर्वक सम्पन्न करती है।

(3) आकस्मिक कार्य (Contingent Functions) प्रो० किनले (Kinley) ने मुद्रा के आकस्मिक कार्यों का वर्णन किया है। किनले के अनुसार उपरोक्त कार्यों के अतिरिक्त आर्थिक दृष्टि से उन्नत देशो मे मुद्रा चार अन्य कार्यों को भी सम्पन्न करती है। इन कार्यों को मुद्रा के आकस्मिक कार्य कहा जाता है। आर्थिक जीवन के विकास की प्रारम्भिक अवस्था मे मुद्रा इन कार्यों को सम्पन्न नही करती थी, किन्तु आधुनिक समय मे हरेक उन्नत देश मे यह इन कार्यों को सम्पन्न करती है। प्रो० किनले (Kinley) के अनुसार मुद्रा के ये चार आकस्मिक कार्य इस प्रकार हैं —

(1) मुद्रा साख के आधार का कार्य करती है (Money serves as a basis of credit) :—वर्तमान युग मे साख के महत्त्व से हम पूर्णरूपेण परिचित हैं। आज 'साख-पत्रो' (Credit instruments) का प्रयोग मुद्रा की ही तरह होता है। मुद्रा साख-पत्रो का आधार है, यानी मुद्रा के आधार पर ही साख-पत्रों को जारी किया जाता है। बैंक तथा अन्य सस्थाएं जिस साख का सृजन करती हैं, वह मुद्रा पर ही आधारित है। उदाहरण के लिए, जब कोई बैंक नोट जारी करता है अथवा बैंक जमा (Bank Deposit) का सृजन करता है, तब वह अपने ग्राहकों की माग को पूरा करने के लिए कुछ नकद मुद्रा (Cash reserve) अपने पास रखता

है। पर्याप्त मात्रा में नकद मुद्रा नही रहने पर अपने ग्राहको की माग को पूरा करने मे वह असमर्थ होता है जिससे बैंक की साख समाप्त हो जाती है। स्पष्ट है कि मुद्रा साख के आधार का कार्य करती है।

(ii) *मुद्रा सामाजिक आय के वितरण में सहायता प्रदान करती है (Money facilitates the distribution of social income)*—वर्तमान युग मे उत्पादन का कार्य सामूहिक रूप से किया जाता है। उत्पादन विभिन्न साधनों के सहयोग से होता है। अतः ये सब साधन मिल कर जिस वस्तु अथवा सेवा का उत्पादन करते हैं, उसे राष्ट्रीय लाभाश (National Dividend) कहा जाता है। इस राष्ट्रीय लाभाश का पुन: उत्पादन के विभिन्न साधनो के बीच वितरण किया जाता है। मुद्रा इस सामाजिक *आय अथवा राष्ट्रीय लाभाश के वितरण के कार्य को सुलभ बनाती* है। मुद्रा के प्रयोग द्वारा सभी साधनो के उचित मूल्य को आंका जाता है और पुन: मुद्रा के रूप मे ही इनका इन साधनो के बीच वितरण किया जाता है। किनले ने इस सम्बन्ध मे ठीक ही कहा है कि "Without money, or its equivalent, the apportionment of the product amon the various producers would be impossible in a state of highly specialised labour, for otherwise each would have, to get in kind everything that he helped to produce"

(iii) *मुद्रा सभी प्रकार के धन अथवा पूँजी को एक सामान्य रूप प्रदान करती है (Money gives a general form to capital)* :—आज के युग मे धन अथवा पूँजी को मुद्रा के रूप मे ही रखा जाता है। इससे पूँजी की तरलता (liquidity) एव गतिशीलता (mobility) मे वृद्धि होती है। दूसरे शब्दों मे, इससे पूँजी का लाभपूर्ण तरीके से उपयोग सम्भव होता है। मुद्रा के प्रयोग द्वारा ही यह सब सम्भव हुआ है।

(iv) *मुद्रा उपभोक्ताओ को उनकी आय से सम-सीमांत उपयोगिता प्राप्त करने मे भी सहायक होती है (Money helps the consumers to attain equi-marginal utility from their income)* .—मुद्रा के प्रयोग से ही उपभोक्ता अपनी आय से अधिकतम सतुष्टि प्राप्त करता है। इसकी सहायता से वह अपनी आय का सामान्यीकरण करता है तथा इसे विभिन्न मदो मे इस प्रकार से व्यय करता है कि व्यय की सभी मदो से समान उपयोगिता प्राप्त हो। इस प्रकार मुद्रा की सहायता से *उपभोक्ता अपनी आय से अधिकतम सतुष्टि प्राप्त कर* पाता है। उत्पादन के क्षेत्र मे भी मुद्रा के प्रयोग से सभी साधनो की सीमात उत्पादकता (Marginal productivity) को बराबर करने मे सुविधा मिलती है *जिससे उत्पादन अधिकतम* होता है। इस प्रकार ये मुद्रा के आकस्मिक कार्य हैं। मुद्रा के इन कार्यों को आकस्मिक इसलिए कहा जाता है कि इनकी उत्पत्ति *मुद्रा के प्राथमिक कार्यों, विनिमय के माध्यम तथा मूल्य-मापन* की इकाई से ही होती है।

मुद्रा के उपरोक्त कार्यों को निम्नांकित तालिका से भी अधिक स्पष्ट किया जा सकता है—

मुद्रा के कार्य

- प्राथमिक कार्य (Primary Functions)
  - विनिमय का माध्यम
  - मूल्य का सामान्य मापक
- गौण कार्य (Secondary Functions)
  - विलम्बित भुगतान का मान
  - मूल्य संचय का साधन
  - क्रय-शक्ति का हस्तान्तरण
- आकस्मिक कार्य (Contingent Functions)
  - साख-मुद्रा का आधार
  - सामाजिक आय का वितरण
  - पूँजी को सामान्य रूप प्रदान करने का साधन
  - सीमान्त उपयोगिता की समानता का साधन
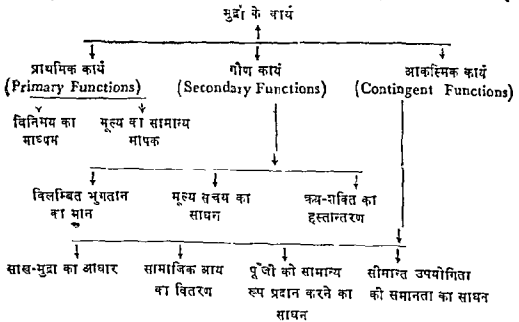
इस प्रकार मुद्रा अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य करती है। राष्ट्र के आर्थिक विकास के साथ-साथ मुद्रा के इन कार्यों का महत्त्व भी उत्तरोत्तर बढ़ता जा रहा है।

विशेष अध्ययन-सूची

1. Crowther : An Outline of Money, chapter I.
2. D. H. Robertson Money, chapter I.
3. J. M. Keynes : A Treatese on Money, chapter I
4. L. V. Chandler : The Economics of Money and Banking, chapter I.

अध्याय : 3

आर्थिक जीवन में मुद्रा का महत्त्व

(Importance of Money in Economic life)

प्रतिष्ठित अर्थशास्त्र मे मुद्रा का महत्त्व (Role of the Money in Classical Economics) :–आधुनिक मानव के आर्थिक जीवन मे मुद्रा का बड़ा ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। किन्तु प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियो (Classical Economists) ने अपने विचारो मे मुद्रा को कोई महत्त्वपूर्ण स्थान नही प्रदान किया था। इनलोगो के अनुसार अर्थ-व्यवस्था मे मुद्रा बिलकुल अनावश्यक तथा महत्त्वहीन वस्तु थी। आदम स्मिथ (Adam Smith) जो प्रतिष्ठित सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक थे, ने मुद्रा की निष्पक्षता को स्पष्ट करने के लिए इसकी तुलना उस सड़क से की थी जो स्वय घास की एक पत्ती का भी उत्पादन नही कर सकती थी। इन लोगो के अनुसार मुद्रा केवल विनिमय के माध्यम के रूप मे कार्य करके समाज मे उत्पादन तथा वितरण की प्रक्रियाओ को अधिक कुशल बनाने मे सहायक सिद्ध होती है।

इस प्रकार प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियो के विचारो मे मुद्रा का कोई महत्त्व नही था। उदाहरण के लिए, सुप्रसिद्ध प्रतिष्ठित अर्थशास्त्री मिल (John Stuart Mill) के अनुसार मुद्रा का समाज की अर्थ-व्यवस्था मे कोई महत्त्व नहीं है। मुद्रा सामाजिक अर्थ-व्यवस्था मे गाड़ी के पाँचवें पहिये की तरह है जो वस्तुत. अनावश्यक है। सामाजिक अर्थ-व्यवस्था मे मुद्रा की महत्त्व-हीनता की चर्चा करते हुए मिल लिखते हैं कि "समाज मे मुद्रा के प्रयोग से मूल्य के उन नियमो पर, जो वस्तु-विनिमय प्रणाली मे भी लागू होते हैं, कोई अतर नही आता। सामाजिक अर्थ-व्यवस्था मे, वस्तुत मुद्रा से अधिक महत्त्वहीन वस्तु कोई नही है। यदि समाज मे इसका कोई उपयोग है तो वह यह है कि इससे केवल श्रम तथा समय की बचत होती है। यह वास्तव मे उस मशीन की तरह है जिससे किसी भी उस कार्य को जिसे इसकी सहायता के बगैर करने मे देर तथा असुविधा होती है, शीघ्र तथा सुविधा के साथ किया जाता है। दूसरी सब मशीनो की तरह अर्थ-व्यवस्था पर इसका उस समय तक कोई प्रभाव नही पडता जबतक कि यह अव्यवस्थित नहीं हो जाय।"[1]

इस प्रकार प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियो के अनुसार मुद्रा का उत्पादन एवं रोजगार पर प्रायः कोई प्रभाव नही पड़ता। मुद्रा तो केवल विनिमय का माध्यम है। अतएव अधिक-से-अधिक यह दिन-प्रतिदिन के लेन-देन मे स्फूर्ति उत्पन्न कर सकती है। इनके अनुसार, "मुद्रा एक रैपर है जिसमे बाँधकर वस्तुएँ आपके पास आती है।" (Money is a wrapper in which goods

1. "It must be evident, however, that the mere introduction of a particular mode of exchanging things for one another by first exchanging a thing for money and then exchanging the money for something else, makes no differnce in the essential character of transactions. There cannot, in short, be intrinsically a more insignificant thing in the economy of society than money, except in the character of a contrivance of sparing time and labour. It is a machine for doing quickly and commodiously, what would be done, though less quickly and commodiously without it, and like many other types of machinery, it only exerts a distinct and independent influence of its own when it gets out of order" —*J. S. Mill : The Principles of Political Economy,*

come to you), यानी "मुद्रा आर्थिक जीवन-रूपी शरीर द्वारा धारण किये गये वस्त्र की तरह है।' (Money is the garment wrapped round the body of economic life) दूसरे शब्दो मे, मुद्रा एक प्रकार का आवरण है जिसमें लिपट कर वस्तुएँ बाजार मे आती हैं। इनके अनुसार सभी प्रकार के लेन-देन वस्तुओ तथा सेवाओ के रूप मे होते हैं। मुद्रा तो इस क्रिया के सचालन का केवल माध्यम-मात्र है। अतएव जब लोग मुद्रा की इच्छा करते हैं तो वे वास्तव मे वस्तुओ तथा सेवाओ की इच्छा करते हैं जिन्हे मुद्रा वे द्वारा क्रय किया जा सकता है।

प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों के दृष्टिकोण मे दोष—मुद्रा के प्रति प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों की इस प्रकार की उपेक्षा का प्रधान कारण उनका यह विश्वास था कि मुद्रा सदा सहज ढग से कार्य करती है और इसके अव्यवस्थित होने तथा अर्थ-व्यवस्था पर स्वतत्र प्रभाव डालने की सभावनाएँ बहुत ही कम रहती हैं। उनका यह तर्क था कि दीर्घकाल मे मुद्रा की पूर्ति का इसकी मांग मे स्वतः समायोजन हो जाता है। इन अर्थशास्त्रियों का सर्वाधिक प्रधान दोष यह था कि इन्होने इस बात पर ध्यान नही दिया कि लोग केवल वस्तुओ तथा सेवाओ को क्रय करने के लिए ही मुद्रा की माग नहीं करते, वरन् नक्द मुद्रा को परिकल्पना के उद्देश्य से भी अपने पास रखने हैं। ज्योहि परिकल्पना के उद्देश्य से मुद्रा की माग को मुद्रा की माग का एक प्रमुख कारण माना जाता है, 'से' का सुप्रसिद्ध नियम[1] मौद्रिक अर्थ-व्यवस्था के अतगत क्रियाशील नही रह जाता क्योकि लोग मुद्रा की माग केवल वस्तुओ तथा सेवाओ को खरीदने के लिए ही नही करते, वरन् इसलिए भी करते हैं कि मुद्रा के स्वामित्व को अन्य कारणो से भी महत्त्वपूर्ण समझा जाता है। इस प्रकार प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियो की विचारधारा आजकल के अर्थशास्त्रियो को मान्य नही है। वास्तव मे, आजकल हम मुद्रा के प्रयोग के बहुत अधिक अभ्यस्त हो गये हैं।

आजकल समाज मे मुद्रा का एक प्रधान कार्य सामान्य आर्थिक क्रियाओं का नियमन तथा सामाजिक सुधारो को सभव बनाना भी है। दूसरे शब्दो मे, मुद्रा अब महत्त्वहीन नही रहकर समाज मे आर्थिक तथा सामाजिक सुधारो के साधन के रूप मे कार्य कर रही है। जिस प्रकार विचार विनिमय के लिए लेखन तथा मुद्रण का महत्त्व है, ठीक उसी प्रकार वस्तुओ के विनिमय के लिए मुद्रा अनिवार्य है। "वास्तव मे विनिमय की वर्त्तमान प्रणाली सामाजिक जीवन के सभी पहलुओ से इस प्रकार घुलमिल गयी है कि यदि इसे अचानक नष्ट कर दिया जाय तो जीवन की अधिकाश अच्छाइयाँ समाप्त हो जायेंगी। इसके अधिकाश सुप्रभाव, जिन्हे सामान्यत मुद्रा के विचारो से सम्बन्धित नही किया जाता है, का लोप हो जायगा तथा विभिन्न क्षेत्रो मे कार्य करने वाले व्यक्तियों के दृष्टिकोण तथा भावनाएँ जो मुद्रा द्वारा उत्पन्न सम्पर्क पर आधारित है, अधिकाशत नष्ट हो जायेंगी।"[2]

इससे आधुनिक आर्थिक जीवन मे मुद्रा का महत्त्व स्पष्ट हो जाता है। इतना ही नहीं, किसी देश की मौद्रिक व्यवस्था उस देश की आर्थिक प्रगति का भी द्योतक होती है। वास्तव मे, किसी देश का आर्थिक विकास उसकी विनिमय-व्यवस्था का कारण एव परिणाम दोनो ही होता है किन्तु विनिमय-व्यवस्था भी औद्योगिक सगठन के अनुसार परिवर्त्तित होती है।

1 "Supply creates its own demand"

2 "So interwoven with all phases of the life of the society is the modern system of exchanage that wereituddenly destroyed, much that is best in civilised life would be swept away, much of its noblest influences which are commonly thought of as far removed from contact with thoughts of money, would vanish."

अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक 'Evolution of Modern Capitalism' मे हॉब्सन (J. A. Hobson) ने ठीक ही लिखा है कि "यांत्रिक प्रणाली के अन्तर्गत उत्पादन की विधियो मे परिवर्तन के अनुरूप ही मौद्रिक प्रणाली बदलती तथा पेचीदी होती चली जाती है। उत्पादन एव वितरण की वर्त्तमान प्रणाली मे मुद्रा की राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय प्रकृति तथा साख के विस्तृत आकार का अधिक महत्त्व इसका प्रमाण है। वास्तव मे, सम्पूर्ण औद्योगिक आन्दोलन को ही वित्तीय अथवा मौद्रिक दृष्टिकोण से देखा जा सकता है।" (Corresponding to the changes of productive methods under mechanical machinery, we should find the rapid growth of a complex monetary system reflecting in its international and national character, in its elaborate structure of credit, the leading *characteristic of which we find in modern productive and distributive industry. The whole industrial movement might be regarded from financial* or *monetary point* of view)

आर्थिक जीवन मे मुद्रा का महत्त्व

(Importance of Money in Economic Life)

इस प्रकार वर्तमान समय मे मानव के आर्थिक जीवन मे मुद्रा का बड़ा ही महत्त्वपूर्ण स्थान हो गयी है। वास्तव मे, जीवन के हर क्षेत्र म आजकल मुद्रा का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हो गया है। जीवन का आर्थिक पहलू हो अथवा राजनीतिक, व्यापार हो या कृषि, युद्ध हो या शांति, आज के युग मे मुद्रा ही सब कुछ है। मुद्रा के बगैर हमारा सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक जीवन वस्तुतः उचित रूप से चल ही नही सकता। प्रो० ए० सी० एल० डे० के अनुसार "मुद्रा इतनी महत्त्वपूर्ण एव सार्थक हो गयी है कि मुद्रा के कार्यों एव दुष्कार्यों का अध्ययन ही अर्थशास्त्र के अध्ययन का प्रमुख अंग हो गया है।" अतएव मानव के आर्थिक जीवन मे मुद्रा का बड़ा ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। वस्तुतः, मुद्रा हमारी आर्थिक क्रियाओं की प्रेरक शक्ति है। इसने न केवल वर्त्तमान समय के बड़े पैमाने के उत्पादन को ही सम्भव बनाया है, वरन् इससे आधुनिक रहन-सहन के स्तर को प्रभावित करने वाली विभिन्न वस्तुओ के विनिमय एव वितरण की सुविधा भी प्रदान की है। रॉबर्टसन (*Robertson*) का इस सम्बन्ध मे निम्नांकित कथन विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है :—"मौद्रिक अर्थ-व्यवस्था की उपलब्धि समाज को यह पता लगाने मे सहायक होती है कि लोग क्या और कितनी मात्रा मे चाहते हैं और इसलिए इस बात के निर्णय मे भी सहयोग देती है कि समाज को किन-किन वस्तुओ का तथा कितनी मात्रा मे उत्पादन करना चाहिए जिससे कि समाज की सीमित उत्पादन-शक्ति का अधिकतम उपयोग हो सके। यह समाज के प्रत्येक सदस्य को यह विश्वास दिलाती है कि रोजगार के उपलब्ध साधनो से उन्हे अधिकतम उपयोग एव भौतिक आनन्द प्राप्त हो सकेगा—यह उसे भाड़े की गाड़ी पर आवश्यकता से अधिक यात्रा न करने एव इसके बदले मे चार्ली चैपलिन के हँसमुख चेहरे को देखने का अवसर प्रदान करती है। सक्षेप में, मुद्रा समाज मे भिन्न-भिन्न वस्तुओ पर व्यक्ति की आय के वितरण को इस प्रकार से सम्भव बनाती है जिससे कि उपभोक्ता को अधिकतम संतोष प्राप्त हो सके।" (The existence of a monetary economy *helps* the society to discover what people want and how much they want it and so to decide what shall be produced and in what quantities, and to make best use of its limited productive power. And it helps each member of the

socciety to ensure that the means of enjoyment to which he has access yield him the greatest amount of actual enjoyment which is within his reach; it gives him the chance of not surfeiting himself with bus rides, or stinting himself unduly of the countenance of Charlie Chaplin.)[1] मार्शल (Marshall) ने भी मुद्रा के महत्त्व की व्याख्या करते हुए बतलाया है कि आधुनिक युग की प्रगति का श्रेय मुद्रा को ही है। इनके अनुसार आधुनिक आर्थिक व्यवस्था की प्रधान विशेषता प्राचीन प्रथाओं के आधार पर निश्चित होनेवाले दायित्वों के स्थान पर वस्तुओं तथा सेवाओं के मूल्य का मुद्रा के द्वारा निर्धारण है। सक्षेप मे, मौद्रिक अर्थ-व्यवस्था के कारण ही आधुनिक समाज में आर्थिक स्वतन्त्रता का जन्म हुआ है। इसीलिए, कहा जाता है कि 'मुद्रा वस्तुतः पूंजीवाद का प्रतीक है।" (Money is the symbol of capitalism)

इससे आधुनिक आर्थिक व्यवस्था मे मुद्रा का महत्त्व बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है। हमारी अधिकाश आर्थिक क्रियाएँ मुद्रा की प्राप्ति एव व्यय से ही सम्बन्धित हैं। इस भौतिक युग मे हमारी सफलता एव असफलता भी मुद्रा के रूप मे ही मापी जाती है। इतना ही नहीं, हमारे निर्णय भी मौद्रिक इकाइयो से सम्बन्धित होते हैं। सुप्रसिद्ध अर्थशास्त्री पीगू (Pigou) का यह कथन सत्य ही जान पड़ता है कि "आधुनिक विश्व मे उद्योग मुद्रा-रूपी वस्त्र धारण किये हुए हैं।" (In the modern world, industry is closely enfolded in the garment of money.) दूसरे शब्दो मे, "मुद्रा आधुनिक युग मे एक ऐसा केन्द्र बन गयी है जिसके चारों ओर अर्थशास्त्र का सम्पूर्ण विज्ञान चक्कर काटता है।"

इस प्रकार मुद्रा आधुनिक आर्थिक जीवन के प्रत्येक अग को प्रभावित करती है। यह व्यापारियो को उनका पूर्ण समय अपने कार्य-व्यापार मे लगाने की सुविधा प्रदान करती है। मुद्रा की सहायता से ही उत्पादकगण कच्चे पदार्थ एव अन्य सामान खरीदते हैं तथा आवश्यक श्रमिको, विशेषज्ञो एव प्रबन्धको आदि की सेवाएँ प्राप्त करते हैं किन्तु मुद्रा का महत्त्व व्यापार तथा व्यापारियो तक ही सीमित नही रहता, वरन् कुशल गृह-पत्नियो को भी अपने पारिवारिक बजट बनाने मे मुद्रा से सहायता मिलती है। इसमे वे एक निश्चित आय से अधिकतम सतुष्टि प्राप्त करने मे समर्थ होती हैं। मुद्रा समाज के असख्य उपभोक्ताओ को दुर्लभ साधनो के मितव्ययिता-पूर्ण प्रयोग करने के लिए भी प्रेरित करती है। मौद्रिक व्यवस्था पर आधारित मूल्य-प्रणाली के द्वारा ही समाज के करोड़ो व्यक्तियों के अलग-अलग निर्णयों के बीच समन्वय स्थापित हो पाता है। मूल्य-प्रणाली ही समाज के उत्पादक साधनो के भिन्न-भिन्न क्षेत्रो के बीच वितरण तथा पुनर्वितरण को प्रभावित करती है।

किन्तु इतना ही नही, मुद्रा का प्रयोग गैर-आर्थिक क्षेत्रो मे भी किया जाता है। डेवेनपोर्ट (Devenport) ने इस तथ्य की व्याख्या बड़े ही रोचक शब्दो मे की है—"वर्त्तमान समय मे सभी आर्थिक तुलनाएँ मुद्रा के आधार पर ही की जाती है, कला, नैतिकता अथवा सौंदर्य के आधार पर नही।" लोग किसी वाणिज्य-व्यवसाय मे केवल जीविका प्राप्त करने के उद्देश्य से ही नही, वरन् मौद्रिक रूप मे धन प्राप्त करने के उद्देश्य से प्रवेश करते हैं। मुद्रा प्राप्त करके सफलता प्राप्त करना ही किसी व्यक्ति की योग्यता की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण माप है। कोई व्यक्ति महान् कलाकार या महान् डॉक्टर है अथवा नही यह उसकी आय पर

1. D. H. Robertson, Money. P. 5,

निर्भर करता है।" इससे स्पष्ट है कि मौद्रिक मापदण्ड अमौद्रिक क्षेत्रों को भी प्रभावित करता है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि प्रत्येक दिशा मे आधुनिक जीवन मुद्रा के द्वारा प्रभावित होता है। यहाँ तक कि प्राय: सभी राजनैतिक एव सामाजिक समस्याएं तथा अन्तर्राष्ट्रीय उलझन भी मुद्रा पर ही आधारित हैं। मुद्रा के इस महत्त्व को ध्यान मे रखकर ही ट्रेसकॉट ने कहा है कि, "यदि मुद्रा हमारी अर्थ-व्यवस्था का हृदय नहीं तो रक्त-स्रोत तो अवश्य ही है।" (If money is not the heart of our economic system, it can certainly be considered its bloodstream—*Trescott*)

आर्थिक प्रणाली के नियन्त्रक के रूप में मुद्रा का महत्त्व
(Importance of Money as the Regulator of the Economy)

आर्थिक प्रणाली के नियन्त्रक के रूप मे भी मुद्रा का महत्त्वपूर्ण स्थान है। आर्थिक जीवन मे निरन्तर भुगतान होते रहता है। उपभोक्ता जिस मुद्रा से अपनी उपभोग की वस्तु खरीदता है, वह क्रमशः फुटकर व्यापारी, थोक व्यापारी तथा निर्माता के पास पहुँच कर पुनः लगान, मजदूरी, ब्याज तथा लाभ आदि के रूप मे व्यक्तिगत उपभोक्ताओं के पास आ जाती है। इसमें कोई संदेह नही कि इस मुद्रा का एक भाग सरकार के पास कर के रूप मे भी पहुँचता है। किन्तु इसका अधिकाश भाग समाज मे भी इसी प्रकार से निरतर चक्कर लगाते रहता है। इसे मुद्रा का वृत्ताकार प्रवाह (Circular Flow of Money) कहा जाता है। मुद्रा के इस वृत्ताकार प्रवाह का निरन्तर अबाध गति से चलते रहना देश की आर्थिक व्यवस्था को चलायमान बनाये रखने के लिए अनिवार्य है। ज्योहि इसमे किसी प्रकार की रुकावट अथवा बाधा उत्पन्न होती है त्योहि सम्पूर्ण आर्थिक व्यवस्था असतुलित हो जाती है। उदाहरण के लिए, 1929-32 ई० की भयानक आर्थिक मदी के समय विश्व के पूँजी-बाजारो मे अव्यवस्था उत्पन्न हो गयी थी जिसके परिणामस्वरूप विश्व को भयानक आर्थिक मन्दी का सामना करना पड़ा था।

मदी के समय समाज म व्यापक बेरोजगारी की स्थिति उत्पन्न हो जाती है जिसे सुधारने मे मौद्रिक अस्त्रो का प्रयोग बड़े पैमाने पर तथा सफलतापूर्वक किया जाता है। ऐसे समय मे साधारणतया मुद्रा की पूर्ति म वृद्धि की जाती है और यह वृद्धि अर्थ-व्यवस्था को मन्दी के दल-दल से बाहर निकालती है तथा उत्पादन एव रोजगारी की मात्रा मे वृद्धि करने मे सहायक होती है। उदाहरण के लिए, 1929-32 ई० की आर्थिक मन्दी को दूर करने के लिए अमेरिका के राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने न्यू-डील की नीति का अनुसरण किया था जिसके परिणाम बहुत ही आश्चर्यजनक सिद्ध हुए थे।

इस प्रकार आधुनिक समाज की आर्थिक क्रियाओ के नियमन एव नियन्त्रण मे मौद्रिक प्रवाह का महत्त्वपूर्ण स्थान है। वर्तमान आर्थिक प्रणाली मे हर एक व्यक्ति किसी-न-किसी प्रकार से उत्पादन के कार्य मे सहयोग प्रदान करता है तथा उपभोक्ता के रूप मे कुछ वस्तुओ का उपभोग करता है। उत्पादन के विभिन्न साधन—भूमि, श्रम, पूँजी तथा व्यवस्था समाज मे उत्पादन की विभिन्न इकाइयो—खेतो, कारखानो, रेलों, तारघरो तथा सरकारी दफ्तरो मे काम करके अपने श्रम को बेचते है, और इसके बदले मे उन्हे लगान, मजदूरी, ब्याज तथा मुनाफा के रूप मे कुछ आय प्राप्त होती है। इसी आय से वे अपने उपभोग के लिए वस्तुओ तथा सेवाओ का क्रय करते हैं। इस प्रकार उपभोक्ता के रूप मे मनुष्य जो व्यय करता है वह उत्पादक के पास पहुँच जाता है जिससे वे उत्पादन के विभिन्न साधनो को क्रय करते हैं। इस प्रकार मुद्रा का वृत्ताकार प्रवाह

समाज में आय-व्यय के रूप मे निरन्तर प्रवाहित होते रहता है और जब तक सुचारु रूप से चलते जाता है तब तक आर्थिक क्रियाओ का क्रम भी व्यवस्थित रूप मे चलते रहता है।

निम्नांकित चित्र द्वारा अर्थ-व्यवस्था मे मुद्रा के वृत्ताकार प्रवाह का महत्व स्पष्ट हो जाता है :—
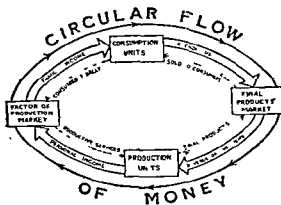
उपरोक्त चित्र से स्पष्ट है कि जब तक अर्थ-व्यवस्था मे मुद्रा का प्रवाह अस्त-व्यस्त नही होता तब तक समाज की आर्थिक क्रियाओं—उपभोग तथा उत्पादन का क्रम भी सुचारु रूप से चलते रहता है। परन्तु ज्योंहि इस वृत्ताकार प्रवाह म कोई बाधा उत्पन्न हो जाती है त्योहि अर्थ-व्यवस्था अस्त-व्यस्त हो जाती है। मुद्रा के इस वृत्ताकार प्रवाह मे अव्यवस्था दो प्रकार की होती है—या तो इसका आकार कम हो जाता है जिसके परिणामस्वरूप मन्दी उत्पन्न होती है अथवा इसका परिमाण अधिक हो जाता है जिसके परिणामस्वरूप तेजी का सृजन होता है। तेजी तथा मन्दी दोनो का ही समाज के आर्थिक जीवन पर अनुचित प्रभाव पडता है। इस प्रकार मुद्रा वर्तमान आर्थिक व्यवस्था को बहुत हद तक नियंत्रित करती है।

आयोजित अथवा समाजवादी अर्थ-व्यवस्था मे मुद्रा

(Money in a Planned or Socialist Economy)

आज विश्व मे हमारे समक्ष दो विरोधी आर्थिक व्यवस्थाएँ—पूँजीवादी अथवा अनियोजित अर्थ-व्यवस्था (Capitalist or Unplanned Economy) तथा समाजवादी अथवा आयोजित अर्थ-व्यवस्था (Socialist or planned Economy) पायी जाती है। इनमे से पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था वाले देशों मे उत्पादन की शक्तिया का प्रयोग अधिकतम वैयक्तिक लाभ के उद्देश्य से किया जाता है। इसके विपरीत रूस एव चीन जैसे केन्द्रीय आयोजित अर्थ-व्यवस्था (Centrally planned Economy) वाले देशो मे उत्पादन के साधनो का प्रयोग अधिकतम सामाजिक कल्याण के उद्देश्य से किया जाता है। इन दोनो प्रकार की आर्थिक व्यवस्थाओ मे इस मौलिक अन्तर के परिणामस्वरूप इनमे मुद्रा के महत्व मे भी अन्तर पाया जाता है। पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था मे मुद्रा एव मूल्य का अत्यधिक महत्त्व है। मुद्रा पूँजीवादी आर्थिक व्यवस्था की धुरी है, जिसके चारों ओर सम्पूर्ण आर्थिक व्यवस्था चक्कर काटती है। मार्क्सवादी विचारधारा के अनुसार मूल्य एव मुद्रा पूँजीवादी अर्थ व्यवस्था के अन्तर्गत श्रमिको क शोषण के साधन रहे हैं। अतएव 1921 से 1923 ई० के बीच जब रूस युद्धकालीन साम्यवाद (War Communism) के प्रयोग से गुजर रहा था,

तो वहाँ से मूल्य एव मुद्रा को बिल्कुल समाप्त कर दिया गया था। किन्तु इससे कठिनाइयाँ बढ गयी, अतएव जब 1924 ई॰ मे लेनिन ने अपनी नयी आर्थिक नीति (New Economic Policy) का आरम्भ किया तो पुन. मुद्रा एव मूल्य को अपनाया गया। ट्रॉटस्की (Trotsky) के अनुसार भी आयोजित अर्थ-व्यवस्था के लिए मुद्रा एव मूल्य आवश्यक तथा अनिवार्य हैं। ट्रॉटस्की के निम्न बयान से यह स्पष्ट हो जाता है : 'सरकारी कार्यालयो द्वारा तैयार किये गये प्रस्तावो की आर्थिक उपयुक्तता व्यापारिक गणनाओ के आधार पर हो आंकी जा सकती है और ठोस मौद्रिक इकाई के बगैर व्यापारिक गणना से केवल गडबडी उत्पन्न होगी।" (The buleprints produced by offices must demonstrate their economic expediency through commercial calculation. Without a firm monetary unit commercial accounting can only increase the choas—I. D Trotsky, *Soviet Economy in Danger.*) इससे समाजवादी अथवा आयोजित अर्थ-व्यवस्था में मुद्रा का महत्व बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है।

कुछ विचारकों के अनुसार आयोजित अथवा समाजवादी अर्थ-व्यवस्था मे जहाँ कि उपभोग की स्वतन्त्रता को बिल्कुल समाप्त कर दिया जाता है, मुद्रा अनावश्यक एव बेकार हो जाती है। किन्तु इस प्रकार की धारणा वास्तव मे भ्रममूलक है। प्रो॰ लर्नर (Lerner) ने इस मे ठीक ही कहा है कि "किसी भी प्रकार की पेचीदी अर्थ-व्यवस्था के लिए मूल्य-प्रणाली के बगैर समुचित कुशलता के साथ कार्य करना सम्भव नही है।" (It is impossible for an economic system of any complexity to function with any reasonable degree of efficiency without a price-mechanism)[1] जार्ज हाम (George Halm) ने भी समाजवादी अर्थ-व्यवस्था मे मुद्रा के महत्त्व की चर्चा करते हुए यह बतलाया है कि यदि उत्पादन के लक्ष्य अधिनायक के द्वारा निर्धारित किये जायें तो भी इन लक्ष्यों के अनुसार आर्थिक साधनो का भिन्न-भिन्न उपयोगों के बीच वितरण मूल्य यंत्र के द्वारा ही निश्चित होगा क्योंकि मूल-यंत्र के द्वारा रोजगार के भिन्न-भिन्न क्षेत्रो मे इनकी तुलनात्मक उपयोगिता का अन्दाजा लगाया जा सकता है। (Even if the aims of production should be determined by a dictator, the allocation of resources according to these aims would have to be the result of the working of pricing procoss by means of which it is possible to compare the usefulness of the avilable resources in different fields of employment).[2]

आयोजित अर्थ-व्यवस्था में उत्पादन मुनाफा के उद्देश्य से नहीं, वरन् देश की आवश्यकताओ को ध्यान मे रखते हुए एव एक निश्चित योजना के आधार पर किया जाता है। केन्द्रीय योजनाधिकारी द्वारा उत्पादन के विभिन्न साधनो का विभिन्न उद्योगो के बीच वितरण किया जाता है। इस प्रकार की व्यवस्था मुद्रा के अभाव मे भी चल सकती है, किन्तु इसके सचालन मे बहुत-सी कठिनाइयाँ होंगी तथा अर्थ-व्यवस्था में सतुलन प्राप्त करना प्रायः असम्भव हो जायगा। अतएव आयोजित अर्थ-व्यवस्था से मुद्रा एव मूल्य को बिलकुल समाप्त नही किया जा सकता। इस प्रकार की व्यवस्था को भी सुचारु रूप से चलाने के लिए मूल्य-मापन की इकाई (Unit of

1. A P. Lerner Economic Theory and Socialist Economy. Review of Economic Studies vol. 2 p. 55
2. G. N. Halm—Monetary Theory/p. 13

Account) एव विनिमय के माध्यम (Medium of Exchange) की आवश्यकता पडती है। अतएव आयोजित अर्थ-व्यवस्था मे भी मुद्रा का प्रयोग विनिमय के माध्यम एव मूल्यमापन की इकाई के रूप मे किया जाता है। राष्ट्रीय उत्पादन तथा आय को मुद्रा की इकाई के रूप मे आँका जाता है। मजदूरी मुद्रा के रूप मे चुकायी जाती है तथा उपभोक्ता की वस्तुएँ (Consumer's goods) भी मुद्रा से ही खरीदी जाती हैं। यद्यपि रूसी आर्थिक योजनाएँ वास्तविक उत्पादन के लक्ष्यो के रूप म तैयार की जाती हैं, परन्तु इसके साथ-ही-साथ प्रत्येक योजना का वित्तीय प्रतिरूप भी तैयार किया जाता है। इस प्रकार आयोजित अर्थ-व्यवस्था मे भी मुद्रा का प्रयोग किया जाता है, किन्तु साधारणतया केवल मूल्य मापन की इकाई एव विनिमय के माध्यम के रूप मे ही। सक्षेप मे, यह कहा जा सकता है कि समाजवादी अथवा आयोजित अर्थ-व्यवस्था मे भी मुद्रा का महत्त्व है और यह महत्त्व सदा बना रहेगा।

निष्कर्ष के तौर पर यह कहा जा सकता है कि "सामाजिक अर्थ-व्यवस्था सदा मौद्रिक व्यवस्था रही है और शायद भविष्य मे भी सदा रहेगी।" (Social economy *has always been and probably will remain a monetary economy.*)

मुद्रा के गुण एवं अवगुण
(The Merits and Drawbacks of Money)

मुद्रा के कार्यों के अध्ययन से आधुनिक युग मे इसका महत्त्व बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है। वास्तव मे, मुद्रा बहुत हद तक आधुनिक आर्थिक व्यवस्था का निर्देशक है। मार्शल (Marshall) ने ठीक ही कहा है कि "मुद्रा वह धुरी है जिसके चारो ओर सम्पूर्ण अर्थशास्त्र का विज्ञान चक्कर काटता है।" (Money is the pivot around which the whole Economic science clusters) अतएव मुद्रा के सम्बन्ध मे विशेष जानकारी प्राप्त करने के पूर्व इसके गुण एव दोषो की विवेचना आवश्यक हो जाती है।

मुद्रा के लाभ (Advantages of Money)—सर्वप्रथम हम मुद्रा के गुणो की विवेचना करेंगे। वास्तव मे, मुद्रा के व्यवहार से हम इतने अधिक अभ्यस्त हो गये हैं कि इसके गुणो की व्याख्या करने के लिए हमें शायद थोड़ी बहुत कल्पना का सहारा लेना पडेगा। पिछले कुछ वर्षों मे, विशेषत दोनो महायुद्धो के बीच वाले समय मे, विश्व के अनेक देशो मे जनता स्वस्थ एव सम्यक् मुद्रा-प्रणाली के लाभो से वंचित रही जिससे लोगो को अब यह अनुभव हो गया है कि अव्यवस्थित मुद्रा-प्रणाली कितनी अधिक असुविधाजनक होती है तथा उसके परिणाम कितने अधिक घातक होते हैं। वास्तव मे, मुद्रा के निम्नलिखित मुख्य लाभ हैं :—

(1) मुद्रा हमारी आर्थिक क्रियाओ की प्रेरक शक्ति है—ध्यानपूर्वक विचार करने से यह स्पष्ट होगा कि मुद्रा हमारी समस्त आर्थिक क्रियाओ का प्रेरणा-स्रोत है। मानव के सम्पूर्ण आर्थिक क्रिया-कलाप मुद्रा-प्राप्ति के उद्देश्य से ही किये जाते हैं। कोई उद्योगपति, व्यापारी अथवा किसान मौद्रिक आय की प्राप्ति के उद्देश्य से ही अपना व्यापार प्रारम्भ करता है। उत्पादन के विभिन्न साधनों का विभिन्न उपयोगो के बीच वितरण भी अधिक मौद्रिक पुरस्कार की भावना मे ही प्रभावित होता है। जिन उपयोगो मे इन्हे अधिक पुरस्कार प्राप्त होता है, वही ये कार्य करते हैं। साराश यह है कि मुद्रा अर्जन की भावना सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था मे आच्छादित है।

(2) उपभोक्ता को मुद्रा से लाभ (The Advantages of Money to man as a Consumer)—मनुष्य को उपभोक्ता के रूप मे मुद्रा के प्रयोग मे निम्नांकित प्रमुख लाभ हैं—

(a) आय का समुचित उपयोग—प्रो० रॉबर्टसन (Robertson) के शब्दों मे, "मुद्रा की पहली सबसे बडी सफलता इस बात मे है कि इसने उपभोक्ता के रूप मे मनुष्य की क्रय-शक्ति का सामान्यीकरण (generalised purchasing power) कर दिया है जिससे समाज के प्रति वह अपनी स्वत्व भावना जिस रूप मे उचित समझे उस रूप मे व्यक्त कर सकता है। इससे मनुष्य अपनी आय को विभिन्न मदो मे इस प्रकार से व्यय करता है जिससे कि उसे अधिकतम सतुष्टि प्राप्त हो सके।"

(b) विविध वस्तुओं की उपलब्धि—मुद्रा से उपभोक्ता के रूप मे हमे विविध वस्तुओं की उपलब्धि मे सहायता मिलती है। मुद्रा के अभाव मे मनुष्य को उसके कार्यों के फलस्वरूप वस्तुओ के रूप मे ही मजदूरी प्राप्त होती है। किन्तु, वस्तुओ के द्वारा मनुष्य अपनी इच्छा की सभी वस्तुएं तथा सेवाएं प्राप्त करने मे असमर्थ सिद्ध होता है। इतना ही नही, मौद्रिक-व्यवस्था के अन्तर्गत यह जानने मे भी सुविधा होती है कि लोगो की क्या और कितनी आवश्यकताएं हैं। इससे यह भी सुगमतापूर्वक मालूम हो जाता है कि क्या और कितनी मात्रा मे उत्पादन करना चाहिए। इस प्रकार समाज की उत्पादन-शक्ति के सर्वोत्तम उपयोग मे भी मुद्रा से सुविधा प्राप्त होती है। अतएव, मुद्रा समाज के प्रत्येक व्यक्ति के लिए तृप्ति या आनन्द के जितने साधन उसे उपलब्ध हैं उनसे अधिकतम सतुष्टि प्राप्त करने में सहायता प्रदान करती है।

किन्तु, सर्वाधिक तृप्ति अथवा आनन्द की उपलब्धि के इस अवसर से कोई व्यक्ति कहाँ तक लाभ उठा सकता है यह उसकी खर्च करने की विवेक-शक्ति पर निर्भर करता है। कुछ व्यक्ति अपनी आय से सर्वाधिक लाभ उठाने के अवसर का उपयोग करते हैं, किन्तु कुछ पाई-पाई का हिसाब रखना नही पसन्द करते। किन्तु प्रत्येक स्थिति मे मनुष्य अपनी भौतिक आय को खर्च करने के अधिकार को अत्यधिक महत्त्व देता है। आयोजित अर्थ-व्यवस्था मे भी एक अश तक इस प्रकार की स्वतन्त्रता अवश्य ही देनी पडती है। इस प्रकार साराश यह है कि यदि एक निर्दिष्ट उत्पादन-शक्ति अथवा व्यक्तिगत सतोष को अधिकतम बनाना है तो मुद्रा की आवश्यकता मूलभूत रूप मे बनी रहेगी।

(2) उत्पादक को मुद्रा से लाभ (The Advantages of money to producer):—मुद्रा का दूसरा प्रमुख लाभ यह है कि यह उत्पादक के नाते मनुष्य का ध्यान उसके कार्य-व्यापार एव उत्पादन पर केन्द्रित करने मे सहायता प्रदान करती है जिससे कि वस्तुओ एव सेवाओ के उत्पादन मे वृद्धि होती है और फलस्वरूप समाज की वास्तविक आय भी बढती है। मुद्रा निम्नांकित तरीकों से उत्पादन-क्रिया में सहायता प्रदान करती है:—

(a) श्रम-विभाजन एव विशिष्टीकरण:—मुद्रा के परिणामस्वरूप ही इतने बड़े पैमाने श्रम-विभाजन एव विशिष्टीकरण (Division of labour and specialization) सभव हो पाया है। रॉबर्टसन (Robertson) के अनुसार "श्रम-विभाजन एव विशिष्टीकरण" जिस पर आधुनिक आर्थिक सरचना आधारित है उस समय असम्भव होंगे जब कि प्रत्येक व्यक्ति अपने समय और शक्ति का एक बडा भाग अपनी उत्पन्न की गयी वस्तुओ के बदले उपभोग की वस्तुओं की अदला-बदली के द्वारा प्राप्त करने लगता हो।"

(b) बड़े पैमाने पर उत्पादन (Large Scale Production):—मुद्रा के प्रयोग से ही बड़े पैमाने पर उत्पादन सम्भव हो पाया है। इसका कारण स्पष्ट है। आज प्रत्येक मनुष्य किसी एक ही कार्य अथवा व्यवसाय मे अपना पूरा समय लगाता है और एक ही कार्य को लगातार करने से उसकी कार्यक्षमता बढती है जिससे उत्पादन का पैमाना भी बढता है।

(ग) उत्पत्ति के साधनो को एकत्र करने मे सहायता :—आज उत्पादन का कार्य बहुत बडे पैमाने पर होता है तथा इसमे बहुत अधिक समय लगता है। इसी बीच कच्चा पदार्थ खरीदने तथा मजदूरो को मजदूरी चुकाने आदि कार्य मुद्रा के द्वारा ही किये जाते हैं। **एच० जी० मोल्टन** का इस सम्बन्ध म निम्नाकित कथन विशेष रूप से उल्लेखनीय है, "उत्पत्ति के विभिन्न साधनो को एकत्र करने के लिए मुद्रा निश्चित रूप से आवश्यक है। अपने कारखाने के निर्माण के लिए व्यापारी मुद्रा से ही आवश्यक सामग्री खरीदता है। उपकरणो को खरीदने म भी वह मुद्रा का ही प्रयोग करता है। मुद्रा क आधार पर ही गणना करके वह विश्व के बाजारो मे निर्माण कार्य मे प्रयुक्त होनेवाले कच्चे पदार्थो को प्रतियोगी मूल्यो पर खरीदने मे सफल होता है तथा मुद्रा की सहायता से ही वह आवश्यक श्रमिको, प्रबन्धको एव विशेषज्ञो की सेवाएँ प्राप्त करता है।

(घ) व्यवसायो का विभेदीकरण (Differentiation) भी मुद्रा के कारण ही हुआ है। इस प्रकार आधुनिक उत्पादन-व्यवस्था बहुत कुछ मुद्रा पर ही आधारित है। आधुनिक उत्पादन व्यवस्था के विकास मे अन्य आवश्यक साधनो की अपेक्षा मुद्रा का स्थान किसी प्रकार भी गौण नहीं है।

(4) मुद्रा से ऋण एव अग्रिम (Loans and advances) के लेन-देन मे भी सुविधा होती है —मुद्रा का तीसरा लाभ यह है कि मुद्रा के द्वारा सभी प्रकार के ऋण तथा अग्रिम के भुगतान मे सहायता मिलती है। *आधुनिक आर्थिक व्यवस्था मे ऋण के लेन-देन का बहुत अधिक महत्त्व है। आज का युग तो मुख्य रूप से साख पर ही आधारित है।* मजदूरी भी वस्तुत एक प्रकार का अग्रिम भुगतान ही हैं क्योकि वस्तुओ के तैयार होने तथा बाजार मे पहुँचने मे पूरा समय लगता हैं। इस बीच मजदूरो को जीविका के लिए कुछ देना अति अनिवार्य हो जाता हैं। मुद्रा के फलस्वरूप ही एक वस्तु का व्यापारी किसी दूसरी वस्तु के व्यापारी के साथ अग्रिम लेन-देन मे सुगमता का अनुभव करता हैं। जनता की बचत के विनियोग एव ऋण लेन-देन के सम्बन्ध में भी साधारणतया यही बात पायी जाती है। मुद्रा के परिणामस्वरूप ही इतने बडे पैमाने पर बचत सम्भव हो पायी हैं। इसके अभाव मे वस्तुओ के रूप मे बचत करनी होती जिसम बहुत अधिक कठिनाइयो का सामना करना पडता हैं। अतएव मुद्रा ऋण एव अग्रिम के लेन-देन के कार्य को सुगम बनाकर भी आधुनिक समाज की महत्त्वपूर्ण सेवा करती हैं।

(5) मुद्रा और औद्योगिक प्रगति :—औद्योगीकरण के क्षेत्र मे भी मुद्रा ने अकथनीय सहयोग प्रदान किया हैं। वास्तव मे, औद्योगीकरण के इस युग मे उद्योग-धन्धो की सफलता पूँजी की मात्रा पर निर्भर करती हैं और बडी मात्रा मे पूँजी जमा करना मुद्रा के द्वारा ही सम्भव हो पाया हैं। अत **प्रो० पीगू (Pigou)** ने इस सम्बन्ध मे ठीक ही कहा कि "आधुनिक विश्व मे उद्योग मुद्रा-रूपी वस्त्र धारण किये हुए हैं।'

(6) मुद्रा वर्त्तमान भौतिक उन्नति का साधन हैं :—मुद्रा का एक लाभ यह भी है कि यह मानव समुदाय की भौतिक उन्नति का सबसे बडा कारण हैं। आधुनिक भौतिक सभ्यता के विकास मे मुद्रा का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हाथ रहा है। मुद्रा ने वस्तु विनिमय-प्रणाली की सारी कठिनाइयो को दूर कर विनिमय के कार्य को बहुत ही सुगम बना दिया है। *मौद्रिक-विनिमय के विकास से मनुष्य की अधिक-से-अधिक आवश्यकताओ की सतुष्टि सम्भव हुई और इस प्रकार वृहद् पैमाने के उद्योगो के विकास के साथ-साथ मानव-समाज भौतिक उन्नति की ओर अग्रसर होने लगा है।*

(7) मुद्रा ने मानव के सामाजिक उत्थान में भी सहयोग प्रदान किया है :—मुद्रा ने वर्त्तमान सामाजिक जीवन के विकास मे भी अकथनीय सहयोग प्रदान किया है। जब श्रमिकों को वस्तुओ के रूप मे मजदूरी मिलती थी, तो इससे उन्हे बहुत अधिक क्षति होती थी। वे अपने इच्छानुसार वस्तुओं तथा सेवाओ को प्राप्त नही कर पाते थे। साथ ही, ये अपने इच्छानुसार स्थान तथा व्यवसाय का परिवर्तन भी नही कर पाते थे। किन्तु मुद्रा के रूप में मजदूरी मिलने के कारण वे आज इस सम्बन्ध मे पूर्णतः स्वतन्त्र बन गये हैं। निकॉलसन ने इस सम्बन्ध मे ठीक ही कहा है कि "विनिमय के माध्यम के रूप मे मुद्रा के प्रयोग ने महत्त्वपूर्ण सामाजिक सुधार के साधन के रूप मे कार्य किये हैं।" (*The extension of the use of money as a medium of exchange was the means of affecting great social reform.*)

इस प्रकार आधुनिक समाज मे मुद्रा के बहुत अधिक लाभ हैं। मुद्रा ने मानवीय आवश्यकताओ के प्रत्यक्ष तथा परोक्ष सन्तोष, श्रम-विभाजन एव विशिष्टीकरण पूँजी एव श्रम की गतिशीलता तथा उत्पादन के साधनो के संग्रह मे अधिकाधिक सहायता प्रदान किया है। मुद्रा के कारण ही आज मानव समाज का इतने बडे पैमाने पर आर्थिक एव भौतिक विकास सम्भव हो सका है। पूँजीवादी आर्थिक व्यवस्था तो मुख्य रूप मे मुद्रा पर आधारित है। समाजवादी आर्थिक व्यवस्था मे भी मुद्रा का प्रयोग कम-से-कम लेखे की इकाई (Unit of account) के रूप मे अनिवार्य है। अतएव मुद्रा सम्पूर्ण आर्थिक व्यवस्था की गति का केन्द्र-बिन्दु है।

मुद्रा के दोष
(Disadvantages of Money)

किन्तु जहाँ मुद्रा के इतने अधिक लाभ हैं, वहाँ इसके बहुत-सारे दोष भी हैं। अतएव यह कहा जाता है कि जहाँ मुद्रा ने मानव-जीवन को सरल एव सुगम बनाया है, वहाँ इसने लालच एव मोह उत्पन्न करके मनुष्य मे शोषण की प्रवृत्ति को भी जन्म दिया है। वास्तव मे, **मुद्रा से समाज को निम्नलिखित हानियाँ हैं** :—

(1) उधार देने और बचाने पर मुद्रा का आवरण (The monetary veil over lending and saving) :—हम देख चुके हैं कि मुद्रा का एक प्रमुख लाभ यह है कि इससे सभी प्रकार के ऋण तथा अग्रिम के भुगतान मे सहायता मिलती है। प्रो॰ रॉबर्टसन (Robertson) के अनुसार मुद्रा का यह लाभ इसके एक बहुत बडे दोष का कारण हो जाता है। उधार देने और बचाने की क्रियाएँ मुद्रा के आवरण से ढँकी हैं और इस आवरण के पीछे यथार्थतः जो कुछ होता है वह प्रायः इससे भिन्न होता है जो आम तौर पर होता हुआ दिखाई देता है। कभी-कभी मुद्रा-प्रणाली इस प्रकार कार्य करती है कि लोगो की उधार देने और बचाने की इच्छा बिल्कुल निष्क्रिय हो जाती है। इसके परिणामस्वरूप हजारों की सख्या मे लोग बेकार हो जाते हैं और इस प्रकार सम्पूर्ण औद्योगिक व्यवस्था ही निष्क्रिय एव विमूढ होने लगती है।

(2) अत्यधिक पूँजीयन तथा अत्यधिक उत्पादन को प्रोत्साहन (Encouragement to over-capitalisation and over-production) :—मौद्रिक अर्थ-व्यवस्था के अन्तर्गत ऋण के लेन-देन मे सुविधा के कारण उद्योगपतियो को सुगमता से ऋण मिल जाता है। इस प्रवृत्ति से उद्योग तथा व्यवसाय मे अत्यधिक पूँजीयन तथा अत्यधिक उत्पादन होता है जिससे सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था ही अस्त-व्यस्त हो जाती है।

(3) मुद्रा के मूल्य मे स्थायित्व नही रहता (The Value of money is not stable) :—मुद्रा का दूसरा प्रधान दोष यह है कि सामान्य परिस्थितियो मे इसका मूल्य स्थायी

नहीं रहता और विशेष परिस्थितियो मे तो इसमे बहुत अधिक परिवर्तन होते हैं। मुद्रा का मूल्य (Value of Money) क्या है इसका हम आगे विस्तारपूर्वक विवेचन करेंगे। किन्तु, यहाँ पर यह जानना पर्याप्त होगा कि मुद्रा का मूल्य मुद्रा की वह शक्ति है जिसके द्वारा इच्छित वस्तुएँ अथवा सेवाएँ खरीदी जा सकती हैं। मुद्रा के मूल्य मे परिवर्तन का समाज के विभिन्न वर्गों पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है। इन परिवर्तनो का उद्योग-धन्धो, व्यापार, कृषि एव रोजगार आदि पर बहुत अधिक प्रभाव पडता है। इसके परिणामस्वरूप आर्थिक जीवन मे अनिश्चितता उत्पन्न हो जाती है जो उद्योग, व्यवसाय एव व्यापार की उन्नति के लिए अनुपयुक्त सिद्ध होती है। इससे धन एव आय के वितरण की विषमता भी बढती है।

(4) सम्पत्ति एवं आय के वितरण मे विषमता (Inequality in the distribution of income and wealth) :—मुद्रा का एक सर्वाधिक प्रमुख दोष यह है कि इससे समाज मे धन एव आय के वितरण की विषमता बढती है। मुद्रा ने बडे पैमाने पर मूल्य-सचय के कार्य को सुलभ बनाया है। पूँजीवादी आर्थिक प्रणाली का उद्गम मुद्रा के कारण ही हुआ है। इस प्रणाली मे उत्पादन के साधनो पर निजी व्यक्तियो का अधिकार रहता है जिससे धनी वर्ग अधिक धनी तथा निर्धन वर्ग अधिक निर्धन होते जा रहा है। धन एव आय के वितरण की यह विषमता यदा-कदा सामाजिक तथा राजनीतिक असन्तोष का कारण भी बन जाती है।

निष्कर्ष :—इस प्रकार मुद्रा के उपरोक्त सारे दोष हैं। इनके अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि मुद्रा के बहुत-सारे अवगुण भी हैं, किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि हम मुद्रा का परित्याग कर सकते हैं। वास्तव मे, मुद्रा के उपरोक्त दोष मनुष्य स्वभाव के दोष है। यदि कोई व्यक्ति रुपया उधार लेकर अपव्यय करता है, अनावश्यक वस्तुओ का उत्पादन करता है अथवा सरकार मुद्रा-प्रसार करती है तो इनके लिए मुद्रा को कैसे दोषी ठहराया जा सकता है? मुद्रा साधन है, साध्य नहीं। अतएव इसका सदुपयोग तथा दुरुपयोग दोनो ही हो सकता है। वास्तव मे, समुचित नियत्रण द्वारा इसके दोषों को दूर किया जा सकता है। अतएव, रॉबर्टसन (Robertson) के शब्दो मे, "इस प्रकार मुद्रा जो मानवता के लिए कितनी ही दृष्टियों से वरदान है, नियन्त्रण के अभाव में हमारे लिए सकट एव अशाति का कारण भी हो सकती है।" (*Thus money which is a source of so many blessings to man-kind becomes also*, unless we control it, a source of peril and confusion) साराश यह है कि मुद्रा पर समुचित नियन्त्रण आवश्यक है, क्योकि जैसा कि सुप्रसिद्ध ब्रिटिश बैंकर एव अर्थशास्त्री बेजहॉट (Bagehot) ने कहा है, "मुद्रा का नियन्त्रण इसलिए आवश्यक है कि यह अपने आपको व्यवस्थित नहीं कर सकती।" (Money must be managed because it cannot manage itself) किन्तु मौद्रिक व्यवस्था पर किस प्रकार का नियन्त्रण रखना चाहिए, इस सम्बन्ध मे आगे चलकर विचार किया जायगा।

मुद्रा की वास्तविक प्रकृति

[मुद्रा स्वय कुछ नही बनाती, यह तो वस्तुओ एव सेवाओ के उत्पादन एव वितरण से सम्बन्धित प्रक्रियाओं मे चिकनाई देनेवाली एव सामाजिक न्याय प्राप्त करनेवाली वस्तु की तरह है। (Money itself creates nothing, it is a lubricant of the *real economic* process of production and distribution of goods and services and a means of obtaining social justice)]

आज के भौतिकवादी युग में मुद्रा सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण वस्तु मानी जाती है। अतएव, कहा जाता है कि मुद्रा ही सब कुछ बनाती है, यानी "Money makes the mare go." दूसरे शब्दों में, मुद्रा के बगैर कुछ नहीं हो सकता। यद्यपि आर्थिक दृष्टिकोण से मुद्रा का महत्त्व इससे अधिक ही है, परन्तु केवल मुद्रा को इतना अधिक महत्त्व नहीं प्रदान किया जा सकता, क्योंकि मुद्रा का स्वयं का कोई मूल्य, यानी इसका कोई स्वकीय मूल्य नहीं होता। मुद्रा तो एक साधन है जिसके द्वारा विभिन्न वस्तुओं एवं सेवाओं का विनिमय किया जाता है। दूसरे शब्दों में, मुद्रा स्वयं लक्ष्य नहीं है, वरन लक्ष्य-प्राप्ति का साधन-मात्र है। मानव जीवन का साध्य अथवा लक्ष्य तो अधिक-से-अधिक आवश्यकताओं की पूर्ति कर अधिकतम सन्तोष प्राप्त करना होता है। मुद्रा इसी साध्य की पूर्ति मे मनुष्य की सहायता करती है, क्योंकि आवश्यकताओं की सन्तुष्टि के लिए मुद्रा के द्वारा ही वस्तुएँ एवं सेवाएँ प्राप्त की जाती हैं। मुद्रा प्रत्यक्ष रूप से हमारी किसी भी आवश्यकता की पूर्ति नहीं कर सकती। सम्भव है किसी एक कंजूस व्यक्ति को मुद्रा के संग्रह करने से सन्तोष प्राप्त हो, किन्तु एक ऐसा समय आता है जब वह भी मुद्रा से ऊब जाता है। इस सम्बन्ध में एक लालची राजा की दंतकथा प्रसिद्ध है जिसने भगवान से यह वरदान मांगा की जिस चीज को वह छूए वही सोने मे बदल जाय। भगवान् से वरदान पाने पर राजा बहुत खुश हुआ परन्तु शीघ्र ही यह वरदान उसके लिए अभिशाप सिद्ध हो गया। खाने-पीने की कोई चीज भी, जिन्हें वह हाथ से छूता सोना हो जाती थी। यहाँ तक कि जब उसने अपनी लड़की को छूकर प्यार किया तो वह भी सोने की प्रतिमा बन गयी। इससे यह बात स्पष्ट हो जाती कि पदार्थ के रूप मे मुद्रा हमारी किसी भी आवश्यकता की सन्तुष्टि नही कर सकती। हाँ, चूँकि मुद्रा में क्रय-शक्ति निहित रहती है। इसलिए हम इससे सभी वस्तुओ तथा सेवाओं को खरीद सकते हैं। इस सम्बन्ध मे ठीक ही कहा जाता है कि "We cannot eat gold but cannot even eat wtihout gold" अतः मुद्रा को साध्य समझना एक बहुत बड़ी भूल है।

इस प्रकार मुद्रा की कोई स्वकीय उपयोगिता नहीं है। समाज मे मुद्रा की जो मांग है वह इसलिए कि इसके द्वारा वस्तुएँ तथा सेवाएँ प्राप्त की जा सकती है। अतः, जबतक किसी वस्तु मे क्रय-शक्ति रहती है तबतक मनुष्य इसे अपने पास रखना चाहता है। उदाहरण के लिए, आज यदि पाँच रुपये के नोट का चलन अवैध घोषित कर दिया जाय तो इस पांच रुपये के नोट की क्रय-शक्ति समाप्त हो जायगी और कोई भी व्यक्ति इसे अपने पास रखना न चाहेगा। वेस्टन (Weston) ने भी लिखा है, "मुद्रा एक प्रमाण-पत्र है जो कि मनुष्यों को अपने पास वस्तुओं के संग्रह करने का अधिकार प्रदान करता है।"

मुद्रा स्वयं किसी वस्तु का निर्माण नहीं करती वरन् उत्पादन करने मे सहायता पहुँचाती है। जिस प्रकार मशीन के पुर्जों मे चिकनाई या तेल देते रहने से मशीन सुचारु रूप से चलती रहती है उसी प्रकार मुद्रा के प्रयोग से वस्तुओ और सेवाओ के उत्पादन की क्रियाएँ सरल हो जाती हैं। इसीलिए कहा जाता कि "मुद्रा स्वयं कुछ नहीं बनाती, वह तो वस्तुओ एवं सेवाओं के उत्पादन एव वितरण से सम्बन्धित क्रियाओं में चिकनाई देनेवाली और सामाजिक न्याय प्राप्त करानेवाली वस्तु है।"

मुद्रा उत्पादन एवं वितरण की क्रियाओं को किस प्रकार से सुगम बनाती है?— यह देखने के उपरान्त कि मुद्रा की कोई स्वकीय उपयोगिता नहीं है, अब हम इस बात का अध्ययन करेंगे कि मुद्रा किस प्रकार उत्पादन एवं वितरण की क्रियाओ को सुगम बनाती

है। सर्वप्रथम हम वस्तुओ एव सेवाओ की उत्पादन-प्रक्रिया को देखेंगे। मुद्रा उत्पादन-प्रक्रिया मे अनेक प्रकार से सहायता प्रदान करती है, जैसे :—

(1) मुद्रा के कारण ही श्रम विभाजन एव विशिष्टीकरण सभव होता है।
(2) मुद्रा से ही बड़े पैमाने पर उत्पादन सभव हो सका है।
(3) मुद्रा से उत्पत्ति के साधनो को एकत्र करने मे भी सहायता मिलती है।
(4) मुद्रा से कच्ची सामग्री को क्रय करने मे सुविधा होती है।
(5) मुद्रा की सहायता से वस्तुओ की भावी माग का अनुमान लगाया जा सकता है।
(6) मुद्रा की सहायता से ही पूँजी की गतिशीलता मे भी वृद्धि हुई है।

इसी प्रकार मुद्रा वितरण से सम्बन्धित आर्थिक क्रियाओ को भी सरल बनाती है। आधुनिक युग मे उत्पादन सामूहिक रूप से होता है, जिसमे उत्पत्ति के अनेक साधनो का योगदान रहता है। उनके सामूहिक योग से जो वस्तुएँ तैयार की जाती हैं उन्हें बाजार मे मुद्रा के बदले मे बेचा जाता है और फिर विक्रय से प्राप्त सम्पूर्ण राशि को उत्पत्ति के विभिन्न साधनो के बीच बाँट दिया जाता है। ये सब बातें मुद्रा द्वारा ही सम्भव हो सकी हैं।

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि मुद्रा स्वय उत्पत्ति एव वितरण नही करती वरन उत्पत्ति एव वितरण मे सहायता प्रदान करती है। अत मुद्रा का महत्त्व केवल उसके कार्यों के फलस्वरूप है किन्तु यह वास्तव मे स्वय अनुत्पादक है जैसा कि चैण्डलर (Chandler) ने कहा है कि "Money is sterile in that by itself it can produce nothing useful but it has a very high indirect productivity owing to its ability to facilitate exchange and specialisation"

विशेष अध्ययन सूची

1 Crowther	An Outline of Money, Chapter I
2 J M Keynes	A Treatise on Money, Vol I, Chapter I
3 Coulborn	A Discussion of Money, Chapter I, V
4 D H Robertson	Money, Chapter, I
5 Marshall	Money, Credit and Commerce, Book I Chapter I
6 George N. Halm	Monetary Theory, Chapter I

अध्याय : 4

मुद्रा का वर्गीकरण
(Classification of Money)

मुद्रा के विभिन्न रूप (*Different kinds of Money*) :--मुद्रा का वर्गीकरण विभिन्न प्रकार से किया जा सकता है किन्तु इनमें निम्नलिखित तीन प्रमुख हैं :—

(1) धात्विक मुद्रा एवं पत्र-मुद्रा (Metallic Money and Paper Money),

(2) वास्तविक मुद्रा एवं हिसाब की मुद्रा (Money Proper and Money of Accounts), तथा

(3) विधि-ग्राह्य मुद्रा एवं ऐच्छिक मुद्रा (Legal Tender Money and Voluntary Money) ।

अब इनका निम्न विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है :—

(1) धात्विक मुद्रा एवं पत्र-मुद्रा
(*Metallic Money and Paper Money*)

सर्वप्रथम तो मुद्रा दो प्रकार की होती है—(क) धात्विक मुद्रा (Metallic Money), तथा (ख) पत्र-मुद्रा (*Paper Money*) । मुद्रा का यह वर्गीकरण मुद्रा-पदार्थ (Money commodity) के आधार पर किया जाता है । मुद्रा के विकास के साथ-साथ इसके भिन्न-भिन्न रूप होते गये । सर्वप्रथम तो जब मानव समाज ने मुद्रा का व्यवहार करना प्रारम्भ किया तो समाज मे सर्वाधिक प्रचलित किसी वस्तु को इस कार्य के लिए चुना गया । उदाहरण के लिए, चारागाह.समाज मे कोई पशु, शिकारी समाज मे चमडा तथा कृषि-प्रधान समाज मे कोई अनाज इत्यादि । मुद्रा-विकास के इतिहास के इस स्तर को वस्तु-मुद्रा (Commodity Money) कहा गया है । किन्तु, आज इन वस्तुओ का विनिमय के माध्यम के रूप मे प्रयोग नही किया जाता है । आधुनिक युग मे मुद्रा केवल दो ही वस्तुओ की बनी होती है—धातु एवं कागज । प्रथम महायुद्ध के पूर्व तक मुद्रा मुख्यत· सोने एव चाँदी-जैसी बहुमूल्य धातुओं की बनी होती थी, यानी सोने एव चाँदी के सिक्को का ही प्रचलन था । किन्तु, आजकल ये सर्वथा चलन मे नही हैं । धात्विक मुद्रा के अन्तर्गत आजकल सर्वत्र केवल गिलट, तांबा, अल्मुनियम एव अन्य हीन वस्तुओ के सिक्कों का ही प्रचलन है । आज प्रत्येक देश की मौद्रिक व्यवस्था मे धात्विक मुद्रा का महत्त्व बहुत कम हो गया है तथा मुख्यतः पत्र-मुद्रा ही प्रचलन में है ।

अत्र इन दोनों प्रकार की मुद्राओं का निम्नांकित विवरण प्रस्तुत किया जाता है—

(i) धात्विक मुद्रा (Metallic Money) :—धात्विक मुद्रा वह मुद्रा है जिसमे धातु के बने सिक्के प्रचलन मे रहते हैं । उदाहरण के लिए, सोना, चाँदी अथवा ताम्बा के सिक्के । धात्विक मुद्रा भी दो प्रकार की होती हैं :—

(क) प्रामाणिक या पूर्णकाय सिक्के (Standard or Full-bodied Coins), एव

(ख) सांकेतिक सिक्के (Token Coins) ।

(क) प्रामाणिक अथवा पूर्णकाय सिक्के (Standard or Full-bodied Coins)—प्रामाणिक अथवा पूर्णकाय सिक्के सोने अथवा चाँदी के बने हुए होते हैं । ये सिक्के एक निश्चित

वजन एवं शुद्धता (definite weight and fineness) के होते हैं। इस प्रकार के सिक्को की सर्वाधिक प्रमुख विशेषता यह है कि इनकी अंकित कीमत (Face value) इनके आतरिक मूल्य (Intrinsic value) के बराबर होती है।

प्रामाणिक अथवा पूर्णकाय सिक्को की निम्नाकित प्रमुख विशेषताएँ हैं —

(i) प्रामाणिक अथवा पूर्णकाय सिक्का देश का प्रधान सिक्का होता है। इसी सिक्के के रूप मे देश के अन्दर सभी वस्तुओ तथा सेवाओ की कीमत आँकी जाती है।

(ii) इस प्रकार के सिक्के अपरिमित विधि-ग्राह्य (Unlimited Legal Tender) होते हैं।

(iii) प्रामाणिक सिक्को का अंकित मूल्य (Face value) इनके आतरिक मूल्य (Intrinsic value) के बराबर होता है। यदि इन सिक्को को गला कर धातु के रूप मे भी बेचा जाय तो इससे कोई हानि नही होगी। इसीलिए इन्हे पूर्णकाय सिक्के (Full-bodied Coins) भी कहा जाता है।

(iv) प्रामाणिक सिक्को का टकन अथवा इनकी ढलाई स्वतन्त्र (Free Coinage) होती है।

इस प्रकार प्रामाणिक सिक्को की उपरोक्त सारी विशेषताएँ हैं। 1931 ई० के पूर्व जब इगलड मे स्वर्ण-मान का प्रचलन था, ब्रिटिश सॉवरेन वहाँ का प्रामाणिक सिक्का था। भारत मे इस प्रकार का प्राय. कोई सिक्का नही था, फिर भी महारानी विक्टोरिया के समय मे जो रुपया प्रचलन मे था उसमे 16 आने मूल्य के बराबर चाँदी रहती थी।

(ख) सांकेतिक सिक्के (Token Coins) —इस प्रकार के सिक्को को गौण अथवा सहायक सिक्के (Subsidiary coins) भी कहते है। इन सिक्को का अंकित मूल्य (Face value) इनके आतरिक मूल्य (Intrinsic value) से अधिक रहता है। अतएव इन सिक्को को गलाकर बेचने से हानि होती है।

सांकेतिक सिक्को की निम्नाकित प्रमुख विशेषताएँ हैं —

(i) साकेतिक सिक्के परिमित कानूनी-ग्राह्य (Limited legal tender) होते हैं। इन्हे एक बार मे एक निश्चित मात्रा से अधिक मे लेने के लिए बाध्य नही किया जा सकता। उदाहरणार्थ, आजकल भारत मे 25 पैसे तक के सिक्को के लिए यह सीमा 20 रुपये की है।

(ii) इसका अंकित मूल्य (Face value) इनके आन्तरिक मूल्य (Intrinsic value) से अधिक रहता है।

(iii) इनकी स्वतन्त्र ढलाई (Free coinage) नहीं होती।

(iv) साकेतिक सिक्के साधारणत गौण अथवा सहायक सिक्को (Subsidiary coins) के रूप म कार्य करते हैं।

क्या भारतीय रुपया प्रामाणिक है ? .—अब प्रश्न यह है कि भारतीय रुपया प्रामाणिक सिक्का है अथवा साकेतिक सिक्का। भारत मे 1835 मे 180 ग्रेन वजन का रुपया चालू किया गया जिसमे 165 ग्रेन शुद्ध चाँदी थी। रुपये का यह स्वरूप 1943 ई० तक ज्यो-का-त्यो रहा। किन्तु वतमान समय म इसम चाँदी की मात्रा बिल्कुल नहीं होती। अत आज यह प्रामाणिक सिक्का नही है।

पत्र-मुद्रा
(Paper Money)

आजकल संसार के प्रायः सभी देशों मे कागज की बनी हुई मुद्रा का प्रचलन है। प्रत्येक देश की मुद्रा का अधिकांश भाग पत्र-मुद्रा के रूप मे पाया जाता है। अतएव आज के युग को पत्र-मुद्रा का युग भी कहा जाता है। पत्र-मुद्रा जारी करने के लिए कुछ रकम सुरक्षित कोष (Reserve Fund) मे जमा करनी होती है। पत्र-मुद्रा को प्रादिष्ट मुद्रा (Fiat money) भी कहा जाता है। इसकी प्रधान विशेषता यह है कि यद्यपि इसका वास्तविक अथवा आतरिक मूल्य बहुत कम अथवा कुछ भी नही होता, इसका अंकित मूल्य बहुत अधिक हो सकता है। साथ ही, यह मुद्रा सरकार के बदले मे किसी चलन अधिकारी के द्वारा ही जारी की जाती है। केन्स ने प्रादिष्ट मुद्रा के सम्बन्ध मे कहा है कि "प्रादिष्ट मुद्रा प्रतिनिधि अथवा सांकेतिक मुद्रा होती है जो सामान्यत. कागज की बनी हुई होती है तथा जिसकी चलन मे निकासी राज्य द्वारा की जाती है, परन्तु जो स्वयं वैधानिक रूप से किसी अन्य वस्तु मे परिवर्तनीय नही होती है तथा जिसका वास्तविक रूप मे कोई निश्चित मूल्य नही होता।"[1]

सुरक्षित कोष के आधार पर पत्र-मुद्रा को निम्नांकित तीन वर्गों में विभाजित किया जाता है :—

(i) प्रतिनिधि पत्र-मुद्रा (Representative Paper Money),
(ii) परिवर्तनशील पत्र-मुद्रा (Convertible Paper Money), तथा
(iii) अपरिवर्तनशील पत्र-मुद्रा (Inconvertible Paper Money)।

(i) **प्रतिनिधि पत्र-मुद्रा (Representative Paper Money)** :—जब किसी पत्र-मुद्रा के पीछे उसके मूल्य के बराबर, यानी 100 प्रतिशत तक सोना अथवा चाँदी सुरक्षित कोष (Reserve Fund) के रूप मे रखा जाता है तो इसे प्रतिनिधि पत्र-मुद्रा कहते हैं। इस प्रकार की पत्र-मुद्रा वस्तुतः स्वर्ण अथवा चाँदी के प्रतिनिधि के रूप मे कार्य करती है, अतएव इसे प्रतिनिधि पत्र-मुद्रा की संज्ञा दी जाती है। हिल्टन-यंग कमीशन ने स्वर्ण पाट प्रमाण-पत्रों (Gold Bullion Certificates) के रूप मे इसी प्रकार की पत्र-मुद्रा को अपनाने की सिफारिश की थी, किन्तु इसे अपनाया नही गया।

प्रतिनिधि पत्र-मुद्रा के गुण (Merits of Representative Paper Money) :— प्रतिनिधि पत्र-मुद्रा के निम्नलिखित प्रमुख गुण हैं :—(i) **जनता का विश्वास** :—इस प्रणाली का सबसे बड़ा लाभ यह है कि इसमे जनता का विश्वास रहता है क्योंकि सभी लोग जानते हैं कि आवश्यकता पड़ने पर इस प्रकार के नोटों को स्वर्ण अथवा चाँदी में बदला जा सकता है। (ii) **बहुमूल्य धातुओं की बचत** :—जब सोने अथवा चाँदी के सिक्के प्रचलन मे रहते हैं तो इसमे घिसावट के कारण बहुमूल्य धातुओं की हानि होती है, परन्तु इनके बदले पत्र-मुद्रा का प्रचलन होता है तो इससे बहुमूल्य धातुओं की बचत होती है। (iii) **मुद्रा-स्फीति (Inflation) की सम्भावना नहीं रहती** :—इस प्रकार की प्रणाली मे मुद्रा की मात्रा को बढ़ाने के लिए ठीक

1. "Fiat money is representative money (something the intrinsic value of the material substance of which is divorced from its monetary face value)—now generally made of paper except in the case of small denomination which is created and issued by the state, but is not convertible by law into anything other than itself, and has no fixed value in terms of an objective standard."

उतने ही मूल्य का सोना अथवा चांदी सुरक्षित कोष मे रखना पडता है। इसमे मुद्रा की मात्रा सीमित होती है। इस प्रणाली मे मुद्रा-स्फति का भय नही रहता।

प्रतिनिधि पत्र-मुद्रा के दोष (Defects of the Representative Paper Money)—किन्तु प्रतिनिधि पत्र-मुद्रा प्रणाली के उपरोक्त गुणो के साथ-साथ इनके निम्नलिखित दोष भी हैं :—

(क) **सर्वप्रथम तो यह प्रणाली बेलोचदार होती है** —इस प्रणाली मे सोना अथवा चांदी की मात्रा को बढाये बगैर मुद्रा की मात्रा को नही बढाया जा सकता है। अतएव यह प्रणाली बिल्कुल बेलोचदार होती है। इसलिए राष्ट्रीय सकट आदि के समय इस प्रणाली को स्थगित करना पडता है।

(ख) **इस प्रणाली मे बहुत सा स्वर्ण योही बेकार पडा रहता है** —इस प्रणाली मे नोटो के मूल्य के बराबर सोना अथवा चांदी सुरक्षित कोष मे रखना पडता है। इससे बहुत-सा सोना अथवा चांदी यो ही बेकार पडा रहता है। साथ ही, निर्धन देश इस प्रणाली को नही अपना सकते हैं।

(ii) **परिवर्तनीय पत्र-मुद्रा (Convertible Paper Money)** —इस प्रकार की पत्र-मुद्रा मे नोटो को प्रधान सिक्को अथवा स्वर्ण मे बदलने की सुविधा रहती है, अतएव इसे परिवर्तनीय पत्र मुद्रा (Convertible Paper Money) कहते हैं। इस प्रकार की पत्र-मुद्रा को जारी करने का आधार यह होता है कि जितनी पत्र-मुद्राएं जारी की जाती हैं वे कभी एक ही समय मे भुनाने के लिए नही आती। इसकी निम्नलिखित प्रधान विशेषताएं हैं —

(क) इस प्रकार की पत्र-मुद्रा के पीछे स्वर्ण अथवा चांदी को सुरक्षित कोष मे रखा जाता है, किन्तु नोटो के मूल्य से कम के सिक्के ही रखे जाते हैं।

(ख) नोटो के बदले मे कोई भी व्यक्ति इच्छानुसार खजाने से सोना अथवा चांदी प्राप्त कर सकता है।

(ग) सरकार विदेशी भुगतान (Foreign Payments) के लिए भी सोना अथवा चांदी का कोष रखती है।

(घ) सुरक्षित कोष का एक भाग पूर्णकाय सिक्को (Standard Coins), साकेतिक सिक्को (Token Coins) तथा प्रतिभूतियो (Securities) के रूप मे रखा जाता है।

(ड) सरकार एक पूर्व निश्चित दर पर स्वर्ण अथवा चांदी बेचने के लिए सर्वदा तैयार रहती है।

परिवर्तनीय पत्र-मुद्रा के गुण (Merits of Convertible Paper Money) —परिवर्तनीय पत्र मुद्रा के निम्नलिखित प्रधान गुण हैं —(i) **जनता का विश्वास**—चूंकि इस प्रकार की पत्र-मुद्रा के पीछे बहुमूल्य धातुओ का कोष (Metallic Reserve) रहता है तथा सरकार नोट के बदले सोना एव चांदी देने की गारन्टी देती है, अतएव इसम जनता का विश्वास बना रहता है। (ii) **बहुमूल्य धातुओ की बचत** इस प्रणाली मे स्वर्ण एव चांदी को सुरक्षित कोष मे रखकर इससे कई गुना अधिक तक की मुद्रा जारी की जा सकती है। इस प्रकार इस प्रणाली मे बहुमूल्य धातुओ की बचत होती है (iii) **यह मुद्रा प्रणाली लोचदार होती है**—इस प्रणाली मे थोडे से धात्विक कोष के आधार पर अधिक मुद्रा जारी की जाती है जिससे इस प्रकार की मुद्रा प्रणाली बहुत ही लोचदार होती है।

परिवर्तनीय पत्र मुद्रा के दोष (Defects of Convertible Paper Money) :—किन्तु उपरोक्त गुणो के साथ साथ इस प्रणाली मे निम्नांकित दोष भी पाये जाते हैं —(1) **इस प्रणाली में प्रतिनिधि पत्र-मुद्रा की अपेक्षा जनता का विश्वास कम होता है**—इसका कारण

यह है कि इस प्रणाली में शत-प्रतिशत बहुमूल्य धातु को सुरक्षित कोष में नही रखा जाता है जिससे जनता का इसमे विश्वास कम रहता है। *विश्वास की इस कमी का कभी-कभी बहुत ही घातक परिणाम होता है* जिससे संकट-काल मे मुद्रा-प्रणाली को बनाये रखना बिल्कुल कठिन हो जाता है। (ii) *इसमें अत्यधिक मुद्रा-प्रसार का भय बना रहता है*—इस प्रकार की मुद्रा-प्रणाली मे सरकार बिना सोचे-समझे बहुत अधिक मात्रा मे मुद्रा जारी कर सकती है क्योंकि इसमे नोटो के मूल्य के बराबर बहुमूल्य धातुओ को सुरक्षित कोष मे नही रखना पडता है। इससे एक ओर तो जनता का पत्र-मुद्रा पर से विश्वास समाप्त हो जाता है तथा दूसरी ओर भीषण स्फीति (inflation) उत्पन्न हो जाने की आशका बनी रहती है।

प्रथम विश्व-युद्ध के पश्चात् संसार के अधिकाश देशो मे इसी प्रकार की मुद्रा-प्रणाली अपनायी गयी। 1925 ई० मे इंगलैंड एव फ्रास ने इसी प्रणाली को अपनाया। 1927 ई० मे *हिल्टन यंग आयोग (Hilton Young Commission) की सिफारिशो के आधार पर भारतीय* पत्र-मुद्रा को भी परिवर्तनीय पत्र-मुद्रा प्रणाली बना दिया गया। इसके अन्तर्गत स्वर्ण की कीमत 21 रु० 7 आ० 10 पैसे प्रति तोला निश्चित की गयी जिस दर पर सरकार द्वारा पत्र-मुद्रा के बदले सोना देने की गारन्टी दी गयी, किन्तु सरकार की सुविधा के लिए यह शर्त लगा दी गयी थी कि कोई भी व्यक्ति सरकारी खजाने से एक बार मे 400 तोला से कम सोना नहीं खरीद सकता था। किन्तु 1931 ई० मे स्वर्ण-मान के पतन के बाद यह प्रणाली भारत से समाप्त हो गयी।

(iii) अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा (Inconvertible Paper Money) :—किन्तु आजकल प्रतिनिधि पत्र-मुद्रा एव परिवर्तनीय पत्र-मुद्रा का केवल सैद्धान्तिक महत्व ही रह गया है। *वास्तविक जीवन में आज विश्व के प्राय सभी देशो मे अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा (Inconvertible* Paper Money) का ही प्रचलन है। इस प्रकार की पत्र-मुद्रा को किसी भी धातु मे बदला नहीं जा सकता। इसके चलन का आधार केवल सरकार की साख ही होती है। प्रारम्भ मे इस प्रकार की पत्र-मुद्रा को केवल युद्ध अथवा किसी अन्तर्राष्ट्रीय सकट के समय मे जारी किया जाता था, किन्तु आजकल तो इस प्रकार की पत्र-मुद्रा का विश्व में सर्वत्र प्रचलन है।

अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा की निम्नांकित प्रमुख विशेषताएँ हैं :—

(क) इस प्रकार की पत्र-मुद्रा के पीछे साधरणतया किसी प्रकार का धात्विक कोष (Metallic Reserve) नही रखा जाता है। केवल सरकारी प्रतिभूतियो (Govt. Securities) तथा ट्रेजरी बिल्स (Treasury Bills) आदि के आधार पर ही यह मुद्रा जारी की जाती है।

(ख) *सरकार पत्र-मुद्रा को सोने अथवा चादी मे बदलने की गारन्टी नही देती है।*

(ग) कागज के नोट असीमित विधि-ग्राह्य (Unlimited Legal Tender) होते हैं।

अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा के गुण (Merits of Inconvertible Paper Money) :— अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा के निम्नलिखित प्रधान गुण हैं—(i) बहुमूल्य धातुओ की बचत :—इस प्रकार की पत्र-मुद्रा मे बहुमूल्य धातुओ की कोई आवश्यकता नही पडती। इन्हें जारी करने के लिए न तो धात्विक कोष की आवश्यकता पडती है और न इन्हे बहुमूल्य धातुओ मे बदला ही जा सकता है। साथ ही, विधि-ग्राह्य होने के कारण द्रव्य के प्राय. सभी कार्यो को समुचित रूप से करती है। (ii) यह प्रणाली लोचदार होती है :—चूँकि इसका बहुमूल्य धातुओ से कोई सम्बन्ध नही होता, अतएव सरकार इसे आवश्यकतानुसार पर्याप्त मात्रा मे जारी कर सकती है। *इस प्रकार यह मुद्रा-प्रणाली पूर्णतया लोचदार होती है।*

अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा के दोष (Defects of Inconvertible Paper-money) — उपरोक्त गुणो के साथ-साथ अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा प्रणाली के निम्नलिखित दोष भी हैं—(i) **मुद्रा-स्फीति (Inflation) का भय** :—इस पत्र-मुद्रा प्रणाली का सर्वाधिक प्रमुख दोष यह है कि इसमे मुद्रा की मात्रा को नियत्रित करने का कोई साधन नही होता। इससे मुद्रा-स्फीति उत्पन्न होने की आशका बनी रहती है जिसका समाज के आर्थिक जीवन पर बहुत ही बुरा प्रभाव पडता है। (ii) **विदेशी विनिमय की कठिनाइयां** :—इस प्रकार की पत्र-मुद्रा का स्वर्ण से कोई सम्बन्ध नही होता, अतएव इससे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे बाधा उत्पन्न होती है।

पत्र-मुद्रा के गुण एवं अवगुण

(Merits and Demerits of Paper-Money)

आज विश्व क किसी भी देश मे सोने अथवा चांदी के सिक्को का प्रचलन नही है। आधुनिक युग पत्र-मुद्रा का युग है। आज सर्वत्र पत्र-मुद्रा का ही साम्राज्य है और सिक्के पत्र-मुद्रा रूपी सेनापति के केवल सिपाही बन कर रह गये हैं। अतएव इस स्तर पर पत्र-मुद्रा के गुण एव दोषों की व्याख्या आवश्यक है।

पत्र-मुद्रा के लाभ (Merits of Paper money) —पत्र-मुद्रा के निम्नलिखित प्रमुख लाभ हैं :—

(1) पत्र-मुद्रा से बहुमूल्य धातुओ की बचत होती है :—पत्र-मुद्रा के उपयोग से धातु के सिक्को की आवश्यकता नही रह जाती, जिससे सोने-चांदी जैसी बहुमूल्य धातुओ की बचत होती है। इन धातुओ का उपयोग औद्योगिक तथा कलात्मक कार्यों मे होता है। पत्र-मुद्रा के इस लाभ के कारण आदम स्मिथ (Adam Smith) ने इसकी तुलना आकाश मार्ग से की है जिससे सामान ले जाने का कार्य भी होता है और नीचे की भूमि का उपयोग अन्न आदि उत्पन्न करने मे किया जाता है।

(2) पत्र-मुद्रा मे वहनीयता (Portability) होती है —मूल्य के अनुपात म पत्र-मुद्रा का वजन प्रायः नगण्य होता जिससे एक स्थान से दूसरे स्थान म ले जाने मे बहुत अधिक सुविधा होती है। उदाहरण के लिए, 100 रुपये के सिक्को की अपेक्षा 100 रुपये के नोट का वजन बहुत ही कम होता है। इस प्रकार पत्र-मुद्रा म वहनीयता का गुण बहुत अधिक पाया जाता है। यही कारण है कि बडे-बडे व्यावसायिक भुगतान मे भी इसका प्रयोग सुविधाजनक होता है।

(3) पत्र-मुद्रा मे मितव्ययिता (Economy) पायी जाती है .—पत्र-मुद्रा को जारी करने मे कोई विशेष व्यय नहीं करना पडता है। अतएव सरकार के लिए बहुत सस्ती एव मितव्ययी प्रणाली होती है। इसके विपरीत धातु के सिक्को को ढालना बहुत अधिक खर्चीला होता है। इसमे धातुओ को खानो से निकालने, उन्हे गलाने, साफ करने तथा ढालने आदि मे बहुत व्यय करना पडता है। इस प्रकार पत्र-मुद्रा के उपयोग से समाज मे बहुत अधिक श्रम एव पूंजी की बचत होती है जिसका उपयोग विकास के अन्य कार्यों मे किया जा सकता है।

(4) पत्र-मुद्रा से देश की मुद्रा-प्रणाली लोचदार (Elastic) हो जाती है —पत्र-मुद्रा का एक महत्त्वपूर्ण गुण यह है कि इसकी मात्रा मे आवश्यकतानुसार शीघ्रतापूर्वक परिवर्तन किया जा सकता है। सोने अथवा चांदी के सिक्को को घटाना या बढाना इस प्रकार सुगम नहीं है क्योकि सोने और चांदी का उत्पादन एव स्टॉक विश्व मे सीमित है। अतएव इनकी मात्रा मे आवश्यकतानुसार परिवर्तन नही लाया जा सकता है। इस प्रकार पत्र-मुद्रा से देश की मुद्रा प्रणाली अत्यधिक लोचदार हो जाती है।

(5) देश की सरकार के लिए पत्र-मुद्रा सस्ती एवं सुविधाजनक होती है :— पत्र-मुद्रा को जारी करने का व्यय कम होता है। इससे यह सरकार के लिए धात्विक मुद्रा की अपेक्षा सस्ती होती है। साथ ही, युद्ध आदि संकटकालीन परिस्थितियों मे सरकार अधिक पत्र-मुद्रा जारी कर बजट को संतुलित बना देती है। द्वितीय युद्ध के समय अधिकाश देशो की सरकार ने इसी तरीके को अपनाया था। पंचवर्षीय योजनाओ को कार्यान्वित करने के लिए भारत सरकार ने भी इसी तरीके को अपनाया है। इस प्रकार पत्र-मुद्रा देश की सरकार के लिए सस्ती एव सुविधाजनक होती है।

पत्र-मुद्रा के दोष (Demerits of Paper Money) :—पत्र-मुद्रा के उपरोक्त गुणो के साथ-साथ इसके निम्नांकित दोष भी हैं :—

(1) अत्यधिक मुद्रा-प्रसार की सम्भावना :— पत्र-मुद्रा को सरकार अपनी इच्छा के अनुसार किसी भी मात्रा मे जारी कर सकती है क्योकि इसे जारी करने के लिए धातुओ की आवश्यकता नही पडती।[1] इससे सदा चलनाधिक्य की आशका बनी रहती है। चलनाधिक्य का परिणाम समाज के लिए बहुत ही भयावह होता है। इसके फलस्वरूप वस्तुओ एव सेवाओ के मूल्य मे अत्यधिक वृद्धि होती है तथा भीषण मुद्रा-स्फीति (inflation) की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। कभी-कभी तो इसके फलस्वरूप नोटो का मूल्य नही के बराबर हो जाता है, जैसा कि प्रथम महायुद्ध के बाद जर्मनी मे हुआ था ऐसी स्थिति मे जनता भी इन नोटो को स्वीकार करने मे हिचकती है।

(2) पत्र-मुद्रा के चलन का क्षेत्र सीमित होता है :— किसी एक देश की पत्र-मुद्रा का प्रचलन केवल उस देश की सीमा के अन्तर्गत ही होता है। विदेशी इन्हें स्वीकार नही करते। इससे विदेशी व्यापार मे कठिनाइयो का सामना करना पडता है। इस प्रकार पत्र-मुद्रा का एक प्रधान दोष यह है कि यह न तो अन्तर्राष्ट्रीय है और न इस प्रकार की हो ही सकती है।

(3) पत्र-मुद्रा नाशवान होती है :— पत्र-मुद्रा के सदा फट जाने अथवा गल जाने की आशंका बनी रहती है। वैसे तो नोट निर्गमन अधिकारी इस प्रकार के नोटो को वापस लेने का आश्वासन देते हैं, फिर भी इनमे जनता को बहुत अधिक असुविधाओ का सामना करना पडता है। अतएव पत्र-मुद्रा के प्रयोग मे बहुत अधिक सावधानी से काम लेना पडता है।

(4) साधारणतया पत्र-मुद्रा का मूल्य अनिश्चित एवं अस्थिर हुआ करता है :— चूँकि पत्र-मुद्रा की मात्रा मे सरकार बिना किसी कठिनाई के आवश्यकतानुसार परिवर्तन कर सकती है, अतएव इसके मूल्य मे घोर परिवर्तन (Heavy fluctuations) हुआ करते हैं। इस प्रकार पत्र-मुद्रा का मूल्य अनिश्चित होता है।

(5) पत्र-मुद्रा से सभी प्रकार की परिकल्पना (Speculation) को प्रोत्साहन मिलता है :— पत्र-मुद्रा की अनिश्चितता के परिणामस्वरूप ही पूँजीवादी देशो मे व्यापार-चक्र (Trade cycles) की उत्पत्ति होती है। यही कारण है कि कुछ अर्थशास्त्रियो ने पत्र-मुद्रा को एक प्रकार का सामाजिक धोखा बतलाया है।

(6) पत्र-मुद्रा का आंतरिक मूल्य (Intrinsic value) कुछ भी नहीं होता :— पत्र-मुद्रा का सर्वाधिक प्रमुख दोष यह है कि इसका कोई आतरिक मूल्य नही होता। अतएव पत्र-मुद्रा

1: अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा (Inconvertible Paper money) को जारी करने के लिए बहुमूल्य धातुओं के कोष की आवश्यकता नहीं पड़ती और आजकल चूँकि विश्व के प्राय सभी देशों में इसी प्रकार की पत्र-मुद्रा प्रचलन में है, अतएव सरकार बिना किसी रुकावट के अपने इच्छानुसार पत्र-मुद्रा जारी कर सकती है।

के विमुद्रीकरण (Demonetization) होने पर पदार्थ के रूप मे इसका कोई मूल्य शेष नही रह जाता। इस प्रकार पत्र-मुद्रा वास्तविक मुद्रा नही कही जा सकती। इसका मूल्य सरकार अथवा निर्गमन अधिकारी की साख पर ही आधारित रहता है।

निष्कर्ष —पत्र-मुद्रा के उपरोक्त सभी गुण एव दोष हैं किन्तु इसके गुण एव दोषो के अध्ययन के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर आते हैं कि पत्र-मुद्रा के अधिकाश दोष सरकार अथवा निर्गमन अधिकारी के हैं जो इस पर उचित नियन्त्रण नही रख पाते। पत्र-मुद्रा मे स्वय कोई बुराई नहीं है। वास्तव मे, समुचित नियन्त्रण द्वारा पत्र-मुद्रा को देश के आर्थिक विकास एव जन कल्याण का एक साधन बनाया जा सकता है।

(२) वास्तविक मुद्रा तथा हिसाव की मुद्रा

(Actual Money or Money Proper and Money of Accounts)

सुप्रसिद्ध अर्थशास्त्री केन्स (Keynes) ने अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक (A Treatise on M ney) मे हिसाब की मुद्रा (Money of Accounts) तथा वास्तविक मुद्रा (Money Proper) में भी अन्तर किया है।

वास्तविक मुद्रा (Money Proper) —जो मुद्रा देश के भीतर यथार्थत प्रचलन (Circulation) मे रहती है उसे वास्तविक मुद्रा कहते हैं। वस्तुओ तथा सेवाओ के विनिमय मे वास्तविक मुद्रा ही विनिमय के माध्यम के रूप मे काय करती है। सभी प्रकार के भुगतान इसी प्रकार की मुद्रा के रूप मे किये जाते है तथा क्रय-शक्ति अथवा मूल्य का सचय (Store of value) भी वास्तविक मुद्रा के रूप म किया जाता है। देश के भीतर जितने प्रकार की मुद्राएँ प्रचलन मे होती हैं, सभी वास्तविक मुद्रा कहलाती है। उदाहरण के लिए, भारत मे 1 पैसा से 1 रुपया तक के सिक्के तथा 1 रुपया से 1000 रुपये तक के कागजी नोट वास्तविक मुद्रा हैं। केन्स (Keynes) ने इस प्रकार की मुद्रा को वास्तविक मुद्रा (Money Proper), सेलिगमैन ने मुख्य-मुद्रा (Real Money) तथा बेन्हम (Benham) ने चलन की इकाई (Unit of Currency) का नाम दिया है।

हिसाव की मुद्रा (Money of Accounts) —हिसाव की मुद्रा से हमारा अभिप्राय उस मुद्रा से है जिसका प्रयोग हिसाब-किताब रखने मे किया जाता है। दूसरे शब्दों मे, जिस मुद्रा का प्रयोग लेन-देन करने, कीमत तथा क्रय शक्ति को सूचित करने एव ऋण की मात्रा को प्रकट करने के लिए किया जाता है उसे हिसाब की मुद्रा कहते हैं। केन्स (Keynes) ने इसे हिसाब की मुद्रा (Money of accounts) तथा सेलिगमैन (Seligman) ने इसे आदर्श मुद्रा (Ideal Money) का नाम दिया है। केन्स के अनुसार "हिसाब की मुद्रा वह है जिसके रूप मे ऋण, वस्तुओ का मूल्य और क्रय-शक्ति आदि व्यक्त की जाती है।" (Money of Accounts is that in which debts, prices and general purchasing power are expressed)[1]

साधारणतया, किसी देश मे जो मुद्रा विनिमय के माध्यम एव मूल्य-सचय का कार्य करती है वही मूल्य-मापन अथवा हिसाब किताब रखने के काम मे भी आती है। किन्तु कभी-कभी,

1 Keynes A Treatise on Money, Vol 1. P 3. केन्स ने वास्तविक मुद्रा तथा हिसाब की मुद्रा में निम्न प्रकार से अन्तर किया है "We may elucidate the distinction beween money proper and money of accounts by saying that the money of accounts is the description or the title and proper money is the thing that answers to the description. Now if the same thing always answered to the same description, the distinction would have no practical interest."

विशेषत: आर्थिक संकट के समय में वास्तविक मुद्रा (Money Proper) तथा हिसाब-किताब की मुद्रा (Money of Accounts) भिन्न-भिन्न भी हो सकती हैं। उदाहरणार्थ 1923 ई० में जर्मनी की वास्तविक मुद्रा के रूप में जर्मन मार्क (German mark) प्रचलित था जबकि हिसाब-किताब की मुद्रा (Money of Accounts) फ्रैंक तथा डॉलर (Dollar) थे। भारत में भी दाशमिक मुद्रा प्रणाली को अपनाने के पूर्व हिसाब-किताब रुपये, आने और पाई में रखा जाता था जबकि पाई नामक सिक्के का प्रचलन कभी का समाप्त हो चुका था। इसी प्रकार अमेरिका में भी 1963 ई० तक हिसाब-किताब स्वर्ण डालर के रूप में रखा जाता था, जबकि इस प्रकार की मुद्रा का प्रचलन कभी का समाप्त हो गया इससे स्पष्ट है कि वास्तविक मुद्रा एवं हिसाब की मुद्रा में अन्तर भी हो सकता है। वास्तव में, बात यह है कि हिसाब की मुद्रा देश की प्रचलित मुद्रा का सैद्धान्तिक रूप है एवं वास्तविक मुद्रा उसका व्यावहारिक रूप है। यह सम्भव है कि व्यावहारिक जीवन में मुद्रा का रूप बदल जाय, किन्तु सैद्धान्तिक जीवन में हिसाब किताब में उसका पुराना रूप ही चलता रहे।

(3) विधि ग्राह्य मुद्रा तथा ऐच्छिक मुद्रा

(Legal Tender Money and Voluntary Money)

कुछ अर्थशास्त्रियों ने मुद्रा की सामान्य स्वीकृति (General acceptability) को महत्त्व देते हुए मुद्रा का वर्गीकरण (क) विधि-ग्राह्य (Legal Tender) और (ख) ऐच्छिक मुद्रा (Voluntary or Optional Money) के रूप में किया है।

(क) विधि-ग्राह्य मुद्रा (Legal Tender Money) :—विधि ग्राह्य मुद्रा वह मुद्रा होती है जिसे भुगतान के साधन के रूप में कानूनन स्वीकार किया जाता है। दूसरे शब्दों में, इसे वैधानिक मुद्रा भी कहते हैं। इस प्रकार की मुद्रा के रूप में सभी तरह के भुगतान का कार्य किया जाता है, चाहे वह वस्तुओं अथवा सेवाओं के मूल्य से सम्बन्धित हो या ऋणों के भुगतान से। सरकार एक कानून के द्वारा यह घोषित कर देती है कि अमुक सिक्के अथवा अमुक नोट भुगतान के काम में आयेंगे। इससे उन्हें कानूनी मुद्रा का पद प्राप्त हो जाता है और कोई भी व्यक्ति लेन-देन के सिलसिले में इन्हें स्वीकार करने से इन्कार नहीं कर सकता क्योंकि ऐसा करने से वह दण्ड का भागी होता है।

विधि-ग्राह्य (Legal Tender Money) भी निम्नांकित दो प्रकार की होती है :—

(i) *अपरिमित विधि-ग्राह्य मुद्रा (Unlimited Legal Tender Money)* —इस प्रकार की मुद्रा किसी भी सीमा तक एक समय में किसी भुगतान के लिए कानूनन स्वीकार की जाती है। कोई भी व्यक्ति अपरिमित मात्रा में भी इस प्रकार की मुद्रा को लेने से इन्कार नहीं कर सकता। उदाहरण के लिए भारत में रुपये एवं 50 पैसे के सिक्के तथा सभी कागजी नोट अपरिमित विधि-ग्राह्य (Unlimited Legal Tender) मुद्रा है।

(ii) *परिमित विधि-ग्राह्य मुद्रा (Limited Legal Tender Money)* —इसके विपरीत जिस मुद्रा को एक बार के भुगतान में एक निश्चित सीमा से अधिक लेने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता हो उसे परिमित विधि ग्राह्य मुद्रा कहते हैं। सरकार द्वारा इस प्रकार की मुद्रा की अनिवार्य स्वीकृति की सीमा निश्चित कर दी जाती है। इन्हें एक बार के भुगतान में इस सीमा से अधिक लेने के लिए किसी भी व्यक्ति को बाध्य नहीं किया जा सकता है। उदाहरणार्थ भारत में 25 पैसे तक के सिक्के 25 रुपये तक ही विधि-ग्राह्य (Legal Tender) होते हैं।

(ख) ऐच्छिक मुद्रा (Voluntary or Optional Money) —ऐच्छिक मुद्रा वह मुद्रा

होती है जिसे स्वीकार करने के लिए कानूनन किसी को बाध्य नही किया जा सकता । दूसरे शब्दों मे, इस प्रकार की मुद्रा को कानूनी मुद्रा (Legal Money) का पद नही प्राप्त रहता है । इस प्रकार की मुद्रा को भुगतान के रूप मे स्वीकार करना या न करना व्यक्ति विशेष की इच्छा पर निर्भर करता है । चेक, बैंक नोट, हुण्डी, विनिमय बिल (Bills of Exchange) तथा प्रतिज्ञा-पत्र (Promissory notes) आदि ऐच्छिक मुद्रा के उदाहरण हैं । साधारणतया लोग इन्हें भुगतान के रूप मे स्वीकार कर लेते हैं, किन्तु इन्हे स्वीकार करना या न करना देनेवाले की साख (Credit) पर निर्भर करता है ।

मुद्रा का उपरोक्त वर्गीकरण निम्नांकित तालिका से अधिक स्पष्ट हो जाता है :—
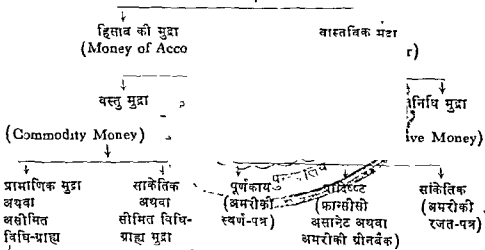
अच्छे मुद्रा-पदार्थ के गुण

(Qualities of a good Money Material)

मुद्रा के विकास के अध्ययन से यह स्पष्ट है कि मानव के आर्थिक विकास के विभिन्न स्तर पर विभिन्न वस्तुओ का विनिमय के माध्यम के रूप में प्रयोग हुआ है । उदाहरण के लिए, शिकारी युग (Hunting stage) मे खाल या नमदा, पशुपालन युग मे कोई पशु, जैसे—गाय या बकरा तथा कृषि युग (Agricultural stage) मे किसी अन्न को मुद्रा के रूप मे प्रयोग किया जाता था । धीरे-धीरे अनुभव के आधार पर इन पदार्थों के दोष स्पष्ट होने लगे, अतएव बहुमूल्य धातुओ को मुद्रा-पदार्थ के रूप मे प्रयोग किया जाने लगा । वास्तव मे, अच्छे मुद्रा-पदार्थ के लिए निम्नलिखत गुणो का होना आवश्यक है :—(1) सर्वग्राह्यता (Universal Acceptability), (2) परिचयता या सुज्ञेयता (Cognizability), (3) वहनीयता (Protability), (4) विभाज्यता (Divisibility), (5) अविनाशिता या टिकाऊपन (Indestructibility), (6) मूल्य का स्थायित्व (Stability of value), (7) एकरूपता (Homogeneity), तथा (8) तरलता या ढलाऊपन (Malleability),[1] । इस प्रकार अच्छे मुद्रा-पदाथ के लिए उक्त सारे

1. अच्छे मुद्रा पदार्थ के उक्त सारे गुणों को एक शब्द "CUP-DISH-M" द्वारा व्यक्त किया जा सकता है । इसमें प्रत्येक अक्षर मुद्रा-पदार्थ के एक गुण को व्यक्त करता है—जैसे—"C—Cognizability U—Universal acceptability P—Protability, D—Divisibility, I – Indestructibility, S—Stability of value, H—Homogeneity तथा M—Malleability."

गुणों का होना आवश्यक है। अब इनका निम्न विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है :—

(1) सर्वग्राह्यता (Universal Acceptability) —मुद्रा-पदार्थ में सर्वमान्यता का गुण होना नितान्त आवश्यक है। मुद्रा विनिमय के माध्यम का कार्य करती है, अतएव इसे सर्वमान्य होना चाहिए। प्रायः वही वस्तु सर्वमान्य होती है जो मुद्रा के अतिरिक्त अन्य कार्यों में भी प्रयोग में लायी जाती हो। इस दृष्टिकोण से सोना एवं चाँदी सर्वोत्कृष्ट मुद्रा-पदार्थ हैं क्योंकि उन्हें सभी व्यक्ति सर्वदा लेने के लिए तैयार रहते हैं। कागज भी इस दृष्टिकोण से अच्छा मुद्रा-पदार्थ नहीं है क्योंकि इसका आन्तरिक मूल्य (Intrinsic value) प्रायः नगण्य होता है किन्तु विधि-ग्राह्य (Legal Tender) बना देने से यह सर्वमान्य हो जाता है।

(2) परिचयता या सुज्ञेयता (Cognizability) —मुद्रा-पदार्थ ऐसा होना चाहिए जिसके बने सिक्कों को पहचानने में कोई कठिनाई नहीं हो। दूसरे शब्दों में, मुद्रा-पदार्थ ऐसा होना चाहिए कि जिसके आकार, रंग एवं आवाज से ही लोग सुगमतापूर्वक उसे पहचान सकें। ऐसे पदार्थों के बने सिक्कों में धोखेबाजी की बहुत कम सम्भावना रहती है। जब तक मुद्रा-पदार्थों में यह गुण वर्तमान न होगा तब तक उसकी बनी मुद्रा को सामान्य स्वीकृति प्राप्त नहीं होगी जिससे विनिमय के कार्य में असुविधाएँ एवं कठिनाइयाँ होंगी। सोना एवं चाँदी में यह गुण विशेष रूप से पाया जाता है। आजकल तो सिक्के तथा पत्र-मुद्रा के निर्माण में इस बात पर विशेष ध्यान दिया जाता है।

(3) वहनीयता (Portability) —मुद्रा-पदार्थ में वहनीयता, यानी एक स्थान से दूसरे स्थान में ले जाने की सुविधा के गुण का होना भी आवश्यक है। मुद्रा को हम एक ही स्थान में संग्रह कर नहीं रखते, वरन् समय समय पर हमें इसका हस्तान्तरण एवं स्थानान्तरण भी करना पड़ता है। वहनीयता के लिए थोड़े आकार में अधिक मूल्य (*Large value in small bulk*) होना चाहिए। जानवर अथवा अनाज में वहनीयता का गुण नहीं पाया जाता है, अतः उन्हें एक स्थान से दूसरे स्थान में जाने में बहुत अधिक कठिनाई होती थी परन्तु सोना एवं चाँदी में यह गुण विशेष मात्रा में पाया जाता है क्योंकि इनके एक छोटे टुकड़े में भी बहुत अधिक मूल्य रहता है। पत्र-मुद्रा में वहनीयता का गुण विशेष रूप से पाया जाता है। अतएव इसे एक स्थान से दूसरे स्थान में सुगमतापूर्वक तथा कम ही खर्च में भेजा जाता है।

(4) विभाज्यता (Divisibility) —मुद्रा-पदार्थ ऐसा होना चाहिए जिसे छोटे-छोटे टुकड़ों में सुगमतापूर्वक विभाजित किया जा सके। विनिमय के कार्य में हम केवल बड़ी बड़ी वस्तुओं का ही लेन-देन नहीं करते, वरन् छोटी-छोटी वस्तुओं के लेन-देन की भी आवश्यकता पड़ती है। अतएव मुद्रा पदार्थ ऐसा होना चाहिए जिसके मूल्य एवं उपयोगिता में कमी लाये बगैर ही उसे छोटे-छोटे टुकड़ों में विभाजित किया जा सके। इस दृष्टिकोण से ही हीरा को एक अच्छा मुद्रा-पदार्थ नहीं कहा जा सकता, यद्यपि यह एक बहुमूल्य पदार्थ है क्योंकि टुकड़ा-टुकड़ा करने से इसकी कीमत कम हो जाती है। इसके विपरीत सोना एवं चाँदी में यह गुण विशेष मात्रा में पाया जाता है क्योंकि समान कीमत एवं समान वजन के इनके टुकड़े किये जा सकते हैं एवं सभी टुकड़ों की सामूहिक कीमत पूरी धातु की कीमत के बराबर होती है।

(5) अविनाशिता या टिकाऊपन (Indestructibility) —मुद्रा-पदार्थ टिकाऊ होना चाहिये। वे वस्तुएँ जो शीघ्र नष्ट हो जाती है अच्छी मुद्रा हो सकती क्योंकि ऐसी मुद्रा मूल्य के संचय (Store of value) का कार्य नहीं कर सकती। अतएव क्रय-शक्ति के संचय के कार्य के लिए मुद्रा-पदार्थ का टिकाऊ होना अनिवार्य है। अन्न अथवा पशु में यह गुण नहीं पाया

जाता है, अतएव ये अच्छे मुद्रा-पदार्थ नही बन सकते । इसके विपरीत सोना-चाँदी मे यह गुण बहुत अधिक मात्रा मे पाया जाता है जिससे इनके बने सिक्को मे घिसावट वगैरह भी बहुत कम होती है ।

(6) मूल्य की स्थिरता (Stability of value) —मुद्रा-पदार्थ मे मूल्य की स्थिरता (Stability of value) के गुण का होना भी आवश्यक है। यदि मुद्रा-पदार्थ का मूल्य स्वय बहुत अधिक परिवर्त्तनशील होगा तो वह मुद्रा के अनेक कार्यों, जैसे—मूल्य-मापन की इकाई (Unit of account), विलम्बित देन का भुगतान (Standard of deferred payment) तथा मूल्य-सचय (Store of value) के कार्य का अच्छी तरह से सम्पादन नही कर सकता। यदि मुद्रा-पदार्थ के मूल्य मे अधिक परिवर्त्तन होने लगेगा तो लोग इसे छिपाने, गलाने या सचित करने लग जायेंगे जिससे चलन मे मुद्रा का अभाव होने लगेगा। सोना एव चाँदी का चलन मुद्रा के रूप मे बहुत अधिक समय तक रहा है क्योकि दूसरे पदार्थों की अपेक्षा इनके मूल्य मे परिवर्त्तन होता है । इसका प्रमुख कारण यह है कि विश्व में ये दोनो पदार्थ एक सीमित मात्रा में ही उपलब्ध है और इनकी पूर्ति में वृद्धि अथवा कमी बहुत अधिक कठिनाई से की जा सकती है । कृषि-पदार्थ अथवा खाद्यान्न अच्छी मुद्रा नही हो सकते क्योकि इनके मूल्य शीघ्र कमी या वृद्धि होती है । इस प्रकार मुद्रा-पदार्थ में मूल्य के स्थायित्व का गुण होना अनिवार्य है ।

(7) एकरूपता (Homogeneity) —मुद्रा-पदार्थ ऐसा होना चाहिए जिसके सभी टुकडो में एकरूपता हो, यानी समान मूल्य के सभी टुकडो का वजन एव मूल्य एक समान होना चाहिए । यदि इन टुकडो को पुन गलाकर मिला दिया जाय तो उस ठोस वस्तु का वजन एव मूल्य भी सभी टुकडो के सम्मिलित वजन एव मूल्य के बराबर ही होना चाहिए । ऐसा होने से मुद्रा की सभी इकाइयाँ एक प्रकार की होती हैं जिससे लेन-देन मे कोई भी व्यक्ति इन्हे अस्वीकार नही कर सकता । सोने अथवा चाँदी मे वह गुण विशेष मात्रा मे पाया जाता है । अतएव मवेशी, अन्न तथा लोहा की अपेक्षा ये मुद्रा के लिए अधिक उत्तम होते हैं ।

(8) ढलाऊपन या शीघ्र द्रव्यता (Malleability) —मुद्रा-पदार्थ ऐसा होना चाहिए जिसे सुगमतापूर्वक गलाकर किसी भी रूप एव वजन के सिक्के तैयार किये जा सकें । साथ ही सिक्को पर किसी प्रकार का मुहरें अथवा छाप आसानी से लगायी जा सकें जिससे जाली सिक्को के चलन को रोकने मे सुविधा होगी । गलाकर सिक्के तैयार करने से इसके मूल्य मे भी किसी प्रकार की कमी नही आनी चाहिए । अतएव द्रव्य-पदार्थ न तो बहुत अधिक मुलायम और न बहुत अधिक कडा ही होना चाहिए । इस दृष्टिकोण से भी सोना एव चाँदी द्रव्य-पदार्थ के लिए उत्तम हैं जबकि हीरा अथवा काँच अच्छे नही हैं ।

इस प्रकार एक अच्छे मुद्रा पदार्थ मे उपरोक्त सभी गुणों का होना अनिवार्य है। निम्नाकित चार्ट द्वारा इन्हें अधिक सुगमतापूर्वक स्पष्ट किया जा सकता है —

अच्छे मुद्रा-पदार्थ के गुण

सर्वग्राह्यता परिचयता वहनीयता विभाज्यता टिकाऊपन मूल्य की स्थिरता एकरूपता ढलाऊपन

इन गुणो के अध्ययन स हम इस निष्कर्ष पर आते हैं कि साने एव चाँदी मे उपरोक्त सभी गुण अन्य पदार्थों की अपेक्षा अधिक मात्रा मे पाये जाते हैं । यही कारण है कि विश्व में एक बहुत लम्बे समय तक इन पदार्थों का मुद्रा के रूप प्रयोग हुआ है । ताँबा एव गिलट का प्रयोग भी मुद्रा के रूप मे बहुत समय से किया जा रहा है, किन्तु इन धातुओं मे मुद्रा-पदार्थ के सभी

गुण पर्याप्त मात्रा मे नही पाये जाते है, अतएव इनका प्रयोग मुख्यत साकेतिक सिक्को के रूप मे ही होते आया है। आजकल पत्र-मुद्रा का प्रचलन बहुत तेजी से बढ रहा है। इसमे परिचयता, वहनीयता आदि गुण तो विशेष रूप मे पाये जाते हैं, किन्तु इसमे भी आतरिक मूल्य एव टिकाऊपन आदि का अभाव है।

ग्रेशम का नियम
(Grasham's Law)

सर टॉमस ग्रेशम (Sir Thomas Grasham) ब्रिटेन की महारानी एलिजाबेथ प्रथम के आर्थिक सलाहकार थे। ग्रेशम ने चलन की मुद्रा के सम्बन्ध मे एक महत्त्वपूर्ण नियम का प्रतिपादन किया था जिसे ग्रेशम का नियम कहा जाता है। इस नियम के अनुसार जब किसी देश मे दो प्रकार की मुद्राए एक ही साथ प्रचलन म रहती हैं जिनमे से एक को अच्छा तथा दूसरी को बुरा कहा जा सकता है, तो बुरी मुद्रा अच्छी मुद्रा को चलन से बाहर निकाल देगी। इसी प्रवृत्ति को ग्रेशम का नियम कहते हैं। ग्रेशम के शब्दो मे, "खराब मुद्रा मे अच्छी मुद्रा को प्रचलन से बाहर निकाल देने की प्रवृत्ति पायी जाती है।" (Bad money tends to drive good money out of circulation) मार्शल (Morshall) ने इस नियम की व्याख्या इस प्रकार से की है : "An inferior currency, if not limited in quantity, will drive out the superior currency" वास्तव मे, ग्रेशम का नियम, वास्तविक जीवन के अनुभवो पर आधारित है तथा यह सदा क्रियाशील होता है। रजत एव स्वर्णमान के अन्तर्गत यह विशेष रूप से क्रियाशील होता था। जब मौद्रिक व्यवस्था मे कुछ सिक्के पुराने, घिसे हुए तथा कम वजन के होते है जब कि अन्य सिक्के पूरे वजन के होते हैं तो लोग पुराने सिक्को को ही केवल चलन मे रखते हैं तथा नये सिक्के को अपने पास रखते हैं। इसका कारण यह है कि कानूनन दोनो प्रकार के सिक्के एक ही समान मूल्य के हैं किन्तु एक नये सिक्के मे पुराने सिक्को की अपेक्षा अधिक धातु पायी जाती है। द्वि-धातुमान (Be-metallism) म तो ग्रेशम का नियम विशेष रूप से लागू होता था। जब किसी भी देश मे एक ही साथ दो धातु के सिक्के चालू रहते हैं तो इनके बीच विनिमय की वैधानिक दर निश्चित कर दी जाती है। किन्तु कभी कभी इनमे से किसी एक के मूल्य मे परिवर्तन के कारण इनके प्रचलित विनिमय अनुपात तथा वैधानिक विनिमय मे अन्तर हो जाता है। ऐसी स्थिति मे लोग महँगी धातु के सिक्के को गलाकर धातु के रूप मे बदल लेते हैं और उसे बाजार मे बेचकर उससे सस्ती धातु के सिक्के प्राप्त कर लेते हैं। इससे कम ही मूल्य के सिक्के प्रचलन मे रह जाते हैं।

विशेष अध्ययन-सूची

1. Keynes A Treatise on Money, Ch I
2. Coulborn . A Discussion of Money, Ch. I & II

अध्याय : 5

बैंकों की प्रकृति एवं कार्य

(The Nature and Functions of Banks)

प्राक्कथन :—पिछले प्रायः चार अध्यायो मे "बैंक" शब्द का प्रकरणवश कई बार जिक्र किया गया है। वास्तव मे आधुनिक युग मे, मुद्रा-सम्बन्धी किसी प्रकार के भी विवेचन मे बैंक शब्द का जिक्र अति स्वाभाविक है, क्योकि आधुनिक औद्योगिक समाज मे मुद्रा की कुल पूर्ति का एक बहुत बडा भाग 'बैंक जमा' (Bank Deposit) का ही होता है। अतएव मुद्रा के सम्बन्ध मे विवरण के पूर्व बैंको की प्रकृति एव कार्य (nature and functions of banks) की व्याख्या आवश्यक हो जाती है, क्योकि इन्होने समाज मे मुद्रा की पूर्ति को बढाकर मौद्रिक अधिकारियो का कार्य धीरे धीरे बहुत हल्का कर दिया है और इस प्रकार ये वर्तमान सामाजिक अर्थ-व्यवस्था की धुरी बन गये हैं।

बैंको का विकास (Origin of Banks) —बैंक शब्द 'बैंको' (Banco) से निकाला है। 'बैंको' (Banco) शब्द का प्रचलन सर्वप्रथम इटली के वेनिस (Venice) नामक नगर मे प्रथम बैंकिंग-गृह की स्थापना के पश्चात हुआ था। उस समय इटली मे बैंको (Banco) शब्द का अर्थ बेंच पर बैठकर द्रव्य बदलना होता था। वास्तव मे, प्राचीन काल मे भारत तथा अन्यान्य देशो मे सुनार या सर्राफ (Goldsmith) लोग द्रव्य बदलने का कार्य करते थे। इस कार्य के लिए ये लोग अपने पास देश-विदेश के सिक्कों को रखते थे ताकि मुद्रा-परिवर्त्तन के लिए आनेवाले व्यक्तियों को ये इच्छानुसार मुद्रा दे सकें। कुछ लोगो के अनुसार अँग्रेजी भाषा का बैंक शब्द बैक (Back) से बना है, किन्तु Back को भी इटालियन भाषा मे Banco ही कहा जाता है।

सुप्रसिद्ध विद्वान क्राउथर (Crowther) के अनुसार आधुनिक बैंको के हमे तीन पूर्वज स्पष्ट रूप से देखने को मिलते हैं सर्वप्रथम तो वह व्यापारी अथवा महाजन (merchant) है जिसकी ऊँची और विश्वस्त ख्याति अथवा साख उन पत्रो को जारी करने की योग्यता प्रदान करती थी जिन्हें विश्व भर मे मुद्रा का अधिकार-पत्र समझा जाता था।

आधुनिक बैंकर का दूसरा पूर्वज ऋण देनेवाला (Money-Lender) हैं। ऋण लेने तथा देने का कार्य शायद उतना ही प्राचीन है जितनी कि मुद्रा। (Lending and borrowing are almost as old as money itself.), प्राचीन समाज मे भी कुछ व्यक्ति ऐसे होते थे जो धन बचाकर जमा कर लेते थे और कुछ ऐसे होते थे जो इसके अभाव मे रहते थे। इस प्रकार ऋण के लेन-देन का कार्य अति प्राचीन समय से ही चला आ रहा है। पहले ऋण देने वाला अपनी पूँजी से ही कार्य करता था, किन्तु धीरे धीरे समाज के अन्य व्यक्ति भी अपनी अतिरिक्त बचत को उसके पास इस कार्य के लिए देने लगे। ऋण देने वाला इस कार्य के लिए विशेष रूप से अनुभवी होता था, अत उसके इस कार्य से दोनो को लाभ होता था। आधुनिक बैंकर भी अपने इस पूर्वज की तरह यह कार्य करता है। यह अपने ग्राहको का रुपया जमा के रूप मे ग्रहण करता है और दूसरे व्यक्तियो को आवश्यकतानुसार ऋण के रूप मे देता है।

आधुनिक बैंकर का तीसरा पूर्वज सुनार या सर्राफ (Goldsmith) है। बैंक केवल जमा लेने तथा ऋण देने तक ही अपने कार्य को सीमित नहीं रखते वरन् ये समाज की कुल मुद्रा की पूर्ति की वृद्धि मे भी सहायक होते हैं। इस कार्य को इन लोगो ने सुनारो से प्राप्त किया है।

जब समाज मे बैंको का प्रचलन नही हुआ था तब लोग अपने सोना अथवा चाँदी को सुनारों के पास उनकी तिजोरी मे सुरक्षित रखने के लिए रखते थे जिसके बदले सुनार उन्हे एक रसीद दिया करते थे। धीरे-धीरे यही रसीद मुद्रा की तरह चलने लगी। लोग ऋण के लेन देन मे वास्तविक सोना अथवा चाँदी का प्रयोग नही कर इन्ही रसीदो से अपना काम चला लेते थे। जैसे-जैसे सुनार या सर्राफो की ख्याती बढती गयी, ये रसीदें बैंक नोट की तरह चलने लगी। साथ ही, ये रसीदें भी अब बिकने लगी। सुनार को केवल अब इस बात की खबर देनी पडती थी कि अमुक व्यक्ति ने जो सोना उसके पास जमा किया था यह उसने अपने महाजन को दे दिया और उस सोने को अब महाजन के नाम जमा कर लिया जाय। इसी से चेक का जन्म हुआ। और, सुनार ने जब यह अनुभव किया कि जितना सोना वह जमा लेता है तथा जितनी रसीद जारी करता है, वह सम्पूर्ण एक ही बार मे लौटाने के लिए नही आती तब उसने जमा किये गये सोना अथवा चाँदी से अधिक की रसीदें जारी करना प्रारम्भ किया। इस प्रकार मुद्रा-सृजन (Creation of money) का एक तरीका निकाला। आधुनिक बैंकर भी इसी प्रकार बैंक जमा अथवा बैंक मुद्रा का सृजन करता है।

इस प्रकार आधुनिक बैंकर अपने इन तीनो पूर्वजों की विशेषताओ से युक्त है। व्यापारी की तरह आज भी यह विदेशी व्यापार म सहायता प्रदान करता है तथा विनिमय बिल आदि पत्रो को जारी करता एव भुनाता है। ऋण देनेवालो की तरह गाहको का जमा अपने पास रखता है और उसी के आधार पर ग्राहको को कर्ज भी देता है एव सुनार अथवा सर्राफ की तरह मुद्रा अथवा जमा का सृजन भी करता है।

आधुनिक तरीके का सबसे पहला बैंक 1401 ई० मे स्पेन के बारसिलोना नामक नगर मे स्थापित हुआ था। तत्पश्चात् 1607 ई० मे हॉलैंड मे 'बैंक ऑफ एमस्टरडम' एव जर्मनी मे 1609 ई० मे बैंक ऑफ हैम्बर्ग की स्थापना हुई। सत्रहवी शताब्दी मे यूरोप मे औद्योगिक क्रांति (Industrial Revolution) के साथ-साथ एक नये युग का शुभारभ हुआ। सामुद्रिक यातायात मे विकास के साथ-साथ व्यापार का बहुत विस्तार हुआ। नये-नये उपनिवेशो की खोज की जाने लगी जिसके लिए बहुत अधिक मात्रा म धन की आवश्यकता पडती थी। उपनिवेशो को लेकर यूरोप के प्रमुख देशो म एक होड-सी लग गयी थी और सभी देश अपने-अपने व्यापार के विस्तार के लिए सभी प्रकार के प्रयत्न करने को तैयार थे। ऐसी स्थिति मे बैंकिंग व्यवस्था का विकास भी अति स्वाभाविक था। अतएव सतरहवी एव अठारहवी शताब्दी मे यूरोप मे बैंकिंग का विकास बहुत तेजी से प्रारम्भ हुआ। 1694 ई० मे इगलैंड मे बैंक ऑफ इगलैंड (Bank of England) की स्थापना हुई जिससे आधुनिक बैंकिंग प्रणाली को एक वैज्ञानिक रूप मिला। उन्नीसवी शताब्दी के आरम्भ तक नोट जारी करने का कार्य पूर्ण रूप से सरकार अथवा केन्द्रीय बैंक के हाथ मे आ गया था। इस शताब्दी के अन्त तक चेक प्रणाली ने भी वैज्ञानिक रूप धारण कर लिया था। जब 1835 ई० के विधान के अनुसार इगलैंड म बैंको का सगठन मिश्रित पूँजी की कम्पनियो (Joint Stock Companies) के आधार पर किया जाने लगा तो बैंको के विकास को और भी बल मिला क्योंकि इन कम्पनियो का सगठन सीमित दायित्व (Limited Liability) के आधार पर होता है। इस प्रकार बैंक धीरे-धीरे विकास की ओर उन्मुख होते गये और आज तो इनका इतना अधिक विकास हुआ है कि ये आर्थिक एव व्यावसायिक जीवन क एक प्रमुख अग बन गये हैं।

बैंक की परिभाषा

बैंक क्या है ? यद्यपि हम सभी अपने दैनिक जीवन मे बैंक शब्द से पूर्णरूपेण परिचित हैं, फिर भी यह एक ऐसा प्रश्न है जिसका उत्तर देना कुछ कठिन है। वास्तव मे, बैंक शब्द की परिभाषा देना एक कठिन कार्य है। यही कारण है कि विभिन्न विद्वानो ने बैंक शब्द की भिन्न-भिन्न परिभाषाएं दी हैं। इनमे से कुछ प्रमुख परिभाषाएं इस प्रकार हैं—

प्रो० सेयर्स (R. S Sayers) के अनुसार "बैंक वह सस्था है जिसके ऋणों को दूसरे व्यक्तियो के पारस्परिक भुगतान मे विस्तृत रूप से मान्यता प्राप्त हो।" (Banks are institutions, whose debts usually referred to as bank deposits, are commonly accepted in final settlement of other people's debts)[1] प्रो० सेयर्स द्वारा दी गयी इस परिभाषा मे केवल बैंक के जमा पर जोर दिया गया है, अतएव यह स्पष्ट है कि यह परिभाषा बैंक के अन्य तत्वो अथवा कार्यों की विवेचना नही करती।

1949 ई० के भारतीय बैंकिंग कम्पनी अधिनियम (Indian Banking Companies Act) मे बैंक की परिभाषा इस प्रकार से दी गयी है, "बैंक या बैंकिंग कम्पनी वह कम्पनी है जो उधार देने अथवा विनियोग करने के लिए जनता से जमा के रूप मे मुद्रा स्वीकार करती है जो माग पर अथवा किसी अन्य प्रकार से चेक, ड्राफ्ट, आदेश आदि द्वारा शोधनीय होते हैं।" (The accepting for the purpose of lending or investment of deposits of money from public repayable on demand or otherwise and withdrawable by cheque, draft, order or otherwise —The Indian Banking Companies Act, 1 49) बैंकिंग कम्पनीज अधिनियम के अनुसार कोई भी सस्था अपने नाम के आगे बैंक, बैंकर अथवा बैंकिंग शब्द का प्रयोग तभी कर सकती है जबकि उसमे उपरोक्त सारी बातें पायी जाती हो।

इसी प्रकार किनले (Kinley) के अनुसार, "बैंक एक ऐसी सस्था है जो ऋण की सुरक्षा को ध्यान मे रखते हुए ऐसे व्यक्तियो को रुपया उधार देती है जिन्हें इसकी आवश्यकता रहती है और जिनके पास व्यक्ति-विशेष अपने अतिरिक्त रुपये को जमा करते हैं।" (Bank is an establishment which makes to individuals such advances of money as may be required and safely made and to which individuals entrust money when not required by them for use —Kinley) किनले की परिभाषा मे बैंक के केवल उधार लेने अथवा देने की बात का ही जिक्र है। इसमें बैंक के अन्य कार्यों का वर्णन नही किया गया है।

हार्ट (H. L Hart) ने बैंक की परिभाषा इस प्रकार से दी है —"बैंकर वह व्यक्ति है जो अपने साधारण व्यवसाय के अन्तर्गत लोगो का रुपया जमा के रूप मे प्राप्त करता है और जिसे वह उन जमा करने वाले व्यक्तियो के चेको का भुगतान कर चुकाता है।" (A banker is one who, in ordinary course of his business, receives money which he pays by honouring cheques of persons from whom or on whose account he receives it) इस परिभाषा मे भी अन्य परिभाषाओ की तरह बैंक के सभी कार्यों का विवरण नहीं दिया गया है।

इस प्रकार बैंक की कुछ प्रमुख परिभाषाओ का वर्णन ऊपर किया जा चुका है। इनके अतिरिक्त बैंक की और भी बहुत-सी परिभाषाएँ दी गयी हैं। किन्तु इन परिभाषाओ के अध्ययन

1 R. S. Sayers · Modern Banknig—Seventh Edition, P 1.

से स्पष्ट हो जाता है कि इनमें परिभाषा के स्थान पर वणन को ही अधिक महत्त्व दिया गया है। प्रत्येक लेखक ने परिभाषा देते समय बैंक के कार्यों को दिखलाने का ही प्रयास किया है। इससे इन परिभाषाओं को समझना कठिन हो जाता है। अतएव बैंक की एक सरल परिभाषा इस प्रकार से दी जा सकती है—"बैंक वह सस्था है जो मुद्रा एव साख का व्यापार करती है।" (Bank is an institution which deals in money and credit)*

आधुनिक बैंको के कार्य एव सेवाएँ

(Functions and Services of Modern Banks)

आधुनिक बैंको के कार्यों को हम निम्नाकित तीन वर्गों मे विभाजित कर सकते हैं–

(1) प्राथमिक कार्य (Primary Functions)

(2) सामान्य उपयोगिता सम्बन्धी कार्य (General Utility Functions), तथा

(3) एजेंसी सम्बन्धी कार्य (Agency Functions)।

---

* बैंक की कुछ अन्य परिभाषाएँ इस प्रकार है—

वाल्टर लीफ (Walter Leaf) ने बैंक की परिभाषा इस प्रकार से दी है—"बैंक वह व्यक्ति अथवा संस्था है जो हर समय जमा के रूप में द्रव्य लेने को तैयार हो, जिन्हें वह उनके (depositors) चेक द्वारा वापस करता हो।" (A Banker is an institution or individual who is always ready to receive money on deposits to be returned against the cheques of their depositors)

इसी प्रकार विलिज एवं बोगेन (Willis and Bogen) के अनुसार 'By Banking in the most general sense is meant the business of receiving conserving and utilising the funds of the community or any spec al section of it'—Willis and Bogen, Investment Banking p

जान पैगेट (John Paget) ने अधिक विस्तृत रूप से बैंक की परिभाषा देने का प्रयास किया है। इनके अनुसार कोई भी व्यक्ति अथवा सस्था तब तक बैंकर कहलाने का अधिकारी नहीं होगा जब तक कि (i) वह जमा के रूप में मुद्रा स्वीकार नहीं करता हो (ii) चालू खाते (Current Account) में रुपया नहीं प्राप्त करता हो (i) चेकों के निर्गमित करने तथा अपने ऊपर लिखे गये चेकों के भुगतान का कार्य न करता हो, (v) अपने ग्राहकों की ओर से सादे अथवा रेखांकित (Cros ed) चेकों को एकत्र करने का कार्य न करता हो और पुन कहा जा सकता है कि उक्त सभी कार्यों के करने पर भी कोई व्यक्ति अथवा सस्था तब तक बैंक नहीं कहला सकता है जबतक कि निम्नांकित शर्तें पूरी न करता हो (1) बैंकिंग उसका ज्ञात व्यवसाय नहीं हो, (2) वह अपने आप को बैंकर समझता हो और जनता भी उसी तरह से समझती हो, (3) इस प्रकार के व्यवसाय से धनोपार्जन का इरादा हो और (4) यह उसका मुख्य व्यवसाय हो। [No one and no body, corporate and otherwise can be a banker who does not —(i) take deposit accounts, (ii) take current accounts, (iii) issue and pay the cheques drawn upon himself, (iv) collect cheques crossed and uncrossed for his customers, and it might be said that even if all the above functions are performed by a person or a body corporate, he or it may not be a banker or bank, unless he or it fulfils the following conditions —(i) banking is h s or i s known occupation, (i) he or it may profess to be a banker and the public takes him or it as such, (ii) has an intention of earning by doing so, ard (iv) this business is not subsidiary

—*John Paget*

अब इनका पृथक-पृथक निम्न विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है—

(1) प्राथमिक कार्य (Primary Functions)—आधुनिक बैंकों के निम्नांकित दो प्राथमिक कार्य हैं :—

(क) जमा ग्रहण करना (Acceptance of Deposits), तथा

(ख) ऋण प्रदान करना (Advancing of Loans)।

(क) जमा ग्रहण करना (Acceptance of Deposits) —आधुनिक बैंकों का एक महत्त्वपूर्ण कार्य अपने ग्राहकों से जमा के रूप में मुद्रा प्राप्त करना है। समाज के अधिकांश व्यक्ति अथवा संस्था अपनी आय का एक अंश बचाकर रखते हैं। इनमें से कुछ व्यक्ति अथवा संस्था तो अपनी बचत को स्वयं उत्पादक कार्यों में लगाते हैं, किन्तु जिनकी बचत अत्यन्त अल्प मात्रा में होती है अथवा बचाने वाले में व्यावसायिक जोखिम उठाने की क्षमता नहीं होती, तो ये अपनी बचत को चोरी हो जाने के भय से अथवा ब्याज कमाने के लिए किसी बैंक में जमा करते हैं। बैंक में रुपया जमा करने वाले को उक्त लाभ के अतिरिक्त यह व्यवस्था भी होती है कि यह सुविधानुसार अपनी रकम को वापिस ले सकते हैं। बैंक के लिए भी इस प्रकार का जमा विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण होता है क्योंकि इसी के आधार पर कर्ज आदि देकर बैंक अपने लाभ का एक प्रमुख भाग प्राप्त करता है।

बैंक प्राय: तीन प्रकार से जमा प्राप्त करते हैं—

(i) स्थायी जमा (Fixed deposit)—स्थायी जमा खाते में रुपया एक निश्चित अवधि के लिए जमा किया जाता है। इस खाते से मुद्रा इस निश्चित अवधि के अन्दर नहीं निकाली जा सकती है। अतएव इस प्रकार के जमा को सावधि जमा (Time deposit) भी कहा जाता है। इस प्रकार के जमा पर बैंक आकर्षक ब्याज देते हैं। वास्तव में, अन्य सभी प्रकार के जमा की अपेक्षा इस पर ब्याज की दर भी अधिक होती है। बैंक के लिए भी स्थायी जमा खाते में रुपया प्राप्त करना अधिक लाभदायक होता है क्योंकि ऐसे जमा के भुगतान के लिए वह एक निश्चित अवधि तक निश्चिन्त हो जाता है।

(ii) चालू जमा (Current Account) —चालू जमा खाते (Current Deposit) में रुपया जमा करने वाला अपनी इच्छा के अनुसार रुपया जमा कर सकता है अथवा निकाल सकता है। इस पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं रहता। इस प्रकार का जमा व्यापारियों तथा बड़ी-बड़ी संस्थाओं के लिए विशेष सुविधाजनक होता है क्योंकि इस खाते में से वे दिन में कई बार भी चेक द्वारा रुपया निकाल सकते हैं। इसे Demand deposit भी कहा जाता है। साधारणत बैंक इस प्रकार के जमा पर नाम-मात्र का ब्याज (Nominal rate of interest) देते हैं, किन्तु कुछ विशेष परिस्थितियों में वे चेक द्वारा रुपया निकालने की सुविधा एवं प्रबन्ध के लिए ग्राहकों से कुछ मामूली रकम (incidental charges) भी वसूल करते हैं।

(iii) सचयी जमा (Savings Deposit) —इस प्रकार का खाता छोटी छोटी रकम वालों के लिए विशेष सुविधाजनक होता है। बैंक सचयी जमा खाते (Savings Bank account) में जमा की गयी रकम पर मामूली ब्याज (Moderate rate of interest) देता है। इस प्रकार के खाते में रुपया जमा करने वाला जब चाहे रुपया जमा कर सकता है, किन्तु रुपया निकालने का अधिकार सीमित रहता है। रुपया प्राय हफ्ते में एक या दो बार ही निकाला जा सकता है, वह भी एक निश्चित रकम से अधिक नहीं। इस प्रकार सचयी जमा खाता निश्चित एवं कम आय

वाले व्यक्तियों के लिए विशेष सुविधाजनक होता है। साथ ही, यह इस वर्ग के लोगों में रुपया बचाने की आदत को भी प्रोत्साहित करता है।

(ख) ऋण प्रदान करना (Advancing of Loans) —आधुनिक बैंकों का दूसरा महत्वपूर्ण प्राथमिक कार्य अपने ग्राहकों को ऋण प्रदान करना है। बैंक अपने ग्राहकों को बहुधा उत्पादक कार्यों के लिए कर्ज देते हैं। कर्ज लेने वालों से ये ब्याज भी वसूल करते हैं जो इनके लाभ का एक प्रमुख साधन है। बैंकों के ऋण देने (Advancing of loans) के सम्बन्ध में एक प्रमुख बात यह है कि बैंक अपने ग्राहकों को नकद रुपये में कर्ज नहीं देते। कर्ज की रकम प्राय. कर्ज लेने वाले के नाम उसके खाते में जमा कर दी जाती है। ऋणी समय-समय पर आवश्यकतानुसार अपने खाते में से रुपया निकालकर अपना कार्य करता है। बैंक के इस कर्ज देने की प्रक्रिया से ही जमा का सृजन (Creation of deposit) होता है जिसका आधुनिक आर्थिक व्यवस्था में बहुत अधिक महत्त्व है। बैंकों के लाभ का अधिकांश भाग ऋण देने से ही प्राप्त होता है, अतएव बैंकिंग व्यवसाय की सफलता भी बहुत कुछ ऋणों की समुचित व्यवस्था पर ही निर्भर करती है।

बैंक साधारणतया निम्नांकित प्रकार से ऋण प्रदान करते हैं —

(i) नकद साख (Cash Credit) —नकद साख (Cash Credit) व्यवस्था के अन्तर्गत बैंक अपने ग्राहकों को ऋण-पत्र (Bonds), व्यापारिक माल (Commercial goods) अथवा अन्य स्वीकृत प्रतिभूतियों (Securities) के आधार पर ऋण प्रदान करते हैं। इस प्रकार के ऋण में ऋण की रकम को एक बार में निकालना आवश्यक नहीं है। ऋणी अपनी सुविधानुसार ऋण की रकम को निकालते रहता है। जब बैंक व्यापारिक माल की जमानत पर ऋण देता है तो वह इस माल को अपने गोदाम में जमा कर देता है और ऋण की वसूली के पश्चात् छोड़ता है। इस प्रकार का ऋण हमारे देश के व्यापारियों में अत्यधिक प्रचलित है।

(ii) अधिविकर्ष (Overdraft) —जब कभी भी कोई बैंक अपने ग्राहक को उसके खाते में जमा की गयी रकम से अधिक रकम निकालने की सुविधा प्रदान करता है तो इसे अधिविकर्ष की सुविधा कहते हैं। इसके अन्तर्गत ग्राहक के चालू खाते में जितनी रकम जमा रहती है उससे अधिक रकम निकालने की सुविधा बैंक देता है। इस अधिक रकम के लिए बैंक अपने ग्राहक से उचित जमानत (Security) लेता है। साथ ही, इस प्रकार के ऋण पर बैंक सूद बहुत अधिक लेता है। अधिविकर्ष की सुविधा अल्पकाल के लिए ही दी जाती है। अधिविकर्ष एवं नकद साख-प्रणाली में एक महत्वपूर्ण अन्तर यह है कि जबकि नकद साख प्रणाली के अन्तर्गत कोई भी व्यक्ति ऋण ले सकता है, अधिविकर्ष की सुविधा बैंक में जमा रखनेवाले केवल कुछ प्रमुख ग्राहकों को ही वह प्रदान करता है।

(iii) विनिमय बिलों को भुनाना (Discounting of Bills of Exchange) —बैंक द्वारा व्यापारियों को ऋण देने का यह एक अत्यधिक प्रचलित एवं महत्वपूर्ण तरीका है। बैंक विनिमय बिलों (Bills of Exchange) अथवा अन्य व्यापारिक बिलों को भुना कर भी व्यापारियों को कर्ज देता है। इस प्रकार का ऋण अल्पकालीन होता है। बैंक विनिमय बिलों को भुनाने में बट्टा (Discount) लेता है। बट्टा की दर (Rate of discount) बिलों की परिपक्वता की अवधि (Time of Maturity) तथा बिल से सम्बन्धित व्यापारियों की साख पर निर्भर करती है। आजकल व्यापार में अधिकांश सौदे उधार किये जाते हैं परन्तु विक्रेता अथवा उत्पादक अनिश्चित काल तक माल उधार नहीं दे सकता, अतएव वह खरीददार के

नाम एक विनिमय बिल जारी करता है और खरीददार उसे स्वीकार करता है। अब विक्रेता उस बिल को अपने पास बहुत समय तक नहीं रखकर अपने बैंक से भुना लेता है। बैंक उस बिल से बट्टा की रकम को काटकर शेष रकम भनाने वाले व्यापारी को दे देता है। जब बिल की अवधि पूरी हो जाती है तब उस पर अंकित रकम बैंक खरीददार से प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार बैंक के कर्ज देने का यह भी प्रमुख तरीका है।

(iv) ऋण एवं अग्रिम (Loans and advances) —जब ऋण एक पूर्व निश्चित अवधि के लिए दिया जाता है तो इसे ऋण अथवा अग्रिम कहते हैं। जब तक इस प्रकार के ऋण का पूर्णतया भुगतान नहीं हो जाता तबतक इसका अन्त नहीं समझा जाता है। इस प्रकार के ऋण के लिए बैंक उचित जमानत (Security) लेता है। इस पर ब्याज की दर भी बहुत अधिक रहती है क्योंकि यह एक लम्बी अवधि के लिए दिया जाता है।

(2) सामान्य उपयोगिता-सम्बन्धी कार्य (General Utility Functions) :— उपरोक्त दोनों प्राथमिक कार्यों के अतिरिक्त आधुनिक बैंक बहुत-से अन्य कार्यों का भी सम्पादन करते हैं जिन्हें सामान्य उपयोगिता-सम्बन्धी कार्य कहा जाता है। इनमें निम्नलिखित विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं :—

(क) बैंक नोट जारी करना :—प्राचीनकाल में बैंकों का यह भी एक महत्त्वपूर्ण कार्य था। प्रत्येक बैंक अपने निजी नोट जारी करते थे किन्तु आजकल यह अधिकार देश के केवल केन्द्रीय बैंक (Central Bank) को ही प्राप्त है। उदाहरण के लिए, भारत में पत्र-मुद्रा जारी करने का अधिकार केवल रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया (Reserve Bank of India) तथा इंगलैंड में बैंक ऑफ इंगलैंड (Bank of England) को ही प्राप्त है।

(ख) साख-प्रमाण-पत्रों तथा अन्य साख-पत्रों को जारी करना (To issue letters of credit and other credit instruments) :—आधुनिक बैंकर अपने ग्राहकों की सुविधा के लिए बहुत प्रकार के साख पत्रों को भी जारी करते हैं। ये अपने ग्राहकों के लिए साख-प्रमाण-पत्र (Letter of credit) एवं यात्रियों के चेक (Travellars cheque) जारी करते हैं जिनकी सहायता से ये व्यापारी विदेशों से भी सुगमतापूर्वक माल उधार खरीदते हैं। इस प्रकार विभिन्न प्रकार के साख-पत्रों को जारी करके आधुनिक बैंक वस्तुओं तथा सेवाओं के विनिमय एवं आदान-प्रदान में सहायता पहुँचाते हैं।

(ग) विदेशी विनिमय का क्रय-विक्रय (Dealings in Foreign Exchange) :— आधुनिक बैंक अपने ग्राहकों के लिए विदेशी विनिमय के क्रय-विक्रय का कार्य भी करते हैं और इस प्रकार ये विदेशी व्यापार में बहुत अधिक सहायक होते हैं। विदेशी विनिमय-सम्बन्धी कार्य साधारणतया एक विशेष प्रकार के बैंक जिन्हें विदेशी विनिमय बैंक कहा जाता है, करते हैं। किन्तु हमारे देश में कुछ प्रमुख व्यापारिक बैंक भी इन कार्यों को सम्पन्न करते हैं। इस प्रकार आधुनिक बैंक अपने ग्राहकों की विदेशी विनिमय सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति में भी सहायक होते हैं।

(घ) मूल्यवान वस्तुओं तथा आभूषणों की सुरक्षा (Safe custody of precious materials and ornaments) —बैंक ग्राहकों के आभूषण एवं अन्य मूल्यवान वस्तुएँ तथा कागज आदि सुरक्षित रखने की भी सुविधा प्रदान करता है। बैंक इस कार्य के लिए एक तिजोरी (Safe deposit vaults) रखते हैं जिनकी ताली ग्राहकों के ही पास होती है। ग्राहक इस तिजोरी में अपने बहुमूल्य सामानों को रखते हैं।

(च) व्यापारिक सूचना तथा आँकड़े आदि एकत्र करना (Compilation of Statistics) :—कुछ प्रमुख बैंक व्यापारिक सूचना तथा आँकड़े आदि एकत्र करने का कार्य भी करते हैं। इन आँकड़ों को वे अपने ग्राहको को प्रदान करते हैं जिससे उन्हें व्यापार मे सुविधा होती है।

उपरोक्त कार्यों के अतिरिक्त आधुनिक बैंक सामान्य उपयोगिता सम्बन्धी कई अन्य कार्य भी सम्पन्न करते हैं। ये अपने ग्राहको का रुपया एक स्थान से दूसरे स्थान मे भेजने (Remittance) की सुविधा कम ही खर्च मे प्रदान करते हैं। सरकार तथा अन्य संस्थाओं के ऋणो का अभिगोपन (Underwriting) भी करते हैं तथा अपने ग्राहको को धन-सम्बन्धी आवश्यक परामर्श भी प्रदान करते हैं।

(3) एजेन्सी सम्बन्धी कार्य (Agency Functions) —उपरोक्त कार्यों के अतिरिक्त आधुनिक बैंक अपने ग्राहकों के एजेन्ट के रूप भी कुछ कार्य सम्पन्न करते हैं। इन कार्यों को एजेन्सी-सम्बन्धी कार्य कहा जाता है। एजेन्सी-सम्बन्धी कार्यों के अन्तर्गत बैंक के निम्नांकित कार्य प्रमुख हैं :—

(क) चेक तथा अन्य साख-पत्रो के भुगतान को एकत्र करना :—बैंक अपने ग्राहकों के चेक तथा अन्य साख-पत्रो का भुगतान एकत्र करते हैं। ये अपने ग्राहको के हिस्सो (Shares) आदि पर हुए लाभ को भी एकत्र करते हैं।

(ख) प्रतिभूतियो का क्रय-विक्रय (Sale and Purchase of securities) —बैंक अपने ग्राहको के आदेशानुसार उनके लिए प्रतिभूतियो का क्रय-विक्रय भी करते हैं। इससे ग्राहको को बहुत अधिक सुविधा होती है।

(ग) बैंक अपने ग्राहको की ओर से बीमा कम्पनियो के प्रीमियम (Premiums) भी चुकाते हैं। इसके अतिरिक्त बैंक अपने ग्राहको के आदेशानुसार किराये, ऋण की किस्तें, आयकर (Income tax) तथा ब्याज आदि भी चुकाते हैं।

(घ) प्रतिनिधि की तरह कार्य करना (To act as Attorney) :—बैंक अपने ग्राहको की ओर से मुख्तार-आम अथवा प्रतिनिधि (Attorney) की तरह भी कार्य करते हैं।

इस प्रकार आधुनिक बैंकर उपरोक्त सारे कार्यों एव सेवाओ को सम्पन्न करते हैं। आधुनिक बैंको के कार्यों के विवरण आधुनिक आर्थिक व्यवस्था मे इनका महत्व बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है। बैंक अपने ग्राहको के लिए व्यापार तथा व्यवसाय-सम्बन्धी प्राय सभी कार्य करते हैं। ये जनसाधारण मे धन-सचय की आदत उत्पन्न करते है, सचित धन को उत्पादन के कार्य मे लगाते हैं, व्यापारियो को ऋण प्रदान कर व्यवसाय की अभिवृद्धि मे सहायता प्रदान करते हैं तथा अपने ग्राहको की अनेक प्रकार की सेवाएं करते है। बैंक के इन कार्यों को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि आधुनिक आर्थिक व्यवस्था के विकास के लिए बैंको का समुचित विकास नितांत आवश्यक है।

विशेष अध्ययन सूची

1. Crowther — An Outline of Money, Chapter 2.
2. Sayers — Modern Banking, Chapter 1
3. R. P. Kent — Money and Banking, Chapter 9

अध्याय : 6

बैंक जमा का सृजन
(The Creation of Bank Deposit)

बैंक जमा अथवा साख का महत्त्व (Importance of Bank Deposit) —आधुनिक समय मे किसी देश की मुद्रा की कुल पूर्ति के दो निर्णायक तत्त्व हैं—(क) चलन की मुद्रा (Currency or pocket book money), एव (ख) बैंक जमा (Bank deposit or Cheque Book money)। चलन की मुद्रा मे भी दो प्रकार की मुद्रा सम्मिलित रहती है—(i) सिक्के (coins) जो सरकारी टकसालो म ढाले जाते हैं। उदाहरण के लिए, हमारे देश मे एक रुपया, पचास पैसे, पचीस पैसे, दस पैसे, पाँच पैसे आदि के सिक्के प्रचलन मे हैं। (ii) पत्र-मुद्रा (Paper money) - जो आजकल प्राय सभी देशो मे केन्द्रीय बैंक द्वारा जारी की जाती है। हमारे देश मे भी एक रुपये के नोटो के अतिरिक्त, जो कि भारत सरकार के वित्त विभाग द्वारा जारी की जाती हैं, अन्य सभी प्रकार की पत्र-मुद्रा जारी करने का कार्य देश के केन्द्रीय बैंक, रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया (Reserve Bank of India) द्वारा ही किया जाता है।

व्यावसायिक बैंको का एक प्रमुख कार्य बैंक-जमा अथवा साख का सृजन (Creation of Bank deposit or credit) भी है। इसीलिए सुप्रसिद्ध अर्थशास्त्री प्रो० सेयर्स (Seyers) ने कहा कि "बैंक केवल मुद्रा जमा करने वाली सस्था ही नही है, वरन् एक अर्थ में मुद्रा का निर्माण करनेवाली सस्था भी है।" (Banks are not merely purveyors of money, but in an important sense also manufacturers of money) किन्तु आखिर बैंक जमा है क्या? बैंक जमा बैंक के पास किसी व्यक्ति अथवा सस्था का ऋण है। (Bank deposit is simply debt of a Bank to an individual or corporation) आज के युग मे बैंक-जमा का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। औद्योगिक दृष्टि से विकसित राष्ट्रो की मुद्रा की कुल पूर्ति मे बैंक-जमा, जिसे कभी-कभी बैंक मुद्रा (Bank money) भी कहते हैं, की अत्यधिक प्रधानता रहती है। निम्नाकित तालिका से सितम्बर, 1966 ई० मे ग्रेट ब्रिटेन की कुल मुद्रा को पूर्ति मे बैंक जमा के महत्त्व का अन्दाजा[1] लगता है —

	(दस लाख पौंड मे)
(1) सिक्के तथा नोट जो प्रचलन मे थे (Coins and Notes in circulation)	2,173
(2) बैंक-जमा (Bank Deposit)	9,317
कुल (Total)	11,490

उपरोक्त तालिका से ग्रेट ब्रिटेन की मौद्रिक व्यवस्था मे बैंक-जमा का महत्त्व बिलकुल स्पष्ट हो जाता है। सयुक्त राज्य अमेरिका तथा अन्य विकसित राष्ट्रो मे भी बैंक-जमा का इसी प्रकार से अत्यधिक महत्त्व है। इन देशो मे दैनिक भुगतान के कार्य मे बैंक जमा का बहुत बड़े पैमाने पर प्रयोग किया जाता है। अब तो भारत-जैसे अर्द्ध-विकसित देशो मे भी इसका महत्त्व दिन-प्रतिदिन बढते ही जा रहा है।

1. 5 जनवरी 1973 को भारत में प्रचलन में सिक्के तथा पत्र-मुद्रा की मात्रा 4957.4 करोड़ तथा बैंक-जमा (Deposit money with the Public) 3697·3 करोड़ रुपये थी, यानी बैंक जमा कुल मुद्रा की पूर्ति का प्राय 4 प्रतिशत भाग था।

बैंक-जमा सृजन के तरीके
(Methods of Creation of Bank Deposit)

व्यावसायिक बैंक जमा अथवा साख का सृजन निम्नांकित तरीकों से करता है :—

(1) अपने ग्राहकों से नकद रुपया जमा के रूप मे प्राप्त कर;

(2) अपने ग्राहकों को ऋण देकर; तथा

(3) प्रतिभूतियो, कम्पनी के हिस्सो एव ऋण-पत्रो अथवा अन्य प्रकार की सम्पत्तियों को खरीद कर।

(1) **नकद मुद्रा जमा के रूप मे स्वीकार कर** :—अपने ग्राहको से नकद मुद्रा जमा के रूप मे प्राप्त कर व्यावसायिक बैंक बैंक-जमा का सृजन करते हैं। ग्राहक बैंक मे नकद मुद्रा अधिक सुरक्षित रहने या चेक के द्वारा भुगतान की सुविधा के उद्देश्य से जमा करते हैं। जब कोई भी व्यक्ति बैंक के यहाँ नकद मुद्रा के रूप मे जमा करता है तो वह बैंक का साधन (asset) हो जाता है। इसके बदले बैंक अपने ग्राहक के खाते मे उतनी ही रकम जमा कर लेता है जिससे उसके दायित्व मे भी वृद्धि हो जाती है। इस प्रकार के जमा को प्राथमिक जमा (*Primary deposit*) कहा जाता है। यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि इससे समाज की कुल मुद्रा की पूर्ति मे कोई वृद्धि नही होती, केवल मुद्रा ग्राहक के हाथ से निकल कर बैंक के हाथ मे चली जाती है। किन्तु इस प्रकार के जमा का महत्व इस बात मे है कि इसी नकद जमा के आधार पर बैंक ऋण देकर *अथवा प्रतिभूतियो एव अन्य प्रकार की सम्पत्ति को खरीद कर और अधिक जमा का सृजन* करता है।

(2) **अपने ग्राहको को ऋण देकर** :—बैंक अपने ग्राहको को ऋण देकर भी साख अथवा जमा का सृजन करते हैं। उदाहरण के लिए, यदि बैंक किसी व्यक्ति को 100) रुपये का ऋण देता है तो वह अपनी तिजोरी खोलकर उसे 100 रुपये नकद मुद्रा के रूप मे नहीं देता। वह ऋण की रकम ऋणी के खाते मे जमा कर लेता है। ऋणी उस रकम को अपनी सुविधानुसार चेक द्वारा खर्च करता है। *बैंकों द्वारा ऋण देने का यही तरीका सर्वाधिक प्रचलित है।* इस प्रकार से ऋण देने के परिणामस्वरूप बैंक जमा (Bank Deposit) मे वृद्धि होती है। अत. यह कहा जाता है कि बैंक का "**प्रत्येक ऋण जमा का सृजन करता है।**" (Every loan creates a deposit) यहाँ पर ध्यान देने योग्य बात यह है कि बैंक का जमा बैंक दायित्व (Liability) होता है। बैंक का यह दायित्व मुद्रा का कार्य करता है, अतएव 100) रुपये के ऋण से मुद्रा की कुल पूर्ति मे 100) रुपये की वृद्धि होती है। *इस प्रकार बैंक अपने दायित्व को बढ़ाकर ही अपने* ग्राहकों को ऋण देता है। इसके बदले मे ऋणी का ऋण चुकाने का फायदा बैंक के पास रहता है *तथा उसे उस ऋण पर ब्याज भी मिलता है। साथ ही, बैंक ऋणी से ऋण की जमानत के* रूप में कुछ साधन भी लेता है। जो भी हो, ऋण देने के परिणामस्वरूप बैंक जमा का सृजन होता है एव बैंक का दायित्व भी बढ जाता है। इस प्रकार एक ओर तो बैंक अपने ऊपर दावे (claims) का सृजन करता है, तो दूसरी ओर *बैंक का दावा उन व्यक्तियो पर हो जाता है जिन्हे* वह ऋण देता है। और, इन दावो के विनिमय से ही बैंक मुद्रा का सृजन होता है। (The process of creation of bank deposit is essentially an exchange of claims) इन दावो के विनिमय का आर्थिक महत्व इस बात मे है कि बैंक के ऊपर का दावा, *यानी बैंक का दायित्व, मुद्रा की तरह है जिसका प्रयोग सामान्य क्रय-शक्ति* (General purchasing power) के रूप मे किया जा सकता है, किन्तु वह ऋण, जिससे इसका विनिमय होता है, मुद्रा नहीं है।

(3) सरकार प्रतिभूतियों किसी कम्पनी के हिस्से एवं ऋण-पत्रों अथवा अन्य सम्पत्ति खरीद कर :—किन्तु केवल ऋण देकर ही बैंक जमा का सृजन नहीं करते। जब कभी कोई बैंक किसी व्यक्ति से 100) रुपये की प्रतिभूतियाँ (securities) अथवा किसी कम्पनी के हिस्से एवं ऋण-पत्र आदि खरीदता है तो वह बेचनेवाले को 100 रुपये की रकम नकद मुद्रा के रूप मे नहीं देकर उतनी रकम बेचने वाले के खाते मे जमा कर लेता है। इससे भी बैंक के जमा मे 100 रुपये की वृद्धि होती है। इसके लिए यह कोई आवश्यक नही कि विक्रेता उसी बैंक का ग्राहक हो क्योंकि यदि वह व्यक्ति उस बैंक विशेष का ग्राहक नही भी है तो वह अपने 100 रुपये के चेक को किसी बैंक मे ही जमा करेगा। इसमे भी बैंको के कुल जमा मे वृद्धि होगी।

इससे बैंक के तलपट (Blance sheet) के दोनो ओर मे निम्न प्रकार से परिवर्तन हो जाता है—

दायित्व (Liabilities)	रु०	साधन (Assets)	रु०
जमा (Deposit)—	100	विनियोग (Investment)	100

प्रतिभूतियो अथवा किसी कम्पनी के हिस्सो की खरीद के सम्बन्ध मे जो बात पायी जाती है, बैंक द्वारा किसी भी अन्य प्रकार की सम्पत्ति अथवा जायदाद के क्रय के सम्बन्ध मे भी ठीक वही है। जब बैंक कोई मकान, जमीन या किसी अन्य प्रकार की सम्पत्ति को खरीदता है तो वह चेक द्वारा ही उसका भुगतान करता है। इससे बैंक के जमा की रकम बढ जाती है। वास्तव मे, बैंक ऐसी स्थिति मे है कि वह अपने आई० ओ० यू० (I. O U) को देकर अपनी आवश्यकता की कोई भी वस्तु प्राप्त कर सकता है क्योंकि बैंको के आई० ओ० यू० (I. O U.) मुद्रा की तरह मान्य होते हैं।

यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि बैंक जिस जमा अथवा साख का सृजन करता है वह उसका दायित्व (Liability) होता है क्योंकि उतनी रकम उसे अपने जमा करने वाले को चुकानी पडती है। इस प्रकार बैंक जमा बैंको का दायित्व है किन्तु बैंक अपने दायित्व को इस प्रकार क्यो बढ़ाना चाहता है ? इसका कारण यह है कि बैंक एक लाभ कमानेवाली संस्था है। (Bank is a profit-seeking institution) इसका संचालन अधिकतम लाभ कमाने के उद्देश्य से ही किया जाता है और बैंक अपने ग्राहकों को कर्ज देकर ही अपने लाभ का अधिकतम भाग प्राप्त करता है। बैंक अपने दायित्व को बढाने मे इस बात पर ध्यान रखता है कि उसके दायित्व उसके साधनो (assets) से पूर्णत पूरित हो। जमा अथवा साख-सृजन के पूर्व बैंक अपने ग्राहको से जमानत के रूप मे कुछ साधन (assets) ले लेता है। इस प्रकार बैंक साधनो की वृद्धि कर ही साख का सृजन करते हैं और इन साधनो से ही बैंक अपने मुनाफे का अधिकतर भाग प्राप्त करते हैं।

इस प्रकार बैंक साधनो (assets) के आधार पर ही जमा अथवा साख का सृजन करता है। बैंक के साधन (assets) कई प्रकार के होते हैं जिनमे निम्नलिखित विशेष रूप से प्रमुख हैं —

(क) नकद मुद्रा (Cash),

(ख) ऋण एवं अग्रिम (Loans and advances)

(ग) बट्टा की गयी बिलें (Bills Discounted), तथा

(घ) विनियोग (Investment)

नकद मुद्रा जमा के रूप में प्राप्त कर भी बैंक-जमा का सृजन करता है। जब कोई

ग्राहक बैंक के यहाँ नकद मुद्रा के रूप म जमा करता है तो वह बैंक का साधन (Asset) हो जाता है। इसके बदले बैंक अपने ग्राहक के खाते म उतनी रकम जमा कर लेता है जिससे उसके दायित्व मे भी वृद्धि हो जाती है। निम्नांकित उदाहरण से इसे अधिक स्पष्ट किया जा सकता है—

दायित्व (Liabilities)	रु०	साधन (Assets)	रु०
जमा (Deposit)	100	बैंक के पास नकद मुद्रा (Cash in hand)	100

बैंक जमा का सृजन बैंक द्वारा ऋण एव अग्रिम (Loans and advances) देकर भी किया जाता है। ऋण देने के लिए बैंक ऋणी से कुछ undertaking लेता है तथा जमानत क रूप म प्रतिभूतियो को भी रखता है। इसके बदले ऋण की रकम ऋणी के खाते मे जमा कर दी जाती है जिसे वह अपनी सुविधानु ार चेक द्वारा निकाल कर प्रयोग कर सकता है। इसके फलस्वरूप बैंक का दायित्व बढ जाता है और चूँकि बैंक का दायित्व मुद्रा के रूप म प्रयोग किया जाता है, अतएव इससे मुद्रा की पूर्ति भी बढ जाती है। साथ ही, इससे बैंक के साधनो मे भी वृद्धि होती है। निम्नांकित उदाहरण से यह अधिक स्पष्ट हो जाता है —

दायित्व (Liabilities)	रु०	साधन (Assets)	रु०
जमा (*Deposit, i e credit-* balances of clients)	100	ऋण (Loans to clients)	100

बैंक ऋण के ऊपर अपने ग्राहको से एक निश्चित दर पर ब्याज भी लेता है जो उसके लाभ का एक प्रधान होता है।

अधिविकर्ष (Overdraft) के आधार पर ऋण देने तथा बैंक-मुद्रा के सृजन का तरीका बहुत ही सरल है। इसमे बैंक अपने ग्राहक को उसकी जमा की गयी रकम से अधिक रकम निकालने की सुविधा प्रदान करता है। इस सुविधा के लिए वह अपने ग्राहको से जमानत के रूप मे प्रतिभूतियो (Securities) को लेता है ताकि ग्राहक द्वारा समय पर रुपया नही चुकाये जाने पर वह इन प्रतिभूतिया को बेचकर अपनी रकम प्राप्त कर सके। बैंक अपने ग्राहक के खाते मे अधिविकर्ष की रकम को जमा कर देता है और ग्राहक अपने सुविधानुसार चेक द्वारा निकाल कर इसे खर्च करता है। इस सुविधा के लिए बैंक अपनी ग्राहको से सूद भी वसूल करता है। इस प्रकार अधिविकर्ष से भी बैंक-जमा का सृजन होता है। इस रकम का प्रयोग वस्तुओ तथा सेवाओ के क्रय में किया जा सकता है अतएव इससे मुद्रा की पूर्ति मे भी वृद्धि होती है। एक निश्चित समय के बाद जब ग्राहक अधिविकर्ष की रकम चुका देता है तो उसका ऋण समाप्त हो जाता है और बैंक-जमा की रकम मे भी कमी हो जाती है।

विनिमय बिलो (Bills of Exchange) को बट्टा कर भी बैंक जमा का सृजन करता है। जब कोई बैंक अपने ग्राहको के बिलो का बट्टा करता है तो वह बिल को साधन के रूप मे प्राप्त करता है जिसके बदले मे वह अपने ग्राहक के खाते मे बट्टे की रकम जमा करता है। इस प्रकार इससे बैंक के साधन एव दायित्व (*Assets and liabilities*) दोनो मे वृद्धि होती है। निम्नांकित उदाहरण से यह अधिक स्पष्ट होता है —

दायित्व (Liabilities)	रु०	साधन (Assets)	रु०
जमा (Deposit)	100	बट्टा की गयी बिलें (Bills discounted)	100

विनिमय बिलो को बट्टा करने से बैंक को कमीशन के रूप मे लाभ प्राप्त होता है। इसी प्रकार बैंक जब कभी सरकारी प्रतिभूतियो अथवा किसी कम्पनी के हिस्से एव ऋण पत्रो

(Shares and debentures) को खरीदता है तो वह उसका भुगतान उसके ऊपर चेक के द्वारा करता है, यानी सरकारी प्रतिभूतियों एवं हिस्सों के बदले में उतनी रकम बेचने वाले के नाम जमा कर देता है। इसके फलस्वरूप भी बैंक के साधन एवं दायित्व में समान रूप से वृद्धि होती है। मकान तथा जमीन आदि खरीदने पर भी ऐसा होता ही है।

इस प्रकार व्यावसायिक बैंक विभिन्न तरीकों से जमा अथवा साख का सृजन करते हैं। बैंक-जमा (Bank deposit) व्यावसायिक बैंकों का दायित्व (Liability) है जिसका सृजन वह अपने साधनों (Assets) में वृद्धि कर ही करता है, बैंक के इस कार्य का महत्त्व इस बात में है कि समाज में इसके जमा (Bank deposit) का प्रयोग मुद्रा की तरह होता है, अतएव इसके फलस्वरूप देश की मुद्रा की कुल पूर्ति में वृद्धि ही होती है।

बैंकों के जमा अथवा साख-सृजन की शक्ति की सीमाएँ

(Limitations on the Powers of Banks to create Credit)

अब हमें यह देखना आवश्यक है कि बैंक किस सीमा तक जमा अथवा साख का सृजन कर सकते हैं? हम यह जानते हैं कि बैंक एक लाभ कमाने वाली संस्था है। (Bank is a profit-seeking institution.) अतएव अपने लाभ की मात्रा को अधिकतम बनाने के लिए ये अधिकाधिक मात्रा में ऋण देकर अपने साधनों की वृद्धि का प्रयत्न करते हैं। इन्हीं साधनों से बैंकों के लाभ का अधिकांश भाग प्राप्त होता है। अतएव बैंक अधिक-से-अधिक मात्रा में जमा का सृजन करना चाहता है। किन्तु साख अथवा जमा की वृद्धि के परिणामस्वरूप देश की मुद्रा की पूर्ति में वृद्धि होती है जिसका मूल्य-तल, उत्पादन एवं रोजगार आदि पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। किन्तु बैंक असीमित मात्रा में साख का निर्माण नहीं कर सकते। केन्स का इस सम्बन्ध में यह कथन अत्यंत महत्त्वपूर्ण है : "यद्यपि बैंक साख की सृष्टि करते हैं फिर भी साख-सृजन की मात्रा असीमित एवं मनमानी नहीं होती।" (Althought the bankers create credit, the amount in which they create is not arbitrary and unlimited It is governed on the one hand by the requirements of trade and on the other by the state of there reserve.) वास्तव में, बैंकों के जमा अथवा साख-सृजन की शक्ति की निम्नांकित सीमाएँ हैं जिससे वे मनमाने तौर पर जमा अथवा साख का सृजन नहीं कर सकते :—

1. नकद कोष का अनुपात (Percentage of Cash Reserve to total liabilities) :—साख अथवा जमा-सृजन की पहली सीमा नकद कोष का अनुपात है। प्रत्येक बैंक को अपने कुल जमा का एक निश्चित प्रतिशत भाग नकद कोष (Cash Reserve) के रूप में रखना पड़ता है। एक छोटे नकद कोष के आधार पर साख के विराट भवन का निर्माण होता है। (It is thus on a small cash foundation, a vast superstructure of credit is built up.) हम यह देख चुके हैं कि बैंक जिस मुद्रा का सृजन करता है वह बैंक का दायित्व भी है। अपने इस दायित्व को पूरा करने के लिए बैंक को सदा तत्पर रहना पड़ता है। साख का सृजन इस बात पर आधारित है कि बैंक जितना जमा का सृजन करता है, उसका एक छोटा भाग ही भुगतान के लिए बैंक के पास किसी एक समय में आता है। प्रतिदिन बैंक के कुछ ग्राहक अपनी दैनिक आवश्यकताओं के लिए बैंक से कुछ नकद मुद्रा की माँग करते हैं। इस प्रकार की माँग बैंक के कुल जमा का एक बहुत ही छोटा भाग होता है। किन्तु अपने ग्राहकों की इस माँग को पूरा करने के लिए बैंक को सदा तत्पर रहना पड़ता है। इस उद्देश्य से बैंक अपने कुल जमा का एक निश्चित प्रतिशत, साधारणतया 8 से 10 प्रतिशत भाग नकद कोष (Cash Reserve) के रूप

मे रखता है। यह बैंकिंग व्यवसाय की सफलता के लिए अनिवार्य है क्योंकि बैंक का सम्पूर्ण कारोबार ही उसकी साख, उसके प्रति जनता के इस विश्वास पर निर्भर करता है कि बैंक के पास नकद मुद्रा की माग की पूर्ति के लिए पर्याप्त शक्ति एव साधन है। जब तक बैंक के पास पर्याप्त मात्रा मे नकद कोष रहता है तब तक उसकी अदायगी की क्षमता पर कोई सदेह नहीं करता। किन्तु जब नकद कोष की रकम एक निश्चित अनुपात से कम होने लगती है तो जमा करनेवाले आशकित हो जाते हैं जिससे वे भुगतान के लिए धावा बोलना प्रारम्भ कर देते हैं। इससे बैंक के टूट जाने की नौबत आ जाती है। इसके फलस्वरूप प्रत्येक बैंक एक निश्चित अनुपात मे नकद कोष अपने पास सदा रखता है। साख-निर्माण की इस सीमा का अविकसित देशों (Under-developed *countries*) मे, *जहाँ बैंकिंग प्रथा के अधिक विकसित न होने के कारण व्यक्ति चेकों को बैंक* मे जमा करने के बजाय भुना कर नकद मुद्रा प्राप्त करना चाहते हैं, अधिक महत्त्व है।

नकद कोष का अनुपात निम्नांकित बातों पर निर्भर करता है :—

(क) देश मे नकद मुद्रा की मात्रा (The total amount of cash in the *country*),

(ख) नकद मुद्रा की वह मात्रा, जो जनता अपने पास रखना चाहती है (The amount of cash which the public wishes to hold), तथा

(ग) जमा एव नकद कोष का न्यूनतम अनुपात जो बैंक सुरक्षित समझते हैं (The minimum percentage of cash to deposit which the banks consider safe)।

(क) देश मे नकद मुद्रा की मात्रा (*The total amount of cash in the* country) .—साख अथवा बैंक जमा का सृजन नकद मुद्रा के आधार पर ही किया जाता है। डॉ० कॉक ने इस सम्बन्ध मे ठीक ही कहा है कि "Credit system is just like an inverted pyramid based on *the slender neck of cash reserves*" अतएव जिस देश मे नकद मुद्रा की मात्रा जितनी ही अधिक होगी उस देश मे उतनी ही अधिक मात्रा मे साख का सृजन हो सकेगा। नकद मुद्रा के अन्तर्गत पत्र-मुद्रा तथा सिक्के आते हैं, किन्तु विश्व के प्राय सभी देशो मे आजकल पत्र-मुद्रा की ही प्रधानता है। पत्र-मुद्रा केन्द्रीय बैंक द्वारा जारी की जाती है। *जब केन्द्रीय बैंक पत्र-मुद्रा अधिक मात्रा मे जारी करता है* तो इससे बैंक के नकद कोष मे वृद्धि हो जाती है जिससे ये साख का प्रसार करने लगते हैं। इसके विपरीत जब केंद्रीय बैंक पत्र-मुद्रा *की मात्रा को कम करता है तो बैंक के नकद जमा की रकम भी कम हो जाती है* जिससे वे साख का सकुचन करने लगते हैं। इस प्रकार देश मे उपलब्ध नकद मुद्रा की कुल मात्रा भी बैंकों के *साख-सृजन की शक्ति को प्रभावित करती है*।

(ख) नकद मुद्रा की वह मात्रा जो जनता अपने पास रखना चाहती है (The amount of cash which the public wishes to hold) .—*नकद कोष का अनुपात नकद* मुद्रा की उस मात्रा पर जो जनता अपने पास रखना चाहती है, निर्भर करता है। यह जनसंख्या एव जनता की मौद्रिक तथा बैंकिंग आदतों (Monetary and banking habits of the public) पर निर्भर करता है। जनसंख्या मे कमी अथवा वृद्धि होने से नकद मुद्रा की माग मे भी कमी अथवा वृद्धि होती है। जनता की बैंकिंग एव मौद्रिक आदतों का भी इस पर प्रभाव पडता है। जब किसी देश मे चेक तथा *अन्य साख-पत्रों की अपेक्षा लोग नकद मुद्रा का ही अधिकाधिक* प्रयोग करते हैं तो बैंक के पास नकद मुद्रा की कमी हो जाती है जिससे वे अधिक साख का सृजन नही कर सकते। इसके विपरीत जिस देश में छोटे-छोटे लेन-देन के कार्यों के लिए भी चेक

आदि का ही अधिक प्रयोग किया जाता है, वहाँ लोग अपने पास नकद मुद्रा कम रखना चाहेंगे जिससे बैंको के पास नक्द जमा की रकम अधिक हो जायगी जिसके आधार पर वे अधिक जमा का सृजन कर सकेंगे। इस प्रकार जनता की मौद्रिक तथा बैंकिंग-सम्बन्धी आदतें भी बैंकों के जमा-सृजन की शक्ति को प्रभावित करती हैं।

(ग) जमा एव नकद कोप का न्यूनतम अनुपात जो बैंक सुरक्षित समझते हैं (The minimum percentage of cash to deposit which the banks consider safe) .—बैंक जमा एव नकद कोप का अनुपात बहुत कुछ बैंको पर निर्भर करता है। बैंक अपने अनुभव के आधार पर यह जानता है कि जमा एव नकद कोप का एक न्यूनतम अनुपात रखना उसके लिए हर हालत मे सुरक्षित होगा और प्रत्येक बैंक उसी अनुपात मे अपने यहाँ नकद मुद्रा रखने का प्रयत्न करता है। कुछ देशो मे इस अनुपात का निर्णय बैंको की मर्जी पर छोड दिया जाता है, किन्तु कुछ देशो मे इसके लिए कानून द्वारा एक खास अनुपात निश्चित कर दिया जाता है। उदाहरण के लिए, वर्तमान समय मे सयुक्त राज्य अमेरिका मे फेडरल रिजर्व बैंक से सबधित सभी सदस्यो बैंको को अपने सावधि जमा (Time Deposit) का 6 प्रतिशत तथा माग जमा (Demand Deposit) का 13 से 17·5 प्रतिशत तक बैंको की स्थिति (Location) के अनुसार नकद कोप के रूप मे रखना पडता है।[1] किन्तु अधिकाश देशों मे इस प्रकार की कोई कानूनी व्यवस्था नही पायी जाती है। वहाँ बैंक स्वय इस सीमा को निश्चित करते हैं। उदाहरण के लिए, इगलैंड के बैंक अपने कुल जमा का प्राय 8 प्रतिशत भाग नकद मुद्रा के रूप मे रखते हैं। किन्तु, साधारणतया बैंक समृद्धि तथा अभिवृद्धि के समय मे कम अनुपात मे मुद्रा रख कर भी अपना कार्य चला लेते हैं परन्तु मन्दी के समय अपनी स्थिति को सुदृढ बनाये रखने के लिए अधिक अनुपात मे नकद मुद्रा रखना ही श्रेयस्कर समझते हैं।

बैंकों के नक्द कोप का अनुपात उपरोक्त सारी बातो पर निर्भर करता है। इस प्रकार बैंक जमा अथवा साख के सृजन में नकद कोप (Cash Reserve) का इतना अधिक महत्त्व है कि कोई भी बैंक अपने नकद कोप को कुल जमा की रकम के एक निश्चित प्रतिशत भाग से कम नही होने देता है। अतएव पर्याप्त मात्रा मे नकद कोप रखने की आवश्यकता से बैंक के स्वेच्छानुसार साख सृजन की शक्ति पर कुछ रोक लग जाती है। साधारणत बैंक के पास आये हुए एक नकद रुपये से वह प्राय: 10 या 12 रुपये तक जमा का सृजन कर सकता है और 1 रुपया नकद के चले जाने से उतनी ही रकम को कम करना पडता है।

2. जमानत की प्रकृति (Nature of Securities) :—बैंको की साख सृजन की शक्ति पर दूसरा नियत्रण उस कार्य-प्रणाली के द्वारा होता है जिसके द्वारा जमा का सृजन होता है। बैंक कुछ सम्पत्ति अथवा साधन प्राप्त कर ही जमा का सृजन करते हैं। प्रत्येक सम्पत्ति एक प्रकार का धन है। इस प्रकार बैंक प्राय. सभी ऋण किसी-न-किसी प्रकार की जमानत लेकर ही देते हैं। किन्तु बैंक सभी प्रकार के धन को जमानत के रूप मे स्वीकार नही करते। जमानत के रूप मे ये कुछ खास प्रकार के साधनो (assets) को ही लेते हैं। इस सम्बन्ध मे उनके समक्ष कुछ सामान्य सिद्धान्त होते हैं जिनके आधार पर ही ये किसी प्रकार के साधन को जमानत के रूप मे स्वीकार करते हैं। जहाँ बैंक बिना किसी जमानत के कर्ज देता भी है वहाँ ऋणी की व्यक्तिगत रूप से कमाने की क्षमता देखी जाती है जो एक प्रकार मे धन ही है। इस प्रकार यह कहा जाता

1. रिजर्व सिटी बैंको को अपने कुल माँग जमा (Demand deposit) का 17·5 प्रतिशत भाग तथा छोटे-छोटे नगरों एवं ग्रामीण क्षेत्र के बैंकों को 13 प्रतिशत भाग नकद मुद्रा के रूप में रखना पड़ता है।

है कि, "बैंक शून्य से जमा का सृजन नहीं करते, वे केवल किसी प्रकार के धन को मुद्रा के रूप में परिवर्तित कर देते हैं।" (Banks do not create credit out of thin air, they merely transmute other forms of wealth into money) बैंक किसी मूल्यहीन सम्पत्ति को भी धन के रूप में नहीं बदल सकते। अतएव वे केवल अचल सम्पत्ति को चल (या तरल) सम्पत्ति या धन में बदलते हैं। बैंक के इस कार्य का महत्व इस बात में है कि वह अचल सम्पत्ति, जो बैंक जमानत के रूप में स्वीकार करता है, मुद्रा नहीं है, किन्तु बैंक का आई० ओ० यू० जो बैंक उसके बदले में देता है, मुद्रा है।

3. प्राथमिक जमा की मात्रा :—बैंक जमा अथवा साख-सृजन की सीमा प्राथमिक जमा की मात्रा से निर्धारित होती है क्योंकि प्राथमिक जमा ही साख के आधार का कार्य करता है। प्राथमिक जमा की आधारशिला पर ही बैंक-जमा अथवा साख की सारी इमारत टिकी हुई होती है। (The banks cash is the lever with which the whole gigantic system is manipulated) सुप्रसिद्ध अर्थशास्त्री केन्स (Keynes) ने बैंक-जमा के निर्माण में प्राथमिक जमा के महत्व को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि "जिस सीमा तक कोई बैंक ऋण देकर बिना किसी कठिनाई के गौण जमा अथवा साख का सृजन कर सकता है; वह सीमा जनता से नकद मुद्रा के रूप में प्राप्त प्राथमिक जमा की मात्रा पर निर्भर करती है।" (The rate at which the bank can with safety actively create deposits by lending and investing has to be in a proper relation to the rate at which is passively creating them against the receipt of liquid resources from its depositors)[1]

4. केन्द्रीय बैंक की साख-नीति—आधुनिक समय में प्रत्येक देश की बैंकिंग व्यवस्था के शीर्ष पर एक केन्द्रीय बैंक रहता है जिसकी नीति सदस्य बैंकों के साख-सृजन की नीति एवं सीमा को निर्धारित करती है। केन्द्रीय बैंक साख-नियन्त्रण के विभिन्न प्रत्यक्ष (Direct) तथा परोक्ष (Indirect) तरीकों को अपनाता है जिनमें बैंक दर (Bank rate), खुले बाजार की क्रियाएँ (open market operations), नकद कोष के अनुपात में परिवर्तन (Variations in the cash reserve ratio) इत्यादि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन तरीकों का सविस्तार विवरण इस पुस्तक में आगे किया गया है। अतएव बैंकों के जमा अथवा साख-सृजन की शक्ति केन्द्रीय बैंक के साख-नियन्त्रण की नीति के द्वारा भी प्रभावित होती है।

इस प्रकार बैंकों के साख अथवा जमा-सृजन की शक्ति उक्त लिखित बातों पर निर्भर करती है। इन सीमाओं के परिणामस्वरूप बैंक स्वच्छन्दतापूर्वक जमा का सृजन नहीं कर सकते। इस सम्बन्ध में क्राउथर (Crowther) का निम्नांकित कथन अत्यंत सत्य जान पड़ता है : "बैंक जमा जिस ढंग से अस्तित्व में आता है, इसके लिए सृजन शब्द शायद ही उपयुक्त है और इसका प्रयोग सम्बंधित सीमाओं को ध्यान में रखे बगैर कभी नहीं करना चाहिए।" (Creation is thus hardly an exact description of the method by which bank money comes into existence and it should never be used without the qualifications that have been discussed being born in mind.)

विशेष अध्ययन-सूची

1. Crowther : An Outline of Money, Chapter II
2. Sayers : Modern Banking, Chapter I.
3. Kurihara . Monetary Theory and Public Policy.

1. J. M. Keynes : A Treatise on Money, Vol. I. p. 25.

अध्याय : 7

मुद्रा का मूल्य
(Value of Money)

मुद्रा के मूल्य का अर्थ (Meaning of Value of Money)—अर्थशास्त्र मे मूल्य की धारणा विनिमय से सम्बन्धित है। किसी वस्तु का मूल्य दूसरी वस्तु की वह मात्रा है जो उसके बदले मे प्राप्त की जा सकती है। (The value anything is what can be obtained in exchange for it.) उदाहरण के लिए, यदि एक क्वि० चावल के बदले मे दो क्वि० गेहूँ मिलता हो तो कहा जायगा कि एक क्वि० चावल का मूल्य दो क्वि० गेहूँ है। किन्तु आजकल वस्तुओ तथा सेवाओ का मूल्य प्रायः मुद्रा के रूप में ही व्यक्त किया जाता है। इस प्रकार मुद्रा वस्तुओ तथा सेवाओ के सामान्य मूल्य-मापक (Common denominator) का कार्य करती है। मुद्रा के रूप मे जब वस्तुओ तथा सेवाओ का विनिमय-मूल्य व्यक्त किया जाता है तो उसे कीमत (Price) कहते हैं। परन्तु मुद्रा का मूल्य क्या है? अन्य वस्तुओ तथा सेवाओ का मूल्य मुद्रा के रूप मे व्यक्त किया जाता है, किन्तु मुद्रा के मूल्य को मुद्रा के रूप मे व्यक्त करना कुछ विचित्र-सा जान पड़ता है।

अतएव मुद्रा के मूल्य को व्यक्त करने के लिए उन वस्तुओ तथा सेवाओ का सहारा लेना पडता है, जिन्हें हम मुद्रा से खरीद सकते हैं। दूसरे शब्दो मे, जिस प्रकार वस्तुओं तथा सेवाओ का मूल्य मुद्रा के रूप मे आँका जाता है, उसी प्रकार मुद्रा का मूल्य वस्तुओ तथा सेवाओ के उस समूह से व्यक्त कर सकते हैं जिसे उसकी एक इकाई द्वारा खरीदा जा सकता है और वस्तुओ के उस समुदाय को विस्तृत वस्तु-समूह (Comprehensive Composite commodity) कह सकते हैं। प्रो० रॉबर्टसन (Robertson) के अनुसार "मुद्रा के मूल्य से हमारा अभिप्राय वस्तुओ की उस मात्रा से है जो सामान्य रूप से मुद्रा की एक इकाई के द्वारा विनिमय मे प्राप्त होती है।" (By value of money, we mean the amount of things in general which will be given in exchange for unit of a money—Robertson) इस प्रकार मुद्रा का मूल्य उसकी क्रय-शक्ति, यानी मुद्रा जो खरीद सकती है, (The value of *money is its purchasing power i. e what it will buy.*) उदाहरण के लिए, यदि एक रुपया मे 3 किलोग्राम गेहूँ या 1 किलोग्राम चावल या आधा क्वि० कोयला मिलता है तो यह कहा जायगा कि एक रुपये का मूल्य है 1 किलोग्राम चावल या आधा क्विटल कोयला या 3 किलोग्राम गेहूँ। इस प्रकार मुद्रा का मूल्य उसकी सामान्य क्रय-शक्ति (*General purchasing* power) है। सामान्य क्रय-शक्ति से वस्तुओ एव सेवाओ की उस मात्रा का बोध होता है जो सामान्य रूप से मुद्रा की एक इकाई से खरीदी जा सकती है।

केन्स (Keynes) के अनुसार भी "किसी विशेष स्थिति मे मुद्रा की क्रय-शक्ति वस्तुओ तथा सेवाओं की उस मात्रा पर निर्भर करती है जो मुद्रा की एक इकाई से क्रय की जा सकती है। अतएव इसकी माप मूल्य-तलों के द्वारा ही किया जाता है।" (Since the purchasing power of money in a given context depends upon the quantity of goods and services which a unit of money will purchase, it follows that it can be measured by the price of a commodity made up of the various individual goods and

services in proportion to or corresponding to their importance as objects of expenditure)[1]

सामान्य मूल्य-तल (General Price-Level)—इस प्रकार मुद्रा का मूल्य उसकी क्रय-शक्ति है, यानी वे वस्तुएँ तथा सेवाएँ हैं, जिन्हें मुद्रा की एक इकाई खरीद सकती है। इरविंग फिशर (Irving Fisher) के अनुसार, "मुद्रा की क्रय शक्ति मूल्य-स्तर के ठीक विपरीत है, अतएव इसका अध्ययन मूल्य-स्तरो के समान ही होता है।" (The purchasing power of money is the reciprocal of the level of prices, so that the study of Purchasing power of money is identical with the study of price-level)[2] इससे स्पष्ट है कि वस्तुओं का मूल्य जितना ही ऊँचा होगा मुद्रा का मूल्य उतना ही निम्न होगा। किन्तु समाज में बहुत प्रकार की वस्तुओ तथा सेवाओ का क्रय-विक्रय होता है। इन सभी वस्तुओ तथा सेवाओ के रूप में मुद्रा के मूल्य को व्यक्त करने मे बहुत अधिक कठिनाई होगी। अतएव प्रश्न यह होता है कि किन-किन वस्तुओ या सेवाओ के रूप मे मुद्रा का मूल्य व्यक्त किया जाय। इस प्रश्न का समाधान सामान्य मूल्य-स्तर (General Price-level) से प्राप्त होता है, यानी मुद्रा का मूल्य किसी एक वस्तु अथवा सेवा के रूप मे व्यक्त नही करके वस्तुओं एव सेवाओ के सामान्य मूल्य-स्तर के रूप मे व्यक्त किया जाता है। मुद्रा के मूल्य तथा वस्तुओ एव सेवाओ के सामान्य मूल्य-तल (General Price-level) मे ठीक विपरीत (Inverse) सम्बन्ध है। जब सामान्य मूल्य तल बढता है तो मुद्रा का मूल्य घटता है और जब सामान्य मूल्य-तल घटता है तो मुद्रा का मूल्य बढ़ता है।

किन्तु सामान्य मूल्य-तल की धारणा स्वत उलझी हुई है। अत. इसे व्यक्त करने मे बहुत सारी कठिनाइयों का सामना करना पडता है। ससार मे सभी वस्तुएँ विनिमय के व्यवहार मे नही आती, अतएव उनका मूल्य हम नही जान सकते। शेष वस्तुओ के बाजार भी कई प्रकार के होते हैं—जैसे थोक बाजार, खुदरा बाजार, इत्यादि। कुछ वस्तुएँ थोक बाजार मे बेची जाती हैं, अतएव इस बाजार मे इनकी कीमत खुदरा बाजार से भिन्न होती है। साथ ही, देश के भिन्न-भिन्न भावो मे भी कीमतो मे विभिन्नता पायी जाती है जिससे मुद्रा की क्रय-शक्ति मे विभिन्नता होने लगती है। बहुत सी वस्तुओ के मूल्य के सम्बन्ध मे उचित आँकडे भी प्राप्त नही रहते। इन कठिनाइयो के कारण मुद्रा के मूल्य को व्यक्त करने मे भी कठिनाई होने लगती है।

इसीलिए 'मुद्रा का मूल्य' वाक्यांश का बिना किसी निश्चित मानदड (Standard) अथवा अभिप्राय के प्रयोग तथ्यहीन जान पडता है। साधारणतया इसके निम्नलिखित मानदड (Standard) होते है :—

1 मुद्रा का थोक मूल्य (Wholesale value of Money);
2 मुद्रा का फुटकर मूल्य (Retail value of Money), तथा
3 मुद्रा का श्रम मूल्य (Labour value of Money)।

1 **मुद्रा का थोक मूल्य (Wholesale value of Money)**—मुद्रा का थोक मूल्य वह मूल्य है, जो थोक बाजार मे वस्तुओ के प्रचलित मूल्यो के आधार पर तैयार किया जाता है। दूसरे शब्दो मे, "मुद्रा के थोक मूल्य का अभिप्राय वस्तुओं तथा सेवाओ की उस मात्रा से है जो कि थोक बाजार मे मुद्रा की एक इकाई के द्वारा प्राप्त की जा सकती है। इस प्रकार के मूल्य को

1. Keynes, J. M : *A Treatise on Money.*
2. Irving Fisher : *The Purchasing Power of Money.*

एकत्र करने मे कोई कठिनाई नही होती। साधारणतया, मुद्रा के इसी मूल्य की अधिक चर्चा होती है और जब यह वाक्यांश बिना किसी निश्चित मानदण्ड के प्रयोग के किया जाता है तो उसका अभिप्राय सदा मुद्रा के थोक मूल्य से होता है।

2. मुद्रा का दूसरा मूल्य फुटकर मूल्य (Retail value of Money) है। मुद्रा का यह मूल्य साधारण परिवार के दैनिक उपयोग मे आनेवाली वस्तुओ तथा सेवाओं के क्रय से सम्बन्धित है। किन्तु इस प्रकार के मूल्य को एकत्र करने मे कठिनाई होती है क्योंकि इस प्रकार की वस्तुओं तथा सेवाओ के मूल्य मे स्थान-स्थान और कभी-कभी तो दूकान-दूकान में भी विभिन्नता पायी जाती है। अतएव प्रत्येक वस्तु के मूल्य का औसत निकालने के लिए बहुत प्रकार की दर और मूल्यो को एकत्र करना पडता है।

3 मुद्रा का तीसरा मूल्य श्रम मूल्य (Labour value of Money) किसी व्यक्ति या व्यवसायी के लिए श्रम की वह मात्रा है जो इसकी एक इकाई के द्वारा प्राप्त हो सकती है। इस प्रकार के मूल्य को मजदूरी के आधार पर निश्चित किया जाता है। किन्तु इस प्रकार के मूल्य को एकत्र करने मे भी अनेक कठिनाइयाँ हैं। साधारणतया श्रम विभिन्न प्रकार का होता है जिससे मजदूरी की दर मे भी घोर विषमता पायी जाती है।

मुद्रा के उक्त तीनो मूल्य अधिक प्रचलित मूल्य हैं। इनके अतिरिक्त मुद्रा के मूल्य और भी कई प्रकार के हो सकते हैं, जैसे विनियोग सम्बन्धी मूल्य (Investment standard), अन्तर्राष्ट्रीय माप (International standard) इत्यादि। विनियोग प्रमाप मे मुद्रा के मूल्य को विनियोग मे आनेवाली वस्तुओ के रूप में व्यक्त किया जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय प्रमाप के अन्तर्गत मुद्रा के मूल्य को उन वस्तुओ के मूल्य के रूप मे व्यक्त करते हैं जो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे प्रयुक्त होती हैं।

इस प्रकार मुद्रा के मूल्य को उचित रूप मे परिभाषित करना बहुत ही कठिन कार्य है। मुद्रा के मूल्य को इसकी सामान्य क्रय-शक्ति के रूप मे व्यक्त करने की कठिनाई के कारण ही इसे विशेष प्रकार से व्यक्त किया किया जाता है। मुद्रा के इन विभिन्न प्रकार के मूल्यो का मौद्रिक नीति के निर्धारण मे भी बहुत अधिक महत्त्व है। इनमे आपस मे बडा घनिष्ठ सम्बन्ध भी है, किन्तु इसका अर्थ यह नही कि इनमे सदा समान रूप से परिवर्तन होता है। मुद्रा के मूल्य को इन विभिन्न रूपो मे व्यक्त करने से मुद्रा की क्रय-शक्ति की धारणा मे वास्तविकता आ जाती है।

मुद्रा के मूल्य-सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण प्रश्न.—मुद्रा के मूल्य की विवेचना के पश्चात् अगले तीन अध्यायो मे हम मुद्रा के मूल्य से सम्बन्धित निम्नांकित तीन महत्त्वपूर्ण प्रश्नों की व्याख्या करेंगे :—

1. मुद्रा के मूल्य मे परिवर्तन की माप (Measurement of changes in the Value of Money),
2. मुद्रा के मूल्य मे परिवर्तन का समाज के विभिन्न वर्गों पर प्रभाव (Effects of chan es in the Value of Money on different classes of the Societ,); तथा
3. मुद्रा के मूल्य का निर्धारण (Determination of the Value of Money)।

विशेष अध्ययन-सूची

1. Crowther : An Outline of Money, Chapter III
2 Robertson : Money, Chapter II

अध्याय . 8

निर्देशांक

(Index Number)

प्राक्कथन —मुद्रा का मूल्य उसकी क्रय-शक्ति है। किन्तु इसका मूल्य स्थायी नहीं रहता, वरन् इसमें सदा परिवर्तन होते रहते हैं। मुद्रा के मूल्य मे परिवर्तन के परिणामस्वरूप वस्तुओ तथा सेवाओ के मूल्य मे सदा परिवर्तन होते रहते हैं। मुद्रा का मूल्य कम हो जाने पर वस्तुओ का मूल्य अधिक हो जाता है तथा मुद्रा का मूल्य अधिक हो जाने पर वस्तुओ एवं सेवाओं का मूल्य कम हो जाता है। इस प्रकार मुद्रा एव वस्तुओ के मूल्य मे ठीक विपरीत सम्बन्ध है। चूंकि मुद्रा के मूल्य मे परिवर्तन का प्रभाव वस्तुओ एव सेवाओ के मूल्य पर भी पड़ता है, अतएव इसकी माप आज बहुत अधिक व्यावहारिक महत्त्व का विषय बन गयी है। इसे एक गणितीय विधि के द्वारा मापा जाता है जिसे निर्देशाक (Index Number) कहते है।

निर्देशाक किसे कहते हैं ? (Meaning of Index Number) —निर्देशाक (Index Number) मुद्रा के मूल्य मे किसी दो समय के बीच हुए परिवर्तनो को मापने की एक गणितीय विधि है। (Index Number is a statistical device to measure the changes in the value of Money) दूसरे शब्दो मे, निर्देशाक मूल्य-स्तर की वे सख्याएँ है जिनके द्वारा मुद्रा की क्रय-शक्ति के परिवर्तनो को मापा जाता है। वास्तव में, निर्देशाक एक तालिका के रूप में क्रमबद्ध की गयी मूल्य स्तर की वे सख्याएँ हैं जिनके द्वारा दो समयो के बीच मुद्रा के सामान्य मूल्य-स्तर मे परिवर्तनो की तुलनात्मक माप की जाती है। सेक्रिस्ट (Secrist) के अनुसार, "निर्देशाक अको की एक ऐसी शृखला है जिसके द्वारा किसी भी तथ्य के समय-समय के अथवा स्थान-स्थान के परिवर्तनो का मापन किया जाता है।"

प्राय ऐसा देखा जाता है कि एक ही समय मे कुछ वस्तुओ का मूल्य घटता है तो कुछ का बढता है एव कुछ वस्तुओं का ज्यो-का त्यो रहता है। किन्तु वस्तुओ एव सेवाओ के मूल्य के परिवर्तन का औसत (average) निकालने से इनके मूल्य मे परिवर्तन की सामान्य प्रवृत्ति का अन्दाजा लगता है। निर्देशाक सामान्य मूल्य तल (General Price-level) मे हुए इस प्रकार के औसत परिवर्तनो को बतलाता है। इससे मुद्रा के मूल्य मे भी परिवर्तन का अन्दाजा लगाया जाता है। यदि निर्देशाक मे वृद्धि हो रही है तो इसका अर्थ यह है कि सामान्य मूल्य-तल (General Price-level) ऊँचा होते जा रहा है, यानी वस्तुओ एव सेवाओ के मूल्य की केन्द्रीय प्रवृत्ति बढने की ओर है और मुद्रा का मूल्य कम हो रहा है, यानी मुद्रा की एक इकाई के बदले अब कम ही वस्तुएँ तथा सेवाएँ प्राप्त होगी। इसके विपरीत यदि निर्देशाक घटता जा रहा है तो इसका अर्थ यह है कि वस्तुओ एव सेवाओ के मूल्य मे घटने की प्रवृत्ति है एव मुद्रा का मूल्य बढ़ रहा है, यानी मुद्रा की प्रत्येक इकाई से अब सामान्यत अधिक वस्तुएँ प्राप्त होगी।

निर्देशांक का निर्माण

(Compilation of Index Number)

निर्देशांक के निर्माण (Compilation) मे साधारणतया निम्नलिखित बातो पर ध्यान देना पड़ता है —

1. आधार वर्ष का चुनाव (Selection of the Base Year) :—निर्देशांक के निर्माण मे सर्वप्रथम हमें एक आधार वर्ष (Base Year) का चुनाव करना पडता है। जिस प्रकार किसी स्थान की ऊँचाई समुद्र-तल के धरातल के रूप में व्यक्त की जाती है, ठीक उसी प्रकार मुद्रा के मूल्य मे परिवर्तन को जानने के लिए भी एक आधार वर्ष की आवश्यकता पड़ती है। किन्तु मूल्य-तल के परिवर्तन को जानने के लिए समुद्र-तल की तरह कोई मान्य रेखा नही है, अतएव हरेक निर्देशांक तैयार करने वाला अपना अलग-अलग आधार वर्ष चुनता है। यो तो कोई भी वर्ष आधार वर्ष का कार्य कर सकता है, फिर भी आधार वर्ष के चुनाव मे कुछ सावधानी से कार्य लेना पडता है। सर्वप्रथम तो आधार वर्ष एक सामान्य वर्ष (normal year) होना चाहिए। सामान्य वर्ष का तात्पर्य यह है कि वह वर्ष राजनीतिक एव आर्थिक घटनाओं से मुक्त होना चाहिए। वास्तव में, प्रत्येक युग मे कुछ विशेष आर्थिक एवं राजनीतिक प्रवृत्तियाँ कार्यशील रहती हैं और जो वर्ष इन प्रवृत्तियों का प्रतिनिधित्व करता हो, वही आदर्श आधार वर्ष का कार्य कर सकता है। आधार वर्ष के चुनाव में दूसरी बात यह है कि आधार वर्ष किसी युग की चरम सीमा होता है जहां से आर्थिक एवं राजनीतिक प्रवृत्तियो के प्रवाह दूसरी दिशा मे मोड लेते हैं। अतएव आधार वर्ष एक जलविभाजक की तरह है जो दो आर्थिक युगो का मध्यस्थल होता है। इन बातो को ध्यान में रख कर आधार वर्ष का चुनाव किया जाता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि आधार वर्ष मे हम आर्थिक स्थिति को स्थिर मान लेते हैं। वास्तव मे, इस कार्य के लिए कुछ वर्ष विशेष रूप से प्रिय हो गये हैं। उदाहरण के लिए, 1914, 1929, 1939 इत्यादि। इसका कारण यह है कि इन वर्षों के बाद विश्व मे कुछ महान् परिवर्तन हुए हैं जिनके कारण मुद्रा का मूल्य अन्य वर्षों से भिन्न हो जाता है, जैसे 1914 ई० से प्रथम महायुद्ध प्रारम्भ हुआ, 1929 ई० से भयानक आर्थिक मन्दी प्रारम्भ हुई तथा 1939 ई० मे द्वितीय महायुद्ध प्रारम्भ हुआ जिसके बाद मूल्य-तल मे भयानक वृद्धि हुई। भारत मे आज निर्देशांक तैयार करने के लिए साधारणतया 1951 ई० को ही आधार वर्ष माना जाता है क्योंकि इस वर्ष की सहायता से योजना के पूर्व तथा पंचवर्षीय योजनाओं के समय के मूल्यों के परिवर्तन को सुगमतापूर्वक जाना जा सकता है।

2. वस्तुओं एव सेवाओ का चुनाव (Selection of commodities and services) :—आधार वर्ष के निर्धारण के बाद वस्तुओ एव सेवाओ का चुनाव करना पडता है। मुद्रा के द्वारा आधुनिक समाज मे इतनी अधिक वस्तुओं एव सेवाओ का क्रय-विक्रय किया जाता है कि निर्देशाक तैयार करने मे इन सारी वस्तुओ पर विचार करना केवल कठिन ही नहीं, वरन् असम्भव-सा हो जाता है। इस कठिनाई को दूर करने के लिए कुछ वस्तुओ एव सेवाओ को चुन लिया जाता है। वस्तुओं के चुनाव मे इस बात को ध्यान मे रखना पडता है कि चुनी हुई वस्तु एक-एक वस्तु समूह का प्रतिनिधित्व करती हो, यानी वस्तु के मूल्य मे परिवर्तन के साथ पूरे समूह की वस्तु का मूल्य घटता या बढता हो। वस्तुओ का चुनाव बहुत कुछ निर्देशाक बनाने के उद्देश्य पर भी निर्भर करता है। उदाहरण के लिए, यदि हम किसी विशेष वर्ग के रहन-सहन का निर्देशाक (Cost of Living Index number) तैयार करना चाहते है तो हमे उस वर्ग के उपयोग मे आने वाली वस्तुओ को चुनना पडेगा। वस्तुओ के चुनाव मे दूसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि निर्देशाक मे हम जितनी ही अधिक वस्तुओ को सम्मिलित कर सकेंगे, निर्देशाक उतना ही अधिक यथार्थ होगा। किन्तु अधिक वस्तुओं को शामिल करने में कठिनाई होती है, अतएव सुविधा की दृष्टि से 40-50 वस्तुओं को शामिल करना ही अधिक उचित होता है। फिशर (Fisher) का इस सम्बन्ध में यह विचार है कि "जब तक निर्देशाक में 20 से अधिक वस्तुओ को सम्मिलित

नही किया जाता तब तक इसकी कोई विशेष व्यावहारिक उपयोगिता नहीं होती। यदि यह सख्या 50 तक हो तो और अच्छी बात है। 50 के बाद सख्या अधिक करने से जो लाभ प्राप्त होता है, वह उस परेशानी की तुलना मे कम होता है जो कि अधिक सख्या के अकन करने के कारण उत्पन्न होती है और 200 के पश्चात् तो सख्या मे वृद्धि से कोई विशेष लाभ भी प्राप्त नही होता है।"[1] सोअर बैंक के निर्देशाक मे 37 वस्तुओ, ब्रिटिश बोर्ड ऑफ ट्रेड के निर्देशाक मे 150 एव अमेरिकन ब्यूरो ऑफ लेबर के निर्देशाक मे 550 वस्तुओ को सम्मिलित किया जाता है।

(3) वस्तुओ एव सेवाओ के मूल्यो का सकलन (Collection of prices of Commodities and Services) :—प्रतिनिधि वस्तुओ के चुनाव के बाद दोनो वर्षों (आधार वर्ष एव जिस वर्ष के लिए निर्देशाक तैयार किया जाता है) मे इन वस्तुओं के प्रचलित मूल्यो का सकलन करना पडता है। मूल्य-सकलन मे भी बहुत अधिक कठिनाई होती है क्योकि अधिकांश देशो मे मूल्य-सकलन का कोई उचित साधन उपलब्ध नही है। साथ ही, मूल्य-सकलन का कार्य बहुत खर्चीला होता है, अतएव यह सरकार के द्वारा ही समुचित रूप से किया जा सकता है। उचित मूल्य जानने के लिए कई स्थानो से मूल्य एकत्र करना पडता है। थोक मूल्य (wholesale) एव फुटकर मूल्य (retail) दोनो दो प्रकार के होते हैं। थोक मूल्य को जानना फुटकर मूल्य की अपेक्षा अधिक सरल होता है। किन्तु निर्देशाक तैयार करने मे किस प्रकार के मूल्य को काम मे लाना चाहिए यह निर्देशाक के उद्देश्य पर ही निर्भर करता है।

(4) मूल्यो को प्रतिशत मे दिखलाना[2] (To Represent the prices in percentage) :—निर्देशाक को साधारणतया सैकडे के रूप मे ही व्यक्त किया जाता है। प्रत्येक वस्तु अथवा सेवा के मूल्य को आधार वर्ष मे 100 मान लिया जाता है तथा निर्देशाक निकालने वाले वर्ष का मूल्य आधार के प्रतिशत मे दिखलाया जाता है। उदाहरण के लिए, यदि आधार वर्ष मे चावल की कीमत 2) रुपये प्रति क्वि० है तो इसके लिए 100 मान लिया जाता है और यदि निर्देशाक तैयार करने वाले वर्ष मे 10) रुपये प्रति क्वि० है तब इस वर्ष के मूल्य को $\frac{10 \times 100}{2} =$ 500 से निरूपित किया जायगा। इसे मूल्यानुपात (Price-relatives) कहते हैं। इस प्रकार दोनो वर्षों के मूल्यानुपातो को अलग अलग जोड कर और वस्तुओ की सख्या से भाग देकर इनका औसत निकाला जाता है।

उदाहरण के तौर पर, नीचे एक साधारण निर्देशाक (Simple Index Number) तैयार किया जाता है :—

1. "Seldom are index number of much value unless they consist of more than twenty commodities and 50 is a much better number After 50 the improvement obtained from increasing the number of commodities is gradual and it is doubtful if the gain from increasing the number beyond two hundred is ordinarily worth the extra trouble and expense." *Irving Fisher* : The Making of Index Number, p 340

2 यद्यपि औसत निकालने की अनेक विधियाँ प्रचलित हैं परन्तु निर्देशांक के निर्माण में दो विधियों—(1) साधारण या अकगणितीय (Arithmetical), एव (2) रेखागणितीय (Geometrical) का ही विशेषत प्रयोग किया जाता है। अकगणितीय प्रणाली के अन्तर्गत सभी औसत सख्याओं को जोड़ कर योगफल वस्तुओं की सख्या से विभाजित किया जाता है और जो भागफल होता है, उस वर्ष का औसत होता है। रेखागणितीय विधि के अनुसार औसत निकालने के लिए सब सख्याओं से गुणा करके गुणनफल को वस्तुओं की मात्रा के समान मूल्य निकाल लिया जाता है। उदाहरण के लिए, यदि तीन संख्याएं हैं तो तीनों को गुणा करके जो संख्या प्राप्त होती है उसका घनफल (Cube root) निकाल लेते हैं।

साधारण निर्देशांक

(Simple Index Number)

	वस्तुएँ (Commodities)	आधार वर्ष—1961 (Base year)		निर्देशांक तयार करने का वर्ष (The year of compilation)—1975	
		मूल्य (Price)	मूल्यानुपात (Price relatives)	मूल्य (Price)	मूल्यानुपात (Price relatives)
1	चावल	4/-प्रति क्वि०	100	24/-प्रति क्वि०	600
2	गेहूँ	5/-प्रति क्वि०	100	20/ प्रति क्वि०	400
3	कपडा	2/ प्रति मी०	100	6/ प्रति क्वि०	300
4	चाय	4/ प्र०कि०ग्रा०	100	2/-प्र०कि०ग्रा०	50
5	कोयला	1/ प्रति क्वि०	100	3/-प्रति क्वि०	300
			5)500		5)1650
			100		330

उपरोक्त निर्देशाक से यह स्पष्ट है कि 1961 ई० मे सामान्य मूल्य स्तर (General price-level) का निर्देशाक 100 था, तो 1975 ई० मे यह 330 है। इस प्रकार निर्देशाक आधार वर्ष की अपेक्षा ऊँचा है। इसका अर्थ यह है कि सामान्य मूल्य-तल (General Price-level) मे आधार वर्ष की तुलना मे 1975 ई० मे 230 प्रतिशत की वृद्धि हुई है, यानी मुद्रा के मूल्य मे 230 प्रतिशत की कमी हुई। इसी प्रकार से साधारण निर्देशाक (Simple Index Number) तैयार किये जाते हैं।

भारशील निर्देशाक

(Weighted Index Number)

उपरोक्त निर्देशाक साधारण निर्देशाक (Simple Index Number) का एक उदाहरण है। साधारण निर्देशाक इस मान्यता पर तैयार किया जाता है कि इसमे समाविष्ट सभी वस्तुएँ एक समान महत्त्व की होती हैं। किन्तु वास्तविक जीवन में किसी उपभोक्ता के लिए सभी वस्तुओ का महत्व एक समान नही होता। उदाहरण के लिए चावल के मूल्य मे वृद्धि स चाय के मूल्य मे वृद्धि की अपेक्षा उपभोक्ता अधिक प्रभावित होगा क्योकि उसकी आय का एक बहुत बडा भाग चावल पर खर्च होता है। यदि चावल के मूल्य म 100 प्रतिशत की वृद्धि हो जाय और चाय के मूल्य मे 100 प्रतिशत की कमी हो जाय तो साधारण निर्देशाक ज्या-का-त्यो रहेगा, किन्तु वास्तविक

विक रूप मे उपभोक्ता इससे बहुत अधिक प्रभावित होगा। इस प्रकार चूंकि साधारण निर्देशांक मे सभी वस्तुओं को एक समान महत्त्व दिया जाता है, अतएव इससे मूल्य-तल मे परिवर्तन का ठीक ठीक अनुमान नहीं लगता। साधारण निर्देशांक (Simple Index Number) के इस दोष को भारशील निर्देशांक (Weighted Index Number) के निर्माण के द्वारा दूर किया जाता है।

भारशील निर्देशाक (Weighted Index Number) मे सभी वस्तुओ एव सेवाओ को उनके महत्त्व के अनुसार सम्मिलित किया जाता है। उपभोग की वस्तुओं का महत्त्व या भार (weight) उनके ऊपर खर्च की गयी राष्ट्रीय आय के अनुपात से निश्चित किया जाता है। उदाहरण के लिए, यदि किसी देश की राष्ट्रीय आय 100 रुपये है, जिसे पाँच वस्तुओ पर निम्न प्रकार से खर्च किया जाता है—चावल पर 35 रुपये, गेहूँ पर 30 रुपये, कपडे पर 20 रुपये, चाय पर 10, रुपये एवं कोयला पर 5 रुपये। अब इनका महत्त्व इसी अनुपात मे होगा; यानी कोयले का 1, चाय का 2, कपडे का 4, गेहूँ का 6 तथा चावल का 7। इसी आधार पर भारशील निर्देशाक बनाया जाता है।

उपरोक्त उदाहरण के आधार पर भारशील निर्देशाक तैयार किया जाता है —

	वस्तुएँ (Commodities)	भार (Weight)	आधार वर्ष—1961 (Base year)		निर्देशाक तैयार करने के वर्ष (Year of compilation)—1975	
			मूल्य (Price)	मूल्यानुपात (भारित)	मूल्य (Price)	मूल्यानुपात (भारित)
1	चावल	7	4/ प्र० क्वि०	700	24/प्र० क्वि०	4200
2	गेहूँ	6	5/-प्र० क्वि०	600	20/प्र० क्वि०	2400
3	कपडा	4	2/-प्र० मी०	400	6/प्र० मी०	1200
4	चाय	2	4/-प्र० कि० ग्रा०	200	2/प्र० कि०ग्रा०	100
5	कोयला	1	1-प्र० क्वि०	100	3/प्र० क्वि०	300
		20		20/2000		20/8200
				100		410

इस उदाहरण मे भारशील निर्देशाक (*Weighted Index number*) 410 है जबकि साधारण निर्देशाक केवल 330 ही था। इससे स्पष्ट है कि साधारण निर्देशाक की अपेक्षा भारशील निर्देशाक मूल्य-तल के परिवर्तन को अधिक सही तरीके से व्यक्त करता है।

निर्देशाक बनाने की कठिनाइयाँ

(Difficulties in Construction of Index Number)

निर्देशाक (Index Number) के निर्माण मे हमें सामान्य रूप से निम्नलिखित कठिनाइयों का सामना करना पडता है —

1 आधार वर्ष के चुनाव (Selection of Base Year) सम्बन्धी कठिनाई — निर्देशाक (Index Number) के निर्माण मे आधार वर्ष का चुनाव बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है। आधार वर्ष की तुलना से ही हम किसी अपेक्षित वर्ष मे मूल्य तल मे हुए परिवर्तनों का अध्ययन

करते हैं। आधार वर्ष के चुनाव के सम्बन्ध मे पहले भी व्याख्या की जा चुकी है। इस सम्बन्ध में पहली कठिनाई यह है कि एक ही वर्ष सदा आधार वर्ष (Base year) का कार्य नही करता। समय-समय पर आर्थिक तथा राजनीतिक घटनाओ मे परिवर्तन के कारण आधार वर्ष भी बदलते रहता है। आधार वर्ष का चुनाव निर्देशांक बनाने के उद्देश्य पर भी बहुत कुछ निर्भर करता है। आधार वर्ष के चुनाव मे इस बात पर ध्यान देना पडता है कि इसे एक साधारण एव सामान्य (Normal) वर्ष होना चाहिए, यानी असाधारण घटनाओ से सर्वथा रहित होना चाहिए। ऐसे वर्ष के चुनाव मे निस्सदेह कठिनाई होती है। इस कठिनाई को दूर करने के लिए कुछ देशो म पांच वर्षों के मूल्य स्तर का औसत लेकर आधार वर्ष माना जाता है। उदाहरणार्थ, इकोनोमिस्ट के निर्देशांक 1945-50 ई० के मूल्यो के औसत को आधार मानकर तैयार किये जाते हैं।

2. प्रतिनिधि वस्तुओ के चुनाव (Selection of Representative Commodities) सम्बन्धी कठिनाई :—निर्देशांक के निर्माण मे वस्तुओ का चुनाव भी महत्त्वपूर्ण है। वस्तुओ का चुनाव निर्देशांक के उद्देश्य के अनुसार ही करना पडता है। उदाहरण के लिए, यदि निर्देशांक श्रमिको के रहन-सहन के स्तर को जानने के लिए बनाया जाता हो तो इसमे श्रमिको के प्रयोग मे आनेवाली वस्तुओ को रखा जायगा। इसके विपरीत यदि निर्देशांक का उद्देश्य जन-साधारण के रहन-सहन का स्तर मालूम करना होता है, तो इसके लिए जन-साधारण के उपभोग मे आनेवाली वस्तुओं का चुनाव करना पडता है। वास्तव मे वस्तुओ का चुनाव इस प्रकार से होना चाहिए जिससे कि निर्देशांक के उद्देश्य की पूर्ति मे सहायता मिले। वस्तुओ के चुनाव मे इस बात पर भी ध्यान देना चाहिए कि आधार तथा अपेक्षित वर्ष मे इनके आकार-प्रकार, गुण एव स्वभाव मे कोई परिवर्तन नही हो। वस्तुओ के मूल्यो की तुलना करते समय यह सदा ध्यान मे रखना चाहिए कि आधार वर्ष के समान गुण एव स्वभाववाली वस्तुओ की तुलना अपेक्षित वर्ष के समान गुण एव स्वभाव वाली वस्तुओ से ही की जाय, क्योकि समय मे अन्तर के साथ साथ वस्तुओ के गुण एव स्वभाव मे भी अन्तर पडने लगता है। साथ ही, किसी एक वर्ग द्वारा उपभोग की जानेवाली वस्तुओं मे भी समय एव परिस्थितियो के साथ-साथ विभिन्नता आती रहती है। उदाहरण के लिए, आज से 10 वर्ष पूर्व भारत मे लोग बिजली का बहुत कम प्रयोग करते थे, किन्तु आज इसका प्रयोग बहुत अधिक लोकप्रिय हो गया है। वस्तुओ के चुनाव मे इन सारी बातो को ध्यान मे रखना होता है।

3. मूल्य-सकलन (Collection of Prices) सम्बन्धी कठिनाई :—वस्तुओ के मूल्यो के संकलन में भी कठिनाइयो का सामना करना पडता है। वस्तुओ के मूल्य मुख्यत. दो प्रकार के होते हैं—थोक मूल्य (Wholesale prices) एव फुटकर मूल्य (Retail prices)। निर्देशांक के निर्माण मे किस मूल्य को लिया जाय यह निर्देशांक बनाने के उद्देश्य पर निर्भर करता है। थोक मूल्य प्राप्त करने मे कोई विशेष कठिनाई नही होती, किन्तु यदि निर्देशांक रहन-सहन के स्तर मे अन्तर को जानने के लिए है, यानी Cost of Living Index Number है तो फुटकर मूल्यो को ही लेना होगा। किन्तु फुटकर मूल्यो को जानने मे बहुत अधिक कठिनाई होती है। विभिन्न स्थानो मे एक ही वस्तु का फुटकर मूल्य अलग-अलग होता है। दो समय के बीच तो इनके मूल्य को जानना और भी कठिन होता है। इसलिए इस प्रकार के निर्देशांक बहुधा अधूरे रह जाते हैं तथा आर्थिक स्थिति के परिवर्तनो को पूरा-पूरा वर्णन करने में असमर्थ सिद्ध होते है।

4. वस्तुओ के भार (weight) को निश्चित करने मे कठिनाई :—निर्देशांक बनाने में एक प्रमुख कठिनाई विभिन्न वस्तुओ के भार (weight) को निश्चित करने की है। निर्देशांक

मे हम जितनी वस्तुओ का समावेश करते हैं उन सभी वस्तुओ का महत्त्व एक समान नहीं रहता। कुछ वस्तुएँ उपभोक्ता के लिए अधिक महत्त्वपूर्ण होती हैं तो कुछ कम। अतएव वस्तुओ को हमे उनके महत्त्व के अनुसार भार देना पडता है। किन्तु इनका सापेक्षिक महत्त्व निश्चित करना एक कठिन कार्य है। विभिन्न व्यक्तियो के लिए एक ही वस्तु का महत्त्व भी भिन्न-भिन्न होता है। इतना ही नही, एक वस्तु का एक व्यक्ति के लिए भी विभिन्न समयो पर विभिन्न महत्त्व होता है। साथ ही, मनुष्य की रुचियो मे परिवर्तन के अनुसार वस्तुओ का महत्त्व भी बदलते रहता है। अतएव वस्तुओ के महत्त्व अथवा भार (weight) का निर्धारण बहुत प्रयत्नो के बावजूद अधिकाशत काल्पनिक ही होता है।

5 औसत निकालने की कठिनाई —निर्देशाक तैयार करने मे एक प्रमुख कठिनाई औसत निकालने की कठिनाई भी है। किस तरीके से औसत निकाला जाय—अकगणितीय पद्धति स या रेखागणितीय पद्धति से। औसत निकालने की रीति मे परिवर्तन करने से एक ही मूल्य से अलग-अलग सूचक अ क प्राप्त होते है। अतएव यह कार्य भी एक कठिन कार्य है।

7 समय मे अन्तर के साथ साथ वस्तुओ का सग्रह भी बदलते रहता है —निर्देशाक के निर्माण मे एक प्रमुख कठिनाई यह है कि जब हम दो ऐसे वर्षों की तुलना करते हैं जिनके बीच का अन्तर बहुत बडा है, तो बहुत-सी नयी नयी वस्तुएँ उपभोग मे आती हैं तथा पुरानी वस्तुएँ उपभोग से उठ जाती हैं। उदाहरण के लिए, यदि 1939 ई० एव 1975 ई० के बीच जनसाधारण के रहन सहन के स्तर की तुलना क लिए निर्देशाक बनाया जाय, तो सभव है कि 1975 ई० मे जन-साधारण के उपभोग मे कितनी वस्तुएँ इस प्रकार की मिलेंगी जिनका 1939 ई० मे बिलकुल पता नही था। उदाहरण के लिए नायलॉन (Nylon) की साडी और मोजे का प्रयोग आजकल जन साधारण के द्वारा किया जाता है, किन्तु 1939 ई० मे इनका प्रयोग बिलकुल नही होता था। आदत, अभिरुचि, आविष्कार एव आय मे परिवर्तन के परिणामस्वरूप कोई नहीं वस्तु प्रयोग में आती है तो कोई वस्तु प्रयोग से उठ जाती है। मूल्य मे कमी के कारण भी उपभोक्ता किसी वस्तु का उपभोग बढाता है तो किसी का घटाता है जैसे—मूल्य अधिक होते के कारण घी के स्थान पर डालडा का प्रयोग। इस कठिनाई को दूर करने के लिए मार्शल (Marshall) ने शृ खलाकारी निर्देशाको (Chain Index Numbers) निर्माण करने की युक्ति बतलायी है जिसके द्वारा दो वर्षों के मूल्यो की तुलना बीच के वर्षों के मूल्यों के साथ कर सकते हैं। किन्तु यह पद्धति भी सुगम नही है। इसमे भी अनेक कठिनाइयाँ हैं।

निष्कर्ष —उक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि मुद्रा के मूल्य मे परिवर्तन का ठीक-ठीक माप कठिन है। मार्शल (Marshall) ने इस सम्ब ध मे ठीक ही कहा है कि "मुद्रा की क्रय-शक्ति का ठीक-ठीक माप न तो केवल असम्भव है अपितु अविचारणीय भी है।" (A perfectly exact measure of the purchasing pov er of money is not only una ttainable but even unthinkable —Marshall) किन्तु पुन जैसा कि राबटसन (Rodertson) का कहना है, "मुद्रा के मूल्य के परिवर्तन की उचित माप न तो सैद्धातिक दृष्टि से सभव है न व्यावहारिक दृष्टि से ही। फिर भी, इसमे कोई सन्देह नही कि मुद्रा के मूल्य मे परिवर्तन होता है और यदि पर्याप्त सावधानी से काय लिया जाय तो कुछ व्यावहारिक उद्देश्यों के लिए इसकी माप बहुत हद तक ठीक हो सकती है।" (The conclusion then is that neither in practice nor perhaps in theory, it is possible to measure accurately the changes in the value of money. Nevertheless, there is no

doubt that value of money changes, and if sufficient care is taken, measures accurate enough for some practical purposes can be found and used.) अतएव उपरोक्त दोषों के रहते हुए भी व्यावहारिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए निर्देशांक का निर्माण बहुत हद तक ठीक है।

अधिकांश प्रमुख देश आजकल फुटकर मूल्यों के निर्देशांक प्रकाशित करते हैं जो मुद्रा के उपभोग मूल्य के मापक माने जाते हैं। किन्तु मुद्रा के विनिमय मूल्यों मे परिवर्तन की जानकारी प्राप्त करने के लिए हमें मुख्यतः वस्तुओं के थोक मूल्यों के निर्देशांक पर ही निर्भर रहना पड़ेगा। आजकल प्रायः अधिकांश देशों में भारशील निर्देशांक (Weighted Index Number) तैयार किये जाते हैं। इनमें विभिन्न वस्तुओं को उनके सापेक्षिक महत्त्व के अनुसार भार दिया जाता है। साधारणतः, एक निर्दिष्ट समय में विभिन्न वस्तुओं पर जिस अनुपात में खर्च किया जाता है उसी के अनुसार इनका भार भी निश्चित किया जाता है। समय-समय पर इस भार में परिवर्तन भी होता है।

निर्देशांक के विभिन्न प्रकार

(Different Types of Index Number)

मुद्रा का मूल्य विभिन्न प्रकार से व्यक्त किया जाता है। इनमें प्रत्येक के अनुसार मुद्रा के मूल्य में परिवर्तन को जानने के लिए एक विशेष प्रकार का निर्देशांक तैयार किया जाता है। इस तरह, साधारणतया निर्देशांक निम्नलिखित प्रकार के होते हैं :—

1. थोक मूल्यों के निर्देशांक (Wholesale price Index Number),
2. उपभोग या जीवन-निर्वाह निर्देशांक (Consumption or Cost of Living Index *Number*),
3. श्रमिक निर्देशांक (Working Class Index Number),
4. विनियोग निर्देशांक (Investment Index Number), तथा
5. अन्तर्राष्ट्रीय निर्देशांक (International Index Number)।

अब इनका निम्न विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है—

1 थोक मूल्यों के निर्देशांक (Wholesale Index Number) :—इस प्रकार के निर्देशांक वस्तुओं के थोक मूल्यों के आधार पर तैयार किये जाते हैं। ये बहुत ही लोकप्रिय होते हैं क्योंकि वस्तुओं के थोक मूल्य को प्राप्त करने में विशेष कठिनाई नहीं होती। अतएव मुद्रा की क्रय-शक्ति में परिवर्तनों को मापने के लिए साधारणतया इन्हीं निर्देशांकों को तैयार किया जाता है। अमेरिका में इस प्रकार के निर्देशांक तैयार करने में 550 वस्तुओं को सम्मिलित किया जाता है तथा इनके मूल्यों का भार भी वैज्ञानिक ढंग से निश्चित किया जाता है। भारत सरकार के आर्थिक सलाहकार द्वारा बनाये गये निर्देशांक में भी वस्तुओं के थोक मूल्यों को ही सम्मिलित किया जाता है तथा इसमें सम्मिलित वस्तुओं को निम्नांकित चार वर्गों में विभाजित किया जाता है—(क) खाद्यान्न तथा अन्य कृषि-पदार्थ, (ख) औद्योगिक कच्चे-पदार्थ, (ग) अर्द्ध-निर्मित वस्तुएँ, तथा (घ) निर्मित वस्तुएँ।

2. *उपभोग या जीवन-निर्वाह निर्देशांक (Consumption or Cost of Living* Index Number) —इस प्रकार के निर्देशांक उपभोग में आने वाली वस्तुओं के मूल्य-तल के आधार पर तैयार किये जाते हैं। इस प्रकार के निर्देशांक बनाने में उपभोग में आनेवाली सभी प्रमुख वस्तुओं तथा सेवाओं को सम्मिलित किया जाता है और वैज्ञानिक तरीकों से इनका भार

भी निश्चित किया जाता है। किन्तु विभिन्न वस्तुओं के खुदरा मूल्य में देश के भिन्न-भिन्न भागों में विभिन्नता के कारण इस प्रकार के निर्देशाक बनाने में कठिनाइयां होती हैं।

3. श्रमिक वर्ग का जीवन-निर्वाह-व्यय निर्देशांक (Working Class Cost of Living Index Number):—इस प्रकार के निर्देशाक श्रमिकों के उपभोग में आनेवाली वस्तुओं के खुदरा मूल्यों के आधार पर तैयार किये जाते हैं। इगलैंड में बोर्ड ऑफ ट्रेड द्वारा श्रमिकों के जीवन-निर्वाह व्यय को जानने के लिए इसी प्रकार का निर्देशाक तैयार किया जाता है। हिन्दुस्तान में भी श्रम मंत्रालय (Ministry of Labour) द्वारा प्रमुख औद्योगिक केन्द्रों में रहनेवाले श्रमिकों के लिए इसी प्रकार के निर्देशाक तैयार किये जाते हैं।

4. विनियोग निर्देशांक (Investment Index Number) :—इस प्रकार के निर्देशांक पूंजीगत वस्तुओं (Capital goods) के मूल्य में होनेवाले परिवर्तनों को जानने के लिए तैयार किये जाते हैं। इस प्रकार विनियोग निर्देशाक विनियोग-सम्बन्धी वस्तुओं के क्रय करने में मुद्रा की क्रय-शक्ति में हुए परिवर्तनों को व्यक्त करते हैं।

5. अन्तर्राष्ट्रीय निर्देशांक (International Index Number) :—अन्तर्राष्ट्रीय निर्देशाक अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में आनेवाली वस्तुओं के मूल्य-तल के आधार पर तैयार किया जाता है। अंतर्राष्ट्रीय व्यापार में आने वाली विभिन्न वस्तुओं को इनमें सम्मिलित किया जाता है तथा देश के व्यापार में इनके महत्त्व के अनुसार इनका भार निश्चित किया जाता है। इस प्रकार के निर्देशाक बहुत ही उपयोगी सिद्ध होते हैं। इनके द्वारा किसी देश के व्यापार की शर्तों (Terms of the trade) की अनुकूलता अथवा प्रतिकूलता का अन्दाजा लगता है। साथ ही, विदेशी विनिमय के सिद्धांत में भी इनका महत्त्वपूर्ण स्थान है।

उपरोक्त निर्देशाकों के अतिरिक्त कुछ अन्य प्रकार के निर्देशाक भी होते हैं, जैसे—आय-सम्बन्धी निर्देशाक (Income Index Number), आर्थिक स्थिति सम्बन्धी निर्देशाक, इत्यादि।

निर्देशांकों की उपयोगिता

(Advantages of Index Number)

निर्देशांकों का व्यावहारिक जीवन में बहुत अधिक महत्त्व है। इनसे सामान्यतया निम्नलिखित लाभ प्राप्त होते हैं :—

1. मुद्रा की क्रय-शक्ति में परिवर्तन का ज्ञान (Knowledge of changes in the purchasing power) :—निर्देशाकों का सर्वाधिक प्रमुख लाभ यह है कि इनके द्वारा समय-समय पर मुद्रा की क्रय-शक्ति में हुए परिवर्तनों को जाना जा सकता है। हमारे समाज में मुद्रा का स्थान प्रधान है, अतएव इस प्रकार की जानकारी आर्थिक दृष्टि से बहुत ही महत्त्वपूर्ण होती है।

2. जीवन-स्तर का तुलनात्मक अध्ययन (Comparative study of Living standard) :—श्रमिकों तथा साधारण नागरिकों के जीवन-स्तर में समय-समय में हुए परिवर्तनों को जानने के लिए भी यह एक प्रमुख साधन है। इस उद्देश्य से एक विशेष प्रकार का निर्देशाक जीवन-निर्वाह सम्बन्धी-निर्देशाक (Cost of Living Index Number) तैयार किया जाता है जिसके द्वारा विभिन्न वर्ग के व्यक्तियों के जीवन-स्तर में हुए परिवर्तनों का ज्ञान प्राप्त किया जाता है।

3. व्यापारियों के लिए उपयोगी (Advantageous to Businessmen) :—निर्देशांक उत्पादक तथा व्यापारी वर्ग के लिए भी विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण होते हैं क्योंकि इनकी सहायता से उन्हे मुद्रा के मूल्य मे परिवर्त्तन तथा सामान्य आर्थिक स्थिति का अन्दाजा लगता है। उत्पादक तथा व्यापारी मूल्य मे परिवर्त्तन के अनुसार ही अपने उत्पादन तथा व्यापार की योजना तैयार करते हैं।

4. सरकार की मौद्रिक नीति के निर्धारण में सहायता (Useful in determination of the Monetarvy policv) :—सरकारी मौद्रिक नीति के निर्धारण मे भी इससे सहायता मिलती है। जब वस्तुओ के मूल्य-तल मे ह्रास से उत्पादन कम होने लगता है तथा व्यापारिक मन्दी की शुरुआत हो जाती है तो इसका प्रभाव समाज के विभिन्न वर्गो के लोगों पर विभिन्न प्रकार से पड़ता है। सरकार इन्हें दूर करने के लिए उचित नीति अपनाती है। इस प्रकार सूचनांक कीमत मे परिवर्त्तनो का संकेत कर सरकार को अपनी आर्थिक नीति निर्धारित करने मे सहायता पहुँचाते हैं।

5. मजदूरी के निर्धारण मे उपयोगिता (Utility in the determination of wages) :—जीवन-निर्वाह व्यय के सूचनाक (Cost of living Index Number) से मजदूरो को मजदूरी के निर्धारण मे पर्याप्त सहायता मिलती है। इनके द्वारा मजदूरो के मजदूरी-सम्बन्धी झगडो का निपटारा होता है। सामान्यतः, मजदूरी, पारिश्रमिक या वेतन के निर्धारण मे नीचे लिखी बातो को ध्यान मे रखना आवश्यक है :—

(i) वस्तुओं के मूल्य मे परिवर्तन के कारण मजदूरो के रहन-सहन के व्यय मे परिवर्तन;

(ii) समय-परिवर्तन के परिणामस्वरूप रहन-सहन के स्तर मे परिवर्तन; जैसे—फैशन, रीति-रिवाज, आदत, वैज्ञानिक वस्तुओ के आविष्कार, स्थानापन्न वस्तुओ के आविष्कार इत्यादि के कारण लोगो के रहन-सहन के स्तर मे परिवर्तन, और

(ii) एक न्यूनतम रहन-सहन का स्तर बनाये रखना। उपरोक्त बातो का ज्ञान जीवन-निर्वाह के व्यय के सूचनाक तैयार करने से ही प्राप्त हो सकता है।

इस प्रकार निर्देशाको का व्यावहारिक जीवन मे बडा ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। प्रो० फिशर (Fisher) का इस सम्बन्ध मे निम्नांकित कथन विशेष रूप से महत्वपूर्ण है, "वस्तुओं के मूल्य-स्तर को स्थायी रखने तथा व्यापार मे स्थिरता एव स्थायित्व लाने के लिए निर्देशांक बहुत ही उपयोगी सिद्ध होते है। इनकी सहायता से आर्थिक, व्यापारिक तथा वित्त-सम्बन्धी सभी समस्याओ को समझने मे सुगमता होती है।"

विशेष अध्ययन-सूची

1. Irving Fisher : The Making of Index Number,
2. Geoffrey Crowther : An Outline of Money, Chapter III.
3. C. N. Halm : Economics of Money and Banking, Chapter IX.

अध्याय : 9

मुद्रा के मूल्य मे परिवर्तन

(Changes in the Value of Money)

प्राक्कथन — मुद्रा की एक प्रधान विशेषता यह है कि इसका मूल्य कभी स्थायी नहीं रहता, इसमे सदा परिवर्तन होते रहते है। हम जानते हैं कि मुद्रा का मूल्य इसकी क्रय-शक्ति है। इसके मूल्य मे परिवर्तन को हम सामान्य मूल्य-तल (General Price-level) मे परिवर्तन के द्वारा व्यक्त करते हैं। मुद्रा के मूल्य एव सामान्य मूल्य-तल मे ठीक् विपरीत सम्बन्ध है। जब सामान्य मूल्य-तल (General Price level) मे वृद्धि होती है तो मुद्रा का मूल्य कम हो जाता है, यानी मुद्रा की प्रत्येक इकाई अब पहले की अपेक्षा कम ही वस्तुएँ तथा सेवाएँ खरीद सकती है। इसके विपरीत जब सामान्य मूल्य-तल मे कमी होती है, तो मुद्रा का मूल्य बढ जाता है, यानी मुद्रा की प्रत्येक इकाई अब पहले की अपेक्षा अधिक वस्तुएँ तथा सेवाएँ खरीद सकती है। आधुनिक आर्थिक व्यवस्था मे मुद्रा के मूल्य मे एक चक्र (Cycle) की तरह सदा परिवर्तन होते रहता है। मुद्रा-स्फीति (Inflation) एव मुद्रा-अपस्फीति (Deflation) इस चक्र के दो पक्ष हैं। क्राउथर के अनुसार **"मुद्रा-स्फीति (Inflation) वह स्थिति है जिसमे मुद्रा का मूल्य घटता है तथा वस्तुओ का मूल्य बढता है।"** (Inflation is a state in which the value of money is falling i. e prices are rising) इसके विपरीत **"मुद्रा अवस्फीति (Deflation) वह स्थिति है जिसमे मुद्रा का मूल्य बढता है तथा वस्तुओ का मूल्य घटता है।"** (Deflation is a state in which the value of money is rising i e the prices are falling)[1] मुद्रा के मूल्य मे परिवर्तन का समाज पर बहुत अधिक प्रभाव पडता है।

मुद्रा के मूल्य मे परिवर्तन के प्रभाव के अध्ययन के पूर्व मूल्य-तल (Price-level) के आचरण के सम्बन्ध मे थोडी बहुत जानकारी अनिवार्य है। मूल्य-तल मे परिवर्तन को निर्देशाक (Index Number) के द्वारा आँकते हैं। किन्तु यदि एक ही साथ विभिन्न वस्तुओ के मूल्य भिन्न-भिन्न दिशाओ मे जाते हो, यानी एक साथ कुछ घटते एव कुछ बढते हो तो निर्देशाक से हम किसी निश्चित निष्कर्ष पर नही पहुँच सकते। ऐसी स्थिति मे, निर्देशाक केवल एक गणित की सख्या मात्र ही रह जाता है। जब केवल अधिकाश पदार्थों के मूल्य एक साथ एव एक ही दिशा मे परिवर्तित होते हो, तभी निर्देशाक से हम किसी निश्चित निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं, यानी हम यह कह सकते हैं कि मुद्रा के मूल्य मे वृद्धि हुई है या कमी। वास्तविक जीवन में अधिकांश वस्तुओ के मूल्य एक सीमा तक एक ही साथ बढने या घटते हैं किन्तु इसका अर्थ यह नही कि प्रत्येक वस्तु का मूल्य सदा एक ही दिशा मे घटता या बढता है। कुछ वस्तुओ के मूल्य विपरीत दिशा मे भी जाते हैं, किन्तु इसे अपवादस्वरूप ही समझना चाहिए। ऐसा किसी विशेष कारण से ही होता है, जैसे किसी आविष्कार या किसी फसल का कम या अधिक होना इत्यादि। अतएव अधिकांश पदार्थो के मूल्य मे एक साथ तथा एक ही दिशा मे परिवर्तन होता है। इससे स्पष्ट है कि सभी पदार्थो के मूल्य मे कोई शक्ति समभाव रूप से व्याप्त है जिसके फलस्वरूप इनमे एक साथ तथा एक ही दिशा मे परिवर्तन होता है। यह शक्ति स्वय मुद्रा है, किन्तु यह निष्कर्ष

---

1 मुद्रा-स्फीति (Inflation) एव मुद्रा-अवस्फीति (Deflation) का सविस्तार विवरण इस पुस्तक में आगे चल कर एक पृथक् अध्याय में किया गया है।

मुद्रा की प्रकृति को नया रूप देता है। हम देख चुके हैं कि मुद्रा का प्रमुख उद्देश्य विनिमय के माध्यम के रूप मे कार्य करना है। इस रूप मे मुद्रा को मध्यस्थ तथा निष्क्रिय रह कर मनुष्य के इशारे पर कार्य करना चाहिए था, किन्तु ऐसा नही होता। मुद्रा निष्क्रिय नही रह कर स्वय सक्रिय हो जाती है, जिससे मुद्रा का मूल्य केवल एक गणित-मात्र ही नही रहकर वास्तविक रूप धारण कर लेता है। मुद्रा की केवल इस निष्पक्ष रहने की विफलता के कारण ही आधुनिक समाज मे अनेक मौद्रिक समस्याएँ उत्पन्न होती है।

किन्तु यद्यपि अधिकाश वस्तुओ के मूल्य एक समय एक ही दिशा मे परिवर्तित होने की प्रवृत्ति रखते हैं, तथापि इससे यह नही सोचना चाहिए कि इनमे सदा एक समान परिवर्तन होता है। इसके विपरीत विभिन्न पदार्थो के मूल्यो के परिवर्तन मे बहुत अन्तर पाया जाता है। उदाहरण के लिए, कच्चे पदार्थ (*Raw materials*), *जिनमे सट्टेबाजी अधिक होती है*, के मूल्य बहुत अधिक परिवर्तनशील होते है। इसका कारण यह है कि इनके उत्पादन की मात्रा मे सुगमता से तथा शीघ्रतापूर्वक परिवर्तन करना कठिन है। इसके अन्तर्गत विभिन्न प्रकार के खनिज एवं कृषि पदार्थ आते हैं। कच्चे मालो की अपेक्षा निर्मित वस्तुओ (manufactured goods) की कीमत मे कम एव धीरे-धीरे परिवतन होता है। इसका कारण यह है कि इनकी मात्रा एव कीमत का निर्धारण व्यापारियो तथा व्यापारिक सस्थाओ के हाथ मे रहता है। साथ ही, इनके निर्माण-सम्बन्धी बहुत-से खर्च लगभग स्थायी रहते हैं, अतएव व्यापारीगण अपनी वस्तुओ को घाटे पर बेचना पसन्द नही करते। इन सब कारणो से निर्मित वस्तुओ के मूल्य मे अपेक्षाकृत कम परिवर्तन होता है। मजदूरी (wages) मे तो इनसे भी कम परिवर्तन होता है। मजदूरी घटाना साधारणत बहुत कठिन और अप्रिय कार्य है। आजकल प्राय सभी देशो मे श्रमिक सघो (Trade Unions) के सगठन के कारण मजदूरी मे किसी प्रकार की कटौती बहुत कठिन हो गयी है। मजदूरी की अपेक्षा वेतन मे तो और भी धीरे-धीरे परिवर्तन होता है। इसके साथ-साथ प्रत्येक समाज में कुछ एसे मूल्य भी होते हैं जो ठके पर निश्चित होते हैं, जैसे मकान का भाडा, दीर्घकालीन ऋण पर ब्याज, जीवन बीमा का प्रीमियम इत्यादि। अतएव मूल्य तल मे परिवर्तन के फलस्वरूप इस प्रकार के मूल्य मे प्रायः कोई परिवर्तन नही होता।

इससे यह स्पष्ट है कि मुद्रा के मूल्य में परिवर्तन के परिणामस्वरूप सभी वस्तुओ एव सेवाओ के मूल्य मे एक समान परिवर्तन नही होता। फलस्वरूप मुद्रा के मूल्य मे परिवर्तन का समाज के विभिन्न वर्गों पर विभिन्न प्रकार से प्रभाव पडता हैं।

मुद्रा के मूल्य मे परिवर्तन का समाज के विभिन्न वर्गों पर प्रभाव

(Effects of Changes in the Value of money on Different Classes of the Society)

मुद्रा के मूल्य मे परिवर्तन के फलस्वरूप सभी वस्तुओ अथवा सेवाओ के मूल्य मे एक समान परिवर्तन नही होता। यदि मुद्रा के मूल्य मे परिवर्तन से सभी लेन-देन समान रूप से प्रभावित होते तो इसका समाज पर कोई प्रभाव नही पडता। उदाहरणार्थ, यदि मूल्य मे परिवर्तन के परिणामस्वरूप समाज क सभी व्यक्तियो की वास्तविक आय दुगुनी हो जाय तो इससे समाज का कोई भी व्यक्ति प्रभावित नहीं होगा। किन्तु वास्तविक जीवन मे ऐसा कभी नही होता। मुद्रा के मूल्य मे परिवर्तन से सभी वस्तुओ तथा सेवाओ के मूल्य म समान रूप से परिवर्तन नही होता, अतएव समाज के विभिन्न वर्गो पर इसका प्रभाव भिन्न-भिन्न रूप से पड़ता है।

मुद्रा के मूल्य मे परिवर्तन का समाज की आर्थिक व्यवस्था पर प्रभाव प्रधानतः दो प्रकार से पड़ता है :—

(1) धन के वितरण (Distribution of Wealth) के द्वारा, तथा

(2) धन के उत्पादन (Production of Wealth) एवं साधनो की रोजगारी (Employment of Resources) के द्वारा।

मुद्रा के मूल्य में परिवर्तन का धन के वितरण पर प्रभाव

(Changes in the Value of Money as affecting Distribution of Wealth)

सुप्रसिद्ध अर्थशास्त्री केन्स (Keynes) ने अपनी पुस्तक 'A Tract on Monetary Reform'[1] मे मुद्रा के मूल्य मे परिवर्तन के प्रभाव के अध्ययन के लिए समाज को निम्नलिखित तीन वर्गों मे विभाजित किया है .—(i) विनियोगी वर्ग (Investing Class), (ii) व्यापारी वर्ग (Business Class), तथा (iii) श्रमिक वर्ग (Earning Class)। परन्तु अध्ययन की सुविधा के लिए हम एक चतुर्थ वर्ग के अध्ययन पर जोर दे सकते हैं और वह है (iv) कृषक वर्ग (Agriculturist Class)। किन्तु यह स्मरण रहे कि समाज के इन विभिन्न वर्गों को पूर्णतया एक दूसरे से पृथक् नही किया जा सकता है। फिर भी, अध्ययन की सुविधा के लिए मुद्रा के मूल्य मे परिवर्तन के प्रभाव का अध्ययन हम इन चार वर्गों के लिए पृथक्-पृथक् रूप से करेंगे।

(i) विनियोगी वर्ग (Investing Class) .—आधुनिक पूँजीवादी व्यवस्था के विकास मे विनियोगी वर्ग ने निस्सन्देह महत्त्वपूर्ण सहयोग प्रदान किया है। विनियोगी वर्ग वह है जो उद्योग एव व्यवसाय मे अपने धन का विनियोजन (Investment) कर उससे प्राप्त आय के द्वारा अपना जीवन बसर करता है। उन्नीसवी शताब्दी मे पश्चिम के राष्ट्रों मे इस प्रकार के एक सुदृढ़ वर्ग का उदय हुआ जो अपनी बचत के विनियोग से ही आय प्राप्त करता था। इस वर्ग की सर्वप्रमुख विशेषता यह है कि इसकी आय दीर्घकाल तक प्राय स्थायी रहती है। व्यवसाय के लाभ एव हानि तथा मूल्य मे वृद्धि एव कमी से इनका कोई सम्बन्ध नही होता।

विनियोगी वर्ग (Investing Class) को मुद्रा-स्फीति (Inflation), यानी मुद्रा के मूल्य मे कमी से घाटा होता है, क्योंकि मुद्रा-स्फीति के परिणामस्वरूप इनके विनियोग की रकम का वास्तविक मूल्य (Real value) कम हो जाता है। उदाहरण के लिए यदि ऋण देने के समय 100 रुपये से 100 क्विन्टल चावल खरीदा जा सकता था, मुद्रा-स्फीति के कारण कुछ समय बाद उसी 100 रुपये से केवल 25 क्विंटल अथवा इससे भी कम चावल ही खरीदा जाता हो, तो इससे स्पष्ट है कि मुद्रा के मूल्य मे कमी के कारण विनियोग की गयी रकम का वास्तविक मूल्य घट कर केवल एक-चौथाई या इससे भी कम हो गया है। साथ ही, इस वर्ग की आय स्थायी होती है, अतएव मुद्रा-स्फीति के परिणामस्वरूप इनकी वास्तविक आय (Real Income) भी बहुत कम हो जाती है। इस प्रकार मुद्रा-स्फीति (Inflation) विनियोगी वर्ग अथवा महाजन के लिए हानिकारक तथा ऋणी (Debtors) वर्ग के लिए लाभदायक सिद्ध होती है। ठीक इसके विपरीत मुद्रा-अवस्फीति (Deflation) अथवा मुद्रा के मूल्य मे वृद्धि विनियोगी वर्ग के लिए लाभदायक होती है क्योंकि मुद्रा के मूल्य मे वृद्धि से इसके विनियोग की रकम का वास्तविक मूल्य बढ जाता है, अतः इनकी वास्तविक आय (Real Income) भी बढ़ जाती है। इस प्रकार

1. J. M. Keynes—A Tract on Monetery Reform, Chapter—I

अवस्फीति विनियोगी वर्ग के लिए लाभदायक तथा ऋणी (Debtors) वर्ग के लिए हानिकारक सिद्ध होती है। यही कारण है कि अवस्फीति के समय ऋण का बोझ इतना अधिक हो जाता है कि इसका भुगतान करना ऋणियो के लिए कठिन हो जाता है।

(ii) व्यापारी एव उत्पादक वर्ग (Business Class) :—व्यापारी एव उत्पादक वर्ग के अन्तर्गत खान एव कारखानो के मालिक, व्यापारी तथा अन्य प्रकार के उत्पादक सम्मिलित हैं। मुद्रा-स्फीति (Inflation) अथवा मूल्य-तल मे वृद्धि से व्यापारियो को लाभ होता है। (A period of rising prices acts as a stimulus to enterprise and is beneficial to businessmen—Keynes) मुद्रा-स्फीति (Inflation) अथवा मुद्रा के मूल्य मे कमी से व्यापारीगण कई कारणो से लाभान्वित होते हैं। सर्वप्रथम, तो मुद्रा-स्फीति के समय जिस गति से मूल्य-तल मे वृद्धि होती है उस गति से उत्पादन व्यय मे वृद्धि नही होती। इनके कुछ खर्च, जैसे—किराया, सूद या ब्याज आदि तो प्राय स्थायी ही रहते हैं। मजदूरी में भी बहुत धीरे-धीरे वृद्धि होती है। अतएव व्यापारी एव उत्पादको के लिए मुद्रा-स्फीति (Inflation) लाभदायक सिद्ध होती है। ऐसी स्थिति मे व्यापारियो के लाभ का एक और प्रमुख कारण है। वर्तमान समय मे उत्पादन के कार्य मे सदा कुछ समय लगता है। व्यापारी प्राय चार-पाँच महीने पहले ही कच्चा माल तथा यन्त्रादि खरीदते हैं और चूंकि मुद्रा-स्फीति के समय मूल्य मे निरन्तर वृद्धि होने की प्रवृत्ति पायी जाती है, अतएव जबतक वस्तुएँ अन्तिम रूप से तैयार होकर निकलती हैं, तबतक इसके मूल्य मे बहुत अधिक वृद्धि हो गयी रहती है। इस प्रकार मुद्रा-स्फीति से व्यापारियो को अप्रत्याशित लाभ (Windfall gains) होता है। मूल्य-तल मे वृद्धि के परिणामस्वरूप इनके ऋण का वास्तविक मूल्य (Real value) भी बहुत घट जाता है। इसके चलते भी इन्हे बहुत अधिक लाभ होता है।

किन्तु, यद्यपि मुद्रा स्फीति (Inflation) से व्यापारियो एव उद्योगपतियो को अप्रत्याशित लाभ होता है, फिर भी इस अप्रत्याशित लाभ के परिणामस्वरूप ये अत्यधिक बदनाम भी हो जाते हैं। कैन्स (Keyens) के शब्दों मे "यदि मुद्रा के मूल्य मे कमी विनियोग को हतोत्साहित करती है तो यह व्यापारियो को बदनाम भी करती है।" (If the fall in the value of money discourages investment, it also discredits enterprise.) इसका कारण स्पष्ट है। उपभोक्ताओ के दृष्टिकोण से मूल्य मे अतिशय वृद्धि का मुख्य कारण व्यापारियो एव उद्योगपतियो का अत्यधिक मुनाफा ही होना है। व्यापारी भी सदा अपने इस अप्रत्याशित लाभ को बनाये रखने की बात सोचते रहते हैं। इन सब कारणो से मुद्रा-स्फीति, यानी मुद्रा के मूल्य मे कमी से ये पूर्णरूपेण मुनाफाखोर (Profiteer) बन जाते हैं।

इसके विपरीत मुद्रा-अवस्फीति (Deflation), यानी मुद्रा के मूल्य में वृद्धि का व्यापारियो एव उद्योगपतियो पर ठीक इसके विपरीत प्रभाव पडता है—अप्रत्याशित लाभ की जगह इन्हे अत्यधिक हानि होने लगती है। इसका कारण यह है कि अवस्फीति के समय वस्तुओ की माग कम हो जाती है जिससे इनके पास बिना बिके हुए माल का भडार बढने लगता है। इनके बहुत सारे खर्च प्राय स्थायी ही रहते हैं। मजदूरी मे भी बहुत कम कमी होती है। अतएव इन्हें मुद्रा के मूल्य मे वृद्धि से अत्यधिक हानि होती है। इस अत्यधिक हानि से छुटकारा पाने के लिए व्यापारीगण अपने पास कम-से-कम माल का भडार रखना चाहते हैं। इससे व्यावसायिक क्रियाशीलता मद होने लगती है जिससे बहुत अधिक साधन बेकार हो जाते हैं। इस प्रकार विस्फीति मे मुनाफाखोरी (Profiteering) की जगह बेकारी की समस्या प्रमुख हो जाती है।

(iii) श्रमिक वर्ग (Earning Class) :—श्रमिक वर्ग पर मुद्रा के मूल्य में परिवर्तन के प्रभाव की व्याख्या करने के पूर्व इस बात पर ध्यान देना आवश्यक है कि "मजदूरी मे मूल्य-तल की अपेक्षा कम परिवर्तन होता है यानी मजदूरी सदा कीमतो से पीछे रहती है।" (Wages always tend to lag behind the prices.) अतएव मुद्रा-स्फीति (Inflation), यानी मुद्रा के मूल्य मे कमी के समय जिस गति से मूल्य-तल मे वृद्धि होती है उस गति से मजदूरी मे वृद्धि नहीं होती। परिणामस्वरूप मुद्रा-स्फीति के समय मजदूरों की वास्तविक मजदूरी (Real-wages) कम हो जाती है। इसके विपरीत विस्फीति (Deflation), यानी मुद्रा के मूल्य मे वृद्धि के समय मजदूरी की दर मे बहुत कम कमी होती है। आजकल तो श्रमिक-संघो (Trade Unions) के प्रभाव से मजदूरी की दर में कमी करना और भी कठिन हो गया है। अतएव विस्फीति के समय श्रमिको की वास्तविक मजदूरी (Real Wages) में वृद्धि हो जाती है। इससे स्पष्ट है कि श्रमिक वर्ग के लिए मुद्रा के मूल्य मे कमी, यानी मुद्रा-स्फीति (Inflation) हानिकारक तथा अवस्फीति (Deflation) लाभदायक सिद्ध होती है।

किन्तु, इस प्रकार का निष्कर्ष वास्तविकता से बहुत दूर है। मुद्रा-अवस्फीति श्रमिकों के लिए लाभदायक अवश्य जान पड़ती है, किन्तु अवस्फीति के समय औद्योगिक क्रियाशीलता मन्द पड जाती है जिससे रोजगार के साधनो मे कमी होने लगती है। अतएव मुद्रा-अवस्फीति के समय बेकारी की समस्या उग्र रूप धारण कर लेती है जिसका श्रमिक वर्ग पर बहुत ही बुरा प्रभाव पड़ता है। अतएव कहा जाता है कि अवस्फीति मे केवल वे ही श्रमिक लाभान्वित होते हैं जो अपनी रोजी को बनाये रखते हैं। इसके विपरीत मुद्रा-स्फीति के समय औद्योगिक क्रियाशीलता बहुत बढ जाती है जिससे रोजगार के साधनों मे बहुत अधिक वृद्धि होती है। अतएव इन सभी बातों को ध्यान मे रखते हुए यह कहा जा सकता है कि श्रमिक वर्ग के लिए मुद्रा स्फीति का समय ही उत्तम होता है।

इस प्रकार यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि श्रमिक वर्ग सामूहिक रूप से मुद्रा-स्फीति से लाभान्वित होते हैं क्योंकि औद्योगिक क्रियाशीलता मे वृद्धि के कारण इस समय रोजगार के अवसरो मे अत्यधिक वृद्धि होती है। इससे श्रमिको को बेकारी का सामना नहीं करना पड़ता। इसके विपरीत मुद्रा-अवस्फीति (Deflation) का समय इनके लिए हानिकारक होता है क्योंकि ऐसी स्थिति में औद्योगिक क्रियाशीलता मे कमी के कारण रोजगार के साधनो का अभाव हो जाता है जिससे बहुत-से श्रमिक यों ही बेकार हो जाते हैं।

(iv) कृषक वर्ग (Agriculturists) —किसानो पर मुद्रा के मूल्य में परिवर्तन का प्रभाव ठीक व्यापारियो की ही तरह पड़ता है। अन्य वस्तुओ की अपेक्षा कृषि-पदार्थों के मूल्य में बहुत शीघ्र तथा अधिक मात्रा मे परिवर्तन होता है। अतएव मुद्रा-स्फीति (Inflation), यानी मुद्रा के मूल्य मे कमी से किसान अत्यधिक लाभान्वित होते हैं, क्योंकि इनकी वस्तुओं का मूल्य बड़ी तेजी के साथ बढ़ता है, किन्तु लगान, मजदूरी तथा अन्य औद्योगिक पदार्थ जिन पर ये अपनी आय खर्च करते हैं, के मूल्य मे अपेक्षाकृत कम वृद्धि होती है। अतएव मुद्रा स्फीति से किसानो को लाभ होता है। इसके विपरीत मुद्रा विस्फीति (Deflation) का किसानो पर बहुत ही बुरा प्रभाव पड़ता है। विस्फीति के समय किसानो की वस्तुओं के मूल्य मे इनके अन्य खर्चों की अपेक्षा बहुत तेजी से कमी होती है। इस प्रकार मुद्रा के मूल्य में ह्रास, यानी मुद्रा स्फीति (Inflation) का समय किसानो के लिए लाभदायक तथा मुद्रा के मूल्य म वृद्धि यानी मुद्रा-विस्फीति (Deflation) का समय किसानो के लिए हानिकारक सिद्ध होता है।

इस प्रकार उक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि "मुद्रा-स्फीति समाज में धन के वितरण को इस प्रकार से प्रभावित करती है जिससे कि विनियोगी वर्ग को हानि होती है, व्यापारी एवं कृषक वर्ग को लाभ होता है और जो वर्तमान औद्योगिक युग में [मजदूरों के लिए भी लाभदायक होता है।" (Inflation redistributes wealth in a manner very injurious to the *investor, very beneficial to the businessmen, and probably in* modern industrial conditions, beneficial on the whole to the earner.)[1] मुद्रा-विस्फीति (Deflation) का समाज मे धन के वितरण पर ठीक इसके विपरीत प्रभाव पड़ता है।

मुद्रा के मूल्य में परिवर्तन का उत्पादन पर प्रभाव

(Changes in the Value of Money as affecting Production)

मुद्रा के मूल्य मे परिवर्तन का धन के उत्पादन पर भी महत्वपूर्ण प्रभाव पडता है। वर्तमान पूँजीवादी व्यवस्था मे धन का उत्पादन पूँजीपतियो द्वारा व्यक्तिगत लाभ के प्रयोजन से किया जाता है। ये अधिकतम लाभ के उद्देश्य से ही उत्पादन करते हैं। मुद्रा-स्फीति (Inflation), यानी मूल्य-तल मे वृद्धि व्यापारियों एवं उद्योगपतियो के लिए लाभदायक सिद्ध होती है। इससे उद्योग-धन्धो को प्रोत्साहन मिलता है। अतएव मूल्य-तल में वृद्धि के समय औद्योगिक क्रियाशीलता में वृद्धि होती है—उत्पादन अधिक होता है तथा व्यापारियो एवं उद्योगपतियो को अप्रत्याशित लाभ (windfall gains) प्राप्त होता है। औद्योगिक क्रियाशीलता में वृद्धि के परिणामस्वरूप रोजगार के साधनों में भी वृद्धि होती है तथा श्रमिको को अधिकाधिक मात्रा में रोजगार मिलता है। इस प्रकार मूल्य तल में वृद्धि के फलस्वरूप उत्पादन में वृद्धि होती है। दूसरे शब्दो में, देश के आर्थिक विकास एवं उत्पादन में वृद्धि के दृष्टिकोण से मूल्य-तल में वृद्धि एक अच्छी चीज है।

मुद्रा-अपस्फीति (Deflation), यानी मूल्य-तल मे ह्रास का उत्पादन पर ठीक इसके विपरीत प्रभाव पडता है। मूल्य-तल में ह्रास की सम्भावना को देखकर नुकसान से बचने के लिए व्यापारी तथा उद्योगपति उत्पादन की मात्रा को घटाना प्रारम्भ कर देते हैं। इससे औद्योगिक क्रियाशीलता मन्द पड़ने लगती है, रोजगार के अवसरो में कमी होने लगती है, और इस प्रकार बहुत अधिक श्रमिक योंही बेकार हो जाते हैं। इससे वस्तुओ एवं सेवाओ की माग में कमी होती है, फलतः मूल्य-तल में और अधिक कमी होने लगती है। इस कमी का पुनः उत्पादन एव रोजगार के साधनो पर प्रभाव पडता है। इस प्रकार मुद्रा-अवस्फीति एक विषैला कुचक्र (Vicious Circle) का रूप धारण कर लेती है जिसमें मूल्य, उत्पादन एव रोजगार में निरन्तर कमी होती जाती है। इस प्रकार मूल्य-तल में कमी से उत्पादन हतोत्साहित होता है।

इस प्रकार मुद्रा-स्फीति समाज के कुछ वर्गों के लिए लाभदायक तथा कुछ वर्गों के लिए हानिकारक सिद्ध होती है। उदाहरण के लिए, स्थायी आय वाले वर्ग पर इसका बुरा प्रभाव पडता है। मुद्रा स्फीति के कारण इस वर्ग की वास्तविक आय बहुत ही कम हो जाती है। मध्यम वर्ग भी इससे बहुत अधिक प्रभावित होता है। केमरर (Kemmerer) के अनुसार "मध्यम वर्ग जो अपने कड़े परिश्रम एवं बचाने की आदत द्वारा अपने बच्चो की शिक्षा एव बीमारी तथा वृद्धावस्था का सामना करने के उद्देश्य से बचत का सचय करता है, मुद्रा स्फीति के दिनो में अपने को गम्भीर स्थिति में पाता है। आय की तुलना में रहन-सहन का स्तर बहुत बढ जाता है, सारी बचत समाप्त हो जाती है। कठिन परिश्रम, स्वतन्त्रता एव बचाने की आदत झूठे देवता के समान

1. Keynes—A Tract on Monetary Reform.

हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में मध्यम वर्ग पर निराशा एवं असफलता के झूठे बादल छा जाते हैं।" (The middle class, however, which by hard work and thrift has built up a fund of savings to its children to provide a livelihood for times of sickness and for old age finds itself in desperate situation in a time of serious inflation. The cost of living rises disproportionately to income, savings are wiped out, and hard work, independence and thrift seem to be the false God. Under such conditions, the middle class is overwhelmed by a sense of futility and desperation.) वास्तव में, मुद्रा-स्फीति के सबसे बड़े शिकार मध्यम वर्ग के वे लोग होते हैं जो हर समाज की आधारशिला होते हैं। मुद्रा-स्फीति के कारण ही प्रथम महायुद्ध के बाद वाले समय में जर्मनी आदि देशों से मध्यम वर्ग प्राय समाप्त ही हो गया था।

आर्थिक कठिनाइयों के अतिरिक्त मुद्रा-स्फीति से व्यक्तियों का नैतिक पतन भी होता है। समाज में धन एवं आय के अन्यायपूर्ण तरीके से पुनर्वितरण के द्वारा मुद्रा-स्फीति जनता में सरकार तथा नैतिकता के प्रति अविश्वास उत्पन्न कर देती है। समाज में जिन लोगों की आय तथा सम्पत्ति मुद्रा-स्फीति के कारण समाप्त हो जाती है वे सरकार के कट्टर विरोधी बन जाते हैं। मुद्रा-स्फीति से लोगों का नैतिक पतन भी हो जाता है। इसी कारण प्रथम महायुद्ध के बाद जर्मनी में गम्भीर नैतिक पतन की स्थिति उत्पन्न हो गयी थी। जर्मनी में उन दिनों लोगों में इतना अधिक नैतिक पतन हो गया था कि पुरुष स्त्रियों के वस्त्र पहनकर बर्लिन के नाच-घरों में पुलिस अफसरों से आँख बचाकर नाचा करते थे। बर्लिन की नवयुवतियाँ अपने दोषों की धर्म-शास्त्रीय ढंग से व्याख्या करती थीं। सोलह वर्ष की उम्र तक पवित्र कुमारी रहना उन दिनों बर्लिन में लज्जाजनक समझा जाता था। अतएव प्रत्येक लड़की अपने दूषित अनुभवों को बताने में गर्व का अनुभव करता था। (Young girls bragged proudly of their pervesions to be sixteen and under the suspicion of virginity would have been considered disgrace in any school of Berlin at that time. Every girl wanted to tell of her adventures and the more exotic, the better.)

—*Quoted by S. K. Murarjan.*

इस प्रकार मुद्रा-स्फीति से यद्यपि ऋणी, उत्पादक तथा व्यापारी वर्ग लाभान्वित होता है, फिर भी विनियोगी एवं साहूकार वर्ग को इससे बहुत अधिक हानि होती है। मुद्रा-स्फीति के कारण इनके विनियोग का वास्तविक मूल्य कम हो जाता है। साथ ही, श्रमिक तथा नौकरी पेशे-वालों को मुद्रा-स्फीति के कारण अधिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा है। इसमें सन्देह नहीं कि मुद्रा-स्फीति के कारण रोजगार के साधनों में वृद्धि होती है जिससे अधिक-से-अधिक मात्रा में श्रमिकों को रोजगार मिला है, किन्तु फिर भी मुद्रा के मूल्य में अत्यधिक वृद्धि के कारण इनकी वास्तविक आय बहुत कम हो जाती है जिससे इन्हें कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है।

मुद्रा-अवस्फीति के प्रभाव ठीक इसके विपरीत होते हैं। मुद्रा-अवस्फीति मानव समाज के लिए कितना कष्टदायक हो सकता है, यह 1930 ई० एवं बाद की भयानक आर्थिक मन्दी से स्पष्ट हो जाता है। मुद्रा-अवस्फीति के समय आर्थिक क्रियाशीलता मन्द पड़ जाती है और आर्थिक क्रियाशीलता में मन्दी के कारण बहुत-से लोग बेकार पड़ जाते हैं। तीसा की भयानक मन्दी के निम्नतम छोर पर संयुक्त राज्य अमेरिका में प्रायः 1 5 करोड़ व्यक्ति बेकार थे। करोड़ों अमेरिका निवासी किसी भी मजदूरी पर काम करने के लिए मारे-मारे फिरते थे जबकि प्रायः सभी व्यावसायिक भवनों में 'No Help Wanted' का बोर्ड टँगा पाते थे। संसार के सभी देशों में प्राय यह बात थी और, जैसा कि हम जानते हैं बेकारी मानव समुदाय का सबसे बड़ा दुश्मन है। बेकारी के समय उत्पादन कम हो जाता है जिससे लोगों की कार्य-क्षमता घट जाती है। इतना

नही, बेकार व्यक्ति देश-द्रोही बनकर देश एवं समाज की शान्ति भंग कर सकता है। बेकारी के इस आर्थिक परिणाम के अतिरिक्त मुद्रा-अवस्फीति के भयानक राजनीतिक, नैतिक एवं सामाजिक परिणाम भी होते हैं। इसीलिए केन्स (Keynes) ने तो यहाँ तक कहा था कि बेकार व्यक्तियों को यदि समाज उत्पादक कार्य नही प्रदान कर सकता है तो अनुत्पादक कार्य मे लगाना भी बेकारी की अपेक्षा अधिक अच्छा होता है। इसलिए उनके विचार मे दिन भर गड्ढे खोदना तथा सायंकाल उसे भर देना, यद्यपि बिल्कुल अनुत्पादक कार्य है, फिर भी बेकारी की तुलना में कही अधिक अच्छा है।

मुद्रा-अवस्फीति का सबसे बुरा परिणाम व्यापारियों तथा किसानों पर पडता है। मूल्य-तल मे निरन्तर ह्रास के कारण सदा व्यापारियों को हानि की सम्भावना बनी रहती है। इसलिए वे उत्पादन कम अथवा बन्द कर देते हैं। किसान तो इसमे बहुत अधिक प्रभावित होते हैं। कृषि-पदार्थों के मूल्य मे सबसे अधिक एव शीघ्रता के साथ कमी होती है। इससे किसानों को सबसे अधिक हानि होती है। श्रमिकों को भी उत्पादन मे कमी से बेकारी का सामना करना पडता है। इस प्रकार मुद्रा-अवस्फीति का समाज के विभिन्न वर्गों पर बहुत ही बुरा प्रभाव पडता है। मुद्रा-अवस्फीति के समय देश की राष्ट्रीय आय कम होने लगती है जिससे लोगो की आर्थिक कठिनाइयाँ बहुत बढ जाती हैं।

निष्कर्ष : मुद्रा-स्फीति अन्यायपूर्ण (Inflation is unjust) और मुद्रा-अवस्फीति अयुक्तिसगत (Deflation is inexpedient) :—उपरोक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि मुद्रा-स्फीति एवं अवस्फीति दोनो के अपने-अपने पृथक्-पृथक् गुण एव दोष है। मुद्रा स्फीति, यानी मूल्य-तल मे वृद्धि कुछ व्यक्तियो तथा वर्गों के लिए अन्यायपूर्ण होती है। विनियोगी वर्ग पर इसका विशेष रूप से बुरा प्रभाव पडता है, अतएव यह बचत की भावना को समाप्त कर देती है। इन्ही कारणो से प्रो० वकील (C. N. Vakil) ने मुद्रा-स्फीति की तुलना एक ऐसे डाकू से की है जो अदृश्य (Invisible) होते हुए भी, एक ही समय सम्पूर्ण राष्ट्र को लूटता है।[1] इसके विपरीत मुद्रा-अवस्फीति, यानी मूल्य-तल मे कमी से वृत्तिहीनता (unemployment) मे वृद्धि होती है तथा औद्योगिक क्रियाशीलता मद पड जाती है। अतएव मन्दी श्रमिको, व्यापारियो एव उद्योगपतियों तथा किसानो के लिए अनुपयुक्त सिद्ध होती है। इस प्रकार मुद्रा-स्फीति तथा अवस्फीति दोनो देश की आर्थिक क्रियाओ के लिए हानिकारक सिद्ध होते हैं। सुप्रसिद्ध अर्थशास्त्री केन्स (Keynes) के अनुसार 'यदि मुद्रा-स्फीति अन्यायपूर्ण (unjust) है तो मुद्रा-अवस्फीति अयुक्तिसगत (inexpedient), किन्तु इन दोनों मे मुद्रा-अवस्फीति (Deflation) ही अधिक बुरी है क्योंकि इसमे वृत्तिहीनता (unemployment) मे वृद्धि होती है। और आज के युग में वृत्तिहीनता को प्रश्रय देना विनियोगी वर्ग को नाखुश रखने के बजाय कही अधिक बुरा है।" (Thus Inflation is unjust and Deflation is inexpedient Of the two perhaps deflation is the worse; because it is worse in an impoverished world to provoke unemployment than to disappoint the rentier) किन्तु, इसका अर्थ यह नही कि हम इन दोनो मे से किसी एक को अच्छा समझते हैं। वास्तव मे, दोनो ही वर्तमान आर्थिक व्यवस्था के लिए हानिकारक हैं, अतएव इन्हे दूर करना ही अति उपयुक्त होगा।

---

1. "Inflation may be compared to robbery. Both deprive the victims of their possession with the difference that the robber is visible, inflation is invisible, the robber's victim may be one or few at a time, the victims of inflation are the whole nation, the robber may be dragged to a court of Law, inflation is legal."—*Prof. C. N. Vakil.*

अध्याय : 10

मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त

(The Quantity Theory of Money)

प्राक्कथन —पिछले अध्याय मे मुद्रा के मूल्य की परिभाषा दी गयी है। यह भी बतलाया गया है कि मुद्रा के मूल्य मे समय-समय पर परिवर्तन होते रहते हैं जिन्हें हम निर्देशांक (Index Number) की सहायता से आँकते हैं। साथ ही, इस बात की भी व्याख्या की गयी है कि मुद्रा के मूल्य मे परिवर्तन का समाज के विभिन्न वर्गों पर क्या प्रभाव पड़ता है। अतएव अब यहाँ मुद्रा के मूल्य मे परिवर्तन के कारणो का विश्लेषण करना चाहिए।

परिमाण सिद्धान्त का प्राचीन रूप[1] —मुद्रा के मूल्य निर्धारण के सिद्धान्तों मे सबसे महत्वपूर्ण सिद्धान्त मुद्रा का परिमाण सिद्धांत (Quantity Theory of Money) रहा है। इस सिद्धान्त की व्याख्या हम प्राचीन समय मे भी पाते हैं। लॉक (Locke)[2], ह्यूम (Hume) तथा कैन्टिलियन (Cantillion) आदि वणिकवादी (Mercantilist) लेखकों ने सर्वप्रथम इसकी स्पष्ट रूप से व्याख्या की है। परिमाण सिद्धात के प्राचीन रूप के अनुसार मुद्रा का मूल्य मुद्रा के परिमाण पर आधारित था। (The value of money depended upon its quantity or supply) दूसरे शब्दों मे, इस सिद्धान्त के अनुसार मुद्रा के मूल्य मे परिवर्तन का एक-मात्र कारण मुद्रा के परिमाण मे परिवर्तन था। ह्यूम के अनुसार यदि मुद्रा की माग की स्थिति मे कोई परिवर्तन नहीं हो तो मुद्रा की मात्रा मे परिवर्तन के अनुसार मुद्रा के मूल्य मे परिवर्तन होता है। किन्तु इन अर्थशास्त्रियो के अनुसार मुद्रा की मात्रा मे परिवर्तन के अनुसार मूल्य-तल मे सदा आनुपातिक परिवर्तन होता है। यह परिमाण सिद्धात का कठोर (Rigid) रूप है।

सुप्रसिद्ध प्रतिष्ठित अर्थशास्त्री जॉन स्टुअर्ट मिल (J S Mill) ने इस सिद्धान्त की व्याख्या इस प्रकार से की है "अन्य बातो के समान रहने पर, मुद्रा का मूल्य उसकी मात्रा के विपरीत दिशा मे परिवर्तित होता है। मुद्रा की मात्रा मे प्रत्येक वृद्धि मुद्रा के मूल्य को उसी अनुपात मे घटाती है और मुद्रा की मात्रा की प्रत्येक कमी उसे उसी

---

1. मुद्रा के मूल्य निर्धारण के सम्बन्ध में निम्नांकित तीन सिद्धान्त दिये गये है :—
   (क) मुद्रा का वस्तु सिद्धान्त (Commodity theory of Money),
   (ख) मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त (Quantity theory of Money),
   (ग) आय अथवा बचत एवं विनियोग का सिद्धान्त (Income or Saving and Investment Theory)।

मुद्रा के वस्तु सिद्धान्त (Commodity Theory) के अनुसार, मुद्रा का मूल्य उस पदार्थ, जिसकी मुद्रा बनी हुई होती है, के मूल्य के अनुसार निश्चित होता है। वास्तव में, वस्तु सिद्धान्त की यह मान्यता है कि मुद्रा किसी पदार्थ की बनी हुई होती है और मुद्रा की प्रत्येक इकाई का मूल्य उसमें निहित वस्तु के मूल्य पर ही निर्भर करता है। किन्तु जब मुद्रा सोने तथा चाँदी का बनी हुई होती थी तो यह बात निश्चय ही सत्य थी, किन्तु आज के पत्र मुद्रा के युग में यह बिलकुल अव्यावहारिक जान पडती है।

2 कुछ लेखकों के अनुसार जान लाक (John Locke) ने सर्वप्रथम स्पष्ट रूप से इस सिद्धान्त की व्याख्या की थी। किन्तु अन्य अर्थशास्त्री, जिनमें जैकब वाइनर (Jacob Viner) का नाम उल्लेखनीय है, के अनुसार लॉक के पूर्व भी इस सिद्धान्त की व्याख्या कई अर्थशास्त्रियों ने की थी।

अनुपात में बढाती है।" (The value of money, other things being the same, varies inversely as its quantity, every increase of quantity lowers the value and every diminution raising it in ratio exactly equivalent)

किन्तु परिष्कृत रूप मे अर्थशास्त्रियो ने परिमाण सिद्धान्त[1] की व्याख्या दो महत्वपूर्ण दृष्टिकोण से की है —

(1) आदान-प्रदान दृष्टिकोण (Transaction Approach), जिसके प्रतिपादक प्रो० 'इरविंग फिशर' (Prof Irving Fisher) हैं, तथा

(2) मुद्रा सचयन दृष्टिकोण (Cash Balance Approach) जिसकी व्याख्या इगलैड के कुछ सुप्रसिद्ध अर्थशास्त्रियो—मार्शल, पीगू, केन्स तथा रॉबर्टसन आदि ने की है। इसे परिमाण सिद्धान्त का 'कैम्ब्रिज वरसन' (Cambridge Version) भी कहते हैं।

सर्वप्रथम परिमाण सिद्धान्त के आदान-प्रदान दृष्टिकोण (Transaction approach) की व्याख्या की जायगी।

परिमाण सिद्धान्त का आदान-प्रदान रूप

(The Transaction Type of Quantity Theory)

किसी वस्तु का मूल्य उस वस्तु की माग (Demand) एव पूर्ति (Supply) पर निर्भर करता है। अन्य वस्तुओ की तरह मुद्रा का मूल्य भी मुद्रा की मांग एव पूर्ति पर निर्भर करता है। किन्तु इस सम्बन्ध में मुद्रा एव अन्य वस्तुओ मे एक विशेष अन्तर यह है कि मुद्रा के मूल्य मे परिवतन सभी वस्तुओ के मूल्य को प्रभावित करता है। यदि मुद्रा की माग मे पूर्ति की अपेक्षा अधिक वृद्धि हो, तो मुद्रा का मूल्य बढ जायगा, यानी सामान्य मूल्य-तल (General Price-Level) कम हो जायगा। किन्तु इस सिद्धान्त की विस्तारपूर्वक विवेचना के पूर्व मुद्रा की पूर्ति एव माग के सम्बन्ध म जानकारी आवश्यक है।

मुद्रा की पूर्ति (Supply of Money) —अब प्रश्न यह है कि मुद्रा की पूर्ति क्या है? किसी विशेष समय म मुद्रा की पूर्ति का तात्पर्य समाज मे प्रचलित मुद्रा (Money in circulation) की कुल मात्रा से है। मुद्रा की परिभाषा से यह स्पष्ट है कि सिक्के एव कागजी नोट को ही हम मुद्रा नही कहते, वरन् इसके अन्तगत उन सभी पदार्थों को भी रखा जाता है जो लेन देन के भुगतान के रूप में स्वीकार किये जाते हो। अतएव वतमान समय मे मुद्रा की पूर्ति (Supply of Money) या मुद्रा के परिमाण (Quantity of money) के अन्तगत निम्नलिखित तीन प्रकार की मुद्राओ का समावेश रहता है—(i सिक्के (Coins), (ii) कागजी नोट (Paper notes), एव (iii) बैंक जमा (Bank Deposit) केवल चालू जमा (Demand deposit) जिसके आधार पर चेक जारी किये जाते हैं]। किन्तु यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि मुद्रा

---

1 टासिग के अनुसार— Double the quantity of money and other things being equal, prices will be twice as high as before and the value of money one half Halve the quantity of money and other things being equal, prices will be one half of what they were before and the value of money double" —*Taussing*

इसी प्रकार विक्सेल के अनुसार—"The value of purchasing power of money varies in inverse proportion to its quantity, so that an increase or decrease in the *quantity of money, other things* being equal will cause a proportionate decrease or increase in its purchasing power in terms of other goods, and thus a *corresponding increase* or decrease in all commodity prices"—*Wicksell*

की पूर्ति के अन्तर्गत किसी विशेष समय में केवल प्रचलन में मुद्रा (Money in circulation) की मात्रा की ही गणना होती है।

यह तो किसी नियत तिथि या समय में मुद्रा की पूर्ति हुई। किन्तु यदि हम किसी दिये हुए समय में, जैसे एक वर्ष में मुद्रा की पूर्ति को जानना चाहते हैं, तो हमें एक नयी बात पर ध्यान देना होगा। हम जानते हैं कि मुद्रा की प्रत्येक इकाई किसी दिये हुए समय में एक से अधिक बार व्यवहृत होती है। सिक्के बैंक नोट एवं बैंक जमा, सभी किसी एक ही कार्य को करके एक व्यक्ति के पास ठहर नहीं जाते वरन तीव्रता से एक व्यक्ति के हाथ से दूसरे तथा दूसरे से तीसरे के हाथ में आते-जाते रहते हैं। उदाहरण के लिए यदि एक रुपये के नोट से 'क' ने चावल खरीदा, उसी का प्रयोग चावल वाले ने गेहूँ खरीदने में किया, गेहूँ वाला उससे साबुन तथा साबुनवाला उससे तेल खरीदता है। इस प्रकार यदि एक रुपये का नोट 20 बार प्रयोग किया जाय, तो वह बीस रुपये का सामान खरीदता है। मुद्रा की एक इकाई औसत रूप से एक दिये हुए समय में जितनी बार व्यवहृत होती है उसे मुद्रा का भ्रमण प्रवाह (Velocity of circulation) कहते हैं। अतएव यदि हम यह जानना चाहें कि कुल अदायगियों में कितनी मुद्रा का प्रयोग हुआ तो उसका जवाब होगा = कुल मुद्रा का योग × मुद्रा का भ्रमण-प्रवाह। दूसरे शब्दों में, एक दिये समय में, जैसे एक वर्ष में, मुद्रा की कुल पूर्ति बराबर होती है 'कुल मुद्रा के योग × *मुद्रा के भ्रमण-प्रवाह के'*। *मुद्रा के कुल योग को हम 'M' तथा इसके भ्रमण-प्रवाह को 'V' के* द्वारा व्यक्त करते हैं। इस प्रकार किसी दिये गये समय, जैसे एक वर्ष के अन्तर्गत मुद्रा की कुल पूर्ति बराबर है 'MV' के। प्रो० रॉबर्टसन (Robertson) ने पहले प्रकार की मुद्रा की पूर्ति को निष्क्रिय मुद्रा या 'बैठी हुई मुद्रा' (Money Sitting) तथा दूसरे प्रकार की मुद्रा की पूर्ति को 'सक्रिय मुद्रा' या 'उड़ती हुई मुद्रा' (Money on the wings) कहा है।

मुद्रा की माग (Demand for Money) :—परिमाण सिद्धान्त के आदान-प्रदान दृष्टिकोण के अनुसार मुद्रा की माग इसलिए की जाती है कि मुद्रा विनिमय के माध्यम (medium of exchange) का कार्य करती है। मुद्रा की कोई स्वकीय उपयोगिता नहीं है, अत मुद्रा की माग खास मुद्रा के लिए नहीं की जाती। मुद्रा की माग इसलिए की जाती है कि इसमें आम क्रय-शक्ति (general purchasing power) निहित रहती है, *इसका प्रयोग हम दूसरी वस्तुओं* तथा सेवाओं को खरीदने के लिए करते हैं। अतएव किसी देश में एक निश्चित अवधि के अन्तर्गत मुद्रा की माग वहाँ क्रय की जानेवाली वस्तुओं तथा सेवाओं की कुल मात्रा पर निर्भर करती है। इसे क्रय विक्रय की कुल मात्रा (Total Volume of Transaction) कहा जा सकता है जिसे 'T' के द्वारा हम व्यक्त करेंगे। किन्तु प्रत्येक वस्तु अथवा सेवा का क्रय-विक्रय एक निश्चित मूल्य पर होता है। अतएव मुद्रा की कुल माग को जानने के लिए वस्तुओं एवं सेवाओं की कुल मात्रा के साथ-साथ इनके मूल्यों को भी जानना होगा। वस्तुओं तथा सेवाओं के औसत मूल्य को 'P' के द्वारा व्यक्त किया जाता है। इस प्रकार *'PT' मुद्रा की कुल माग हुई।*

फीशर का समीकरण :—*माग एवं पूर्ति के इस सम्बन्ध को* फिशर (Fisher) ने एक समीकरण (equation) के रूप में रखा है। जब कोई वस्तु बिकती है, तो उसका विनिमय मुद्रा की कुछ इकाइयों से होता है। अब यदि एक वर्ष के अन्दर बिकनेवाली सभी वस्तुओं की एक सूची तैयार की जाय तो यह कहा जा सकता है कि कुल बिक्री की हुई वस्तुओं का मूल्य बराबर है उसके बदले में दी गयी कुल मुद्रा के योग के। दूसरे शब्दों में,

दी गयी मुद्रा का कुल योग = बिक्री की गयी वस्तुओ या सेवाओ के मूल्य के योग के।

दी गयी मुद्रा का कुल योग 'MV' है, तथा बिक्री की गयी वस्तुओ के मूल्य का योग 'PT' है। इस प्रकार हम कह सकते है कि—

$$MV = PT$$

यानी, $P = \frac{MV}{T}$

यह प्रो० इरविंग फिशर (Irving Fisher) द्वारा दिया गया समीकरण है जो मुद्रा के मूल्य-निर्धारण के सम्बन्ध मे प्रमुख रहा है। उपरोक्त समीकरण मे :—

M = समाज मे प्रचलित मुद्रा की सम्पूर्ण राशि (Total quantity of money of all kinds in circulation);

V = मुद्रा का भ्रमण-प्रवाह (Velocity of circulation of money), यानी एक दिये हुए समय मे औसत रूप से मुद्रा की प्रत्येक इकाई जितनी बार व्यवहृत होती है वह;

P = वस्तुओ एवं सेवाओ का औसत मूल्य (Average price per unit of T), तथा

T = क्रय-विक्रय की कुल मात्रा (Total Physical volume of Transactions)।[1]

इस प्रकार इस समीकरण के दो अग हुए। एक अ ग सम्पूर्ण मौद्रिक व्यय को बतलाया है जिसे मुद्रा की सम्पूर्ण राशि (Total *Quantity of money*) मे उसके औसत भ्रमण-प्रवाह (*Velocity of circulation*) से गुणा करने पर प्राप्त किया जाता है। इसे 'MV' के द्वारा व्यक्त किया जाता है। समीकरण का दूसरा अ ग कुल क्रय-विक्रय की गयी वस्तुओ एव सेवाओ का मौद्रिक मूल्य है जिसे T, यानी वस्तुओ की कुल मात्रा (Total physical Volume of Transaction) को P, यानी इनके औसत मूल्य (Average price per unit of

---

1. इसे इस प्रकार से भी व्यक्त किया जा सकता है—

$$\text{मूल्य-स्तर } (P) = \frac{\text{प्रचलित मुद्रा की कुल राशि } (M) \times \text{मुद्रा का भ्रमण-प्रवाह } (V)}{\text{क्रय-विक्रय की मात्रा } (T)}$$

प्रो० फिशर (Fisher) के इस समीकरण का एक दूसरा समवर्द्धित रूप भी दिया जाता है जो इस प्रकार से है :—

$$MV + M'V' = PT$$

यानी $$P = \frac{MV + M'V'}{T}$$

इसमें M = नकद मुद्रा (सिक्के तथा पत्र मुद्रा) की कुल मात्रा,

V = नकद मुद्रा (सिक्के तथा पत्र-मुद्रा) का भ्रमण-प्रवाह,

M' = बैंक जमा ((Bank deposit) या साख-मुद्रा,

V' = इस प्रकार की मुद्रा के भ्रमण-प्रवाह को व्यक्त करता है;

P = वस्तुओं एव सेवाओं का औसत मूल्य, तथा

T = क्रय-विक्रय की कुल मात्रा को दिखलाते हैं।

किन्तु सुविधा की दृष्टि से हम M के अन्तर्गत नकद-मुद्रा एव बैंक जमा दोनों प्रकार की मुद्रा के योग (M+M', को रख सकते हैं जिसके औसत भ्रमण-प्रवाह को V के द्वारा व्यक्त किया जा सकता है।

पर प्राप्त किया जाता है। इसे 'P T' के द्वारा व्यक्त किया जाता है। यद्यपि 'MV = PT' यानी क्रय-विक्रय की जानेवाली वस्तुओ एव सेवाओ का मौद्रिक मूल्य सम्पूर्ण मौद्रिक व्यय के बराबर है, एक स्वयसिद्ध (Truism) है, फिर भी इसी समीकरण की सहायता से कुछ महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं।

मानलिया कि किसी समय मे पहले की अपेक्षा मूल्य-तल (P) दुगुना हो गया है तो इस समीकरण के अनुसार इसके तीन मे से कोई एक या सयुक्त रूप स तीनो कारण अवश्य होगे :—

(क) या तो मुद्रा का परिमाण अवश्य ही दुगुना हो गया होगा (The quantity of money must have doubled),

(ख) या भ्रमण-प्रवाह दुगुना हो गया होगा (The velocity of circulation must have doubled),

(ग) या लेन-देन का परिमाण आधा हो गया होगा (The physical volume of transaction must have been halved)।

इस प्रकार यह समीकरण यह बतलाता है कि मूल्य-तल (P) एव मुद्रा का परिमाण (M) तथा इसके भ्रमण-प्रवाह (V) एक ही दिशा म बदलते है। अन्य बातो के यथावत् रहने पर, यदि M अथवा V मे वृद्धि होगी तो P मे भी वृद्धि होगी। इसके विपरीत मूल्य-तल (P) एव लेन-देन के परिमाण (T) विपरीत दिशा मे बदलत है। अन्य बातो के यथावत् रहने पर यदि T बढ जाता है तो P अवश्य कम हो जायगा। दूसरे शब्दो मे, "यह कहा जा सकता है कि मूल्य-तल (P) मे मुद्रा (M) एव इसके भ्रमण-प्रवाह (V) से सीधा तथा लेन-दन के कुल परिमाण (T) के विपरीत सम्बन्ध है।" [The general level of prices (P) varies directly with the quantity of money (M) and its velocity of circulation (V) and inversely with the volume of goods and services (T) to be purchased with it.]

फिशर के समीकरण की मान्यताएँ

(Assumptions)

किन्तु, प्रो० फिशर का यह सिद्धान्त कुछ मान्यताओ पर आधारित है जिनमे निम्नांकित उल्लेखनीय हैं —

(1) अल्पकाल मे 'T' एव 'V' स्थायी रहते हैं —सर्वप्रथम मान्यता तो यह है कि प्रो० फिशर (Fisher) के अनुसार 'T' एव 'V' अल्पकाल मे प्राय स्थायी (Constant) रहते हैं। 'T' मुख्यतः उत्पादन के परिमाण पर निर्भर करता है। किन्तु उत्पादन के परिमाण म अल्पकाल मे बहुत कम परिवर्तन होता है। इसका कारण यह है कि उत्पादन के परिमाण मे वृद्धि उत्पादन के तरीको मे सुधार, नये-नये आविष्कार एव उत्पादन के साधनो की कार्य-कुशलता म वृद्धि आदि पर निर्भर करती है जिनमे अल्पकाल मे प्राय कोई परिवर्तन नही होता। अतएव प्रो० इरविंग फिसर (Irving Fisher) ने यह मान लिया है कि अल्पकाल मे 'T' प्रायः स्थायी (constant) रहता है।

इसी प्रकार 'V', यानी मुद्रा का भ्रमण-प्रवाह भी अल्पकाल मे प्राय. स्थायी रहता है। मुद्रा का भ्रमण-प्रवाह कुछ सस्थागत कारणो (Institutional factors), जैसे लोगो की व्यावसायिक एव मौद्रिक आदतो (Business and monetary habits) देश, का आर्थिक विकास, जनसख्या, लोगो की अभिरुचियो तथा बैंकिंग की सुविधा आदि पर निर्भर करता है। अल्पकाल

में इन सभी बातो में प्राय कोई परिवर्तन नही होता। अतएव फिशर के इसी आधार यह मान लिया है कि 'V' अल्पकाल में प्राय स्थायी (constant) रहता है।

इस प्रकार प्रो फिशर (Fisher) के अनुसार 'V' एव 'T' अल्पकाल में प्राय स्थायी रहते हैं।

(ii) 'M', 'V एव 'T' स्वतन्त्र इकाइयाँ हैं —साथ ही, फिशर ने यह भी मानलिया है कि 'M', 'V' एव 'T' स्वतन्त्र इकाइयाँ (Independent variables) हैं यानी एक का दूसरे पर प्राय कोई प्रभाव नही पड़ता। फिशर के अनुसार M भी एक स्वतन्त्र इकाई है। इस पर दूसरे में परिवर्तन का कोई प्रभाव नही पड़ता।

(iii) मूल्य-स्तर, यानी 'P' एक निष्क्रिय शक्ति (Passive element) है —इस सिद्धात की एक अन्य मान्यता यह भी है कि मूल्य-स्तर P एक निष्क्रिय शक्ति है—अर्थात् मुद्रा की मात्रा एव अन्य तत्त्वो की मात्रा में परिवर्तन का मूल्य स्तर पर तो प्रभाव पडता है, किन्तु मूल्यस्तर में परिवर्तन का मुद्रा की मात्रा एव अन्य तत्त्वो पर प्राय कोई प्रभाव नही पडता। फिशर इस बात को स्पष्ट करेते हुए लिखने हैं कि "समीकरण मे मूल्य-स्तर सामान्यत एक निरपेक्ष तथा निष्क्रिय तत्त्व है यह स्वय समीकरण के दूसरे तत्त्वो से निर्धारित होता है किन्तु दूसरे तत्त्वों पर अपना कोई प्रभाव नही डालता।' (The price-level is normally the one absolutely passive element in the equation of exchange, It is controlled solely by the other elements and causes antecedents of them, but exerts no control over them)[1]

(iv) बैंक जमा (M) तथा मुद्रा की मात्रा (M) मे एक निश्चित सम्बन्ध होता है —फिशर के अनुसार उद्योग धन्धो के विकास की दी हुई स्थिति में बैंक जमा, यानी M तथा प्रचलन में मुद्रा की मात्रा, यानी M का सदा एक निश्चित अनुपात होता है।

इस प्रकार V एव T को अल्पकाल मे अपरिवर्तनशील, निश्चित एव समान मानकर फिशर मुद्रा की मात्रा (M) एव मूल्य तल (P) के बीच एक प्रकार का सीधा एव आनुपातिक सम्बन्ध स्थापित करते हैं। अत फिशर (Fisher) का यह निष्कर्ष है कि 'P' यानी मूल्य तल मे परिवर्तन मुद्रा के परिमाण (M) के परिवर्तन का परिणाम है। दूसरे शब्दो मे, 'M' में परिवर्तन 'P' को प्रभावित करते हैं। इससे स्पष्ट है कि मुद्रा के परिमाण (M) में परिवर्तन के परिणाम-स्वरूप मूल्य-तल (Price-level) में सीधा आनुपातिक (Directly proportional) तथा मुद्रा के मत्य (Value of money) में प्रतिअनुपाती (Inversely Proportional) परिवर्तन होता है। मूल्य-तल (P) एव मुद्रा की मात्रा (M) के सम्बन्ध की व्याख्या करते हुए स्वय प्रो० फिशर लिखते हैं कि 'मुद्रा को मात्रा मे वृद्धि होने का एक सामान्य प्रभाव यह होता है कि सामान्य मूल्य स्तर मे भी ठीक उसी अनुपात मे वृद्धि हो जाती है। परिमाण सिद्धात के इस सत्य मे कि मुद्रा की मात्रा मे परिवतन समान परिस्थितियो में, मूल्यो मे आनुपातिक परिवर्तन उत्पन्न कर देते हैं, किसी प्रकार रुकावट व बाधा नहीं उत्पन्न होती है।' [One of the normal effects of an increase in the quantity of money is an exactly proportional increase in the level of prices We find nothing to interfere with the truth of the quantity theory that variations in money (M) produce normally proportional changes in prices][2]

1 *Irving Fisher*—The Purchasing Power of Money, p 172

2 *Irving Fisher* – The Purchasing Power of Money

चित्र द्वारा स्पष्टीकरण :—मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त, जो कि मुद्रा की मात्रा एवं सामान्य मूल्य-तल में प्रत्यक्ष व आनुपातिक सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयास करता है, को निम्नांकित रेखा-चित्र से अधिक स्पष्ट किया जा सकता है :—
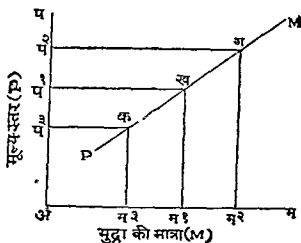
निम्नांकित चित्र मे मुद्रा की मात्रा, जो समाज मे प्रचलन मे है (M) को अ म रेखा पर तथा सामान्य मूल्य-तल (P) को अ प रेखा पर दिखलाया गया है। जब चलन मे मुद्रा की मात्रा अ म^1 रहती है तो मूल्य-तल अ प^1 हो जाता है। जब मुद्रा की मात्रा अ म^1 से बढकर अ म^2 हो जाती है, तो मूल्य-तल अ प^1 से बढकर अ प^2 हो जाता है। यहाँ पर अ प^1 एवं अ प^2 में ठीक वही सम्बन्ध है जो अ म^1 एव अ म^2 मे है, *यानी यदि अ म^2, अ म^1 का दुगना है, तो अ प^2 भी* अ प^1 का दुगुना होगा। इसी प्रकार यदि मुद्रा की मात्रा अ म^1 से घट कर अ म^3 हो जाती है, तो मूल्य-तल भी घटकर अ प^1 से अ प^3 हो जाता है, अर्थात् जब मुद्रा की मात्रा पहले से घट कर आधी हो जाती है तो मूल्य-तल भी आधा हो जाता है। चित्र मे क, ख एव ग विन्दुओ को मिला देने से P M रेखा प्राप्त होती है जो कि मुद्रा की मात्रा एव मूल्य तल में सीधा एवं आनुपातिक सम्बन्ध को व्यक्त करती है।

इस प्रकार फिशर का समीकरण विश्लेषण का एक अस्त्र है। इस समीकरण के अनुसार मूल्य-तल (P) के तीन प्रत्यक्ष अथवा तात्कालिक निर्धारक तत्त्व हैं—M, V एव T। मूल्य-तल (P) M एव V के साथ एक दिशा मे तथा T के साथ विपरीत दिशा मे बदलता है। किन्तु मूल्य-तल के ये तीनो निर्धारक तत्त्व स्वय बहुत-सी शक्तियो द्वारा निर्धारित होते हैं। वास्तव मे, ये ही शक्तियाँ मुद्रा के मूल्य के निर्धारण मे भी कार्य करती हैं। अतएव कहा जाता है कि "मुद्रा के मूल्य के वास्तविक निर्धारक तत्त्व इस समीकरण मे नही वरन् इसके पीछे पाये जाते हैं।" (The ultimate determinants of the value of money are to be found behind the equation of exchange and not in it) किन्तु यदि हम इन सभी शक्तियों अथवा तत्वो का पृथक् पृथक् रूप से विवेचन करने लगें तो विश्लेषण अत्यन्त ही जटिल हो जायगा। अतएव, फिशर के समीकरण का महत्त्व इस बात मे है कि यह मुद्रा के मूल्य को निर्धारित करने वाली शक्तियो को हमारे समक्ष कुछ इकाइयो के रूप में व्यक्त करता है। किन्तु, फिर भी इन इकाइयो के पीछे कार्य करनेवाली शक्तियो अथवा तत्त्वो का संक्षिप्त विवेचन अधिक लाभदायक सिद्ध होगा।

M, यानी मुद्रा की पूर्ति के निर्धारक तत्त्व

(Determinants of M, the Morey Supply)

आधुनिक समय म 'M', यानी मुद्रा की कुल मात्रा के दो निर्मायक तत्व हैं—(1) राजकीय मुद्रा, यानी सिक्के तथा पत्र मुद्रा जो प्रचलन मे रहते हैं, और (2) बैंक जमा (केवल चालू जमा जिम पर चेक जारी किये जा सकते हैं)। इन दोनो की सयुक्त राशि ही किसी समय मे किसी देश की मुद्रा की कुल पूर्ति कहलाती है।

अब इस मुद्रा की पूर्ति (M) के निम्नलिखित प्रमुख निर्धारक तत्त्व हैं —

(i) मौद्रिक आधार का आकार (The size of the monetary base),

(ii) नकद मुद्रा एव चालू जमा जो समाज अपने पास रखना चाहता है, तथा

(iii) बैंक के जमा एव नक्द कोप का अनुपात।

मुद्रा की पूर्ति के निर्धारक तत्त्वो मे मौद्रिक आधार का आकार अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। हम देख चुके हैं कि किसी देश का मौद्रिक सगठन एक उलट कर रखे हुए पिरामिड (inverted pyramid) के आकार का होता है जो बहुत ही नाजुक मौद्रिक आधार पर अवलम्बित रहता है। इस मौद्रिक आधार का निर्माण बहुमूल्य धातुओ से होना है जिसमे स्वर्ण का स्थान प्रधान होता है। स्वर्ण की मात्रा मे वृद्धि होने से सम्पूर्ण मुद्रा की मात्रा म वृद्धि होती है। आधुनिक समय मे राजकीय मुद्रा के अन्तर्गत पत्र-मुद्रा की ही प्रधानता रहती है और पत्र-मुद्रा की मात्रा स्वर्ण आदि बहुमूल्य धातुओ से घनिष्ठ रूप मे सम्बन्धित रहती है। इस प्रकार स्वर्ण की मात्रा बढने से पत्र-मुद्रा की मात्रा बढ जाती है और पत्र-मुद्रा की मात्रा मे वृद्धि से व्यावसायिक बैंको के नकद कोष मे भी वृद्धि होती है जिससे बैंक मुद्रा की मात्रा मे वृद्धि होती है।

किन्तु मुद्रा की पूर्ति तथा मौद्रिक आधार मे कोई निश्चित आनुपातिक सम्बन्ध नही स्थापित किया जा सकता। वास्तव मे, इनका सम्बन्ध इस बात पर निर्भर करता है कि समाज अपनी आय का कौन सा भाग नकद मुद्रा के रूप मे तथा कौन-सा भाग चालू जमा के रूप मे रखना चाहता है तथा बैंक जमा एव नकद कोष का अनुपात क्या है। जिस समाज मे नकद भुगतान की अपेक्षा चेक के द्वारा भुगतान की प्रधानता रहती है, वहाँ पर एक दिये हुए मौद्रिक आधार पर मुद्रा की पूर्ति अधिक होती है। इसका कारण स्पष्ट है। यदि नकद मुद्रा के रूप मे एक रुपये का प्रयोग किया जाता है तो वह एक रुपये का कार्य करता है, किन्तु यदि एक रुपये को बैंक म जमा कर दिया जाता है तो बैंक इसके आधार पर कई रुपये का, साधारणतया 8 से 10 गुना तक, बैंक-मुद्रा का सृजन करता है। अतएव यदि लोग अपनी मुद्रा का अधिकाश भाग बैंक-जमा के रूप मे रखना चाहते हैं तो इससे बैंको के नकद कोष के परिमाण म भी वृद्धि होती है जिससे वे अधिक मात्रा मे जमा का सृजन कर सकते हैं। इसके विपरीत यदि लोग अपनी मुद्रा का अधिकाश भाग अपने पास नकद मुद्रा के रूप ही धारण करना चाहते हैं तो इससे बैंको के पास नकद मुद्रा की मात्रा कम हो जाती है जिससे वे कम ही परिमाण मे जमा का सृजन कर सकते हैं।

मुद्रा के परिमाण का एक प्रधान निर्धारक तत्त्व बैंको के जमा तथा नकद कोष का अनुपात (height of the ratio between bank reserves and deposits) भी है। यदि यह अनुपात अधिक है तो बैंक एक दिये नकद कोष के आधार पर कम ही मात्रा मे जमा का सृजन कर सकते हैं। उदाहरण के लिए, यदि यह अनुपात 10 प्रतिशत है तो एक रुपया 10 रुपये के बैंक जमा के आधार का कार्य कर सकता है। बैंक मुद्रा एव नकद कोष का यह अनुपात भारत तथा सयुक्त

राज्य अमेरिका में विधान के द्वारा निश्चित होता है, किन्तु इंगलैंड जैसे अन्य देशों में यह रिवाज द्वारा निश्चित होता है।

इस प्रकार मुद्रा की पूर्ति उपरोक्त सभी तथ्यो द्वारा निर्धारित होती है। किन्तु इनके अतिरिक्त आधुनिक समय मे मुद्रा की पूर्ति के निर्धारक तत्त्वो मे सरकार की मौद्रिक तथा राजस्व नीति का भी महत्वपूर्ण स्थान है। उदाहरण के लिए, मदी के समय मे देश की आर्थिक व्यवस्था मे विश्वास की सृष्टि के लिए सस्ती मुद्रा नीति (cheap money policy) को अपनाया जाता है। साथ ही, सरकार ऐसे समय मे स्वय अपने खर्च को बढा देती है और इस बढे हुए खर्च की पूर्ति बैंक तथा अन्य संस्थाओ से ऋण लेकर की जाती है। इसके विपरीत, मुद्रा-स्फीति मे जब मुद्रा का प्रसार बहुत अधिक हो जाता है तो मौद्रिक एव राजस्व नीति के सम्मिलित प्रयोग द्वारा इसे रोकने का प्रयास किया जाता है। ऐसे समय मे मौद्रिक नीति के आधार पर ब्याज की दर को बढाकर मुद्रा की माँग को कम करने का प्रयास किया जाता है तथा राजस्व के नीति के द्वारा नये-नये करों को लगाकर अतिरिक्त क्रय-शक्ति को बाजार मे पहुँचने के पूर्व ही आर्थिक व्यवस्था से खीच लिया जाता है। इससे स्पष्ट है कि मुद्रा के परिमाण पर मौद्रिक नीति एव राजस्व नीति का भी प्रभाव पड़ता है।

मुद्रा के भ्रमण-प्रवाह (v) के निर्धारक तत्त्व

(Determinants of the Velocity of Circulation of Money)

किसी दिये हुए समय मे मुद्रा की कुल पूर्ति को जानने के लिए चलन मे मुद्रा की कुल मात्रा, यानी M मे उसके भ्रमण-प्रवाह, यानी V से गुणा करना पड़ता है। V, यानी मुद्रा का भ्रमण-प्रवाह निम्न बातो पर निर्भर करता है :—

1. देश मे साख एव वित्तीय व्यवस्था का विकास,
2. समाज मे बचत तथा उपभोग की स्थिति,
3. समाज मे भुगतान की प्रणाली;
4. आय पाने तथा व्यय करने के समय के बीच का अन्तर, तथा
5. भविष्य की आय एव मूल्य के सम्बन्ध मे अनुमान।

मुद्रा का भ्रमण-प्रवाह मुख्य रूप से समाज मे साख एव वित्तीय व्यवस्था के विकास तथा जनता द्वारा इनके प्रयोग पर निर्भर करता है। जिन देशो मे पर्याप्त मात्रा मे साख एवं वित्तीय व्यवस्था का विकास नही हुआ रहता है, वहाँ लोग अपनी बचत को बैंक अथवा अन्य साधनो मे विनियोग करने के बजाय मुख्यतः अपने पास नकद मुद्रा के रूप मे ही रखते हैं। साथ ही, इस प्रकार के समाज मे ऋण आदि प्राप्त करने की कठिनाइयो के कारण भविष्य की अनिश्चितताओ को दूर करने के लिए लोग अधिक मात्रा मे संचित करके रखना चाहते हैं। इन कारणो से इस प्रकार के समाज मे मुद्रा का भ्रमण-प्रवाह बहुत कम होता है। इसके विपरीत अत्यधिक विकसित साख एवं वित्तीय व्यवस्थावाले देशो मे मुद्रा का भ्रमण-प्रवाह अत्यधिक होता है क्योकि विकसित साख एवं वित्तीय-व्यवस्था के कारण लोग अपनी अतिरिक्त मुद्रा को अपने पास सचित कर रखने के बजाय विनियोग करना ही अधिक लाभप्रद समझते हैं।

समाज मे लोगो की बचत तथा उपभोग की स्थिति भी मुद्रा के भ्रमण-प्रवाह को प्रभावित करती है। एक अविकसित साख एवं वित्तीय व्यवस्था वाले देश मे लोग यदि अधिक मात्रा मे बचाते हैं तो मुद्रा को संचित करके रखते हैं जिससे इसका भ्रमण-प्रवाह कम होता है। इसके

विपरीत यदि लोग अपनी आय का अधिकाश भाग उपभोग पर व्यय करते हैं, तो इससे मुद्रा का भ्रमण-प्रवाह अपेक्षाकृत अधिक होता है।

मुद्रा का भ्रमण-प्रवाह समाज मे भुगतान की प्रणाली पर भी निर्भर करता है। यदि लोगो को उनके कार्य के लिए दैनिक मजदूरी दी जाती है, तो वे इसका उपयोग प्रतिदिन अपनी आवश्यकता की वस्तुओ को खरीदने मे करते हैं जिससे मुद्रा का भ्रमण-प्रवाह अधिक होता है। किन्तु जब भुगतान साप्ताहिक होता है, तो भ्रमण-प्रवाह पहले की अपेक्षा कम होता है और इसके विपरीत यदि भुगतान मासिक अथवा वार्षिक होता है, तो मुद्रा का भ्रमण प्रवाह और भी कम होता है क्योकि आय पाने तथा उसे व्यय करने के समय मे बहुत अधिक अन्तर होता है जिससे क्रय शक्ति के रूप मे लोगो को अपने पास अधिक मात्रा मे मुद्रा का सचय करना पडता है।

मुद्रा का भ्रमण-प्रवाह भविष्य की आय तथा मूल्य के सम्बन्ध मे लोगो के अनुमान पर भी निर्भर करता है। उदाहरण के लिए, यदि लोग कुछ कारणों से ऐसा अनुभव करते हैं कि भविष्य में उनकी आय मे वृद्धि होगी तथा मूल्य-तल भी बढ़ेगा, तो मुद्रा का भ्रमण-प्रवाह अधिक होगा क्योकि ऐसे आशावाद के समय में लोग अपनी आय को नकद मुद्रा के रूप मे सचित करने के बजाय उसे शीघ्रातिशीघ्र खर्च करना ही अधिक उपयुक्त समझते हैं। इसके विपरीत यदि लोग किसी कारणवश ऐसा समझते हैं कि भविष्य मे उनकी आय मे कमी होगी अथवा मूल्य-तल मे ह्रास होगा, तो मुद्रा का भ्रमण-प्रवाह कम हो जायगा क्योकि ऐसी स्थिति मे लोग अपनी सम्पूर्ण आय को खर्च करने के बजाय उसका अधिकाश भाग नकद मुद्रा के रूप मे सचित करना ही अधिक उचित समझते हैं। इस प्रकार भविष्य के सम्बन्ध मे लोगो के अनुमान भी मुद्रा के भ्रमण-प्रवाह को अधिक प्रवाहित करते हैं।

क्रय-विक्रय (T) के परिमाण के निर्धारक तत्त्व

(Determinants of T, the Physical Volume of Trade)

इस प्रकार किसी विशेष समय मे किसी देश का कुल मौद्रिक व्यय M एव V के अनुसार बदलता है। किन्तु मूल्य-तल (P) केवल निरपेक्ष रूप से कुल व्यय द्वारा ही प्रभावित नही होता, वरन् सम्पूर्ण मौद्रिक व्यय तथा कुल क्रय-विक्रय के परिमाण के सम्बन्ध पर निर्भर करता है। अतएव मुद्रा के मूल्य को प्रभावित करने वाला तीसरा प्रधान तत्त्व क्रय-विक्रय का परिमाण (T) है।

अब स्वय क्रय-विक्रय का परिमाण निम्नलिखित बातो पर निर्भर करता है :—

1. वस्तुओ तथा सेवाओ के सभावित उत्पादन को निश्चित करने वाले तत्त्व :—
   (क) जनसख्या का आकार, उसका स्वास्थ्य एव उसकी उत्पादन क्षमता,
   (ख) देश का क्षेत्रफल तथा प्राकृतिक साधनो की स्थिति,
   (ग) पूँजीगत वस्तुओ की पूर्ति, तथा
   (घ) वैज्ञानिक अनुभव एव ज्ञान।
2. उत्पादन के साधनो के रोजगार की स्थिति,
3. चालू वस्तुओ तथा सेवाओ के हस्तान्तरित होने की सख्या—
   (क) विशिष्टीकरण की मात्रा।
   (ख) व्यवसाय का ढाँचा।
4. वस्तु-विनिमय की स्थिति।

किसी देश में वस्तुओ के उत्पादन की मात्रा उस देश की उत्पादन-क्षमता पर निर्भर करती

है और उत्पादन क्षमता वहाँ पर उत्पादन के साधनो, यानी श्रम, प्राकृतिक साधन, पूँजी तथा व्यवस्था की मात्रा एव गुण आदि पर निर्भर करती है। जहाँ पर ये साधन अधिक मात्रा मे उपलब्ध होगे, वहाँ पर वस्तुओ के उत्पादन की मात्रा भी अधिक होगी। जिस देश की जनसख्या, विशेषत: कार्यशील जनसख्या, जितनी ही अधिक होगी तथा उसका स्वास्थ्य जितना ही अच्छा होगा उस देश की उत्पादन-शक्ति उतनी ही अधिक होगी। इसी प्रकार उत्पादन क्षमता देश के भौगोलिक क्षेत्रफल तथा प्राकृतिक साधनो की प्रचुरता पर भी निर्भर करती है। साथ ही, पूँजी तथा वैज्ञानिक ज्ञान आदि भी उत्पादन-क्षमता को प्रभावित करते हैं।

किन्तु किसी देश मे उत्पादन की मात्रा केवल उत्पादन के साधनो के परिमाण पर ही निर्भर नही करती; वरन् इन साधनो के उचित उपयोग पर भी निर्भर करती है। यदि किसी देश के पास प्राकृतिक साधनो तथा जनसख्या की प्रचुरता हो, फिर भी यदि इन्हे उचित कार्य मे नही लगाया जाय तो वहाँ पर बड़े पैमाने पर उत्पादन नही हो सकता। अतएव उत्पादन के परिमाण को निश्चित करने मे साधनो के प्रयोग अथवा रोजगार की स्थिति अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। उदाहरण के लिए, किसी देश मे मन्दी मे बहुत से साधन बेकार हो जाते हैं जिससे उत्पादन कम हो जाता है। इसके विपरीत तेजी के समय मे साधनो के रोजगार की स्थिति मे बहुत कुछ सुधार हो जाता है जिससे उत्पादन की मात्रा भी बढ जाती है।

परन्तु किसी देश मे क्रय-विक्रय का परिमाण केवल उत्पादन के परिमाण पर ही नहीं; वरन् इस बात पर भी निर्भर करता है कि उत्पादित वस्तु की इकाई अन्तिम उपभोग के पूर्व कितनी बार हस्तान्तरित होती है। वास्तव मे, यह दो बातो पर निर्भर करता है—विशिष्टीकरण की स्थिति तथा व्यावसायिक संगठन का ढाँचा। विशिष्टीकरण अधिक होने से प्रत्येक व्यक्ति किसी सम्पूर्ण वस्तु का उत्पादन नही करके उस वस्तु की केवल एक छोटी इकाई का ही उत्पादन करता है, जिससे वस्तुओ का विनिमय अधिक होता है और विशिष्टीकरण की प्रचुरता उसी स्थिति मे होती है जबकि देश की आर्थिक व्यवस्था प्रतियोगिता के आधार पर संगठित हो क्योकि ऐसी स्थिति मे अत्यधिक सख्या मे फर्म उत्पादन तथा व्यापार करते हैं। इससे क्रय-विक्रय यानी व्यापार का परिमाण भी अधिक होता है। इसके विपरीत, एकाधिकार के अन्तर्गत फर्मों की सख्या कम रहती है जिससे व्यापार का परिमाण भी कम होता है।

क्रय-विक्रय अथवा व्यापार के परिमाण को प्रभावित करनेवाला अन्तिम तथ्य वस्तु-विनिमय की स्थिति है। आधुनिक समाज मे भी, विशेषत: ग्रामीण क्षेत्रो मे एक निश्चित सीमा के अन्तर्गत वस्तु-विनिमय का प्रचलन पाया जाता है। जिस समाज मे वस्तु-विनिमय की जितनी ही अधिक प्रधानता होगी, वहाँ मुद्रा के द्वारा क्रय-विक्रय का परिमाण उतना ही कम होगा।

फिशर के सिद्धान्त की आलोचनाएँ

(Criticisms of Fisher's Theory)

किन्तु आधुनिक अर्थशास्त्री न तो मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त की सत्यता मे विश्वास करते हैं, न उसकी व्यावहारिक उपयोगिता मे ही। वास्तव मे, आजकल इस सिद्धान्त की विभिन्न आलोचनाएँ दी जाती हैं जिनमें निम्नलिखित विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं—

1. अवास्तविक मान्यताएँ :—सर्वप्रथम फिशर (Fisher) का सिद्धान्त कई अवास्तविक मान्यताओ पर आधारित है। इनमे पहली मान्यता यह है कि अल्पकाल में 'V' एवं 'T' में कोई परिवर्तन नहीं होता, यानी अल्पकाल में ये प्रायः स्थायी रहते है। किन्तु ऐसा कहना युक्ति-

सगत नही है। आलोचको के अनुसार 'V' एवं 'T' मे केवल दीर्घकाल मे ही नही, वरन् अल्प-काल मे भी परिवर्तन होता है तथा इनमे परिवर्तन का प्रभाव मूल्य-तल (P) पर भी पडता है। तेजी के समय मुद्रा का भ्रमण-प्रवाह (Velocity of Circulation) बहुत बढ जाता है तथा मन्दी के समय घट जाता है। उदाहरण के लिए, 1923 24 ई० मे जर्मनी की मुद्रा मार्क का भ्रमण-प्रवाह साधारण काल की अपेक्षा कई गुना अधिक हो गया था। जर्मनी मे उस समय मूल्य-स्तर युद्ध के पूर्व की अपेक्षा कई लाख गुना बढ गया था। यद्यपि मूल्य-तल मे इस अतिशय वृद्धि का कारण मुद्रा की मात्रा मे वृद्धि था, किन्तु इससे भी बडा कारण मुद्रा के भ्रमण-प्रवाह मे अत्यधिक वृद्धि थी। जर्मन मुद्रा मार्क का मूल्य तेजी के साथ कम हो रहा था, अतएव प्रत्येक व्यक्ति मार्क को यथाशक्ति शीघ्र खर्च कर उससे मुक्ति प्राप्त करना चाहता था। इसी प्रकार साधारणत अधिकाश मन्दी का कारण मुद्रा की मात्रा मे कमी नही होकर भ्रमण-प्रवाह म ही कमी होती है। 'T' मे भी इस तरह परिवर्तन होते रहता है। महँगी के समय औद्योगिक क्रियाशीलता बढ जाती है जिससे लेन देन के परिमाण (volume of transactions) मे भी वृद्धि होती तथा मन्दी के समय औद्योगिक क्रियाशीलता मे कमी होने के कारण इसमे कमी आ जाती है।

परिमाण सिद्धान्त की दूसरी मान्यता यह है कि M, V, एवं T, तीनो स्वतन्त्र इकाइयाँ (Independent variables) हैं, यानी एक का दूसरे पर कोई प्रभाव नही पडता। परन्तु यह मान्यता भी त्रुटिपूर्ण है। वास्तव मे, ये बिल्कुल स्वतन्त्र इकाइयाँ हैं। इनमे से एक मे परिवर्तन का प्रभाव दूसरे पर पडता है। उदाहरणार्थ, यदि M को बढा दिया जाय तो इससे V एव T अवश्य ही प्रभावित होंगे। इस प्रकार यह कहना कि M, V एव T एक दूसरे से स्वतन्त्र इकाइयाँ (Independent variables) हैं, युक्तिसगत नही हैं।

2 **परिमाण सिद्धांत यह नहीं स्पष्ट करता कि M में परिवर्तन का P पर किस प्रकार से प्रभाव पडता है** —परिमाण सिद्धान्त की एक प्रमुख आलोचना यह है कि यह मूल्य-तल मे परिवर्तन की प्रक्रिया को स्पष्ट रूप मे नही बतलाता है। यह केवल मुद्रा के परिमाण एव मूल्य तल के पारस्परिक सम्बन्ध का उल्लेख करता है, किन्तु यह नही बतलाता कि मुद्रा के परिमाण मे परिवर्तन का मूल्य-तल पर किस प्रकार से प्रभाव पडता है। केन्स (Keynes) आदि अर्थशास्त्रियो ने इसके चलते इस सिद्धान्त की कडी आलोचना की है। केन्स के अनुसार "मौद्रिक सिद्धान्तो की स्वाभाविक समस्या द्रव्य की कुल मात्रा एव इसके बदले मे मिलनेवाली वस्तुओ मे केवल स्थायी समीकरण स्थापित करना ही नही है, वरन इस प्रकार के सिद्धान्त का मुख्य कार्य तो इस समस्या के विभिन्न तत्वो की इस प्रकार से व्याख्या करना है जिससे कि मूल्य-तल के निर्धारण के सम्पूर्ण कारण स्पष्ट हो जायँ।" इस सम्बन्ध मे एक अन्य विद्वान् का यह कथन निश्चय ही सत्य है कि "It does not throw light on the route by which money comes to influence the price level"

3 **मुद्रा का परिमाण सिद्धात व्यवसाय चक्र के कारणो की सम्यक् रूप से व्याख्या नहीं करता** (The Quantity Theory is an imperfect guide to the causes of Trade cycle) —मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त की सबसे बडी आलोचना यह है कि यह व्यवसाय चक्र के कारणो की सम्यक् रूप से व्याख्या नहीं करता। कुछ अर्थशास्त्रियो के अनुसार, जिनमे हाट्रे (Hawtrey) आदि प्रमुख हैं, व्यवसाय चक्र एक विशुद्ध मौद्रिक तत्त्व है। (Trade cycle is a purely monetary phenomenon) इनके अनुसार मुद्रा के परिमाण मे वृद्धि के परिणामस्वरूप तेजी (Boom) तथा कमी के परिणामस्वरूप मंदी (Slump) का सृजन होता है। किन्तु आधुनिक समय मे व्यवसाय-चक्र को केवल मौद्रिक तत्व ही नही समझा जा सकता। मन्दी एव

तेजी के कारणो के विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि केवल मुद्रा प्रसार से ही तेजी एव मुद्रा-सकुचन से ही मदी का सजन नही होता।

तेजी एव मन्दी के कारणों के विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है कि तेजी आरम्भ होने के पहले समाज में लोगो के भविष्य के सम्बन्ध मे अनुमान (future expectations) ही बदल जाते हैं। उदाहरण के लिए तेजी के समय भविष्य अधिक आशावादी जान पडने लगता है जिससे उत्पादक अत्यधिक लाभ की आशा करने लगते हैं। फलस्वरूप उत्पादन, रोजी एव आय मे वृद्धि होती है। इन सबके सम्मिलित प्रभाव के फलस्वरूप मूल्य मे भी वद्धि होने की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है। इससे समाज मे औद्योगिक क्रियाशीलता बढ जाती है जिसे कायम रखने के लिए बैंक अतिरिक्त मुद्रा का सजन करते हैं। अतएव इससे स्पष्ट है कि मुद्रा के परिमाण मे वृद्धि तेजी का कारण नही, वरन् इसका परिणाम है। इसलिए क्राउथर ने मुद्रा की तुलना ग्रामोफोन के गवर्नर से की है। गवर्नर का कार्य ग्रामोफोन की चाल को बढाना या घटाना है, चाल की सष्टि करना नही। चाल की सष्टि करना स्प्रिंग का कार्य है। (It is not the governor of the gramophone but the spring that causes the actual movement) यदि गवर्नर को 78 प्रति मिनट के सकेत वाले स्थान पर रख दें तो ग्रामोफोन का प्लेट इससे अधिक नही घूम सकता। किन्तु प्लेट को चलानेवाला गवर्नर नही वरन स्प्रिंग है। यदि स्प्रिंग को लपेटा न जाय तो गवर्नर को चाहे 80 पर भी क्यो न रखें परन्तु प्लेट नही घमेगा। आर्थिक व्यवस्था मे मुद्रा का भी ठीक वही स्थान है। मुद्रा तेजी (Boom) की सष्टि नहीं कर सकती यद्यपि यह इसकी गति को नियन्त्रित करती है। यदि बैंक अतिरिक्त मुद्रा का सजन करना बन्द कर दें तो तेजी समाप्त हो सकती है, किन्तु इसका तात्पर्य यह नही कि अधिक मुद्रा की सृष्टि के द्वारा ये तेजी आरम्भ कर सकते हैं। तेजी (Boom) वास्तव में आय एव रोजगारी मे वद्धि के परिणामस्वरूप ही होती है।

इसी प्रकार मदी की सष्टि भी मुद्रा के परिमाण को घटा कर नही की जा सकती है। यदि इस प्रकार की बात होती तो मदी (Slump) का निराकरण भी मुद्रा की मात्रा मे वृद्धि करके सुगमतापूर्वक किया जा सकता था। किन्तु प्राय ऐसा नही होता। 1929 33 ई० की भयानक आर्थिक मदी मे अधिकाश देशो की सरकारो ने मुद्रा की पूर्ति को बढाने के लिए सस्ती मुद्रा नीति (Cheap money policy) को अपनाया किन्तु इसका तत्कालीन परिणाम कुछ भी नही हुआ। अमेरिका की सरकार ने मदी के निराकरण के लिए बैंको के नकद कोष के आधार को बहुत अधिक बढा दिया था, किन्तु इसका मूल्य स्तर पर कोई प्रभाव नहीं पडा। पुनरुत्थान वास्तव मे बहुत समय बाद मे प्रारम्भ हुआ जिसमे पुन सशस्त्रीकरण का सर्वाधिक प्रमुख हाथ था। इससे मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त की सीमा स्पष्ट हो जाती है। उक्त मन्दी मे अमेरिका की सरकार ने मुद्रा की पूर्ति को बहुत बढाया। किन्तु जिस अनुपात मे मुद्रा का परिमाण (M) बढाया जाता था इसका भ्रमण-प्रभाव (Velocity of circulation), यानी 'V' उतना ही कम होते जाता था। इसका कारण यह था कि समाज मे अतिरिक्त मुद्रा की माग का सर्वथा अभाव था। अतएव बहुत सी मुद्रा योही बैंको के पास बेकार पडी रहती थी। जनता इस बढी हुई मुद्रा को प्रयोग मे लाना नही चाहती थी। वास्तव मे,'सरकार अथवा मौद्रिक अधिकारी केवल मुद्रा की पूर्ति को बढा सकते हैं किन्तु उस बढी हुई मुद्रा का प्रयोग जनता के हाथ में ही है। क्राउथर (Crowther) ने इसे एक सुन्दर उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया है। किसी घोडे को पानी पीने से रोका जा सकता है किन्तु उसे पानी के पास ले जाकर भी, यदि प्यासा न हो तो पानी पीने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता। (The horse can evidently be stopped from drinking, but no

amount of leading him to water, will make him drink if he is not thirsty.—Crowther.)

अतएव, **परिमाण सिद्धान्त व्यवसाय चक्र के कारणों का एक-मात्र परिपूर्ण सिद्धान्त नहीं है।** (*The Quantity Theory is, therefore, an imperfect guide to the causes of trade cycle.*) मुद्रा की कमी के कारण पुनरुत्थान (recovery) की स्थिति मन्दी की स्थिति में बदल जा सकती है। किन्तु यही इसका सम्पूर्ण कारण नही है तथा मुद्रा की मात्रा मे ह्रास के बगैर भी मन्दी की शुरुआत हो सकती है। वास्तव मे, यह समाज मे मुद्रा की मांग पर निर्भर करता है।

किन्तु मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त मूल्य-तल मे दीर्घकालीन परिवर्तनों की व्याख्या कर सकता है। क्राउथर ने इसे स्पष्ट करने के लिए 1820 से 1914 ई० के बीच 96 वर्षों मे मूल्य-तल मे हुए परिवर्तनो का सहारा लिया है। उक्त ९६ वर्ष की अवधि मे मूल्य-तल मे कुल चार बार परिवर्तन हुए थे। उस समय मुद्रा स्वर्ण पर आधारित थी। अतएव मूल्य-तल मे परिवर्तन भी स्वर्ण की पूर्ति मे कमी एवं वृद्धि पर अवलम्बित रहता था। सोने की नयी खानों के पता लगने के कारण स्वर्ण का उत्पादन जब बढ जाता तो मूल्य-तल (price-level) भी बढने लगता था। इससे स्पष्ट है कि मुद्रा के परिमाण में परिवर्तन से ही इसके मूल्य में परिवर्तन होता था। इस प्रकार मूल्य-तल मे दीर्घकालीन परिवर्तनो की व्याख्या इसके आधार पर की जा सकती है, किन्तु अल्पकालीन परिवर्तनो की व्याख्या मे यह बहुधा सहायक नही सिद्ध होता। निस्सदेह कुछ अल्पकालीन परिवर्तनो की व्याख्या भी इसके द्वारा की जा सकती है—जैसे दोनो विश्व-युद्धों के समय में मूल्य-तल में वृद्धि का मुख्य कारण मुद्रा का अत्यधिक प्रसार ही था। फिर भी, अन्तिम रूप से कहा जा सकता है कि मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त व्यवसाय-चक्र की सम्यक् रूप से व्याख्या नही कर सकता।

4. परिमाण सिद्धान्त में मुद्रा की पूर्त्ति पर बहुत अधिक जोर दिया गया है (Quantity Theory has laid more emphasis on the supply of money) :—कुछ आलोचको की राय में परिमाण सिद्धान्त माग एवं पूर्ति के सामान्य सिद्धान्त का ही एक संशोधित रूप है, किन्तु, इन लोगो के मतानुसार इसमें मुद्रा की पूर्ति पर अधिक जोर दिया गया है, मानो यही मूल्य में परिवर्तन का प्रधान एवं एकमात्र कारण हो। इसी कमी को दूर करने के लिए केन्स ने *अपनी पुस्तक 'General Theory' में मुद्रा की मांग का वास्तविक रूप* बतला कर मूल्य और मुद्रा के सिद्धान्तो का सामंजस्य किया है और इस प्रकार परिमाण सिद्धान्त के दोषो को दूर करने का प्रयास किया है।

5. मूल्य-स्तर (P) की धारणा स्पष्ट नही है :—परिमाण सिद्धान्त के आदान-प्रदान रूप (Transaction type) की प्रमुख आलोचना यह है कि जिस 'P' की ओर यह संकेत करता है उसकी धारणा सुलझी नही है। 'P' की धारणा इतनी जटिल है कि इससे कुछ भी निश्चयात्मक ज्ञान नही हो सकता। 'P' सभी वस्तुओ एव सेवाओ के मूल्य का औसत है, अतएव यह एक गोल-मटोल चीज है। फिर भी 'P' को कई भागों मे विभाजित कर इस कमी को दूर किया जा सकता है। उदाहरणार्थ, यदि T में दो प्रकार की वस्तुएँ सम्मिलित हैं तो दोनो तरह की वस्तुओ पर पृथक्-पृथक् रूप में विचार किया जायगा। ऐसा करने से पूरा समीकरण इस प्रकार का हो जायगा :—

$$MV = PT$$

अथवा $MV = P_1T_1 + P_2T_2 + \dots\dots$

इस प्रकार सामान्य मूल्य-तल को विभिन्न भागों में विभाजित करके प्रत्येक तरह की वस्तु के मूल्य को निश्चित किया जा सकता है।

6. **यह सिद्धान्त मुद्रा के दीर्घकालीन मूल्य का विश्लेषण करता है** —मूल्य के शास्त्रीय सिद्धान्त की ही तरह मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त मुद्रा के दीर्घकालीन मूल्य का विश्लेषण करता है। मूल्य का शास्त्रीय सिद्धान्त भी इसी मान्यता पर आधारित था कि दीर्घकाल में मांग तथा पूर्ति की अवस्थाएँ अपरिवर्तनशील हैं, अतएव दीर्घकाल में प्रत्येक वस्तु के मूल्य की गति उसकी माग तथा पूर्ति के सन्तुलन की ओर रहती है। मुद्रा के मूल्य के विश्लेषण मे इस धारणा के प्रयोग करने पर इसका रूप इस प्रकार होता है—यदि मुद्रा के परिमाण मे परिवर्तन हो, किन्तु V एव T पूर्ववत रहे तो दीर्घकाल मे 'P' मे समानुपातिक परिवर्तन होगा। इसी प्रकार यदि किसी कारणवश M, यानी मुद्रा के परिमाण मे वृद्धि हो जाय, तो इस बढी हुई मुद्रा को सम्पूर्ण आर्थिक व्यवस्था मे फैलने मे पर्याप्त समय लगता है अतएव दीर्घकाल के बाद ही इन बढी हुई मुद्रा से सभी मूल्य-तल प्रभावित होगे। इस पर व्यग करते हुए केन्स ने ठीक ही कहा है कि 'किन्तु दीर्घ काल मे हम सभी मर जाते हैं।' (In the long run we are all dead)[1] और मृत्यु के बाद कोई भी एसी समस्या नही रहती जिसके अध्ययन के लिए हमे मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त की सहायता की आवश्यकता पडे। कहने का तात्पर्य यह है कि जीवन की सभी समस्याएँ अल्पकालीन होती है और इस प्रकार की समस्याओ को इस सिद्धान्त की सहायता से सुलझाया नही जा सकता। क्राउथर (Crowther) ने इस समीकरण के वास्तविक महत्त्व के सम्बन्ध मे अपना विचार इस प्रकार से व्यक्त किया है "मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त के पक्ष मे अधिक-से-अधिक हम यह कह सकते हैं कि दीर्घकाल मे मुद्रा के परिमाण का मूल्य तल पर गहरा प्रभाव पडता है। किन्तु व्यवसाय-चक्र के अल्पकाल मे यह मूल्य-तल को प्रभावित कर सकता है अथवा नही भी और यह इस बात पर निर्भर करता है कि इसकी मात्रा मे परिवर्तन इसके भ्रमण-प्रवाह के द्वारा नष्ट हो जाते हैं अथवा नही।"[2] कोलबर्न (Coulborn) ने भी इस सिद्धान्त की आलोचना करते हुए कहा है कि 'मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त केवल एक दीर्घकालीन घटना का विचार है।" (The quantity theory is a concept of long-run phenomena)

7. **मूल्य-तल (P) केवल समीकरण में सम्मिलित तत्त्वों से ही प्रभावित नहीं होता** (The price level does not entirely depend upon factors included in the equation of exchange) —वास्तव मे, कुछ गैर-मौद्रिक तत्त्वो का भी मूल्य-तल पर प्रभाव पडता है। फिशर भी सम्भवत इस सम्बन्ध मे यह सोचते थे कि M, V एव T के अतिरिक्त कुछ ऐसे गैर-मौद्रिक तत्त्व भी हैं जो मूल्य-तल को प्रभावित करते हैं। इन गैर-मौद्रिक तत्त्वो के अन्त-

---

1. "It may be in the long run But this *long run is a misleading guide* to current affairs In the long run, we are all dead Economists set themselves too easy, too useless a task if in tempestuous seasons, they can only tell us that when the storm is long past, the ocean is flat again"—Keynes: A Tract on Monetary Reform, P. 10

2. "The most we can say for the quantity theory is that quantity of money in existence seems to be the dominant influence on the price-level on the average of long periods But in the short period of trade cycle it may or may not control the movement of prices And whether it does or does not, depend on whether or not changes in the quantity of money are offset by changes in the velocity of its circulation"—Crowther: An Outline of Money, P. 128

र्गत फिशर ने मानवीय आवश्यकताओं, उद्योगों का विकेन्द्रीकरण, यातायात की सुविधाओं में विस्तार आदि की चर्चा की है। (...the volume of trade will be increased, and therefore, the price-level correspondingly by the differentiation of human want; by diversification of industry; and by facilitation of transport. The velocities of circulation will be increased, and therefore, also the price-level increased by improvident habits, the use of book credit and by rapid transportation.)[1]

8. फिशर का समीकरण मुद्रा के केवल एक ही कार्य-विनिमय के माध्यम (Medium of exchange) पर जोर देता है :—यह सत्य है कि समाज में लोग मुद्रा की चाह मुख्यतः इसलिए करते हैं कि इसके द्वारा अन्य वस्तुओं तथा सेवाओं का क्रय किया जा सकता है, किन्तु विनिमय के माध्यम के अतिरिक्त मुद्रा समाज में एक और महत्त्वपूर्ण कार्य का भी संपादन करती है और वह है मूल्य का संचय (Store of value)। मानव अपनी आर्थिक क्रियाओं का संपादन केवल अपनी वर्तमान आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए ही नहीं करता, वरन् वह अपने भविष्य की सुरक्षा पर जोर देता है और भविष्य की सुरक्षा के लिए धन का संचय आवश्यक है। मुद्रा ने धन के संचय के कार्य को अधिक सुगम बना दिया है। वर्तमान समय में तो मुद्रा के इस कार्य का महत्त्व बहुत बढ़ गया है। इस सम्बन्ध में केन्स ने भी यह कहा है कि मुद्रा का महत्त्व इस बात में है कि यह वर्तमान तथा भविष्य के बीच एक शृंखला का कार्य करती है। किन्तु फिशर के समीकरण में मुद्रा के इस आवश्यक कार्य पर ध्यान नहीं दिया गया है।

9. मूल्य-स्तर पर कुछ अमौद्रिक घटनाओं का भी प्रभाव पड़ता है :—मूल्य-स्तर केवल मुद्रा की मात्रा पर ही निर्भर नहीं करता, वरन् यह स्वयं बहुत सारे अमौद्रिक तत्वों पर भी निर्भर करता है जिनकी व्याख्या परिमाण सिद्धान्त के अंतर्गत नहीं की गयी है।

इस प्रकार परिमाण सिद्धान्त की बहुत सारी आलोचनाएं दी जाती हैं। वास्तव में, यह सिद्धांत अपूर्ण, कल्पित एवं दोषपूर्ण है। यह व्यापार-चक्र के कारणों की सम्यक् रूप से व्याख्या नहीं करता। दीर्घकाल में मुद्रा की मात्रा एवं मूल्य स्तर में कार्य-कारण का सम्बन्ध हो सकता है, किन्तु अल्पकाल में तो व्यापार की स्थिति में परिवर्तन मुद्रा के मूल्य तथा मात्रा में परिवर्तन का कारण है, उसका परिणाम नहीं। इसलिए आर्थिक विचार धारा की आधुनिक प्रवृत्ति मुद्रा के परिमाण को इसके मूल्य के निर्धारक तत्त्व के रूप में नहीं मानने की रही है। (The modern tendency in economic thinking is indeed, to discard the old notion of quantity of money as a determinant of the value of money.) मुद्रा की मात्रा व्यापार के स्तर का कारण नहीं वरन् परिणाम है और जैसा कि अगले कुछ अध्यायों में हम देखेंगे मुद्रा का मूल्य मुद्रा की मात्रा के बजाय कुल व्यय पर निर्भर करता है।

परिमाण सिद्धान्त में सत्यता का अंश :—उपरोक्त-आलोचनाओं से स्पष्ट है कि फिशर का सिद्धांत अपूर्ण, कल्पित एवं त्रुटिपूर्ण है। किन्तु इन सारी आलोचनाओं के बावजूद मुद्रा के परिमाण सिद्धांत में कुछ सत्यता का अंश अवश्य है। प्रो० फिशर (Fisher) ने अपने सिद्धांत की सत्यता को सिद्ध करने के लिए बहुत-सारे उदाहरण भी दिये हैं। 19 वीं सदी में जबकि विश्व के अधिकांश देशों में सोने एवं चाँदी का प्रचलन था, मूल्य में परिवर्तन सोने अथवा चाँदी में होनेवाले परिवर्तनों से पूर्णतः सम्बन्धित थे। उदाहरणार्थ, 1849 ई० में आस्ट्रेलिया तथा 1895 ई० में

1. Irving Fisher, P. 149-50.

दक्षिणी अफ्रीका मे सोने की खानो के पता चलने से सोने के उत्पादन में बहुत अधिक वृद्धि हुई जिसके फलस्वरूप सम्पूर्ण विश्व मे मूल्य-स्तर मे वृद्धि हुई। फिशर के अनुसार ही जब स्पेनिश खोज करने वालो को अमेरिका मे चाँदी की खानो का पता चला तो उन्होने यूरोप को चाँदी भेजना प्रारम्भ कर दिया जिससे यूरोप महाद्वीप के प्राय सभी देशो मे मूल्य-तल बढ गया। इसी प्रकार प्रथम महायुद्ध एव युद्धोत्तर काल मे जर्मनी मे पत्र-मुद्रा के अत्यधिक प्रसार से वहाँ मूल्य-तल मे बहुत अधिक वृद्धि (hyper-inflation) हुई। इसी प्रकार कैमरर ने अपनी पुस्तक "Money and Credit Instruments in their Relation to General Prices मे 1879 से 1898 के अध्ययन के आधार पर परिमाण सिद्धान्त को व्यावहारिक दृष्टि से महत्वपूर्ण सिद्ध किया है तथा कैसेल ने 'Money and Foreign Exchange after 1914" मे थोक एव फुटकर मूल्यो के निर्देशाको की 1914-1920 के बीच पत्र मुद्रा की मात्रा से तुलना करके यह सिद्ध किया है कि मूल्य-तल मे वृद्धि एव चलन मे मुद्रा की मात्रा मे वृद्धि मे एक स्पष्ट सम्बन्ध है।

इन उदाहरणो से स्पष्ट है कि मुद्रा के परिमाण में परिवर्तन से इसके मूल्य में परिवर्तन होता है, किन्तु फिर भी इनमें कोई *सख्यात्मक सम्बन्ध (Quantitative co-relation)* नही स्थापित किया जा सकता। सभवत, फिशर का विचार भी इस प्रकार का कोई सम्बन्ध स्थापित करने का नही था। समीकरण का प्रयोग तो उन्होने केवल इस सामान्य प्रवृत्ति को व्यक्त करने के लिए किया था। वास्तव में, मुद्रा के परिमाण एव मूल्य तल पर इतनी अधिक शक्तियों का प्रभाव पडता है कि इनमे निश्चित रूप से किसी प्रकार का परिमाणात्मक सम्बन्ध स्थापित करना सम्भव नही है।

विशेष अध्ययन-सूची

1 Fisher — The Purchasing Power of Money

2 Crowther — An Outline of Money, Chapter III.

3 Chandler — Introduction to Monetary Theory, Chapters II and III

4 Halm — Monetary Theory, Chapter II

6 Hansen — Monetary Theory and Fiscal Policy

अध्याय : 11

परिमाण सिद्धान्त का कैम्ब्रिज रूप

(Cambridge Version of the Quantity Theory of Money)

अथवा

मुद्रा-संचयन दृष्टिकोण

(Cash Balance Approach)

प्राक्कथन :—परिमाण सिद्धान्त का आदान-प्रदान रूप (Transaction type of Quantity Theory) सयुक्त राज्य अमेरिका मे अभी भी बहुत अधिक लोकप्रिय है। किन्तु यूरोप, विशेषत इङ्गलैंड मे अर्थशास्त्रियो ने इस सिद्धात के एक दूसरे रूप—मुद्रा-सचयन दृष्टिकोण (Cash Balance Approach) का प्रतिपादन किया। इसे परिमाण सिद्धान्त का कैम्ब्रिज रूप (Cambridge Version of the Quantity Theory) भी कहते हैं। इसका प्रतिपादन मार्शल (Marshall), पीगू (Pigou) तथा रावर्टसन (Robertson) जैसे इङ्गलैंड के कुछ प्रमुख अर्थशास्त्रियो ने किया था। किन्तु परिमाण सिद्धान्त के इन दोनो रूपो मे कोई मौलिक विरोध नही है। वास्तव मे, इनके प्रतिपादको के अनुसार ये दोनो सिद्धान्त तथा इनके समीकरण आपस मे परस्परानुवर्ती (Inter changeable) हैं।

किन्तु कैम्ब्रिज विचारधारा के अर्थशास्त्रियो के अनुसार इनकी व्याख्या आदान-प्रदान रूप (Transaction approach) से कई दृष्टिकोण मे श्रेष्ठ है। सर्वप्रथम तो इसका विश्लेषण माग एव पूर्ति के प्रसिद्ध सिद्धात के रूप मे किया गया है। अतएव इससे मौद्रिक सिद्धात को मूल्य के सामान्य सिद्धान्त से सम्बन्धित करने मे सुविधा होती है। द्वितीयत, यह सिद्धान्त मूल्य के निर्धारण मे उपभोक्ताओ की व्यक्तिगत माग को बहुत अधिक महत्त्व देता है और आधुनिक समय मे मूल्य-निर्धारण की समस्या मे भी उपभोक्ताओ की माग पर बहुत अधिक ध्यान दिया जाता है। इस लिए यह सिद्धान्त आधुनिक मूल्य सिद्धान्त के बहुत समीप है। इन कारणो से यह सिद्धान्त अधिक सतोषजनक बतलाया जाता है।

मुद्रा सचयन दृष्टिकोण (Cash Balance Approach) के अनुसार मुद्रा का मूल्य मुद्रा की माग एव मुद्रा की पूर्ति दो बातो पर निर्भर करता है। किसी विशेष समय मे मुद्रा का मूल्य उसी बिन्दु पर निश्चित होता है जहाँ पर उसकी माग एव पूर्ति दोनों बराबर होते हैं। मुद्रा के मूल्य मे परिवर्तन का कारण मुद्रा की पूर्ति या उसकी माग मे परिवर्तन है। यदि मुद्रा की माग पूर्ववत् रहे, किन्तु उसकी पूर्ति मे वृद्धि हो जाय तो मुद्रा के मूल्य मे कमी होगी तथा मूल्य-स्तर मे वृद्धि होगी। इसी प्रकार यदि मुद्रा की पूर्ति पूर्ववत् रहे, किन्तु माग मे वृद्धि हो जाय तो मुद्रा के मूल्य मे वृद्धि होगी, यानी मूल्य स्तर मे कमी होगी। इस प्रकार इस सिद्धान्त के अनुसार मुद्रा का मूल्य उसकी माग एव पूर्ति द्वारा निर्धारित होता है, अतएव यहाँ पर मूल्य के इन दोनो निर्धारक तत्त्वो का विश्लेषण अनिवार्य है।

मुद्रा की पूर्ति (The Supply of Money) —जहाँ तक मुद्रा की पूर्ति का सम्बन्ध है, इसकी सविस्तार व्याख्या परिमाण सिद्धान्त के आदान-प्रदान रूप के अन्तर्गत की गयी है। यहाँ केवल इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि मुद्रा की पूर्ति के अन्तर्गत सिक्के, पत्र-मुद्रा एव बैंक-जमा सभी सम्मिलित हैं।

मुद्रा की मांग (The Demand for Money) :—किसी दिये हुए समय में किसी समाज में मुद्रा की मांग वहाँ के व्यक्तियों की कुल मांग के योग के बराबर होती है। मुद्रा की मांग का तात्पर्य मुद्रा की उस मात्रा से है जो प्रत्येक व्यक्ति अथवा फर्म क्रय-शक्ति के रूप मे अपने पास अथवा अपने बैंक में संचित करके रखना चाहता है। प्रत्येक व्यक्ति अपने साधन एवं अपनी वर्तमान तथा भावी आवश्यकताओं एवं अन्य बातों को ध्यान मे रखते हुए इतनी मात्रा में मुद्रा का संचय करता है जिससे कि उसे अधिकतम लाभ प्राप्त हो सके। वास्तव में, जैसा कि हमलोग जानते हैं, मुद्रा का तीन तरीके से प्रयोग हो सकता है :—(क) उपभोग की वस्तुओं (Consumption goods) के क्रय में प्रयोग, (ख) पूँजी-विनियोग (Investment) के रूप मे प्रयोग, तथा (ग) क्रय-शक्ति के रूप मे सचय। क्रय-शक्ति के रूप में अधिक मुद्रा का संचय सुविधाजनक अवश्य होता है किन्तु इससे व्यक्ति अथवा फर्म को कुछ असुविधा भी होती है क्योंकि इस प्रकार से संचित मुद्रा के द्वारा वह या तो उपभोग की वस्तुएँ खरीद सकता है जिससे उसे संतुष्टि प्राप्त होती या विनियोग कर सकता है जिससे उसे अधिक आय प्राप्त हो सकती है। अतएव इन बातों को ध्यान मे रखते हुए, प्रत्येक व्यक्ति अथवा फर्म मुद्रा के संचय की मात्रा निश्चित करता है। अपनी आय का कौन-सा भाग नकद मुद्रा के रूप मे रखा जाय, इस बात का निर्णय करने मे प्रत्येक व्यक्ति अथवा फर्म उस सुविधा अथवा लाभ जो मुद्रा को नकद रूप मे रखने के कारण प्राप्त होता है उसकी तुलना उस हानि से करता है जो उसके विनियोग नहीं करने से होती है।

मार्शल (Marshall) ने इसकी व्याख्या निम्न प्रकार से की है :—"In every state of society, *there is some fraction of their income which* people *find it worth* while to keep in the form of currency it may be a fifth or a tenth, or a, twentieth. A large command of resources in the form of currency renders their business easy and smooth and puts them at an advantage in bargainig but, on the other hand, it locks up in a barren form the resources that might yield an income or gratification if invested say, in extra furniture; or a money-income, if invested in extra machinery or cattle. A man fixes the appropriate fraction after balancing one against anotner the advantages of a *further ready command and the disadvantages of putting more* of his resources into a form in which they yield him no direct income or other benefit "[1]

यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि मुद्रा के रूप मे क्रय-शक्ति का संचय किया जाता है। प्रत्येक व्यक्ति एक निश्चित अवधि मे वस्तुओं तथा सेवाओं को क्रय करने के लिये क्रय-शक्ति का संचय करता है। अतएव मुद्रा की माग को निर्धारित करने मे मूल्य-तल का प्रमुख स्थान है। मूल्य-तल *ऊँचा रहने पर मुद्रा की माग अधिक होगी तथा नीचा* रहने पर मुद्रा की माग कम होगी।

समाज की कुल मुद्रा की माग निर्धारित करने मे व्यापार के परिमाण का भी महत्वपूर्ण स्थान है। जिस *समाज मे व्यापार का परिमाण (Magnitude of trade in goods, services* and securities) अधिक होगा वहाँ मुद्रा की माग भी अधिक होगी। किन्तु मुद्रा की माग केवल व्यापार के परिमाण पर ही निर्भर नही करती। व्यापार के परिमाण के साथ-साथ मुद्रा की माग के निर्धारण में समय की उस अवधि का भी महत्वपूर्ण स्थान है जिसे ध्यान मे रख कर प्रत्येक व्यक्ति अथवा फर्म मुद्रा का संचय करता है। यदि व्यापार का परिमाण ज्यों-का-त्यों रहे तो समय

1. Marshall ; *Money, Credit and Commerce,*

को इस अवधि के अधिक रहने से मुद्रा की माग अधिक होगी तथा कम रहने से मुद्रा की मांग भी कम होगी। समय की इस अवधि को एक वर्ष के अनुपात के रूप में व्यक्त किया जाता है। यदि यह अवधि एक महीने की है तो यह $\frac{1}{12}$ के बराबर होगी, यदि दो महीने की है तो $\frac{1}{6}$ होगी। इसे अर्थशास्त्रियो ने 'k' के द्वारा व्यक्त किया है। इस प्रकार 'k' समय की वह अवधि है जिसे ध्यान मे रखकर क्रय-शक्ति के रूप म मुद्रा का सचय किया जाता है।

स्पष्ट है कि 'k' एव 'V' मे घनिष्ट सम्बन्ध है। वास्तव मे 'k' और 'V' मे ठीक विपरीत सम्बन्ध है, यानी $k=\frac{1}{V}$, या $V=\frac{1}{k}$ के। एक उदाहरण द्वारा इस अधिक स्पष्ट किया जा सकता है। मान लिया कि कोई समाज अपने दो महीने के व्यय के बराबर मुद्रा रखना चाहता है तो $k=\frac{1}{6}$ होगा और प्रतिवर्ष कुल व्यय मुद्रा की कुल पूर्ति का 6 गुना होगा, यानी V प्रतिवर्ष 6 होगी। चूंकि k एव V मे विपरीत सम्बन्ध है, अतएव k के निर्धारक तत्त्व भी प्राय वे ही हैं जो V को निर्धारित करते है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि परिमाण सिद्धात के कैम्ब्रिज रूप (Cambridge Version) या Cash Balance Approach के अनुसार किसी समाज मे मुद्रा की माग व्यापारिक सौदो की मात्रा पर निर्भर नही करती है (फिशर के अनुसार मुद्रा की माग व्यापारिक सौदो की मात्रा पर निर्भर करती है), वरन् यह जनता के मुद्रा-सचय की आदत पर निर्भर करती है। जनता सदा अपनी आय का एक भाग नकद मुद्रा के रूप मे अपने पास रखना चाहती है। फिशर एव कैम्ब्रिज विचारधारा मे यह बिल्कुल मौलिक अन्तर है।

कैम्ब्रिज समीकरण
(Cambridge Equations)

मुद्रा-सचयन दृष्टिकोण (Cash Balance Approach) के समर्थको मे मार्शल (*Marshall*), पीगू (*Pigou*) तथा रॉबर्टसन (*Robertson*) आदि कैम्ब्रिज विचारधारा के प्रमुख अर्थशास्त्री हैं। इन लोगो ने इसे स्पष्ट करने के लिये अपना-अपना अलग-अलग समीकरण (Equation) प्रस्तुत किया है। किन्तु इन सभी ने मुद्रा की माग को 'k' से ही व्यक्त किया है।

मार्शल का समीकरण मार्शल का समीकरण इस प्रकार से है —

$M=kY$

इसमे M = मुद्रा की मात्रा,
Y = मौद्रिक आय, तथा
k = वास्तविक आय का वह अश जो जनता नकद मुद्रा के रूप मे अपने पास रखना चाहती है।

अब, यदि M मे वृद्धि हो एव k पूर्ववत् रहे तो Y मे भी वृद्धि होगी एव मूल्य-स्तर उसी अनुपात मे बढेगा। इसके परिणामस्वरूप k मे भी वृद्धि होगी तथा मूल्य-स्तर नीचे आकर माग एव पूर्ति मे एक नया सतुलन स्थापित करेगा।

राबर्टसन का समीकरण :—राबर्ट्सन (Robertson) का समीकरण इस प्रकार से है —

$$M=KTP$$

$$\text{या } P=\frac{M}{KT},$$

जिसमे M = जनता के पास मुद्रा का कुल परिमाण,

K = समय की वह अवधि (जिसे एक वर्ष के अनुपात मे व्यक्त किया जाता है) जिसे ध्यान मे रख कर क्रय-शक्ति के रूप मे मुद्रा का सचय किया जाता है। [The length of the period (expressed as a fraction of a year) over whose transaction purchasing power is held in the form of money];

T = व्यापार का कुल परिमाण (The physical volume of trade to be affected with money during the year), तथा

P = व्यापार के अन्तर्गत सम्मिलित वस्तुओ का मूल्य (The Price-level of things included in T)।

यह समीकरण इस बात को बतलाता है कि मुद्रा की पूर्ति (M) बराबर है उन वस्तुओ तथा सेवाओ के मूल्य के जिनके लिए मुद्रा के रूप मे क्रय-शक्ति का संचय किया जाता है (KTP)। इससे स्पष्ट है कि 'P' मुद्रा की पूर्ति (M) तथा क्रय-शक्ति के रूप में मुद्रा की माग (K) द्वारा प्रभावित होती है। यदि M, यानी मुद्रा की पूर्ति मे वृद्धि होगी तो जनता के पास जो वास्तविक मुद्रा होगी वह वाछित मुद्रा से अधिक होगी। इस अतिरिक्त मुद्रा के फलस्वरूप वे अधिक मुद्रा व्यय कर सकते हैं जिसके फलस्वरूप उत्पादन, आय एव रोजी मे वृद्धि होगी या इस अतिरिक्त मुद्रा का प्रयोग लोग प्रतिभूतियां आदि खरीदने मे कर सकते हैं जिससे प्रतिभूतियो का मूल्य बढ जायगा एव सूद की दर भी घट जायगी। सूद की दर मे कमी से पूंजी के विनियोग मे वृद्धि होगी जिससे रोजगार एव आय मे वृद्धि होगी तथा इससे व्यापार के परिमाण मे वृद्धि होगी। इससे मुद्रा-सचय की प्रवृत्ति भी तीव्र हो जायगी। इस प्रकार जनता के पास अतिरिक्त मुद्रा वाछित मुद्रा के बराबर हो जायगी तथा नये मूल्य-तल पर मांग एव पूर्ति के बीच सतुलन स्थापित हो जायगा।

इस समीकरण को फिशर के समीकरण के रूप मे भी सुगमतापूर्वक परिवर्तित किया जा सकता है। चूंकि $K = \frac{1}{V}$,

अतएव $M = KTP$

या $M = \frac{1}{V} . TP$

या $MV = PT$

उक्त विवरण से स्पष्ट है कि फिशर एव कैम्ब्रिज विचारधारा में मुख्य अन्तर 'मुद्रा की मांग' (Demand for money) की धारणा की व्याख्या मे ही है। फिशर के अनुसार मुद्रा की माग शीघ्र व्यय करने के लिए (Demand for money to spend) की जाती है जबकि कैम्ब्रिज विचारधारा के अनुसार मुद्रा की माग मुद्रा को धारण करने के लिए (Demand for money to hold) की जाती है। प्रत्येक व्यक्ति अथवा फर्म सदा अपनी आय का एक भाग क्रय शक्ति के रूप मे सचय करके रखना चाहता है। अतएव इस प्रकार की मांग व्यक्ति तथा फर्म के इसी प्रकार के निर्णय पर निर्भर करती है।

प्रो० पीगू (Pigou) का समीकरण :—कैम्ब्रिज विचारधारा के प्रो० पीगू (A. C Pigou) ने अपना समीकरण निम्न प्रकार से दिया है :—

$P = \frac{M}{KR}$, जिसमें,

P = मुद्रा की एक इकाई का मूल्य;

K = वास्तविक आय का वह अनुपात जो मुद्रा के रूप में रखा जाता है,

R = देश की कुल वास्तविक आय; तथा

M = प्रचलित मुद्रा की मात्रा।

इसे एक उदाहरण द्वारा इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है—मानलिया कि वास्तविक आय (R) 25,00,000 है और वास्तविक आय का वह अनुपात है जो मुद्रा के रूप मे रखा जाता है (K) $\frac{60}{100}$ है और मुद्रा की प्रचलित मात्रा (M) 30,00,000 रुपया है तो मुद्रा का मूल्य, यानी

$$\text{मुद्रा की क्रय शक्ति} = \frac{\frac{25,00,000 \times 60}{100}}{30,00,000}$$

$$= \frac{15,00,000}{30,00,000}$$

$= \frac{1}{2}$, अर्थात् एक रुपये का मूल्य ·5 इकाई है।

अब हम जानते हैं कि मुद्रा का मूल्य सामान्य मूल्य-स्तर के ठीक विपरीत होता है। इसलिए यदि सामान्य मूल्य-स्तर के लिए P लिखें तो : $P = \frac{M}{KR}$

$$= \frac{30,00,000}{25,00,000 \times \frac{60}{100}} = 2 \text{ रुपया प्रति इकाई।}$$

अब यदि यह मान लें कि किसी कारणवश मुद्रा की माग कम हो जाती है अर्थात् $K = \frac{60}{100}$ से घटकर $K = \frac{20}{100}$ हो जाता है तो इसका परिणाम क्या होता है? निश्चित है कि R में अल्पकाल मे कोई परिवर्तन नहीं होगा। और इस प्रकार इसका अर्थ यह होगा कि मूल्य-स्तर बढ़ेगा, मुद्रा की माग कम हो जायगी अर्थात् वस्तुओं एवं सेवाओं पर व्यय बढ गया है, परन्तु वस्तुओं और सेवाओं की पूर्ति स्थिर है। इसलिए मूल्य-स्तर बढ़ेगा अर्थात् मुद्रा की क्रय-शक्ति घटेगी जो निम्न समीकरण से स्पष्ट है :—

$$\frac{30,00,000}{25,00,000 \times \frac{20}{100}} = \frac{30,00,000}{5,00,000} = 6 \text{ रुपया प्रति इकाई।}$$

पीगू का कहना है कि यदि K एव K को स्थिर मान लिया जाय तो समीकरण से एक आयताकार हाइपरबोला (Rectangular Hyperbola) वक्र प्राप्त होगा। सरल भाषा मे इसका अभिप्राय यह है कि मुद्रा की माग की मूल्य सापेक्षिता अथवा लोच (Price elasticity of demand for money) सम्पूर्ण वक्र पर इकाई अथवा एक है। दूसरे शब्दो मे, इसका तात्पर्य

यह है कि मुद्रा की क्रय-शक्ति घटकर आधी हो जाने पर मुद्रा की माग दुगुनी और मुद्रा की क्रय-शक्ति बढकर दुगुनी हो जाने पर मुद्रा की माग आधी हो जाती है। अर्थात् जिस अनुपात में मुद्रा की क्रय-शक्ति घटती है (या बढती है) उसी अनुपात में मुद्रा की मांग भी बढती (या घटती) है। यदि मुद्रा की क्रय शक्ति मे 10 प्रतिशत की वृद्धि हो जाय तो मुद्रा की माग मे 10 प्रतिशत की कमी हो जाती है। इसका अर्थ यह है कि मुद्रा की क्रय-शक्ति को मुद्रा की मात्रा द्वारा गुणा करने पर जो गुणनफल प्राप्त होता है वह समान अथवा स्थिर रहता है।

किन्तु केन्स ने कई बातो को लेकर पीगू के समीकरण की आलोचना की है। केन्स के अनुसार सर्वप्रथम तो प्रो० पीगू ने बचत एव विनियोग मे होने वाले परिवर्तनो पर कोई ध्यान नही दिया है। द्वितीयत, मुद्रा के दो प्रधान कार्यों-विनिमय का माध्यम एव मूल्य-सचय के कार्य मे से पीगू ने केवल मूल्य सचय के कार्य का वर्णन किया है जबकि फिशर ने विनिमय के माध्यम वाले कार्य को अधिक महत्व प्रदान किया है। और अन्तत पीगू ने प्रसाधनो (Resources) एवं प्रचलित आय (Current Income) को एक ही समान समझ लिया है जो अनुचित है।

केन्स की मुद्रा की माग की धारणा (Keyne's Concept of Demand for *Money*)—मुद्रा-सचयन दृष्टिकोण (*Cash Balance Approach*) के समर्थको मे मार्शल, पीगू[1] एव रॉबर्टसन इत्यादि कैम्ब्रिज विचारधारा के अर्थशास्त्री हैं जिन्होने इस सिद्धात के अलग-अलग समीकरणो का प्रयोग किया है। किन्तु इन सभी लोगों ने मुद्रा की माग को k से ही व्यक्त किया है।

कैम्ब्रिज विचारधारा मे माग की धारणा केन्स के मुद्रा सचय की प्रवृत्ति (Liquidity prefernce) की धारणा से बहुत कुछ मिलती-जुलती है। केन्स (Keynes) के अनुसार मुद्रा की माग का तात्पर्य मुद्रा-सचय की प्रवृत्ति से है। केन्स के अनुसार मुद्रा सचय की प्रवृत्ति निम्न-लिखित तीन उद्देश्यो पर निर्भर करती है —

(1) क्रय-विक्रय का उद्देश्य (Transaction motive),
(2) सुरक्षा का उद्देश्य (Precautionary motive), तथा
(3) परिकल्पना का उद्देश्य (Speculative motive)।

(1) क्रय-विक्रय का उद्देश्य (*Transaction motive*) —प्रत्येक व्यक्ति या फर्म अपने पास अपनी आय का एक अ श नकद मुद्रा के रूप मे रखता है जिससे वह अपने रोज ब-रोज की क्रय-विक्रय सम्बन्धी आवश्यकताओ को पूरा कर सके। प्रत्येक व्यक्ति को कुछ न कुछ खर्चा रोज ही रहता है, लेकिन आमदनी नियत तिथि पर ही प्राप्त होती है। आय एव व्यय की इस खाई को ढकने के लिए प्रत्येक व्यक्ति अथवा फर्म क्रय विक्रय तथा विनिमय के उद्देश्य (Transaction motive) से अपनी आय का एक भाग नकद मुद्रा के रूप मे रखता है।

(2) सुरक्षा का उद्देश्य (Precautionary motive) —मुद्रा सचय का दूसरा उद्देश्य सुरक्षा सम्बन्धी उद्देश्य (*Precautionary motive*) का है। प्रत्येक व्यक्ति अथवा फर्म सुरक्षा अथवा सावधानी की दृष्टि से भी अपनी आय का एक भाग नकद मुद्रा के रूप मे अपने पास रखता है। इस प्रकार आकस्मिक खर्च की पूर्ति के लिए जो नकद मुद्रा रखी जाती है उसे सुरक्षा सम्बन्धी उद्देश्य से रखी गयी मुद्रा कहते हैं। इस प्रकार की मुद्रा का परिमाण व्यक्ति अथवा फर्म की प्रकृति तथा शेयर बाजार के विकास की स्थिति आदि बातो पर निर्भर करता है।

1 देखें A C Pigou The Value of Money, in the '*The Quarterly* Journal of Economics' 1917-18, P. 38 65

(3) **परिकल्पना का उद्देश्य** (Speculative motive)—परिकल्पना (Speculation) के उद्देश्य से भी व्यक्ति अथवा फर्म सदा अपने पास कुछ नकद मुद्रा रखते हैं। इस प्रकार की मुद्रा भविष्य मे शेयर अथवा प्रतिभूतियो आदि के मूल्य मे होनेवाले परिवर्तनो से लाभ उठाने के लिए रखी जाती है।

इस प्रकार केन्स के अनुसार मुद्रा की माग उक्त तीनो उद्देश्यो के लिए की जाती है। किन्तु मार्शल के अनुसार मुद्रा की माग प्रधानतया आय के परिमाण से ही निर्धारित होती है। इनके अनुसार मुद्रा की माग केवल क्रय विक्रय के उद्देश्य से की जाती है। इस प्रकार मार्शल ने मुद्रा की माग की व्याख्या मे सुरक्षा एव परिकल्पना-सम्बन्धी उद्देश्यो पर ध्यान नही दिया था। अतएव, इनका विश्लेषण मुद्रा की माग का सही चित्र नही उपस्थित करता। अतएव, यद्यपि फिशर की अपेक्षा मार्शल ने मुद्रा की माग की अधिक सन्तोषप्रद ढग से व्याख्या की है तथापि मार्शल की व्याख्या पूर्ण नही कही जा सकती।

फिशर एवं कैम्ब्रिज विचारधारा में अन्तर

(Distinction between Fisher's and Cambridge Approach)

हम यह देख चुके हैं कि फिशर (Fisher) एव रॉबर्टसन के समीकरण आपस मे परस्परानुवर्ती (Inter changeable) हैं, किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि ये दोनो विचारधाराएँ एक हैं। वास्तव मे, इन दोनो मे कुछ मौलिक अन्तर हैं। इनमे निम्नाकित उल्लेखनीय हैं —

सर्वप्रथम तो फिशर की विचारधारा की अपेक्षा कैम्ब्रिज विचारधारा के अन्तर्गत मुद्रा की माग पर अधिक जोर दिया गया है। फिशर के अनुसार P, यानी मूल्य तल मुद्रा के परिमाण से निश्चित होता है किन्तु मार्शल तथा कैम्ब्रिज विचारधारा के अन्य अर्थशास्त्रियो के अनुसार P यानी मूल्य-तल जनता की मुद्रा की माग (k) मे परिवर्तन होने से अधिक प्रभावित होता है। इस प्रकार कैम्ब्रिज विचारधारा के अन्तर्गत मुद्रा की माग को अत्यधिक महत्त्व दिया गया है।

द्वितीयत, फिशर का समीकरण P का वह चित्र उपस्थित करता है जो क्रय-विक्रय के समाप्त होने के बाद (Transaction ex post) उत्पन्न होता है जबकि कैम्ब्रिज समीकरणो मे 'P' का क्रय विक्रय के पूर्व का चित्र (Transaction ex-ante) उपस्थित होता है। इन दोनो मे दूसरा ही अधिक उपयोगी है क्योंकि पहले से सम्पूर्ण क्रिया समाप्त होने के बाद का चित्र मिलता है। अतएव, यह अधिक उपयोगी नही है क्योंकि आय प्राप्त करनेवाला इस बात की जानकारी चाहता है कि उसकी मुद्रा क्या और कितना खरीद सकती है। इसका चित्र हमे कैम्ब्रिज विचारधारा से ही प्राप्त होता है।

तृतीयत, फिशर के समीकरण मे मुद्रा के भ्रमण-प्रवाह (V) पर जोर दिया गया है जबकि कैम्ब्रिज समीकरण मे नकद शेष (Cash balance) (k) पर जोर दिया गया है। एक मे मुद्रा की गति का महत्त्व है और दूसरे मे मुद्रा की स्थिरता का। दूसरे शब्दो मे, कैम्ब्रिज समीकरण मे स्थावर मुद्रा (Flat money) पर ध्यान दिया गया है, जबकि फिशर के समीकरण मे जगम मुद्रा (Round mon y) पर ध्यान केन्द्रित किया गया है। राबर्टसन ने इन दोनो समीकरणो के अन्तर को स्पष्ट करते हुए कहा है कि कैम्ब्रिज समीकरणो का सम्बन्ध बैठी हुई मुद्रा (Money s tting) से है और फिशर के समीकरण का सम्बन्ध उड़ती हुई मुद्रा (Money on the wings) से है। सक्षेप मे फिशर के समीकरण मे द्रव्य को बहाव (Flow) के रूप मे महत्त्व दिया गया है, किन्तु कैम्ब्रिज समीकरण मे मुद्रा को कोष (Stock के रूप मे महत्त्व दिया गया है।

किन्तु इन अन्तरो के बावजूद कुछ अर्थशास्त्रियो का यह विचार है कि फिशर एव कैम्ब्रिज विचारधारा मे कोई मौलिक विभेद नहीं है। इनके अनुसार ये दोनो समीकरण एक ही सिद्धात के दो रूप हैं, परन्तु इस सम्बन्ध मे केन्स का यह विचार है कि फिशर एव कैम्ब्रिज समीकरणो मे समानता नहीं है, क्योंकि कैम्ब्रिज समीकरण के मूल्य-स्तर (P) का सम्बन्ध केवल उपभोग की वस्तुओ से है किन्तु फिशर के समीकरण मे P सामान्य मूल्य-तल से सम्बन्धित है। सुप्रसिद्ध अर्थशास्त्री हैनसन (Hansen) के अनुसार भी "मार्शल का मुद्रा-सचयन समीकरण (Cash

Balance Equation) फिशर के समीकरण से पूर्णतया भिन्न है। अतएव, यह कहना उचित नहीं है कि नकद सचयन समीकरण केवल परिमाण सिद्धान्त का नया बीजगणितीय रूप है।" (The Marshallian version of the Quantity theory, i. e M=kY represents a fundamentally new approach to the problem of money and prices It is not true, as is often alleged, that the cash balance equation is merely the quantity theory in a new algebric dress Hansen)

कैम्ब्रिज समीकरणों की आलोचनाएँ

(Criticisms of the Cambridge version)

किन्तु यद्यपि कैम्ब्रिज समीकरण फिशर के समीकरण की तुलना मे अधिक उत्तम है, परन्तु यह भी पूर्णतया दोषमुक्त नही है। वास्तव मे, मुद्रा-सचयन दृष्टिकोण के विरुद्ध भी बहुत सारी आलोचनाएँ दी जाती हैं जिनमे निम्नलिखित प्रमुख हैं :—

(1) सर्वप्रथम तो यह एक पूर्ण मौद्रिक सिद्धात नही है जिसके द्वारा अर्थ-व्यवस्था मे मूल्यो की प्रावैगिक प्रवृत्ति का अध्ययन किया जा सके। वास्तव मे, कैम्ब्रिज समीकरण इस प्रावैगिक विश्व की जटिल एव पेचीदी आर्थिक समस्याओ की व्याख्या करने मे पूर्णतया असमर्थ हैं।

(2) इस सिद्धात के विरुद्ध दूसरी आलोचना यह दी जाती है कि "यह मुद्रा की माग के सभी निर्धारक तत्वों की व्याख्या नहीं करता।" यह परिकल्पना के उद्देश्य (Speculative motive) से की गयी मुद्रा की माग पर कोई ध्यान नही देता किन्तु इसका मुद्रा की कुल माग के निर्धारण मे विशेष महत्त्व है। इस प्रकार इस दृष्टिकोण के अन्तर्गत भी मुद्रा की माग की धारणा अधूरी है।

(3) तीसरी आलोचना यह है कि चूँकि परिमाण सिद्धान्त के आदान-प्रदान रूप की तरह मुद्रा-संचयन दृष्टिकोण भी K एवं T को दिया हुआ मानता है, अत. इसके विरुद्ध भी वे सारी आलोचनाएँ दी जा सकती हैं जो परिमाण सिद्धात के आदान-प्रदान रूप के विरुद्ध दी जाती हैं।

(4) चौथी आलोचना यह है कि मुद्रा-सचयन दृष्टिकोण प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों के रोजगार सिद्धान्त (Classical theory of Employment) पर आधारित है जो सर्वथा अमान्य है। प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियो ने यह मान लिया था कि जनता की सम्पूर्ण माग सर्वदा इतनी रहती है जिससे कि समाज मे पूर्ण रोजगार की स्थिति कायम हो जाती है, किन्तु यह धारणा वास्तव मे गलत है। जब समाज में पूर्ण रोजगार की स्थिति नही रहती है तो ऐसी स्थिति मे मुद्रा के परिमाण मे वृद्धि होने से मूल्य-तल पर क्या प्रभाव पडता है यह केवल माग के परिवर्तन पर ही नही, वरन् इस बात पर भी निर्भर करता है कि माग मे परिवर्तन से उत्पादन एव रोजगार मे किस प्रकार वृद्धि होती है और इनमे वृद्धि का पारिश्रमिक एव अन्य लागतो पर क्या प्रभाव पडता है। यदि मुद्रा के परिमाण मे वृद्धि होने से उत्पादन मे वृद्धि हो, किन्तु इसके साथ-ही-साथ पारिश्रमिक एव अन्य लागतो मे भी वृद्धि हो, तो मूल्य-तल मे भी वृद्धि की प्रवृत्ति पायी जायगी, किन्तु कैम्ब्रिज विचारधारा मे इस प्रकार के विश्लेषण का अभाव है। इसका कारण यह है कि इन लोगो ने प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियो के रोजगार-सम्बन्धी सिद्धात को स्वीकार किया है यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो मुद्रा का सिद्धात मूल्य एव रोजगारी के सिद्धात का ही एक अग है, किन्तु कैम्ब्रिज विचारधारा के अर्थशास्त्रियो ने इस दृष्टिकोण से इस प्रश्न पर विचार नही किया। आगे चलकर केन्स ने इस कमी को दूर करने का सफल प्रयास किया।

कैम्ब्रिज समीकरण में केन्स (Keynes) द्वारा संशोधन

या

केन्स का वास्तविक शेष समीकरण

(Keynes' Real Balance Equation)

कैम्ब्रिज समीकरण मे संशोधन करके केन्स ने अपनी पुस्तक "A Tract on Monetary

Refroms' मे परिमाण सिद्धात का एक दूसरा समीकरण प्रस्तुत किया। इस समीकरण को केन्स का **वास्तविक शेष समीकरण** (Real Balance Equation) भी कहा गया है। केन्स का यह समीकरण निम्न प्रकार से हैं :—

$$n = P[K + rK^1]$$

$$\text{या } P = \frac{n}{K + rK^1}$$

इस समीकरण मे n=चलन मे मुद्रा की कुल मात्रा,

P=उपभोग की एक इकाई का मूल्य या उपभोक्ता वस्तुओ का मूल्य,

K=उपभोग की इकाइयो की मात्रा जिनके लिए मुद्रा के रूप मे क्रय-शक्ति का संचय किया जाता है,

r=बैंक के जमा एव नकद कोष का अनुपात, तथा

K^1=उपभोग का इकाइयो की वह मात्रा जिनके लिए साख-मुद्रा के रूप मे क्रय-शक्ति का सचय किया जाता है।

केन्स के समीकरण मे साख-मुद्रा को भी आवश्यक स्थान दिया गया है। यह समीकरण मुद्रा-सचयन की प्रवृत्ति Liquidity preference) पर आधारित है जिसका प्रयोग केन्स ने ब्याज की दरो के निर्धारण के सम्बन्ध मे किया है। केन्स के अनुसार चूँकि जनता के अपने पास नकद मुद्रा रखने की आदत मे अल्पकाल मे परिवर्तन नही होता, अतएव, K, K^1 एव r वस्तुत स्थिर रह जाते हैं। अतएव, वस्तु की कीमत (P) मे परिवर्तन मुद्रा की मात्रा (n) मे परिवर्तन के अनुसार ही होता है।

ध्यानपूर्वक विचार करने से यह स्पष्ट होगा कि फिशर तथा केन्स के समीकरणो मे कोई मौलिक विभेद नही है। वास्तव में, ये दोनो समीकरण एक ही वस्तु के दो अलग-अलग दृष्टिकोण को बतलाते हैं। केन्स का समीकरण मुद्रा की मात्रा पर ध्यान देता है जिसे जनता किसी निश्चित समय मे अपने पास नकद-मुद्रा के रूप मे भविष्य के लेन-देन के लिए रखना चाहती है। दूसरी ओर, फिशर का समीकरण मुद्रा की उस मात्रा पर ध्यान देता है जो किसी निश्चित समय मे समाज के लेने देन के लिए आवश्यक समझी जाती है। इस प्रकार केन्स एक नियत समय (Point of time) की ओर सकेत करता है जबकि फिशर समय की एक अवधि (Period of time) की ओर सकेत करता है।

फिशर के समीकरण की तरह केन्स के समीकरण की सहायता से भी मुद्रा की क्रय-शक्ति का पता लगाना कठिन है। सैद्धातिक दृष्टिकोण से तो यह समीकरण फिशर की अपेक्षा अधिक सही प्रतीत होता है, किन्तु व्यावहारिक दृष्टिकोण से यह अनुपयुक्त है। केन्स ने स्वय अपने समीकरण के दोषो पर प्रकाश डाला है। इनके अनुसार P केवल उपभोग की इकाइयो के मूल्य तल की माप करता है। इसका अर्थ यह है कि मुद्रा केवल उपभोग की वस्तुओ को प्राप्त करने के लिए ही रखी जाती है, किन्तु यह विचार सत्य नहीं है क्योकि द्रव्य का सचय अन्य व्यापारिक एव व्यक्तिगत कार्यों के लिए भी किया जाता है। अतएव, P का सम्बन्ध केवल उपभोग की वस्तुओ से ही नही, वरन् सामान्य मूल्य-तल से होना चाहिए।

विशेष अध्ययन-सूची

1. Keynes · *A Treatise on Money, Vol I*—Chapters X and XIV
2. Crowther An Outline of Money, Chapters III and IV
3. Chandler : An Introductior to Monetary Theory, Chapters II to IV
4. Halm . Monetary Theo y, Chapter II
5. Robertson : Money, Chapter II
6. Hansen : Monetary Theory and Fiscal Policy, Chapters III, VI and IX.
7. Coulborn : An Introduction to Money, Chapter VI.

अध्याय : 12

मुद्रा का आय सिद्धांत

(The Income Theory of Money)

परिमाण सिद्धान्त के मूल दोष (Main Defects of the Quantity Theory).— मुद्रा के मूल्य-निर्धारण के सम्बन्ध मे हमने पिछले अध्याय मे परिमाण सिद्धात का अध्ययन किया है, किन्तु परिष्कृत रूप मे भी इस सिद्धात के दो प्रमुख दोष हैं सर्वप्रथम तो इस सिद्धात मे मुद्रा के परिमाण (Quantity of Money) पर बहुत अधिक जोर दिया गया है मानो यही आर्थिक परिवर्तनो का प्रधान एव एक मात्र कारण हो, किन्तु इस प्रकार की धारणा बिल्कुल भ्रामक है। उत्पादन एव मूल्य-तल मे अल्पकालीन परिवर्तनो (Short-term fluctuations of prices and production) की व्याख्या के सम्बन्ध मे तो यह धारणा बिल्कुल ही भ्रामक है। अतएव, पिछले अध्याय मे हम इस निष्कर्ष पर आये है कि परिमाण सिद्धात मूल्य-तल के दीर्घकालीन परिवर्तनो *की व्याख्या करने मे सहायक भले ही हो व्यवसाय-चक्र के अल्पकालीन परिवर्तनो की व्याख्या* करने मे यह बिल्कुल ही सहायक नही होता।

परिमाण सिद्धात का दूसरा प्रमुख दोष यह है कि यह मूल्य तल पर बहुत अधिक ध्यान देता है, मानो आर्थिक व्यवस्था का यह सर्वाधिक प्रमुख तत्त्व हो। निस्सन्देह मूल्य तल मे परिवर्तनो का आर्थिक व्यवस्था पर बहुत अधिक प्रभाव पडता है किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि औद्योगिक क्रियाशीलता मे जो कुछ भी परिवर्तन होते है, वे सभी मूल्य तल मे परिवर्तन के ही *परिणाम हैं। दूसरे शब्दो मे, यह सोचना कि मूल्य-तल मे परिवर्तन ही व्यवसाय-चक्र (Trade* cycle) का एक मात्र कारण है, बिल्कुल भ्रामक है। वास्तव मे मूल्य तल का व्यवसाय चक्र पर और व्यवसाय-चक्र का मूल्य-तल पर प्रभाव पडता है। दोनो एक-दूसरे के कारण एव परिणाम हैं। इन दोनो को प्रभावित करनेवाली एक तीसरी शक्ति है जिसे *आय* (Income) कहते हैं।

आय का प्रभाव —आय सिद्धात के समर्थको के अनुसार वर्त्तमान आर्थिक एव मौद्रिक सगठन मे आय का प्रधान स्थान है, मुद्रा के परिमाण का नही। इस सिद्धात के सबसे बडे समर्थक केन्स (Keynes) महोदय है।[1] *मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त का सम्बन्ध औसत मूल्य से है, आय,* उत्पत्ति एव रोजगार से नही। परिमाण सिद्धात के अनुसार वास्तविक आय उत्पादन के साधनों की मात्रा एव योग्यता (Quantity and efficiency of the factors of production) पर निर्भर करती है। इसके समर्थको के अनुसार पूँजीवाद के अन्दर कोई स्वत व्यवस्थापित शक्ति (Self adjusting force) काम करती है जो पूर्ण रोजगार (Full employment) की स्थिति बनाये रखती है। *ऐसी स्थिति मे मुद्रा के परिमाण मे परिवर्तन का प्रभाव केवल मूल्य तल पर* पडता है, उत्पत्ति एव रोजगार पर नही। किन्तु आधुनिक आर्थिक व्यवस्था मे मूल्य-तल का आय तथा रोजगारी से बहुत ही घनिष्ठ सम्बन्ध है। ये कुल व्यय (Total expenditure) पर आधा*रित हैं जिस पर परिमाण सिद्धात मे कोई विचार नहीं किया गया है।* अतएव, वास्तव मे मुद्रा के परिमाण की तुलना मे कुल व्यय ही अधिक महत्त्वपूर्ण है।[2]

---

1 केन्स के मुद्रा के मूल्य सिद्धात को मुद्रा का आय सिद्धात (The Income Theory of Money) भी कहा जाता है, किन्तु केंस के बहुत पहले ही इस सिद्धात का प्रारम्भ हो चुका था। वास्तव में, इस सिद्धात का जिक्र टूक (Tooke), विकसेल (Wicksell), अफ्तालियन (Aftalian) शुम्पीटर (Shumpeter), हाट्रे (Hawtrey) तथा रॉबर्टसन (Robertson) जैसे सुप्रसिद्ध अर्थशास्त्रियों के लेखों में मिलता है।

2 "The quantity of money is a secondary factor as compared with the volume of expenditure The notion that the quantity of money is a causative factor in the state of business has given way to regarding it as a consequence Changes in the level of prices are not the most important phenomenon of the economic system and we hold today that it is a lack of spending, a lack of income rather than a lack of money that produces a depression The quantity of money, in short is not a dominant cause of the fluctuations of prices and is a very imperfect guide to the causes of trade cycle " —*Findlay Shirras.*

कुल व्यय के परिमाण का प्रभाव रोजगारी, उत्पादन एवं कीमत सभी पर पड़ता है। हम यह जानते हैं कि एक व्यक्ति का व्यय दूसरे व्यक्ति की आय है। बिना किसी के व्यय किये दूसरे को आय नहीं प्राप्त होती। किसी समाज में कुल व्यय उत्पादन के सिलसिले में किया गया वह खर्च है जो उत्पादन के साधनों को अततोगत्वा आय के रूप में प्राप्त होता है। (Total expenditure are outlays made in the process of production, and these outlays are received by the factors of production, thus they become, in the period in question, income at factor cost) अतएव, मुद्रा के आय सिद्धांत की व्याख्या निम्न समीकरण के रूप में की जा सकती है –

$$P = \frac{Y}{O}$$

जिसमे P=मूल्य-तल (Price-level),

Y=मौद्रिक आय का परिमाण (Level of money income), और

O=उत्पादन अथवा वास्तविक आय का परिमाण (Level of output or Real income) का सूचक है।

मुद्रा के आय सिद्धांत की विवेचना के पूर्व इसके विकास का संक्षिप्त ऐतिहासिक विवरण अनिवार्य है।

टूक के विचार

(Tooke on Income Theory)

आय सिद्धांत का सर्वप्रथम समर्थन टूक ने अपनी पुस्तक "An Enquiry into the Currency Principle" में किया था।[1] टूक के अनुसार "मूल्य का निर्धारण मुद्रा के परिमाण द्वारा नहीं वरन आय द्वारा होता है। दूसरे शब्दों में, वस्तुओं का मूल्य मुद्रा के परिमाण पर निर्भर नहीं करता, वरन् मुद्रा का परिमाण कीमतों का परिणाम होता है।' (*The prices of commodities do not depend upon the quantity of money but that on the contrary, the amount of circulating medium is a consequence of prices*) जिस प्रकार किसी वस्तु की पूर्ति उत्पादन व्यय द्वारा निश्चित होती है उसी प्रकार कुल मौद्रिक आय, जो उपभोग की वस्तुओं पर खर्च की जाती है, माग की सीमा को निश्चित करती है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि आय का स्तर ही उपभोग की वस्तुओं की माग को निर्धारित करता है। (It is the level of income that determines the effective demand for consumers' goods) इसी से कीमत भी निश्चित होती है।[2] इस प्रकार आय की मात्रा उपभोग की वस्तुओं पर किये जाने वाले व्यय को निर्धारित करती है।

टूक (Took) ने अपने सिद्धान्त में माग पर ऊँची मजदूरी के प्रभाव की भी व्याख्या की है। इनके अनुसार ऊँची मजदूरी का प्रभाव दो तरफा होता है। (Wages cut both ways) दूसरे शब्दों में मजदूरी माग तथा व्यय दोनों को प्रभावित करती है। एक ओर तो ऊँची मजदूरी से मांग बढ़ती है और दूसरी ओर ऊँची मजदूरी का अर्थ है लागत में वृद्धि। जबतक कार्यकुशलता नहीं होती तब तक उत्पादन-व्यय में वृद्धि के फलस्वरूप वस्तुओं की पूर्ति घटेगी जिससे मूल्य-तल में भी वृद्धि होगी।

---

1. Thomas Tooke—'An Enquiry into the Currency Principle.' 1844—pp 109-124

2 समीकरण के रूप में इसे इस प्रकार भी दिया जा सकता है $Pc = \frac{Dc}{Oc}$

जिसमें Pc =उपभोग की वस्तुओं का मूल्य,

Dc=उपभोग की वस्तुओं की कुल माँग, तथा

Oc=उपभोग की वस्तुओं की कुल पूर्ति।

विकसेल के विचार

(Wicksell's Analysis of the Income Theory of Money)

आय सिद्धान्त की व्याख्या विकसेल नामक स्वीडेन वे एक अर्थशास्त्री ने भी की है। उसने टक के सिद्धान्त को अपने मुद्रा एव मूल्य सिद्धान्त का आधार माना, किन्तु विकसेल एव टूक के सिद्धान्तो मे आय के निर्धारण मे सूद के महत्त्व को लेकर मतभेद है। विकसेल के अनुसार आय का घटना या बढना अथवा स्थायी रहना वास्तविक ब्याज दर (*Natural rate of interest*) एव मौद्रिक ब्याज दर या बाजार की दर (Market rate of interest) पर निर्भर करता है। जब वास्तविक ब्याज की दर मौद्रिक ब्याज की दर के बराबर होती है तो आय स्थायी होगी। यही विकसेल के मौद्रिक सतुलन की धारणा है। जब बाजार की दर वास्तविक ब्याज-दर से अधिक होगी तो बचत विनियोग की अपेक्षा अधिक होगी जिससे आय मे कमी होगी। इसके परिणामस्वरूप मूल्यो मे उत्तरोत्तर ह्रास होते जायगा। इसके विपरीत जब बाजार दर वास्तविक ब्याज-दर से कम होगी तो बचत की अपेक्षा विनियोग अधिक होगा। इससे आय मे वृद्धि होगी जिसके परिणामस्वरूप मूल्य-तल मे भी वृद्धि होगी।[1]

किन्तु विकसेल (Wicksell) के सिद्धान्त की सबसे बडी त्रुटि यह है कि उसने आय के निर्धारण मे केवल एक ही तत्त्व विनियोग पर अत्यधिक जोर दिया है तथा उपभोग जो एक दूसरा महत्त्वपूर्ण तत्त्व है, की उपेक्षा की है। साथ ही, उसने विनियोग को ब्याज की दर पर बिलकुल आश्रित समझा है। अतएव विनियोग को प्रभावित करने मे बैंको की शक्ति को अत्यधिक महत्त्व दिया है। विकसेल ने इस बात को ध्यान मे नही रखा कि कभी कभी विनियोग को प्रभावित करने मे ब्याज की दर बिलकुल असफल हो जाती है। विकसेल के सिद्धान्त का दूसरा प्रधान दोष यह है कि इसने गुणक (Multiplier) पर, जिसका आय एव मूल्य तल पर बहुत अधिक प्रभाव पडता है, ज़रा भी ध्यान नही दिया।

अफ्तालियन के विचार

(Aftalian on Income Theory)

1925 ई० मे अफ्तालियन (Aftalian) ने एक समीकरण की सहायता से आय सिद्धान्त की विशद विवेचना प्रस्तुत की। इनका समीकरण है—

$$R = PQ$$

जिसमे R = मौद्रिक आय (Money Income),
P = मूल्य-तल (Price-Level), तथा
Q = कुल उत्पादन (Total Production) है।

उक्त समीकरण के आधार पर अफ्तालियन ने यह निष्कर्ष निकाला कि मूल्य-तल मे परिवर्तन मौद्रिक आय एव वास्तविक आय के पारस्परिक सम्बन्ध पर अवलम्बित है। (Price fluctuation depends upon the respective movements of the money income in relation to the real income) यदि मौद्रिक आय मे वृद्धि हो किन्तु वास्तविक आय ज्यो कि त्यो रहे या कम हो जाय, तो मूल्य-तल मे वृद्धि होगी।

अफ्तालियन (Aftalian) के अनुसार आय सिद्धान्त (Income Theory) का सबसे बडा लाभ यह है कि यह आधुनिक मूल्य सिद्धान्त के बहुत समीप है। मौद्रिक आय मे परिवर्तन का वस्तुओ की माग एव पूर्ति के परिवर्तन पर भी प्रभाव पडता है। इस प्रकार आय का सिद्धान्त माग एव मूल्य तल के निर्धारण मे परिमाण सिद्धान्त की तरह मानवीय आचरण की उपेक्षा नही करता।

किन्तु टूक (Tooke) की तरह अफ्तालियन (Aftalian) भी आय के निर्धारक तत्त्वो की व्याख्या नही करता। वास्तव मे, उसका प्रधान उद्देश्य व्यवसाय चक्र की व्याख्या करना था।

1 'A fall in the rate of interest below normal will cause the general level of prices to rise and in the same way a rise in the rate of interest above the normal will result in a continuous fall in the prices of goods and services.'

आधुनिक पूँजीवादी-व्यवस्था मे इसका प्रमुख कारण उत्पादन एव उपभोक्ता की माग मे सामजस्य स्थापित करने की कठिनाई है।

केन्स के मौद्रिक सिद्धान्त

(Keynes' Theory of Money)

उक्त तीनो अर्थशास्त्रियो की व्याख्या का सर्वाधिक प्रमुख दोष यह था कि इन्होंने आय के निर्धारक तत्त्वो का विश्लेषण नही किया था। इसके विशद विवेचन का श्रेय सुप्रसिद्ध अर्थशास्त्री लार्ड केन्स को है, किन्तु केन्स के मौद्रिक सिद्धात को समझने के पूर्व इसके विकास का ऐतिहासिक विवेचन अनिवार्य है। केन्स के मौद्रिक विचारो की शुरुआत उसकी पुस्तक 'A Tract on Monetary Reforms' से होती है। परिमाण सिद्धान्त के दोषो की व्याख्या करते हुए केन्स ने वास्तविक शेष समीकरण (Real Balances Equation) का निर्माण किया था। इस समीकरण की व्याख्या पिछले अध्याय मे की गयी है,[1] किन्तु केन्स (Keynes) का यह दृष्टिकोण भी परिमाण सिद्धात की तरह दोषपूर्ण है। अतएव, अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक "A Treatise on Money" मे उन्होंने अपने मौद्रिक सिद्धातों मे मौलिक परिवर्तन का समावेश किया। केन्स के अनुसार, "मौद्रिक सिद्धात का मुख्य उद्देश्य केवल मुद्रा की मात्रा एव इसके बदले मे मिलनेवाली वस्तुओं मे स्थायी समीकरण स्थापित करना ही नही है वरन् इस प्रकार के सिद्धात का मुख्य उद्देश्य तो इस समस्या के विभिन्न तत्त्वो की इस प्रकार से व्याख्या करना है जिससे कि मूल्य-तल के परिवर्तन की प्रक्रिया पूर्ण रूप से स्पष्ट हो जाय।"[2]

केन्स के मौलिक समीकरण

(Keynes' Fundamental Equations)

उक्त उद्देश्यो को ध्यान मे रखते हुए केन्स ने मूल्य के निर्धारक तत्त्वो की व्याख्या का प्रयास किया है। इन्होंने मुद्रा के मूल्य का विश्लेषण तीन प्रकार की वस्तुओ के रूप में किया है—

(1) उपभोग की वस्तुएँ (Consumption goods);

(2) कुल उत्पादन (Total Output), एव

(3) विनियोग की वस्तुएँ (Investment goods)।

इस प्रकार केन्स ने निम्नलिखित मौलिक समीकरण (Fundametal Equations)[3] दिया है:—

(1) पहला मौलिक समीकरण —

E=समाज की कुल मौद्रिक आय (Total Money Income of the Community),

I′=इस आय का वह भाग जो विनियोग की वस्तुओ के उत्पादन से प्राप्त होता है। अतएव I′ नवीन पूँजी-विनियोग की लागत का मापक है (I′ measures the cost of production of new investment goods); इसीलिये

E—I′=वर्तमान उपभोग की वस्तुओ के उत्पादन की लागत (Cost of production of current output of Consumption goods);

---

1. "The real balance Equation was given as $n=p\ (K+rK')$ in his 'A Tract on Monetary Reform' published in 1924. Six Years later appeard Keynes's Treatise on Money in two Volumes. The Fundamental Equations have been discussed in chapter 10 (Vol. I) of the Treatise"

2. "The fundamental problem of the monetary theory is not merely to establish indentities or statistical equations relating to the turnover of monetary instruments to the turnover of things traded for money The real task of such a theory is to treat the problem dynamically, analysing the different elements involved in such a manner as to exhibit the casual process by which the price-level is determined and the method of transition from one position of equilibrium to another."—*Keynes*—'A Treatise on Money' Vol. I

3. *Keynes*—A Treatise on Money—*Vol. 1, Ch.—10.*

S=बचत की मात्रा, इसलिए

E—S=आय का वह भाग जो वर्तमान उपभोग की वस्तुओ पर व्यय किया गया है (Current expenditure of income on consumption goods),

पुन O=कुल उत्पादन (Total output of goods),

R=उपभोग की वस्तुओ एव सेवाओ का परिमाण (The volume of liquid consumption goods and services),

C=पूँजी विनियोग मे हुई शुद्ध वृद्धि (Net increment of investment),

अतएव $O = R + C$,

पुन: P=उपभोग की वस्तुओ का मूल्य तल (Price level of liquid consumption goods),

PR=उपभोग की वस्तुओं पर किया गया व्यय (current expenditure on Consumption goods),

तथा $\frac{EC}{O} = I'$)=नवीन पूँजी-विनियोजन के उत्पादन का व्यय (Cost of Production of new investment)।

अब चूँकि उपभोग की वस्तुओ पर किया जाने वाला कुल व्यय समाज की कुल आय एव इसकी बचत के अन्तर के बराबर होता है, अतएव

$$PR = E \quad S = \frac{E}{O}(R + C) - S = \frac{E}{O}R + I - S$$

$$\text{या } P = \frac{E}{O} + \frac{I' - S}{R}$$

केन्स का यह पहला मौलिक समीकरण (Fundamen al Equation) है। इससे स्पष्ट है कि उपभोग की वस्तुओ का मूल्य स्तर दो बातो पर निर्भर करता है . —

(क) $\frac{E}{O}$, यानी उत्पादन की प्रत्येक इकाई की लागत। केन्स ने इसे उत्पादन के साधनो का पारिश्रमिक (Efficiency earnings) कहा है।

(ख) $\frac{I - S}{R}$, यानी नये पूँजी-विनियोग के लागत व्यय एव बचत मे सम्बन्ध।

यदि I=S, यानी नयी पूँजी के विनियोजन का खर्च बचत के बराबर है, तो $\frac{I - S}{R}$ =O(Zero), यानी शून्य होगा। ऐसी स्थिति मे उपभोग की वस्तुओ का मूल्य वस्तु की एक इकाई के उत्पादन के लागत व्यय के बराबर होगा।

केन्स के अनुसार दीर्घकाल मे उपभोग की वस्तुओ का मूल्य तल $\frac{E}{O}$ वस्तुओ की एक इकाई के उत्पादन के लागत व्यय पर निर्भर करता है, किन्तु अल्पकाल मे यह नये पूँजी विनियोजन तथा बचत के सम्बन्ध के अनुसार बदलते रहता है।

(2) दूसरा मौलिक समीकरण

यदि P = नयी विनियोग की वस्तुओ का मूल्य स्तर (The Price-level of new investment goods),

π = सम्पूर्ण उत्पादन का मूल्य तल (The Price-level of output as a whole), और I=P C = नवीन विनियोग की वस्तुओ के मूल्य के बराबर (The value of increment of new investment goods),

इसलिए $\pi = \frac{PR + P'C}{O}$

$$= \frac{(E-S)+I}{O}$$

$$= \frac{E}{O} + \frac{I-S}{O}$$

यह केन्स का दूसरा मौलिक समीकरण (Second Fundamental Equation) है। इस समीकरण से यह निष्कर्ष निकलता है कि कुल उत्पादन का मूल्य-तल निम्नांकित दो तत्त्वों पर निर्भर करता है—

(क) $\frac{E}{O}$, यानी उत्पादन की प्रति इकाई का लागत-व्यय तथा

(ख) $\frac{I-S}{O}$ यानी, नये पूँजी-विनियोजन के मूल्य तथा बचत के सम्बन्ध पर।

इस प्रकार केन्स (Keynes) के अनुसार दीर्घकाल मे कुल उत्पादन का मूल्य-तल वस्तु की एक इकाई के लागत-व्यय $\left(\frac{E}{O}\right)$ पर निर्भर करता है, किन्तु अल्पकाल मे यह नये पूँजी-विनियोजन एव बचत के सम्बन्ध के अनुसार बदलते रहता है :—

पुनः मानलिया कि Q_1=उपभोग की वस्तुओ के उत्पादन एव विक्रय से प्राप्त लाभ (The amount of the profit on the production and sale of consumption goods);

Q_2=विनियोग की वस्तुओ के उत्पादन एवं विक्रय से प्राप्त लाभ (The profit on investment goods),

और Q=कुल लाभ (Total profit),

$\therefore \quad Q_1 = P.R - \frac{E}{O}.R$

$= E - S - (E - I')$

$= E - S - E + I'$

$= I' - S$

अतएव, उपभोग की वस्तुओ के उत्पादन एवं विक्रय से प्राप्त मुनाफा

= विनियोग को वस्तुओ की लागत − बचत

पुनः चूँकि $Q_2 = I - I'$

और $Q = Q_1 + Q_2$

$\therefore \quad Q = I - S$

यानी सम्पूर्ण उत्पादन से प्राप्त मुनाफा=विनियोग की वस्तुओं की कीमत − बचत।

यदि I = S तो सम्पूर्ण उत्पादन की कीमत स्थायी रहेगी क्योंकि ऐसी स्थिति मे सम्पूर्ण उत्पादन पर प्राप्त मुनाफा शून्य के बराबर होगा और सम्पूर्ण उत्पादन मे परिवर्तन नही होगा।

यदि I' S से अधिक है तो उपभोग की वस्तुओ पर लाभ होगा जिससे इनके उत्पादन मे वृद्धि होगी। उत्पादन मे यह वृद्धि मूल्य-स्तर मे वृद्धि उत्पन्न कर देगी जिससे $\frac{E}{O}$, यानी उत्पादन की लागत मे वृद्धि होने लगेगी। इसके विपरीत यदि I'S से कम है तो उपभोग की वस्तुओ के उत्पादन और विक्रय से हानि होगी जिससे मूल्य-तल मे ह्रास की प्रवृत्ति उत्पन्न हो जायगी। अतएव उपभोक्ता की वस्तुओ एव सम्पूर्ण उत्पादन की वस्तुओ के मूल्य को स्थायी बनाने के लिए यह

आवश्यक है कि $I' = S$ और $I = S$ और इनसे प्राप्त मुनाफा शून्य के बराबर हो जिससे इनका मूल्य $\frac{E}{O}$, यानी उत्पादन की लागत के बराबर हो।

नये पूँजी विनियोजन का मूल्य बचत से अधिक होने का अर्थ यह है कि उत्पादकों को आकस्मिक लाभ हो रहा है। अत वे उत्पादन मे वृद्धि करेंगे *जिससे आय मे वृद्धि होगी तथा मूल्य* तल बढेगा। इसके विपरीत नये पूँजी-विनियोजन का मूल्य बचत से कम होने पर उत्पादकों को हानि होगी। फलत. वे उत्पादन मे कमी करेंगे, जिससे आय घटेगी एव मूल्य-तल भी कम होगा।

केन्स (Keynes ने अपने इस विश्लेषण मे विकसेल (Wickshell) की मौद्रिक ब्याज दर एव वास्तविक ब्याज-दर की धारणा को अपनाया है। इनके अनुसार मौद्रिक एव वास्तविक ब्याज की दर को समान रख कर मौद्रिक अधिकारी मूल्य-तल को स्थायी बना सकते हैं क्योंकि ऐसी स्थिति मे पूँजी-विनियोजन एव बचत बराबर होंगे जिससे लाभ शून्य होगा। लाभ शून्य रहने से उत्पादन के बढने या घटने की प्रेरणा का सर्वथा अभाव रहेगा एव कीमतें भी स्थायी होंगी।

केन्स के मौलिक समीकरणों की आलोचना

यद्यपि केन्स के मौलिक समीकरण मुद्रा के परिमाण सिद्धात की अपेक्षा अधिक उत्तम हैं, फिर भी ये सर्वथा दोष रहित नही हैं। वास्तव म, केन्स (Keynes) का उक्त विश्लेषण निम्नांकित कारणो से दोषपूर्ण है —इसका सबसे बडा दोष यह है कि इस विश्लेषण मे केन्स का मुख्य उद्देश्य मूल्य-तल की जांच करना है किन्तु मूल्य-तल के प्रधान निर्धारक तत्त्व रोजगारी एव आय है जिन्हें वह कोई महत्त्व नही देता। साथ ही, केन्स की आय की धारणा भी बिल्कुल सही है। केन्स की इस विचारधारा का सबसे बडा दोष पूँजी-विनियोजन तथा बचत मे विषमता की धारणा को लेकर है। मौलिक समीकरणो में इस बात पर अधिक जोर दिया गया है कि कीमतो मे परिवर्तन का कारण पूँजी-विनियोजन एव बचत की विषमता है। इससे स्पष्ट है कि यदि इस विषमता को दूर किया जाय तो मूल्य-तल बहुत हद तक स्थायी रहेगा, किन्तु वास्तव मे यह धारणा बिल्कुल गलत है। पूँजी-विनियोग एव बचत मे समानता होते हुए भी यदि आर्थिक व्यवस्था रोजगारी के बहुत निम्न-स्तर पर हो, तो ऐसी स्थिति मे अवस्फीति की प्रवृत्ति तीव्र रहेगी जिससे मूल्य-तल मे ह्रास होगा। इसी प्रकार इन दोनो मे समानता होते हुए भी यदि आर्थिक व्यवस्था मे पूर्ण रोजगार की स्थिति हो तो इससे मूल्य तल मे वृद्धि की प्रवृत्ति पायी जायगी।

केन्स (Keynes) स्वय अपने मौलिक समीकरणों के दोषो को नही भूले थे। इन दोषो को स्पष्ट करते हुए उन्होंने अपनी पुस्तक 'A Treatise on Money' मे ही लिखा है कि ये "सारे समीकरण केवल विधिवत् एकरूपता एव सिद्ध-वचन हैं जो स्वय अपने-आप कुछ नही बतलाते और इस प्रकार मुद्रा के परिमाण सिद्धात के ही भिन्न रूपो के समान हैं।" (All these equations are purely formal, they are mere identities, truisms which tell us *nothing* in themselves In this respect, they resemble all other versions of the Quantity Theory of Money)[1] इसी प्रकार आगे केन्स अपने समीकरण के दोषो पर प्रकाश डालते हुए लिखते है कि "दसवें अध्याय के समीकरण स्वय एकरूपता के चिह्न होने के कारण वास्तविकता की दृष्टि से अन्य समीकरणो की तुलना मे उत्तम नही हैं। इन समीकरणो के तत्त्वो को सुगमतापूर्वक वर्तमान ज्ञान की सहायता से निर्धारित भी किया जा सकता है।" इस प्रकार स्पष्ट है कि केन्स के मौलिक समीकरणों का कोई व्यावहारिक महत्त्व नही है। ये केवल मानसिक व्यायाम (mental gymnastic) के साधन मात्र हैं। क्लेन ने भी मौलिक समीकरणों के सम्बन्ध मे प्राय इसी प्रकार का विचार व्यक्त किया है। इनके अनुसार मौलिक समीकरण फिशर के समीकरण ($MV = PT$) के साधन हैं जो किसी मौलिक आर्थिक आचरण की विवेचना नहीं करते। (The Fundamental equations were merely definitions They were on a level with other famous equations in economics such as $MV=PT$ which do not tell us anything about fundamental economic behaviour —Klein—Keynesian Revolution)

1. Treatise on Money, Vol. I. P. 239.

जेनरल थियरी (General Theory) में केन्स के विचार

इस विश्लेषण से स्पष्ट है कि केन्स ने अपनी पुस्तक 'A Treatise on Money' मे जिस मौद्रिक सिद्धात की प्रस्तुत किया था वह शास्त्रीय (Classical) विचारधारा के बहुत समीप था। उसने आगे चलकर अपनी पुस्तक 'General Theory' मे अपने विचारो मे एक क्रान्तिकारी परिवर्तन लाया। स्वय अपने मौद्रिक सिद्धातो की आलोचना करते हुए केन्स ने अपनी पुस्तक 'General Theory' मे लिखा है कि—

"When I began to write my *Treatise on Money*, I was still moving along the traditional lines of regarding the influence of money as something so to speak separate from general theory of supply and demand When I finished it, I had made some progress towards pushing monetary theory back to be coming a theory of output as a whole But my lack of emancipation from preconceived ideas showed itself in what now seems to me to be the outstanding fault of the theoretical parts of that work, that I failed to deal thorou hgly with the effects of changes in the level of output My so called "Fundamental Equations" were an *instantaneous picture taken on the assumption* of a given output They attempted to show how, assuming the given output, forces could develop which involved a profit-disequilibrium, and this required a change in the level of output But the dynamic development, as distinct from the instantaneous picture was left incomplete and extremely confused"[1]

इस प्रकार अपनी पुस्तक 'General Theory' मे केन्स (Keynes) ने अपने मौद्रिक सिद्धातो मे एक क्रातिकारी परिवर्तन लाया। इसमे इन्होने मुद्रा के सिद्धात एव मूल्य के सामान्य सिद्धात मे समन्वय स्थापित करने का प्रयास किया है। जिस प्रकार किसी वस्तु का मूल्य उसकी माग, लागत व्यय एव उत्पादन पर निर्भर करता है, ठीक उसी प्रकार मूल्य-तल पर मुद्रा का जो प्रभाव पडता है वह माग, लागत व्यय एव उत्पादन के माध्यम से होता है। इस सिद्धात के अनुसार, सामान्य मूल्य तल अशत उत्पादन के साधनो के पारिश्रमिक एव उत्पादन के परिमाण पर निर्भर करता है। (The general price level depends partly on the rate of remuneration of the factors of production which enter into marginal cost and partly on the scale of output) अतएव, मुद्रा के परिमाण मे वृद्धि का मूल्य-तल पर जो प्रभाव पडता है वह निम्नाकित तीन बातो से जाना जा सकता है —

1. मुद्रा के परिमाण मे वृद्धि के फलस्वरूप सम्पूर्ण माग किस प्रकार से प्रभावित होती है।
2. सम्पूर्ण माग मे परिवर्तन होने से मजदूरी की इकाई मे कहाँ तक परिवर्तन होता है ?, तथा
3. सम्पूर्ण माग मे परिवर्तन रोजगार (Employment) से किस प्रकार प्रभावित होता है ?

मुद्रा के परिमाण म वृद्धि का अर्द्ध बेकारी (Under-employment) की स्थिति मे जो प्रभाव पडता है उसका विश्लेषण केन्स ने निम्नलिखित मान्यताओ के आधार पर किया है —

(क) मुद्रा के परिमाण मे वृद्धि के अनुपात मे ही सम्पूर्ण माग के परिमाण में वृद्धि होती है।

(ख) जब तक साधन बेकार रहते है, वे एक निश्चित एव समान पारिश्रमिक पर कार्य करने के लिए तैयार हैं। अतएव बेकारी की स्थिति मे मजदूरी मे वृद्धि नही होती जिससे उत्पादन का खर्च प्राय समान रहता है तथा

(ग) बेकार साधन एक दूसरे के बदले लगाये जा सकते (Inter-changeable and perfectly substitutable) हैं, उत्पादन की वृद्धि के साथ साथ लागत मे वृद्धि

1 *Keynes*—The General Theory of Employment, Interest and Money Preface

नही होती क्योकि उत्पादन समान उत्पत्ति (Constant return) की स्थिति मे होता है।

अतएव, बेकारी की स्थिति मे मुद्रा के परिमाण मे वृद्धि का कीमत पर कोई प्रभाव नहीं पडता। ऐसी स्थिति मे मुद्रा की वृद्धि म समाज की सम्पूर्ण माग एव रोजगारी मे उसी अनुपात मे वृद्धि होती है, कि तु पूरा रोजगार की स्थिति मे मुद्रा के परिमाण में वृद्धि होन से मजदूरी एव कीमतो में उसी अनुपात में वृद्धि नही होती। के-स के शब्दो में, 'जबतक बेरोजगारी रहती है रोजगारी उसी अनुपात मे बढती है जिस अनुपात मे मुद्रा के परिमाण म वृद्धि होती है और पूण रोजगारी की स्थिति म मूल्य मे मुद्रा की मात्रा के अनुपात मे वृद्धि होती है। (So long as there is unemploym nt employment will change in the same proportion as the quantity of money and when there is full employment, prices will change in the same propo tion as the quantity of money.)'[1]

किन्तु वास्तव म आर्थिक व्यवस्था मे ये सब चीजें इतनी सुगमतापूर्वक नही हो जाती। पूर्ण रोजगार की स्थिति के पूर्व ही मुद्रा के परिमाण मे वृद्धि के फलस्वरूप मूल्य-तल मे भी वृद्धि हो सकती है। साथ ही, उत्पादन के सभी साधन एकजातीय (Homogen ns) नही होत। अतएव उत्पादन मे वृद्धि के साथ साथ कुछ साधन तो पूर्ण रोजगारी की स्थिति में पहुँच जायेंगे और दूसरे साधन बेकार ही रह जायेंगे। रोजगारी में वृद्धि के साथ साथ श्रमिक सघों की ताकत भी बढने लगेगी जिससे मजदूर ऊँची मजदूरी की माग करने लगेंगे और उत्पादको को इसे स्वीकार करने के लिए बाध्य होना पडेगा। इस प्रकार बेकारी की स्थिति में भी मुद्रा की मात्रा मे वृद्धि के फल स्वरूप सम्पूर्ण माग तथा रोजगारी मे समान अनुपात मे वृद्धि नहीं होती। केन्स (Keynes) के ही शब्दो मे बेकारी की स्थिति मे मुद्रा की मात्रा मे वृद्धि के परिणाम की व्याख्या निम्न प्रकार से की जा सकती है मुद्रा की मात्रा में वृद्धि के परिणामस्वरूप बेकारी की स्थिति मे मूल्यो के बिल्कुल स्थायी रहने एव रोजगार की स्थिति मे मुद्रा की मात्रा मे वृद्धि के अनुपात मे ही मूल्य तल मे वृद्धि होन के बजाय हम वास्तव मे यह पाते हैं कि बेरोजगारी मे वृद्धि के साथ साथ मूल्यों मे धीरे धीरे वृद्धि होती है।'[2] (Thus instead of constant prices in conditio s of unemployment, and of prices rising in proportion to the quantity of money in condi tions of full employment, we have in fact a condition of prices rising gradually as employment increases)

बेकारी की स्थिति मे मुद्रा की मात्रा मे वृद्धि से समाज की सम्पूर्ण माग पर जो प्रभाव पडता है उसका विश्लेषण निम्न प्रकार से किया जाता है —

(क मुद्रा सचय की प्रवृत्ति पर इसका प्रभाव (Effects on Liquidity Preference),

(ख) पूँजी की सीमान्त उत्पादकता (Marginal productivity of capital) एव विनियोग पर इसका प्रभाव तथा

(ग) विनियोग गुणक का परिमाण (Size of Investment multiplier) एव उपभोग।

बेकारी की स्थिति म यदि मुद्रा की मात्रा मे वृद्धि से मुद्रा सचय की प्रवृत्ति (Liquidity preference) मे कोई वृद्धि नही हो तो ब्याज की दर बहुत कम हो जायगी, किन्तु यदि मुद्रा सचय की प्रवृत्ति मे समानुपातिक वृद्धि हो, तो ब्याज की दर पूर्ववत ही रहेगी। मुद्रा के परिमाण मे वृद्धि के फलस्वरूप यदि मुद्रा सचय की प्रवृत्ति मे कमी हो तो ब्याज की दर मे कमी होगी। इससे विनियोग को प्रोत्साहन मिलेगा। विनियोग म वृद्धि होने से माग मे वृद्धि होगी। विनियोग म वृद्धि के परिणामस्वरूप सम्पूर्ण माग मे जिस गति मे वृद्धि होगी यह विनियोग गुणक के परिमाण (Size of the Investment multiplier पर निभर करता है। यदि विनियोग गुणक का परिमाण बहुत कम है तो सम्पूर्ण माग म बहुत कम वृद्धि होगी। इसके फलस्वरूप रोजगार मे भी बहुत कम वृद्धि होगी।

मुद्रा के परिमाण मे वृद्धि विनियोग को प्रोत्साहित करती है जिससे अतिरिक्त आय एव

1 *Keynes* General Theory of Employment Interest and Money p 296

2 *Keynes* –General Theory p 296

रोजगारी की सृष्टि होती है। इस अतिरिक्त आय एव रोजगारी मे वृद्धि के फलस्वरूप अन्य उद्योगो की वस्तुओ की माग मे भी वृद्धि होती है इससे सम्पूर्ण आर्थिक व्यवस्था प्रभावित होती है। इस प्रकार समाज की कुल माग मे प्रारम्भिक विनियोग की अपेक्षा कई गुना अधिक वृद्धि होती है। प्रारम्भिक विनियोग के परिणामस्वरूप सम्पूर्ण आय मे वृद्धि जिसे गुणक (Mul iplier) के द्वारा व्यक्त किया जाता है, दो बातों पर निर्भर करती है—(क) उपभोग की सीमान्त प्रवृत्ति, तथा (ख) मुद्रा-सचय की प्रवृत्ति। यदि आय मे वृद्धि के साथ साथ उपभोग की सीमान्त प्रवृत्ति मे भी वृद्धि हो, तो गुणक का परिमाण बहुत अधिक होगा। उदाहरण के लिए, यदि प्रारम्भिक विनियोग का परिमाण 1 हो और उपभोग की सीमान्त प्रवृत्ति $\frac{4}{5}$ (यानी अतिरिक्त आय का $\frac{4}{5}$ भाग उपभोग मे व्यय किया जाता हो) तो —

$$गुणक = \frac{1}{1-\frac{4}{5}} = \frac{1}{\frac{1}{5}} = 5$$

इसके विपरीत यदि आय मे वृद्धि के साथ साथ मुद्रा-सचय की प्रवृत्ति मे भी वृद्धि होती हो, यानी उपभोग की सीमान्त प्रवृत्ति मे कमी हो तो गुणक का परिमाण भी कम होगा। यदि मुद्रा-सचय की प्रवृत्ति $\frac{1}{5}$ (यानी लोग अपनी आय का $\frac{1}{5}$ भाग अपने पास रखते हैं) तो गुणक पाँच होगा और यदि मुद्रा सचय की प्रवृत्ति $\frac{1}{4}$ है तो गुणक 4 होगा। दूसरे शब्दो मे, मुद्रा-सचय की प्रवृत्ति एव गुणक मे ठीक विपरीत (Reciprocal) सम्बन्ध है।

इस प्रकार बेकारी की स्थिति मे मुद्रा की मात्रा मे वृद्धि होने से राष्ट्र की आय एव रोजगारी मे वृद्धि होती है। राष्ट्र की आय एव रोजगारी मे वृद्धि उस माग की वृद्धि पर निर्भर करता है जो अतिरिक्त मुद्रा की सृष्टि से प्रोत्साहित होती है। साथ ही, आय एव रोजगार मे वृद्धि के साथ-साथ कीमतो मे भी वृद्धि की प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है। इसके विभिन्न कारण हैं सर्व-प्रथम तो उत्पादन की सीमान्त लागत बढने लगती है। साथ ही कुछ साधन सीमित होने हैं जिससे वे शीघ्र ही पूर्ण रोजगार की स्थिति मे पहुँच जाते हैं। इससे उत्पादन की वृद्धि मे भौतिक कठिनाई होने लगती है। कीमतो मे वृद्धि का एक प्रमुख कारण श्रमिको के पारिश्रमिक मे भी वृद्धि है।

बेकारी की स्थिति मे मुद्रा के परिमाण मे वृद्धि के फलस्वरूप माग मे जो वृद्धि होती है उससे उत्पादन, रोजगारी, मजदूरी एव मूल्य-तल किस प्रकार से प्रभावित होते हैं इसकी व्याख्या निम्नांकित चित्रो के द्वारा भी की जा सकती है —
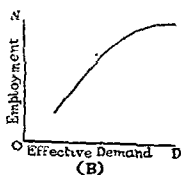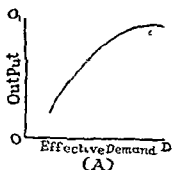
उपरोक्त चित्र A मे OD रेखा पर Effective demand तथा OO' रेखा पर उत्पादन (output) दिखलाया गया है। चित्र से यह स्पष्ट है कि प्रभावपूर्ण माग (Effec ive demand) मे वृद्धि होने के परिणामस्वरूप पहले उत्पादन मे तेजी से वृद्धि होती है, किन्तु आगे चलकर यह वृद्धि धीरे-धीरे होने लगती है।

इसी प्रकार चित्र B मे OD रेखा पर Effective demand तथा ON रेखा पर रोजगारी (Ecmployment) दिखलाया गया है। चित्र से स्पष्ट है कि Effective demand मे वृद्धि के फलस्वरूप पहले रोजगारी (Employment) मे बहुत तेजी से वृद्धि होती है, किन्तु जैसे-जैसे पूर्ण

रोजगारी (Full employment) की स्थिति आती जाती है, वैसे-वसे रोजगार मे प्रभावपूर्ण माग की अपेक्षा कम वृद्धि होती है।

(C) (D)
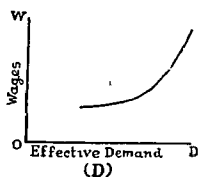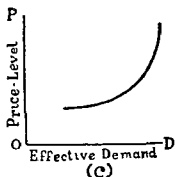
इसी तरह चित्र C मे OD रेखा पर Effective demand तथा OP रेखा पर मूल्य-तल (Price level) दिखलाया गया है। चित्र से स्पष्ट है कि Effective demand मे वृद्धि के फलस्वरूप पहले तो मूल्य-तल मे कम वृद्धि होती है, किन्तु जैसे-जैसे पूर्ण रोजगार की स्थिति निकट आती जाती है, मूल्य-तल मे अपेक्षाकृत अधिक वृद्धि होती जाती है।

इसी प्रकार चित्र D मे O D रेखा पर Effective demand तथा O W रेखा पर मजदूरी (Wages) को दिखलाया गया है। चित्र से स्पष्ट है कि effective demand मे वृद्धि के परिणामस्वरूप पहले मजदूरी मे कम वृद्धि होती है, किन्तु जैसे-जैसे पूर्ण रोजगार की स्थिति निकट आती जाती है, वैसे-वैसे मजदूरी मे अपेक्षाकृत अधिक वृद्धि होती जाती है।

इसके विपरीत पूर्ण रोजगारी (Full employment) की स्थिति मे मुद्रा की मात्रा मे वृद्धि से अल्पकाल मे उत्पादन एव रोजागार मे वृद्धि नहीं होती तथा मजदूरी मे समानुपातिक वृद्धि होने लगती है। इन सबके परिणामस्वरूप अधिस्फीति की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

विशेष अध्ययन-सूची

1. Keynes : A Treatise on Money, Vol. I Chs. X and XIV.
2. Keynes : A General Theory of Employment, Interest and Money, Chapter, XXI
3. Crowther : An Outline of Money, Chapters II and IV.
4 G. N. Halm : Monetary Theory, Chapter III
5. A. H. Hansen : Monetary Theory and Fiscal Policy, Chapters III, VI and XI
6. K. K. Kurihara : Monetary Theory and Fiscal Policy, Chapter IV.

अध्याय : 13

बचत एवं विनियोग सिद्धान्त

(Saving and Investment Theory)

प्राक्कथन बचत एव विनियोग सिद्धान्त (Saving and Investment Theory) मुख्यत केन्स (Keynes) के नाम से सम्बन्धित है। मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त (Quantity Theory of Money) के आलोचको के अनुसार यह सिद्धान्त मूल्य तल मे परिवर्तन के क्रम की स्पष्ट रूप से व्याख्या नही करता, किन्तु बचत एव विनियोग सिद्धात के समर्थको के अनुसार इस सिद्धात की सहायता से मूल्य-तल तथा इसके परिवर्तन के कारणो की पूर्ण रूप से व्याख्या की जा सकती है।

किसी देश की कुल आय (Total Income) वस्तुओ तथा सेवाओ को खरीदने में व्यय की जाती है। वस्तुएँ दो प्रकार की होती हैं—एक तो क्षणिक या तत्काल उपभोग की वस्तुएँ जिन्हें चालू वस्तुएँ (Current goods) कहते हैं तथा दूसरी वे जो उत्पादन के कार्य मे प्रयोग की जाती हैं जिन्हे टिकाऊ वस्तुएँ (Durable goods) कहा जाता है। इन्ही दो प्रकार की वस्तुओ को खरीदने मे समाज की सम्पूर्ण आय को व्यय किया जाता है। जो व्यय चालू वस्तुओ के क्रय मे किया जाता है उसे उपभोग (Consumption) कहते हैं तथा जो व्यय टिकाऊ वस्तुओ के खरीदने मे किया जाता है उसे बचत (Savings) कहा जाता है। जो आय किसी प्रकार की वस्तुओ पर व्यय नहीं की जाती है, उसे भी सचय अथवा बचत (Saving) कहते हैं। इस प्रकार बचत दो प्रकार की हुई - (1) नकद बचत (Saving in cash) तथा (2) वस्तु सचय (Saving in goods)। वस्तु-सचय (Saving in goods) को विनियोग (Investment) भी कहा जा सकता है।

इस प्रकार बचत (Saving) आय (Income) एव उपभोग (Consumption) के अन्तर को बतलाती है, यानी Saving=Income—Consumption। क्राउथर (Crowther) के शब्दो मे '**किसी व्यक्ति की बचत उसकी आय का वह भाग है जो उपभोग पदार्थों पर व्यय नहीं की जाती है।**" (A man's saving is that part of his income which is not spent on consumption goods) इसी प्रकार "**विनियोग (Investment) आय का वह भाग है जो पूँजीगत वस्तुओं पर व्यय किया जाता है।**" किसी भी देश की आर्थिक व्यवस्था के स्थायित्व तथा विकास के लिए सम्पूर्ण बचत अथवा उसके अशगत भाग का विनियोग अति आवश्यक है।

बचत एव विनियोग के पारस्परिक सम्बन्ध का अध्ययन कई दृष्टिकोण से किया गया है जिनमे निम्नलिखित विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं —

(1) प्रतिष्ठित दृष्टिकोण,

(2) स्वीडेन के अर्थशास्त्रियो का दृष्टिकोण,

(3) रॉबर्टसन का दृष्टिकोण, तथा

(4) केन्स का दृष्टिकोण।

प्रतिष्ठित दृष्टिकोण (Classical Approach) .— प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियो के अनुसार अर्थ व्यवस्था मे सदा पूर्ण रोजगार की स्थिति की प्रवृत्ति वर्तमान रहती है। इस कारण प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियो का यह मान्यता थी कि '**पूर्ति स्वय अपने लिए माग का निर्माण करती है।**' (Supply creates its own demand) दूसरे शब्दो मे उत्पादन मे वृद्धि के साथ-साथ माग मे भी समानुपातिक वृद्धि होती है जिससे इसम कमी का कोई प्रश्न ही नहीं उठता, यानी जो कुछ भी समाज मे उत्पन्न होगा उसकी बिक्री भी अवश्य ही हो जायगी।

प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियो के अनुसार समाज मे बचत सूद की दर से प्रभावित होती है। बचत बढने से सूद की दर मे कमी होती है। इसी प्रकार विनियोग भी ब्याज की दर से प्रभावित होता है। ब्याज की दर मे कमी से विनियोग को प्रोत्साहन मिलता है। अतएव, इन अर्थशास्त्रियो के अनुसार यदि समाज मे आय की वृद्धि के साथ-साथ बचत मे वृद्धि होती है तो इसके परिणाम-स्वरूप ब्याज की दर मे कमी होगी। ब्याज की दर मे कमी से विनियोग म वृद्धि होगी तथा इस प्रकार बचत एव विनियोग मे समानता स्थापित हो जायगी एव समाज में पूर्ण रोजगार की स्थिति उत्पन्न हो जायगी। इस प्रकार प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियो के अनुसार अर्थ व्यवस्था मे सन्तुलन की स्थिति पूर्ण रोजगार की स्थिति है जिसम बचत एव विनियोग मे सूद की दर के द्वारा समानता स्थापित हो जाती है।

किन्तु, प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियो की यह धारणा स्वीकार नही की जा सकती। वास्तव मे, इस प्रकार की धारणा कई अवास्तविक मान्यताओ पर आधारित है जिन्हें हम वास्तविक जीवन म स्वीकार नही कर सकते। सर्वप्रथम तो, उन लोगो ने यह समझा था कि समाज मे विनियोग के असीम अवसर वर्त्तमान हैं। अतएव, समाज मे जो बचत होती है उसका विनियोग निश्चित रूप से किया जाता है, किन्तु इस प्रकार की धारणा वस्तुत गलत है। वास्तव म, सम्पूर्ण बचत का विनियोग नही भी हो सकता है। जब पूँजी की सीमान्त उत्पादकता बहुत कम होती है, तो बचत को लोग विनियोग नही करना चाहते। साथ ही, बचत की वृद्धि से सूद की दर मे कमी हो, यह भी आवश्यक नही है। साधारणत यह देखा जाता है कि बचत समाज की आय पर निर्भर करती है। जब आय बढती है तो बचत भी बढती है और ब्याज की दर में भी वृद्धि होती है। ब्याज की दर मे वृद्धि से विनियोग मे बचत के अनुपात मे वृद्धि नही होती। इससे पूर्ण रोजगार की स्थिति प्राप्त नही होती तथा अर्थ-व्यवस्था पूर्ण रोजगार से कम ही बिन्दु पर सतुलन की स्थिति मे आ जाती है।

साथ ही, प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियो की यह धारणा कि विनियोग केवल सूद की दर पर अवलम्बित है, पूर्ण रूप से सही नही है। वास्तव मे, विनियोग पूँजी की सीमान्त उत्पादकता तथा ब्याज की दर के पारस्परिक सम्बन्ध पर निर्भर करता है, किन्तु इन अर्थशास्त्रियो ने इस बात पर ध्यान नही दिया था। इन लोगो के अनुसार समाज की आय मे वृद्धि का क्रम यह है कि पहले बचत मे वृद्धि होती है, बचत मे वृद्धि होने से सूद की दर में कमी होती है और विनियोग बढ़ता है एव आय भी बढती है, किन्तु आय मे वृद्धि की यह धारणा सही नही है। बचत एव विनियोग समाज की आय के निर्धारक तत्व नही हैं। आय का निर्धारण अन्य विभिन्न तत्वो द्वारा होता है जिनमे उपभोग की प्रवृत्ति, पूँजी की सीमान्त उत्पादकता, मुद्रा-सचय की प्रवृत्ति एव मुद्रा की राशि इत्यादि उल्लेखनीय हैं। बचत एव विनियोग तो स्वय समाज मे उपभोग एव विनियोग की प्रवृत्ति से निर्धारित होते हैं। प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियो की राय थी कि यदि कोई व्यक्ति बचत करता है तो वह समाज के पूँजी निर्माण मे सहायता देता है, किन्तु इस प्रकार की धारणा वास्तव मे प्रत्येक स्थिति मे ठीक नही है। यदि समाज की बचत मे वृद्धि होती है तो वस्तुओ की माग कम हो जाती है और यदि बचत के परिणामस्वरूप विनियोग मे वृद्धि नही होती तो सम्भव है कि समाज की आय मे बचत के फलस्वरूप कमी ही होगी।

प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियो द्वारा ब्याज की दर को अनावश्यक रूप से महत्त्व दिया गया है। साथ ही, प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियो का यह विचार कि केवल पूर्ण रोजगार की स्थिति म ही बचत एव विनियोग की समानता प्राप्त होती है, सही नही है। विनियोग एव बचत मे अर्थ व्यवस्था की कई अवस्थाओ मे समानता हो सकती है।

स्वीडेन के अर्थशास्त्रियों का दृष्टिकोण—स्वीडेन के अर्थशास्त्रियो मे विक्सेल तथा ओहिलिन ने मुख्य रूप से बचत एव विनियोग के प्रश्न पर विचार किया है। इन्होने आय, बचत एव विनियोग आदि धारणाओ का निम्नांकित दो अर्थों मे प्रयोग किया है—(1) वास्तविक (Ex-post), तथा (2) प्रत्याशित (*Ex-ante*)।

इनके वास्तविक विचार (Ex-post के अनुसार बचत तथा विनियोग भूतकाल की वास्तविक चीजें समझी जाती हैं। केन्स की तरह स्वीडेन के अर्थशास्त्री बचत एव विनियोग को वास्तविक

रूप मे परिभाषित कर उन्हें सदा बराबर मानते हैं। इनके अनुसार बचत एव विनियोग दोनो ही Y—C के बराबर हैं। इनमे Y कुल आय तथा C उपभोग है।

प्रत्याशित दृष्टि से (Ex ante) आय, बचत एव विनियोग वास्तविक दृष्टिकोण से बिल्कुल भिन्न हैं। प्रत्याशित दृष्टि से आय, विनियोग एव बचत का तात्पर्य यह है कि व्यक्ति या फर्म भविष्य मे आनेवाले समय को ध्यान मे रखकर वर्तमान मे इनके सम्बन्ध मे क्या अनुमान रखते हैं। प्रत्येक व्यक्ति भविष्य मे किसी विशेष आय की आशा करता है जिसका एक भाग वह उपभोग पर व्यय करने की योजना बनाता है तथा दूसरा भाग बचत के रूप मे रखने की योजना तैयार करता है। इसी प्रकार उत्पादक भी भविष्य मे वस्तुओ की कीमत के सम्बन्ध मे कुछ विशेष अनुमान लगाते है और ब्याज की दर उत्पादन व्यय तथा समाज की माग का अनुमान कर विनियोग की योजना तैयार करते हैं। इस प्रकार इन सभी व्यक्तियो एव फर्मो की अनुमानित आय, अनुमानित बचत तथा अनुमानित विनियोग को प्राप्त किया जा सकता है।

अब इस बात की कल्पना कि आयोजित बचत एव आयोजित विनियोग सदा बराबर होते हैं उचित नही है, क्योकि आयोजित बचत एव आयोजित विनियोग दोनो दो वर्ग के व्यक्तियो के हाथ मे हैं, किन्तु जब समय व्यतीत हो जाता है तो वास्तविक बचत वास्तविक विनियोग के बराबर हो जाती है। यदि आयोजित विनियोग एवं आयोजित बचत मे समानता नही है तो वास्तविक आय प्रत्याशित आय से भिन्न होगी। इसी प्रकार वास्तविक विनियोग भी प्रत्याशित विनियोग एव वास्तविक बचत प्रत्याशित बचत से भिन्न होगी। इनके अन्तर को हम अप्रत्याशित आय, *अप्रत्याशित विनियोग तथा अप्रत्याशित बचत कहेंगे। यदि आयोजित विनियोग आयोजित बचत* से अधिक है तो वास्तविक आय अनुमानित आय से अधिक होगी। वास्तविक आय एव अनुमानित आय के अन्तर को हम अप्रत्याशित आय कहेंगे और आयोजित बचत तथा अप्रत्याशित आय का योगफल वास्तविक विनियोग के बराबर होगा। इस प्रकार वास्तविक विनियोग एव वास्तविक बचत बराबर होंगे, क्योकि बचत मे अप्रत्याशित आय की मात्रा के बराबर वृद्धि हुई है।

इस प्रकार इनलोगो के अनुसार प्रत्याशित (Ex-ante) दृष्टिकोण से बचत तथा विनियोग मे असमानता हो सकती है, किन्तु वास्तविक (Ex-post) दृष्टिकोण से दोनो ही सदा समान होते हैं।

स्वीडेन के अर्थशास्त्रियो की बचत एव विनियोग की धारणा की भी कई कारणो से आलोचना की गयी है। इनलोगों ने भी बचत एव विनियोग को ब्याज की दर पर अवलम्बित माना है। किन्तु, *जैसा कि हम पहले देख चुके है यह धारणा पूर्णत सही नही है।* इतना ही नहीं, बचत एवं विनियोग मे सामजस्य स्थापित करने की प्रक्रिया की भी इनकी व्याख्या सतोषजनक नहीं हैं। साथ ही, उनलोगो ने इस बात की भी कल्पना नही की है कि बचत का व्यवहार भी आय पर निर्भर करता है। इससे इनके विश्लेषण मे सन्निहित बचत की तालिका एव विनियोग की तालिका की धारणा भी सूद की दर पर ही निर्मित की गयी थी, आय के आधार पर नहीं। यह वास्तव मे सही नहीं है। इसके अतिरिक्त बचत एव विनियोग के असमान होने से ही समाज की सम्पूर्ण माग भी प्रभावित होती है और समाज की सम्पूर्ण माग के प्रभावित होने से आय एव रोजगारी मे भी परिवर्तन होते हैं। *स्वीडेन के अर्थशास्त्रियों मे इस प्रकार के विश्लेषण का* भी अभाव है।

रॉबर्टसन का दृष्टिकोण

बचत एव विनियोग के सम्बन्ध मे प्रो० रॉबर्टसन (Robertson) ने भी अपना विचार व्यक्त किया है। इनके अनुसार बचत एव विनियोग म असमानता रहती है जिसका आर्थिक व्यवस्था पर बहुत ही गम्भीर प्रभाव पडता है। ये विश्लेषण की एक विशेष विधि को अपनाते हैं जिसे **समय विश्लेषण** (Period analysis) कहते हैं। इस विचारधारा के अनुसार आय का प्रवाह अबाध नही होता। व्यक्ति की आज की आय कल ही खर्च की जा सकेगी। व्यक्ति की आज की आय को वे उपार्जित आय कहते हैं जो कल व्यय-साध्य आय होगी। आज की व्यय-साध्य आय

एक दिन पहले की उपार्जित आय है, या दूसरे शब्दो मे, आज की उपार्जित आय कल ही व्यय-साध्य आय हो सकती है। अतएव, किसी खास दिन की बचत उस दिन की व्यय-साध्य आय एव उसी दिन के उपभोग पर किये गये व्यय के अन्तर के बराबर होती है। किसी खास दिन का विनियोग उस दिन नये विनियोग की वस्तुओ पर किया गया वास्तविक व्यय होता है। अतएव, विनियोग बचत से बडा भी हो सकता है, क्योकि आय से प्राप्त बचत के अतिरिक्त अन्य साधनो से भी *विनियोग का होना सम्भव है। यह अतिरिक्त विनियोग बैंक मुद्रा अथवा पूर्व सचित धन से हो* सकता है। इसके परिणामस्वरूप किसी खास दिन की उपार्जित आय एक दिन पूर्व की उपार्जित आय से अधिक होती है और इसलिए उस दिन की व्यय-साध्य आय से भी अधिक होगी। इसलिए जब विनियोग बचत से अधिक होता है तो किसी विशेष दिन की उपार्जित आय व्यय साध्य आय से अधिक होती है और मुद्रा-स्फीति की सृष्टि करती है, किन्तु इसके विपरीत जब बचत विनियोग से अधिक है तो आज की उपार्जित आय एक दिन की उपार्जित आय से कम होगी और इसलिए आज की व्यय-साध्य आय से भी कम होगी। इसके परिणामस्वरूप अपस्फीति की सृष्टि होगी।

इस प्रकार बचत एव विनियोग के सम्बन्ध मे प्रो० रॉबर्टसन की यही धारणा है। रॉबर्टसन ने आय को मौद्रिक अर्थ मे लिया है जिसका अर्थ है सम्पूर्ण खरीद-बिक्री का मौद्रिक मूल्य, किन्तु केन्स ने आय का प्रयोग दूसरे ही अर्थ मे किया है। इनके अनुसार आय का अर्थ है उत्पादित वस्तुओ का मूल्य जिसका रॉबर्टसन के विश्लेषण मे बिल्कुल अभाव है। इस तरह रॉबर्टसन का बचत एव विनियोग सम्बन्धी विश्लेषण भी सतोषजनक नहीं है। इसमे कोई सन्देह नही कि इन्होने बचत, उपभोग एव आय की व्याख्या समय की दृष्टि से की है, किन्तु इसमे कार्य-कारण का सम्बन्ध स्थापित किया गया है। यदि ऐसा सम्बन्ध स्थापित किया गया होता, तो बचत एव विनियोग को आय के ऊपर आधारित समझा जाता, किन्तु इस प्रकार की बात हम **रॉबर्टसन** के दृष्टिकोण मे नही पाते हैं।

केन्स का दृष्टिकोण

केन्स के प्रारम्भिक विचार :—बचत एव विनियोग के सम्बन्ध मे केन्स के पहले तथा बाद के विचारो मे बहुत अन्तर है। अपनी पुस्तक 'A Treatise on Money' मे केन्स ने विकसेल के विचारो को अपनाया था। इनके अनुसार जब वास्तविक ब्याज की दर (Natural rate of interest) बाजार-दर (Market rate) के बराबर होती है तो बचत एव विनियोग बराबर होते हैं और *यह मौद्रिक सतुलन (Monetary equilibrium) की स्थिति होती है जब बाजार* दर (market rate) वास्तविक ब्याज की दर से कम होती है तो विनियोग बचत से अधिक होगा। इसके परिणामस्वरूप उत्पादन, रोजगारी तथा मूल्य मे उत्तरोत्तर वृद्धि होगी। उदाहरण के लिए, हम मान लें कि देश की कुल आय 2000 रुपये है जिसका $\frac{3}{4}$ भाग उपभोग किया जाता है तथा $\frac{1}{4}$ भाग, यानी 500 रुपये बचत होती है। अब, यदि किसी कारणवश विनियोग के प्रति लोग अधिक आकर्षित हो जायँ और 600 रुपये विनियोग मे व्यय हो तो इसका अर्थ यह होगा कि *विनियोग बचत से अधिक होगा। विनियोग की वृद्धि के दो कारण हो सकते हैं—(1) लोग पुराने* सचय का 100 रुपये विनियोग मे लगायेंगे, या (2) मुद्रा या साख-पत्र की मात्रा मे वृद्धि से अतिरिक्त विनियोग की रकम प्राप्त होगी। इसके फलस्वरूप द्वितीय वर्ष की आय मे वृद्धि हो जायगी [*आय = 1500 रुपये उपभोग की वस्तु से + 600 रुपये विनियोग की* वस्तुओ से = 2100 रुपये हो जायगी]। इससे पूँजीगत वस्तुओ की माग बढेगी। अतएव, इन वस्तुओ के उत्पादक अधिक साधनो को लगायेंगे जिससे उनकी आय मे वृद्धि होगी। इससे उपभोक्ता वस्तुओ के उत्पादक भी अपना उत्पादन बढायेंगे। इस प्रकार रोजगार मे वृद्धि होगी जिससे आय बढेगी, उत्पादन बढेगा एव तेजी (Boom) का सृजन होगा।

इसके ठीक विपरीत जब बाजार दर वास्तविक ब्याज की दर (Natural rate of Interest) से अधिक होगी तो विनियोग बचत से कम होगा। विनियोग कम होने से आय कम होगी, आय कम होने से वस्तुओ की माग कम होगी, रोजगार कम होगा, उत्पादन कम होगा और इस प्रकार मूल्य-तल मे कमी होगी एव मन्दी (Slump) का सृजन होगा।

केन्स के बाद के विचार :—किन्तु, बाद मे केन्स ने अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक *'General*

Theory' मे अपने इन विचारो का बिल्कुल परित्याग कर दिया तथा इस प्रश्न पर एक नये दृष्टि-कोण से विचार किया। इसमे इन्होने बचत एव विनियोग के समान होने के विचार का समर्थन किया। इनके पारस्परिक सम्बन्ध के विश्लेषण से उन्होने आय एव रोजगार के निर्धारण के प्रश्न पर प्रकाश डाला एव यह विचार व्यक्त किया कि बचत एव विनियोग के पारस्परिक सम्बन्धो के प्रभाव से समाज की सम्पूर्ण माग प्रभावित होती है जिससे आय एव रोजगार प्रभावित होते हैं। इस प्रकार से केन्स ने इनके विश्लेषण के द्वारा अर्थ-व्यवस्था की कार्य-प्रणाली को स्पष्ट करने का प्रयास किया। केन्स के विचारो मे बचत एव विनियोग के विश्लेषण का सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था की कार्य-प्रणाली मे विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण स्थान है। प्रो० कुरिहारा (Kurihara) के शब्दो मे "The Keynesian Saving and Investment schedules are to general equilibrium analysis what the Marshallian supply and demand curves are to partial equilibrium analysis"[1] जिस प्रकार से किसी वस्तु के खरीदने और बेचने की प्रवृत्ति मे उस वस्तु का सतुलन मूल्य निर्धारित होता है, उसी प्रकार बचत एव विनियोग के पारस्परिक सम्बन्धो से सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था के लिए आय का स्तर निर्धारित होता है।

केन्स ने बचत एव विनियोग को दो दृष्टिकोण से समान माना है—

(1) हिसाब-किताब के दृष्टिकोण से समानता (Accounting or Statistical equality), तथा

(2) कार्य सम्बन्धी समानता (Functional equality)।

जब हम किसी खास अवधि मे किसी राष्ट्र की आय की गणना करते हैं तो वास्तविक बचत एव विनियोग को सदैव बराबर मानते हैं। ऐसी स्थिति मे बचत एव विनियोग की समानता इनकी परिभाषाओ से स्पष्ट होती है। बचत वर्त्तमान आय एव उपभोग का अन्तर है। इसी प्रकार विनियोग आय का वह अश है जो उपभोग के अतिरिक्त अन्य कार्यों पर व्यय किया जाता है। अतएव इस दृष्टि से बचत एव विनियोग बराबर होते हैं।

उनके अनुसार

Y = कुल आय (Total Income),

I = विनियोग (Investment),

S = बचत (Saving) तथा

C = उपभोग (Consumption)।

$\therefore$ $Y = C + I$, यानी कुल आय = उपभोग + विनियोग

अथवा $I = Y - C$, यानी विनियोग = कुल आय—उपभोग

$S = Y - C$, यानी बचत = कुल आय—उपभोग

$I = S$, यानी विनियोग = बचत।

अतएव, उपरोक्त समीकरण के अनुसार विनियोग एव बचत प्रत्येक स्थिति मे बराबर होते हैं। उक्त समीकरण के अनुसार सम्पूर्ण समाज की आय (Y) उपभोग की वस्तुओ (C) तथा विनियोग की वस्तुओ (I) के उत्पादन से प्राप्त होती है। दूसरे शब्दो मे, $Y = C + I$। किन्तु, Y का वह भाग जो उपभोग की वस्तुओ के उत्पादन द्वारा प्राप्त किया जाता है, आय की उस मात्रा के बराबर होता है जो उपभोग की वस्तुओ पर व्यय किया जाता है, क्योकि इन दोनो मे वास्तव में कोई अन्तर नहीं होता। इसी प्रकार I मुद्रा की उस मात्रा को दिखलाता है जो पूँजीगत वस्तुओ पर व्यय की जाती है। इससे स्पष्ट है कि समाज की कुल बचत S को $Y - C$ के बराबर होना चाहिए और चूँकि I भी $Y - C$ के बराबर है, *अतएव*, $S = I$, *अर्थात् बचत एव विनियोग दोनो बराबर होगे।*

अत केन्स की इन परिभाषाओ से स्पष्ट है कि बचत एव विनियोग सदा बराबर होते हैं।

1 K K Kurihara—An Introduction to Keynesian *Dynamics*,

हिसाब की दृष्टि से विनियोग एव बचत की समानता का तात्पर्य यह है कि जबतक अर्थ व्यवस्था मे विनियोग करने की इच्छा और क्षमता तथा बचत करने की इच्छा मे समता नही होगी, उत्पादको को उत्पादन एव रोजगारी में परिवर्तन करना पड़ेगा। ऐसा करके ही वे अपने मुनाफे को अधिकतम बना सकते हैं, अथवा अपनी हानि को कम से कम कर सकते है। ऐसा वे तवतक करते रहेंगे जबतक कि अर्थ व्यवस्था सतुलन बिन्दु पर नहीं पहुँच जाती जबकि बचत एव विनियोग मे समानता हो जाती है।

बचत और विनियोग की कार्य-सम्बन्धी समानता (Functioral Equality) के दृष्टिकोण से बचत की सूची (Sav ng schedule) और विनियोग की सूची की धारणा अपनायी जाती है। इसके अन्तर्गत बचत एव विनियोग की सूची का निर्माण भी आय के ही आधार पर किया जाता है। समाज की बचत समाज की आय पर निर्भर करती है तथा विनियोग भी आय पर ही निर्भर करता है। समाज की आय मे परिवर्त्तन के द्वारा इसमे समानता स्थापित की जाती है। इस प्रकार यद्यपि बचत एव विनियोग दोनो एक-दूसरे से बिल्कुल स्वतन्त्र प्रवृत्तियाँ हैं, किन्तु इन दोनो मे आय के द्वारा ही समानता स्थापित की जाती है। दूसरे शब्दों मे, बचत एव विनियोग दोनो समाज पर निर्भर करते हैं तथा इनमे समानता आय के द्वारा ही लायी जाती है। कुरिहारा के शब्दो मे "This functional equality of saving and investment is the final re ult of a process of adjustment between the savings and investment variables in *relation to the income variable*"

बचत एव विनियोग की निम्नांकित सूची से इसे अधिक स्पष्ट किया जा सकता है—

बचत की सूची (Saving Schedule)		विनियोग की सूची (Investment Schedule)	
बचत	आय	विनियोग	आय
50	500	45	500
40	400	40	400
20	200	20	200

इस प्रकार बचत एव विनियोग मे समानता आय के परिणाम से ही स्थापित की जाती है। यदि किसी समय समाज की बचत समाज के विनियोग से अधिक हो, तो समाज की आय मे कमी की प्रवृत्ति उत्पन्न होगी। इसका कारण स्पष्ट है। बचत के अधिक हो जाने से प्रभावपूर्ण माँग मे कमी होगी, प्रभावपूर्ण माग मे कमी से उत्पादन और रोजगार मे कमी होगी जिससे आय मे कमी होगी और आय मे कमी होने से बचत मे भी कमी होगी और इस प्रकार बचत एवं विनियोग मे पुन समानता स्थापित होगी। इस प्रकार यदि विनियोग बचत से अधिक है तो इसके परिणामस्वरूप प्रभावपूर्ण माँग मे वृद्धि होगी और प्रभावपूर्ण माँग मे वृद्धि से उत्पादको को लाभ होगा, उत्पादन मे वृद्धि होगी और इससे रोजगार और आय मे वृद्धि होगी और आय बढने से बचत मे भी वृद्धि होगी और इस प्रकार सतुलन की एक ऐसी स्थिति कायम होगी जिससे बचत एव विनियोग पुन बराबर हो जायँगे।

इस प्रकार केन्स के अनुसार बचत एव विनियोग मे समानता आय के माध्यम से उत्पन्न होती है। इसके पारस्परिक सम्बन्ध मे परिवर्तत होने से आय मे परिवर्तन होता है और आय मे परिवर्तन का अन्तिम परिणाम यह होता है कि इन दोनो मे समानता स्थापित होती है। इसलिए, केन्स के अनुसार बचत एव विनियोग का सिद्धान्त सम्पूर्ण माँग के सिद्धान्त का ही एक दूसरा रूप है। समाज की सम्पूर्ण माग उपभोग और विनियोग से बनती है। यदि विनियोग पूर्ववत् हो और उपभोग मे वृद्धि हो तो इसका तात्पर्य है *बचत मे कमी और विनियोग का बचत से अधिक होना।* अत इससे सम्पूर्ण माग बढ़ेगी जिसके फलस्वरूप आय एव रोजगार मे वृद्धि होगी, किन्तु आय में वृद्धि होने से बचत मे भी वृद्धि होगी और पुन बचत और विनियोग मे समानता स्थापित हो जायगी। इसके विपरीत यदि विनियोग पूर्ववत् हो और उपभोग मे कमी आ जाय तो इससे बचत

में वृद्धि होगी और सम्पूर्ण माग मे कमी हो जायगी। इसके परिणामस्वरूप आय मे कमी होगी और आय मे कमी होने से बचत कम होगी और पुन. बचत एव विनियोग एक समान हो जायेंगे।

केन्स ने यह बतलाया कि रोजगारी के विभिन्न स्तरो पर बचत एव विनियोग मे समानता हो सकती है। उदाहरण के लिए, बेकारी की स्थिति मे, पूर्ण रोजगारी की स्थिति मे तथा पूर्ण रोजगारी मे अधिक की स्थिति मे। अतएव यह आवश्यक नहीं कि बचत एव विनियोग की समानता से समाज मे पूर्ण रोजगार की स्थिति ही स्थापित हो जाय। साथ ही, उन्होंने यह भी बतलाया कि बचत एव विनियोग मे सामजस्य ब्याज की दर मे परिवर्तन से नहीं, वरन् आय म परिवर्तन से स्थापित होता है।

बचत एवं विनियोग-सिद्धान्त की परिमाण-सिद्धान्त से तुलना

(Comparison between Saving and Investment Theory and the Quantity Theory of Money)

अब यहाँ बचत एव विनियोग सिद्धान्त (Saving and Investment Theory) की मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त (Quantity Theory of Money) से तुलना आवश्यक है। बचत एव विनियोग का सिद्धात मौद्रिक प्रश्न के सम्बन्ध म कुछ ऐसी बातों को बतलाता है जिसकी व्याख्या परिमाण सिद्धान्त द्वारा नही की जा सकती है। वास्तव में, इनमें निम्नांकित प्रधान अन्तर हैं

(1) सर्वप्रथम तो, बचत एव विनियोग सिद्धान्त से यह ज्ञात होता है कि क्यों मुद्रा की कमी द्वारा तेजी (Boom) रोकी जा सकती है किन्तु अधिक मुद्रा के सृजन के द्वारा समुत्थान नहीं प्रारम्भ किया जा सकता (Shortage of money can always stop a boom, but plethora of money cannot start recovery)—हम जानते हैं कि ऋण की रकम द्वारा ही विनियोग मे वृद्धि की जाती है। अतएव, यदि बैंक ऋण न दें अथवा बहुत अधिक ब्याज लें तो विनियोग मे वृद्धि कठिन हो जायगी। इससे बचत की तुलना में विनियोग कम होने लगेगा जिससे मन्दी (Depression) की सृष्टि होने लगेगी। हम यह भी जानते हैं कि विनियोग मे केवल इसलिए वृद्धि नही की जाती कि मुद्रा उपलब्ध है अथवा सस्ती है, वरन् इसमें वृद्धि लाभ की प्रत्याशा पर निर्भर करती है। यदि भविष्य मे लाभ की प्रत्याशा नही दिखायी पड़े तो चाहे मुद्रा कितनी भी सस्ती क्यो न हो विनियोग मे वृद्धि नही होगी। अतएव मन्दी के समय जब भविष्य के प्रति व्यापारियो मे आम निराशा व्याप्त रहती है, तो बढ़ी हुई मुद्रा विनियोग को नहीं बढा सकती। यहाँ पुन ग्रामोफोन के गवर्नर की उपमा दी जा सकती है। यह ग्रामोफोन की चाल को एक सीमा से अधिक बढने नही देता, किन्तु बन्द हो जाने पर यह ग्रामोफोन को चालू नही कर सकता। इसी प्रकार मुद्रा का सृजन मन्दी को रोकने मे केवल तभी कुछ हद तक सफलीभूत हो सकता है जब इसके फलस्वरूप विनियोग में वृद्धि हो और विनियोग में वृद्धि भविष्य के लिए लाभ की प्रत्याशा पर निर्भर करती है।

(2) बचत एवं विनियोग सिद्धान्त (Saving and Investment Theory) **परिमाण सिद्धान्त की अपेक्षा मुद्रा के भ्रमण-प्रवाह** (Velocity of circulation) **पर अधिक प्रकाश डालता है**—परिमाण सिद्धान्त से हम केवल इतना जान सके थे कि V लोगो की इस इच्छा पर निर्भर करती है कि वे अपनी सम्पत्ति का कौन सा भाग नकद मुद्रा के रूप मे रखना चाहते हैं। जब नकद मुद्रा की इच्छा बढती है, तो V भी बढती है और जब घटती है तो V भी घटती है। परिमाण सिद्धान्त इनमे परिवर्तन के कारणो की व्याख्या नही करता, किन्तु बचत एव विनियोग सिद्धान्त की सहायता से हम इसकी व्याख्या भी कर सकते हैं। जब लोग बचाते हैं तो वे अपनी सम्पत्ति का अधिक भाग नकद मुद्रा के रूप मे रखना चाहते हैं तथा जब वे विनियोग करते हैं तो वे अपनी सम्पत्ति को मुद्रा के रूप मे कम करके टिकाऊ (durable) वस्तुओं के रूप मे अधिक रखते हैं। अतएव, जब बचत विनियोग से अधिक होती है, तो इसका तात्पर्य यह है कि वे अपनी सम्पत्ति का अधिकाश नकद मुद्रा के रूप मे रखना चाहते हैं जिससे मुद्रा के भ्रमण-

प्रवाह (Velocity of circulation) मे कमी होती है और जब विनियोग बचत से अधिक होता है तो ठीक इसके विपरीत प्रभाव पडता है।

किन्तु, ऐसा मान लेना कि लोग अपनी मुद्रा का प्रयोग या तो वस्तु खरीदने या नकद मुद्रा के रूप मे रखने मे करेंगे ठीक नही है, क्योकि अधिकाश व्यक्ति अपनी अतिरिक्त मुद्रा से प्राय प्रतिभूतियो का क्रय करते हैं तथा मुद्रा की कमी होने पर इनका विक्रय करते हैं। इस प्रकार की प्रतिभूतियो की माशा उनकी ब्याज की दर पर निर्भर करती है, क्योकि ब्याज की दर कम होने पर लोग नकद मुद्रा रखना ही अधिक पसन्द करेंगे। अतएव, लोगो की माग केवल तरलता अधिमान (Liquidity preference) पर ही निर्भर नही करती, वरन् प्रतिभूतियो की ब्याज दर से भी प्रभावित होती है। जनता प्रतिभूतियो की ब्याज दर को ध्यान म रखते हुए अपने साधनो का जो भाग तरल रूप मे रखना चाहती है उसके लिए L तथा कुल मुद्रा की मात्रा के लिए M का प्रयोग किया जायगा। अब मानलिया जाय कि किसी कारणवश M, यानी मुद्रा का परिमाण L से कम हो गया है। ऐसा दो कारणो से हो सकता है— 1) या तो केन्द्रीय बैंक ने साख मुद्रा की मात्रा को कम कर दिया होगा, या (2) लोगो का तरलता अधिमान (Liquidity preference) बढ गया होगा। दूसरे शब्दो मे, या तो 'M' कम हो गया होगा या L बढ गया होगा। ऐसी स्थिति मे सभी अपनी प्रतिभूतियो को बेचने का प्रयत्न करेंगे। इससे प्रतिभूतियो का मूल्य कम हो जायगा और ब्याज बढ जायगी। ब्याज बढने से लोग पुन अपनी मुद्रा से प्रतिभूतियो को खरीदना प्रारम्भ कर देंगे जिससे L कम होकर पुन M के बराबर हो जायगा। यदि M की मात्रा L से अधिक हो जाती है तो M की मात्रा मे कमी अवश्य होगी अन्यथा ब्याज की दर मे कमी हो जायगी जिससे विनियोग करना लाभदायक नही रह जायगा और इस प्रकार L बढकर M के बराबर हो जायगा।

इस प्रकार वास्तविक प्रचलन मे मुद्रा का परिमाण, जनता की मुद्रा-धारण की प्रवृत्ति एव प्रतिभूतियो की सूद की दर मे एक त्रिकोणात्मक सम्बन्ध है जिसे समीकरण के रूप मे निम्न प्रकार से व्यक्त किया जा सकता है—

$$M = L/r$$

जिसमे M = प्रचलन मे मुद्रा का परिमाण (*Volume of money actually in existence*),

L साधन का वह भाग जिसे जनता तरल-मुद्रा के रूप मे रखना चाहती है (Proportion of its resources that the public desire to hold in liquid form) एव

r = सूद की दर (Rate of interest) है।

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि मुद्रा के परिमाण (M) मे परिवर्तन का मूल्य-तल (P) से सीधा कार्य-कारण का सम्बन्ध नही है, वरन् यह एक सश्लिष्ट (Complex) सम्बन्ध है। यदि L मे कोई परिवर्तन नही हो तो 'M' मे परिवर्तन का प्रभाव पहले सूद की दर पर पडता है। इससे बचत एव विनियोग का सम्बन्ध प्रभावित होता है जिससे पुन आय रोजगारी एव मूल्यतल प्रभावित होते हैं। इसी प्रकार की प्रतिक्रिया 'L' मे परिवर्तन होने से (जबकि 'M' प्राय स्थायी रहता है) होती है। अतएव, स्पष्ट है कि परिमाण सिद्धात एक बहुत सरल सिद्धात है। इससे इन सारी बातो की जानकारी नही होती, किन्तु इसका तात्पर्य यह नही कि परिमाण सिद्धात अशुद्ध है। वस्तुत यह सिद्धात बिलकुल सही है। बचत एव विनियोग का सम्बन्ध केवल अल्पकाल मे रोजगार एव मूल्य-तल को प्रभावित करता है। यदि बचत विनियोग से अधिक हो जाय तो मूल्य सतुलन-बिन्दु (Equilibrium level) से कम होने लगेगा। इसके विपरीत यदि बचत विनियोग से कम हो जाय तो मूल्य सतुलन-बिन्दु से अधिक होने लगेगा, किन्तु मूल्य का सतुलन-बिन्दु स्वय मुद्रा के परिमाण से निर्धारित होता है। (The equilibrium level itself is atleast determined by the quantity of money in existence) गेहूँ का मूल्य 15 रुपये प्रति क्वि० के इर्द-गिर्द रहता है किन्तु यह 1 5 रुपये प्रति क्वि० अथवा 150 रुपये प्रति क्वि० नहीं हो सकता, क्योकि मुद्रा का परिमाण सभी वस्तुओ तथा सेवाओ की तुलना मे इतना ही है कि मूल्य 15 रुपये प्रति क्वि० के आस-पास मे रहे। तेजी के समय मे मुद्रा की मात्रा मे समानुपातिक परिवर्तन के बगैर भी मूल्य बढ सकता है अथवा मन्दी मे इसमे कमी हो सकती

है, किन्तु मुद्रा की मात्रा मे परिवर्तन के बगैर यह स्थायी रूप से अधिक या कम नहीं हो सकता। क्राउथर (Crowther) के शब्दों में "मुद्रा का परिमाण-सिद्धांत समुद्र के सामान्य तल को मापता है तथा बचत एवं विनियोग का सिद्धान्त उसके ज्वार-भाटे के वेग को मापता है।" (The Quantity Theory of Money explains, as it were, the average level of the sea, the Saving and Investment Theory explains the violence of the tides.)

विशेष अध्ययन-सूची

1. Crowther : An Outline of Money, Chapter V.
2. Keynes : A Treatise on Money, Vol-I. Chapter XIV.
3. Keynes : The General Theory of Employment, Interest and Money, Chapter 21.
4. Kurihara : Monetary Theory and Public Policy, Chapter IV.

अध्याय : 14

व्यापार-चक्र

(The Trade Cycle)

"....business cycle is nothing more than a rhythmic fluctuation in the overall level of employment, income and output "— Dillard.

प्राक्कथन : – विश्व मे आर्थिक प्रगति की गति सदैव एक समान नही रहती । आर्थिक विकास की दौर मे समय-समय पर विनियोग, उत्पादन तथा रोजगार के स्तर मे उच्चावचन होते रहते हैं । विश्व के आर्थिक इतिहास के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि अतीत मे ऐसे काल भी थे जबकि लगातार कई वर्षों तक विश्व मे आर्थिक क्रियाओं का स्तर बिलकुल मद रहा था। मंदी की इन अवस्थाओ के तत्काल पूर्व अथवा तत्काल पश्चात् इन अर्थ-व्यवस्थाओ ने आर्थिक समृद्धि का भी अनुभव किया था जबकि उत्पादन, रोजगार तथा कीमत सभी मे वृद्धि हुई थी। इस प्रकार आर्थिक विकास के क्रम मे मदी तथा समृद्धि की अवस्थाएँ एक चक्र की तरह निरन्तर आती रही हैं ।

पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था की एक प्रमुख विशेषता तेजी एव मदी, समृद्धि तथा अवनति का बारी-बारी से होना है । *इस प्रकार की आर्थिक व्यवस्था के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि* इसके विकास मे स्थायित्व नही रहता । इसमे सदा तेजी (Boom) के बाद मन्दी Slump) एव मन्दी के बाद तेजी ज्वार-भाटा (Ebb and flow) की तरह आते रहते हैं । मूल्य तल एव रोजी मे ये परिवर्तन अस्त-व्यस्त रूप मे नही वरन् नियमित रूप से एक चक्र की तरह आते रहते है। किसी विशेष समय मे पूँजीवादी आर्थिक व्यवस्था की प्रवृत्ति प्रसार की ओर होती है जिसमे आय, उत्पादन एव रोजगारी मे वृद्धि होती है । अर्थशास्त्र मे इसी प्रवृत्ति को तेजी (Boom) कहते हैं किन्तु यह प्रवृत्ति सीमित होती है और एक विशेष बिन्दु पर तेजी (Boom) के पहुँच जाने के बाद आर्थिक व्यवस्था की प्रवृत्ति वहाँ से पतन की ओर होती है जिसे मन्दी (Slump or Depression) कहते हैं जिसमे आय, रोजगार एव कीमतो का स्तर गिर जाता है । इसी प्रवृत्ति को अर्थशास्त्र मे व्यापार-चक्र कहते है ।

व्यापार-चक्र का अर्थ (Meaning of Trade Cycle) **—व्यापार-चक्र की विभिन्न परिभाषाएं दी गयी हैं जिनमें निम्नांकित विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं —**

सुप्रसिद्ध विद्वान हेबरलर (Haberler) के अनुसार '**आर्थिक व्यवस्था में ज्वार-भाटे की तरह तेजी एव मन्दी के सृजन को ही व्यापार-चक्र कहते हैं ।**' (The Business cycle, in the general sense, may be defined as an alternation of the period of prosperity and depression, of good and bad trade—Haberler.)

इसी प्रकार केन्स (Keynes) के अनुसार, "**व्यापार-चक्र उत्तम व्यापारकाल, जिसमें मूल्यों में वृद्धि एवं बेरोजगारी में कमी होती रहती है तथा खराब व्यापारकाल, जिसमें** ***कि मूल्य में ह्रास एवं बेरोजगारी बढ़ती रहती है*** **को मिलाकर बनता है।**" (A trade cycle is composed of periods of good trade characterised by rising prices and low unemployment percentages alternating with periods of bad trade characterised by falling prices and high unemployment percentages.)[1]

---

1. J. M. Keynes—A Treatise on Money; Vol— 1. केन्स ने आगे चलकर अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक "The General Theory of Employment, Interest and Money" में व्यापार-चक्र की व्याख्या निम्न प्रकार से की है · "By a cyclical movement, we mean that as a system progresses in e g , the upward direction, the forces propelling it upwards at first gather force and have a cumulative effect on one another but gradually lose their strength until at a certain point they tend to be replaced by forces operating in the opposite direction; which in turn gather force for a time and accentuate one another, until they too, having reached their maximum develop-

सुप्रसिद्ध अमेरिकी अर्थशास्त्री माइकेल (W. C. Mitchell) के अनुसार, "व्यापार चक्र उस प्रकार के उच्चावचनो को कहते हैं जो ऐसे राष्ट्रों की समग्र आर्थिक क्रियाओं मे पाये जाते हैं जो अपना कार्य मुख्यत. व्यावसायिक संस्थानों के आधार पर संगठित करते हैं। व्यवसाय के अन्तर्गत एक ही समय में बहुत-सी आर्थिक क्रियाओं में विस्तार होता है जिसके पश्चात सामान्य सुस्ती, संकुचन तथा पुनरुत्थान की अवस्थाएँ आती हैं जो अगले व्यापार-चक्र की विस्तार-अवस्था मे मिल जाती हैं। परिवर्तनों का यह क्रम आवर्त्तीय होते हुए भी सामयिक नहीं होता।" (Business cycles are a type of fluctuation found in the aggregate economic activity of nations that organise their work mainly in business enterprises A cycle consists of expansions occurring at about the same time in many economic activities, followed by similarly general recessions, contraction and revivals which merge with the expansion phase of the next cycle. This sequence of changes is recurrent but not periodic)[1]

माइकेल की उपरोक्त परिभाषा के आधार पर व्यापार-चक्र की निम्नलिखित प्रधान विशेषताएँ स्पष्ट होती हैं—

(i) व्यापार-चक्र का तात्पर्य उन उतार-चढावो से है जो सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था मे विद्यमान रहते हैं।

(ii) व्यापार चक्र का सम्बन्ध केवल उन उतार-चढावों से है जो व्यावसायिक जगत मे होते हैं।

(iii) ये उतार-चढाव नियमित रूप से तथा आवर्तीय होते हैं।

इसी प्रकार हाट्रे (Hawtrey) के अनुसार, 'व्यापार-चक्र उस विशेष प्रकार की क्रान्ति को कहते हैं जिसके अन्तर्गत एक दिशा में हुए परिवर्तन दूसरी दिशा मे होनेवाले परिवर्तनों को जन्म देते हैं।" (In the case of business cycle, "an excess of movement in one direction tends to bring into operation not only its own remedy but a stimulus to an excess movement in the other direction)

इसी प्रकार प्रो० हेन्सन (Hansen) के अनुसार "चक्र' शब्द का तात्पर्य घटनाओं के ऐसे निश्चित क्रम से है जिनका पुनरावर्तन होते रहता है। जब यह चक्र व्यावसायिक क्षेत्र मे परिवर्तित होता है तो उसे व्यापार चक्र कहा जाता है।"[2] ('The Business cycle is peculiarly a manifestation of the industrial segment of the economy from which prosperity or depression is redistributed to other groups in the highly inter-related modern society)

---

ment, wane and give place to their opposite We do not, however, merely mean by a cyclical movement that upward and downward tendencies once started, do not persist for ever in the same direction but are ultimately reversed. We mean also that there is some recognisable degree of regularity in the time sequence and direction of the upward and downward movements

1 W C Mitchell Business Cycles The Problem and Its Setting

2 व्यापार चक्र की कुछ अन्य परिभाषाएँ इस प्रकार से हैं—

प्रो० बेन्हम (Benham) के अनुसार "Trade cycle refers to a period of prosperity followed by a period of depression")

इसी प्रकार टिंबरजेन (Tinbergen) के अनुसार,"Business cycle is the inter-play between erratic shocks and an economic system able to perform cyclical adjustment movements to such shocks"

इस प्रकार व्यापार-चक्र से हमारा तात्पर्य पूँजीवादी देशो मे आर्थिक क्रियाओ के उतार-चढाव से है जो पर्याप्त निश्चित अवधि के पश्चात् बार-बार आते रहते हैं। संक्षेप मे, विस्तार की एक अवस्था तथा संकुचन की एक अवस्था को मिलाकर व्यापार-चक्र (Trade-cycle) कहते हैं।

अल्पकालीन एवं दीर्घकालीन परिवर्तन (Short term and Long term fluctuations):—यदि किसी एक शताब्दी में मूल्य-तल के परिवर्तनो का अध्ययन किया जाय तो इससे स्पष्ट होगा कि ये परिवर्तन दो प्रकार के होते हैं :—पहला अल्पकालीन परिवर्तन (Short-term fluctuations) है जो सात से दस वर्षों तक का होता है। इसका जिक्र अभी व्यापार-चक्र के अन्तर्गत किया जा चुका है। दूसरे प्रकार का परिवर्तन दीर्घकालीन परिवर्तन (Long term fluctuations) है। यह लम्बे समय का, प्राय. चालीस से साठ वर्षों तक का होता है तथा कई अल्पकालीन परिवर्तनो को मिलाकर बनता है। यदि उन्नीसवीं शताब्दी मे मूल्य स्तर के परिवर्तनो को देखा जाय तो जान पडेगा कि 1814 ई० से मूल्य-तल मे निम्न गति (Down swing) प्रारम्भ हुई जो 1849 ई० तक चली। इसे मूल्य ह्रास का काल कह सकते है। पुन: 1849 ई० से मूल्य
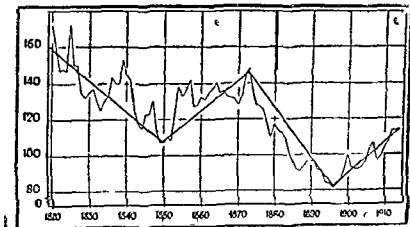
उन्नीसवीं शताब्दी मे मूल्य-तल में उच्चावचन (सन् 1900 ई० = 100)

की उर्ध्वगति (Up-swing) प्रारम्भ हुई जो 1873 ई० तक रही। इसे मूल्य-वृद्धि का काल कह सकते हैं। इसके बाद पुन: 1874 ई० से निम्नगति प्रारम्भ हुई जो 1896 ई० तक चली और 1896 से उर्ध्वगति (Up-swing) प्रारम्भ हुई जो 1920 ई० तक रही। ऊपर के चित्र मे उन्नीसवीं शताब्दी मे मूल्य-स्तर के इन परिवर्तनो को दिखलाया गया है। चित्र मे स्पष्ट है कि एक दीर्घकालीन परिवर्तन कई अल्पकालीन परिवर्तनो को मिलाकर बनता है।[1]

मूल्य तल मे एक तीसरे प्रकार का परिवर्तन भी बतलाया जा सकता है जो और भी लम्बी अवधि, जैसे— प्राय एक शताब्दी का होता है। प्राय: ऐसा देखा जाता है कि मूल्यो की औसत प्रवृत्ति प्रत्येक शताब्दी मे वृद्धि की ही रही है। इस प्रकार मूल्य-तल पर किसी भी समय तीन तरह के शक्ति-समूहो का दबाव पडता है। प्रथमत., तो प्रत्येक शताब्दी मे मूल्य-तल मे परम्परागत रूप से बढने, यानी मुद्रा के मूल्य मे घटने की प्रवृत्ति पायी जाती है। द्वितीयत , दीर्घकालीन उच्चावचन (Long term fluctuations) की प्रवृत्ति है। इस प्रकार का सम्पूर्ण दीर्घकालीन चक्र (Long term cycle) प्राय आधी शताब्दी तक चलता है। तृतीयत., व्यापार-चक्र सात-आठ वर्षों का होता है। मूल्य मे इन तीनो प्रकार के परिवर्तनो से प्रत्येक का किसी-न किसी उद्देश्य से अवश्य ही महत्त्व है, किन्तु व्यावहारिक नीति के उद्देश्य से व्यापार-चक्र की जो ह्रास वद्धि है वही सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। इसके दो कारण हैं—सर्वप्रथम तो, यही व्यापार-चक्र बेकारी, उत्पादन की बर्बादी तथा सामाजिक उथल-पुथल एव अन्यान्य बुराइयो का प्रमुख कारण है और दूसरा

1. कुछ अर्थशास्त्रियों के अनुसार व्यापार-चक्र तीन प्रकार के होते हैं—तीन से साढ़े तीन वर्ष का लघु-चक्र (Short cycle), सात से ग्यारह वर्ष का मध्यम-चक्र (Intermediate cycle), तथा सैंतालीस से साठ वर्ष का दीर्घ-चक्र (Long cycle)।

कारण यह है कि दीर्घकालीन परिवर्तन (Long-term movements) भी इसी व्यापार-चक्र पर आधारित रहते हैं। अतएव, व्यापार-चक्र एव मुद्रा के मूल्य मे परिवर्तन के विश्लेषण म हमारा ध्यान मुख्य रूप से व्यापार-चक्र की अल्पकालीन गति पर ही केन्द्रित रहेगा।

व्यापार चक्र की विशेषताएँ

(Characteristics of Trade Cycle)

व्यापार-चक्रों के क्रम के अध्ययन से उनकी निम्नांकित विशेषताएँ स्पष्ट होती हैं –

(1) **नियमितता** (Regularity) .—व्यापार-चक्र की सर्वप्रथम विशेषता यह है कि यह एक चक्र के समान निरतर रूप से चलते रहता है। दूसरे शब्दों मे, विस्तार एव सकुचन एक दूसरे के उपरान्त नियमित रूप से आते रहते हैं। *व्यापार-चक्र का एक क्रम 7 से 10 वर्ष तक चलता है* और उसके पश्चात् तत्काल ही दूसरा क्रम प्रारम्भ हो जाता है। इस क्रम मे भले ही इतनी स्पष्ट नियमितता न हो, परन्तु स्थूल रूप म यह सर्वथा सत्य है। **प्रो० टॉमस** (Thomas) के अनुसार "19वी शताब्दी के अन्त तथा 20वी शताब्दी के प्रथम भाग मे यह अच्छे एव बुरे व्यापार का समय इस नियमितता से हुआ कि लोगो ने एक व्यापार-चक्र की अवधि को 7 से लेकर 10 वर्ष *तक मान लिया है।"*

(2) **समक्रमिकता** (Synchronism) .— व्यापार-चक्र की दूसरी विशेषता यह है कि यह प्राय सभी व्यवसायो तथा उद्योगो को एक साथ प्रभावित करता है। यदि तेजी का दौड आरम्भ होता है तो सभी क्षेत्रो मे प्राय तेजी-ही-तेजी दृष्टिगोचर होती है और मदीकाल मे सर्वत्र मदी ही-मदी व्याप्त रहती है। इस प्रकार की समक्रमिक्ता के दो प्रधान कारण हैं—सर्वप्रथम तो, *अधिकाश व्यवसाय एक-दूसरे से सम्बन्धित होते हैं, अत एक मे परिवर्तन का प्रभाव दूसरे पर* निश्चित रूप से पडता है। द्वितीय कारण सर्वथा मनोवैज्ञानिक है। एक उद्योग अथवा व्यवसाय मे मदी आते ही अन्य उद्योगो अथवा व्यवसायो मे लगे व्यक्ति भी सशकित हो जाते हैं और इस तरह धीरे-धीरे सम्पूर्ण आर्थिक वातावरण क्रमश अविश्वास से ग्रस्त हो जाता है और अन्ततोगत्वा सकट की स्थिति उत्पन्न कर देता है। मदी तथा तेजी एक राष्ट्र तक ही सीमित नही रहते वरन् सम्पूर्ण व्यावसायिक जगत मे शीघ्र ही व्याप्त हो जाते हैं।

(3) **सर्वव्यापी प्रकृति** (International in character)—व्यापार-चक्रो की तीसरी महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि एक देश से आरम्भ होने पर भी शीघ्र ही ये सम्पूर्ण विश्व मे फैल जाते हैं। इसका कारण स्पष्ट है। विदेशी व्यापार तथा विनिमय के माध्यम से सभी महत्त्वपूर्ण देशो की अर्थ-व्यवस्थाएँ इस प्रकार एक-दूसरे से जुडी हुई हैं कि किसी एक देश मे व्याप्त तेजी अथवा मदी का प्रभाव दूसरे देशो पर पडना बिल्कुल स्वाभाविक है।

(4) **विभिन्न क्षेत्रों पर इनका प्रभाव अलग-अलग तरीके से पड़ता है**—व्यापार-चक्र से आर्थिक जीवन के सभी अग समान रूप से प्रभावित नहीं होते। वास्तविकता यह है कि औद्योगिक पदार्थों की अपेक्षा कृषि-पदार्थों के मूल्य मे शीघ्र तथा तेजी से परिवर्तन होते हैं। औद्योगिक पदार्थो के अन्तर्गत भी पूँजीगत सामान बनाने वाले उद्योगो पर व्यापार-चक्रो का अत्यधिक व्यापक प्रभाव पडता है। इसी प्रकार मन्दी तथा तेजी का समाज के विभिन्न वर्गों पर भी समान रूप से प्रभाव नहीं पडता। इसके परिणामस्वरूप लाभ से प्राप्त आय अन्य स्रोतो से प्राप्त आय की अपेक्षा अधिक घटती बढती है।

(5) **अन्य विशेषताएँ** अमेरिकी आर्थिक परिषद् (American Economic Association) ने व्यापार-चक्र की निम्नाङ्कित अन्य विशेषताओ पर प्रकाश डाला है,

(i) कुल विक्रय की अपेक्षा तैयार माल पर किया गया व्यय अधिक घटता है।
(ii) कुल उत्पादन और कुल रोजगार मे परिवर्तन के अनुपात मे ही मुद्रा के परिमाण तथा उसकी चलन गति मे भी परिवर्तन होता है।
(iii) कृषि-पदार्थों की कीमत अत्यधिक लचीली होती है किन्तु निर्मित वस्तुओ की कीमतें अपेक्षाकृत अधिक सुदृढ होती हैं।
(iv) अन्य स्रोतो से प्राप्त आय की तुलना मे लाभ से प्राप्त आय अधिक परिवर्तनशील होती है।

व्यापार-चक्र की प्रवस्थाएँ
(Phases of Trade Cycle)

तेजी और मन्दी का चक्र निरन्तर रूप से चलते रहता है। मूल्य में किसी एक समय म वृद्धि होती है तो दूसरे समय मे कमी। इसी प्रकार रोजगार कभी बढता है तो कभी घटता है। अत, कोई एक ऐसा बिन्दु निश्चित नहीं किया जा सकता जहाँ से व्यापार-चक्र की शुरुआत होती है। फिर भी, व्यापार चक्र की विभिन्न प्रवस्थाओ के अध्ययन के लिए कोई एक बिन्दु निश्चित करना पडता है। प्रो० हेबग्लर (Heberlar) **के अनुसार, एक प्रामाणिक व्यापार-चक्र की निम्नांकित चार प्रवस्थाएँ होती हैं—**

(क) उर्ध्वगति (Up swing—Prosperity, expansion, boom),
(ख) सकट (Down-turn, crisis),
(ग) निम्नगति (Down-swing—depression, slump, contraction), तथा
(घ) समुत्थान (Up-turn—recovery, revival)।

इस प्रकार एक प्रामाणिक व्यापार-चक्र (Standard cycle) की उपरोक्त चार प्रवस्थाएँ हैं। उर्ध्वगति (Up-swing) मे भी तीन प्रक्रम है—समुत्थान (recovery), पूर्ण रोजगार (full employment) तथा महँगी या तेजी (inflation or boom)। इसके विपरीत निम्नगति (Down swing) मे केवल दो प्रक्रम हैं—सकट (crisis) तथा सस्ती या मन्दी (Depression or slump)। किन्तु सभी व्यापार-चक्रो का इन सभी प्रक्रमो से होकर गुजरना कोई आवश्यक नही है। उदाहरण के लिए, कभी-कभी पूर्ण रोजगार की स्थिति आये बगैर ही तेजी सकट की स्थिति मे बदल सकती है या मन्दी के समय मे तनिक उत्थान के बाद भी पुन मन्दी आ सकती है।

सुप्रसिद्ध अर्थशास्त्री **शुम्पीटर** (Schumpeter) ने व्यापार-चक्र की निम्नांकित चार प्रवस्थाओं का वर्णन किया है—

(1) समृद्धि की स्थिति (the Prosperity phase),
(2) सुस्ती की स्थिति (the Recession phase),
(3) मन्दी की स्थिति (the Depression phase), तथा
(4) समुत्थान की स्थिति (the Revival or recovery phase)।

वास्तव मे, ध्यानपूर्वक विचार करने पर व्यापार चक्र की निम्नांकित चार प्रवस्थाएँ स्पष्ट होती हैं—(क) तेजी अथवा अभिवृद्धि की स्थिति (Boom) (ख) सुस्ती या अवरोध की स्थिति (Recession), (ग) मदी या अवसाद की स्थिति (Depression) तथा (घ) पुनरुद्धार (Revival or Recovery) की स्थिति।

निम्नांकित चित्र से ये चारो अवस्थाएँ स्पष्ट हो जाती हैं—
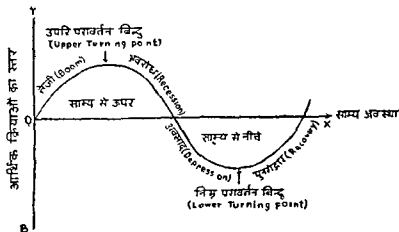
अब इन चारों प्रवस्थाओ का निम्न विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है—

(क) तेजी अथवा अभिवृद्धि (Boom)—व्यापार चक्र की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अवस्था अभिवृद्धि अथवा तेजी है। समृद्धि की स्थिति मे आर्थिक क्रियाओ का स्तर आदर्शतम बिन्दु पर होता है तथा उत्पादन के साधन पूर्ण रोजगार की स्थिति मे होते हैं। इस स्तर मे अनैच्छिक बेकारी बिलकुल नही होती। हाँ, कुछ हद तक ऐच्छिक एव घर्षणात्मक बेकारी (voluntary and frictional unemployment) वर्तमान रह सकती है। इस अवधि मे मूल्य, मजदूरी तथा आय का स्तर बहुत ही उच्च होता है तथा व्यवसाय के क्षेत्र मे सर्वत्र एक प्रकार का आशावाद वर्तमान रहता है। अतएव व्यवसायी बैंक से बहुत बडे पैमाने पर उधार लेते हैं, किन्तु जैसे-जैसे समृद्धि अपनी चरमावस्था पर पहुँचने लगती है अर्थ-व्यवस्था मे कई प्रकार की कठिनाइयाँ (bottlenecks) उत्पन्न होने लगती है रोजगार अपनी सीमा पर पहुँच जाता है जिससे इसमे और वृद्धि सम्भव नही हो पाती। व्यवसायी अतिरिक्त साधनो को प्राप्त करने के लिए आपस मे प्रतियोगिता करने लगते है। इससे साधनो के पारिश्रमिक मे बहुत वृद्धि हो जाती है। मजदूरी मे वृद्धि तो इतनी अधिक होती है कि इसे कार्य कुशलता के आधार पर उचित नही ठहराया जा सकता। बैंक भी अपने उधार की दरो मे बहुत वृद्धि करने लगते हैं।

सक्षेप मे, तेजी अथवा अभिद्धि की निम्नाकित प्रधान विशेषताएँ हैं—

(1) विनियोग की अधिकता,

(2) सभी वस्तुओ के मूल्य मे वृद्धि, ऊँचा उत्पादन व्यय एव ऊँचे लाभ,

(3) सर्वत्र अत्यधिक आशावाद की विद्यमानता,

(4) मूल्य की तुलना मे मजदूरी मे कम वृद्धि के कारण वास्तविक मजदूरी मे कमी, अतएव, श्रम-सघो की कार्यवाहियो का विस्तार तथा अधिक हडतालें।

(5) सट्टेबाजी की अधिकता, तथा

(6) बैंको द्वारा दिये जानेवाले ऋणो का विस्तार।

परिणाम यह होता है कि उत्पादन-व्यय बहुत बढ जाता है। उत्पादन-व्यय बढने से मूल्य बढता है।

(ख) अवरोध या सुस्ती (Recession)—किन्तु तेजी अथवा अभिवृद्धि की स्थिति मे ही इसके विनाश के बीज मौजूद रहते हैं जिसके परिणामस्वरूप धीरे धीरे कठिनाइयाँ उत्पन्न होने लगती हैं। धीरे-धीरे मूल्य अत्यधिक बढ जाते हैं जिससे उपभोक्ता इस बढे हुए मूल्य के फलस्वरूप कम क्रय करने लगते हैं। इससे बिक्री कम हो जाती है तथा व्यापारी अपनी वस्तुओ के सग्रह को समाप्त करने का प्रयास करने लगते हैं। इससे मूल्य गिरने लगते हैं, मूल्य गिरने से व्यापारियो को हानि होने लगती है अत वे उत्पादन कम करते हैं। उत्पादन कम होने से रोजगार कम होने लगता है और इस प्रकार सम्पूर्ण अर्थ व्यवस्था सकट की ओर अग्रसर होने लगती है और समृद्धि धीरे-धीरे सुस्ती मे बदल जाती है। व्यवसाय मे आशावाद की जगह सर्वत्र निराशावाद की भावना व्याप्त हो जाती है तथा व्यापारी भविष्य के सम्बन्ध मे अत्यधिक आशकित हो जाते हैं। समृद्धि काल मे स्थापित कई उद्योग बद होने लगते हैं। साख का सकुचन होता है तथा व्यवसाय म प्रचार बिलकुल बद हो जाता है। समृद्धि-काल मे वस्तुओ के लिए दिये गये बहुत से आर्डर रद्द किये जाने लगते हैं तथा मजदूर बेकार रहने लगते हैं। मूल्य म अतिशय कमी नजर आने लगती है तथा अर्थ-व्यवस्था मे सर्वत्र विश्वास का सकट (Crisis of confidence) नजर आने लगता है। लोग अपनी आय को तरल रूप मे रखना ही अधिक पसद करते हैं। बेरोजगारी से आय, व्यय, मूल्य, लाभ तथा व्यावसायिक क्रियाशीलता मे कमी आने लगती है। पूँजी-बाजार मे स्थिति और भी अव्यवस्थित हो जाती है।

सक्षेप मे, अवरोध या सुस्ती की निम्नाकित प्रधान विशेषताएँ हैं—

(1) व्यवसाय का परिमाण घटने लगता है,

(2) परिणामस्वरूप, उत्पादन, आय, विनियोग एवं रोजगार घटने लगते हैं,

(3) कीमतें, मजदूरी एव उत्पादन-व्यय मे कमी होने लगती है, तथा

(4) व्यावसायिक क्षेत्र मे भविष्य के प्रति सर्वत्र निराशावाद पाया जाने लगता है।

(ग) मन्दी (Depression)—व्यापार चक्र की मदी की स्थिति मे अर्थ-व्यवस्था मे उत्पादन तथा रोजगार के स्तर में गिरावट आने लगती है। इस स्तर मे समृद्धि की तुलना मे मूल्य तथा मजदूरी मे भारी गिरावट आ जाती है तथा मूल्यो का सापेक्षिक ढाँचा भी अस्त-व्यस्त हो जाता है। यद्यपि उपभोक्ता पदार्थों के मूल्य में भारी कमी के कारण रोजगार प्राप्त श्रमिको की वास्तविक आय बढ जाती है, किन्तु बेरोजगार की समस्या के प्रबल हो जाने के कारण अधिकाश श्रमिको को किसी भी कीमत पर काम नही मिल पाता। कृषि पदार्थों तथा निर्मित वस्तुओ के मूल्य मे भारी गिरावट के कारण किसानो तथा व्यवसायियो को बहुत अधिक हानि होती है। बैंक के कोषो की माग मे कमी होने लगती है जिसमे ब्याज की दर भी निम्न हो जाती है। सक्षेप मे, समृद्धि की स्थिति के ठीक विपरीत, मदी की स्थिति मे घोर निराशावाद सम्पूर्ण अर्थ व्यवस्था मे व्याप्त हो जाता है।

मदी की स्थिति मे अर्थ-व्यवस्था के सभी क्षेत्रो मे मौद्रिक आय बहुत कम हो जाती है। कृषि पदार्थों तथा कच्चे मालो की कीमत मे अधिक ह्रास के कारण किसानो की मौद्रिक आय म अपेक्षाकृत अधिक ह्रास होता है। उद्योग-धन्धो के अन्तर्गत निर्माण उद्योगो, जैसे—मोटर कार, रेफ्रीजरेटर, बिजली के पखे, सिलाई मशीन आदि के उत्पादन मे भारी गिरावट आ जाती है जबकि उपभोक्ता वस्तुओ के उद्योग अपेक्षाकृत कम प्रभावित होते हैं।

सक्षेप मे, मदी अथवा अवसादकाल की निम्नाकित प्रमुख विशेषताएँ हैं—

(1) व्यवसाय निष्क्रिय हो जाता है, जिससे विनियोग कम हो जाते हैं तथा उत्पादन निम्नतम स्तर पर पहुँच जाता है,

(2) आय एव रोजगार निम्नतम स्तर पर रहते हैं,

(3) मजदूरी, कीमतें आदि सभी मे गिरावट दिखलाई पडने लगती है,

(4) भविष्य के सम्बन्ध मे अधिक निराशा सर्वत्र व्याप्त हो जाती है, तथा

(5) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार भी अपने न्यूनतम स्तर पर हो जाता है।

(घ) समुत्थान की स्थिति (Revival)—व्यापार चक्र की मदी की स्थिति के ठीक बाद समुत्थान (Recovery or Revival) की स्थिति आती है। इस स्थिति मे मदी की अपेक्षा अर्थ-व्यवस्था मे सुधार की स्थिति दिखलायी पडने लगती है। आर्थिक जीवन मे पुन. आशावाद के लक्षण दिखायी पडने लगते हैं तथा रोजगार एव उत्पादन की स्थिति मे धीरे-धीरे सुधार होने लगता है। रोजगार एव उत्पादन मे वृद्धि से वास्तविक आय मे भी वृद्धि होने लगती है। समाज म विनियोग की मात्रा मे धीरे-धीरे वृद्धि होने लगती है तथा व्यापारी बैंक-साख का बडे पैमाने पर प्रयोग करने लगते हैं। समाज मे व्यावसायिक क्रियाशीलता मे वृद्धि होने के कारण मुद्रा के भ्रमण-प्रवाह मे धीरे-धीरे वृद्धि होने लगती है। पूँजीगत तथा निर्माण-उद्योगो मे भी तरक्की होने लगती है तथा इसका प्रभाव कृषि पर भी अच्छा पडता है।

इस प्रकार समुत्थान की स्थिति मे सम्पूर्ण अर्थ व्यवस्था ऊपर की ओर बढने लगती है तथा आर्थिक जीवन मे एक नयी आशा सर्वत्र दिखलायी पडने लगती है। सक्षेप में, समुत्थान अथवा पुनरुद्धार की स्थिति की निम्नाकित प्रमुख विशेषताएँ हैं—

(1) व्यावसायिक क्षेत्र मे बढता हुआ उत्साह, विश्वास तथा आशा,

(2) विनियोग मे लगातार वृद्धि,

(3) उत्पादन मे लगातार वृद्धि,

(4) मजदूरी, कीमत तथा लाभ मे निरतर वृद्धि,

(5) बैंक के ऋण मे निरंतर वृद्धि, तथा
(6) रोजगार एव आय मे निरंतर वृद्धि।

इस सम्बन्ध मे शुम्पीटर के द्वारा प्रस्तुत व्यापार-चक्र की चारो अवस्थाओ का महत्वपूर्ण स्थान है। इनके अनुसार समृद्धि की स्थिति मे रोजगार म वृद्धि होती है, किन्तु जैसे-जैसे अर्थ-व्यवस्था शिखर बिन्दु के समीप पहुँचती है रोजगार मे वृद्धि की गति मद पडने लगती है। सुस्ती की स्थिति मे रोजगार के स्तर मे तीव्र गति से गिरावट होने लगती है। जब अर्थ-व्यवस्था चरम बिन्दु को प्राप्त हो जाती है तो दूसरे अथवा निचले भाग की शुरुआत होती है। इस भाग मे भी दो स्थितियाँ होती हैं किन्तु प्रथम स्थिति मदी की स्थिति होती है जिसमे रोजगार मे अत्यन्त तीव्र गति से गिरावट होती है, परन्तु जैसे-जैसे अर्थ-व्यवस्था मे समुत्थान की प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होने लगती है, रोजगार मे पुन वृद्धि की प्रवृत्ति प्रारम्भ हो जाती है।

व्यापार-चक्र की विभिन्न स्थितियो की मुख्य विशेषताओ को पृष्ठ 141 की तालिका के द्वारा अधिक स्पष्ट किया जा सकता है।

व्यापार-चक्र के कारण

(Causes of Trade-Cycle)

व्यापार-चक्र के कारण एव इनके समाधान के उपायो के सम्बन्ध मे अर्थशास्त्रियो मे मौलिक विभेद हैं। कुछ अर्थशास्त्रियो के अनुसार व्यापार-चक्र प्राकृतिक कारणो से होता है तो कुछ लोगो के अनुसार व्यापार-चक्र एक मौद्रिक प्रवृत्ति है। दूसरी ओर, मार्क्सवादियो के अनुसार व्यापार-चक्र पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था के मौलिक असन्तुलन का परिणाम है। इसका कारण पूँजीवादी व्यवस्था के अन्तर्गत उत्पादन के साधन तथा आय का समाज के कुछ व्यक्तियो के हाथ मे केन्द्रित होना है। इससे श्रमिक-वर्ग के पास क्रय-शक्ति का उत्तरोत्तर ह्रास होने लगता है जिससे न्यून उपभोग (Under-consumption) की समस्या की सृष्टि होती है तथा मदी की शुरुआत होती है। इस प्रकार मार्क्सवादियो के अनुसार व्यापार-चक्र पूँजीवाद की एक आवश्यक विशेषता है। अतएव, पूँजीवाद को समाप्त किये बगैर इसका निराकरण नहीं हो सकता।

हिक्स (Hicks) ने इस समस्या का एक पृथक् दृष्टिकोण से विवेचन किया है। इनके अनुसार तेजी (Boom) की प्रवृत्ति इस कारण होती है कि विनियोग की वृद्धि से आर्थिक व्यवस्था की प्रगति अत्यधिक तीव्र हो जाती है। प्रसार की यह प्रवृत्ति विनियोग मे वृद्धि के साथ-साथ निरन्तर बढती ही जाती है और एक विशेष उच्चतम बिन्दु पर जाकर रुक जाती है, क्योकि इसके बाद विनियोग एव उपभोग मे वृद्धि रुक जाती। इसके बाद मन्दी (Deperssion) की शुरुआत होती है। मन्दी भी एक निम्नतम बिन्दु पर आकर रुक जाती है, क्योकि उपभोग तथा विनियोग मे अपरिमित कमी नही हो सकती। अतएव, समुत्थान के साथ-साथ पुन तेजी की प्रवृत्ति की शुरुआत होती है। इस प्रकार आर्थिक व्यवस्था म तेजी एव मन्दी का सृजन ही व्यापार-चक्र है।

व्यापार-चक्र के विभिन्न सिद्धांत

(Different Theories of Trade-Cycle)

व्यापार-चक्र के विभिन्न कारणो के आधार पर इसकी व्याख्या के लिए भिन्न भिन्न अर्थशास्त्रियो द्वारा अलग अलग सिद्धात प्रस्तुत किय गये हैं। मोटे तौर पर इन सिद्धान्तो को मौद्रिक तथा गैर-मौद्रिक सिद्धान्तो (Monetary and non-monetory theories, के रूप मे विभाजित किया जा सकता है। इस प्रकार हॉट्रे (Hawtrey) के अनुसार, व्यापार-चक्र एक विशुद्ध मौद्रिक घटना है तो तुगन-बेरोनोस्की (Tugan-Baronrwsky) के अनुसार यह न्यून उपयोग (under consumption) का परिणाम है। शुम्पीटर (Schumpeter) के अनुसार यह पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था म समय-समय पर होनेवाली नवीन प्रक्रियाओ (innovations) का परिणाम है तो हॉयक के अनुसार यह अत्यधिक मौद्रिक विनियोग (monetary over-investment) से उत्पन्न होता है। माईकेल (Mitchel) के अनुसार, व्यापार-चक्र एक निरन्तर जारी रहनेवाली प्रक्रिया है जिसकी प्रत्येक अवस्था अपने पूर्व की अवस्था से उत्पन्न होती है तो केन्स के अनुसार व्यापार-चक्र पूंजी की सीमात उत्पादकता मे चक्रीय परिवर्तनो के कारण उत्पन्न होता है। साराश यह है कि भिन्न-भिन्न अर्थशास्त्रियो ने व्यापार-चक्र की व्याख्या अलग-अलग कारणो से की है।

व्यापार-चक्र की विभिन्न स्थितियों की विशेषताएँ निम्नांकित तालिका से बिल्कुल स्पष्ट हो जाती हैं —

विशेषताएँ (Characteristics)	मन्दी की स्थिति (Depression)	समुत्थान की स्थिति (Revival)	समृद्धि की स्थिति (Prosperity)	सुस्ती की स्थिति (Recession)
1. रोजगार	अत्यन्त निम्न	धीरे-धीरे वृद्धि होने लगती है	अधिक होता है	एकाएक कमी हो जाती है
2. औद्योगिक उत्पादन	अत्यन्त निम्न	धीरे-धीरे वृद्धि होने लगती है	अधिक होता है	कम हो जाता है
3. मजदूरी की दर	अत्यन्त निम्न	वृद्धि होने लगती है	अधिक, किन्तु मूल्य-तल से पीछे	कम, किन्तु मूल्य-तल से पीछे रहते हैं
4. मूल्य	अत्यन्त निम्न	वृद्धि होने लगती है	अधिक होते हैं	तेजी से गिरते हैं
5. बैंक ऋण	अत्यन्त निम्न	वृद्धि होने लगती है	अधिक होते हैं	एकाएक बन्द कर दिये जाते हैं
6. बैंक-कोष (reserves)	अधिक मात्रा होती है	कमी होने लगती है	कम मात्रा होती है	एकाएक वृद्धि हो जाती है
7. बैंक-दर	कम होती है	नीची होती है	वृद्धि होने लगती है	ऊँची होती है
8. उत्पादन व्यय	कम होता है	वृद्धि होने लगती है	अधिक होती है	कम हो जाता है
9. लाभ	प्राय समाप्त हो जाता है	वृद्धि होने लगती है	अधिक होते हैं	समाप्त हो जाते हैं
10. व्यवसायों का बन्द होना	बहुत अधिक होता है	कम मात्रा मे होती है	बहुत कम होता है	वृद्धि हो जाती है
11. सट्टेबाजी	बहुत कम होती है	बढ़ने लगती है	अत्यधिक मात्रा मे होती है	कम मात्रा मे होती है
12. वस्तुओं का स्टॉक	कम होता है	बढ़ने लगता है	अधिक होता है	कमी होने लगती है
13. भावना	निराशावादी	आशा की झलक विद्यमान हो जाती है	आशावादी होती है	सन्देह व भय की भावना विद्यमान होती है

व्यापार-चक्र के सम्बन्ध मे भिन्न-भिन्न अर्थशास्त्रियो द्वारा विभिन्न सिद्धात प्रस्तुत किये गये हैं जिनमें से कुछ प्रमुख सिद्धान्त निम्नाकित हैं —

1 जलवायु-सम्बन्धी सिद्धान्त (The Climatic Theory)
2 हाट्रे का व्यापार-चक्र सम्बन्धी मौद्रिक सिद्धान्त (Monetary Theory of Trade cycle);
3. हॉब्सन का अति-बचत सिद्धात (The Over-saving Theory of Hobson),
4 केन्स का सिद्धात (Keyne's Theory),
5. मकडी-जाला सिद्धात (The Cobweb Theory),
6 हॉयक का व्यापार-चक्र सम्बन्धी सिद्धात (Hayek's Theory),
7. शुम्पीटर का नवीन क्रिया-सम्बन्धी सिद्धान्त (Schumpeter's Innovation Theory), तथा
8. हिक्स का सिद्धात (Hick's Theory)

अब इन विभिन्न सिद्धान्तो की व्याख्या प्रस्तुत की जा रही है—

1 जलवायु सम्बन्धी सिद्धांत
(The Climatic Theory)

व्यापार-चक्र का जलवायु-सम्बन्धी सिद्धात सबसे प्राचीन सिद्धात है। इस सिद्धात के प्रतिपादको मे जेवन्स (Williams Stanley Jevons) का नाम उल्लेखनीय है जिसने Sunspot theory के नाम से इसका प्रतिपादन किया था। इस सिद्धात के अनुसार सूर्य म समय-समय पर, प्राय. 10 या 11 वर्षों के चक्र म जो चिह्न अथवा धब्बे प्रकट होते हैं उनसे जलवायु बहुत अधिक प्रभावित होती है और जलवायु फसल को प्रभावित करती है। खराब जलवायु से फसलें खराब होती हैं और खराब फसल से व्यावसायिक क्रियाशीलता मद पड जाती है। अच्छी जलवायु का आर्थिक क्रियाओं पर ठीक इसके विपरीत प्रभाव पडता है। हाल ही मे, सुप्रसिद्ध अमरीकी अर्थशास्त्री मूर Moore) ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि सयुक्त राज्य के प्रमुख कृषि-प्रदेशो मे वर्षा एक निश्चित चक्र के अनुसार होती है। इनके अनुसार वर्षा का यह चक्र व्यापार-चक्र का एक प्रधान कारण है। जेवन्स के अनुसार जलवायु मे यह परिवर्तन ठीक समय पर तथा नियमित रूप से होते हैं जिसके परिणामस्वरूप देश मे मदी एव तेजी की दशाएँ नियमित रूप से आती रहती हैं।

आलोचना :—किन्तु, आजकल इस सिद्धात का कोई विशेष महत्त्व नही है। इसकी निम्नाकित आलोचनाएँ दी जाती हैं :—

(1) वास्तव मे, यह एक अश तक सत्य है कि कृषि का प्रभाव उद्योग एव व्यापार पर पडता है, किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि व्यापार चक्र केवल जलवायु मे परिवर्तनो का ही परिणाम है।

(2) यदि इस सिद्धान को सत्य भी माना जाय तो व्यापार-चक्र को कृषि-प्रधान देशो म अधिक मात्रा मे विद्यमान होना चाहिए किन्तु वास्तविकता इससे ठीक भिन्न ही है।

(3) जलवायु-सम्बन्धी परिवर्तनो की सहायता से व्यापार-चक्र के विभिन्न रूपों को ठीक तरह से नही समझाया जा सकता।

2 हाट्रे का व्यापार-चक्र सम्बन्धी मौद्रिक सिद्धांत
(Hawtrey's Monetary Theory of Trade Cycle)

व्यापार-चक्र के विभिन्न सिद्धान्तो मे व्यापार चक्र का मौद्रिक सिद्धान्त विशेष रूप से उल्लेखनीय है। व्यापार-चक्र के मौद्रिक सिद्धान्त के सबसे बडे समर्थक प्रो० आर० जी० हाट्रे (Hawtrey) रहे हैं। इनके अनुसार व्यापार-चक्र एक विशुद्ध मौद्रिक प्रवृत्ति है। (Trade cycle is a purely monetary phenomenon.) दूसरे शब्दो मे, मुद्रा के प्रवाह मे परिवर्तन ही आर्थिक

व्यवस्था मे परिवर्तनों का कारण है, यानी इसी के चलते तेजी तथा मन्दी (Boom and slump) का सृजन होता है। (Changes in the flow of money are the exclusive and sufficient causes of the changes in the economic activity, of alternate phases of prosperity and depression, of good and bad trade conditions) मुद्रा के प्रवाह मे प्रसार से वस्तुओं की माग मे वृद्धि होती है, इससे व्यापार मे वृद्धि होती है, उत्पादन एव रोजगार बढ़ता है, आय बढती है तथा वस्तुओ के मूल्य मे वृद्धि होती है। इसके ठीक विपरीत मुद्रा का प्रवाह जब सकुचित होता है तो वस्तुओं की माग म कमी होती है। इससे व्यापार मन्द हो जाता है, उत्पादन एव रोजगार घटता है आय घटती है तथा वस्तुओ का मूल्य भी कम हो जाता है।

हाट्रे (Hawtrey) के अनुसार, मुद्रा का प्रवाह उपभोक्ताओ के व्यय से निश्चित होता है। वस्तुओ की माग भी इसी के द्वारा निश्चित होती है। किन्तु, उपभोक्ता अपनी आय का एक भाग उपभोग की वस्तुओं के साथ-साथ विनियोग पर भी व्यय करते हैं। उपभोक्ता के सम्पूर्ण व्यय का सर्वाधिक प्रमुख निर्धारक तत्त्व मुद्रा की कुल मात्रा है। मुद्रा की कुल मात्रा मे कमी होने से अपस्फीति का सृजन होता है जिससे आर्थिक व्यवस्था मे मन्दी की सृष्टि होती है। मुद्रा की मात्रा मे कमी होने से माग मे कमी होती है। इससे उत्पादक अनुमानित मूल्य पर अपनी वस्तुओ को नहीं बेच पाते। इससे उनके पास वस्तुओं का स्टॉक जमा होने लगता है। अतएव, ये उत्पादन कम करने लगते हैं जिससे बेरोजगारी मे वृद्धि होती है। इसके परिणामस्वरूप आय मे कमी होती है। इस प्रकार मुद्रा की मात्रा मे कमी से मन्दी की सृष्टि होती है। इसके ठीक विपरीत मुद्रा की मात्रा मे वृद्धि से अधिस्फीति का जन्म होता है जिससे तेजी (Boom) की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है। मुद्रा की मात्रा मे वृद्धि से माग मे वृद्धि होती है जिससे वस्तुओं की कीमत बढने लगती है। फलस्वरूप, उत्पादन बढने लगते हैं जिससे रोजगारी बढती है एव आय मे भी वृद्धि होती है। इस प्रकार मुद्रा की मात्रा मे वृद्धि से तेजी का सृजन होता है, अतएव हॉट्रे (Hawtrey) के अनुसार व्यापार-चक्र अधिस्फीति तथा अपस्फीति का प्रतिरूप है।

आधुनिक आर्थिक व्यवस्था मे समाज मे मुद्रा की कुल राशि का एक बहुत बडा भाग बैंक-जमा का होता है। अतएव, अधिस्फीति एव अपस्फीति की सृष्टि मे बैंको का भी प्रधान हाथ है। दूसरे शब्दो मे व्यापार-चक्र का बैंकों की मुद्रा सृजन की नीति से घनिष्ठ सम्बन्ध है और बैंको की मुद्रा सृजन की नीति पर केन्द्रीय बैंको की बैंक-दर नीति का भी महत्त्वपूर्ण प्रभाव पडता है।

बैंको की मुद्रा-सृजन की नीति पर केन्द्रीय बैंक की बैंक दर का प्रभाव किस प्रकार पडता है, इस सम्बन्ध मे हमारे समक्ष दो प्रधान मत हैं—(1) हॉट्रे का विचार, तथा (2) केन्स का विचार। हॉट्रे के अनुसार बैंक-दर मे परिवर्तन का प्रभाव पहले अल्पकालीन मुद्रा-बाजार की दर पर पडता है। जब केन्द्रीय बैंक बैंक दर मे वृद्धि करता है, तो बाजार-दर मे भी इसके साथ-साथ वृद्धि होती है। बाजार-दर मे वृद्धि होने से व्यापारियो (जो बैंको से कर्ज लेकर वस्तुओ का स्टॉक जमा करते हैं) का व्यय बढ जाता है। इससे वे उत्पादकों के यहाँ से वस्तुएँ खरीदना बन्द कर देते हैं। इसके फलस्वरूप ये उत्पादन कम कर देते हैं जिससे बेरोजगारी बढ जाती है, आय मे कमी होने लगती है तथा वस्तुओ का मूल्य भी घटने लगता है। इस प्रकार हॉट्रे के अनुसार बैंक-दर मे वृद्धि से मन्दी का सृजन होता है। ठीक इसके विपरीत जब बैंक-दर घट जाती है तो बाजार-दर भी घट जाती है। इससे व्यापारियो का खर्च कम हो जाता है, उन्हें मुनाफा होने लगता है जिससे वे उत्पादको से अधिक वस्तुएँ खरीदने लगते हैं। इससे उत्पादक उत्पादन मे वृद्धि करते हैं जिससे रोजगार एव आय मे वृद्धि होती है तथा मूल्य-तल भी बढने लगता है। इस प्रकार अधिस्फीति की सृष्टि होती है।

इस प्रकार हॉट्रे (Hawtrey) के अनुसार बैंक-दर मे परिवर्तन होने से व्यापारियो की बैंक-मुद्रा की माग मे परिवर्तन होता है और बैंक मुद्रा की राशि मे परिवर्तन होने से कुल व्यय भी प्रभावित होता है। इसीसे मन्दी अथवा तेजी की सृष्टि होती है। इस प्रकार हाट्रे के अनुसार व्यापार-चक्र की समस्या पूर्णतया मौद्रिक समस्या है। अतएव, मुद्रा के प्रवाह को स्थायी बनाकर आर्थिक व्यवस्था मे स्थायित्व प्रदान किया जा सकता है। किन्तु, मुद्रा की पूर्ति को स्थायी बनाना इतना सुगम नहीं है। हॉट्रे ने व्यापार-चक्र के निदान के लिए केन्द्रीय बैंक एव अन्य बैंको को उत्तरदायी ठहराया है, क्योंकि ये अपने कार्यों से मुद्रा के प्रवाह को स्थायी बना सकते हैं। मुद्रा के

प्रवाह को स्थायी बनाने का अर्थ मुद्रा की पूर्ण राशि को नियन्त्रित करना नही है। मुद्रा के प्रवाह का तात्पर्य यहाँ पूर्ण व्यय से है जिसमे उपभोग-जनित एव उत्पादन-जनित दोनो प्रकार के व्यय शामिल हैं। अतएव, मौद्रिक नीति का प्रधान उद्देश्य उत्पादन के साधनो को स्थायी बनाना होना चाहिए, क्योकि उत्पादन के साधन ही वस्तुओ के मूल्य तल को प्रभावित करते हैं।

आलोचनाएँ :—किन्तु, हॉट्रे के इस सिद्धान्त की बहुत अधिक आलोचना हुई है। इनमे निम्नांकित उल्लेखनीय हैं :—

(1) आलोचको की राय मे ऐसा मान लेना कि व्यापार-चक्र एक मौद्रिक-प्रवृत्ति है तथा इसके कारण एव निदान दोनो ही मौद्रिक हैं, उचित नही जान पडता। उदाहरण के लिए, 1929-30 ई० की भयानक आर्थिक मन्दी के समय मौद्रिक नीति द्वारा मन्दी की समस्याओ के समाधान का प्रयास किया गया तथा इस उद्देश्य से सस्ती मुद्रा-नीति (Cheap Money Policy) अपनायी गयी थी। इस प्रकार की नीति के फलस्वरूप बैंक-दर मे बहुत अधिक कमी की गयी जिससे बाजार-दर मे बहुत अधिक कमी हुई, किन्तु इस नीति का कोई तात्कालिक परिणाम नही हुआ तथा समुत्थान की प्रवृत्ति बहुत बाद मे प्रारम्भ हुई जिसका मुख्य कारण सशस्त्रीकरण था, मौद्रिक नीति नही।

(2) इस सिद्धान्त से यह ज्ञात नही होता कि उपभोक्ता वस्तुओ की तुलना मे पूँजीगत वस्तुओ के उत्पादन मे अत्यधिक घट-बढ क्यो होता है।

(3) हॉट्रे के अनुसार यदि बैंक अपनी साख-मुद्रा की नीति को इस प्रकार आयोजित करें कि अर्थ-व्यवस्था मे विनिमय-माध्यम की पूर्ति स्थिर रहे तो व्यापार-चक्र समाप्त किया जा सकता है, किन्तु ऐसा सम्भव नहीं है, क्योकि विनिमय माध्यम को स्थिर रखना कठिन है। यदि ऐसा हो भी तो केवल ऐसा करने से व्यापार-चक्र की घटना समाप्त नही हो सकती।

अतएव, आधुनिक समय मे व्यापार-चक्र के मौद्रिक सिद्धान्त का महत्त्व बहुत कम हो गया है। उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि मुद्रा वास्तव मे किसी विशेष आर्थिक प्रवृत्ति का कारण नही वरन् परिणाम है। तेजी की स्थिति मे अतिस्फीति बहुत बाद मे शुरू होती है। तेजी की प्रवृत्ति काफी बढ जाने के कारण मूल्य मे वृद्धि शुरू होती है जिससे अधिकाधिक मुद्रा की माग होती है। इस प्रकार मन्दी मे भी अपस्फीति माग मे कमी के कारण होती है। अतएव, मुद्रा मन्दी का कोई विशेष कारण नही है। इससे स्पष्ट है कि व्यापार-चक्र को एक मौद्रिक प्रवृत्ति समझना उचित नही है। किन्तु, इसका तात्पर्य यह नही कि आर्थिक प्रवृत्तियो के पीछे मुद्रा का कोई भी हाथ नही है। मुद्रा एव मौद्रिक नीति का आज भी इस सम्बन्ध मे महत्त्वपूर्ण स्थान है, किन्तु इसे व्यापार-चक्र का एक-मात्र कारण समझना उचित नही है। (Monetary theory emphasises one important variable but leaves too much unexplained)

3. प्रो० हॉब्सन का अति-बचत सिद्धान्त

(The Over-Saving Theory of Hobson)

व्यापार-चक्र के अति बचत सिद्धान्त के प्रतिपादन का श्रेय प्रो० जे० ए० हॉब्सन (J. A Hobson) को है। इस सिद्धान्त के अनुसार व्यापार-चक्रो का अस्तित्व आय के विषम वितरण के कारण है। हॉब्सन के तर्क का क्रम इस प्रकार है—समाज मे दो वर्गों के लोग रहते हैं—धनी वर्ग तथा निर्धन वर्ग। समाज की कुल आय का एक विशाल भाग धनियो को प्राप्त होता है जो अपनी समस्त आय को उपभोग की वस्तुओ पर व्यय नही करते, वरन् इसका एक बडा भाग अपने लिए बचा लेते हैं और इसका उद्योगो मे विनियोग करते हैं। इसके दो परिणाम होते हैं—एक ओर तो उत्पादित वस्तुओ के एक भाग का उपभोग नही हो पाता और दूसरी ओर अधिक विनियोग से उत्पादन की मात्रा मे वृद्धि होती चली जाती है। परिणामतः, एक ऐसी स्थिति आ जाती है जिसमें समस्त उत्पादित वस्तुओ को लाभपूर्ण कीमतो पर नही बेचा जा सकता। इससे लाभ घटता है और लाभ के घटने के कारण धनिको की आय घटती है। आय कम हो जाने पर बचत भी कम हो जाती है जिससे विनियोग भी कम हो जाता है। इसका प्रभाव यह होता है कि उत्पत्ति की मात्रा घट जाती है और उपभोग एव उत्पत्ति की मात्रा लगभग बराबर हो जाती है जिसके

फलस्वरूप कीमतें तथा लाभ बढने लगते हैं। अब पुन. धनिको की आय बढती है, बचत बढती है, विनियोग की मात्रा बढ जाती है और पूर्व वर्णित क्रम का पुनरावर्तन हो जाता है।

आलोचनाएँ —किन्तु, इस सिद्धान्त की भी विभिन्न आलोचनाएँ दी जाती हैं जिनम निम्नांकित उल्लेखनीय हैं—

(क यह सिद्धान्त अवसाद की दशाओ के उत्पन्न होने एव फैलने के कारणों को केवल आंशिक रूप से बतलाता है।

(ख) इस सिद्धात से व्यापार-चक्र की सामयिकता (Periodicity) का कोई स्पष्टीकरण नही होता।

(ग) इस सिद्धान्त का यह तर्क कि बचत की उपलब्धि से विनियोग मे वृद्धि हो जाती है, ठीक नहीं है, क्योकि विनियोग तो भविष्य मे वस्तु की अधिक माग या भविष्य मे एक लाभप्रद बाजार की आशा से किया जाता है। यदि भविष्य मे लाभ प्राप्त होने की आशा नही है, तो बचत होने पर भी विनियोग को प्रोत्साहन नहीं मिलेगा।

४. केन्स का सिद्धान्त

(The Theory of Keynes)

केन्स (Keynes ने व्यापार चक्र की पृथक रूप से व्याख्या नही की है, फिर भी, अपनी पुस्तक "The General Theory of Employment, Interest and Money" में उन्होंने इस बात पर बहुत अधिक प्रकाश डाला है। केन्स ने अपनी General Theory मे रोजगारी (Full employment) के निर्धारक तत्त्वों तथा उसमे वृद्धि या ह्रास के कारणो की व्याख्या की है और जैसा कि हम जानते हैं पूर्ण रोजगारी एव उत्पत्ति मे चक्रीय ह्रास-वृद्धि (Cyclical Fluctuations) को ही व्यापार-चक्र कहते हैं। (Business cycle is nothing more than a rhythmic fluctuation in the overall level of income output and employment) केन्स के अनुसार पूर्ण रोजगारी निम्नलिखित तीन तत्त्वों पर निर्भर करती है :—

(क) पूँजी की सीमान्त उत्पादकता (Marginal Efficiency of Capital,

(ख) तरलता अधिमान (Liquidity Preference), तथा

(ग) उपभोग की प्रवृत्ति (Propensity to consume)।

व्यापार-चक्र के भी उक्त तीनों प्रमुख कारण हैं, किन्तु पूँजी की सीमात उत्पादकता में ह्रास-वृद्धि ही इनमे सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। केन्स के अनुसार व्यापार-चक्र की क्रियाशीलता का मुख्य कारण पूँजी की सीमात उत्पादकता मे होनेवाले उतार चढाव हुआ करते हैं।[1] केन्स के शब्दो मे, 'व्यापार चक्र की आवश्यक प्रकृति, विशेषत समयान्तर की नियमितता जिसके कारण इसे एक चक्र कहा जाता है, की गतिशीलता का मुख्य कारण पूँजी की सीमात क्षमता में परिवर्तन हो है। पूँजी की सीमात उत्पादकता मे जिस प्रकार उतार चढाव आते हैं व्यापार चक्र भी उसी प्रकार चलता है।" (The essential character of the trade cycle and especially the reagularity of time sequence and of duration which justifies us in calling it a cycle, is mainly due to the way in which the marginal efficiency of capital fluctuates The trade cycle is best regarded as being occassioned by a cyclical change in the marginal efficiency of capital though complicated and often aggravated by *associated changes in other significant short period variables* of the economic system)

केन्स की व्याख्या सकट (*Crisis*) की स्थिति से प्रारम्भ होती है। बहुत-से अर्थशास्त्रियों के अनुसार सक्ट का कारण बैंक मुद्रा का अति सकुचन तथा तेजी मे ब्याज दर मे वृद्धि की प्रवृत्ति है। केन्स इस बात को स्वीकार करता है कि ब्याज दर बढने से सकट बढ जाता है या उससे

1 'Fluctuations in the economic activity are caused by fluctuations in the rate of investment And fluctuations in *the rate of investment are caused* mainly by fluctuations in the marginal efficiency of capital"

कभी-कभी संकट प्रारम्भ भी हो सकता है, किन्तु संकट का मुख्य कारण पूँजी की सीमांत क्षमता में कमी, यानी प्रत्याशित मुनाफे की दर में कमी है। ब्याज की दर में वृद्धि उसके बाद होती है पहले नहीं। केन्स के शब्दों में "Liquidity preference, except those manifestations of it, which are associated with increasing trade and speculation, does not increase until after the collapse in the marginal efficiency of Capital."

किन्तु, पूँजी की क्षमता (यानी प्रत्याशित मुनाफे की दर) केवल पूँजी की वर्तमान गति एवं उत्पादन-व्यय पर ही निर्भर नहीं करती, वरन् पूँजी-निर्माण से भावी आय की वर्तमान प्रत्याशा (Current expectation) पर भी निर्भर करती है। जब प्रत्याशित मुनाफे की दर प्रचलित ब्याज की दर से अधिक होती है, तो अधिक पूँजी का निर्माण होता है और जब कम होती है, तो पूँजी का निर्माण भी कम होने लगता है किन्तु भविष्य अनिश्चित एवं अज्ञात होता है। अतएव, प्रत्याशित मुनाफे में आकस्मिक एवं भयावह उच्चावचन (Fluctuations होते रहते हैं। कभी-कभी व्यापारियों के लिए भविष्य अत्यधिक आशाजनक जान पड़ता है, तो कभी निराशाजनक। महँगी के अन्तिम चरण में व्यापारी भविष्य के विषय में इतना अधिक आशावादी होते हैं कि उत्पादन-व्यय एवं ब्याज की दर में वृद्धि के बावजूद वे नयी पूँजी का विनियोग करते हैं। अतएव, शीघ्र ही पूँजी की पूर्ति में अतिशय वृद्धि होने से भविष्य के विषय में उन्हें सन्देह होने लगता है जिससे पूँजी-बाजार में संकट की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। प्रत्याशित मुनाफे की दर में कमी होने से उपभोग की प्रवृत्ति में भी कमी आने लगती है और इस प्रकार मंदी और तीव्र होने लगती है।

एक बार मन्दी आ जाने पर समुत्थान भी बहुत धीरे-धीरे होता है। इसका कारण यह है कि एक बार जब व्यावसायियों में निराशा तथा भय का संचार हो जाता है तो उनमें शीघ्र आशा का संचार करना कठिन हो जाता है। केन्स के अनुसार मन्दी की अवधि दो बातों पर निर्भर करती है—(क) स्थायी पूँजी के औसत जीवन पर, तथा (ख) तरल पूँजी के वहन व्यय पर। जब स्थायी पूँजी घिस जाती है और अतिरिक्त स्टॉक की खपत हो जाती है तब नयी पूँजी की माँग एवं निर्माण पुनः शुरू होने लगता है जिससे समुत्थान की शुरुआत होती है।

संक्षेप में, केन्स ने व्यापार-चक्र की इसी प्रकार से व्याख्या की है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि केन्स का सिद्धान्त व्यापार चक्र के सभी पहलुओं की सतोषप्रद ढंग से व्याख्या नहीं करता, फिर भी, केन्स के सिद्धान्त की, व्यापार-चक्र के अन्य सिद्धान्तों से, तुलना की जा सकती है। केन्स यह नहीं मानता कि व्यापार-चक्र एक मौद्रिक प्रवृत्ति है या इसके लिए केवल मौद्रिक उपचार ही पर्याप्त है। फिर भी, वह मानता है कि मन्दी के निवारण के लिए सस्ती मुद्रा-नीति (Cheap money policy) सहायक हो सकती है या बैंक-मुद्रा के अधिक संकुचन से महँगी मन्दी के रूप में बदली जा सकती है। इस प्रकार केन्स का सिद्धांत पीगू (Pigou) के मनोवैज्ञानिक सिद्धांत से मिलता जुलता है। पीगू के अनुसार व्यापार-चक्र का कारण व्यापारियों में बारी-बारी से आशा एवं निराशा का संचार होना है। जब व्यवसायियों में आशावाद का संचार होता है, तो तेजी होती है और निराशावाद का संचार होता है तो मन्दी होती है। केन्स भी इसी प्रकार मानता है कि व्यापार चक्र का कारण आशावाद एवं निराशावाद की भूलों का बारी-बारी से होना है. किन्तु व्यापार-चक्र का कारण केवल व्यापारियों की चचल प्रवृत्ति ही नहीं है। इस प्रकार केन्स के मन्दी का सिद्धांत व्यापार-चक्र के न्यून उपभोग (under-consumption) के सिद्धान्त से मिलता-जुलता है। इसके अनुसार बेकारी का कारण न्यून-उपभोग या अति-बचत (over-saving) है। केन्स मानता है कि मन्दी का एक कारण न्यून-उपभोग है और यह भी मानता है कि बिना धन के समान वितरण के बेकारी को दूर करना कठिन है किन्तु इन दोनों सिद्धान्तों में अन्तर है। केन्स के अनुसार विनियोग की प्रवृत्ति से बचत की प्रवृत्ति अधिक होने पर मन्दी तथा कम होने पर तेजी होती है। यदि बचत विनियोग के बराबर हो, तो व्यापार चक्र नहीं होगा। न्यून-उपभोग के सिद्धान्त में बेकारी का एक मात्र उपाय धन का समान वितरण माना गया है। केन्स भी धन के समान वितरण के पक्ष में है, किन्तु इसे वह अप्रामाणिक उपाय मानता है। केन्सीय सिद्धान्त एवं न्यून-उपभोग में यही मौलिक अन्तर है।

केन्स के अनुसार, व्यापार-चक्र की क्रियाशीलता के कारणों को निम्न चार्ट द्वारा अधिक स्पष्ट किया गया है—
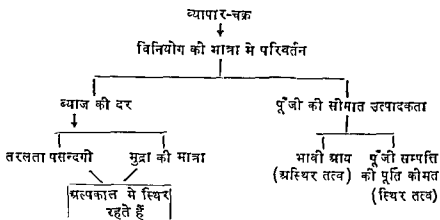
आलोचनाएँ (Criticisms) —इसमे कोई सदेह नही कि केन्स का सिद्धान्त व्यापार-चक्र की सतोषजनक तरीके से व्याख्या करता है, किन्तु फिर भी, इसे दोषरहित नही कहा जा सकता। वास्तव मे, इसके विरुद्ध निम्नाकित प्रमुख आलोचनाएँ दी जाती हैं—

(1) केन्स के सिद्धात के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि आर्थिक व्यवस्था को दो प्रमुख शक्तियाँ प्रभावित करती हैं—पहली ब्याज की दर और दूसरी पूँजी की सीमान्त उत्पादकता। केन्स के अनुसार ब्याज की दर मे पर्याप्त मात्रा मे कमी के द्वारा अर्थ-व्यवस्था को मन्दी से मुक्त किया जा सकता है। किन्तु, वास्तव मे ब्याज की दर का विनियोग पर बहुत कम प्रभाव पडता है। **बेन्हम** (Benham) का इस सम्बन्ध मे निम्नाकित कथन सत्य के बिल्कुल समीप है 'साहसी अपने पुराने व्यवसाय मे तभी वृद्धि अथवा नये व्यवसाय को तभी स्थापित करने का प्रयास करते हैं जबकि वे भविष्य मे माग में वृद्धि की आशा करते हैं जिससे वे अपने अधिक उत्पादन को अधिक मूल्य पर बेचकर अधिक लाभ कमा सकते हैं।" (Entrepreneurs will expand their business or start new ones only if they expect demand for their product to increase or the costs of making and selling them to diminish sufficiently for them to sell a greater output than before at a profit) । क्राउथर (Crowther) के अनुसार भी ब्याज की दर का विनियोग पर कोई विशेष प्रभाव नही पडता। क्राउथर ने ब्याज की नीची दर को पानी तथा साहसी को घोडे से उपमा देते हुए लिखा है कि घोडे को पानी के पास ले जाया जा सकता है, किन्तु यदि वह प्यासा नही है तो पानी पीने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता।

(2) **द्वितीयत**, केन्स के अनुसार पूँजी की सीमान्त उत्पादकता का विनियोगी वर्ग पर बडा गहरा प्रभाव पडता है। किन्तु, केन्स इस बात की व्याख्या नही करते कि पूँजी की सीमान्त उत्पादकता किन-किन बातो पर निर्भर करती है। केन्स के अनुसार यह मुख्य रूप से विनियोजको की मनोभावना (Psychology) पर निर्भर करती है। यदि यह सत्य है तो यह कहा जा सकता है कि केन्स का सिद्धान्त पीगू के व्यापार चक्र के मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त के ही समान है। (Keynes' theory in a way is essentially a psychological theory and like other psychological theories it does not explain the real factors that cause changes in the business expectations)

(3) **तृतीयत**, मन्दी एव बेरोजगारी के निराकरण के लिए केंस ने सरकार द्वारा नियन्त्रित विनियोग की नीति का समर्थन किया है, किन्तु आलोचकों के अनुसार यदि इस नीति को स्वीकार कर लिया जाय तो सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था उन सरकारी अधिकारियो के हाथ मे चली जायगी जो न तो पूर्णत विवेकशील होते हैं और न उन्हे पूर्ण ज्ञान ही रहता है। वास्तव मे, ग्रेट ब्रिटेन मे केन्स के इस उपचार को काम मे लाया गया था जिसमे उसे अत्यधिक हानि उठानी पडी थी।

(4) **अंततः**, केन्स का सिद्धान्त यह बतलाने मे भी असमर्थ है कि व्यापार-चक्र बार-बार एक नियत समय पर ही क्यो आते हैं तथा उनका एक नियत मार्ग क्यो बना हुआ है?

किन्तु, उपरोक्त आलोचनाओं के बावजूद यह कहा जा सकता है कि व्यापार-चक्र के सिद्धांत मे केन्स का योगदान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रहा है।

5. मकड़ी जाला सिद्धान्त
(The Cobweb Theory)

वर्तमान शताब्दी के तीसावाले दशक मे विकसित कौबवेब सिद्धात चक्रीय उच्चावचनो की गत्यात्मक व्याख्या प्रस्तुत करता है। इसके पूर्व विकसित व्यापार-चक्र के सभी सिद्धान्त स्थैतिक प्रकृति के थे तथा ये अर्थ-व्यवस्था की गतियो के अध्ययन की ओर कोई ध्यान नही देते थे किन्तु, यह सिद्धात समायोजन प्रक्रिया की गत्यात्मक व्याख्या का एक उत्तम उदाहरण प्रस्तुत करता है। यद्यपि कौबवेब सिद्धात शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम 1934 ई० मे प्रो० काल्डोर ने किया था तथापि इस सिद्धान्त का प्रतिपादन लगभग एक ही समय तीन प्रमुख अर्थशास्त्रियो—हेनरी स्लज (Henry Schultz), टिंबरजेन (Tinbergen) तथा आर्थर हनो (Arthur Hanau) ने किया था। यह सिद्धात समय अन्तराल की धारणा पर आधारित है। -

इस सिद्धात के अनुसार माग की बदलती हुई परिस्थितियाँ, जो मूल्य-परिवर्तन के रूप मे व्यक्त होती हैं, मे समायोजन शीघ्र नही होकर कुछ समय बाद होता है। पूर्ति का माग के साथ समायोजन होने मे जो समय लगता है उसे 'lag' कहते हैं। इस प्रकार समय की किसी अवधि t मे उपलब्ध कुल पूर्ति की मात्रा इसके पूर्व की अवधि t—1 मे प्रचलित मूल्य का परिणाम होती है जबकि माग की मात्रा इसकी t अवधि मे प्रचलित मूल्य का परिणाम होती है। साराश यह है कि मूल्य मे परिवर्तन का पूर्ति पर प्रभाव शीघ्र नहीं पड़कर कुछ समय बाद मे पडता है।

इस सिद्धात के प्रयोग का प्रधान क्षेत्र कृषि-पदार्थ हैं जिनकी पूर्ति को घटाने या बढाने मे थोडा समय लगता है। बहुत सी फसलें वर्ष मे एक बार तैयार होती है। उदाहरण के लिए, यदि दिसम्बर मे कपास की कीमत बढ जाय तो इसकी पूर्ति को शीघ्र नहीं बढाया जा सकता, वरन् इसके क्षेत्र मे अगले मौसम मे वृद्धि कर ही इसकी पूर्ति बढायी जा सकती है। ऐसी स्थिति मे 1969 ई० मे कपास की पूर्ति उस मूल्य पर निर्भर करेगी जो 1968 ई० मे प्रचलित थी। प्रो० टिम्बरजेन ने इस सिद्धान्त को उन टिकाऊ वस्तुओं के उत्पादन पर प्रयुक्त किया है जिनकी पूर्ति को दीर्घ गर्भावधि के कारण माग के अनुसार पर्याप्त समय के बाद ही समायोजित किया जा सकता है।

कौबवेब निम्नांकित तीन प्रकार के होते हैं—(i) अनुबद्ध मकडी जाले (Continuous cobwebs), (ii) केन्द्राभिमुख मकडी-जाले (Converging cobwebs), तथा (iii) केन्द्र-विचलन मकडी-जाले (Diverging cobwebs)। अनुबद्ध मकडी जाले मे मूल्य तथा उपज के सामयिक उतार-चढाव सतुलन के चारों ओर समान स्तर पर स्वय को दुहराते हैं। केन्द्राभिमुख अथवा एक केन्द्र पर मिलनेवाले मकडी के जालो की स्थिति मे यदि अर्थ व्यवस्था कभी अपने सतुलन की स्थिति से हट जाती है तो इसमे उच्चावचनो के क्रम के द्वारा पुन सतुलन की स्थिति प्राप्त करने की प्रवृत्ति पायी जाती है। इसमे प्रत्येक उच्चावचन अपने पूर्व के उच्चावचन की अपेक्षा छोटा होता है। ऐसा तब होता है जबकि पूर्ति वक्र माग वक्र की अपेक्षा अधिक ढालुवाँ होती है। इसके विपरीत केन्द्र से विचलित होनेवाले मकडी जाले की स्थिति तब उत्पन्न होती है जबकि किसी कारणवश अर्थ-व्यवस्था एक बार अपनी सतुलन की स्थिति से हट जाती है तो यह सतुलन को पुन प्राप्त करने के स्थान पर अधिक उतार चढावों से फँस जाने के कारण सतुलन की स्थिति से अधिकाधिक दूर हटती जाती है। ऐसा उस समय होता है जबकि माग-वक्र पूर्ति वक्र की अपेक्षा अधिक ढालुवाँ होती है।

आलोचनाएँ —किन्तु, व्यापार-चक्र के अन्य सिद्धातो की तरह इस सिद्धान्त की भी कुछ अपनी त्रुटियाँ हैं। सर्वप्रथम तो, यह सिद्धान्त केवल तभी लागू होता है जबकि (i) मूल्य उपलब्ध पूर्ति के द्वारा निर्धारित होते हैं, (ii) जबकि उत्पादन केवल मूल्य के द्वारा निर्धारित होता है जैसा कि पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति मे होता है, तथा (iii) जबकि उत्पादन में एक निश्चित समय के पूर्व परिवर्तन सम्भव नहीं है। यह सिद्धान्त इस अवास्तविक मान्यता पर आधारित है कि 1969 ई० में किसान जिस फसल की खेती करता है उसकी मात्रा 1968 ई० में प्रचलित कीमत

पर निर्भर करती है। इसमें कोई सदेह नही कि 1969 ई० में किसी फसल की खेती के पूर्व किसान 1968 ई० में इसके प्रचलित मूल्य को ध्यान में रखता है, किन्तु इसके अतिरिक्त वह और भी कई बातो को ध्यान मे रखता है। इतना ही नहीं, इस सिद्धान्त से यह भी स्पष्ट होता है कि एक बार सन्तुलन भग हो जाने पर चक्रो का एक कभी नही समाप्त होनेवाला सिलसिला प्रारम्भ हो जाता है। किन्तु, वास्तव मे हम इस बात को नही पाते। अनुभव से यह स्पष्ट है कि स्थिर प्रकार के मकडी के जाले मे भी किसान लाभ तथा हानि का अनुभव करता है।

इस प्रकार इस सिद्धान्त के विरुद्ध भी बहुत सारी आलोचनाएँ दी जाती हैं, किन्तु इन आलोचनाओ के बावजूद कृषि-पदार्थों के मूल्य में उच्चावचनो की व्याख्या के लिए यह सिद्धान्त विशेष महत्त्व का है।

6. हैयक (Hayek) का व्यापार-चक्र-सम्बन्धी सिद्धान्त

(Hayek's Theory of Trade Cycle)

प्रो० हैयक ने व्यापार-चक्र के अधिक विनियोग सिद्धात (Over-Investment Theory of Trade cycle) का प्रतिपादन किया है। यह सिद्धान्त भी मुद्रा की ब्याज-दर पर ही आधारित है। प्रो० हैयक के अनुसार व्यापार-चक्र अर्थ व्यवस्था मे अधिक विनियोग के परिणामस्वरूप, जो बैंको द्वारा कम ब्याज की दर पर अधिक साख-निर्माण के कारण होता है, उत्पन्न होते हैं। उनके अनुसार जब बाजार की ब्याज-दर (Market rate of interest) वास्तविक ब्याज की दर (natural rate of interest) से कम अथवा अधिक होती है तो अर्थ व्यवस्था मे क्रमश: तेजी (boom) अथवा मन्दी का सृजन होता है। जब बाजार की ब्याज-दर वास्तविक ब्याज की दर से कम होती है तो अर्थ-व्यवस्था मे विनियोग की मात्रा कुल उपलब्ध ऐच्छिक बचत की मात्रा की तुलना मे अधिक हो जाती है। कुल उपलब्ध ऐच्छिक बचत एव विनियोग के इस अन्तर को बैंको द्वारा साख-मुद्रा के निर्माण से पूरा किया जाता है। जैसे-जैसे समाज मे कुल विनियोग की मात्रा समाज मे कुल ऐच्छिक बचत की मात्रा से अधिक होती जाती है, बचत तथा विनियोग की असमानता मे वृद्धि होती जाती है और बैंक बचत की कमी को ऋणो एव अग्रिमो के द्वारा पूरा करते हैं। इस प्रकार साख-निर्माण की प्रक्रिया तबतक चलती रहती है जबतक कि बैंको के साख निर्माण की सीमा समाप्त नही हो जाती। इस सीमा के बाद बैंक साख का निर्माण करना बन्द कर देते हैं जिससे विनियोग की गति सहसा समाप्त हो जाती है तथा मन्दी प्रारम्भ हो जाती है। इस प्रकार हैयक के अनुसार व्यापार-चक्र उत्पादन की प्रक्रियाओ की इस लम्बाई (Lengthening) अथवा छोटाई (Shortening) का परिणाम होता है जो स्वय साख की मात्रा पर निर्भर करता है।

किन्तु हैयक के सिद्धान्त की भी आलोचना की जाती है। इस सिद्धान्त का सर्वाधिक प्रमुख दोष यह बतलाया जाता है कि इसके द्वारा हम यह नही समझ पाते कि मन्दी की असाधारण स्थिति तथा पूर्ण रोजगार एक दूसरे से किस प्रकार सम्बन्धित है। साथ ही, हैयक के अनुसार ब्याज की दर आर्थिक व्यवस्था मे अस्थिरता को जन्म देती है, किन्तु ऐसा कहना सदा उचित नही जँचता।

7. शुम्पीटर का सिद्धान्त या नवीन प्रक्रिया सिद्धान्त

(Schumpeter's Theory Or The Innovation Theory)

प्रो० शुम्पीटर ने नये परिवर्तनो को व्यापार-चक्र का कारण माना है।[1] इसके अनुसार

1. शुम्पीटर के सिद्धान्त का सार उनके निम्नांकित कथन से स्पष्ट हो जाता है—"The booms consist in the carrying out of innovations in the industrial and commercial organism. By innovations, I understand such changes of the combination of the factors of production as cannot be affected by infinitesimal steps or variations on the margin. They consist primarily in changes in methods of production and transportation, or in changes in industrial organisation, or in the production of a new article, or in opening up of new markets or of new sources of material. The recurring periods of prosperity of the cyclical movements are the form that progress takes in a capitalistic society"

अर्थ-व्यवस्था में सदा कुछ नवीन प्रक्रियाएँ (Innovations) उत्पन्न होती हैं जो व्यापार-चक्र की जननी कही जा सकती हैं (Innovations are the originating cause of cyclical movements in a capitalistic society)। ये प्रक्रियाएं निम्नलिखित पांच प्रकार की होती हैं :—

1. नवीन उत्पादन का प्रारम्भ,
2. उत्पादन की नवीन विधियों का अपनाया जाना,
3. नये बाजार की प्राप्ति,
4. उत्पादन के किसी नये साधन का विकास तथा
5. व्यापार सगठन के रूप मे परिवर्तन।

उपरोक्त नवीन प्रक्रियाओ में से प्रत्येक प्रक्रिया के कारण व्यापारिक सस्थाओं के आर्थिक तथा व्यापारिक अनुमान भी परिवर्तित हो जाते हैं जिससे व्यापार की मात्रा मे परिवर्तन हो जाता है और इन सभी परिवर्तनो के कारण उत्पादन-व्यय में भी परिवर्तन होता है। इसके फलस्वरूप उत्पादक तथा व्यापारियो को उत्पादन-चक्र मे बहुत-से परिवर्तनो का सामना करना पड़ता है जिससे उनकी माग वक्र की अन्तिम रूप-रेखा ही अनिश्चित हो जाती है। इस प्रकार शुम्पीटर् के अनुसार प्रत्येक नवीन प्रक्रिया अर्थ व्यवस्था मे कुछ असन्तुलन उत्पन्न कर देती है जिससे उस प्रणाली को पुन. किसी नये सतुलन की स्थिति पर सामजस्य मे लाना पड़ता है। नवीन प्रक्रिया के प्रभावो की व्याख्या एक पूर्ण रोजगारवाली अर्थ-व्यवस्था के आधार पर किया जा सकता है। अब मानलिया कि नवीन प्रक्रिया अर्थ-व्यवस्था मे किसी नये उत्पादन के रूप मे वर्त्तमान है, तब इन नये उद्योगो के लिए नयी-नयी मशीनो तथा साज-सज्जा आदि की आवश्यकता होगी। यह उसी समय सम्भव है जबकि अन्य उद्योगो मे उत्पादन की मात्रा कम की जाय, क्योकि पूर्ण प्रतियोगिता की मान्यता के कारण उत्पादन के साधनो की प्रत्येक इकाई को पूर्ण रोजगार प्राप्त है। अतएव, इससे उत्पादन के साधनों की माग बढ जायगी, माग बढने से इनका पारितोषिक बढ जायगा और पारितोषिक बढने से पुराने उद्योगो मे भी उत्पादन व्यय बढ जायगा। साथ ही पुरान उद्योग की वस्तुओ की पूर्ति भी कम हो जायगी, क्योकि इनमे उत्पादन के साधनो की मात्रा कम हो जाने से इनके उत्पादन की मात्रा कम हो जायगी। दूसरी ओर, उत्पादन के साधनो के पारितोषिक मे वृद्धि होने से लोगो की क्रय शक्ति बढ जायगी जिससे वे अधिक मात्रा मे खर्च करने के लिए तैयार होंगे जिससे पुरानी वस्तुओ की माग बढ जायगी। इस प्रकार पुरानी वस्तुओ की माग मे वृद्धि तथा पूर्ति मे कमी होने से इनकी कीमत बढ जायगी जिससे इनका उत्पादन अत्यधिक लाभदायक हो जायगा। इससे उत्पादन बढता है, रोजगार बढता है तया मूल्य मे वृद्धि होती है और इस प्रकार तेजी (boom) की स्थिति उत्पन्न हो जाती है, किन्तु कुछ समय बाद जब नयी वस्तुएँ बाजार मे आती हैं तो वे पुरानी वस्तुओ से प्रतियोगिता करने लगती हैं। उपभोक्ता अपनी आय का एक अश नयी वस्तुओ के उपभोग पर भी व्यय करने लगता है। इससे पुरानी वस्तुओ की माग घट जाती है जिससे इन उद्योगो मे उत्पादन के साधनो की माग भी कम हो जाती है और बाजार मे मन्दी की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। इसका नयी वस्तुओ की माग पर भी प्रतिकूल प्रभाव पडता है। इस तरह कुछ ही समय बाद सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था मे मन्दी की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

उपरोक्त विवेचन से शुम्पीटर के व्यापार-चक्र के सिद्धात को निम्नांकित विशेषताओ का पता चलता है :—

(i) नव प्रवर्तन व्यापार चक्र का मौलिक कारण है।

(ii) जब उपक्रमी व्यवसाय मे नव-प्रवर्तनो को प्रयुक्त करने के लिए विनियोग करते हैं तो व्यापार चक्र का श्रीगणेश होता है।

(iii) नव प्रवर्तन के लिए वित्त-प्राप्ति बैंक द्वारा ऋण लेकर किया जाता है।

(iv) नव-प्रवर्तन निरतर रूप मे वर्त्तमान नहीं रहता, वरन् समय-समय पर भारी व्यय के रूप मे होता है जिससे व्यापार-चक्र निरतर नही होकर अनियमित रूप से आते हैं।

(v) शुम्पीटर के सिद्धान्त मे साम्य की धारणा का अत्यधिक महत्त्व है। साम्य की आदर्श अवस्था से ही समृद्धि का प्रारम्भ होता है।

(vi) प्रत्येक नया साम्य आर्थिक व्यवस्था को विकास की एक नयी और उच्चतर अवस्था पर ला देता है।

(vii) और, इस प्रकार व्यापार-चक्र अपने को चक्रीय प्रक्रिया के रूप मे व्यक्त करता है।

आलोचनाएँ :—किन्तु, व्यापार-चक्र के अन्य सिद्धातो की तरह शुम्पीटर का सिद्धात भी दोषपूर्ण है। अतः इसकी निम्नांकित आलोचनाएँ दी जाती हैं :—

(1) शुम्पीटर के अनुसार केवल नव-प्रवर्तन ही व्यापार चक्र के लिए मुख्य रूप से उत्तरदायी है और अन्य बातें गौण हो जाती हैं, परन्तु वास्तविकता यह नही है। वास्तव मे, नव-प्रवर्तन व्यापार-चक्र के कई कारणो मे से केवल एक है।

(2) इस सिद्धात की आलोचना करते हुए हैयक ने ठीक ही कहा है कि व्यापार-चक्र की पेचीदी घटना को केवल नवीन प्रक्रियाओ के आधार पर ही नही समझाया जा सकता। वास्तव मे, अर्थ-व्यवस्था मे मदी केवल नवीन प्रक्रियाओ द्वारा उत्पन्न अस्थिरता पर ही नही, वरन् अन्य कारणो पर भी निर्भर करती है।

(3) शुम्पीटर का सिद्धान्त दो निम्नलिखित दोषपूर्ण मान्यताओ पर आधारित है—(क) अर्थ-व्यवस्था मे साधनो की पूर्ण रोजगारी, (ख) बैंक-साख के द्वारा नवीन परिवर्तनो के लिए सम्पूर्ण धन-राशि की प्राप्ति, किन्तु जैसा कि हम जानते हैं समाज मे पूर्ण रोजगार की स्थिति केवल विशेष परिस्थितियो मे ही पायी जाती है। साथ ही, इतिहास से यह स्पष्ट होता है कि नव-प्रवर्तन के लिए वित्त बैंको से प्राप्त नही किया जाता, बैंक तो केवल अल्पकालीन ऋण प्रदान करते हैं।

(4) शुम्पीटर के अनुसार किसी देश की आर्थिक प्रगति कुछ उपक्रमियो की योग्यता का परिणाम है, परन्तु सिद्धान्त से यह स्पष्ट नही होता कि योग्यता जैसे मानवीय तत्त्व को चक्रीय रूप किस प्रकार प्रदान किया जा सकता है।

इससे स्पष्ट है कि शुम्पीटर का सिद्धान्त व्यापार-चक्र की सही रूप से व्याख्या नही कर सकता, किन्तु शुम्पीटर के सिद्धान्त मे निम्नांकित दो बातें तथ्ययुक्त हैं—(क) सर्वप्रथम तो, नव-परिवर्तन विकास की प्रक्रिया का एक अनिवार्य अंग है तथा (ख) द्वितीयतः, आर्थिक विकास मे व्यापारियो का योगदान अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है।

8. हिक्स का सिद्धान्त

(Hick's Theory)[1]

हिक्स (Hicks) की सुप्रसिद्ध पुस्तक 'A contribution to the theory of trade cycles' सन् 1950 ई० मे प्रकाशित हुई। इसमे उसने व्यापार-चक्र के एक नये सिद्धात का प्रतिपादन किया। प्रो० हिक्स के अनुसार व्यापार-चक्र गुणक (Multiplier) तथा तीव्र गतिशीलता (Acceleration के मिश्रित प्रभावो के कारण उत्पन्न होते हैं। (Cyclical fluctuations can be attributed to the combined effects of multiplier action and the principle of acceleration) I हिक्स के शब्दो मे विनियोग दो प्रकार के होते हैं—(क) स्वतः (Autonomous) तथा (ख) प्रोत्साहित (Induced)। इनमे से पहले प्रकार का विनियोग उत्पादन मे परिवर्तनो से स्वतन्त्र होता है। Autonomous investment consists of these types of investments which are independent of changes in output.) हिक्स ने इस प्रकार के विनियोग को एक निश्चित दर पर बढते हुए माना है जिससे सारी प्रणाली प्रगतिशील सतुलन की स्थिति मे रहती है, बशर्ते कि इसके सतुलन के मार्ग मे कोई रुकावट नही हो। इसके विपरीत प्रोत्साहित विनियोग वह होता है जो उत्पादन की मात्रा मे परिवर्तनो के फलस्वरूप होता है। (Induced investment consists of those types of investment which are induced by changes in output) वास्तव मे, उत्पादन की मात्रा मे वृद्धि से इस प्रकार के विनियोग को प्रोत्साहन मिलता है। यह तीव्र गतिशीलता का सिद्धान्त (Principle of Acceleration) है।

1—हिक्स ने 1950 में प्रकाशित अपनी 'A Contribution to the Theory of the Trade Cycle' नामक पुस्तक में व्यापार-चक्र के एक नये सिद्धान्त की व्याख्या की है।

विनियोग का मात्रा एव द्राव्यिक आय-स्तर (Level of money income) मे बहुत ही घनिष्ठ सम्बन्ध है जिससे कि विनियोग की मात्रा द्राव्यिक आय पर निर्भर करती है। अतः स्वतः विनियोग की मात्रा के अनुसार द्राव्यिक आय का एक निश्चित स्तर होता है और आय तथा विनियोग का यह अनुपात गुणक (multiplier) एव तीव्र गतिशीलता के सिद्धान्त (acceleration principle) का निर्णायक होता है। इससे स्पष्ट है कि द्राव्यिक आय मे ठीक उसी दर से वृद्धि होती है जिस दर से स्वत विनियोग की दर मे वृद्धि होती है।

अब, मानलिया कि किसी कारणवश, जैसे किसी नये आविष्कार के कारण, स्वतः विनियोग की दर मे वृद्धि हो गयी है और थोडी देर के पश्चात् इस वृद्धि के समाप्त हो जाने पर विनियोग अपनी पुरानी जगह पर आ जाता है, किन्तु प्रोत्साहित विनियोग अधिक ही बना रहेगा और उस पर आधारित उत्पादन की मात्रा भी बढती ही जायगी। ऐसा तबतक होता है जबतक कि यह अधिकतम सीमा तक नही पहुँच जाय। इससे अधिक इसमे वृद्धि नही हो सकती। एक बार अधिकतम सीमा तक पहुँचने के थोडी देर बाद हो इसे एक झटके से दूर होना पडता है और इस प्रकार पुनः इसकी गतिविधि नीचे की ओर हो जाती है। [When the path has encountered the ceiling, it must (after a little) bounce up from it and begin to move in a downward direction.] हिक्स के अनुसार यह नीच की ओर की गति-विधि अनिवार्य है, क्योंकि उत्पादन की मात्रा अधिकतम सोमा से अधिक नही बढ सकती। अतएव, प्रोत्साहित विनियोग, जो इस दर पर उत्पादन की मात्रा मे वृद्धि के कारण सम्भव हुआ था, उत्पादन की मात्रा मे वृद्धि बनाये रखने मे समर्थ नही हो सकता और इस कारण उत्पादन नीचे की ओर मुडने लगता है और एक बार जहाँ उत्पादन मे कमी प्रारम्भ हुई तो इसकी गतिविधि अधिकाधिक बढती ही जाती है। हिक्स के अनुसार ऐसा मौद्रिक तथ्यो के कारण हो होता है। ज्योंही उत्पादन मे नीचे की ओर आने की प्रवृत्ति प्रारम्भ होती है, त्योंही वस्तुओ का बेचना कठिन हो जाता है। इससे एक के बाद दूसरे फर्म शीघ्र दिवालिया होने लगते हैं, लोगो की तरलता पसन्दगी बढ जाती है जिसका साख-निर्माण पर प्रतिकूल प्रभाव पडता है। साख-निर्माण मे कठिनाई से व्यापारिक गतिविधियाँ और भी कम हो जाती हैं और यह कमी निम्नतम सीमा तक पहुँच जाती है। इस प्रकार मन्दी (depression) को स्थिति भी बहुत ही बिगड जाती है।

(क) मौद्रिक नीति (Monetary Policy),
(ख) तटकर नीति (Fiscal Policy) तथा
(ग) अन्तर्राष्ट्रीय उपाय (International Measures)।

आलोचना :—किन्तु, हिक्स के सिद्धान्त की भी कई कारणो से आलोचना की जाती है। प्रो० कालडोर (Kaldor) के अनुसार हिक्स के व्यापार-चक्र के सिद्धान्त की सबसे बडी कमजोरी *गतिशीलता के सिद्धान्त (Principle of Acceleration) का प्रयोग है जो स्वय एक अपूर्ण* सिद्धान्त है। अत इससे किसी ठोस व्याख्या की आशा नही की जा सकती।

व्यापार-चक्र के निदान

(Remedies of Trade Cycle)

व्यापार-चक्र आर्थिक व्यवस्था मे अस्थिरता उत्पन्न कर सकट की स्थिति ला देता है जो समाज के हितो के लिए घातक सिद्ध होता है। पहले इस बात की व्याख्या की जा चुकी है कि तेजी Boom) की स्थिति मे व्यापारियो एव कृषको को बहुत अधिक लाभ होता है, किन्तु निश्चित आयवालो को अत्यधिक कठिनाइयो का सामना करना पडता है। इसी प्रकार मन्दी (Slump) की स्थिति मे व्यापारियो एव किसानो को अत्यधिक हानि होती है तथा बेकारी के कारण श्रमिको को भी भीषण कठिनाइयो का सामना करना पडता है। साराश यह है कि व्यापार-चक्र समाज के विभिन्न वर्गों को भिन्न-भिन्न रूप मे प्रभावित करता है। इस आर्थिक अव्यवस्था के कारणो को दूर करने के ई प्रयत्न किये गये हैं, किन्तु अभी इस सम्बन्ध मे बहुत ही कम सफलता मिल पाई है। इसके कई कारण हैं—जैसे मन्दी की मुसीबतो को मन्दी की समाप्ति के बाद व्यक्ति तथा सरकार पूर्ण रोजगार की प्राप्ति के कारण भूल जाते हैं जिससे वे मन्दी के निराकरण के प्रयासो मे ढिलाई कर देते हैं। द्वितीयत, श्रमिको एव उनके प्रतिनिधि तथा साहसी इस कठिन समस्या

को भली प्रकार समझने का प्रयास नही करते हैं। और अन्ततः सभी प्रकार के व्यापार-चक्र मे कुछ न-कुछ नवीनता अवश्य होती है जिससे समस्या का उचित निदान प्राप्त नहीं हो पाता।

फिर भी, व्यापार चक्र को रोकने अथवा इनके प्रभावो को कम करने के लिए भिन्न भिन्न व्यक्तियो द्वारा अनेक सुझाव दिये गये हैं जिनमें निम्नांकित उल्लेखनीय हैं—

(1) मौद्रिक नीति (Monetary Policy).—इसके निदान के रूप मे सबसे अधिक मौद्रिक नीति (Monetary Policy) का प्रयोग किया जाता है। मौद्रिक नीति के अन्तर्गत ऋण, सूद की दर, मौद्रिक प्रमाण (Monetary Standard), सार्वजनिक ऋण तथा इसके प्रबन्ध से सम्बन्धित बैंकिंग तथा साख-नीति (Banking and Credit Policy) सम्मिलित हैं। यह साख की मात्रा (Volume of Credit base) को प्रभावित करता है। साख-नीति मे परिवर्तन करके केन्द्रीय बैंक साख की मात्रा तथा मुद्रा की पूर्ति कम या अधिक कर सकता है। इस प्रकार सामान्य मूल्य-स्तर (General level of prices) और आर्थिक क्रिया Economic activity) को भी प्रभावित किया जा सकता है। यह कार्य बैंक दर (Bank Rate) तथा खुले बाजार की क्रियाओं (Open Market operations) द्वारा सम्पादित किया जाता है। तेजी काल मे बैंक-दर मे वृद्धि कर दी जाती है जिससे साख-विस्तार पर रोक लग जाती है। परिणामस्वरूप, व्यापारिक क्रिया (Business activity) भी मन्द पडने लगती है।

मन्दीकाल (Depression मे सस्ती मुद्रा नीति (Cheap Money policy) अपनायी जा सकती है ताकि विनियोग प्रोत्साहित हो सके तथा पुनर्जीवन (Recovery) को बल मिल सके।

साख-नियन्त्रण के दो उपाय हैं—

(i) परिमाणात्मक नियन्त्रण (Quantitative control) तथा

(ii) गुणात्मक नियन्त्रण (Qualitative control)।

परिमाणात्मक नियन्त्रण का उद्देश्य साख की मात्रा मे कमी और वृद्धि करना होता है। यह नियन्त्रण बैंको के सुरक्षित कोष को प्रभावित करके किया जा सकता है। गुणात्मक नियन्त्रण मे बैंक यह निर्धारित करता है कि किस कार्य के लिए ऋण प्रदान किया जाय और किस कार्य के लिए न दिया जाय।

बहुत दिनो तक मौद्रिक नीति को महत्त्व मिलता रहा परन्तु इस नीति की कुछ सीमाएँ हैं। इनकी सफलता कुछ मान्यताओ पर निर्भर करती है। यह आवश्यक नही होता कि बैंक-दर कम या अधिक होने से अन्य बैंक भी अपने सूद की दर कम या अधिक कर दें। आजकल बैंक अधिकतर अपने ही साधनों पर निर्भर रहते हैं। इसलिए, केन्द्रीय बैंक की बैंक-दर नीति का अधिक प्रभाव उन पर नही पडता। देश मे तेजीकाल के समय बैंक दर अधिक होने पर भी साख की माँग अधिक होने के कारण बैंक साख अधिक प्रदान करते है। इसके विपरीत मन्दीकाल मे सूद की दर कम होने पर भी कोई मुद्रा उधार लेने के लिए तैयार नही होता ('The horse may be taken to water but it may refuse to drink')। अतएव मात्र मौद्रिक नीति का सहारा लेना उपयुक्त नही है।

(2) मूल्य-नियन्त्रण (Price Control). कुछ अर्थशास्त्रियो के अनुसार मूल्य-नियन्त्रण (Price Control) की नीति के द्वारा व्यापार-चक्र की समस्या का निदान किया जा सकता है, क्योंकि ऐसा करने से लाभ पर नियन्त्रण करके व्यापारियो को व्यापार के आकार मे वृद्धि करने से रोका जा सकता है, परन्तु यह देखने मे आया है कि मूल्यो मे किसी प्रकार की वृद्धि हुए बगैर भी व्यापारी अपने व्यापार के पैमाने मे वृद्धि कर लेते हैं।

(3) बेरोजगारी बीमा की व्यवस्था—कुछ अर्थशास्त्रियो के विचार मे व्यापार-चक्र को रोकने के लिए बेकारी को रोकना चाहिए। ऐसा करने के लिए आवश्यक है कि सरकार बेरोजगारी बीमा की एक व्यापक योजना अपनाये। इस उद्देश्य के लिए प्रत्येक देश की सरकार को एक बेरोजगारी कोष स्थापित करना चाहिए जिसके द्वारा मन्दीकाल मे श्रमिको को वेतन दिया जा सके। निस्सदेह यह योजना सैद्धान्तिक दृष्टि से तो ठीक दिखायी पडती है परन्तु इसे व्यावहारिक रूप देते समय अनेक प्रकार की प्रशासनिक एव वित्तीय कठिनाइयाँ उत्पन्न हो जाती हैं।

(4) प्रशुल्क नीति (Fiscal Policy). आर्थर स्मिथिज (Arthur Smithies) के

अनुसार "प्रशुल्क नीति वह नीति है जिसमें सरकार अपने व्यय तथा आगम के कार्यक्रमो को राष्ट्रीय आय, उत्पादन तथा रोजगार पर इच्छित प्रभाव डालने एव अवाछित प्रभावो को रोकने के लिए प्रयुक्त करती है।" (Fiscal Policy is a policy under which government uses its expenditure and revenue programmes to produce desirable effects and to avoid undesirable effect on national income production and employment) तीसा की भयानक मदी के पश्चात व्यापार-चक्रो के निदान के उद्देश्य से प्रशुल्क नीति (Fiscal Policy) को प्रयोग मे लाया जाने लगा है। इगलैंग मे स्वर्गीय लार्ड केन्स तथा अमेरिका म प्रो० हैनसन इस नीति के मुख्य समर्थक रहे हैं। इस नीति के अन्तर्गत सरकार मदी की अवधि मे अधिक मात्रा मे व्यय करके बेकारी समाप्त करने की चेष्टा करती है। मदीकाल मे सरकार सडकें, पार्क बांध, अस्पताल इत्यादि समाज कल्याण से सम्बन्धित सार्वजनिक कार्यों पर अधिक व्यय आरम्भ कर देती है। इसके विपरीत तेजी की स्थिति में सरकार अपने व्यय मे भारी मात्रा मे कमी करके मूल्यो, उत्पादन एव रोजगार इत्यादि मे स्थिरता लाने का प्रयत्न करती हैं। इस प्रकार मदी के समय मे आय से अधिक व्यय एव तेजी के समय मे आय की तुलना मे कम व्यय करके सरकार अर्थ-व्यवस्था मे स्थिरता स्थापित करने का प्रयत्न करती है। सयुक्त राज्य अमेरिका मे स्वर्गीय राष्ट्रपति रूजवेल्ट के प्रशासनकाल मे तीसा के प्रारम्भ मे अपनायी गयी न्यु डील (New Deal) की नीति तथा फ्रास का ब्लम प्रयोग (Blum Experiment) इस नीति के प्रयोगो के वास्तविक उदाहरण हैं। इन देशो मे इस प्रकार के कार्य करने के कारण व्यापार, उत्पादन एव रोजगार की स्थिति में सुधार हुआ और अर्थ-व्यवस्था पूर्ण रोजगार की दिशा मे उन्नति करने लगी थी।

प्रशुल्क-नीति के अन्तर्गत करो के परिवर्तन के द्वारा भी निजी व्यय को प्रभावित करके राष्ट्रीय आय एव रोजगार को प्रभावित किया जा सकता है। जब सरकार इस उद्देश्य से कोई नया कर लगाती है या पुराने करो मे वृद्धि करती है तो जनता के पास खर्च के लिए कम ही रकम बच जाती है। इससे उपभोग व्यय कम होता है तथा कुल व्यय मे कमी होती है जिसके परिणाम-स्वरूप राष्ट्रीय आय एव रोजगार मे कमी आती है। यदि अर्थ-व्यवस्था म पहल से ही तेजी की स्थिति है तो करो की वृद्धि से स्फीतिजनक परिस्थितियो को कम करने मे सहायता मिलती है। इसके विपरीत मदी निराकरण के उद्देश्य से सरकार करो म कमी कर लोगो के पास खर्च करने योग्य आय को बढाती है। इससे इनके कुल उपभोग-आय मे वृद्धि होती है जिससे राष्ट्रीय आय एव रोजगार मे वृद्धि होती है तथा अपस्फीतिजनक परिस्थितियाँ समाप्त होती हैं।

परन्तु, प्रशुल्क नीति के प्रयोग के सम्बन्ध मे कई कठिनाइयाँ उत्पन्न हो जाती हैं। सर्व-प्रथम तो, यह आवश्यक है कि सरकारी व्यय का प्रभाव निजी उद्योग तथा अर्थ-व्यवस्था पर खराब नही पडना चाहिए। इसका व्यावहारिक अर्थ यह है कि सरकार को केवल समाज-कल्याण के कार्यों पर ही व्यय करना चाहिए जिससे कि सरकारी व्यय का व्यक्तिगत क्षेत्र मे विनियोग पर बुरा प्रभाव न पडे। द्वितीयत, अधिक व्यय को सम्भव बनाने के लिए अतिरिक्त आय इस प्रकार से प्राप्त की जानी चाहिये जिससे कि समाज मे व्यक्तियो की आय पर इसका कोई बुरा प्रभाव न पडे।

(5) विनियोजन नीति (Investment Pol cy) :—व्यापार-चक्रो की गति एव तीव्रता को नियन्त्रित करने के लिए सरकार द्वारा देश म विनियोगो के नियन्त्रण का सुझाव दिया जाता है। विनियोग नियत्रण से उपभोक्ता एव पूँजीगत वस्तुओ का उत्पादन एक सीमा के अन्तर्गत रहता है जिससे मूल्य मे अत्यधिक ह्रास की आशका नही उत्पन्न होती और इसीलिए प्रसार की स्थिति नहीं आने पाती। शुम्पीटर का इस सम्बन्ध म यह सुझाव है कि अत्यन्त समृद्धिकाल मे सरकार का विनियोजन नही करना चाहिये। इसके विपरीत अवसाद अथवा सकट की स्थिति मे सरकार को सडको, नहरो तथा अन्य सार्वजनिक कार्यों म अत्यधिक मात्रा म पूँजी लगानी चाहिए। प्रो० हैनसन ने भी अवसाद को ग्रस्त करने के लिए दीर्घकालीन निर्माण की योजनाएँ कार्यान्वित करने का सुझाव दिया है।

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि व्यापार चक्र जैसी पेचीदी समस्या के निदान का कोई एक सरल उपाय नही है। वास्तव मे, यह बहुत ही गम्भीर समस्या है। हैनसन (A H Hansen) के विचारानुसार "व्यापार-चक्र वर्तमान अर्थ-व्यवस्था की एक ऐसी विचित्र विशेषता

है कि इस पर नियन्त्रण करना कोई सरल कार्य नहीं है। व्यापार-चक्र उन्नतशील एवं प्रवैगिक समाज की ऐसी निहित विशेषता है जिसकी उपस्थिति का मुख्य कारण अर्थ-व्यवस्था में विनियोग क्रिया के आकार में होनेवाले निरन्तर परिवर्तन हैं। ये परिवर्तन उस समय भी विद्यमान रहेंगे जबकि अर्थ-व्यवस्था की स्वस्थ अवस्था हो जायगी।" (The business cycle is an unruly behaviour characteristic of the modern economy It will be no easy task to bring it under control. And it is not a pathological behaviour pattern It is an inherent characteristic of a dynamic progressive society which can only be understood by analysing the factors underlying the intermittent surges of investment activity These will occur, more or less, even though the society is healthy with respect to such structural arrangements as tax structure, wage-price balance, industrial relations etc.)[1] गत कुछ वर्षों मे जब-जब व्यापार-चक्र की घटना विद्यमान हुई है, तब तब मौद्रिक एवं प्रशुल्क नीतियो का एक साथ प्रयोग किया गया है तथा इसमे सफलता भी मिली है। कार्ल मार्क्स जसे कुछ विचारक तो पूँजीवादी व्यवस्था मे व्यापार-चक्रोंट के उतार-चढाव को बिल्कुल अनिवार्य मानते हैं। अतएव, इनके अनुसार इस बुराई को दूर करने का सबसे उपयुक्त उपाय यह है कि पूँजीवादी व्यवस्था का ही अन्त कर दिया जाय।

वास्तव मे, ध्यानपूर्वक विचार करने से सामान्यत इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि "विश्व को इस अभिशाप से मुक्त करने के लिए एक-मात्र सम्भाविक उपाय समाजीकृत उत्पादन व्यवस्था (Socialised Production) है जिसमे निजी लाभ के स्थान पर सामाजिक हित अथवा लाभ पर अधिक ध्यान दिया जाता है।"

विशेष अध्ययन-सूची

1. Crowther : An Outline of Money, Chapter III
2. Keynes : The General Theory of Employment Interest and Money, Chapter-XXII.
3. Halm : Economics of Money and Banking, Chapters XXXIV and XXXV.
4. Hansen : Fiscal Policy and Business Cycles.

—: o —

1. A H Hansen Monetary Theory and Fiscal Policy.

बैंकिंग सम्बन्धी कुछ स्मरणीय उद्धरण

1 Credit may be defined "as the right to receive payment or the obligation to make payment on demand at some future time on account of the immediate transfer."

2 "Bank is an establishment which makes to individuals such advances of money as may be required and safely made and to which individuals entrust money when not required by them for use" —*Kinley*

3 "Adventure is the life of commerce, but caution, if not timidity is the essence of modern banking." —*Bagehot*

4 "A central bank is a bank regulating the volume of currency and credit" —*Bank of International Settlements*

5. "Clearing house is a general organisation of banks of a given place having as its main purpose the offsetting of cross obligation in the form of cheques" —*Taussig*

6. "The money market is the collective name given to various firms and institutions that deal in various grades of near money" —*Crowther*

अध्याय : 15

व्यावसायिक बैंकों का संगठन

(Organisation of Commercial Banks)

प्राक्कथन —आज के औद्योगिक युग मे बैंको का बडा ही महत्वपूर्ण स्थान है। ये आधुनिक समाज की कई प्रकार से सेवा करते हैं जिनकी व्याख्या हम पहले ही कर चुके हैं। बैंको की इन सवाओ का हमारे आर्थिक जीवन मे इतना अधिक महत्व है कि उन्हें आधुनिक आर्थिक व्यवस्था की धुरी कहा गया है। वास्तव मे, बैंकिंग व्यवस्था समाज के आर्थिक जीवन का एक प्रमुख अग है।

विभिन्न देशो की बैंकिंग प्रणाली म बहुत अन्तर पाया जाता है, किन्तु गत कुछ वर्षों से प्रत्येक देश की बैंकिंग प्रणाली एक खास पद्धति की ओर विकसित हो रही है। इसे केन्द्रीय-बैंकिंग प्रणाली (Central Banking System) कहते हैं। आजकल विश्व के प्राय सभी देशो की बैंकिंग प्रणाली का सगठन इसी ओर अग्रसर हो रहा है। **इस प्रणाली के निम्नलिखित तीन मुख्य अग हैं** :-

(1) केन्द्रीय बैंक (Central Bank),
(2) व्यावसायिक बैंक (Commercial Bank), तथा
(3) अन्य सहायक सस्थाएँ जो केवल किसी खास प्रकार की साख का व्यवसाय करती हैं। (Other ancillary institutions dealing in certain restricted types of credit)।

केन्द्रीय बैंक एवं व्यावसायिक बैंकों में, वास्तव में, कुछ मौलिक भेद हैं। सर्वप्रथम तो, प्रत्येक देश मे एक ही केन्द्रीय बैंक होता है, जैसे—रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया (Reserve Bank of India) भारत का तथा बैंक ऑफ इगलैंड (Bank of England) ग्रेट ब्रिटेन का केन्द्रीय बैंक है। इसकी कुछ शाखाएँ भी हो सकती हैं किन्तु इसकी सख्या बहुत ही कम होती है। इसके विपरीत व्यावसायिक बैंक अनेक होते हैं। **द्वितीयत**, व्यावसायिक बैंक एक मुनाफा कमानेवाली सस्था (Profit-seeking institution) होता है। अतएव, इस प्रकार के बैंको का मुख्य उद्देश्य मुनाफा कमाना होता है किन्तु केन्द्रीय बैंक का मुख्य उद्देश्य मुनाफा कमाना नही, वरन् देश की मौद्रिक एव आर्थिक नीति को कार्यान्वित करना होता है। **तृतीयत** व्यावसायिक बैंक जनता के साधारण बैंकिंग-सम्बन्धी कार्यों को करते हैं, किन्तु केन्द्रीय बैंक का जनता से प्रायः कोई सम्पर्क नही होता। इसका कार्य देश की बैंकिंग व्यवस्था का नियन्त्रित करना होता है।

शाखा एवं एकक बैंकिंग प्रणाली

(Branch and Unit Banking System)

संगठन के दृष्टिकोण से विश्व मे दो प्रकार की बैंकिंग प्रणालियाँ पायी जाती हैं :—

(1) *शाखा बैंकिंग प्रणाली (Branch Banking System) तथा,*
(2) एकक बैंकिंग प्रणाली (Unit Banking System)।

(1) **शाखा बैंकिंग प्रणाली** (Branch Banking System) .—शाखा बैंकिंग-पद्धति मे एक बैंक की बहुत-सी शाखाएँ (Branches) होती हैं जो सम्पूर्ण देश मे या देश के एक बहुत बडे भाग मे विस्तृत होती हैं। प्रो० **सेयर्स** (Sayers) के अनुसार, "**अधिकाश देशों में व्यावसायिक बैंक एक बहुत बडी सस्था है जिसकी बहुत भारी शाखाएँ होती हैं जो देश के भिन्न भिन्न भागो में विस्तृत होती हैं।**" (The typical commercial bank in most countries is a very large institution having a large number of branches scattered over much, if not all over the country.) इस प्रकार की प्रणाली का प्रमुख इगलैंड की बैंकिंग प्रणाली है। इगलैंड के 'पाँच महान' (Big Five)—(1) मिडलैंड बैंक (Midland Bank,), (2) वेस्ट मिन्स्टर बैंक (Westminster Bank), (3) बर्कलेज बैंक (Barclays Bank), (4) लॉयड बैंक (Lloyds Bank), तथा (5) नेशनल प्रोविंसियल बैंक (National

Provincial Bank) की शाखाएँ देश भर में फैली हुई हैं। भारत की बैंकिंग प्रणाली का सगठन भी मुख्यतः शाखा बैंकिंग प्रणाली के आधार पर ही हुआ है। भारत मे भी पाँच प्रमुख व्यावसायिक बैंको के अन्तर्गत स्टेट बैंक ऑफ इन्डिया (State Bank of India), सेन्ट्रल बैंक ऑफ इण्डिया (Central Bank of India), पजाब नेशनल बैंक (Punjab National Bank), एलाहाबाद बैंक (Allahabad Bank), तथा बैंक ऑफ बड़ौदा (Bank of Baroda) की शाखाएँ देश भर मे विस्तृत है।[1]

(2) **एकक बैंकिंग प्रणाली (Unit Banking System)** :—इसके विपरीत एकक बैंकिंग प्रणाली उस प्रणाली को कहते है जिसमे बैंको की कोई शाखा नही होती या यदि होती भी है तो एक निश्चित क्षेत्र मे ही सीमित रहती है। (In the unit banking system, bank's operations are confined in general to a single office though some have branches limited to a small part of the country.) इस प्रकार की प्रणाली का *अगुआ सयुक्त राज्य अमेरिका की बैंकिंग प्रणाली है। वहाँ बैंको का कार्य मुख्यतः एक ही* कार्यालय तक सीमित रहता है, यद्यपि कुछ राज्यो मे बैंको को एक सीमित क्षेत्र मे शाखाएँ खोलन का अधिकार भी रहता है। वहाँ की शाखाएँ सम्पूर्ण देश मे नही रह सकती। इस पर कानूनी प्रतिबन्ध है। अमेरिका के विभिन्न राज्यो तथा सघ के पृथक-पृथक बैंकिंग अधिनियम है, किन्तु शाखा खोलने के सम्बन्ध मे राज्य तथा सघ दोनो के कानूनो द्वारा प्रतिबन्ध लगाये गये है। अमेरिका मे इस प्रकार के कानूनी प्रतिबन्ध का मुख्य कारण बैंकिंग के क्षेत्र मे मौद्रिक एकाधिकार (Money Trust) की स्थापना का भय है। इसी भय से अमेरिका-निवासी प्रारम्भ से ही शाखा-बैंकिंग प्रणाली की स्थापना के विरुद्ध हैं। यही कारण है कि वहाँ पर शाखा बैंकिंग का विकास नही हो पाया है। सयुक्त राज्य अमेरिका मे एकक बैंकिंग प्रणाली की प्रधानता का अन्दाजा इस *बात से लगाया जा सकता है कि 1946 ई० मे अमेरिका मे कुल 14,000 व्यावसायिक बैंक थे जबकि* इनकी शाखाओ की सख्या देश भर मे चार हजार से भी कुछ कम ही थी।

शाखा एवं एकक बैंकिंग प्रणाली के गुण एवं दोष

(Merits and Demerits of Branch and Unit Banking System)

शाखा एव एकक बैंकिंग प्रणाली के गुण-दोषो की विवेचना के पूर्व इस बात की जानकारी आवश्यक है कि इन दोनो प्रणालियो के बीच वाद-विवाद का सम्बन्ध बड़े पैमाने तथा छोटे पैमाने के व्यवसाय अथवा केन्द्रीकरण एव विकेन्द्रीयकरण जैसे महत्त्वपूर्ण आर्थिक, राजनीतिक एव सामाजिक प्रश्न से है जिसके सम्बन्ध मे तर्क के आधार पर किसी निष्कर्ष पर पहुँचना बहुत ही कठिन है।[2] वास्तव मे, इन दोनो प्रणालियो के अपने-अपने पृथक्-पृथक् गुण एव दोष हैं।

शाखा बैंकिंग प्रणाली के गुण (Merits of the Branch Banking System) :—*सर्वप्रथम, शाखा बैंकिंग प्रणाली के गुणो की विवेचना की जायगी। शाखा बैंकिंग प्रणाली के* **निम्नलिखित प्रधान गुण हैं :—**

1. शाखा बैंकिंग-प्रणाली में बड़े पैमाने के उत्पादन एवं श्रम-विभाजन के सभी **लाभ प्राप्त होते हैं** :—शाखा बैंकिंग प्रणाली वृहत् प्रमाप उद्योग की तरह है। इस प्रणाली मे बैंक का कारोबार बहुत बड़े पैमाने पर होता है। अतएव, इसे बड़े पैमाने के व्यवसाय से होनेवाले प्रायः सभी लाभ प्राप्त होते हैं। बहुत बड़े पैमाने पर बैंक का सगठन होने के कारण इस प्रणाली

1. *अब ये सभी बैंक राष्ट्रीयकृत होने के कारण राजकीय क्षेत्र के अन्तर्गत आ गये हैं।*

2. "The debate over unit and branch banking is really a part of those large controversies—which are not solely economic but are for a large part political and sociological, over large scale business versus small scale business, or over centralisation versus decentralisation. Arguments have not ever succeeded in settling these issues either one way or the other, nor does the actual experience point unerringly in one direction Here as elsewhere society has to fashion its instruments of economic organisation empirically and through reasonable response to particular situations, for neither abstract wisdom nor the lesson of experience can help in with readymade solutions."

मे श्रम-विभाजन एव विशिष्टीकरण का उपयोग भी सम्भव हो पाता है। इसमे बैंक अपने विभिन्न कार्यो के सम्पादन के लिए विशेषज्ञो को रख सकता है। इस प्रणाली मे कोई व्यक्ति केवल जमा पर ध्यान देता है, तो कोई कर्मचारियो की नियुक्ति पर, कोई नकद जमा देखता है, तो कोई कर्ज आदि की व्यवस्था करता है। इससे व्यवस्थापन मे विशिष्टीकरण सम्भव हो पाता है। इस प्रकार शाखा बैंकिंग-प्रणाली मे कार्य-सम्पादन का व्यय बहुत कम होता है। इसके विपरीत एकक बैंकिंग-प्रणाली लघु-प्रमाप व्यवसाय की तरह होती है। अतएव, इसमे श्रम-विभाजन एव विशिष्टीकरण के लाभ सम्भव नही हो पाते। इसलिए, इस प्रणाली मे कार्य-सम्पादन का व्यय अपेक्षाकृत अधिक पडता है।

2 शाखा बैंकिंग प्रणाली में अपेक्षाकृत कम ही नकद कोष (Less Cash Reserve) रखना पडता है :—आधुनिक युग मे बैंको की सफलता बहुत कुछ पर्याप्त मात्रा मे नकद कोष पर निर्भर करती है। शाखा बैंकिंग प्रणाली मे बैंको की शाखाएँ देश भर मे विस्तृत रहती हैं, अतएव, इस प्रणाली मे कोई बैंक कम मात्रा मे नकद मुद्रा रखकर भी अपना कार्य चला सकता है, क्योकि आवश्यकता पडने पर बैंक की एक शाखा से रुपया दूसरी शाखा मे सुगमतापूर्वक हस्तान्तरित किया जा सकता है। इस प्रकार शाखा बैंकिंग प्रणाली मे नकद कोष की मितव्ययिता (Economy of cash reserves) का गुण पाया जाता है, किन्तु एकक बैंकिंग पद्धति मे शाखाएँ नहीं होने के कारण (या कम होने के कारण) बैंको को अपने कार्य-सम्पादन के लिए अधिक मात्रा मे नकद जमा रखना पडता है, किन्तु सयुक्त राज्य अमेरिका मे Correspondent Banking system की प्रथा के द्वारा एकक बैंकिंग प्रणाली की यह असुविधा भी बहुत हद तक दूर हो जाती है। इसके अनुसार वहाँ के छोटे-छोटे बैंक अपने आस-पास के बडे-बडे बैंको से तथा ये बडे बडे बैंक न्यूयार्क एव शिकागो जैसे प्रधान व्यावसायिक केन्द्र के बैंको से अपना सम्बन्ध रखते हैं।

3 शाखा बैंकिंग प्रणाली मे मुद्रा को स्थानान्तरित (Remittance of money) करने की सुविधा रहती है :—शाखा बैंकिंग पद्धति मे एक स्थान से दूसरे स्थान मे मुद्रा का स्थानातरण सस्ता, शीघ्र एव सरल होता है, क्योकि एक शाखा केवल दूसरी शाखा को सलाह देकर ही यह कार्य सुगमतापूर्वक कर सकती है। एकक बैंकिंग प्रणाली को यह सुविधा उपलब्ध नही रहती है, किन्तु अमेरिका के बैंक पिछले कुछ वर्षो से Correspondent Banking प्रणाली के द्वारा अपने ग्राहको को यह सुविधा प्रदान करते हैं। फिर भी, एकक बैंकिंग पद्धति मे मुद्रा के स्थानातरण का व्यय अपेक्षाकृत अधिक पडता है, क्योकि जब कोई बैंक किसी दूसरे बैंक के पास अपना कोष इस कार्य के लिए रखता है तो उस पर कोई मुनाफा नही मिलता।

4. शाखा बैंकिंग प्रणाली में जोखिम का भौगोलिक वितरण (Geographical distribution of risks) सम्भव हो पाता है :—शाखा बैंकिंग पद्धति का एक प्रमुख लाभ जोखिम का भौगोलिक वितरण है। आजकल किसी देश की आर्थिक व्यवस्था अत्यधिक गतिशील होती है तो जिससे तेजी तथा मन्दी (Booms and Depression) का सृजन होता है। साधारण मन्दी का शाखा एव एकक दोनो प्रकार की बैंकिंग प्रणालियो पर प्राय एक समान प्रभाव पडता है, किन्तु कभी-कभी यह देखा जाता है कि फैशन तथा रुचि आदि मे परिवर्तन एव कुछ अन्य कारणो से कुछ खास उद्योग मन्दी से बहुत अधिक ग्रसित हो जाते हैं। ऐसी स्थिति मे मन्दी से प्रभावित उद्योग का स्थानीयकरण विशेष रूप से हुआ हो तो उस उद्योग-विशेष के क्षेत्र मे स्थित सभी एकक बैंको को बहुत ही हानि उठानी पडती है, किन्तु शाखा बैंकिंग प्रणाली के साथ ऐसी बात नही है, क्योकि इस प्रणाली मे बैंको की शाखाएँ सम्पूर्ण देश मे विस्तृत रहती हैं। अतएव, एक शाखा अथवा स्थान की हानि का दूसरी शाखा अथवा स्थान के लाभ से समायोजन (Adjustment) किया जा सकता है।

5. शाखा बैंकिंग प्रणाली में कर्जदारों की साख के सम्बन्ध में जानकारी सुगम होती है :—शाखा बैंकिंग पद्धति मे बैंक की शाखाएं सम्पूर्ण देश मे विस्तृत रहती हैं जिससे कर्जदारो की साख एव आर्थिक स्थिति के सम्बन्ध मे बैंको को पूरी जानकारी रहती है। साथ ही, यदि कोई बैंक किसी ग्राहक को कर्ज देने से इन्कार करना चाहता है तो स्थानीय व्यवस्थापक प्रधान कार्यालय पर इसकी जिम्मेदारी टालकर सुगमतापूर्वक यह कार्य कर सकता है।

शाखा बैंकिंग प्रणाली के दोष (Demerits of Branch Banking System) :—इस प्रकार एकक बैंकिंग प्रणाली की तुलना मे शाखा बैंकिंग प्रणाली के बहुत-से लाभ हैं, अतः यह

निश्चय ही श्रेयस्कर है, किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि शाखा बैंकिंग प्रणाली के केवल लाभ-ही-लाभ हैं, दोष बिल्कुल नही है। वास्तव मे, शाखा बैंकिंग प्रणाली के निम्नलिखित दोष भी हैं—

(1) शाखा बैंकिंग प्रणाली में बड़े पैमाने के उत्पादन के प्राय. सभी दोष पाये जाते हैं :—इस सम्बन्ध मे भी आदम स्मिथ का यह प्रमुख कथन कि *"श्रम-विभाजन बाजार के आकार से सीमित होता है" (Division of labour is limited by the extent of the market)* बिल्कुल सही जान पडता है। एक निश्चित आकार से बडा होने के बाद शाखा बैंकिंग प्रणाली मे प्रबन्ध, निरीक्षण एव नियन्त्रण की अनेक समस्याएँ उत्पन्न हो जाती हैं। दूसरे शब्दो मे, शाखा बैंकिंग प्रणाली मे विशालकाय उद्योगो के प्राय सभी दोष पाये जाते हैं।

(2) शाखा बैंकिंग प्रणाली एक व्ययपूर्ण प्रणाली है :—इस प्रकार की प्रणाली मे प्रत्येक शाखा की स्थापना पर अलग-अलग बहुत अधिक व्यय करना पडता है। साधारणत. यह देखा जाता है कि एक ही स्थान मे सभी बैंक अपनी-अपनी शाखाओ की स्थापना करना चाहते हैं। इससे इस प्रणाली मे बैंकिंग सेवाओ का अनावश्यक रूप से दुहराव होता है। शाखाओ की सख्या बढने से *नियन्त्रण का कार्य कठिन हो जाता है।*

(3) शाखा बैंकिंग प्रणाली प्रतियोगी विकास को प्रोत्साहित करती है—प्रत्येक नगर तथा क्षेत्र मे सभी बैंक अपनी-अपनी अलग-अलग शाखाएँ रखना चाहते हैं। इससे इनके बीच *प्रतियोगिता घनीभूत (Cut-throat Competition) हो जाती है। इस प्रकार की प्रतियोगिता* एक अच्छी बैंकिंग प्रणाली के विकास के लिए मुख्यतः हानिकारक सिद्ध होती है।

(4) शाखा बैंकिंग प्रणाली से मौद्रिक क्षेत्र में एकाधिकार की प्रवृत्ति को भी अनावश्यक प्रश्रय मिलता है :—पूँजी के अत्यधिक केन्द्रित होने से आर्थिक सत्ता कुछ थोडे से व्यक्तियो के हाथ मे केन्द्रित हो जाती है जिससे समाज की बहुत बडी हानि होती है।

(5) शाखा बैंकिंग प्रणाली में लोच (elasticity, एवं प्रारम्भण की प्रेरणा का अभाव (Lack of Initiative) पाया जाता है :—शाखा बैंकिंग प्रणाली मे बैंक का प्रधान कार्यालय शाखाओ के कार्य-क्षेत्र एव ग्राहकों से अधिक दूर स्थित रहता है जिससे शाखाओ पर उचित *नियन्त्रण नहीं रह पाता। साथ ही, किसी शाखा का मैनेजर भी प्रधान कार्यालय की अनुमति के* बगैर कोई प्रमुख निर्णय नही ले सकता। इससे आवश्यक कार्यों मे भी अति विलम्ब होता है।

एकक बैंकिंग प्रणाली के गुण (Merits of the Unit Banking System) :—किन्तु, एकक बैंकिंग प्रणाली के भी कुछ गुण हैं। *शाखा बैंकिंग प्रणाली की तुलना मे एकक बैंकिंग प्रणाली* के निम्नलिखित प्रमुख लाभ है :—

(1) एकक बैंकिंग प्रणाली में बैंक व्यवस्थापक स्थानीय परिस्थितियों से पूर्णत परिचित रहता है :—एकक बैंकिंग प्रणाली मे एक बैंक अपने कार्य को एक क्षेत्र-विशेष में ही सीमित रखता है जिससे वहाँ की स्थानीय परिस्थितियों एव समस्याओ से वह पूर्ण रूप से परिचित रहता है। *अतएव, अपने ग्राहको की साख-प्रियता (Creditworthiness) के सम्बन्ध मे भी उसे* व्यक्तिगत जानकारी रहती है। इससे कर्ज आदि देने मे वे अपने व्यक्तिगत अनुभव से लाभान्वित होते हैं।

(2) एकक बैंकिंग प्रणाली में प्रबन्ध एवं नियन्त्रण की सुविधा होती है :—एकक बैंकिंग प्रणाली के अन्तर्गत बैंक का कार्य बहुत छोटे पैमाने पर होता है। अतएव, लघु-प्रमाप व्यवसाय की तरह *इसमे भी प्रबन्ध एवं नियन्त्रण की सुविधा पायी जाती है। व्यवस्थापक के व्यक्तिगत* निरीक्षण मे ही सम्पूर्ण कार्य होता है जिससे किसी भी प्रकार की बरबादी नही हो पाती, किन्तु शाखा बैंकिंग प्रणाली में बैंक का कार्य बहुत बडे पैमाने पर होने के कारण व्यक्तिगत निरीक्षण एवं सहयोग की भावना का बिल्कुल अभाव पाया जाता है।

(3) एकक बैंकिंग प्रणाली को **छोटे पैमाने के व्यवसाय के प्रायः सभी लाभ** प्राप्त होते हैं।

(4) एकक बैंकिंग प्रणाली बैंकिंग व्यवसाय के क्षेत्र मे **एकाधिकार** की प्रवृत्ति को रोकती है। इसका प्रधान कारण यह है कि इसमे बैंको का सगठन बहुत ही छोटे पैमाने पर होता है।

(5) एकक बैंकिग प्रणाली क अन्तर्गत **अकुशल बैंक अधिक समय तक जीवित नहीं रह सकते हैं।**

एकक बैंकिग प्रणाली के दोष (Demerits of the Unit Banking System) —एकक बैंकिग प्रणाली के निम्नलिखित प्रधान दोष भी हैं --

(1) एकक बैंकिग प्रणाली मे **जोखिम के भौगोलिक वितरण** (Geographical distribution of risks) **का अभाव** पाया जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि स्थानीय मन्दी अथवा अन्य कठिनाइयो के कारण बहुत से बैंको के टूट जाने की सम्भावना उत्पन्न हो जाती है।

(2 एकक बैंकिग प्रणाली मे व्यवसाय का आकार छोटा होने के कारण बैंको के प्रबन्ध मे कुशलता एव कार्य-विधि सम्बन्धी सुधार लाने में भी कठिनाई होती है।

(3) एकक बैंकिग प्रणाली के अन्तर्गत बैंको के पास साधनो का अभाव रहता है जिसके परिणामस्वरूप ये स्थानीय आर्थिक विकास मे यथोचित सहयोग नही प्रदान कर सकते हैं।

(4) एकक बैंकिग प्रणाली मे **नकद मुद्रा के हस्तांतरण में भी असुविधा** होती है।

निष्कर्ष —इस प्रकार इन दोनो प्रकार की प्रणालियो के अध्ययन से यह स्पष्ट है कि यद्यपि इन दोनो के अपने-अपने पृथक्-पृथक् गुण एव दोष हैं, फिर भी, एकक बैंकिग प्रणाली की अपेक्षा शाखा बैंकिग प्रणाली ही अधिक उत्तम है। अतएव आधुनिक जगत म बैंकिग विकास की प्रवृत्ति शाखा बैंकिग प्रणाली के विकास की ओर ही रही है। अमेरिका मे वहा की विशेष निजी परिस्थितियो के कारण शाखा पद्धति का विकास नही हो सकता, किन्तु इसके अतिरिक्त विश्व के प्राय सभी देशो मे व्यावसायिक बैंको का सगठन मुख्यत इगलैंड की बैंकिग प्रणाली, यानी शाखा बैंकिग पद्धति के सगठन के आधार पर ही हो रहा है। इस सम्बन्ध मे **प्रो० सेयर्स** (Sayers) का निम्नांकित कथन विशेष रूप से उल्लेखनीय है 'In all these ways, the economies of large scale organization have undoubtedly been extending in banking during recent decades"

भारत एव शाखा बैंकिग प्रणाली (India and the Branch Banking System) —अब प्रश्न यह है कि भारत के लिए इनमे से कौन-सी प्रणाली अधिक उपयुक्त होगी। एकक एव शाखा बैंकिग प्रणालियो के गुण एव दोषो के विवेचन से यह स्पष्ट है कि भारत के लिए भी शाखा बैंकिग प्रणाली ही श्रेयस्कर होगी। अतएव कुछ वर्षों से हमारे देश मे भी बैंकिग विकास की प्रवृत्ति शाखा बैंकिग प्रणाली की ओर ही रही है किन्तु देश के विभिन्न भागो मे भाषा, रीति रिवाज तथा रहन सहन आदि की विभिन्नता के कारण बैंक शाखाओ की स्थापना मे कठिनाइयो का अनुभव करते हैं। फिर भी जून 1974 ई० के अन्त मे देश मे कुल 73 अनुसूचित बैंक (Scheduled Banks) थे जिनकी शाखाओ की सख्या 16,936 थी। इनमे से राजकीय क्षेत्र के बैंको की 13 741 शाखाएँ थी। इनमे केवल स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया तथा इसके सहायको की कुल 4,724 शाखाएँ थी तथा 14 राष्ट्रीयकृत बैंकों की 9 017 शाखाएँ थी। इससे स्पष्ट है कि भारतीय बैंकिग व्यवस्था भी मुख्यत शाखा बैंकिग प्रणाली की ओर ही उन्मुख है।

विभिन्न देशों मे व्यावसायिक बैंकों का संगठन

व्यावसायिक बैंको के सम्बन्ध मे विशेष जानकारी प्राप्त करने के पूर्व कुछ प्रमुख देशो मे इनके सगठन के विषय मे जानकारी आवश्यक है।

इगलैंड—इगलैंड के व्यावसायिक बैंको के विकास का इतिहास बहुत ही प्राचीन है। 18वी शताब्दी के प्रारम्भ मे वहाँ व्यावसायिक बैंको का सगठन बहुत छोटे पैमाने पर हुआ था। उस समय प्राय सभी बैंको को नोट छापने का अधिकार प्राप्त था। बैंक ऑफ इगलैंड भी उस समय एक ज्वायट-स्टाक बैंक ही था। नोट छापने के अधिकार के कारण बहुत सारे बैंको की स्थापना हुई किन्तु इनकी कार्य-प्रणाली पर उचित नियन्त्रण के अभाव मे यदा कदा अधिस्फीति की स्थिति उत्पन्न हो जाती थी जिससे बैंको को सकट का सामना करना पडता था। इनम से 1825 ई० का बैंकिग सकट बहुत ही प्रमुख था जिसमे बहुत-से बैंक फेल कर गये। आर्थिक सकट के समय जनता का बैंको पर से विश्वास समाप्त हो जाता था जिससे लोग अपने जमा की माग के लिए

बैंको के पास टूट पडते थे। अतएव, 1826 ई० मे बैक ऑफ इगलैंड के चार्टर मे कुछ सशोधन हुआ। इसके बाद अनेक ज्वायट स्टॉक बैंको की स्थापना की जाने लगी जिनकी शाखाएँ देश भर मे खुलने लगी। इस प्रकार 1834 ई० मे वेस्टमिन्सटर, 1836 ई० मे लदन ज्वायट-स्टाक बैक तथा 1839 ई० मे यूनियन बैंक की स्थापना हुई। इन बैंको की शाखाओ का विस्तार सम्पूर्ण देश मे हो गया। अतएव, बहुत-से छोटे-छोटे बैंक भी आपस मे मिलन लगे। इस प्रकार उन्नीसवी शताब्दी का समय इगलैंड के बैंकिंग विकास के इतिहास म एकीकरण एव केन्द्रीकरण (Consolidation and Centralization) का समय था। इसी प्रवृत्ति के परिणामस्वरूप इगलैंड म **पच-महान (Big-Five) बैंकों की स्थापना हुई जिनके नाम इस प्रकार से है** —(1) मिडलैंड बैंक (Mid Land Bank), (2) लॉयड बैंक (Lloyds Bank), (3) बर्कलेज बैंक (Barclays Bank) (4) वेस्टमिन्सटर बैंक (Westminster Bank) तथा (5) नेशनल प्राविन्सियल बैंक (National Provincial Bank)। इन बैंको के प्रधान कार्यालय लदन मे है तथा इनकी शाखाएँ सम्पूर्ण देश मे विस्तृत हैं। साथ ही, इनकी शाखाएँ विश्व के प्राय सभी प्रमुख व्यावसायिक केन्द्रो मे भी पायी जाती हैं। इस प्रकार ये बैंक आजकल अन्तर्राष्ट्रीय सस्था की तरह हो गये है। इन पच महान् बैंको के अतिरिक्त इगलैंड मे अन्य प्रमुख बैंक भी हैं जिनमे यूनियन बैंक लिमिटेड, डिस्ट्रिक्ट बैंक लिमिटेड, मैनचेस्टर बैंक लिमिटेड आदि उल्लेखनीय हैं।

सयुक्त राज्य अमेरिका (U S A)—सयुक्त राज्य अमेरिका मे व्यावसायिक बैंको का सगठन दूसरे आधार पर ही हुआ है। वहाँ व्यावसायिक बैंको को सदस्य बैंक (Member banks) कहा जाता है। अमेरिका मे सघ एव राज्य सरकारो के अलग अलग बैंकिंग कानून हैं। जो बैंक सघीय कानून के आधार पर सगठित किये गये हैं उन्हें राष्ट्रीय बैंक (National Bank) तथा जो राज्यो के कानून के सरक्षण मे सगठित किये गये हैं उन्हें राज्य बैंक (State Bank) कहते है। 1946 ई० के अन्त मे अमेरिका मे कुल प्राय 14,000 व्यावसायिक बैंक थे जिनमे से 5 00 राष्ट्रीय बैंक तथा 9000 राज्य बैंक थे। सघ एव राज्य दोनो के कानूनों मे बैंको द्वारा शाखाएँ स्थापित करने पर प्रतिबन्ध लगाया गया है, किन्तु इस सम्बन्ध मे विभिन्न राज्यो के कानूनो मे अतर है। एक ओर तो कैलिफोर्निया मे राज्य की सीमा के अतर्गत कही भी शाखाएँ खोली जा सकती है तो दूसरी ओर विसकाउसीन (Wisconsin) आदि राज्यो मे शाखा खोलने की बिल्कुल मनाही है। तात्पर्य यह है कि किसी भी हालत मे कोई बैंक अपने राज्य की सीमा के बाहर कोई शाखा नही स्थापित कर सकता। इस प्रकार 1946 ई० मे कुल 5000 राष्ट्रीय बैंको की केवल 1770 शाखाएँ तथा 9000 राज्य बैंको की प्राय 2200 शाखाएँ थी। शाखा खोलने के सम्बन्ध मे प्रतिबन्ध होने के कारण अमेरिका मे बैंको ने होल्डिंग कम्पनी, चेन अथवा ग्रूप के रूप मे आपस मे सम्बन्ध स्थापित किया है जिससे ये शाखा बैंकिंग पद्धति के बहुत कुछ लाभ प्राप्त कर पाते है।

इस प्रकार अमेरिका एव इगलैंड की बैंकिंग प्रणाली मे मौलिक अन्तर बैंको के सगठन को लेकर ही है। इगलैंड में बैंको का सगठन शाखा बैंकिंग प्रणाली (Branch Banking System) के आधार पर हुआ है जिसमे देश के बैंकिंग व्यवसाय का बहुत बडा भाग पचमहान् बैंको के हाथ मे है। इसके विपरीत अमेरिका मे एकक बैंकिंग प्रणाली (Unit Banking System) के आधार पर बैंको का सगठन हुआ है जिसमे बैंकों की शाखाएँ बहुत कम एव एक निश्चित क्षेत्र के अन्तर्गत ही सीमित हैं। अमेरिका मे इस प्रकार के बैंको की प्रधानता का मुख्य कारण मौद्रिक एकाधिकार (Money trust) के विरुद्ध प्रचलित धारणा है।

फ्रास (France)—फ्रास मे 1716 ई० मे प्रथम बैंक की स्थापना हुई जो नोट जारी करने जमा प्राप्त करने तथा बिलो को बट्टा करने का कार्य करता था, किन्तु अत्यधिक मात्रा मे नोट जारी करने के कारण 1720 ई० मे यह टूट गया। दूसरा बैंक 1776 ई० मे स्थापित हुआ जो 1793 ई० मे फेल कर गया। इसके बाद 1800 ई० मे नेपोलियन ने बैंक आफ फ्रास की स्थापना की। फ्रास की बैंकिंग प्रणाली मे बैंक ऑफ फ्रास का प्रारम्भ से ही बडा महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। फ्रांस का सबसे प्रधान बैंक क्रेडिट लियोनास (Credit Lyonnais) है जिसकी प्राय 1400 शाखाएँ फ्रास तथा अन्य देशो में विस्तृत हैं। इसके बाद सोसाइटी जेनरल (The Society General) है। इस बैंक की भी प्राय 1400 शाखाएँ हैं। फ्रास मे दो प्रकार के बैंक पाये जाते हैं—(क) बैंक ऑफ डिसकाउन्ट (Bank of Discount) तथा (ख) बैंक डि एफेयर्स (Bank D' Affairs)।

द्वितीय महायुद्ध के बाद फ्रास की बैंकिग प्रणाली मे बहुत अधिक सुधार हुआ है। बहुत-से छोटे-छोटे बैंक बडे-बडे बैंको मे मिला दिये गये हैं। साथ ही, बैंको की पूँजी एव जमा मे बहुत अधिक वृद्धि हुई है। यहाँ के बैंको ने अभिनवीकरण (Rationalisation) की प्रणाली को अपनाकर अपनी व्यवस्था एव हिसाब-किताब रखने की प्रणाली मे भी सुधार किया है।

जर्मनी (Germany) :—जर्मनी मे फ्रेडरिक द्वितीय ने बैंक ऑफ प्रसा की स्थापना की। पहले यह बैंक मुख्यत. नोट जारी करने का कार्य करता था, *किन्तु 1847 ई० मे इसने साधारण* बैंकिग-सम्बन्धी कार्यों को करना भी प्रारम्भ किया। 1875 ई० मे रीसबैंक Reichs Bank) की स्थापना हुई जिसका मुख्य उद्देश्य देश की बैंकिग व्यवस्था का पुनर्गठन था। इसके अलावा जर्मनी मे और भी बहुत प्रकार के बैंक थे। 1929 ई० की मन्दी के बाद जर्मनी के बैंको मे आपस मे मिलकर सघ (amalgamation) कायम करने की प्रवत्ति बहुत तीव्र हो गयी जिसके फलस्वरूप बहुत-से बैंक आपस मे मिल गये। सघ की प्रवृति केवल जर्मनी के बैंको मे ही नही वरन् वहाँ की सम्पूर्ण आर्थिक व्यवस्था मे ही व्याप्त है। साथ ही, इससे केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति भी बलवती होती गयी जिससे सम्पूर्ण जर्मनी के बैंक उत्तरोत्तर बर्लिन (Berlin) मे केन्द्रित होते गये।

भारत की बैंकिग प्रणाली का संक्षिप्त विवरण

भारतीय बैंकिग प्रणाली के दो मुख्य अग हैं—(1) आधुनिक बैंकिग सस्थाएँ जिनकी स्थापना पश्चिमी देशो की बैंकिग प्रणाली के आधार पर हुई है, तथा (2) देशी बैंक (Indigenous Bank) जिनके अन्तर्गत देशी महाजन एव साहूकार इत्यादि आते हैं। आधुनिक बैंकिग सस्थाओ के अन्तर्गत रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया (Reserve Bank of India) जो भारत का केन्द्रीय बैंक है, स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया (State Bank of India) एव अन्य 14 राष्ट्रीयकृत बैंक, विनिमय बैंक (Exchange Bank) तथा भारतीय ज्वायट स्टॉक बैंक (Indian Joint Stock Bank)[1] प्रमुख हैं। *रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया की स्थापना 1 अप्रैल, 1935 ई० को हुई* थी। यह भारत का केन्द्रीय बैंक (Central Bank) है। रिजर्व बैंक की स्थापना के पूर्व इम्पीरियल बैंक (Imperial Bank) केन्द्रीय बैंक के बहुत-सारे कार्यों को सम्पन्न करता था, किन्तु जुलाई 1955 ई० मे ग्रामीण साख सर्वेक्षण समिति की सिफारिशो के आधार पर इम्पीरियल बैंक का राष्ट्रीयकरण हुआ तथा कुछ अन्य बैंको को मिलाकर एक स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया (State Bank of India) की स्थापना की गयी। इस समय यह देश का सबसे बडा व्यावसायिक बैंक है तथा रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया के सहयोग मे कार्य करता है। भारत की बैंकिग *व्यवस्था मे स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया का बडा ही महत्त्वपूर्ण स्थान है।*

इसी प्रकार 19 जुलाई, 1969 को भारत सरकार ने 50 करोड रुपये से अधिक जमावाले 14 प्रमुख व्यावसायिक बैंको का राष्ट्रीयकरण किया।[2] इन बैंको का भी देश की बैंकिग व्यवस्था मे अब विशिष्ट स्थान हो गया है।

विनिमय बैंक (Exchange Banks) —मुख्यत. विदेशियो के हाथ मे हैं तथा इनका कार्य विदेशी व्यापार को प्रोत्साहित करना है। इन बैंको की शाखाएँ अधिकाशत बम्बई तथा कलकत्ता में हैं, यद्यपि कुछ शाखाएँ दिल्ली, मद्रास एव कानपुर मे भी स्थित हैं। विनिमय बैंको के अन्तर्गत लॉयड बैंक (Lloyds Bank), नेशनल बैंक ऑफ इण्डिया (National Bank of India), मरकेंटाइल बैंक ऑफ इण्डिया (The Mercantile Bank of India) तथा चार्टर बैंक ऑफ इण्डिया, आस्ट्रेलिया एण्ड चाइना (The Chartered Bank of India, Australia and China) विशेष महत्त्व के हैं। इन बैंको का मुख्य कार्य विदेशी व्यापार को आर्थिक सहायता पहुँचाना है। विदेशी व्यापार को ये दो तरीको से सहायता प्रदान करते हैं—(1) देश के आयात

1. ज्वायट स्टॉक बैंक से भारत में व्यावसायिक बैंकों का बोध होता है।

2. राष्ट्रीयकृत बैंकों के नाम इस प्रकार से हैं—(1) सेन्ट्रल बैंक ऑफ इण्डिया, (2) बैंक ऑफ इण्डिया, (3) पजाब नेशनल बैंक (4) बैंक ऑफ बडोदा, (5) युनाइटेड कॉमर्सियल बैंक, (6) कैनारा बैंक, (7) युनाइटेड बैंक ऑफ इण्डिया, (8) देना बैंक (9) सिंडिकेट बैंक, (10) यूनियन बैंक ऑफ इण्डिया, (11) इलाहाबाद बैंक, (12) इण्डिया बैंक, (13) बैंक ऑफ महाराष्ट्र, तथा (14) इण्डियन ओवरसीज बैंक।

एवं निर्यात के लिए अर्थ प्रदान कर, तथा (2) देश के भीतर से बन्दरगाहो तक तथा बन्दरगाहो से देश के अन्दर तक व्यावसायिक वस्तुओ को लाने एव ले जाने मे आर्थिक सहायता प्रदान कर। भारत के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर प्राय: इनका एकाधिकार है, किन्तु देश के उद्योग-धन्धो को भी ये वित्तीय सहायता प्रदान करते हैं।

भारतीय ज्वायंट स्टॉक या व्यावसायिक बैंक दो भी प्रकार के होते हैं—(क) अनुसूचित बैंक (Scheduled Banks), तथा (2) असूचित बैंक (Non Scheduled Banks)। 50 लाख रुपये से अधिक पूँजीवाले बैंक जो रिजर्व बैंक के सदस्य होते हैं अनुसूचित बैंक कहलाते हैं तथा जो रिजर्व बैंक के सदस्य नही होते वे असूचित बैंक कहे जाते हैं। अनुसूचित बैंक (Scheduled Bank) व्यावसायिक बैंक के प्राय, सभी कार्यों को करते है। ये जनता से जमा प्राप्त करते हैं तथा ऋण देने का कार्य भी करते हैं। जून, 1974 ई० मे अनुसूचित बैंको का कुल जमा दायित्व (Deposit liability) 10,969 करोड रुपये था। इसमे चालू जमा 4,721 करोड रुपये तथा स्थायी जमा 6,248 करोड रुपये था। इस प्रकार कुल जमा मे, चालू जमा (Demand Deposit) 45 प्रतिशत तथा स्थायी जमा (Time deposit) 61 प्रतिशत था। जून, 1974 ई० मे देश मे कुल 73 अनुसूचित बैंक (Scheduled Banks) थे जिनकी कुल शाखाओ की सख्या 16,936 थी। इसमे सबसे अधिक शाखाएँ स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया तथा उसके सहायको की हैं। राष्ट्रीयकरण के पूर्व, 18-7-69 को स्टेट बैंक तथा इसके सहायको की कुल 2,46- तथा राष्ट्रीयकृत बैंको की 4,133 शाखाएँ थी जो बढकर जून 1974 मे क्रमश 4724 तथा 9,017 हो गयी। इस प्रकार इस अवधि मे यानी जून, 1974 तक इनकी शाखाओ की सख्या मे बहुत अधिक वृद्धि हुई। वास्तव मे पाँच वर्षो के अन्तगत स्टेट बैंक तथा 14 राष्ट्रीयकृत बैंको की कुल 7,146 नयी शाखाओ की स्थापना की गयी। इनमे से अधिकाश शाखाएँ ग्रामीण तथा अर्द्ध-शहरी क्षेत्रो मे स्थापित की गयी हैं।

राष्ट्रीयकरण के पूर्व तथा 1971 ई० के अन्त तक अनुसूचित बैंको द्वारा दिये गये ऋणो का वितरण निम्न प्रकार[1] से था :—

उद्देश्य	जून, 1969 मे ऋण की मात्रा (करोड रुपये मे)	प्रतिशत	दिसम्बर, 1971 (ऋण की मात्रा करोड रु० मे)	प्रतिशत
1. बडे तथा मध्यम पैमाने के उद्योग एव थोक व्यापार	2,661	78 3	3,584	70 9
2. खाद्यान्न प्राप्ति के लिए	233	7 0	365	7 2
3 कृषि	188	5 5	395	7 8
4. लघु उद्योग	286	8 4	545	10 8
5. अन्य प्राथमिकता प्राप्त क्षेत्र तथा खुदरा व्यापार	31	0 8	163	3 3
	3399	100 0	5,052	1 0 0

राष्ट्रीयकरण के बाद से राष्ट्रीयकृत बैंको द्वारा कृषि, लघु उद्योगो तथा निर्यात व्यापार को अधिक साख की सुविधा प्रदान करने पर जोर दिया जा रहा हैं जो उपरोक्त तालिका से स्पष्ट है, किन्तु अब भी इस क्षेत्र मे यथोचित प्रगति नही दीख पड रही है।

अ-सूचित बैंको (Non-Scheduled Banks) का मुख्य कार्य ऋण प्रदान करना है। ये अधिकाशत उपभोग-सम्बन्धी कार्यों के लिए ही ऋण देते हैं। ऋण प्रदान करते समय ये जमानत भी लेते हैं। 1951 ई० मे असूचित बैंको की कुल सख्या 474 थी जो घटकर 1974 मे केवल 9 हो गयी। इनकी शाखाएँ 1951 मे 1504 से घटकर 1974 मे केवल 122 रह गयी।

भारतीय बैंकिंग व्यवस्था का दूसरा प्रमुख अग यहाँ के स्वदेशी बैंकर (Indigenous Bankers) हैं। ज्वायंट-स्टॉक बैंको का सम्बन्ध शहरो से रहता है। इनकी शाखाएँ गाँवो मे बहुत कम रहती हैं। भारतीय गाँवो मे स्वदेशी बैंको की सस्थाएँ पायी जाती हैं जो लेन-देन का कार्य करती हैं। ये सस्थाएँ दो प्रकार की होती हैं :—(1) स्वदेशी बैंकर (Indigenous Bankers) तथा (2) महाजन अथवा साहूकार (Money-lenders)। इन दोनो प्रकार की सस्थाओ मे मुख्य

1. Reserve Bank of India Bulletin, Aug. 1972.

अन्तर केवल इसी बात को लेकर है कि स्वदेशी बैंकर जनता से जमा भी प्राप्त करते हैं, किन्तु महाजन अथवा साहूकार केवल अपनी पूंजी के बल पर ही कार्य करते हैं। स्वदेशी बैंकरो का आकार भी विभिन्न प्रकार का होता है। छोटी छोटी संस्थाओं से लेकर कहीं कहीं पर ये बडी-बडी संस्थाओं के रूप मे कार्य करते हैं जिनकी तुलना कुछ अनुसूचित बैंको से भी की जा सकती है। स्वदेशी बैंकर प्राय कुछ विशेष जाति अथवा सम्प्रदाय के लोग होते हैं, जैसे—मुल्तानी, आगा, चेट्टी मारवाडी इत्यादि। किन्तु इन विभिन्न प्रकार के बैंको के कार्यों में एकरूपता नहीं पायी जाती है। रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया द्वारा इनके कार्यों मे सामजस्य लाने तथा इन्हें सगठित रूप देने के लिए बहुत अधिक प्रयत्न किये गये, किन्तु इन्हें अभी तक सगठित रूप नहीं दिया जा सका है।

बैंकों का समाशोधन-गृह

(Banker's Clearing House)

व्यावसायिक बैंको का एक प्रमुख कार्य एक व्यक्ति का जमा दूसरे व्यक्ति के नाम हस्तातरित करना होता हैं। जब इस प्रकार के हस्तातरण से सम्बन्धित विभिन्न व्यक्ति एक ही बैंक के ग्राहक रहते हैं तब तो इसमे कोई कठिनाई नहीं होती किन्तु, साधारणत यह देखा जाता है कि हस्तातरण से सम्बन्धित विभिन्न व्यक्ति विभिन्न बैंको से सम्बन्धित रहते हैं जिसके फलस्वरूप सभी बैंक एक दूसरे के ऋणी हो जाते हैं। बैंको के इस प्रकार के आपसी ऋण के समझौते के लिए इगलैंड के कुछ प्रमुख व्यावसायिक बैंको ने मिलकर लदन तथा अन्य प्रमुख केन्द्रो मे समाशोधन-गृह (Banker's Clearing House) की स्थापना की है। लन्दन के समाशोधन-गृह के दो विभाग हैं—पहला (City Financial District) जो शहर से सम्बन्धित लेन-देन के कार्यों का ब्योरा रखता है तथा दूसरा साधारण (General) जो अन्य जगहो के बैंको के लेन-देन का ब्योरा रखता है।

बैंक के आपसी लेन-देन का पूरा ब्योरा समाशोधन-गृह अपने पास रखता है तथा इनका समझौता इनके बैंक ऑफ इगलैंड के पास रखे हुए जमा के हस्तातरण से किया जाता है। प्रत्येक बैंक का जमा बैंक ऑफ इंगलैंड के पास रहता है। अतएव, जब एक बैंक दूसरे बैंक का ऋणी होता है तो पहले बैंक के जमा में से उतनी रकम काट कर दूसरे बैंक के नाम मे जमा कर दी जाती है। बैंको के आपसी ऋण का समझौता इसी प्रकार से होता है।

भारत के प्रमुख नगरो मे भी इसी आधार पर समाशोधन-गृहो का सगठन किया गया है जिससे बैंको के आपसी लेन-देन के कार्य मे सुगमता होती है।

विशेष अध्ययन सूची

1. Sayers : Modern Banking, Chapter I
2. Crowther : An Outline of Money, Chapter II
3. India, 1974 : Chapter XV

अध्याय : 16

व्यावसायिक बैंकों का स्थिति-विवरण या तल-पट

(Balance Sheet of a Commercial Bank)

बैंक के तल-पट का अर्थ (Meaning of the Balance-sheet of a Bank) :—किसी व्यावसायिक संस्था के लिए उसके तल पट का बड़ा महत्व है। वास्तव मे, **"किसी संस्था का तल-पट उस संस्था की सम्पत्ति एव दायित्व का विवरण होता है।"** (Balance sheet is a statement of assets and li bilities)इस प्रकार के विवरण से किसी संस्था की आर्थिक स्थिति का अन्दाजा लगता है। यों तो प्रत्येक व्यावसायिक संस्था के लिए तल-पट का बहुत अधिक महत्व है, किन्तु व्यावसायिक बैंकों के लिए इस प्रकार के विवरण का और भी अधिक महत्व है। इसका कारण यह है कि *प्रत्येक बैंक का कारोबार सम्पत्ति एव दायित्व को समतुल्य* करना होता है। दूसरे शब्दों मे वैक मुख्यत. देना पावना का ही व्यापारी होता है। अतएव, इसके तल-पट से ही इसकी वास्तविक स्थिति का अन्दाज लगता है। यदि आप किसी इस्पात के कारखाने की जाँच करना चाहते हैं तो सर्वप्रथम आपको यह देखना होगा कि उस कारखाने मे कितना इस्पात तैयार होता है। तब कारखाने की भट्ठी आदि की स्थिति की जाँच करनी होगी। कारखाने के तल-पट की जाँच की बात तो सबसे बाद मे आयगी। किन्तु यदि आप किसी व्यावसायिक बैंक की स्थिति के सम्बन्ध मे जानना चाहते हैं तो सर्वप्रथम यह जानना होगा कि बैंक की सम्पत्ति (As ets) कितनी है और उसकी देनदारी (Liabilities) कितनी है ? इस प्रकार बैंक के सम्पूर्ण व्यवसाय का निचोड़ उसके तल-पट मे ही रहता है।

प्रत्येक तल-पट (Balance-sheet) के दो पक्ष होते हैं—बायें पक्ष मे दायित्व या देनदारी (L abil ties) को दिखलाया जाता है तथा दायें पक्ष मे सम्पत्ति (Assets) को दिखलाया जाता है। तल-पट के दोनो पक्ष सदा बराबर होते हैं जिसे तल-पट का सन्तुलन (Bal ncing of the Balance-sheet कहा जाता है। **नीचे व्यावसायिक बैंक के एक तल-पट** (Balance-sheet) **का नमूना दिया जाता है**

व्यावसायिक बैंक के तल-पट का एक नमूना

(Specimen of the Balance-Sheet of a Commercial Bank)

दायित्व (Liab lities)	रकम	सम्पत्ति (Assets)	रकम
1. पूँजी (Capital)	......	1 नकद (Cash in hand) या केन्द्रीय बैंक के पास जमा (Balance with the Central Bank)	......
2. सचित कोष (Reserves)	......	2. अभियाचित एव अल्पकालीन ऋण (Money at call and short Notice)	......
3 जमा (Deposit) (a) Demand Deposit (b) Time Deposit	......	3. बट्टा की गयी बिलें (Bills discounted)	......
4. ग्राहकों के लिए स्वीकृतियाँ (Acceptances for Customers)	......	4. अग्रिम एव ऋण (Advances and Loans)	......
5. लाभ-अलाभ लेखा (Profit and Loss Account)	......	5. विनियोग (Investments)	......
		6. ग्राहकों की देय स्वीकृतियाँ (Customers' Acceptances)	
		7 मकान, जमीन आदि (Land and Buildings etc)	
कुल	......	कुल	......

अब तल-पट के दोनो पक्षों की विभिन्न मदों (items) का विश्लेषण किया जायगा।

व्यावसायिक बैंकों का दायित्व
(Liabilities of Commercial Banks)

तल-पट की बायी ओर बैंक का दायित्व दिखलाया जाता है। बैंक के दायित्व की तरफ का भाग अपेक्षाकृत अधिक सरल होता है। इसमे साधारणतया निम्नांकित मदें रहती हैं :—

(1) **पूँजी** (Capital) :—दायित्व पक्ष मे पहली मद पूँजी की होती है। प्रत्येक बैंक को कार्य सचालन के लिए प्रारम्भ मे कुछ पूँजी की आवश्यकता पडती है। भारतीय बैंकिंग कम्पनी अधिनियम Indian Banking Companies Act) के अनुसार प्रत्येक बैंक को अपने कार्य-सचालन के लिए एक निश्चित मात्रा मे पूँजी रखनी पडती है। बैंक की स्थापना के समय ही प्रत्येक बैंक इस बात को स्पष्ट कर देता है कि उसे कितनी पूँजी की आवश्यकता पडेगी। इसे बैंक की अधिकृत पूँजी (Authorised Capital) कहते हैं। यह पूँजी एक निश्चित रकम के हिस्सो (Shares) मे विभाजित रहती है। इसमें जितनी पूँजी के हिस्से बैंक जारी करता है, उसे निर्गमित पूँजी (Issued Capital) कहते हैं। इस निर्गमित पूँजी मे से जितनी पूँजी के हिस्से जनता द्वारा खरीदे जाते हैं उसे प्रार्थित पूँजी (Subscribed Capital) कहते हैं। प्राय. यह देखा जाता है कि बैंक अपने सम्पूर्ण हिस्सो की तमाम रकम एक ही समय नहीं माँग लेता। अतएव, प्रार्थित पूँजी का वह भाग जिसका वास्तव मे भुगतान किया जाता है उसे परिदत्त पूँजी (Paid-up Capital) कहते हैं। बैंक अपने तल-पट में इन सभी प्रकार की पूँजियो को अलग-अलग दिखलाता है। बैंक की पूँजी उसका दायित्व (Liability) इसलिए होती है कि यह पूँजी हिस्सेदारो की होती है। अतएव, बैंक इतने के लिए अपने हिस्सेदारो का देनदार होता है। 1949 ई० के भारतीय बैंकिंग कम्पनी अधिनियम के अनुसार प्रत्येक बैंक के लिए यह आवश्यक है कि उसकी कुल अधिकृत पूँजी का 50 प्रतिशत भाग प्रार्थित पूँजी होनी चाहिए और इसका 50 प्रतिशत भाग परिदत्त पूँजी होनी चाहिए।

(2) **संचित कोष** (Reserves) —प्रत्येक बैंक अपने सम्पूर्ण लाभ को अपने हिस्सेदारो के बीच नही बाँटकर उसका एक अश सचित कोष (Reserves) के रूप मे आकस्मिक हानि (Unforeseen losses) वगैरह के लिए रखता है।[1] इस कोष का उपयोग साधारणत प्रतिवर्ष हिस्सेदारों को दिये जानेवाले लाभ को एक समान बनाने मे किया जाता है। 1949 ई० मे भारतीय बैंकिंग कम्पनीज विधान (Indian Banking Companies Act, 1949) के अनुसार बैंको के सचित कोष की रकम अनिवार्य रूप से उनकी परिदत्त पूँजी के बराबर होनी चाहिए। सचित कोष बैंक का दायित्व होता है, क्योंकि इसका निर्माण अतिरिक्त लाभ (Undistributed Profit) के द्वारा किया जाता है जिसके वास्तविक हकदार बैंक के हिस्सेदार ही होते हैं।

(3) **जमा** (Deposit) —व्यावसायिक बैंको का प्रमुख कार्य ग्राहको के धन को जमा के रूप मे स्वीकार करना होता है। इनके दायित्व पक्ष का सर्वाधिक प्रमुख मद जमा ही है। बैंक कई प्रकार के जमा ग्रहण करते हैं—चालू जमा (Demand Deposit), स्थायी जमा या सावधि जमा (Time Deposit) तथा सचयी जमा (Saving deposit)। 1949 ई० के बैंकिंग कम्पनीज अधिनियम के अनुसार बैंको को अब विभिन्न प्रकार के जमा को अलग-अलग दिखलाना पडता है। ग्राहको द्वारा इस प्रकार जमा के रूप मे प्राप्त रकम के आधार पर ही बैंक अपना कारोबार चलाते हैं। बैंक अपने जमा का एक निश्चित प्रतिशत भाग नकद मुद्रा के रूप मे अपने पास रखते हैं और शेष लाभ कमाने के लिए विनियोग करते हैं। जमा बैंको का दायित्व इसलिए होता है कि यह ग्राहको का धन है और बैंक इतनी रकम के लिए अपने ग्राहको के देनदार होते हैं।

(4) **ग्राहकों की स्वीकृतियाँ** (Acceptances for customers) :—बैंक अपने ग्राहको के चेक तथा अन्य साख-पत्रो को एकत्र करने (Collection) के लिए स्वीकार करता है। इस प्रकार के पत्रो की रकम सग्रहण के बाद ग्राहको के खाते मे जमा कर दी जाती है। चूँकि इन साख-पत्रो

1. इस सम्बन्ध में विशेष ध्यान देने योग्य बात यह है कि कुछ बैंक अपनी आर्थिक स्थिति को सुदृढ बनाने के लिए एक गुप्त सचित-कोष (Secret Reserve Fund) का सृजन भी करते हैं। इस प्रकार के संचित कोष का निर्माण बैंक अपने तल पट पर नहीं दिखलाते, बरन् ये अपनी स्थायी सम्पत्ति, जैसे—मकान् आदि के मूल्य को उनके वास्तविक मूल्य से कम दिखला कर करते हैं।

की रकम ग्राहकों की होती है, जो जब चाहें तब इन्हें वापिस ले सकते हैं, अतएव, बैंक के लिए यह रकम भी देय होती है।

(5) लाभ-अलाभ खाता (Profit and Loss Account) :—बैंक अपने लाभ को इस मद में दिखलाता है। चूंकि बैंक का लाभ उसके हिस्सेदारों के बीच वितरित किया जाता है, अतएव, यह बैंक का दायित्व है। इस प्रकार बैंक का लाभ भी उसका दायित्व होता है।

व्यावसायिक बैंकों के साधन या सम्पत्ति

(Assets of Commercial Banks)

तलपट की दायीं ओर बैंक के साधन या सम्पत्ति का ब्योरा दिया जाता है। बैंक के लिए उसकी सम्पत्ति का बहुत अधिक महत्त्व है। बैंक की सम्पत्ति या साधनों के विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि बैंक ने अपनी पूंजी का विनियोग किस प्रकार से किया है, उसके पास पर्याप्त मात्रा में नकद मुद्रा है या नहीं आदि। तलपट में विभिन्न साधनों को उनकी तरलता (Liquidity) के क्रम में निम्न प्रकार से दिखलाया जाता है :

(1) नकद एवं केन्द्रीय बैंक के पास जमा (Cash in hand and with the Central Bank) —प्रत्येक बैंक अपनी देनदारी के भुगतान के लिए अपने पास तथा केन्द्रीय बैंक के साथ कुछ नकद मुद्रा रखता है। नकद जमा रखने के पीछे साधारणतया दो प्रवृत्तियाँ कार्य करती है—(क) जमा करनेवालों के जमा की रक्षा, तथा (ख) व्यावसायिक बैंकों की कार्यवाही पर केन्द्रीय बैंक का नियन्त्रण स्थापित करना। भिन्न-भिन्न देशों में नकद मुद्रा के अनुपात में विभिन्नता पायी जाती है। उदाहरण के लिए इंगलैंड के व्यावसायिक बैंक साधारणतया अपने कुल दायित्व का 8 प्रतिशत भाग नकद कोष के रूप में रखते हैं जिसमें से 4 प्रतिशत ये अपने पास तथा 4 प्रतिशत बैंक ऑफ इंगलैंड के साथ रखते हैं। अन्य देशों में कानून द्वारा बैंकों को अपने कुल जमा दायित्व का एक निश्चित प्रतिशत भाग नकद मुद्रा के रूप में रखना पड़ता है। अमेरिका में सदस्य बैंकों को अपने स्थायी जमा (Time Deposit) का 5 प्रतिशत तथा चालू जमा (Demand Deposit) का 12, 18 एवं 22 प्रतिशत भाग उनकी स्थिति के अनुसार फेडरल रिजर्व बैंक के पास जमा रखना पड़ता है। भारत में भी वर्तमान समय में अनुसूचित बैंकों (Scheduled Banks) को अपने सभी प्रकार के जमा दायित्व का औसत रूप से 3 प्रतिशत भाग रिजर्व बैंक ऑफ इंडिया के पास रखना पड़ता है। इस प्रकार बैंकों को अपने कुल दायित्व का एक निश्चित प्रतिशत भाग नकद मुद्रा के रूप में रखना पड़ता है। नकद जमा से इन्हें अपने ग्राहकों के दायित्व के भुगतान में सुविधा होती है तथा बैंक किसी भी प्रकार के खतरे का सामना कर सकता है। अतएव, नकद कोष को बैंक की सुरक्षा का प्रथम अस्त्र (First line of defence of a Bank) कहा जाता है, किन्तु यह बैंकों के लिए लाभदायक नहीं सिद्ध होता। नकद कोष बैंक का सबसे अधिक तरल साधन समझा जाता है।

(2) अभियाचित एवं अल्पकालीन ऋण (Money at call and short notice) — बैंकों के साधन या सम्पत्ति की दूसरी मद अभियाचित एवं अल्पकालीन ऋण (Money at call and short notice) है। प्रत्येक बैंक कुछ ऋण अति अल्पकाल के लिए तथा कुछ ऋण इस शर्त पर देता है कि उसका भुगतान सूचना पाते ही कर दिया जायगा। तरलता के दृष्टिकोण से नकद कोष के बाद इसी प्रकार के ऋण का स्थान आता है। इस प्रकार का ऋण साधारणतया 24 घंटों से लेकर 15 दिनों तक के लिए दिया जाता है। इस प्रकार का ऋण बैंकों की सुरक्षा की दृष्टि से दूसरा अस्त्र (Second line of defence) समझा जाता है। इस प्रकार का ऋण साधारणतया मुद्रा-बाजार की विभिन्न संस्थाओं, जैसे बट्टा-गृहों (Discount Houses), बिल दलालों (Bill Brokers) तथा शेयर्स दलालों (Stock Brokers) को 1 प्रतिशत से $\frac{1}{2}$ प्रतिशत ब्याज की दर पर संचित प्रतिभूतियों के आधार पर दिया जाता है। ये विभिन्न संस्थाएँ व्यावसायिक बैंकों से अल्पकालीन ऋण लेकर अपना कार्य करती हैं। इनके ऋणों के भुगतान के लिए ये सदा तैयार रहती हैं। लन्दन, न्यूयार्क आदि स्थानों में सुविकसित मुद्रा-बाजार हैं जिनसे वहाँ के व्यावसायिक बैंकों को अल्पकालीन विनियोग में बहुत अधिक सुविधा होती है, किन्तु भारत में सुविकसित मुद्रा-बाजार का अभी अभाव है, अतएव व्यावसायिक बैंकों के अल्पकालीन विनियोग के लिए यहाँ पर विस्तृत क्षेत्र का अभाव पाया जाता है।

(3) बट्टा की गयी बिलें (Bills Discounted) : – बैंक के साधनो मे बट्टा की गयी बिलो (Bills Discounted) का तीसरा स्थान है। बैंक विनिमय या ट्रेजरी बिलो (Treasury Bills) को भुनाने का कार्य भी करते हैं। यह बैंको के विनियोग का एक प्रमुख साधन है, किन्तु बिलो के खरीदने मे बैंक कई बातो को ध्यान मे रखते हैं। ये प्रायः दीर्घकालीन हुण्डियाँ नही खरीदते, क्योकि ऐसी हुण्डियो के मूल्य मे सदा बहुत अधिक परिवर्तन होने की आशंका बनी रहती है। बैंक साधारणतः उन्ही हुण्डियो को खरीदते हैं जिनकी अवधि प्रायः समाप्त होने (Bills nearing maturity) को रहती है। साथ ही, ये प्रथम श्रेणी के बिलो अथवा प्रतिभूतियो (First class Commercial papers) मे ही अपना धन लगाते हैं, क्योकि इस प्रकार के बिलो की सृष्टि वास्तविक व्यापार के कार्यों के सचालन से होती है। अतएव, ये स्वतः शोधनीय (Self-liquidating) होती हैं। बैंक भिन्न-भिन्न समय पर समाप्त होनेवाले बिलो को खरीदते हैं। ये इन बिलो मे इस प्रकार से धन लगाते हैं कि एक के बाद दूसरे बिल का भुगतान होता रहे जिससे किसी भी समय बैंक को नकद रुपये की कमी नही होने पाये। बैंक साधारणतया 'मुद्रा-बाजार' से ही बिलो को खरीदते हैं। मुद्रा बाजार प्रारम्भ मे बिलो को खरीद कर अपने पास रखता है और जब उनकी अवधि निकट आने लगती है तो उन्हे व्यावसायिक बैंको के पास भुनाने के लिए ले जाता है। व्यावसायिक बैंको के लिए बिल भी तरलता के दृष्टिकोण से एक उत्तम साधन हैं, क्योकि आवश्यकता पडने पर ये इन्ही बिलो के आधार पर केन्द्रीय बैंक से रुपया प्राप्त करते हैं, किन्तु भारत मे सुसगठित बिल बाजार के अभाव मे यहाँ के बैंक इस मद मे बहुत कम विनियोग करते हैं। इस प्रकार जबकि विदेशो मे बैंक अपनी कार्यशील पूँजी का 25 से 30 प्रतिशत भाग इस मद मे लगाते हैं, भारत के बैंक इस मद मे अपनी कार्यशील पूँजी का केवल 2 से 3 प्रतिशत भाग ही लगाते हैं।

(4) अग्रिम एव ऋण (Advances and Loans) :—बैंक के साधनो मे चौथा महत्वपूर्ण स्थान ऋण एव अग्रिम (Loans and Advances) का है। ऋण साधारणतः अधिविकर्ष (Overdraft) के रूप मे दिया जाता है। ऋण अथवा अग्रिम साधारणतया ऊँची ब्याज की दर (10% से 1 % वार्षिक ब्याज) पर दिये जाते हैं। अतएव, ये बैंको की आय के प्रमुख साधन हैं। अतः बैंक के साधनो मे ऋणो का बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान रहता है, किन्तु तरलता के दृष्टिकोण से ऋण का बहुत कम महत्त्व है। बैंक साधारणतः व्यापारियो को व्यापार सचालन के लिए एक साल तक की अवधि के लिए कर्ज देते हैं। ऋण देने के पूर्व ये ऋणी की आर्थिक स्थिति के सम्बन्ध मे पूरी जानकारी प्राप्त कर लेते हैं। साथ ही, ऋण के लिए उचित जमानत भी लेते हैं।

(5) विनियोग (Investment) :—बैंक का पाँचवाँ प्रमुख साधन विनियोग (Investment) है। इसका तात्पर्य बैंक के उस विनियोग से है जो वे शेयर बाजार मे व्यापारिक या औद्योगिक सस्थानो के हिस्सो या ऋण-पत्रो अथवा सरकारी प्रतिभूतियो मे करते हैं। विनियोग बैंको के लिए विशेष आकर्षक नही होता, क्योकि इसमे जोखिम की मात्रा बहुत अधिक तथा तरलता (Liquidity) बहुत कम रहती है। साधारणत, बैंक इन्हे ऋण एव अग्रिम (Loans and Advances) का पूरक समझते हैं। जब ऋण एव अग्रिम की माग कम होती है तो बैंक मुनाफा कमाने के उद्देश्य से ऋण-पत्र या सरकारी प्रतिभूतियो मे अपना साधन लगाते हैं, किन्तु सरकारी प्रतिभूतियो के आधार पर व्यावसायिक बैंको को केन्द्रीय बैंक से सहायता मिलने मे बहुत अधिक सुविधा होती है।

(6) ग्राहकों की देय स्वीकृतियाँ (Liabilities of the customers for Acceptances) :—इस मद मे उन बिलो अथवा साख-पत्रो को दिखलाया जाता है जिन्हें बैंक ने अपने ग्राहको की ओर से स्वीकार किया है। सम्पत्ति या साधन (Assets) के अन्तर्गत ग्राहको की देय स्वीकृतियाँ (Liabilities of the customers for acceptances) का सतुलन दायित्व (Liabilities) के अन्तर्गत ग्राहको की स्वीकृतियो (Acceptances of customers) से हो जाता है। अतएव, इसका कोई विशेष महत्त्व नही है।

(7) मकान, जमीन, फर्नीचर इत्यादि (Land, Buildings and other furnitures of the Bank) :—बैंक की सम्पत्ति या साधन (Assets) के अन्तर्गत अन्तिम मद मकान, फर्नीचर इत्यादि का होता है। बैंक का यह साधन बिलकुल तरल नही होता; क्योकि इन्हें सुगमता-

पूर्वक तथा बिना किसी हानि के नकद मुद्रा के रूप मे परिवर्तित करने मे कठिनाई होती है। इस प्रकार के साधन बैंक के मृत-साधनो (Dead assets) के समान होते हैं।

इस प्रकार व्यावसायिक बैंक के तल-पट (Balance sheet) के अध्ययन से बैंक की वास्तविक स्थिति का अन्दाजा चलता है। तल-पट के दोनो पक्षो मे साधन या सम्पत्ति के पक्ष का ही अधिक महत्त्व है, क्योकि बैंक अपने ग्राहको से धन जमा के रूप मे ग्रहण करता है और उसी के विनियोग द्वारा वह अपना लाभ उपार्जित करता है। साधन पक्ष की विभिन्न मदो को देखने से यह स्पष्ट होता है कि बैंक अपने साधनो को उनकी तरलता के क्रम मे दिखलाता है। इस प्रकार नकद कोष बैंक का सबसे अधिक तरल साधन है, अतएव, इसे वह सबसे पहले दिखाता है। इसके बाद अभियाचित या अल्पकालीन ऋण (Loans at call and short notice), बट्टा की गयी बिलें (Bills discounted), अग्रिम तथा ऋण (Loans and Advances) एव विनियोग (Investment) को दिखलाता है।

बैंको की आर्थिक स्थिति का अन्दाजा उनके साधनो के इन विभिन्न मदो मे वितरण से स्पष्ट हो जाता है। इस प्रकार बैंक के तल-पट का अध्ययन बहुत अधिक महत्वपूर्ण है।

विशेष अध्ययन-सूची

1. Sayers : Modern Banking, Chapters 1 & 2.
2. Crowther : An Outline of Money, Chapter 2.

अध्याय : 17

व्यावसायिक बैंकों के साधनों का वितरण

(Distribution of the Assets of Commercial Banks)

बैंक के साधनों के वितरण का आर्थिक महत्व (The economic significance of the Distribution of the Assets of a Bank. —व्यावसायिक बैंक एक लाभ कमानेवाली सस्था (Profit-seeking institution) है। अतएव, इसका मुख्य उद्देश्य अपने हिस्सेदारो के लिए अधिकतम लाभ कमाना होता है। अपने धन को लाभप्रद तरीके से विनियोग कर ही यह लाभ कमाता है। इन साधनो से बैंक को जितनी ही अधिक आय प्राप्त होगी, बैंक को उतना ही अधिक मुनाफा प्राप्त होगा, किन्तु बैंक को इस बात पर भी ध्यान रखना होता है कि वह अपने साधनो का विनियोग इस प्रकार से करे कि किसी भी समय अपने ग्राहको की माग होने पर सुगमतापूर्वक उसका भुगतान किया जा सके, क्योकि व्यावसायिक बैंक अपने साधनो का अधिकाश भाग अपने ग्राहको से जमा के रूप मे ही प्राप्त करता है। इस प्रकार बैंक ऋण का व्यवसायी है, यानी दूसरो के रुपये का व्यापारी होता है। अत उसे अपने ग्राहको की माग को पूरा करने के लिए हर समय तत्पर रहना पडता है। बैंक का व्यापार जनता के विश्वास (Confidence) पर आधारित है। यदि किसी भी समय बैंक अपने ग्राहको की माग का भुगतान नही कर सकेगा, तो उस पर से जनता का विश्वास समाप्त हो जायगा। ऐसी स्थिति मे बैंक की आर्थिक स्थिति अच्छी होने पर भी उसे अपना व्यापार बन्द करना पडेगा। अतएव, अपने ग्राहको की माग को पूरा करने के लिए बैंक को सदा अपने साधनो की तरलता (Liquidity of assets) पर भी ध्यान देना होता है। लाभ एव तरलता के साथ-साथ बैंक को अपने साधनो की सुरक्षा (Safety) पर भी ध्यान देना पडता है। सुरक्षा पर ध्यान नही देने से बैंक का जीवन ही सकट मे पड सकता है। अतएव, विनियोग करते समय बैंक अपने साधनो की सुरक्षा पर बहुत अधिक ध्यान देता है। इस उद्देश्य से बैंक अपने सम्पूर्ण साधनो को एक ही दिशा मे या एक ही व्यवसाय मे नही लगाता वरन् उन्हें भिन्न-भिन्न मदो मे लगा कर अपने खतरे को कम करने का प्रयास करता है।

इस प्रकार अपने साधनो के विनियोग मे बैंक को बहुत अधिक सावधानी एव दूरदर्शिता से काम लेना पडता है। इस सम्बन्ध मे सुप्रसिद्ध विद्वान बेजहॉट (Bagehot का निम्नलिखित कथन विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है **"साहस व्यापार का जीवन है परन्तु सावधानी, न कि भीरुता आधुनिक बैंकिंग का सार है।"** (Adventure is the life of commerce, but caution, if not timidity, is the essence of modern banking) इस प्रकार व्यावसायिक बैंको को अपने साधनो के वितरण मे सदा अति सावधानी से कार्य लेना पडता है।

व्यावसायिक बैंकों के सिद्धान्त

(Principles of Commercial Banking)

वास्तव मे, व्यावसायिक बैंक अपने साधनो के वितरण मे कुछ सिद्धान्तो को ध्यान मे रखते हैं। इन सिद्धान्तो के आधार पर ही ये अपने धन का विनियोग करते हैं। इन्हें व्यावसायिक बैंको के विनियोग के सिद्धान्त भी कहते हैं। ये सिद्धान्त निम्नलिखित हैं :—

(क) साधनो की तरलता (Liquidity of assets),
(ख) लाभदायकता (Profitability), एव
(ग) साधनो की सुरक्षा (Safety of assets)।

(क) साधनो की तरलता (Liquidity of Assets)—व्यावसायिक बैंको का सर्वाधिक प्रधान उद्देश्य अपने हिस्सेदारो के लिए अधिकतम लाभ का उपार्जन करना होता है। बैंक अपने साधनो के विनियोग से ही लाभ प्राप्त करता है, किन्तु बैंक का अस्तित्व जनता के विश्वास पर निर्भर करता है। जनता बैंक जमा को मुद्रा की ही तरह समझती है। जनता का बैंक पर विश्वास इस बात पर आधारित होता है कि बैंक मे उनके जमा को नकद मुद्रा मे परिवर्तित करने की क्षमता सदा रहेगी। अतएव बैंक का मुनाफा जमा के बदले नकद मुद्रा देने की क्षमता पर निर्भर करता है। **"जमा के बदले नकद मुद्रा देने की क्षमता को ही तरलता कहते हैं।"**

(Liquidity is the ability of a bank to satisfy demands for cash in exchange for deposits) इस प्रकार लाभ कमाने के लिए बैंक को जनता का विश्वास बनाये रखना आवश्यक है और विश्वास बनाये रखने के लिए पर्याप्त मात्रा मे साधनो की तरलता अनिवार्य होती है।

बैंक का सर्वाधिक तरल साधन नकद जमा (Cash Reserve) है। बैंक के पास जितना ही अधिक नकद जमा होगा, उतनी ही शीघ्रतापूर्वक वह अपने ग्राहको की माग को पूरा कर सकता है, किन्तु नकद जमा एक निष्क्रिय साधन है, बैंक को इससे कोई भी लाभ नहीं होता। इस कारण यदि बैंक अपने नकद जमा को बढा कर अपनी तरलता बहुत बढा देता है तो इससे उसका लाभ बहुत कम हो जायगा। अतएव, कोई भी बैंक एक निश्चित मात्रा से अधिक नकद मुद्रा अपने पास नही रख सकता। मुनाफा कमाने के लिए बैंक को कुछ धन अपेक्षाकृत कम तरलसाधनो (Imperfectly Liquid Assets) के रूप मे, यानी तरल होने के साथ साथ जो लाभदायक भी हो, लगाना होता है। इस प्रकार वे साधनो के अन्तर्गत अभियाचित एव अल्पकालीन ऋण (Loans at call and short notice) तथा (Bills) आदि महत्वपूर्ण हैं।

नकद मुद्रा के बाद बैंक के वे ही **साधन सबसे अधिक तरल समझे जाते हैं जिनमें निम्नलिखित दो गुणों का समावेश रहता हो**—*(1) विनिमय साध्यता (Shiftability)* एव (2) बिना किसी क्षति के विनिमय-साध्यता (Shiftability without loss)। अपने ग्राहको की माग को पूरा करने के लिए प्रत्येक बैंक को अपने धन का कुछ भाग इस प्रकार के साधनों मे लगाना पडता है *जिन्हे वह शीघ्र ही नकद मुद्रा मे परिवर्तित कर सके, किन्तु नकद मुद्रा मे परिवर्तन बिना* किसी क्षति के होना चाहिए। तरलता के ये दो गुण हैं और जब बैंक अपने साधन को तरल रखने का प्रयास करता है तो वह इन बातो पर समान रूप से ध्यान देता है। इस अर्थ मे नकद जमा के *बाद अभियाचित एव अल्पकालीन ऋण (Loans at call and short notice) ही बैंक का* सर्वाधिक तरल साधन है। अल्पकालीन सरकारी प्रतिभूतियो एव उच्च कोटि के गैर-सरकारी पत्रो (Commercial papers) मे भी य दोनो गुण पर्याप्त मात्रा मे वर्तमान हैं। बैंक इन्हें मुद्रा *बाजार मे बेचकर नकद मुद्रा प्राप्त कर सकता है अथवा केन्द्रीय बैंक के पास ले जाकर इन्हे पुन* बट्टा करा सकता है। दीर्घकालीन सरकारी प्रतिभूतियाँ विनिमय साध्य होती है, क्योंकि इन्हें भी मुद्रा बाजार मे बेचकर नकद मुद्रा प्राप्त की जा सकती है किन्तु इस प्रकार की प्रतिभूतियो मे *सदा हानि की सम्भावना बनी रहती है। अत बैंक के लिए यह बहुत ही कम तरल साधन है।* इसी प्रकार बैंक के ऋण एव अग्रिम (Loans and Advances) तथा विनियोग (Investment) भी तरल नहीं हैं, क्योकि इनमे तरलता के उपर्युक्त दोनो गुणो का अभाव पाया जाता है।

किन्तु, विनिमय साध्यता का एक दूसरा पहलू भी है। कोई भी एक बैंक अपने साधनो को किसी दूसरे बैंक या अन्य व्यक्तियो के हाथ बेचकर सुगमतापूर्वक इन्हें नकद मुद्रा मे परिवर्तित कर सकता है, किन्तु यदि किसी देश के सभी बैंक अपने अपने साधनो को एक ही समय नकद मुद्रा मे *परिवर्तित करना चाहे, तो वे ऐसा नही कर सकते, क्योंकि उतनी नकद मुद्रा देश मे है ही नहीं।* अतएव, यदि बैंक जमा के बदले मुद्रा की माग किसी एक बैंक तक ही सीमित नही होकर सम्पूर्ण बैंकिंग व्यवस्था मे विस्तृत हो जाय तो विनिमय साध्यता मे निश्चय ही कठिनाई होगी। जिस देश मे *व्यावसायिक बैंको का सगठन जितना ही अधिक सुदृढ होता है, वहाँ मुद्रा की माग उतनी ही अधिक* व्यापक एव विस्तृत होती है। इस प्रकार की सकट की स्थिति मे केन्द्रीय बैंक ही अन्तिम सहायक (Lender of the Last Resort) के रूप मे व्यावसायिक बैंको की सहायता करता है। अतएव, किसी भी साधन को विनिमय-साध्यता (Shiftability) तय करन मे बैंक इस बात पर ध्यान रखता है कि वह साधन केन्द्रीय बैंक के लिए स्वीकार्य है या नही। आवश्यकता पडने पर व्यावसायिक बैंक हुडियो या प्रतिभूतियो को केन्द्रीय बैंक के पास पुन बट्टा के लिए देता है, किन्तु केन्द्रीय बैंक सभी तरह की हुडियो को स्वीकार नही कर सकता। यह साधारणतया सरकारी प्रतिभूतियो (Treasury Bills) एव उच्च कोटि के व्यापारिक पत्रो (Commercial papers) को, जो केन्द्रीय बैंक द्वारा निर्धारित आवश्यक शर्तों की पूर्ति करते हैं, ही स्वीकार करता है। अतएव, व्यावसायिक बैंक सदा इस बात पर ध्यान देता है कि वह उन्ही साधनों को स्वीकार करे जो केन्द्रीय बैंक द्वारा स्वीकार्य हो। इस प्रकार विनिमय-साध्यता के अन्तर्गत इस बात का भी महत्त्व है कि वह साधन केन्द्रीय बैंक द्वारा स्वीकार्य है अथवा नही। अतएव, सरकारी हुडियाँ

(Treasury Bills) एवं उच्च कोटि के अल्पकालीन व्यापारिक पत्र, जो केन्द्रीय बैंक की शर्तों को पूरा करते हैं, अत्यधिक तरल होते हैं।

इस प्रकार बैंक के तरल साधनो में नकद कोष के बाद अभियाचित एवं अल्पकालीन ऋण तथा बट्टा किये गये बिलों का ही स्थान है, किन्तु तरलता का अर्थ यह नहीं कि बैंक अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति को नकद मुद्रा मे एक बार परिवर्तित कर सकता है। इस प्रकार तरलता एक सापेक्षिक तत्त्व है। इसका अभिप्राय यह है कि खतरे की स्थिति मे बैंक अपनी सभी देन को शीघ्र चुका सकता है।

(ख) लाभदायकता (Profitability) : अपने साधनो के वितरण मे व्यावसायिक बैंक अपने लाभ पर भी ध्यान देता है; *क्योंकि यह एक लाभ कमानेवाली संस्था* (*Profit-seeking* institution) है और इसके लाभ का अधिकतर भाग उसके विनियोग से ही प्राप्त होता है। अतएव, बैंक को अपने धन का विनियोग इस प्रकार से करना चाहिए कि उसे उनसे एक अच्छी और स्थायी आय प्राप्त हो सके, किन्तु नकद जमा से उसे कोई लाभ नही मिलता। अभियाचित एवं अल्पकालीन ऋण (Loans at call and Short notice) से भी नाम-मात्र की ही आय प्राप्त होती है। इसका कारण यह है कि इस प्रकार के ऋण लेनेवालों को इसमें सुविधा बहुत कम मिलती है जिससे वे अधिक ब्याज नही देते। अतएव, बैंक को अपना शेष धन इस प्रकार के साधनों मे लगाना पड़ता है जिससे कि उसे अच्छी आय प्राप्त हो सके, किन्तु इस सम्बन्ध मे ध्यान देने योग्य बात यह है कि बैंक अपने धन से जितना ही अधिक आय प्राप्त करने का प्रयास करेगा उतनी ही कम संभावना उसके रुपये के शीघ्र वापस लौटने की रहेगी। दूसरे शब्दों में, बैंक लाभ पर जितना ही अधिक ध्यान देगा तरलता से वह उतनी ही दूर हटता जायगा। आय के दृष्टि-कोण से विनियोग (Investment) बैंक का सर्वश्रेष्ठ साधन है, किन्तु इनके बाजार भावों में परिवर्तन आदि के कारण सदा पूँजी की हानि की सम्भावना भी बनी रहती है। ऋण एवं अग्रिम (Loans and advances) के सम्बन्ध मे भी यही बात है। इन पर बैंक का कोई अधिकार नही होता; क्योंकि इनकी वापसी ऋणी की इच्छा पर निर्भर करती है। अतएव, इनकी वापसी पर विश्वास नही किया जा सकता। इस प्रकार इन साधनो से बैंक को अधिक लाभ अवश्य होता है, किन्तु इनमे तरलता नही होती।

इस प्रकार तरलता (*Liquidity*), *यानी शीघ्र नकद मुद्रा वापिस करने की योग्यता एवं* लाभदायकता (Profitability) दोनों दो विपरीत तत्त्व हैं। (Liquidity and profitability are two opposite *considerations*) *वास्तव मे, जो साधन जितना ही अधिक तरल होता है वह* उतना ही कम लाभदायक होता है। उदाहरण के लिए, नकद जमा पूर्णतः तरल साधन है परन्तु इससे कोई आय नही प्राप्त होती। दूसरी ओर कुछ ऐसे साधन, *जैसे ऋण एव अग्रिम* (Loans and advances) हैं जिनसे आय अधिक होती है, किन्तु जो बिलकुल तरल नही होते। व्यावसायिक बैंक को अपने साधनो के वितरण में इन दोनो उद्देश्यो पर समान रूप से ध्यान देना पड़ता है। **"अतएव सफल बैंक-व्यवसाय का रहस्य इस बात में है कि बैंक अपने साधनों को विभिन्न मदों में इस प्रकार से वितरित करे कि तरलता एवं लाभदायकता के दोनों विपरीत तत्त्वों के बीच उचित संतुलन स्थापित किया जा सके।"** (The secret of successful banking business is to distribute resources between the various forms of assets in such a way as to get a sound balance between the opposite considerations of liquidity and profitability.) दूसरे शब्दो मे, बैंकको अपने साधनो का वितरण इस प्रकार से करना चाहिए जिससे कि उसके पास ग्राहकों की माँग की पूर्ति के लिए सदा पर्याप्त मात्रा में नकद मुद्रा बनी रहे तथा साथ-ही-साथ लाभ भी पर्याप्त हो।

(ग) साधनों की सुरक्षा (Safety of assets) :— तरलता एवं लाभदायकता के साथ-साथ बैंक अपने साधनों की सुरक्षा पर भी सदा ध्यान देता है। सुरक्षा को ध्यान मे नही रखने से बैंक का व्यवसाय किसी भी समय संकटमय हो सकता है। सुरक्षा की बलि पर बैंक को लाभ के पीछे नही दौड़ना चाहिए। अपने साधनो की सुरक्षा बनाये रखने के लिए बैंक को साधारणतया कुछ विशेष बातो पर ध्यान देना पड़ता है। सर्वप्रथम तो बैंक को अपना तमाम धन किसी एक ही

व्यक्ति या व्यवसाय मे नहीं लगाना चाहिए। (*A bank should not lay all its eggs in the* same basket) ऐसा करने से बैंक अपने अस्तित्व के लिए किसी खास व्यक्ति अथवा उद्योग विशेष पर विशेष रूप से आश्रित हो जाता है। साथ ही, बैंक को ऋण देने से पहले ऋणी के आचरण एव साख के सम्बन्ध मे पूर्ण जानकारी प्राप्त कर लेनी चाहिए। ऋण बिना उचित जमानत के नहीं देनी चाहिए। सुरक्षा के दृष्टिकोण से अल्पकालीन ऋण ही सदा उत्तम होते हैं। अतएव बैंको को दीर्घकालीन ऋण मे अपने साधनो का बडा भाग नहीं लगाना चाहिए।

निष्कर्ष —व्यावसायिक बैंक उक्त सिद्धान्तो के आधार पर ही अपने साधनो का वितरण करते हैं। *बैंक अपने धन को प्राय 6 साधनो मे लगाता है—नकद मुद्रा (Cash), अभियाचित* एव अल्पकालीन ऋण (Call Loans), बिल, सरकारी प्रतिभूतियाँ, ऋण एव विनियोग। इनमे से सरकारी प्रतिभूतियो का चलन मुख्य रूप से द्वितीय महायुद्ध के समय से ही प्रारम्भ हुआ है। **निम्नलिखित तालिका से भिन्न भिन्न समय में इगलैण्ड के बैंकों के धन का विभिन्न मदो में आदर्श वितरण स्पष्ट हो जाता है —**

बैंक के धन का विभिन्न साधनों के बीच वितरण (प्रतिशत में)[1]

मदें	1929 का आदर्श वितरण[2]	1938 मे वितरण	1946 मे वितरण
नकद	11	11	11
अभियाचित ऋण	—	7	6
बिल	15	12 5	9
ट्रेजरी डिपोजिट रसीद	—	—	31
विनियोग	12	29	26
ऋण	55	44	18

उपरोक्त तालिका से बैंक के धन का विभिन्न मदो मे वितरण स्पष्ट हो जाता है। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि 1938 एव 1946 ई० के बीच साधनो के वितरण मे कुछ अन्तर हुआ है। 1946 ई० मे बैंको के कुल धन का प्राय दो तिहाई भाग किसी न किसी रूप मे सरकारी ऋण एव प्रतिभूतियों में लगाया गया था। नकद मुद्रा के अन्तगत केन्द्रीय बैंक के पास जमा किया गया धन तथा उसी बैंक के नोटो की रकम थी। इसी प्रकार अभियाचित ऋण (*Call loans*) के अन्तर्गत भी मुद्रा बाजार को सरकारी प्रतिभूतियो की जमानत पर दिया गया ऋण है। विभिन्न प्रकार की सम्पत्ति से प्राप्त आय मे भी इसी प्रकार से विभिन्नता पायी जाती है।

उक्त तालिका से इगलैड के व्यावसायिक बैंको के साधनो का वितरण स्पष्ट होता है। अन्य देशो मे भी बैंक अपने साधनो का वितरण प्राय इसी आधार पर करते हैं। प्रत्येक देश मे बैंक के साधनो मे नकद मुद्रा बिल ऋण एव विनियोग का महत्त्वपूर्ण स्थान रहता है। सभी बैंक अपने पास सदा कुछ नकद मुद्रा रखते हैं कुछ बिल रखते हैं, क्योंकि इनमे विनिमय-साध्यता (Shiftability) *बहुत अधिक पायी जाती है, अधिक लाभ प्राप्त करने के उद्देश्य से ऋण देते हैं* तथा विनियोग (विशेषत, सरकारी प्रतिभूतियो) मे भी अपने धन को लगाते हैं।

बैंक के ऋणों की मांग मे परिवर्तन

(*Changes in the Demand for Bank Loans*)

किन्तु, आधुनिक समय मे व्यावसायिक बैंको की कार्यवाही मे कुछ विशेष प्रवृत्तियाँ दृष्टिगोचर हो रही हैं। इनमे से एक प्रमुख प्रवृत्ति गत कुछ वर्षो से बैंको के ऋण (advances) की माग मे कमी की प्रवृत्ति है। प्रो० सेयस (Sayers) के अनुसार[3] **बैंकों के ऋण की माग में इस कमी के निम्नलिखित पाँच प्रमुख कारण हैं —**

1 इन आँकड़ों का जोड 100 नहीं है क्योंकि इनमें बैंक के सभी प्रकार के साधन सम्मिलित नहीं हैं।

2 उक्त विवरण 1929 ई० में इगलैण्ड के किसी बडे बैंक के मैनेजिंग डायरेक्टर द्वारा बैंकों के लिए *आदर्श वितरण के तौर पर बताया गया था।*

3. Sayers—Modern Banking (1958) P 201

(क) औद्योगिक केन्द्रीकरण (Industrial Integration),
(ख) बैंक-साख पर आधारित उद्योगो का सापेक्षिक पतन,
(ग) साख-सम्बन्धी विशिष्ट संस्थाओ का विकास (Growth of specialised credit institutions),
(घ) शेयर बाजार का विकास (Development of stock market), तथा
(च) फुटकर व्यापार मे नकद भुगतान की वृद्धि (Increase in cash payment in retail trade)।

औद्योगिक केन्द्रीकरण से फर्म का आकार बहुत बडा हो जाता है। बडे फर्म के कोष मे छोटे फर्म की अपेक्षा बहुत कम परिवतन होता है, अतएव, इन्हें ऋण (advance) की कम ही आवश्यकता पडती है। साथ ही, ये अधिविकर्ष (overdraft) की सुविधा का छोटे फर्मो की अपेक्षा बहुत कम प्रयोग करते हैं। प्रत्येक फर्म अप्रत्याशित खर्च के लिए कुछ जमा अपने पास रखता है। बड फर्म का कोष अपेक्षाकृत अधिक होता है जिससे उसका काम उसके साधनो से ही चल जाता है। जिस फर्म का आकार जितना ही बडा होता है मुद्रा की माग मे मौसमी परिवर्तनो से वह उतना ही कम प्रभावित होता है। अतएव बडे फर्म को कम ऋण की आवश्यकता पडती है।

बैंक के ऋणो (advances) मे कमी का दूसरा प्रधान कारण ऐसे व्यवसायो का पतन है जो अपनी कार्यशील पूंजी के लिए मुख्यत बैंको पर निर्भर करते थे। यह प्रवृत्ति इगलैंड की अपेक्षा सयुक्त राज्य अमेरिका तथा कैनाडा मे अधिक प्रबल रही है। इन देशो मे कृषि मुख्यतया बैंक साख पर आधारित थी, किन्तु वर्तमान समय मे कृषि की साख-सम्बन्धी आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए कुछ विशिष्ट सस्थाओ की स्थापना हुई है जिनमे भूमि-बन्धक बैंक (Land Mortgage Bank) प्रधान हैं। साथ ही, आजकल प्रत्येक देश की आर्थिक व्यवस्था मे सार्वजनिक उद्योगो (Public utilities) एव निर्माण तथा खनिज उद्योगो का महत्व बढता जा रहा है जो बैंक साख पर बहुत कम निर्भर करते हैं। ऐसे उद्योग शेयर-बाजार (Stock-market) का प्रयोग कर अपनी पूंजी का अधिकाश भाग प्राप्त कर लेते हैं। इस प्रकार बैंक साख पर आश्रित उद्योगो का पतन बैंक के ऋण की माग मे कमी का एक प्रमुख कारण है।

शेयर बाजारो के विकास का भी उद्योगो की ऋण की माग पर प्रभाव पडा है। शेयर बाजारो मे कम्पनियाँ अपने हिस्सो को बेच कर पर्याप्त मात्रा मे पूंजी प्राप्त कर लेती हैं, अतएव, आजकल की अच्छी कम्पनियाँ अपनी पूंजी की आवश्यकताओ के लिए बैंको पर आश्रित नही होकर नये शेयर अथवा ऋण पत्र जारी कर ही अपना कार्य चला लेती हैं।

बैंको के ऋण की माग मे कमी का सर्वाधिक प्रमुख कारण खुदरा व्यापार मे नकद भुगतान की प्रथा का प्रचलन है। इससे फुटकर व्यापारियो को बहुत कम ऋण लेने की आवश्यकता पडती है जिससे बैंक के ऋण की माग मे बहुत कमी हो गयी है।

बैंको के ऋणो की माग मे कमी के परिणामस्वरूप वर्तमान समय मे व्यावसायिक बैंको के समक्ष एक समस्या उपस्थित हो गयी है। इसके फलस्वरूप इनकी आय मे बहुत कमी हो गयी है जिससे बैंको मे आपसी प्रतियोगिता बहुत बढ गयी है। साथ ही, इसका इगलैंड के बैंको के सगठन पर भी महत्वपूर्ण प्रभाव पडा है। अब ये विभिन्न प्रकार से अपनी आय मे वृद्धि का प्रयत्न करते हैं, किन्तु जैसा कि हम जानते हैं इनकी आय मे वृद्धि का क्षेत्र बहुत ही सीमित है।

इस प्रकार '**आजकल व्यावसायिक बैंकों के समक्ष तरलता के अभाव की समस्या नहीं, वरन् तरलता के आधिक्य की समस्या है।**' (The problem in modern commercial banking is not of liquidity but of excess of liquidity) पहले बैंक अपने कुल साधनो का 60 प्रतिशत भाग ऋण (advance) तथा 30 प्रतिशत भाग तरल साधन के रूप मे रखते थे, किन्तु द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद बैंक के तरल साधन प्राय 50 प्रतिशत हो गये हैं तथा ऋण का अनुपात बहुत ही कम हो गया है। व्यावसायिक बैंको के तरल साधनो मे इस वृद्धि का मुख्य कारण द्वितीय महायुद्ध के बाद सरकारी प्रतिभूतियो का आधिक्य है। सरकारी प्रतिभूतियो के लिए बहुत विस्तृत बाजार है। मुद्रा-बाजार मे भी इन्ही का आधिक्य है अतएव, व्यावसायिक बैंक ने भी इन्हे अधिकाधिक मात्रा मे खरीदना प्रारम्भ कर दिया है। अतिरिक्त तरलता का प्रभाव

व्यावसायिक बैंको पर यह पडा है कि उनके पास ऋण की सृष्टि की अपरिमित सम्भावनाएँ हैं, क्योकि ऋण की सृष्टि तरल प्रसाधनो के बल पर ही होती है। यही कारण है कि इगलैड एव अमेरिका मे आज अधिस्फीति की स्थिति वर्त्तमान है।

इस प्रकार व्यावसायिक बैंको की आर्थिक स्थिति मे परिवर्तन का प्रभाव सम्पूर्ण आर्थिक व्यवस्था पर पडा है। इसके फलस्वरूप 1951 ई० के नवम्बर से इगलैंड की सरकार ने नयी मौद्रिक नीति अपनायी है जिसके अनुसार समय-समय पर बैंक-दर मे परिवर्तन किया जाता है। साथ ही, बैंक ऑफ इगलैंड ने 5 अरब पौड की ट्रेजरी बिलो को खरीद कर इनके बदले मे दीर्घकालीन प्रतिभूतियो को जारी किया है। इससे बैंक के साधन घट कर प्राय 32 प्रतिशत हो गये। साथ ही, इनके नक्द कोषो मे भी कमी हुई। इस प्रकार इन प्रयत्नो के परिणामस्वरूप ब्रिटिश बैंकिग-प्रणाली धीरे-धीरे अपनी प्राचीन स्थिति मे लौट रही है।

विशेष अध्ययन सूची

1. Sayers Modern Banking.
2. R P Kent . Money & Banking
3. Crowther : An Outline of Money, Chapter II

———

अध्याय : 18

साख-पत्र

(Credit Instrument)

साख क्या है ? (What is Credit ?) :—हिन्दी शब्द 'साख' का पर्यायवाची अंगरेजी शब्द क्रेडिट (Credit) है जो लैटिन के 'क्रेडो' (Credo) शब्द से बना है जिसका अर्थ "मैं विश्वास करता हूँ" (I believe) है। अतएव, साख शब्द का अर्थ है, 'विश्वास' (Confidence)। साधारणतया 'साख' शब्द का प्रयोग बहुत विस्तृत अर्थ मे किया जाता है, किन्तु अर्थशास्त्र मे साख शब्द का अर्थ है **भुगतान को स्थगित करना** । (Credit means postponement of payment.) साख की और भी कई प्रकार से परिभाषा दी जाती है। साख वर्तमान समय मे दिये गये माल के बदले मांगने पर या किसी निश्चित भावी तिथि पर भुगतान प्राप्त करने का अधिकार या भुगतान देने का दायित्व है। प्रो० जीड (Gide) के अनुसार, **"साख एक ऐसा विनिमय कार्य है जो कुछ समय बाद भुगतान करने पर पूरा हो जाता है।"** (Credit is an exchange which is complete after the expiry of a certain period of time after payment) प्रो० टॉमस (Thomas) ने साख की परिभाषा इस प्रकार से दी है—**"साख शब्द से किसी व्यक्ति की उस शोधनक्षमता तथा देनदारी के विश्वास का बोध होता है जिसके परिणामस्वरूप उस व्यक्ति पर विश्वास कर उसे मुद्रा, वस्तुएँ अथवा अन्य कोई बहुमूल्य पदार्थ सौंपा जाता है।"**[1] (The term credit is now applied to that belief in a man's probability and solvency which will permit of his being entrusted with something of value belonging to another whether that something consists of money, goods, services or even credit itself as when one may entrust the use of his good name and reputation)

इसी प्रकार प्रो० कोल (Cole) के अनुसार, **"साख उस क्रय-शक्ति को कहते हैं जो आय के द्वारा प्राप्त नहीं होती, वरन वित्तीय संस्थाओं द्वारा उस जमा की रकम का जो उनके पास रखी होती है, प्रयोग करने के उद्देश्य से उत्पन्न की जाती है "** (Credit is purchasing power not derived from income, but created by financial institutions either as an offset to idle income held by depositor in the banks or as a net addition to the total amount of purchasing power.)[2]

प्रो० किनले (Kinley) के अनुसार, **"साख से हमारा तात्पर्य किसी व्यक्ति की उस क्षमता से है जिससे वह किसी अन्य व्यक्ति को भविष्य में भुगतान की प्रतिज्ञा पर अपनी आर्थिक वस्तुएँ समर्पित करने के लिए प्रेरित करता है। इस प्रकार साख ऋणी का एक गुण अथवा शक्ति है।** "(By credit, we mean the power which one person has to induce another to put economic goods at his disposal for a time on promise of future payment Credit is thus an attribute or power of the borrower.)

इस प्रकार **"साख एक प्रकार का विनिमय-कार्य है जिसमे कोई ऋणदाता (Creditor) किसी ऋणी (Debtor) को वर्तमान समय में कुछ वस्तुएँ अथवा मुद्रा इस विश्वास पर प्रदान करता है कि कुछ समय बाद वह उसे वापिस कर देगा।"**

साख के आवश्यक तत्त्व (Essential elements of Credit) —साख के कुछ आवश्यक तत्त्व हैं, यानी किसी व्यक्ति की साख कुछ विशेष बातो पर निर्भर करती है। इनमे निम्नलिखित विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं :—

(1) विश्वास (Confidence) :—साख का आधार विश्वास है। जबतक किसी व्यक्ति को इस बात का विश्वास नहीं हो जाय कि वर्तमान मे जो वह वस्तु अथवा मुद्रा देता है वह आगे

1 *S E Thomas : Elements of Economics, P 398*

2. *G. D. H Cole—Money—Its Present & Future P 208.*

चलकर लौटा दिया जायगा तबतक वह उधार देने का विचार भी नही करेगा। इस प्रकार विश्वास साख का परमावश्यक तत्त्व है।

(2) **चरित्र** .— साधारणतया ऋणी (debtor) का चरित्र भी उसकी साख का एक महत्त्वपूर्ण आधार होता है। यदि किसी व्यक्ति के सम्बन्ध मे यह ख्याति है कि भूतकाल म उसने सारे ऋण लौटा दिये हैं तो वर्त्तमान समय मे उसे ऋण मिलने मे कोई कठिनाई नही होगी। इसके विपरीत यदि किसी व्यक्ति का चरित्र इस सम्बन्ध मे सन्देहात्मक है, तो उसे उधार या साख मिलने मे सदा कठिनाई होगी।

(3) **चकाने की क्षमता** (Capacity to repay) —साख का एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व ऋणी (debtor) के भुगतान की क्षमता भी है। ऋणदाता किसी व्यक्ति को उधार तब देता है। जब उसे उस व्यक्ति के भुगतान की क्षमता (Capacity to repay) पर पूर्ण विश्वास हो। इस प्रकार किसी व्यक्ति की साख उस व्यक्ति के भुगतान करने की क्षमता पर निर्भर करती है।

(4) **पूँजी एव सम्पत्ति** (Capital and Wealth) —बडी बडी रकम ऋण के रूप मे प्राप्त करने के लिए साधारणत किसी व्यक्ति को बैक आदि पर निर्भर करना पडता है जो पूँजी या सम्पत्ति की जमानत के बगैर उधार नही देते। अतएव, जिस व्यक्ति के पास जितनी ही अधिक पूँजी अथवा सम्पत्ति होती है, उसे उतना ही अधिक ऋण मिल सकता है।

इस प्रकार साख के उक्त चार आवश्यक तत्त्व हैं। दूसरे शब्दो मे, किसी व्यक्ति की साख उसके प्रति विश्वास, उसके चरित्र, ऋण चुकाने की क्षमता तथा उसकी पूँजी एव सम्पत्ति पर निर्भर करती है। इस सम्बन्ध मे यह कहना अनुचित नही होगा कि किसी व्यक्ति को साख या उधार देते समय साख की राशि एव साख की अवधि का उल्लेख अनिवार्य है। साख की राशि एव अवधि के उल्लेख के बगैर साख के सम्बन्ध मे निश्चित रूप से कुछ भी नही कहा जा सकता है।

विभिन्न प्रकार के साख-पत्र

(Different Kinds of Credit Instruments)

साख पत्र से हमारा आशय उन साधनो से है जिनका उपयोग साख-मुद्रा के रूप मे किया जाता है। ये वे पत्र है जिनके आधार पर साख अथवा ऋण का आदान-प्रदान होता है। वे वस्तुओ एव सेवाओ के क्रय-विक्रय मे विनिमय के माध्यम का कार्य करते है। अतएव, साख-पत्र (Credit instrument) ठीक मुद्रा की ही तरह कार्य करते हैं, किन्तु मुद्रा एव साख-पत्रो मे एक प्रमुख अन्तर यह है कि जबकि मुद्रा, यानी सिक्के अथवा पत्र मुद्रा कानूनी ग्राह्य (Legal Tender) होते हैं साख-पत्रो को कानूनी मान्यता नही प्राप्त रहती है। अतएव, साख पत्रो को लेन-देन के कार्य मे स्वीकार करने के लिए किसी को भी बाध्य नही किया जा सकता। दूसरे शब्दो मे, इनकी ग्राह्यता ऐच्छिक होती है।

साख पत्र विभिन्न प्रकार के होते हैं जिनमे निम्नलिखित प्रमुख हैं —

(1) **चेक** (Cheque) —चेक सर्वाधिक प्रचलित साख पत्र है। यह एक प्रकार का लिखित आदेश है जो बैंक मे रुपया जमा करनेवाला अपने बैंक को देता है कि उसमे लिखित रकम उसमे लिखित व्यक्ति या उसके आदेश प्राप्त व्यक्ति या धारक (bearer) को दी जाय। (A cheque is an order on a bank to pay a stated sum of money to the person named as the payee or to his order or to the bearer of the cheque) इण्डियन निगोशिएबुल इन्स्ट्रूमेंट ऐक्ट (Indian Negotiable Instrument Act) के अनुसार 'चेक बैंक मे रुपया जमा करनेवाले व्यक्ति का अपने बैंक के लिए लिखित आदेश है जिसम वह बैंक को यह आदेश देता है कि चेक मे अंकित रकम उसमे लिखित व्यक्ति या उसके आदेश प्राप्त व्यक्ति अथवा उसके धारक (bearer) को मागने पर दे दे।"

चेक सदा किसी एक बैंक को लिखा जाता है जिससे इसका भुगतान मागने पर उसे शीघ्र ही करना होता है। इसके सामान्यतया तीन पक्ष होते हैं .— i) चेक जारी करनेवाला या आहर्त्ता (Drawer), (ii) आहार्यी (Drawee), यानी वह जिसे आदेश दिया जाता है, तथा (iii) आदाता (Payee) यानी वह जिसको कि चेक का भुगतान किया जाता है।

चेक की निम्नलिखित प्रमुख विशेषताएँ हैं :—(1) चेक एक लिखित आदेश होता है, (2) यह सदा किसी बैंक विशेष के ऊपर ही लिखा जाता है; (3) चेक का भुगतान बगैर किसी शर्त्त के होता है; (4) उसमे भुगतान की रकम का स्पष्ट रूप से उल्लेख रहता है; (5) बैंक को इसका भुगतान मागने पर शीघ्र ही करना होता है। इसकी भुगतान इसमे निर्देशित व्यक्ति अथवा उसके आदेश-प्राप्त व्यक्ति अथवा चेक के वाहक (bearer) को दिया जाता है, (6) इस पर इसके जारी करनेवाले व्यक्ति, यानी आहर्त्ता का हस्ताक्षर होता है : इस प्रकार चेक एक प्रकार का विनिमय बिल है जो किसी बैंक पर लिखा जाता है तथा माग करने पर जिसका भुगतान किया जाता है। (A cheque is a Bill of Exchange drawn on a banker payable on demand.)

चेक सामान्यतया तीन प्रकार के होते हैं :—(i) बेयरर या वाहक चेक (Bearer cheque)—यह वह चेक है जिसका भुगतान निर्देशित व्यक्ति अथवा ऐसे व्यक्ति को जो इसे बैंक मे प्रस्तुत करता है शोधनीय होता है। इस प्रकार के चेक पर आदाता (Payee) का हस्ताक्षर आवश्यक नही, यद्यपि बैंक सुरक्षा के दृष्टिकोण से हस्ताक्षर ले लेता है। इस प्रकार का चेक पूर्णतया हस्तान्तरणीय (Transferable) होता है। (ii) **आदेशित चेक** (Order cheque) :—आदेशित चेक वह चेक है जिसका भुगतान चेक मे अकित व्यक्ति को ही मिल सकता है। इस प्रकार के चेक को भुनाने के लिए आदाता का हस्ताक्षर अनिवार्य होता है (iii) **रेखांकित चेक** (Crossed Cheque) :—यह वह चेक है जिस पर बायी ओर चेक के ऊपर हिस्से मे दो आडी रेखाएँ खींचकर 'And co'. या 'Not Negotiable' शब्द लिखा रहता है। रेखाकित चेक का भुगतान किसी भी व्यक्ति को नकद मुद्रा मे प्राप्त नही होता है। इस प्रकार के चेक का भुगतान किसी व्यक्ति के खाते मे ही जमा करके प्राप्त किया जा सकता है। रेखाकित चेक भी दो प्रकार के होते हैं :— (क) **साधारण रेखाकित चेक** (General crossed cheque) —इस प्रकार के चेक पर केवल दो खडी रेखाएँ ही अकित रहती हैं तथा उनके बीच मे 'And co' अथवा 'Not negotiable' शब्द लिखा रहता है। (ख) **विशेष रेखाकित चेक** (Special crossed cheque) —इस चेक पर रेखाकन के साथ-साथ भुगतान लेनेवाले बैंक का भी नाम रहता है। इस प्रकार के रेखाकन का लाभ यह है कि इसमे चेक विशेष रूप से सुरक्षित हो जाता है।

(2) विनिमय बिल (Bills of Exchange) :—भारतीय विनिमय-साध्य विपत्र अधिनियम (Indian Negotiab'e Instruments Act) के अनुसार, 'विनिमय बिल एक लिखित पत्र है जिसमे लिखनेवाले की ओर से बिना कोई शर्त लगाये किसी व्यक्ति को इस प्रकार का आदेश रहता है कि वह उस व्यक्ति को अथवा उसके आदेशानुसार इस पत्र को प्रस्तुत करनेवाले को इसमे लिखित रकम का भुगतान कर दे।" (A Bill of Exchange is an instrument in writing containing an unconditional order signed by the maker directing a certain person to pay a certain sum of money only to or to the order of a certain person or to the bearer of the instrument) प्रत्येक विनिमय बिल के तीन पक्ष होते हैं—(i) **आहर्ता** (Drawer or Maker), यानी वह व्यक्ति जो बिल किसी दूसरे व्यक्ति के ऊपर लिखता है और लिखकर उसकी स्वीकृति के लिए भेज देता है, (ii) **आहार्यी** (Drawee or *Acceptor*), *यानी वह व्यक्ति जिस पर कि बिल लिखा जाता है एव जो इसे स्वीकार करता* है, तथा (iii) **आदाता** (Payee) :—वह व्यक्ति जिसे बिल का भुगतान मिलता है। जब आहर्ता (Drawer) ही भुगतान प्राप्त करनेवाला व्यक्ति होता है तो बिल के केवल दो ही पक्ष हो जाते हैं : आहर्त्ता (Drawer) एव आहार्यी (Drawee)।

विनिमय बिल दो प्रकार के होते हैं :—(1) देशी विनिमय बिल (Inland Bills of Exchange) :—जब बिल किसी देश के ही व्यापारी पर लिखा जाता है तो उसे देशी विनिमय बिल कहते है। इस प्रकार के बिल के आहर्ता (Drawer) एव आहार्यी (Drawee) दोनो एक ही देश के होते हैं। (2) **विदेशी विनिमय बिल** (Foreign Bills of Exchange):—यह किसी दूसरे देश के व्यापारी पर लिखा जाता है, यानी आहर्ता तथा आहार्यी दोनो मे से कोई एक विदेशी होता है।

विनिमय बिल की निम्नाकित प्रमुख विशेषताएँ हैं :—(i) यह एक बिना शर्त लिखित

आदेश होता है। यह ऋणदाता (Creditor) द्वारा ऋणी (Debtor) के ऊपर लिखा जाता है। (ii) विनिमय बिल पर इसे जारी करनेवाले (Drawer) का हस्ताक्षर रहता है। इसके बाद यह आहार्यी (Drawee) को भेज दिया जाता है जो इस पर अपनी स्वीकृति देता है। कोई भी विनिमय बिल स्वीकृति के बगैर विनिमय साध्य या वैध नहीं होता। (iii) बिल पर भुगतान की रकम अंकित रहती है। (iv) बिल साधारणतया 90 दिन का होता है। इसके बाद तीन दिन और रियायत (Days of Grace) के रूप में मिलता है, किन्तु कभी-कभी दर्शनी बिल (Demand Bill), मांगने पर भुगतान किये जानेवाले बिल आदि भी लिखे जाते हैं।

विनिमय बिल का व्यापारिक जगत में बहुत अधिक महत्त्व है। इनसे व्यापारियों तथा उद्योगपतियों को निम्नांकित लाभ प्राप्त होते हैं —(i) इसकी सहायता से कोई भी व्यवसायी बिना नकदी भुगतान किये ही माल खरीद सकता है तथा बिल की अवधि समाप्त होने के पूर्व तक माल बेच कर धन प्राप्त कर लेता है जिससे समय आ जाने पर ऋणदाता बिल का भुगतान करता है। ऋणदाता के लिए भी यह सुविधाजनक होता है, क्योंकि वह इसकी अवधि के पहले भी इसे भुना सकता है या बेच सकता है, (ii) विनिमय बिल के प्रयोग से विदेशी व्यापार में एक देश से दूसरे देश में बहुमूल्य धातुओं को भेजने में व्यय आदि की बचत होती है। दूसरी ओर निर्यात करनेवाले (Exporters) को इसमें यह लाभ होता है कि उसे अपने देश की मुद्रा में ही भुगतान मिल जाता है। (iii) बैंक तथा विनियोक्ताओं के लिए विनिमय बिल विनियोग का एक अत्यन्त तरल साधन प्रस्तुत करता है, क्योंकि बिलों की अवधि साधारणतया 90 दिनों की होती है जिसके बाद इनका भुगतान मिल जाता है।

(3) प्रतिज्ञा-पत्र या रुक्का (Promissory Note) —भारतीय विनिमय साध्य-विपत्र अधिनियम (Indian Negotiable Instruments Act) के अनुसार "प्रतिज्ञा पत्र एक लिखित पत्र होता है जिसमें इसके लिखनेवाला, इसमें अंकित रकम, इसमें लिखे हुए व्यक्ति या पक्ष को या उसके वाहक को बिना किसी शर्त के देने की प्रतिज्ञा करता है।" इस प्रकार के प्रतिज्ञा-पत्र में केवल दो पक्ष होते हैं —एक लिखनेवाला और दूसरा रुपया पानेवाला। प्रतिज्ञा पत्र तीन प्रकार के होते हैं—(i) बैंक प्रतिज्ञा-पत्र (Bank promissory Note) —यह देश के केन्द्रीय बैंक द्वारा जारी किया जाता है जिसका भुगतान इसके वाहक की माग पर तुरत किया जाता है। उदाहरण के लिए, रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया (Reserve Bank of India) द्वारा जारी किये गये पाँच रुपये या दस रुपये के नोट। (ii) **करेंसी प्रतिज्ञा-पत्र** (Currency Promissory Note) —इस प्रकार के प्रतिज्ञा-पत्र सरकार अथवा मौद्रिक अधिकारी (Monetary authority) द्वारा जारी किये जाते हैं। उदाहरण के लिए, भारत में 1 रुपये के नोट भारत सरकार के वित्त-विभाग द्वारा जारी किये जाते हैं। बैंक प्रतिज्ञा पत्र एवं करेंसी प्रतिज्ञा पत्र में मुख्य रूप से अन्तर यही है कि बैंक प्रतिज्ञा-पत्र केन्द्रीय बैंक द्वारा जारी किये जाते हैं जबकि करेंसी प्रतिज्ञा-पत्र मौद्रिक अधिकारी अथवा सरकार द्वारा जारी किये जाते हैं। (iii) **व्यावसायिक प्रतिज्ञा पत्र** (Commercial Promissory Note) यह व्यापारियों अथवा निजी बैंकों द्वारा जारी किये जाते हैं। इस प्रकार का प्रतिज्ञा-पत्र विनिमय बिल की ही तरह होता है। अन्तर केवल इतना ही है कि प्रतिज्ञा पत्र (Promissory Note) देनदार (Debtor) द्वारा लिखा जाता है। जबकि विनिमय बिल लेनदार (Creditor) द्वारा लिखा जाता है और वह उसे देनदार (Debtor) के पास उसकी स्वीकृति के लिए भेज देता है।

(4) हुण्डी (Hundi) —यह भारत में प्रचलित एक विशेष प्रकार का साख-पत्र है। हुंडी स्थानीय भाषा में लिखी जाती है तथा इसका प्रचलन स्थानीय रीति रिवाज पर निर्भर करता है। देशी बैंकर, व्यापारियों तथा अन्य संस्थाओं द्वारा इसका प्रयोग किया जाता है। विनिमय बिलों की तरह इन पर भी टिकट लगाया जाता है। इस प्रकार हुंडी साधारणतया विनिमय बिलों की ही तरह होती है। हुंडियाँ कई प्रकार की होती हैं। इनमें दो दर्शनी हुण्डी एवं मुद्दती हुण्डी ही अधिक प्रचलित हैं। दर्शनी हुंडी का भुगतान माँग पर शीघ्र किया जाता है, किन्तु मुद्दती हुंडी का भुगतान हुंडी में अंकित एक निश्चित समय के बाद ही किया जाता है। इनके अतिरिक्त हुण्डियाँ और भी कई प्रकार की होती हैं जैसे देनदार हुण्डी जिनका भुगतान हुण्डी प्रस्तुत करनेवाले व्यक्ति को दिया जाता है तथा सहयोग हुंडी जिसका भुगतान किसी प्रतिष्ठित व्यापारी को ही हो सकता है।

(5) **बैंक ड्राफ्ट** (Bank Draft) :– बैंक ड्राफ्ट एक ऐसा साख-पत्र है जिसमे विनिमय बिल एव चेक दोनो के गुण पाये जाते हैं। बैंक-ड्राफ्ट वह पत्र है जो एक बैंक अपनी किसी दूसरी शाखा पर या किसी अन्य बैंक पर लिखता है और उसे आज्ञा देता है कि उस पत्र मे अकित रकम उसमे अकित व्यक्ति को या उसके आदेश-प्राप्त व्यक्ति को दे दी जाय। भुगतान की दृष्टि से बैंक ड्राफ्ट भी ठीक चेक की तरह होता है। इस प्रकार बैंक ड्राफ्ट के द्वारा सुगमतापूर्वक तथा कम व्यय मे ही रुपया एक स्थान से दूसरे स्थान मे भेजा जा सकता है। ड्राफ्ट देशी तथा विदेशी दोनो प्रकार का होता है।

(6) **साख-प्रमाण-पत्र** (Letter of Credit) :—साख प्रमाण-पत्र किसी व्यक्ति, फर्म अथवा बैंक द्वारा जारी किया गया एक ऐसा पत्र है जिसमे वह किसी अन्य व्यक्ति, फर्म अथवा बैंक से इस बात की प्रार्थना करता है कि पत्र मे अकित व्यक्ति को निश्चित अवधि के अन्दर साख प्रदान कर दे। इस प्रकार का प्रमाण-पत्र भी साधारणतया बैंको द्वारा ही जारी किया जाता है। ये प्रमाण पत्र दो प्रकार के होते हैं —(i) **साधारण साख प्रमाण-पत्र** (Ordinary Letter of Credit) —यह साधारणतया एक फर्म अथवा एक बैंक के नाम ही लिखा जाता है। (ii) **चलायमान साख-पत्र** (Circular Letter of Credit) :— इस प्रकार का साख-प्रमाण पत्र एक ही साथ कई बैंको की विभिन्न शाखाओ तथा सम्बन्धित व्यक्तियो को लिखा जाता है। साख-पत्रो के आधार पर ऋण नकद अथवा विनिमय बिल दोनो के रूप मे प्राप्त होता है। इस प्रकार दी गयी ऋण की रकम साख-पत्र की पीठ पर अकित कर दी जाती है।

(7) ***यात्री धनादेश या यात्रियों के चेक*** (*Traveller's Cheque*)—इस प्रकार के चेक यात्रियों के प्रयोग के लिए जारी किये जाते हैं। इस प्रकार के चेक को प्रस्तुत कर यात्री जारी करनेवाले बैंक की किसी भी शाखा अथवा सम्बन्धित बैंक से रुपया ले सकता है। प्रत्येक चेक पर उसकी रकम अकित रहती है। चेक जारी करनेवाला बैंक उस पर यात्री का हस्ताक्षर करा लेता है। भुगतान करनेवाले बैंक के समक्ष भी यात्री को हस्ताक्षर करना होता है। इस प्रकार हस्ताक्षर मिला कर बैंक प्रस्तुतकर्ता को इसके आधार पर चेक मे अकित रकम प्रदान करता है। इस प्रकार के चेक के खो जाने से रुपये की हानि का कोई भय नही रहता है।

(8 **पुस्तकीय साख** (Book Credit) जब कोई व्यापारी अपना माल उधार बेचता है अथवा कोई बैंक ऋण देता है तो वे उधार दी गयी रकम को अपने खाते में अकित करते हैं। इस प्रकार के ऋण को पुस्तकीय साख कहते है। इस प्रकार पुस्तको मे अकित साख को वैधानिक रूप मे भी उधार मान लिया जाता है। आधुनिक व्यावसायिक युग मे पुस्तकीय साख का बहुत अधिक महत्त्व है, क्योकि आधुनिक व्यापार का एक बहुत बडा भाग आजकल इसी प्रकार के साख पर आधारित है। पुस्तकीय साख के रूप मे दिये गये ऋणो का बहुत कुछ साधारणतया आपसी ऋणो के समायोजन (Adjustment) से ही भुगतान हो जाता है। इसके बाद जो शेष बचता है उसका भुगतान नकदी मुद्रा के रूप मे किया जाता है।

उपरोक्त साख पत्रो के अतिरिक्त और भी बहुत प्रकार के साख-पत्र प्रचलित हैं जिनमे **सरकारी हुण्डियाँ या ट्रेजरी बिल** (*Treasury bill*), **अनुग्रह बिल** (Accommodation bill), तथा ऋण-पत्र (Debentures) आदि उल्लेखनीय हैं।

साख के कार्य एवं उपयोगिता

(Function and Utility of Credit)

आधुनिक व्यावसायिक युग मे साख का बडा ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। पूँजीवादी आर्थिक व्यवस्था मे तो साख का और भी अधिक महत्त्व है। यही कारण है कि इसे आधुनिक औद्योगिक प्रणाली का हृदय एव उद्योग (Heart of modern industrial system) तथा व्यापार का रक्त (the life blood of business) कहते हैं। डेनियल वेबस्टर (Daniel webster) के अनुसार, "साख-मुद्रा ने ससार को समृद्ध बनाने मे विश्व की सारी खानो की तुलना मे हजार गुना अधिक काम किया है। साख मुद्रा ने श्रम को कार्य करने के लिए प्रोत्साहन दिया है, उत्पादन तथा दस्तकारी मे वृद्धि की है, समुद्र पार व्यापार को स्थापित किया है तथा ससार के प्रत्येक राष्ट्र, प्रत्येक राज्य तथा प्रत्येक जाति को एक-दूसरे के समीप लाकर अतर्राष्ट्रीय सहयोग तथा मित्रता

की भावना को जन्म दिया है।" (Credit has done more—a thousand times more—to enrich nation than all the mines of the world It has excited labour, stimulated manufactures, pushed commerce on every sea and brought every nation, every kingdom and every small tribe among the races of men to be known to all the rest.] वास्तव मे, साख आधुनिक व्यावसायिक जगत की विभिन्न प्रकार से सेवा करता है। साख के इन कार्यों के आधार पर इसके बहुत से लाभ बतलाये जाते हैं जिनमे निम्नांकित विशेष रूप मे उल्लेखनीय हैं :—

(1) **पूँजी उत्पादन-शक्ति में वृद्धि** :—साख पूँजी मे गतिशीलता उत्पन्न करके उसकी उत्पादन-क्षमता मे वृद्धि करता है। इसके फलस्वरूप समाज की निष्क्रिय या अनुपयोगी पूँजी का उन व्यक्तियो के पास हस्तांतरण हो जाता है जो इसे उत्पादन के कार्य मे लगाकर देश तथा समाज की महत्त्वपूर्ण सेवा करते है। इस प्रकार साख पूँजी को गतिशील बना कर इसकी उत्पादन-क्षमता मे वृद्धि करता है।

(2) **बहुमूल्य धातुओं की बचत** :—साख के आधार पर ही साख पत्रो का निर्माण होता है जिनके प्रचलन से बहुमूल्य धातुओ की बचत होती है। व्यापारी वर्ग भुगतान का कार्य प्रायः साख-पत्रो के द्वारा ही करते है। इससे पत्र-मुद्रा के प्रयोग मे भी बचत होती है।

(3) **विनिमय के माध्यम में वृद्धि** :—साख-पत्रो का विनिमय माध्यम के रूप मे प्रयोग किया जाता है। इससे विनिमय के माध्यम मे वृद्धि होती है जिससे व्यापार एव व्यवसाय मे सुविधा होती है। साथ ही, इससे बहुमूल्य धातुओ के उपयोग मे भी बचत होती है।

(4) **देश के आर्थिक विकास में सहायता** :—साख के प्रयोग से देश के आर्थिक विकास मे बहुत अधिक सहायता मिलती है। उधार लेने की सुविधा से व्यापारियो एव उद्योगपतियो को नये-नये क्षेत्रो मे काम करने के लिए प्रोत्साहन मिलता है। साथ ही, जब किसी व्यवसायी की वस्तु की माग असाधारण समय मे बढ जाती है तो वह उधार लेकर अपने व्यवसाय को बढा सकता है। इस प्रकार साख की सुविधा आर्थिक, व्यावसायिक एव वाणिज्यिक उन्नति का प्रतीक होती है।

(5) **मुद्रा-प्रणाली में लोच** :—साख का निर्माण प्राय. बैंको द्वारा किया जाता है। ये व्यापार एव व्यवसाय की आवश्यकताओ के अनुरूप इसका विस्तार अथवा सकुचन करते हैं। इससे देश की मुद्रा प्रणाली मे लोच आती है।

(6) **बचत एवं पूँजी के संयोग को प्रोत्साहन मिलता है** :—साख से बचत तथा पूँजी के सचय को प्रोत्साहन मिलता है। बैंक तथा अन्य साख सस्थाएँ जनता से उनकी छोटी-छोटी बचतों को जमा के रूप मे ग्रहण करती हैं। इससे लोगो मे बचत की आदत को प्रोत्साहन मिलता है जिससे पूँजी का सचय बढता है।

(7) **भुगतान में सुविधा** :—बडी-बडी राशियो के भुगतान मे साख-पत्र अधिक सुरक्षित, सस्ते एव सुविधाजनक होते हैं। विनिमय बिल तथा बैंक ड्राफ्ट जैसे साख-पत्रो से तो विदेशी भुगतान मे भी सहायता मिलती है। इस प्रकार साख-पत्रो से भुगतान मे सुविधा होती है।

(8) **मूल्यों मे स्थिरता** —सरकार अथवा केन्द्रीय बैंक साख पर समुचित नियन्त्रण रखते हैं जिससे देश के मूल्य-स्तर मे स्थिरता आती है। यह देश के लिए निश्चय ही बहुत अधिक लाभदायक सिद्ध होता है।

(9) **सकटकालीन परिस्थितियों का सुगमतापूर्वक सामना किया जा सकता है** :—साख की सहायता से सरकार अथवा व्यक्ति को सकटकालीन परिस्थितियो का मुकाबला करने के लिए आवश्यक धन प्राप्त होता है जिससे इन कठिनाइयो को सुगमतापूर्वक दूर किया जा सकता है।

उक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि आधुनिक आर्थिक व्यवस्था मे साख एव साख-पत्रो का बडा ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। इनके प्रयोग से देश एव समाज का बहुत बडा आर्थिक कल्याण होता है।

साख की हानियाँ

(Disadvantages of Credit)

साख के उपरोक्त गुणो के साथ साथ इनमे बहुत सारे दोष भी हैं। इनका दुरुपयोग होने से देश एव समाज को बहुत अधिक हानि की सभावना रहती है। यही कारण है कि इसे अच्छा सेवक किन्तु बुरा स्वामी कहा जाता है। (Credit is good ascrvent but a bad master) दूसरे शब्दो म, मुद्रा की ही तरह समुचित नियत्रण के अभाव मे साख-मुद्रा अनेक गभीर परिणामो का कारण बन सकती है। (Thus like money, credit too, if left uncontroled might do in calculable harm to the community where it seeks to serve) किन्तु इसके निम्नलिखित दोष भी हैं :—

(1) **साख के अत्यधिक प्रसार तथा संकुचन का भय** —साख का सबसे बडा दोष यह है कि तेजी के समय इसका अत्यधिक प्रसार तथा मन्दी के समय अत्यधिक सकुचन हो जाता है जिससे मुद्रा स्फीति एव विस्फाति की प्रवृत्तियो को बल मिलता है। इस प्रकार समय-समय पर साख के सकुचन अथवा प्रसार के व्यापार मे अनिश्चितता आ जाती है तथा आर्थिक स्थिति अस्त-व्यस्त हो जाती है। इससे देश एव समाज को अत्यधिक क्षति होती है।

(2) **अपव्यय की सम्भावना** —साख-व्यवस्था के कारण समाज मे ऋण मिलने मे सुगमता होती है जिससे अपव्यय को प्रोत्साहन मिलता है। इससे धीरे-धीरे समाज का नैतिक स्तर नीचे गिर जाता है। इसलिए, यह कहा जाता है कि साख प्रणाली तभी तक अच्छी होती है जबतक इस पर मनुष्य का नियत्रण रहता है। परन्तु जब यह स्वयं मनुष्य पर विजय प्राप्त कर लेती है तो यह बुरी स्वामिनी अहित के रूप मे देश के आर्थिक जीवन को दूषित कर देती है।

(3) **अयोग्य तथा अकुशल व्यापारियों को प्रश्रय** ,—साख के द्वारा सरकार, व्यापारी एव उद्योगपति अपनी अयोग्यता को छुपाने मे सफल होते हैं। ऋण द्वारा पूँजी प्राप्त कर ये सुगमतापूर्वक अपनी कमजोरियो को छुपाते हैं, किन्तु जरा सा आर्थिक उथल पुथल होन पर ये सकट मे फँस जाते हैं जिससे इनके व्यक्तिगत अहित के साथ साथ सम्पूर्ण समाज का भी अहित होता है।

(4) **आर्थिक असमानता मे वृद्धि** (Increase in Econonmic inequality) —साख के प्रचलन से पूँजी के सचय को बल मिलता है। इससे धीरे-धीरे समाज का अधिकाश धन कुछ ही व्यक्तियो के हाथ मे केन्द्रित हो जाता है जिससे आय एव धन के वितरण म घोर असमानता फैलने लगती है। इससे एकाधिकारी प्रवृत्तियो को भी बल मिलता है। अधिकाश धन एव आर्थिक शक्ति कुछ ही व्यक्तियो के हाथ म केन्द्रित हो जाने से समाज मे अशान्ति भी बढती हैं।

(5) **उत्पादनाधिक्य** (Problem of Over production) **की समस्या** —देश मे साख के अत्यधिक प्रसार से उत्पादन मे भी अत्यधिक वृद्धि होती है। इसके फलस्वरूप कभी-कभी उत्पादन इतना अधिक हो जाता है कि उत्पादनाधिक्य (Over production) की समस्या उत्पन्न हो जाती है जिससे समज का सम्पूर्ण आर्थिक जीवन ही अस्त व्यस्त हो जाता है।

इस प्रकार उक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि यद्यपि साख से समाज को बहुत लाभ प्राप्त होते हैं, फिर भी, इससे समाज को हानि भी हो सकती है। (Like all useful and delicate instruments Credit is dangerous when abused) किन्तु साख समाज के लिए हानिकारक तब ही सिद्ध होता है जब इसका दुरुपयोग किया जाता है। वास्तव मे, साख व्यवस्था के समुचित नियत्रण द्वारा इसके बहुत सारे दोषो को दूर किया जा सकता है। अतएव, साख के समुचित नियत्रण की व्यवस्था अनिवार्य है।

विशेष अध्ययन सूची

1 G D H Cole Money . Its Present & Future

2 G N Halm : Economics of Money and Banking

अध्याय : 19

लन्दन तथा न्यूयार्क मुद्रा-बाजार

(London and New York Money Market)

मुद्रा-बाजार का अर्थ (Meaning of Money Market) —प्रत्येक देश की बैंकिंग प्रणाली का स्वरूप आजकल केन्द्रीय बैंक के नियन्त्रण में अत्यन्त सुसगठित एवं केन्द्रित होता जा रहा है, किन्तु इस प्रकार की बैंकिंग प्रणाली के सगठन में कुछ ऐसी सस्थाओं का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है जो बैंकों के आस-पास में रहकर मुद्रा के लेन देन का कार्य करती हैं। इसी प्रकार की सस्थाओं को सम्मिलित रूप से मुद्रा-बाजार कहते हैं। मुद्रा अथवा साख के लेन देन का आज प्रत्येक देश की आर्थिक व्यवस्था में महत्त्वपूर्ण स्थान है। मुद्रा अथवा साख का लेन-देन दो प्रकार का होता है—अल्पकालीन एव दीर्घकालीन। उस बाजार में जहाँ मुद्रा अथवा साख का अल्पकालीन लेन देन होता है। मुद्रा बाजार (Money Market) कहते हैं तथा जहाँ पर दीर्घकालीन लेन देन होता है उसे पूँजी-बाजार (Capital Market) या शेयर-बाजार (Stock Market) कहते हैं। विश्व के अधिकाश देशों में व्यावसायिक बैंकों का सम्बन्ध मुख्यत मुद्रा बाजार से ही रहता है, क्योंकि ये बहुधा अपने अतिरिक्त धन को मुद्रा बाजार की विभिन्न सस्थाओं को अल्पकाल के लिए प्रदान करते हैं। अन्य बाजारों की तरह मुद्रा-बाजार भी यथार्थ होते हैं तथा इनकी कार्यवाही को हम लदन के Lombard Street तथा न्यूयार्क के Wall Street में देख सकते हैं।

मुद्रा बाजार की भी विभिन्न परिभाषाएँ दी जाती है। इनमें से निम्नांकित परिभाषाएँ विशेष रूप स उल्लेखनीय है —

सर्वप्रथम तो, **श्री के० सी० चक्कू** के अनुसार "विस्तृत अर्थ में मुद्रा-बाजार शब्द के अन्तर्गत सभी प्रकार के व्यवसायों की वित्तीय व्यवस्था सम्बन्धी सम्पूर्ण यन्त्र आते है, किन्तु प्रचलित अर्थ में मुद्रा-बाजार का प्रयोग अल्पकालीन ऋणों के लेन देन तक ही सीमित है, अतएव, मुद्रा-बाजार शब्द को एक ऐसे बाजार के रूप मे परिभाषित किया जा सकता है जहाँ पर अल्पकालीन राशियों का क्रय-विक्रय होता है।"

इसी प्रकार सुप्रसिद्ध विद्वान **क्राउथर** (Crowther) के अनुसार "उन फर्मों या संस्थाओं को सामूहिक रूप से मुद्रा बाजार कहते हैं जो भिन्न भिन्न प्रकार के मुद्रा-तुल्य पत्रों (Near Money) का व्यापार करती हैं।' (The Money Market is the collective name given to various firms and institutions that deal in various grades of near money)

इसी तरह रिजर्व बैंक आफ इण्डिया (Reserve Bank of India) के एक प्रकाशन के अनुसार 'मुद्रा बाजार अल्पकालीन मौद्रिक परिसम्पत्ति के क्रय विक्रय का केन्द्र है। यह उधार लेनेवालों की अल्पकालीन ऋण सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति करता है तथा उधार देनेवालों को पर्याप्त मात्रा में तरलता प्रदान करता है। यह वह स्थान है जहाँ पर वित्तीय सस्थाओं तथा व्यक्तियों की निवेश-योग्य अतिरिक्त पूँजी को सरकार, सस्थाएँ अथवा व्यक्ति आदि ऋण देनेवाले बोली लगाकर खरीदते हैं।" (*A money* market is the centre for dealings mainly of short term character in monetary assets, it meets the short term requirements of borrowers and provides liquidity to the lenders It is the place where short term surplus investible fund at the disposal of financial and other institutions and individuals are bid by borrowers, again comprising institutions and individuals and *also* the Government itself '

मुद्रा बाजार का सगठन (Organisation of Money Market) —मुद्रा बाजार के दो पक्ष होते हैं —(क) विक्रेता अथवा ऋणदाता, एव (ख) क्रेता अथवा ऋण लेनेवाले। इन

1. The Reserve Bank of India Functions and Workings, p 22

दोनो पक्षो मे विश्व के भिन्न-भिन्न बाजारो मे भिन्न-भिन्न श्रेणियो के लोग तथा सस्थाएँ रहती हैं। मुद्रा अथवा साख के विक्रेता का आशय उन ऋणदाता तथा ऋणदाता सस्थाओ से है जो मुद्रा उधार देती हैं तथा मुद्रा के क्रेता का अभिप्राय उन ऋणियो व्यापारियो एव उद्योगपतियो से है जो रुपया उधार लेते हैं।

मुद्रा बाजार मे कुछ खास प्रकार के साख-पत्रों के आधार पर लेन-देन का कार्य होता है। ये ऐसे प्रामाणिक अल्पकालीन ऋण एव साख-पत्र होते हैं जिनके सम्बन्ध मे ऋणी तथा ऋणदाताओ के बीच व्यक्तिगत सम्बन्ध का कोई महत्त्व नही होता। दोनो पक्षो मे यहाँ प्रत्यक्ष सम्बन्ध नही होकर दलालो तथा व्यावसायियो के माध्यम से सम्बद्ध होता है। इसके चार मुख्य अग होते हैं—(क) वाणिज्य पत्र-बाजार (Commercial Paper market) (ख) बैंक स्वीकृति बाजार (Banker's Acceptances market), (ग) अल्पकालीन सरकारी प्रतिभूतियो का बाजार (Short-term treasury bill market), तथा (घ) अविलम्ब राशि बाजार (Call Money market)। मुद्रा बाजार के इन चारो अगो मे बडा ही घनिष्ठ सम्बन्ध होता है जो निम्नाकित चित्र से स्पष्ट होता है :—
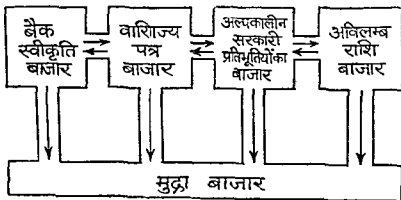
मुद्रा-बाजार का सगठन बिल्कुल औपचारिक होता है। इसका कोई एक निश्चित स्थान नहीं होता। ऋणी, ऋणदाताओ तथा व्यापारियो के बीच लेन देन से सम्बद्ध बातचीत टेलिफोन, तार तथा पत्र आदि के द्वारा होता है। इस प्रकार मुद्रा बाजार के सदर्भ मे 'बाजार' शब्द का प्रयोग केवल उस व्यवस्था को स्पष्ट करने के लिए किया जाता है जो अल्पकालीन लेन-देन से सम्बन्धित दोनो पक्षो, यानी क्रेताओ एव विक्रेताओ को एक-दूसरे के समीप लाने मे सहायक सिद्ध होता है।

मुद्रा-बाजार का आर्थिक महत्त्व (Economic Importance of Money Market) : मुद्रा बाजार की सेवाएँ वर्तमान समय मे बैंकिंग तथा वित्तीय सस्थाओ, व्यवसाय एव सरकार-सक्षेप मे, सम्पूर्ण अर्थ व्यवस्था के रोज ब रोज के कार्यों को सुचारु रूप से चलाने के लिए अति आवश्यक है। कारण स्पष्ट है। मुद्रा बाजार के माध्यम से ही उधारकर्त्ताओ तथा उधारदाताओ के बीच शीघ्र सम्पर्क स्थापित हो पाता है तथा इनके बीच बडी मात्रा मे अल्पकालीन लेन देन सभव होता है। मुद्रा बाजार के माध्यम से ही व्यावसायिक बैंक अल्पकालीन अवधि के लिए अपनी अतिरिक्त रकम को ऋण के रूप में प्रदान कर लाभ कमाते हैं। व्यावसायिक बैंको का प्रधान कार्य अपने ग्राहको की रकम को जमा करना तथा माग होने पर उन्हे वापिस करना होता है। अतएव, अपने ग्राहको की माग की पूर्ति के लिए उन्हें सदा अपने कुछ साधनो को पर्याप्त मात्रा मे तरल बनाये रखना पडता है। व्यावसायिक बैंक मुद्रा बाजार मे अपने अतिरिक्त साधनो को इस प्रकार से विनियोग करते हैं कि आवश्यकता पडने पर उन्हे शीघ्र, सुगमता से तथा बगैर किसी हानि के वापिस ले सकते हैं। इस प्रकार ये अपने साधनो की तरलता को बनाये रखने मे समर्थ होते हैं तथा आय भी प्राप्त करते हैं। बडे व्यावसायिक बैंको के लिए इस सुविधा का बडा ही

महत्त्व है। इतना ही नही, मुद्रा-बाजार के कारण ही व्यापारी वर्ग को भी अपने पास बहुत अधिक मात्रा मे नकद मुद्रा सचित करके रखने की कोई आवश्यक्ता नही पडती।

मुद्रा-बाजार के माध्यम से व्यावसायिक जगत को सुगमता तथा शीघ्रता से भुगतान करने की सुविधा भी प्राप्त होती है। चेक तथा तार द्वारा बडी-बडी मात्रा मे धनराशि का स्थानान्तर समव होता है। इतना ही नही, मुद्रा-बाजार का अत्यन्त कुशल माध्यम द्वारा मौद्रिक अधिकारी मन्दी की स्थिति मे अर्थ-व्यवस्था मे अधिक साख-मुद्रा का सचार करते है तथा तेजी की स्थिति अर्थ-व्यवस्था से साख की मात्रा को निकाल लेते हैं। साराश यह है कि मुद्रा-बाजार अर्थ-व्यवस्था का एक अभिन्न अग होता है तथा इसके विकास मे महत्त्वपूर्ण सहयोग प्रदान करता है। आधुनिक आर्थिक व्यवस्था मे मुद्रा-बाजार का इतना महत्त्वपूर्ण स्थान है कि मुद्रा-बाजार मे जो भी घटना घटती है, सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था पर उसका प्रभाव पडता है। उदाहरण के लिए, तीसा की भीषण मन्दी की शुरुआत अमेरिका मे वालस्ट्रीट के पतन के साथ ही प्रारम्भ हुई थी किन्तु अर्थ व्यवस्था का भी मद्रा-बाजार पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव पडता है। जब अर्थ व्यवस्था पूर्ण क्षमता के अनुसार कार्य करती है तो मुद्रा-बाजार मे कोष की माग भी बहुत अधिक होती है। अविकसित देशो मे एक सुविकसित मुद्रा-बाजार के अभाव मे निजी क्षेत्र को पर्याप्त मात्रा मे अल्पकालीन कोष प्राप्त करने मे कठिनाइयो का सामना करना पडता है।

अब लन्दन तथा न्यूयार्क मुद्रा-बाजारो के सगठन के सम्बन्ध मे निम्न विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है: –

लन्दन मुद्रा-बाजार

(London Money Market)

लन्दन का मुद्रा बाजार[1] विश्व का प्रमुख एव सबसे प्राचीन मुद्रा-बाजार है। इसे बहुधा London Discount Market कहते हैं। बहुत दिनो तक विश्व मे इसका स्थान प्राय: अद्वितीय था। आज भी लन्दन के मुद्रा-बाजार का विश्व मे प्रमुख स्थान है। लन्दन मुद्रा-बाजार मे अल्पकालीन कोष के लेन-देन के लिए विभिन्न प्रकार के उधारकर्त्ता तथा उधारदाता टेलीफोन के आधार पर लेन देन का कार्य करते हैं। इसमे लेन-देन का कार्य मुख्यत Lombard Street मे किया जाता है।

लदन मुद्रा-बाजार की निर्णायक सस्थाएँ (Constituents of the London Money Market) .—प्रत्येक देश के मुद्रा बाजार मे वहाँ के केन्द्रीय बैक एव व्यावसायिक बैंको का महत्त्वपूर्ण स्थान रहता है। केन्द्रीय बैंक तो मुद्रा बाजार का आधार ही होता है। यह मुद्रा की पूर्ति का प्रधान सा्रन तथा मौद्रिक व्यवस्था का नियन्त्रक होता है। लन्दन मुद्रा बाजार मे भी ऋणदाता के रूप मे बैंक ऑफ इगलैंड (Bank of Engla d) तथा वहाँ के व्यावसायिक बैंको का प्रधान स्थान है। मुद्रा-बाजार व्यावसायिक बैंको को अल्पकालीन ऋण देने का प्रधान क्षेत्र है। वास्तव मे, यह व्यावसायिक बैंको के साधनो की तरलता (liquidity of assets) को बनाये रखने मे बहुत अधिक सहायता प्रदान करता है। केन्द्रीय तथा व्यावसायिक बैंक के अतिरिक्त विदेशी बैंको (Foreign Banks) का भी लन्दन मुद्रा बाजार मे प्रमुख स्थान है।

बैंक ऑफ इगलैंड, लन्दन के व्यावसायिक बैंको तथा विदेशी बैंको के अतिरिक्त लन्दन मुद्रा-बाजार मे निम्नलिखित चार विशेष प्रकार की सस्थाएँ बट्टा करने एव ऋण देने का कार्य करती हैं:—

(1) स्वीकृति गृह (Acceptance Houses),
(2) बट्टा गृह (Discount H uses),
(3) बिल ब्रोकर Bill Brokers) तथा
(4) प्रचलित दलाल (Running Brokers)।

1. "The London Money Ma ket is a distinctive part of the British Banking system It consists of 12 discount houses and its principal fuction is to marry the needs of lenders of money for short period with those of the borrowers of such money." .Britain . An Official Handbook, 1968.

(1) **स्वीकृति गृह** (Acceptance Houses) —ये एक विशेष प्रकार की सस्थाएँ हैं जो अपने ग्राहको की हुण्डियो अथवा विनिमय बिलो (Bills of Exchange) पर अपनी मुहर लगाकर उन्हे विनिमय-साध्य बनाती हैं। इन्हें Merchant Banker's भी कहा जाता है। साधारणत, मुद्रा बाजार मे हुण्डियो अथवा विनिमय बिलो के आधार पर ही लेन देन का कार्य किया जाता है। किन्तु मुद्रा-बाजार मे कोई फर्म हुण्डी अथवा बिल का बट्टा (discount) करने के लिए तबतक तैयार नही होता जबतक कि उससे सम्बन्धित दोनो पक्षो की साख के विषय मे उसे पूरी जानकारी न हो। ऐसी स्थिति मे व्यापारियो को स्वीकृति-गृह से सहायता मिलती है। स्वीकृति गृह (Acceptance Houses)[1] उनसे इस कार्य के लिए कुछ कमीशन लेकर उनकी हुडियो के भुगतान की गारण्टी देते हैं। विदेशियो के बिलो की गारन्टी इनके बैंको के माध्यम से प्रदान की जाती है। इस गारटी से बिल विनिमय-साध्य हो जाते हैं और कोई भी बट्टा गृह उन्हें खरीदने के लिए तत्पर हो सकता है।

स्वीकृति-गृह के पास विशाल पूँजी होती है, अतएव, जिन विनिमय बिलो पर ये अपनी स्वीकृति प्रदान कर देते हैं उनका भुगतान निश्चित हो जाता है। वास्तव मे, स्वीकृति गृह की उच्च साख के कारण इनके द्वारा स्वीकृत विनिमय बिल उच्च कोटि के माने जाने लगते हैं, किन्तु पिछले कुछ वर्षो से विनिमय बिलो की मात्रा मे कमी के कारण स्वीकृति गृहो का व्यापार बहुत घट गया है।

(2) **बट्टा-गृह** (Discount Houses) —ये ऐसी सस्थाएँ हैं जो हुडियो अथवा विनिमय बिलो को बट्टा (discount) करने का कार्य करती हैं। बट्टा-गृह इस कार्य के लिए व्यावसायिक बैंको से ऋण लेते हैं। इगलैंड के व्यावसायिक बैंको के 'Loans at Call and Short Notice' का अधिकाश भाग इन्हीं बट्टा गृहो को दिया गया ऋण होता है। लन्दन मुद्रा-बाजार मे तीन बडी-बडी कम्पनियाँ[2] बट्टा गृह (Discount Houses) के नाम से विख्यात हैं। ये कम्पनियाँ व्यापारियो से उनकी हुडियो अथवा बिलो को खरीद कर उन्हें पूँजी प्रदान करती हैं। बट्टा-गृह देशी तथा विदेशी दोनो प्रकार के बिलो को खरीद कर राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे आर्थिक सहायता प्रदान करते हैं। ये खरीदी गयी हुडियो को सदा अपने पास नही रखते, वरन् जब उनकी अवधि समाप्त (nearing maturity) होने को रहती है, तो उन्हें व्यावसायिक बैंको के हाथ बेच देते हैं। व्यावसायिक बैंक इन हुडियो को उनकी अवधि समाप्त होने के समय तक अपने पास रखते है।

(3) **बिल ब्रोकर्स** (Bill Brokers) —ये लन्दन मुद्रा बाजार की कुछ छोटी छोटी कम्पनियाँ हैं जिनका कार्य बहुत कुछ बट्टा गृहो की ही तरह होता है। इनकी सख्या आजकल प्राय नौ है। ये पहले मुख्य रूप से साझेदारी अथवा व्यक्तिगत व्यवसाय के आधार पर सगठित थे, किन्तु आजकल इनका सगठन सयुक्त पूँजी की कम्पनियो के आधार पर हुआ है। ये स्वय अपने लिए बिल अथवा हुडी खरीदने के साथ साथ बाहरी बैंको एव अन्य ग्राहको के लिए भी हुडियाँ खरीदने तथा ऋण की व्यवस्था करने मे सहायता प्रदान करते हैं।

(4) **प्रचलित दलाल** (Running Brokers) इनके अतिरिक्त लन्दन मुद्रा-बाजार मे तीन या चार छोटी छोटी सस्थाएँ हैं जो हुडियो के खरीदने का कार्य करती हैं, किन्तु इनका मुख्य व्यवसाय बाहरी बैंको तथा अन्य ग्राहको के एजेन्ट के रूप मे कार्य करना है। अतएव, उन्हें प्रचलित दलाल (Running Brokers) भी कहा जाता है।

लन्दन मुद्रा बाजार की कार्य प्रणाली (Working of the London Money Market) —बट्टा-गृहो का प्रमुख कार्य बैंको तथा अन्य सस्थाओ से अल्पकालीन ऋण लेकर उसी

1 इसके साथ ही साथ स्वीकृति गृह (Acceptance Houses अन्य प्रकार के वित्तीय कार्यों का संपादन भी करते हैं। उदाहरण के लिए, ये बड़े बड़े ऋण लेनेवाली फर्मों के लिए ऋण प्राप्त करने की व्यवस्था करते हैं। इन्हें साधारणतया 'Merchant Bankers' भी कहा जाता है। लन्दन के प्रमुख स्वीकृति गृहों में Barings, Ronschilds Erlangers आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

2 लन्दन की तीन बड़ी बडी कम्पनियाँ जो बट्टा गृह का कार्य करती हैं उनके नाम इस प्रकार हैं—The Union The National and Alexanders

के आधार पर विनिमय बिलो को खरीदना और उन्हें अपने पास रखना है। (The typical and traditional work of a discount house is to borrow money from the banks and other institutions with money to lend on short terms and use that money to buy and hold bills of exchange) ये इगलैंड के व्यावसायिक बैंको के अतिरिक्त विदेशी बैंको तथा दूसरे प्रकार के ऋणदाताओ से भी रुपया उधार लेते हैं। व्यावसायिक बैंक से ये बहुधा अभियाचित एव अल्पकालीन ऋण (Loans at call and short notice) प्राप्त करते हैं। वास्तव मे, व्यावसायिक बैंको के अल्पकालीन ऋण का प्रधान साधन मुद्रा-बाजार ही है। इस प्रकार लन्दन मुद्रा-बाजार इगलैंड के व्यावसायिक बैंको के साधनों की तरलता को बनाएँ रखने मे बहुत हद तक सहायक होता है। मुद्रा बाजार बिल अथवा हुडियो को खरीदने के लिए व्यावसायिक बैंक अथवा अन्य इसी प्रकार की सस्थाओ से मुद्रा उधार लेता है। इनके लाभ का प्रधान साधन इन ऋणो को प्राप्त करने का खर्च तथा बट्टा की दर (rate of discount) का अन्तर है। बट्टा-गृह व्यावसायिक बैंको से अभियाचित ऋण (call loans) भी लेते हैं जिनके लिए इन्हे बहुत कम ब्याज देना पडता है, किन्तु ये भिन्न-भिन्न दरो पर बिलो को खरीदते हैं। इस प्रकार ये बिलो भुनाने की दर बहुत अधिक रखते हैं। अभियाचित या अल्पकालीन ऋण साधारणत चौबीस घण्टे की अवधि के लिए लिया जाता है, किन्तु इसका तात्पर्य यह नही कि मुद्रा बाजार उन्हे प्रति चौबीस घण्टे के बाद लौटा देता है। वास्तव मे, इस प्रकार के ऋण को रोज-रोज renew कराया जाता है।

किन्तु, जब सभी बैंक मुद्रा-बाजार से अपने-अपने ऋणो की माग करने लगेंगे तो ऐसी स्थिति मे मुद्रा-बाजार क्या करेगा ? मुद्रा-बाजार इनके ऋणो को लौटाने के लिए कहाँ से इतनी अधिक मात्रा मे मुद्रा प्राप्त करेगा ? कुछ बिलो की अवधि प्रतिदिन पूरी होती है, अतएव, मुद्रा बाजार नयी बिलो को नही खरीद कर कुछ मुद्रा इस प्रकार प्राप्त कर सकता है। किन्तु इतनी मुद्रा पर्याप्त नही होती। ऐसी स्थिति मे लदन के मुद्रा-बाजार को बैंक ऑफ इगलैंड का सहारा लेना पडता है। बैंक ऑफ इगलैंड (Bank of England) इन्हे सहायता देने के लिए सदा तत्पर रहता है, किन्तु यह इन्हे एक निश्चित मूल्य पर ही सहायता देता है। बैंक ऑफ इगलैंड मुद्रा बाजार के बिलो का पुन बट्टा (Re-discount) साधारणतया बैंक दर (Bark rate) के आधार पर करता है। बैंक-दर (Bank rate) वह दर है जिसपर केन्द्रीय बैंक व्यावसायिक बैंको के विनिमय बिलो का बट्टा करता है। बैंक-दर मुद्रा-बाजार की बट्टा-दर से साधारणतया अधिक रहती है जिससे कि मुद्रा बाजार केवल आवश्यकता पडने पर ही केन्द्रीय बैंक से सहायता की माग करेगा। अतएव, मुद्रा-बाजार अपने बट्टा दर को बैंक ऑफ इगलैंड की स्वीकृति दर से कम नही रखता। इस प्रकार बैंक ऑफ इगलैंड मुद्रा-बाजार की बट्टा-दर पर अपना नियत्रण रखता है। दूसरे शब्दो मे, मुद्रा-बाजार की दर बैंक-दर का अनुसरण करती है।

साथ ही, बैंक ऑफ इगलैंड सभी प्रकार के बिलो का बट्टा नही करता। यह केवल उन्हीं बिलो के आधार पर ऋण अथवा सहायता देता है जो इसके द्वारा निर्धारित कुछ शर्तों को पूरी करते हैं। साधारणतया विनिमय बिलो मे भी बैंक केवल उन्ही बिलो को स्वीकार करता है जिन पर दो अच्छे ब्रिटिश हस्ताक्षर हो जिनमे से एक किसी स्वीकृति गृह (Acceptance house) का होना चाहिए। अतएव, मुद्रा-बाजार भी इसी प्रकार के बिलो को खरीदना अधिक पसन्द करता है।

मुद्रा-बाजार विनिमय बिलो को साधारणतया उनकी अवधि समाप्त होने के समय तक अपने पास नही रखता, वरन् इन्हे व्यावसायिक बैंको के हाथ बेचता है। लदन के व्यावसायिक बैंक स्वय व्यापारियो मे विनिमय बिलो का क्रय नही करते। ये मुद्रा-बाजार से ही थोक-के थोक बिलो को एक साथ खरीदते है। ये एक ही साथ परिपक्व होनेवाली हुण्डियों को नही खरीदते। व्यावसायिक बैंक तरलता के दृष्टिकोण से विनिमय बिलो को इस प्रकार क्रय करते हैं कि कुछ बिल की अवधि प्रति सप्ताह पूरी होती है। बट्टा गृह (Discount houses) विनिमय बिलो को उनकी परिपक्वता (maturity) की अवधि के अनुसार चुन कर व्यावसायिक बैंको के पास ले जाते हैं और इन्हे पुन बट्टा (Re-discount) कर मुद्रा प्राप्त कर लेते हैं। बिल की अवधि पूरी होने पर यदि इसे स्वीकार करनेवाला भुगतान देने से इन्कार करता है तो भुगतान के लिए बट्टा-गृह ही उत्तरदायी होता है। व्यावसायिक बैंक इन बिलो को उनकी अवधि पूरी होने के समय तक अपने पास

रखते हैं। बैंक साधारणतया दो महीने से अधिक की अवधि के बिल नही खरीदते। ऐसी स्थिति मे बट्टा-गृहो का कार्य विनिमय बिलो को एक महीने या इससे कुछ अधिक समय तक अपने पास रखना है और बाद मे इन्हे किसी व्यावसायिक बैंक के हाथ बेच देना है। जब बिल की अवधि समाप्त होने लगती है तो इनके बट्टा की दर भी अपेक्षाकृत कम हो जाती है। इस प्रकार बट्टा-गृह जिस दर पर विनिमय बिलो का क्रय करते हैं तथा जिस दर पर व्यावसायिक बैंको के हाथ बेचते हैं, इन दोनो का अन्तर ही इनके लाभ का प्रधान साधन होता है। एक उदाहरण द्वारा इसे अधिक स्पष्ट किया जा सकता है। मानलिया कि 3 महीने की बट्टा-दर 4 प्रतिशत वार्षिक तथा दो महीने की दर 3 प्रतिशत वार्षिक है। अतएव, इस दर पर कोई बट्टा-गृह किसी 100 रुपये के बिल को 99 रुपये पर खरीदता है और 1 महीने के बाद इसे $99\frac{1}{2}$ रुपये पर किसी व्यावसायिक बैंक के हाथ बेच देता है। इस प्रकार 1 महीने तक 100 रुपये के बिलो को रख कर बट्टा-गृह $\frac{1}{2}$ रुपये प्राप्त कर लेता है। यह 6 प्रतिशत वार्षिक दर के बराबर है। बट्टा-गृह की आय का यही प्रधान साधन है। इस प्रकार लन्दन मुद्रा-बाजार व्यावसायिक बैंको के विनियोग के लिए एक महत्त्वपूर्ण तरल साधन प्रदान करता है।

लन्दन मुद्रा-बाजार मे लेन-देन का कार्य निम्नांकित पत्रों के आधार पर किया जाता है —

(1) विनिमय बिल (Bills of Exchange),
(2) ट्रेजरी बिल (Treasury Bill) तथा
(3) अन्य अल्पकालीन सरकारी ऋण-पत्र अथवा प्रतिभूतियां (Other short-dated Govt. bonds or securities)।

(1) **विनिमय बिल** (Bills of Exchange) .—विनिमय बिल एक प्रकार का व्यावसायिक पत्र है जिसका प्रयोग व्यावसायिक आदान-प्रदान के लिए किया जाता है। सेयर्स (Sayers) के अनुसार "विनिमय बिल वस्तुओ के ऐसे क्रय-विक्रय, जिनके पूरा होने मे समय लगता है, के लिए सुविधापूर्वक तरीके से प्राप्त करने का एक प्रमुख साधन है।" (The Bill of exchange is a *device for securing in a convenient form and with clearly under*stood legal safeguards, the financing of a transaction that takes sometime to complete) क्राउथर (Crowther) के अनुसार, "**विनिमय बिल एक लिखित पत्र है जिसमें एक निश्चत रकम को एक निश्चित तिथि के बाद जो कभी भी तीन महीने से अधिक नहीं होता, चुकाने का वायदा अंकित रहता है।**" (A Bill of Exchange is a document bearing the promise of a firm of the highest standing in the city of London to pay a stated sum on a stated day, which is never more than three months off) प्रथम महायुद्ध के पूर्व तक लदन के मुद्रा-बाजार मे विनिमय बिलो का विशेष महत्त्व था। लेन-देन का कार्य अधिकांशतः विनिमय बिलो के आधार पर ही किया जाता था, किन्तु प्रथम महायुद्ध के बाद लदन मुद्रा-बाजार मे विनिमय बिलो का महत्त्व कम होने लगा। विनिमय बिलो के महत्त्व मे इस कमी के कई कारण हैं जिनमे युद्ध के बाद विदेशी भुगतान के अन्य तरीको का प्रचलन, इगलैंड के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे कमी तथा ट्रेजरी बिलों की सख्या मे अभिवृद्धि आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

(2) **ट्रेजरी बिल** (Treasury Bill) :—प्रथम महायुद्ध के बाद से लन्दन मुद्रा-बाजार मे एक नयी तरह की हुण्डियो अथवा बिलो का समावेश हुआ जिसे सरकारी हुण्डी या ट्रेजरी बिल (Treasury Bill) कहते हैं। ट्रेजरी बिल ब्रिटिश सरकार का एक प्रतिज्ञा-पत्र है। (The Treasury Bill is a mere promissory note of the British Government.) ब्रिटिश सरकार बाजार मे इस प्रकार की हुण्डियो को जारी कर मुद्रा प्राप्त करती है। सरकार इन हुण्डियो के द्वारा 91 दिन (या 63 दिन) बाद एक निश्चित रकम देने का वायदा करती है। इस बिल पर मुद्रा प्राप्त करनेवाले का नाम लिखने के लिए स्थान रिक्त रहता है, किन्तु नाम नहीं रहने पर इसका भुगतान वाहक को ही किया जाता है। ब्रिटिश सरकार का प्रतिज्ञा पत्र होने के कारण इन बिलो की विनिमय-साध्यता बहुत अधिक होती है। सरकार अपनी चालू आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए समय समय पर ट्रेजरी बिल जारी कर मुद्रा प्राप्त करती है। सरकार के लिए इस

प्रकार से ऋण प्राप्त करना दीर्घकालीन ऋण की अपेक्षा अधिक सस्ता पडता है। साथ ही, इसमे रुपया लगानेवालो के लिए भी यह सुविधाजनक होता है, क्योकि इस प्रकार के बिलो में विनिमय-साध्यता की मात्रा बहुत अधिक होती है। केन्द्रीय बैंक के लिए भी ट्रेजरी बिल एक आदर्श पत्र का कार्य करता है, क्योकि इनकी जमानत पर यह व्यावसायिक बैंको को सुविधापूर्वक ऋण देने का कार्य करता है।

ट्रेजरी बिल (Treasury Bill) दो प्रकार से जारी किये जाते हैं :—

(क) सरकारी विभागो के हाथ बेचकर (Tap method), एव

(ख) खुले बाजार मे बेचकर (Tender method)।

सरकारी विभागो के हाथ जब सरकार हुण्डियाँ बेचती है तो इसे (Tap method) कहते हैं। सरकारी विभागो के अतिरिक्त इस प्रकार के ट्रेजरी बिल खरीदने वाली सस्थाओ मे विनिमय समकारी कोष (Exchange Equalization Account) विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। Tender method के अनुसार ट्रेजरी बिलो का विक्रय खुले बाजार में लदन के बैंको, बट्टा-गृहो तथा दलालो के हाथ किया जाता है। इस प्रकार के खुले बाजार मे हुडियाँ प्राय प्रति सप्ताह 20 करोड पौंड से 30 करोड पौंड तक की जारी की जाती हैं। जिस दिन ट्रेजरी बिल जारी की जाती है उस दिन उन्हें 'गर्म बिल' (Hot Bill) कहते हैं। इस प्रकार के बिलो की माँग साधारण ग्राहको द्वारा की जाती है। बैंक गर्म बिलो को अपने ग्राहको के लिए खरीदते हैं। जब बिल सात दिन से अधिक के हो जाते हैं, तो कोई भी बैंक इन्हें खरीदने के लिए तैयार हो जाता है, किन्तु ट्रेजरी बिल साधारणतया 3-4 सप्ताह तक बट्टा-गृहो के पास रहते हैं जिसके बाद व्यावसायिक बैंक इन्हें उत्सुकतापूर्वक खरीदते हैं।

(3) **अल्पकालीन सरकारी प्रतिभूतियाँ** (Short-dated Govt Bonds or Securities) —महान् आर्थिक मदी के समय से विनिमय बिलो की मात्रा मे बहुत कमी हो गयी। साथ ही, ट्रेजरी बिलो पर भी मुद्रा बाजार को प्राप्त होनेवाला लाभ बहुत कम हो गया। इससे मुद्रा-बाजार को कठिनाइयो का सामना करना पडा। ऐसी स्थिति मे बट्टा-गृहो ने अल्पकालीन सरकारी ऋण पत्रो को खरीदना प्रारम्भ कर दिया। प्रथम युद्ध के बाद सरकार ने अपने बढते हुए खर्चों को पूरा करने के लिए 1 वर्ष, 2 वर्ष अथवा 5 वर्ष के बहुत-से अल्पकालीन ऋण-पत्रों को जारी करना प्रारम्भ किया। जैसे-जैसे इन ऋण-पत्रो की अवधि समीप आती है, ये मुद्रा-बाजार के लिए सुयोग्य पत्र बनते जाते हैं। बट्टा-गृह (Discount houses) ऐसे ऋण-पत्रो को खरीदते हैं जिनकी अवधि प्राय: समाप्त होने मे बहुत कम समय रह जाता है। इस प्रकार के ऋण-पत्रो पर मुद्रा-बाजार को एक निश्चित मात्रा मे लाभ प्राप्त होता है।

किन्तु प्रथम विश्व युद्ध के बाद विनिमय बिलो की मात्रा मे कमी आने लगी। इगलैंड के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे कमी तथा अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान के अन्य तरीको के प्रयोग के कारण राष्ट्रीय हुण्डियो की मात्रा मे बहुत कमी आ गयी। पहले मुद्रा-बाजार मे विनिमय बिलो के आधार पर ही लेन-देन का कार्य होता था, किन्तु युद्ध के बाद इनकी मात्रा मे कमी आ गयी। अतएव, युद्ध के बाद लदन मुद्रा-बाजार मे एक नयी तरह की हुडी, जिसे ट्रेजरी बिल अथवा सरकारी हुण्डी कहा जाता है, का समावेश हुआ। ट्रेजरी बिलो का महत्त्व धीरे धीरे बहुत बढ गया, किन्तु जब महान् आर्थिक मन्दी के समय ट्रेजरी बिलो पर प्राप्त होनेवाले लाभ की सीमा बहुत कम हो गयी तो बट्टा-गृहो Discount houses) ने अल्पकालीन सरकारी ऋण-पत्रो (Short term Govt Bonds) को खरीदना प्रारम्भ किया। युद्ध के समय तथा बाद मे भी सरकार द्वारा इस प्रकार के बहुत-से अल्पकालीन ऋण-पत्र जारी किये गये थे। इन ऋण-पत्रो की अवधि जब समाप्त होने को होती है तो बट्टा-गृह इन्हें खरीदते हैं। प्रारम्भ मे, मुद्रा-बाजार की यह प्रवृत्ति बहुत खतरनाक समझी जाती थी। व्यावसायिक बैंक तथा बैंक ऑफ इगलैंड इस प्रकार के ऋण-पत्रो के आधार पर बट्टा-गृहो को ऋण नही देते थे, किन्तु जब 1945 ई० के बाद सरकार बहुत अधिक मात्रा मे इस प्रकार के ऋण-पत्रो को जारी करने लगी तब उन्हें बट्टा-गृह भी खरीदने लगे और इसे सरकार के दृष्टिकोण से भी अच्छा समझा जाने लगा। मुद्रा-बाजार के इस कार्य के सम्बन्ध में सबसे बडी कठिनाई यह समझी जाती थी कि बिलो की अपेक्षा ऋण-पत्रो मे तरलता की मात्रा कम होती थी। अतएव, अवधि समाप्त होने के पहले यदि बट्टा-गृह बेचना चाहें तो उन्हें अधिक हानि की सम्भावना बनी रहती थी। अतएव, बैंक ऑफ इगलैंड ने इस प्रकार के क्रय-विक्रय के

लिए बट्टा-गृहो की पूंजी के आधार को सबल बनाने का सुझाव दिया । फलस्वरूप, छोटे-छोटे बट्टा-गृह बडे-बडे बट्टा-गृहो के साथ मिल गये और इस प्रकार आजकल लन्दन मुद्रा-बाजार के किसी भी बट्टा-गृह की पूंजी 10 लाख पौंड से कम नहीं है ।

आजकल बैंक आॅफ इगलैंड भी बट्टा-गृहो को एक सीमा के भीतर इस प्रकार के ऋण-पत्र खरीदने मे किसी प्रकार की आपत्ति नही करता। बट्टा-गृहो के लिए यह सीमा उसकी कुल पूंजी के 10 गुना के बराबर निश्चित की गयी है। दूसरे शब्दो मे, बट्टा-गृह अपनी कुल पूंजी के 10 गुना तक अल्पकालीन ऋण-पत्र खरीद सकते हैं। आजकल तो इस प्रकार के ऋण-पत्रो के आधार पर बैंक ऑफ इगलैंड भी इन्हें ऋण देता है ।

अब प्रश्न यह है कि राष्ट्रीय दृष्टिकोण से लदन मुद्रा-बाजार के इस कार्य का क्या महत्त्व है ? वास्तव मे बट्टा-गृहो के इस नये कार्य का बडा ही महत्त्व है। ये अपने इस कार्य से सरकार की महत्त्वपूर्ण सेवा करते है। दीर्घकालीन ऋण-पत्र जैसे जैसे परिपक्वता के निकट आते जाते हैं, वैसे-वैसे विनियोजको (Investors) के लिए इनका महत्त्व कम होते जाता है, क्योकि ये (विनियोजक) अपनी मुद्रा को दीर्घकालीन ऋण-पत्रो मे विनियोग करना ही अधिक पसन्द करते हैं। इसलिए सरकार को एक ऐसी सस्था की आवश्यकता होती है जो इस प्रकार के ऋण-पत्रो को खरीद सके। अतएव, मुद्रा-बाजार इस प्रकार के ऋण-पत्रो को खरीद कर सरकार की महत्त्वपूर्ण सेवा करते है। इस प्रकार वर्त्तमान स्थिति मे लन्दन मुद्रा-बाजार द्वारा बैंको से अल्पकालीन कर्ज, जिसे बैंक बिल्कुल तरल समझते हैं, के आधार पर इस कार्य का सम्पादन इगलैंड की आर्थिक व्यवस्था के लिए विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। (Given all these circumstances, it is very *convenient to have such an adaptable and financially elastic institution as* the London discount market to hold the bonds on the basis of funds that the banks like to regard as almost as liquid as cash —Sayers)

इस प्रकार इगलैंड की मौद्रिक एव बैंकिंग व्यवस्था मे लदन मुद्रा-बाजार वहाँ के व्यावसायिक बैंको के साधन को तरल बनाने मे बहुत अधिक सहायक होता हैं। साथ ही, मुद्रा-बाजार बैंक ऑफ इगलैंड तथा व्यावसायिक बैंको मे सम्बन्ध भी स्थापित करता है । इगलैंड के व्यावसायिक बैंक सीधे बैंक ऑफ इगलैंड से कर्ज नहीं प्राप्त कर सकते। आवश्यकता पडने पर ये मुद्रा-बाजार को दिये गये अपने ऋणो की माग करते हैं और इन्हें लौटाने के लिए मुद्रा बाजार बैंक ऑफ इगलैंड से ऋण लेता है। इस प्रकार मुद्रा-बाजार के माध्यम से बैंको के साधनो की तरलता बढती है ।

लन्दन मुद्रा-बाजार के अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व में कमी (Decline in the International importance of the London Money Market) —प्रथम विश्व-युद्ध के बाद से लदन मुद्रा-बाजार के महत्त्व मे महान् परिवर्तन हुए है । प्रथम महायुद्ध के पूर्व तक लन्दन का मुद्रा-बाजार विश्व मे अन्तर्राष्ट्रीय लेन-देन का एक प्रधान केन्द्र था तथा सभी अन्तर्राष्ट्रीय बिलो की खरीद-बिक्री लन्दन मुद्रा-बाजार में ही होती थी, किन्तु प्रथम महायुद्ध के बाद विश्व के अन्य केन्द्रो, जैसे—न्यूयार्क, पेरिस तथा एमस्टर्डम आदि स्थानो में भी मुद्रा-बाजार का विकास होने लगा। इन केन्द्रो मे भी अन्तर्राष्ट्रीय हुण्डियो की खरीद-बिक्री प्रारम्भ हो गयी। इन देशो मे मुद्रा-बाजार की स्थापना का प्रधान कारण केन्द्रीय बैंकिंग प्रणाली का विकास था, क्योकि इन देशो मे केन्द्रीय बैंको ने अपनी मौद्रिक नीति के सफल सचालन के लिए सुसगठित मुद्रा-बाजार की स्थापना को आवश्यक समझा। इससे लन्दन मुद्रा-बाजार के अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व मे धीरे-धीरे कमी आने लगी। लदन मुद्रा बाजार के अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व मे कमी का एक दूसरा कारण भी था। प्रथम महायुद्ध के पूर्व विश्व के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे इगलैंड की प्रधानता था, किन्तु युद्ध के बाद अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे इसका हिस्सा बहुत ही कम हो गया। इसके परिणामस्वरूप इसके अन्तर्राष्ट्रीय विनियोग मे भी बहुत कमी आ गयी। इन सबका प्रभाव भी लन्दन मुद्रा-बाजार के अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व पर पडा।

लंदन मुद्रा-बाजार में आधुनिक समय में परिवर्तन

(Recent Changes in the London Money Market)

पिछले कुछ वर्षों मे, विशेषत. 1960 ई० के बाद से लन्दन मुद्रा बाजार की कार्य-प्रणाली

में कई महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं। पहले लंदन मुद्रा-बाजार में केवल बिलो तथा अल्पकालीन सरकारी प्रतिभूतियों का ही क्रय-विक्रय किया जाता था, किन्तु आजकल परम्परागत बट्टा बाजार (Discount market) के अतिरिक्त लदन मुद्रा-बाजार में तीन नये प्रकार के बाजारों—(1) यूरो-डॉलर बाजार (Euro-dollar Market), (2) स्थानीय सरकारों का बाजार (Local authorities market); तथा (3) अन्तर-बैंक बाजार (Inter-Bank market) का भी विकास हुआ है।

इनमें से पहले **यूरो-डॉलर बाजार** (Euro-dollar Market) का विकास हुआ। यह अन्तर्राष्ट्रीय केन्द्र के रूप में लदन के पुन. द्रुतगति से विकसित होने का परिणाम है। लदन में ऐसे व्यक्ति, फर्म अथवा बैंक अधिकाधिक मात्रा में हैं जिनका डॉलर के रूप में न्यूयार्क अथवा संयुक्त राज्य अमेरिका के किसी अन्य स्थान के बैंक में धन जमा होता है। अब डालर चाहनेवाले विदेशी से लदन में आकर इनसे डालर खरीदते है। इतना ही नहीं, 1960 वाले दशक से लदन में स्थित अमेरिकन बैंक 25 हजार डॉलर से अधिक के यूरो-डालर पत्र (Euro-dollar Certificates) जारी करते हैं। दूसरे प्रकार का बाजार **स्थानीय सरकारों का बाजार** (Local authorities Market) है जिसका विकास 1956 ई० के बाद से हुआ तथा पिछले दशक में लदन मुद्रा-बाजार में इसकी लेन-देन सर्वाधिक हो गयी। इसमे कम-से-कम 50 हजार पौंड का लेन-देन होता है। इस प्रकार का कर्ज साधारणतया सात दिनो के लिए दिया जाता है। तीसरे प्रकार का बाजार **अन्तर-बैंक बाजार** (Inter-Bank market) है। यह विभिन्न बैंको के बीच लेन-देन के लिए बाजार है। (This is a market for lending and borrowing between banks) इसमें लदन समाशोधन-गृह से बाहर के बैंक ही हिस्सा लेते हैं। लदन में इस प्रकार के 100 से भी अधिक बैंक हैं जो इस प्रकार के लेन-देन मे शामिल होते हैं। इस प्रकार के बाजार के विकास से बट्टा-बाजार को निश्चित रूप से क्षति उठानी पडी है। इतना ही नहीं, वर्तमान समय में ट्रेजरी बिलो की सख्या में कमी का भी मुद्रा-बाजार पर महत्वपूर्ण प्रभाव पडा है।

न्यूयार्क का मुद्रा-बाजार
(New York Money Market)

न्यूयार्क के मुद्रा-बाजार का विकास प्रथम महायुद्ध के बाद हुआ। यह लन्दन मुद्रा-बाजार से पूर्णतया भिन्न है। यह अल्पकालीन ऋण के लिए विश्व मे अपने ढग का अकेला सगठित बाजार है। न्यूयार्क के मुद्रा-बाजार में लन्दन मुद्रा-बाजार की तरह स्वीकृति-गृह (Acceptance houses) एवं बट्टा-गृह (Discount houses) नहीं हैं। वहाँ का मुद्रा-बाजार व्यापारियों के एक छोटे से समूह के हाथ में है जिनमे पाँच प्रमुख बैंक तथा इनके अतिरिक्त लगभग 12 अन्य संस्थाएँ अथवा व्यक्ति है जो न्यूयार्क के वाल स्ट्रीट (Wall Street) मे केन्द्रित हैं। इनका सम्बन्ध मुख्यतः अल्पकालीन सरकारी हुण्डियो से रहता है। अमेरिकन बैंकिंग प्रणाली मे सदस्य बैंको का वहाँ के केन्द्रीय बैंक, यानी फेडरल रिजर्व सिस्टम (Federal Reserve System) से सीधा सम्पर्क रहता है। सदस्य बैंक आवश्यकता पडने पर सीधे फेडरल रिजर्व बैंक से सहायता अथवा ऋण ले सकते हैं। इस प्रकार की बात इंगलैंड की बैंकिंग प्रणाली मे नहीं पायी जाती है। इस प्रकार स्वीकृति-गृहो एव बट्टा गृहो के अभाव मे न्यूयार्क मुद्रा-बाजार में सदस्य बैंको की ही प्रधानता रहती है।

न्यूयार्क मुद्रा-बाजार[1] में लेन-देन का कार्य निम्नलिखित साधनों के आधार पर होता है :—

1. न्यूयार्क मुद्रा बाजार के संगठन के सम्बन्ध में विशेष जानकारी Robert V. Roosa के निम्न बयान से प्राप्त होती है—"The New York Money market is a network of telephone lines linking themselves with the Federal Reserve Banks, the five great dealer banks, and about a dozen non-bank dealers, clustered in Wall Street, but also linking them with other dealers in securities, a variety of miscellaneous financial institutions and with the larger banks throughout the country." Robert V. Roosa—Federal Reserve Operations in Money and Government Securities Markets.

(1) व्यावसायिक पत्र (Commercial Papers),
(2) विनिमय बिल (Bills of Exchange),
(3) शेयर बाजार को दिया जानेवाला ऋण, तथा
(4) ट्रेजरी सर्टिफिकेट (Treasury certificates)।

(1) **व्यावसायिक पत्र** (Commercial Papers)—यह न्यूयार्क मुद्रा-बाजार मे लेन-देन का एक प्राचीन एव अनोखा साधन है। यह एक प्रकार का अल्पकालीन प्रतिज्ञा पत्र (Short-term Promissory Note) है जिसे कुछ व्यवसायी विशेष स्थिति मे अल्पकालीन ऋण प्राप्त करने के लिए जारी करते हैं। इस प्रकार के पत्रो की अवधि साधारणतया तीन महीने से लेकर छ महीने तक की होती है। कोई सदस्य-बैंक इस प्रकार के पत्र को तभी खरीदता है जब उसे उस फर्म विशेष की आर्थिक स्थिति के सम्बन्ध मे पूरी जानकारी प्राप्त रहती है। साधारणतया जब कोई सदस्य-बैंक व्यावसायिक पत्र (Commercial paper) खरीदता है तो वह उसे उसकी परिपक्वता की अवधि तक अपने पास रखता है, किन्तु इन पत्रो को फेडरल रिजर्व बैंक से पुन बट्टा भी कराया जा सकता है। बट्टा कराने की सुविधा व्यावसायिक पत्र की परिपक्वता की अवधि पर निर्भर करती है। इस प्रकार व्यावसायिक पत्रो की प्रधानता न्यूयार्क मुद्रा-बाजार की एक प्रमुख विशेषता है। लन्दन में इस प्रकार का कोई साधन नही है, किन्तु न्यूयार्क मुद्रा-बाजार मे भी व्यावसायिक पत्रो का अब उतना महत्त्व नही रह गया है, यद्यपि पिछले कुछ वर्षों से पुन. इनके महत्त्व में वृद्धि हो रही है।

(2) **विनिमय बिल**—न्यूयार्क मुद्रा-बाजार मे विनिमय बिलो के आधार पर भी लेन-देन का कार्य होता है। विनिमय बिलो को खरीद कर बैंक जिस साख की सृष्टि करते हैं उसे Banker's Acceptances कहते हैं। इस प्रकार की बात लदन मुद्रा-बाजार में नहीं पायी जाती है। लदन मुद्रा बाजार मे व्यावसायिक बैंक बट्टा-गृहो से विनिमय बिलों का क्रय करते हैं, किन्तु अमेरिका में बट्टा-गृहो (Discount houses) के अभाव मे सदस्य-बैंक सीधे व्यापारियो से ही विनिमय बिलो को खरीदते हैं। अतएव, विनिमय-बिलो की तरलता की धारणा लदन की अपेक्षा न्यूयार्क मे भिन्न है। बट्टा-गृहो के अभाव मे विनिमय-बिल वास्तव मे उतने तरल नही रह जाते हैं। न्यूयार्क मुद्रा-बाजार मे 1920 ई० से 1929 ई० तक Banker's Acceptances का महत्त्व बहुत अधिक था, किन्तु आजकल इनका महत्त्व पुन बहुत कम हो गया है।

(3) **शेयर बाजार को दिया जानेवाला ऋण**—अमेरिका मे लदन मुद्रा-बाजार जैसा मुद्रा-बाजार नही होने के कारण वहाँ के सदस्य बैंक मुद्रा-बाजार को अल्पकालीन ऋण (Loans at Call and Short Notice) नही दे सकते। ऐसी स्थिति मे यहाँ के बैंक शेयर बाजार को अल्पकालीन ऋण (Call Loans) देते हैं। अमेरिका मे बैंक भी कम्पनियो के हिस्से मे अपनी पूँजी लगाते हैं। वहाँ के बैंको के विनियोग (Investment) का अधिकाश भाग शेयर-बाजार को दिये जानेवाले ऋण का ही होता है। इस प्रकार इस ऋण मे भी दोनों मुद्रा-बाजारो में बहुत विभिन्नता पायी जाती है, किन्तु शेयर-बाजार को दिये जानेवाले ऋण का अमेरिकी बैंकिंग व्यवस्था पर बहुत बुरा प्रभाव पडता है। शेयर-बाजार को दिये गये ऋण को सट्टेबाजी मे प्रयुक्त किया जाता है जिससे इस प्रकार का ऋण वहाँ की बैंकिंग तथा आर्थिक व्यवस्था को अस्थायी बना देता है। उदाहरण के लिए, 1924 ई० मे 1929 ई० के बीच अमेरिका मे हुई तेजी शेयर बाजार की प्रतिभूतियो की तेजी थी जिसके लिए वहाँ के बैंक बहुत हद तक उत्तरदायी थे, किन्तु शेयर बाजार की उस तेजी का आधार बिल्कुल खोखला था जिससे 1929 ई० में इसका एक-ब-एक अन्त हो गया तथा महान् आर्थिक मन्दी का प्रादुर्भाव हुआ। इसलिए, अमेरिकी सरकार ने 1933 ई० से शेयर-बाजार को दिये जानेवाले ऋणो पर प्रतिबन्ध लगा दिया। इस प्रतिबन्ध के अनुसार कोई भी बैंक शेयर-बाजार की प्रतिभूतियो के मूल्य के एक निश्चित प्रतिशत से अधिक कर्ज नही दे सकता। यह प्रतिशत समय-समय पर फेडरल रिजर्व सिस्टम द्वारा निश्चित किया जाता है।

(4 **ट्रेजरी सर्टिफिकेट** (Treasury Certificates)—ये लदन मुद्रा-बाजार के ट्रेजरी बिल (Treasury bills) के ठीक समान हैं। इनके द्वारा सरकार अल्पकालीन कर्ज प्राप्त करती है। न्यूयार्क मे बैंक तथा मुद्रा-बाजार की सस्थाएँ ट्रेजरी सर्टिफिकेट को खरीद कर सरकार को अल्पकालीन ऋण प्रदान करती हैं। यहाँ के ट्रेजरी बिल भी लन्दन मुद्रा-बाजार के ट्रेजरी बिलो

की ही तरह होते हैं। ये टेन्डर मेथड द्वारा साप्ताहिक आधार पर तीन महीने की अवधि के लिए जारी किये जाते हैं। इनका अधिकाश भाग, लगभग दो-तिहाई भाग, न्यूयार्क मे ही खरीद लिया जाता है। एक बार जारी करने के बाद ट्रेजरी बिलो मे सक्रिय बाजार रहता है।

अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय केन्द्र के रूप में न्यूयार्क मुद्रा-बाजार—1914 ई० के बाद न्यूयार्क मुद्रा-बाजार का विश्व के वित्तीय केन्द्र के रूप मे विकास प्रारम्भ हुआ और द्वितीय विश्व-युद्ध के पश्चात् इसने सफलतापूर्वक लदन मुद्रा-बाजार के विश्व नेतृत्व को चुनौती दी है। इस अवधि मे न्यूयार्क मुद्रा-बाजार के अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय केन्द्र के रूप मे विकसित होने के निम्नांकित प्रधान कारण हैं—

(i) 19 3 ई० मे फेडरल रिजर्व व्यवस्था (Federal Reserve System) की स्थापना से अमेरिका की मौद्रिक सस्थाओ को बहुत अधिक शक्ति प्राप्त हुई।

(ii) 1914-1918 के प्रथम विश्वयुद्ध तथा 1920 वाले दशक के मौद्रिक सकटो ने यूरोप के अनेक मुद्रा-बाजारो के महत्त्व को कम कर दिया, किन्तु अमेरिका इनसे मुख्यत. अप्रभावित ही रहा।

(iii) सयुक्त राज्य अमेरिका मे स्वर्ण का बडे पैमाने पर अन्तर्गमन हुआ जिससे डॉलर की शक्ति मे बहुत अधिक वृद्धि हुई।

(iv) इसी प्रकार सयुक्त राज्य अमेरिका द्वितीय महायुद्ध के दौरान एक सर्वश्रेष्ठ औद्योगिक राष्ट्र के रूप मे सामने आया।

(v) और अन्ततः, इस अवधि मे सयुक्त राज्य अमेरिका ने बडे पैमाने पर पूंजीगत साधन एकत्र कर लिये थे जिनका वह दूसरे देशो मे निर्यात करने लगा। साथ ही, द्वितीय महायुद्ध के बाद अमेरिका एक महान् ऋणदाता के रूप मे विश्व मे प्रकट हुआ। इसी बीच न्यूयार्क मे ऐसी वित्तीय सस्थाओ का तेजी से विकास हुआ जिन्होने सयुक्त राज्य अमेरिका के लेन-देन को सभालना प्रारम्भ किया। इनके अतिरिक्त इस स्थिति के लिए निम्नाकित कारण भी उत्तरदायी हैं (i) अमेरिका मे इस अवधि मे सरकार द्वारा कार्यान्वित विशाल सहायता कार्यो के कारण सरकारी लेन-देन मे भारी वृद्धि हुई। (ii) अविकसित तथा अर्द्ध विकसित देशो को बडे पैमाने पर अमेरिकी सहायता प्रदान करने के कारण इस अवधि मे बडे पैमाने पर अमेरिकी पूंजी का विदेशो मे प्रवाह प्रारम्भ हुआ। (iii) अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय सस्थाएँ जैसे—अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-बाजार, विश्व बैंक आदि के रूप मे भी इस अवधि म पर्याप्त विस्तार हुआ।

इस प्रकार आजकल न्यूयार्क मुद्रा-बाजार का बहुत तेजी से विकास हो रहा है। इस मुद्रा-बाजार मे लेन-देन की मात्रा भी उत्तरोत्तर बढती जा रही है। यहाँ पर बैंक तथा अन्य सस्थाओ मे न्यूयार्क के बैंको से अतिरिक्त नकद मुद्रा (Spare Cash) प्राप्त करने की होड-सी लगी रहती है, किन्तु लन्दन मुद्रा-बाजार मे इस प्रकार की प्रवृत्ति का सर्वथा अभाव है। वहाँ बट्टा-गृह ही बैंको से इस प्रकार की मुद्रा को ऋण के रूप मे ले लिया करते हैं, किन्तु सयुक्त-राज्य अमेरिका के भौगोलिक विस्तार तथा वहाँ की बैंकिंग व्यवस्था के सगठन मे विभिन्नता के कारण यह प्रवृत्ति सदा वर्तमान रहेगी।

किन्तु, लन्दन एव न्यूयार्क मुद्रा-बाजारो मे उक्त विभिन्नताओ के बावजूद वर्त्तमान समय मे इनमे बहुत कुछ समानता भी होती जा रही है। उदाहरण के लिए, अमेरिका मे बिल बाजार का विकास किया जा रहा है और बैंक शेयर-बाजार को कम ऋण दे रहे हैं। इसी प्रकार वर्तमान समय मे इगलैंड मे भी बैंक अपने साधनो का प्रयोग शेयर बाजार को दिये जानेवाले ऋणो मे कर रहे हैं। तात्पर्य यह है कि इन दोनो बाजारो मे एकरूपता की प्रवृत्ति का धीरे-धीरे विकास हो रहा है।

विशेष अध्ययन-सूची

1. Crowther : An Outline of Money, Chapter II
2. Sayers : Modern Banking, Chapter III

अध्याय : 20

भारतीय मुद्रा-बाजार

(Indian Money Market)

मुद्रा बाजार का अर्थ (Meaning of Money Market) :—पिछले अध्याय मे इस बात की व्याख्या की गयी है कि मुद्रा के लेन-देन दो प्रकार के होते हैं—(क) अल्पकालीन लेन-देन (Short term lending and borrowing) तथा (ख) दीर्घकालीन लेन-देन (Long term lending and borrowing) । जिस बाजार मे मुद्रा के अल्पकालीन लेन-देन का कार्य होता है उसे मुद्रा-बाजार (Money market) तथा जहाँ पर दीर्घकालीन लेन-देन का कार्य होता है उसे पूँजी बाजार (Capital market) कहते हैं। दूसरे शब्दो मे, मुद्रा बाजार मे अल्पकालीन ऋण का लेन-देन होता है जबकि पूँजी बाजार मे अशो, ऋण-पत्रो तथा अन्य दीर्घकालीन प्रतिभूतियो का क्रय-विक्रय होता है ।

मुद्रा बाजार को कई प्रकार से पारिभाषित किया गया है । इनमें निम्नांकित उल्लेखनीय हैं :—

फेडरल रिजर्व बैंक के एक प्रकाशन के अनुसार ' **मुद्रा-बाजार ऐसी मौद्रिक परि-सम्पत्तियों के लेन-दन के लिए सक्रिय बाजार है जिन्हें वित्तीय संस्थाएँ सामान्य व्यवसाय के अन्तर्गत अपनी-अपनी आर्थिक स्थिति को यथेष्ट तरल बनाये रखने के लिए रखती हैं ।"**

इसी प्रकार **रिजर्व बैंक ऑफ इंडिया** के एक प्रकाशन के अनुसार "**मुद्रा-बाजार अल्प-कालीन मौद्रिक परि-सम्पत्तियो के क्रय-विक्रय का केन्द्र है ।** यह उधार लेनेवालो की अल्प-कालीन ऋण-सम्बन्धी आवश्यकताओ की पूर्त्ति करता तथा ऋणदाताओ को तरलता प्रदान करता है ।"

इसी प्रकार **डॉ० सेन** के अनुसार "मुद्रा बाजार का तात्पर्य उस व्यवस्था से है जिसमे व्यावसायिक विनिमय बिलो, अल्पकालीन सरकारी प्रतिभूतियाँ, एव बैंकर्स स्वीकृतियाँ इत्यादि के आधार पर अल्पकालीन ऋण के लेन-देन का कार्य होता है ।''

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि ' मुद्रा-बाजार का अभिप्राय उस समस्त क्षेत्र से होता है जहाँ पर मुद्रा तथा साख के क्रय-विक्रय करनेवाले परस्पर एक-दूसरे के सम्पर्क मे रहकर अल्पकाल के लिए मुद्रा अथवा साख का क्रय-विक्रय करते हैं ।"

भारतीय मुद्रा-बाजार की प्रधान विशेषताए (Main Features of the Indian Money Market) :—भारतीय मुद्रा-बाजार की प्रमुख विशेषता इसकी द्विशासिता (Dichotomy) है, यानी इसे स्पष्ट रूप से दो भागो मे विभाजित किया जा सकता है . (1) आधुनिक अथवा सगठित मुद्रा-बाजार तथा, (2) देशी अथवा असगठित मुद्रा-बाजार । आधुनिक मुद्रा-बाजार के अन्तर्गत रिजर्व बैंक, स्टेट बैंक तथा अन्य 14 राष्ट्रीयकृत बैंक, मिश्रित पूँजीवाले बैंक तथा सहकारी बैंक आदि आते हैं । इनके अतिरिक्त जीवन बीमा निगम, औद्योगिक वित्त निगम, युनिट ट्रस्ट ऑफ इण्डिया आदि विभिन्न सरकारी एव अर्द्ध-सरकारी वित्तीय सस्थाएँ भी ऋण देने का कार्य करती हैं । दूसरी ओर, देशी मुद्रा-बाजार मे देशी महाजन तथा साहूकार आदि आते हैं । इस प्रकार भारतीय मुद्रा-बाजार लन्दन तथा न्यूयार्क मुद्रा-बाजार से पूर्णतया भिन्न है । इसका कारण स्पष्ट है । उन देशो मे केन्द्रीय बैंक का सम्पूर्ण मुद्रा-बाजार पर प्रभावपूर्ण नियन्त्रण रहता है, किन्तु भारत मे रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया का सम्पूर्ण मुद्रा-बाजार पर प्रभावपूर्ण नियन्त्रण नहीं है । आज भी ग्रामीण क्षेत्रो मे यहाँ स्वदेशी बैंकर तथा महाजनो की ही प्रधानता है जिन पर रिजर्व बैंक का अभी तक प्रभावपूर्ण नियन्त्रण नहीं हो पाया है । रिजर्व बैंक की स्थापना के पूर्व मुद्रा-बाजार के इन दोनो भागो मे बिल्कुल कोई सम्पर्क नही था, किन्तु स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद रिजर्व बैंक के राष्ट्रीयकरण तथा स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया की स्थापना से अब मुद्रा-बाजार के इन दोनो भागो की दूरी धीरे-धीरे कम होती जा रही है ।

भारतीय मुद्रा-बाजार की निर्मायक सस्थाएँ (Constituents of the Indian Money Market) .—मुद्रा-बाजार के भी दो पक्ष होते हैं—(क) विक्रेता अथवा ऋणदाता, एव (ख) क्रेता अथवा ऋण लेनेवाले। इन दोनो पक्षो के अन्तर्गत विभिन्न प्रकार के व्यक्ति तथा सस्थाएँ आती है।

भारतीय मुद्रा-बाजार की निम्नलिखित प्रमुख निर्मायक संस्थाएँ हैं —

(क) ऋणदाता (Lenders) :—भारतीय मुद्रा-बाजार के ऋणदाताओ को निम्नाकित तीन वर्गों मे विभाजित किया जाता है :—

भारतीय मुद्रा-बाजार के ऋणदाता

सगठित क्षेत्र	सहकारी क्षेत्र	असगठित क्षेत्र
(रिजर्व बैंक, स्टेट बैंक, मिश्रित पूँजी के बैंक आदि)	(सहकारी साख सस्थाएँ)	(देशी महाजन तथा साहूकार)
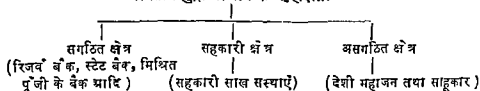
मुद्रा-बाजार मे सगठित क्षेत्र के ऋणदाताओ मे निम्नलिखित प्रधान हैं—(i) रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया, (ii) स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया तथा अन्य 14 राष्ट्रीयकृत बैंक, (iii) मिश्रित पूँजीवाले बैंक, (iv) विनिमय बैंक, तथा (v) जीवन बीमा निगम, औद्योगिक वित्त निगम, युनिट ट्रस्ट ऑफ इण्डिया आदि जैसी वित्तीय सस्थाएँ। सगठित मुद्रा-बाजार मे रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया का केन्द्रीय स्थान है। रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया की स्थापना 1 अप्रैल, 1935 ई० को हुई थी। इसकी स्थापना के पूर्व देश मे सुसगठित मुद्रा-बाजार का अभाव था। रिजर्व बैंक के बाद स्टेट बैंक ऑफ इडिया तथा अन्य 14 राष्ट्रीयकृत बैंको का स्थान है। अमेरिका की ही तरह भारत मे भी मिश्रित पूँजी वाले बैंको का रिजर्व बैंक स सीधा सम्पर्क है। इसी प्रकार सहकारी क्षेत्र (Co-operative Sector) मे सहकारी बैंक एव सहकारी साख समितियाँ आदि आती हैं। पिछले कुछ वर्षों से सहकारी साख समितियो तथा बैंको की कार्यवाही का भी पर्याप्त मात्रा मे विस्तार हुआ है। तृतीय क्षेत्र यानी असगठित क्षेत्र (Unorganised sector) मे स्वदेशी बैंकस एव साहूकार आदि आते हैं। स्वदेशी बैंकर तथा महाजन भी कई प्रकार के होते हैं। इनके लेन-देन की प्रथा भी अन्य सस्थाओं से सर्वथा भिन्न होती है। ये भिन्न-भिन्न स्थानो तथा भिन्न-भिन्न व्यक्तियो से पृथक् पृथक् दर से सूद भी वसूलते है। देश मे मुद्रा तथा साख की पूर्ति में, विशेषत ग्रामीण क्षेत्रो में, आज भी इन बैंको की ही प्रधानता है।

(ख) ऋण लेनेवाले (Borrowers) —भारतीय मुद्रा-बाजार मे ऋण लेनेवालों के अन्तर्गत निम्नाकित सस्थाएँ प्रधान हैं —(i) केन्द्रीय सरकार, (ii) राज्य तथा स्थानीय सरकारें, (iii) व्यापारी एव उद्योगपति, तथा (iv) कृषक।

भारतीय मुद्रा-बाजार के विभिन्न अग —भारतीय मुद्रा-बाजार मे विनिमय बिलो, प्रतिज्ञा-पत्रो, कम्पनियो के हिस्से तथा ऋण-पत्रो, अल्पकालीन प्रतिभूतियो एव नकद मुद्रा के आधार पर लेन-देन का कार्य होता है। दूसरे शब्दो मे, **भारतीय मुद्रा बाजार में निम्नाकित उप-बाजार** (Sub-markets) हैं —

(1) मांग पर देय ऋणों का बाजार (The call money market)—यह सगठित भारतीय मुद्रा-बाजार का एक महत्त्वपूर्ण अग है। इस प्रकार के ऋणो का लेन-देन विशेष रूप से बैंको के बीच अपनी अस्थायी जरूरतो को पूरा करने के लिए होता है। ऐसे ऋण ऋणदाता की माग पर देय होते हैं। अन्य बैंको की अपेक्षा विदेशी विनिमय बैंक ऐसे ऋण अधिक लेते है, क्योकि वे अपने पास अधिक मात्रा मे नकद कोष नही रखते। मांग पर देय ऋणो की ब्याज की दर सामान्यत 1 प्रतिशत से 3 प्रतिशत के बीच रहती है।

(2) अल्पकालीन सरकारी प्रतिभूतियों का बाजार (Short-term Government Securities Market)—द्वितीय महायुद्ध तक भारतीय मुद्रा-बाजार मे सरकारी प्रतिभूतियो की मात्रा बहुत कम थी और केवल इम्पीरियल बैंक (अब स्टेट बैंक) तथा अन्य कुछ बैंक ही सरकारी ट्रेजरी बिल्स एव अन्य सरकारी प्रतिभूतियाँ खरीदते थे। अब मिश्रित पूँजीवाले बैंक, सहकारी बैंक, बीमा कम्पनियाँ तथा जन-साधारण, सभी लोग अपने घन को अल्पकालीन सरकारी प्रति-

मूतियो मे अधिक विनियोजित करते हैं। रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया सरकारी प्रतिभूतियो का सबसे बडा धारक है। यह सरकारी प्रतिभूतियो का क्रय-विक्रय भी करता है।

(3) **समपार्श्विक ऋण-बाजार** (Collateral Loan Market —भारतीय मुद्रा-बाजार का सबसे महत्वपूर्ण अग समपार्श्विक ऋण बाजार है। इसमे विभिन्न प्रकार के व्यावसायिक बैंक सम्मिलित रहते हैं जो अल्पकाल के लिए अधिविकर्ष, नकद साख या प्रत्यक्ष ऋण समपार्श्विक प्रतिभूतियो (जैसे—सरकारी प्रतिभूतियां, कम्पनियो के ऋण-पत्र, स्टॉक आदि) की जमानत के आधार पर देते हैं। स्टॉक ब्रोकर स्टॉक और बॉण्ड के आधार पर बहुधा इन ऋणो को खरीदते हैं।

(4) **बिल बाजार** (Bill Market)—भारत मे सगठित बिल-बाजार का सर्वथा अभाव रहा है यद्यपि सभी बडे-बडे बैंक अपने व्यापारियो को बिलो को भुनाने (Discount) की सुविधा प्रदान करते हैं। सन् 1952 से ही रिजर्व बैंक ने एक बिल बाजार योजना प्रारम्भ की है। फिर भी, देश मे अभी तक सुसगठित बिल बाजार स्थापित नही हो पाया है।

भारतीय मुद्रा बाजार के मुख्य दोष

(Main Defects of the Indian Money Market)

किन्तु, भारतीय मुद्रा बाजार अनेक दोषो से परिपूर्ण है। इन दोषो के कारण इसकी तुलना लन्दन तथा न्यूयार्क जैसे सुसगठित मुद्रा बाजारो से नही की जा सकती। सक्षेप मे, भारतीय मुद्रा-बाजार के निम्नलिखित प्रमुख दोष हैं—

(1) **समुचित सगठन का अभाव**—भारतीय मुद्रा-बाजार सही अर्थों मे सगठित नही है। इसके विभिन्न अगो मे परस्पर सगठन एव सहयोग का अभाव है। भारतीय मुद्रा-बाजार के दो प्रधान अग हैं —आधुनिक मुद्रा बाजार तथा देशी मुद्रा-बाजार। इन दोनो की कार्य-प्रणाली मे भी अत्यधिक विभिन्नता पायी जाती है। आधुनिक मुद्रा-बाजार मे रिजर्व बैंक, स्टेट बैंक, भारतीय व्यावसायिक बैंक तथा इसी प्रकार की अन्य सस्थाएँ तथा देशी मुद्रा-बाजार मे देशी महाजन एव साहूकार इत्यादि आते हैं। मुद्रा बाजार के इन दोनो अगो मे पारस्परिक सहयोग का अभाव है। एक दूसरे को अपना प्रतिद्वन्द्वी मानता है। देशी महाजन एव साहूकार की कार्यविधियो पर अभी तक रिजर्व बैंक का कोई प्रभावपूर्ण नियत्रण नही हो पाया है। देश के वृहत् आकार, यातायात के साधनो के अभाव बैंकिग की सुविधाओ की अपर्याप्तता तथा साधनो मे गतिशीलता के अभाव आदि भी सगठित मुद्रा-बाजार के विकास मे बाधक सिद्ध हो रहे हैं। देश के विभिन्न भागो मे ब्याज-दर मे समानता नही पायी जाती है। बैंक-दर मे परिवर्तन का प्रभाव भी बाजार दर पर बहुधा नही पडता है। इस प्रकार उचित सगठन एव सहयोग के अभाव मे भारतीय मुद्रा-बाजार का ढाँचा बहुत ढीला-ढाला है।

(2) **ब्याज की दरो में विभिन्नता**—भारतीय मुद्रा-बाजार का दूसरा प्रधान दोष बाजार के भिन्न-भिन्न भागो मे ब्याज की दरो मे विभिन्नता है। केन्द्रीय बैंकिग जाँच समिति के अनुसार ब्याज की दरें ½ % से लेकर 10 प्रतिशत तक होती हैं। बैंक-दर, व्यावसायिक बैंको की ब्याज-दर तथा महाजनों की ब्याज-दरो मे कोई सम्बन्ध नही है। सबकी ब्याज-दरें अलग-अलग रहती हैं। कभी-कभी तो विभिन्न व्यक्तियों के लिए भी ब्याज की दरो मे विभिन्नता पायी जाती है। बाजार दरो मे विभिन्नता के कारण ऋण पत्रो के मूल्यो मे उच्चावचन होने लगते हैं जिनका वाणिज्य एव उद्योग पर बडा ही बुरा प्रभाव पडता है। लन्दन मुद्रा बाजार के विभिन्न अगो मे सहयोग होने के कारण वहाँ ब्याज की दरें बैंक दर का अनुकरण करती है, किन्तु भारतीय मुद्रा बाजार मे इस प्रकार की बात नही पायी जाती है।

(3) **सुविकसित एवं सुसगठित बिल-बाजार का अभाव**—विकसित मुद्रा-बाजार के लिए एक सुविकसित बिल-बाजार का होना नितात आवश्यक है, किन्तु भारत मे अभी तक एक सुसगठित एव सुव्यवस्थित बिल-बाजार का अभाव है। **इसके कई कारण हैं जिनमें निम्नलिखित प्रमुख हैं—**

(1) बैंक बहुधा अपने धन को प्रथम श्रेणी की प्रतिभूतियो मे ही लगाते है, यानी अपनी सम्पत्ति को अत्यधिक तरल साधन के रूप मे रखना अधिक पसन्द करते हैं।

(ii) भारत मे स्वीकृति-गृहो (Acceptance Houses) का अभाव है जिससे बिल से सम्बन्धित व्यापारियों को आर्थिक स्थिति का समुचित ज्ञान नही हो पाता।

(iii) *बिलो को पुन. न्ट्टा करनेवाली सस्थाओ* का भी देश मे अभाव है, लेकिन रिजर्व बैंक की स्थापना के बाद यह कठिनाई दूर हो गयी है।

(iv) बिलो की विविधता भी एक सुव्यवस्थित बिल-बाजार के मार्ग मे कठिनाई उपस्थित करती है। भारत मे बिल एव हुडियाँ विभिन्न स्थानो मे विभिन्न भाषाओ मे लिखी जाती है। साथ ही, इनके रूप एव प्रकृति मे भी विभिन्नता पायी जाती है।

(v) **ट्रेजरी बिलो की अधिकता**—देश मे राज्य एव केन्द्रीय सरकारें अपनी दैनिक आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए 30 से 90 दिनो की अवधि के ट्रेजरी बिल जारी करती हैं। इन बिलो मे विनियोग अधिक सुरक्षित समझा जाता है तथा इनमे तरलता की मात्रा भी बहुत अधिक होती है।

उपरोक्त सभी कारणो से भारत मे सगठित बिल-बाजार का अभाव है जिसका प्रभाव मुद्रा-बाजार पर भी पडता है।

(4) **मुद्रा-बाजार में धन का अभाव** (Paucity of Loanable funds)—भारतीय मुद्रा-बाजार का एक प्रमुख दोष माग के तुलना मे धन की पूर्ति का अभाव है। इसके विभिन्न कारण हैं जैसे—विनियोग एव बैंकिंग व्यवस्था का अविकसित होना, समय-समय पर बैंकों के फेल होने से जनता का इनके प्रति अविश्वास तथा जनता मे बैंकिंग आदतो का अभाव आदि प्रमुख है। वास्तव मे, हमारे देश मे जनसाधारण बैंको मे अपना रुपया जमा करने मे हिचकते हैं। ये अपनी बचत को छुपाकर (Hoarding) रखते हैं जिससे मुद्रा बाजार मे धन का अभाव हो जाता है। भारतीय मुद्रा-बाजार मे धन के अभाव का एक प्रमुख कारण देश की निर्धनता भी है।

(5) **मुद्रा की माग में मौसमी परिवर्तन** (Seasonal variations in the demand for Loans)—भारत मे मुद्रा-बाजार का एक प्रधान दोष मुद्रा की माग मे मौसमी परिवर्तन भी है। व्यापार के खास-खास मौसम मे मुद्रा की माग मे वृद्धि हो जाती है, किन्तु पूर्ति मे अनुरूप वृद्धि नहीं होने के कारण बाजार मे कठिनाई होने लगती है। इसके फलस्वरूप ब्याज की दरो मे भी वृद्धि होती है। इस प्रकार मुद्रा की माग मे मौसमी परिवर्तन हुआ करता है। यह मुद्रा-बाजार का एक प्रमुख दोष है।

(6) **देशी बैंकर्स तथा महाजनों की अधिकता** (Abundance of money-lenders and indigenous bankers)—भारतीय मुद्रा-बाजार मे देशी बैंकर्स तथा महाजनो की अधिकता है। इन पर रिजर्व बैंक का किसी प्रकार का भी नियन्त्रण नहीं है। देशी बैंकर्स पर किसी भी प्रकार का नियन्त्रण नही होने के कारण ये मुद्रा-बाजार को अपनी कार्यवाहियो से यदा-कदा अस्त-व्यस्त कर डालते हैं। अत. देशी बैंकर्स तथा महाजनो की अधिकता के कारण भी भारतीय मुद्रा-बाजार मे बहुत सारे दोष उत्पन्न हो गये हैं।

(7) **विशिष्ट साख-सम्बन्धी सस्थाओं का अभाव**—भारत मे कृषि, उद्योग तथा व्यापार आदि की आवश्यकता की पूर्ति के लिए पर्याप्त मात्रा मे विशिष्ट साख-सम्बन्धी सस्थाओ जैसे—भूमि-बन्धक बैंक, औद्योगिक बैंक, सहकारी बैंक तथा बट्टा-गृह (Discount houses) आदि का अभाव है।

(8) **समाशोधन गृहों का अभाव** (Lack of Clearing houses) भारत मे कुछ प्रमुख नगरो को छोडकर अन्यत्र समुचित ढग से व्यवस्थित समाशोधन गृहो का अभाव पाया जाता है जिससे बैंको को अपने दायित्व को पूरा करने के लिए अधिक मात्रा मे नकद मुद्रा रखनी पडती है। यह भारतीय मुद्रा-बाजार का एक प्रधान दोष है।

भारतीय मुद्रा-बाजार के दोषों को दूर करने के सुझाव

(Suggestions to remove the defects of the Indian Money Market)

भारतीय मुद्रा-बाजार मे सगठन का अभाव है, किन्तु देश मे सुसगठित आर्थिक व्यवस्था के निर्माण के लिए एक सुव्यवस्थित मुद्रा-बाजार की स्थापना अति आवश्यक है। इसके लिए

समय-समय पर बहुत-सी समितियों तथा आयोगों ने विभिन्न प्रकार के सुझाव प्रस्तुत किये हैं जिनमे निम्नलिखित प्रमुख हैं —

(1) लाइसेंसदार भण्डार-गृहो का निर्माण (Establishment of Licensed warehouse)—अन्य देशो की तरह भारत मे भी बैंको को लाइसेंसदार भण्डार-गृहो के निर्माण के लिए प्रोत्साहित करना चाहिए। प्रान्तीय सरकारें इस सम्बन्ध मे महत्त्वपूर्ण कार्य कर सकती हैं। इन्ही भण्डार गृहो मे रखी गयी वस्तुओ की जमानत पर बैंक सुविधापूर्वक ऋण दे सकते है।

(2) हुण्डियों का प्रमाणीकरण (Standardization of Hundies)—देश के भिन्न भिन्न भागो मे भाषा तथा स्थानीय रीति रिवाजो मे विभिन्नता के कारण हुण्डियो म भी विभिन्नता पायी जाती है। इससे लेन-देन के कार्य मे कठिनाई होती है। इन हुण्डियो का प्रमाणीकरण भी आवश्यक है। अत इनके प्रमाणीकरण की व्यवस्था करनी चाहिए जिससे मुद्रा-बाजार मे कठिनाई नही होने पाये।

(3) साख-पत्रों के पुन बट्टा कराने (Re discounting) **की सुविधा का विस्तार**—देश मे साख-पत्रो के भुगतान को समुचित व्यवस्था होनी चाहिए। साथ ही, मुद्दती हुण्डियो एव अन्य साख पत्रो के आधार पर ऋण देने की व्यवस्था होनी चाहिए। रिजर्व बैंक, स्टेट बैंक तथा अन्य 14 राष्ट्रीयकृत बैंको को बिलो के पुन बट्टा के लिए सभी सम्भव सुविधाएँ देनी चाहिए।

(4) देशी बैंकरों का रजिस्ट्रेशन तथा इनके कार्यों पर नियन्त्रण—हमारे देश मे आज भी साख-व्यवस्था के अन्तर्गत देशी बैंकर्स तथा महाजनो का स्थान प्रमुख है, किन्तु इन पर रिजर्व बैंक का किसी प्रकार का नियन्त्रण नही रहता है। अत देश मे मुद्रा बाजार के समुचित सगठन के लिए देशी बैंकर्स तथा महाजनो पर समुचित नियन्त्रण आवश्यक है। रिजर्व बैंक द्वारा इनके कार्यों पर नियन्त्रण होना चाहिए।

(5) समाशोधन गृहों का पुनर्गठन (Re-organization of Clearing Houses)—मुद्रा बाजार के विकास मे समाशोधन-गृहो का भी विशेष महत्त्व है, किन्तु भारत मे समाशोधन-गृहो का बहुधा स्थानीय स्तर पर सगठन होता है जिससे मुद्रा-बाजार के विकास मे कठिनाई होती है। अत समाशोधन गृहो का यूरोपीय-गृहो के आधार पर सगठन होना चाहिए।

(6) स्वीकृति गृहों तथा बट्टा-गृहो की स्थापना (Establishment of Acceptance houses and Discount houses)—भारतीय मुद्रा-बाजार के विकास के लिए लन्दन तथा न्यूयार्क मुद्रा बाजार की तरह यहाँ पर भी स्वीकृति-गृहो तथा बट्टा-गृहो की स्थापना की जानी चाहिए। ये सस्थाएँ सभी प्रकार के व्यापारिक बिलो तथा हुण्डियो की स्वीकृति तथा बट्टे का कार्य करेंगी।

(7) बट्टा दरों में कमी (Reduction in Discount Rates)—देश मे बिलो को लोकप्रिय बनाने के लिए बैंको को अपनी कटौती की दरो मे यदासम्भव कमी करनी होगी।

(8) स्टाम्प कर में कमी (Reduction in Stamp Tax)—बिलों को जनसाधारण में लोकप्रिय बनाने के लिए इनके स्टाम्प-करो मे कमी अनिवार्य है।

(9) सरकार द्वारा बचत को प्रोत्साहन—मुद्रा-बाजार मे अधिक मात्रा मे कोष की व्यवस्था के लिए सरकार को जनसाधारण में बचत को प्रोत्साहित करने की नीति अपनानी चाहिए।

उक्त उपायो द्वारा भारतीय मुद्रा बाजार के दोषो को दूर किया जा सकता है। पिछले कुछ वर्षों से, विशेषत रिजर्व बैंक की स्थापना तथा इसके राष्ट्रीयकरण के बाद से, मुद्रा-बाजार के उपरोक्त दोषो को दूर करने का प्रयास किया जा रहा है तथा इसमे कुछ सफलता भी प्राप्त हुई है। 14 बडे-बडे व्यावसायिक बैंको के राष्ट्रीयकरण से भी इसमे कुछ सहायता की आशा है। फिर भी इस क्षेत्र मे अभी बहुत कुछ करने की आवश्यकता है।

भारत में बिल बाजार

(Bill Market in India)

बिल बाजार का अर्थ (Meaning of Bill Market)—बिल बाजार का तात्पर्य एक ऐसे बाजार या स्थान अथवा क्षेत्र से होता है जहाँ हुण्डियो तथा व्यापारिक बिलो के आधार

पर ऋण दिया जाता है और हुण्डियो एव बिलो के क्रय-विक्रय तथा कटौती (Discount) का कार्य किया जाता है। साधारणतया, व्यापारी अथवा उद्योगपति बिल बाजार मे हुण्डियो या बिलो के विक्रेता होते हैं, क्योकि इन्हें ऋण की आवश्यकता होती है और बैंक तथा अन्य वित्तीय सस्थाएँ इन बिलो को खरीदती हैं। किसी भी देश मे सगठित मुद्रा-बाजार के विकास तथा साख-यत्र के सुविधापूर्वक सचालन के लिए एक सुसगठित बिल बाजार का होना आवश्यक है, परन्तु भारत मे अभी तक इस प्रकार के बिल बाजार का पर्याप्त मात्रा मे विकास नही हो पाया है।

रिजर्व बैंक की बिल बाजार योजना (Bill Market Scheme of the Reserve Bank of India).—जनवरी, 1952 ई० मे रिजर्व बैंक ने देश मे बिल-बाजार के विकास के लिए एक योजना प्रस्तुत की। इस योजना के अनुसार स्टेट बैंक भीडवाले मौसम मे जायज व्यापार के लिए जारी की गयी बिलो अथवा हुण्डियो के आधार पर करेंसी विभाग से ऋण प्राप्त कर सकता है।

रिजर्व बैंक की बिल-बाजार योजना की निम्नाकित प्रधान विशेषताएँ हैं :—

(1) बिल पर ऋण देना —इस योजना के अन्तर्गत रिजर्व बैंक ने अनुसूचित बैंको को अवधि प्रतिज्ञा-पत्रो अथवा अन्तर्देशीय बिलो की जमानत पर ऋण देने की व्यवस्था की है।

(2) बिल की अवधि :—जिन अन्तर्देशीय बिलो की जमानत पर ऋण दिया जाता है उनका भुगतान 90 दिनो मे होना चाहिए।

(3) ऋण देने की रीति .—(अ) इस योजना के अन्तर्गत जो भी बैंक ऋण लेना चाहता है उसे रिजर्व बैंक के बम्बई, कलकत्ता, दिल्ली, मद्रास या कानपुर मे से किसी कार्यालय के पास अपना आवेदन पत्र भेजना पडता है। (ब) इसके साथ मान्य बिलो (90 दिनो वाले प्रतिज्ञा-पत्र या बिल) को भी भेजना पडता है, जिनपर कम-से कम दो अच्छा हस्ताक्षर (एक अनिवार्य रूप से किसी अनुसूचित बैंक का) होना चाहिए। आवश्यक जाँच-पडताल के बाद यदि रिजर्व बैंक को सतोष हो जाता है तो वह ऋण दे देता है, परन्तु रिजर्व बैंक द्वारा उधार दी गई राशि उस रकम से अधिक नही हो सकती जो सदस्य बैंक किसी अन्य व्यापारी को ऋण के रूप मे देगा।

(4) ऋण देने की नीति : रिजर्व बैंक इस आधार पर ऋण देने के लिए केवल पर्याप्त जमानत का ही ध्यान नही रखता, किन्तु बैंक की कार्य पद्धति की भी जाँच करता है।

(5) ऋण की शर्त —प्रारम्भ में इस योजना के अन्दर केवल उन्ही अनुसूचित बैंको को ऋण देने की व्यवस्था की गयी थी जिनके पास 10 करोड रुपये या इससे अधिक जमा (Deposits था। आगे चलकर जून 1953 से इस योजना के अन्तर्गत उन बैंको को भी सम्मिलित कर लिया गया जिनका जमा कम-से कम 5 करोड रुपये था। बाद मे इस योजना के और भी अधिक विस्तार के उद्देश्य से जुलाई, 1954 से बैंकिंग कानून के अन्तर्गत के सभी बैंको को इसमे सम्मिलित कर लिया गया है। इस कार्यक्रम को प्रोत्साहित करने के लिए बिलो के आधार पर दिये गये ऋण पर रिजर्व बैंक बैंक-दर से ½ प्रतिशत कम सूद की दर लेता था। साथ ही, रिजर्व-बैंक कर्ज लेनेवाले लोगो के बिलो के स्टाम्प का आधा भाग स्वय वहन करता था।

बिल-बाजार के विकास पर इस कार्य क्रम का अच्छा प्रभाव पडा है। अक्टूबर, 1958 ई० से रिजर्व बैंक ने निर्यात प्रोत्साहन के उद्देश्य से निर्यात बिलो को भी इसके अन्तगत सम्मिलित कर लिया।

विशेष अध्ययन-सूची

1. R. B. I : Reserve Bank of India : Functions and Working
2. Rao, S K. : The Indian Money Market.

———

अध्याय : 21
केन्द्रीय बैंकिंग
(Central Banking)

केन्द्रीय बैंक का आशय (Meaning of Central Bank) :—केन्द्रीय बैंक का देश की बैंकिंग एवं मौद्रिक व्यवस्था में प्रधान स्थान होता है। यह सरकार का एक अंग (Organ of the Government) है जो सरकार के अधिकांश वित्तीय कार्यों का सम्पादन करता है। इन्हीं वित्तीय कार्यों के सम्पादन के सिलसिले में यह मौद्रिक एवं बैंकिंग सस्थाओं की कार्य-प्रणाली को इस प्रकार से नियंत्रित करता है जिससे कि सरकार की आर्थिक नीति सफलीभूत हो सके।

इस प्रकार केन्द्रीय बैंक का देश की मौद्रिक एव बैंकिंग व्यवस्था मे केन्द्रीय स्थान होता है। प्रो० केन्ट के अनुसार **"केन्द्रीय बैंक एक ऐसी संस्था है जिसे जनहित में मुद्रा के परिमाण में विस्तार तथा संकुचन का कार्य दिया गया हो।"** (It may be defined as an institu ion charged with the re ponsibility of managing the expansion and contraction of money in the interest of the general publ c welfare.) वास्तव मे, केन्द्रीय बैंक एक ऐसी संस्था है जो देश की आर्थिक प्रगति को ध्यान में रखते हुए देश की साख एवं केन्द्रीय नीति का नियमन एवं निर्देशन करता है। केन्द्रीय बैंक का देश की मौद्रिक एव बैंकिंग व्यवस्था मे केन्द्रीय स्थान होता है। इसीलिए, **विल रोजर्स** (Will Rogers) ने कहा है कि "There have been three great inventions since the beginning of time : fire, the wheel and the central banking."[1] वर्तमान समय मे प्राय: सभी देशो में केन्द्रीय बैंक देश की सरकार के स्वामित्व के अन्तर्गत कार्य करते हैं। इसी बात को ध्यान मे रखते हुए प्रो० **सैम्युयलसन** (Samuelson) ने केन्द्रीय बैंक की परिभाषा इस प्रकार से दी है : 'केन्द्रीय बैंक एक ऐसा बैंक है जिसे देश की सरकार अपने लेन-देन के कार्य करने, व्यावसायिक बैंकों को नियंत्रित करने तथा राष्ट्र की मुद्रा की पूर्ति एवं साख-व्यवस्था के नियंत्रण मे सहयोग देने के लिए स्थापित करती है।' **(A central bank is a bank that the Government sets up to handle its transactions to co-ordinate and control the commercial banks and, most** ***important, to help and control the nation's money and credit*** **conditions)**

विकास :—यद्यपि केन्द्रीय बैंकिंग व्यवस्था का विकास बहुत पहले से ही प्रारम्भ हो चुका था, फिर भी, बीसवी शताब्दी के पूर्व तक इनके सम्बन्ध मे कोई स्पष्ट धारणा नही हो सकी थी। अधिकाश प्राचीन देशो मे कोई एक बैंक धीरे-धीरे नोट जारी करने तथा सरकार के बैंक की हैसियत से केन्द्रीय बैंक का स्थान ग्रहण कर रहा था। अधिकाश प्राचीन केन्द्रीय बैंको की स्थापना पहले ही की जा चुकी थी। उदाहरण के लिए, 1656 ई० मे रीस बैंक ऑफ स्वीडेन (Reichs Bank of Sweden) तथा 1694 ई० मे बैंक ऑफ इगलैण्ड की स्थापना हुई थी। इसी प्रकार 1800 ई० में बैंक ऑफ फ्रास (Bank of France), 1857 ई० मे जर्मनी के रीस बैंक (Reichs Bank) तथा 1860 ई० मे रूस के बैंक ऑफ रसा (Bank of Russia) की स्थापना हुई, किन्तु

---

1. केन्द्रीय बैंक की कुछ अन्य परिभाषाएँ इस प्रकार से हैं :—

(a) Bank of International Settlement के अनुसार : "The central bank is the bank to which has been entrusted the duty of regulating the volume of credit and currency in the country."

(b) Vera Smith के अनुसार : "The central banking is a banking system in which a single bank has either a complete or a residuary monopoly of note issue."

(c) Kisch and Elkin के अनुसार : "A central bank is that bank the essential duty of which is maintenance of stability of the monetary standard."

बैंक ऑफ इगलैंड ने सर्वप्रथम 1844 ई० मे केन्द्रीय बैंक के रूप मे कार्य करना प्रारम्भ किया। प्रारम्भ मे इन बैंको को केन्द्रीय बैंक नही कह कर उन्हे साधारणतया नोट जारी करनेवाला बैंक (Bank of Issue) या राष्ट्रीय बैंक (National Bank) कहा जाता था, किन्तु धीरे-धीरे इन बैंको ने केन्द्रीय बैंक के अन्य कार्यों का भी सम्पादन प्रारम्भ किया जिससे देश की मौद्रिक एव बैंकिग व्यवस्था मे इनका केन्द्रीय स्थान हो गया और इस प्रकार य केन्द्रीय बैंक कहलाने लगे। इस प्रकार वर्तमान केन्द्रीय बैंकों मे ब्रिटेन का बैंक ऑफ इगलैण्ड (Bank of England) तथा स्वीडेन का रीस बैंक (Reichs Bank of Sweden) सबसे प्राचीन केन्द्रीय बैंक हैं। बैंक ऑफ इगलैंड (Bank of England) विश्व मे पहला बैंक है जिसने केन्द्रीय बैंक के कार्यों एव अधिकारो को ग्रहण किया। अतएव, विश्व मे केन्द्रीय बैंकिग व्यवस्था के विकास मे इस बैंक ने अगुआ का कार्य किया है। अन्य देशो के केन्द्रीय बैंको की स्थापना इसके बाद मे हुई।

यद्यपि उन्नीसवी शताब्दी के अन्त तक यूरोप के अधिकाश देशो मे केन्द्रीय बैंको की स्थापना हो चुकी थी, किन्तु बहुत-सारे नये देशो में तबतक केन्द्रीय बैंक स्थापित नही किये गये थे। 1913 ई० मे सयुक्त राज्य अमेरिका की केन्द्रीय बैंकिग प्रणाली (Federal Reserve System) की स्थापना हुई जो 12 फेडरल रिजर्व बैंको का एक सघ है जो अपने अपने क्षेत्र मे प्राय स्वतत्र रूप से काय करते है। 1920 ई० मे ब्रूसेल्स (Brussels) के अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय सम्मेलन (International Financial Conference) मे इस आशय का एक प्रस्ताव स्वीकार किया गया कि जिन देशो मे केन्द्रीय बैंक नही हैं वहाँ इनकी स्थापना के लिए यथाशीघ्र प्रयास करना चाहिए। परिणामस्वरूप कुछ ही समय मे विश्व के प्राय सभी देशो मे एक-एक केन्द्रीय बैंक की स्थापना हुई। भारत मे भी 1935 ई० मे रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया (Reserve Bank of India) की स्थापना हुई। द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष (International Monetary Fund) की स्थापना से भी अफ्रिका तथा एशिया के नये-नये देशो मे केन्द्रीय बैंकिग के विकास मे अधिक सहायता मिली है।

निम्न सूची[1] से अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय सम्मेलन (International Financial Conference) के पश्चात् विश्व के प्रमुख देशो मे केन्द्रीय बैंकिग के विकास के सम्बन्ध मे अन्दाजा लगता है —

स्थापना का वर्ष	केन्द्रीय बैंक का नाम
1921	(i) South African Reserve Bank
1922	(i) Reserve Bank of Peru (re-organised in 1931 as Central Reserve Bank of Peru)
	(ii) Bank of Latavia
	(iii) Bank of Lithuania
1923	(ii) Bank of Republic of Columbia
1924	(i) National Bank of Hungary
	(ii) Bank of Poland
	(iii) Bank of Danzing
	(iv) Commonwealth Bank of Australia and Bank of the Republic of Uruguay were converted into Central Bank
1925	(i) National Bank of Albania
	(ii) National Bank of Czechoslovakia.
	(iii) Central Bank of Chile
	(iv) Central Bank of Guatemala

1 M H De Kock Central Banking (3rd ed) pp 19 20.

स्थापना का वर्ष	केन्द्रीय बैंक का नाम
1927	(i) Central Bank of Equador
1928	(i) Central Bank of China
	(ii) National Bank of Iceland converted into Central Bank
1929	(i) Central Bank of Bolivia
1931	(i) Central Bank of the Turkish Republic
1932	(i) Bank of Mexico
1934	(i) Reserve Bank of New Zealand
	(ii) Central Reserve Bank of Salvador
1935	(i) Bank of Canada
	(ii) Reserve Bank of India
	(iii) Central Bank of the Argentine Republic
1936	(i) Bank of the Repulic of Paraguay
1937	(i) National Bank of Costa Rica
1939	(i) Central Bank of Venezula
1941	(i) National Bank of Afganistan
	(ii) National Bank of Nicaragua
1942	(i) Central Bank of Ireland
	(ii) Bank of Thailand
	(iii) State Bank of Ethopia
1945	(i) Central Bank of Poland
1947	(i) Central Bank of Dominion Republic
1948	(i) *State Bank of Pakistan*
	(ii) Union Bank of Burma
	(iii) Central Bank of Phillipines
	(iv) National Bank of Cuba
1949	(i) National Bank of Iraq
1950	(i) Central Bank of Ceylon
	(ii) Central Bank of Honduras
1952	(i) Central Bank of Belgian Congo
	(ii) Bank of Issue of Associated State of Indo China
1954	(i) Bank of Israel
1957	(i) Bank of Ghana
1958	(i) Central Bank of Malaya
1959	(i) Central Bank of the State of West Africa.
1960	(i) Bank of Sudan
1962	(i) Bank of Jamaica
1963	(i) Central Bank of Algeria
1965	(i) Bank of Lebanon

केन्द्रीय एव व्यावसायिक बैंकों मे प्रधान अन्तर (Main points of Distinction between Central and Commercial Banks) —केन्द्रीय बैंक और व्यावसायिक बैंको की कार्य प्रणाली मे बहुत अन्तर है। केन्द्रीय बैंक का देश की मौद्रिक एव बैंकिंग व्यवस्था मे केन्द्रीय स्थान होता है। इसका उद्देश्य देश की बैंकिंग व्यवस्था का इस प्रकार से नियन्त्रण करना है जिससे कि सरकारी मौद्रिक नीति के कार्यान्वयन मे सुविधा हो सके। इस प्रकार केन्द्रीय बैंक की कार्य-प्रणाली व्यावसायिक बैंको से सर्वथा भिन्न होती है। सर्वप्रथम तो, व्यावसायिक बैंको की तरह

केन्द्रीय बैंक का उद्देश्य अधिकतम मुनाफा कमाना नही होता है। इसका प्रधान उद्देश्य देश में आर्थिक स्थायित्व की स्थापना के लिए समुचित मौद्रिक नीति का कार्यान्वयन है। इस उद्देश्य से देश की सम्पूर्ण मौद्रिक प्रणाली पर इसका नियन्त्रण अनिवार्य हो जाता है। इस प्रकार केन्द्रीय बैंक का देश के व्यावसायिक बैंको पर नियमन एवं नियन्त्रण रहता है। देश की मौद्रिक नीति को सुचारु रूप से कार्यान्वित करने के लिए केन्द्रीय बैंक साधारणतया राज्य के नियन्त्रण मे रहता है।

द्वितीयतः, केन्द्रीय बैंक देश की मुद्रा का उद्गम होता है। आजकल प्रायः प्रत्येक देश मे पत्र-मुद्रा जारी करने का एकमात्र अधिकार केन्द्रीय बैंक को ही प्राप्त है। अतएव, केन्द्रीय बैंक पर सरकार का नियन्त्रण अनिवार्य है। इस सम्बन्ध मे दो विचार नही हो सकते, किन्तु प्रश्न यह है कि सरकार एवं केन्द्रीय बैंक मे वास्तविक *सम्बन्ध क्या होना चाहिए ? सर्वप्रथम तो, यह कहा जा* सकता है कि केन्द्रीय बैंक की व्यवस्था सरकारी विभाग की तरह की जा सकती है, किन्तु ऐसा होने से बैंक के दिन-प्रति-दिन के कार्य मे अत्यधिक सरकारी हस्तक्षेप होने लगेगा जिससे बैंक की कार्य-क्षमता मे कमी आ जायगी तथा केन्द्रीय बैंक सरकार के हाथ की कठपुतली बन जायगा। दूसरा दृष्टिकोण यह है कि केन्द्रीय बैंक पर राज्य का सामान्य नियन्त्रण रहे, किन्तु इसकी व्यवस्था स्वतन्त्र रूप से होनी चाहिए। आजकल अधिकाश देशो मे राज्य एवं केन्द्रीय बैंक का सम्बन्ध प्रायः इसी प्रकार का है। केन्द्रीय बैंक साधारणतया राज्य के स्थायित्व तथा नियंत्रण के अन्तर्गत रहता है, किन्तु इसकी व्यवस्था स्वतन्त्र रूप से की जाती है। राज्य केन्द्रीय बैंक के मुनाफे मे भी हिस्सा बँटाता है तथा इसके सचालक-मण्डल की नियुक्ति मे राज्य का हाथ रहता है, किन्तु राज्य द्वारा निर्धारित नियमो के अन्तर्गत बैंक स्वतन्त्रतापूर्वक अपना कार्य करता है। इस प्रकार माण्टेग्यू नार्मन (Montague Norman) के शब्दो मे, "राज्य एवं केन्द्रीय बैंक का सर्वाधिक उचित सम्बन्ध वही है जिसमे राज्य एवं बैंक दोनों की नीति मे उचित सामजस्य हो।"[1] भिन्न-भिन्न देशो मे केन्द्रीय बैंक के ढाँचे मे विभिन्नता पायी जाती है किन्तु आधुनिक युग मे सर्वत्र केन्द्रीय बैंक प्रायः सार्वजनिक सस्था के रूप मे कार्य करते हैं तथा इनकी व्यवस्था भी स्वतन्त्र रूप से की जाती है।

अब, विश्व के कुछ प्रमुख देशों के केन्द्रीय बैंकों का निम्न विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है :—

बैंक ऑफ इंगलैंड

(Bank of England)

बैंक ऑफ इगलैंड ग्रेट-ब्रिटेन का केन्द्रीय बैंक है। इसकी स्थापना 1694 ई० में पार्लियामेंट के एक विशेष कानून के अनुसार मिश्रित पूँजी की कम्पनी के आधार पर हुई थी, किन्तु 1946 ई० के बैंक ऑफ इगलैंड ऐक्ट (Bank of England Act) के अनुसार इसका राष्ट्रीयकरण किया गया तथा राज्य ने इसकी सम्पूर्ण पूँजी ले ली। तब से यह एक सार्वजनिक सस्था के रूप मे कार्य करता है। इस बैंक की व्यवस्था के लिए एक गवर्नर, एक डिप्टी गवर्नर तथा 16 डाइरेक्टर्स होते हैं जिनकी नियुक्ति ब्रिटिश क्राउन द्वारा की जाती है। गवर्नर तथा डिप्टी गवर्नर की नियुक्ति पाँच वर्षों के लिए तथा डाइरेक्टरो की नियुक्ति चार वर्षों के लिए होती है। इनमे से प्रतिवर्ष चार डाइरेक्टर्स विमुक्त हो जाते हैं।

आजकल बैंक की वास्तविक व्यवस्था का कार्य इसके गवर्नर, डिप्टी गवर्नर तथा चार पूर्णकालिक संचालको (Full time executive directors) द्वारा किया जाता है। बैंक की कार्यवाही की जिम्मेवारी गवर्नर के हाथ मे है, किन्तु प्रमुख निर्णयों के लिए बैंक को अपने बोर्ड ऑफ डाइरेक्टर्स पर आश्रित रहना पडता है। आवश्यक परामर्श के लिए एक ट्रेजरी कमिटी (Committee of the Treasury) रहती है जिसमे गवर्नर, डिप्टी गवर्नर तथा पाँच डाइरेक्टर्स रहते हैं। बैंक की कार्यवाही मे इस कमिटी का स्थान सर्वाधिक प्रमुख है, किन्तु पूर्णकालिक संचालको की नियुक्ति के बाद से इसके महत्त्व में कुछ कमी आ गयी है। गवर्नर, डिप्टी गवर्नर तथा संचालको

1. "... ...the policy of the Bank and the policy of the Govt. should at all times be in harmony, in as complete harmony as possible. I look upon the Bank as having the unique right to offer advice and to press such advice even to the point of nogging, but always of course, subject to the supreme authority of the Government."—Montague Norman, *Governor of the Bank of England*.

के रूप म वे ही व्यक्ति नियुक्त किय जाते है जिन्हे केन्द्रीय बैंकिग की कार्यवाही के सम्बन्ध मे पर्याप्त अनुभव प्राप्त रहता है।

बैंक ऑफ इगलैंड एक कॉरपोरेशन है जिसकी शक्तियो का नियत्रण इसके चाटर द्वारा होता है। चाटर के अनुसार बैंक को बहुत ही व्यापक अधिकार प्राप्त है। साथ ही, बैंक के नियत्रण मे ट्रेजरी का भी प्रमुख हाथ है। 1916 ई० के अधिनियम के अनुसार ट्रेजरी को बैंक की कायवाही के सम्बन्ध मे निम्नलिखित अधिकार दिये गय है —

(क) समय-समय पर ट्रेजरी बैंक ऑफ इगलैंड के गवर्नर की राय से बैंक का ऐसा आदेश दे सकती है जो जनहित के लिए आवश्यक हो, तथा

(ख) ट्रेजरी द्वारा दिये गये आदेशो को ध्यान मे रखते हुए बैंक ऑफ इगलैण्ड के कार्य बैंक के चार्टर के अनुसार इसके बोर्ड द्वारा नियन्त्रित किये जायेंगे।

1946 ई० के अधिनियम म इस प्रकार की भी व्यवस्था की गयी है जिसके अनुसार बैंक अपने मुनाफे का एक निश्चित प्रतिशत भाग ट्रेजरी को देगा। इस अधिनियम की सर्वाधिक प्रमुख विशेषता यह है कि इसके अनुसार बैंक ऑफ इगलैंड को वहाँ के व्यावसायिक बैंको की कार्यवाही के नियन्त्रण के सम्बन्ध मे कानूनी अधिकार दिये गये है। इसके पूर्व ऐसा करने के लिए बैंक को केवल नैतिक दबाव पर ही निभर करना पडता था। अब, बैंक ऑफ इगलैंड किसी भी बैंक स किसी खास विषय के सम्बन्ध मे जानकारी प्राप्त कर सकता है अथवा ट्रेजरी के आदेश से उस बैंक से ऐसी सिफारिश कर सकता है तथा आदेश दे सकता है जिसके अनुसार बैंक को दी गयी सिफारिशें कार्यान्वित हो, किन्तु व्यावसायिक बैंको को नियन्त्रित करन की इसकी शक्ति की निम्नलिखित दो सीमाएँ हैं—(1) ऐसा करने के लिए उसे ट्रेजरी से आदेश लेना पडता है, तथा (2) बैंक ऑफ इगलैंड किसी बैंक की पूरी कार्यवाही के बारे मे ही आदेश दे सकता है।

इस प्रकार बैंक ऑफ इगलैंड अब किसी भी बैंक को उसकी कार्यवाही के सम्बन्ध मे आदेश दे सकता है। उदाहरण के लिए, यह किसी बैंक को एक निश्चित परिमाण में नकद कोष रखने के लिए आदेश दे सकता है या किसी खास उद्योग को कर्ज देने मे अधिक सुविधा देने का आदेश दे सकता है किन्तु किसी प्रकार के आदेश देने के लिए बैंक को ट्रेजरी का समर्थन रहना अनिवार्य है। ट्रेजरी का समर्थन रहने पर केन्द्रीय बैंक के रूप मे बैंक ऑफ इगलैंड के अधिकार बहुत ही व्यापक हैं, किन्तु यद्यपि बैंक ऑफ इगलैंड को बहुत ही व्यापक कानूनी अधिकार प्राप्त हैं फिर भी, यह मुख्यत अपने प्रभाव के उपयोग के लिए नैतिक दबाव (Informal commun cation and persuasion) का ही प्रयोग करता है। इस उद्देश्य से बैंक ने दो समितियाँ बनायी हैं—एक चेयरमैनो की समिति तथा दूसरी जेनरल मैनेजरो की समिति जिनके साथ समय-समय पर परामर्श के द्वारा बैंक अपने प्रभाव का उपयोग करता है। इसी प्रकार स्वीकृति-गृह समिति तथा मुद्रा बाजार-परिषद् हैं जिनके द्वारा बैंक मुद्रा-बाजार की कार्यवाही पर भी अपना प्रभाव डालता है।

बैंक ऑफ इगलैंड की वर्त्तमान विशेषता यह है कि यह पहले की तरह आजकल कोई विस्तृत वार्षिक विवरण नही प्रकाशित करता। इसका वर्त्तमान वार्षिक विवरण अन्य केन्द्रीय बैंको से सर्वथा भिन्न रहता है। इसका प्रधान कारण इगलैंड के अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान की विपन्नता (Unfavourable Balance of Payments) है। ऐसी स्थिति मे बैंक द्वारा देश की आर्थिक स्थिति के सम्बन्ध में विवरण प्रकाशित करने का अच्छा प्रभाव नही पड सकता है।

द्वितीय महायुद्ध के बाद बैंक ऑफ इगलैंड तथा ब्रिटिश बैंकिंग के क्षेत्र म दो नयी प्रवृत्तियो का सूत्रपात हुआ है—सर्वप्रथम व्यावसायिक बैंक तथा बैंक ऑफ इगलैंड के बीच अब प्रत्यक्ष सम्पर्क स्थापित होना शुरू हो गया है जिसमे सरकारी हुडियो के आधार पर व्यावसायिक बैंको ने बैंक ऑफ इगलैंड से प्रत्यक्ष रूप मे सहायता लेना प्रारम्भ कर दिया है।

द्वितीयत, बैंक ऑफ इगलैंड व्यावसायिक बैंको तथा मुद्रा बाजार की सस्थाओ को बैंक-दर पर सहायता देने के लिए सदा तत्पर रहता है।

फेडरल रिजर्व प्रणाली

(The Federal Reserve System)

संयुक्त राज्य अमेरिका का केन्द्रीय बैंक 12 रिजर्व बैंकों की एक सम्मिलित प्रणाली है जिसे फेडरल रिजर्व प्रणाली (Federal Reserve System) कहते हैं। यह अपने ढंग की एक अनोखी प्रणाली है। इस प्रणाली की स्थापना अनेक आर्थिक संकटों के बाद 1913 ई० के एक अधिनियम के अनुसार हुई तथा इसने 1914 ई० में अपना कार्य प्रारम्भ किया।

अमेरिका की फेडरल रिजर्व प्रणाली में 12 फेडरल रिजर्व बैंक हैं। प्रत्येक फेडरल रिजर्व बैंक का कार्य एक निश्चित भौगोलिक क्षेत्र तक सीमित रहता है। इस उद्देश्य से सम्पूर्ण देश को 12 फेडरल रिजर्व डिस्ट्रिक्ट में विभाजित किया गया है और हर एक डिस्ट्रिक्ट में एक रिजर्व बैंक रहता है। इस समय इन 12 रिजर्व बैंकों की भी कई शाखाएँ हैं। नीचे की सारिणी में फेडरल रिजर्व डिस्ट्रिक्ट, फेडरल रिजर्व बैंक तथा उनकी शाखाओं का विवरण दिया जाता है :—

FEDERAL RESERVE DISTRICTS, FEDERAL RESERVE BANK AND THEIR BRANCHES

Federal Reserve District Number	District Banks	Head Office
1	Federal Reserve Bank of Boston	Boston
2	Federal Reserve Bank of New York Branches Buffalo New York	Newyork
3	Federal Reserve Bank of Philadelphia	Philadelphia
4	Federal Reserve Bank of Cleveland Branches Cincinnati Ohio, Pittsburgh, Pennsylvania	Cleveland
5	Federal Reserve Bank of Richmond Branches : Baltimore, Maryland, Charlotte, North Carolina	Richmond
6	Federal Reserve Bank o Atlanta Branches Birmingham, Alabama, Nashville, Tennessee Jacksonville, Florida, New Orleans, Lousiana	Atlanta
7	Federal Reserve Bank of Chicago .. Branches : Detroit, Michigan	Chicago
8	Federal Reserve Bank of St Louis Branches Little Rock, Arkansas, Louisville, Kentucky, Memphis, Tennessee	St. Louis
9	Federal Reserve Bank of Minneapolis ... *Branches Helena, Montatna*	Minneapol s
10.	Federal Reserve Bank of Kansas City ... Branches Denver Colorado, Oklahoma City, Oklahoma Omaha Nebraska	Kansas City
11.	Federal Reserve Bank of Dallas .. Branches El Paso, Texas Houston, San Antonio, Texas	Dallas
12.	Federal Reserve Bank of San Franc sco Branches : Los Angles California Portland Oregon, Salt Lake City, Urah, Seattle Washington	San Francisco

इन रिजर्व बैंकों की पूँजी प्रत्येक क्षेत्र के सदस्य बैंकों द्वारा दी गयी है। प्रत्येक सदस्य बैंक (Member Bank) द्वारा उसकी कुल परिदत्त पूँजी एवं जमा के 3 प्रतिशत के बराबर

पूंजी प्रदान की गयी है। 30 अप्रैल, 1963 ई० को फेडरल रिजर्व बैंक की कुल सम्पत्ति 546 बिलयन डालर थी। सदस्य बैंक इन बैंकों के ⅔ भाग डायरेक्टरों का भी चुनाव करते हैं और इस प्रकार रिजर्व बैंक की कार्य-प्रणाली पर इनका आंशिक नियन्त्रण रहता है, किन्तु केन्द्रीय बैंकिंग-सम्बन्धी सभी महत्त्वपूर्ण कार्य एक केन्द्रीय संस्था, फेडरल रिजर्व प्रणाली के बोर्ड ऑफ गवर्नर्स के हाथ में रहता है। अतएव, बैंक की कार्यवाही के संचालन में बोर्ड ऑफ गवर्नर्स का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

बोर्ड ऑफ गवर्नर्स में संयुक्त राज्य अमेरिका के राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त 7 सदस्य रहते हैं। इनकी नियुक्ति के सम्बन्ध में सीनेट की स्वीकृति अनिवार्य होती है। इनकी नियुक्ति 14 वर्षों के लिए की जाती है। इनमें एक चेयरमैन तथा एक उप-चेयरमैन रहते हैं जिनकी नियुक्ति सीनेट की स्वीकृति से राष्ट्रपति 14 वर्षों के लिए करता है। इस केन्द्रीय संस्था का देश की सम्पूर्ण बैंकिंग व्यवस्था पर नियन्त्रण होता है। बोर्ड ऑफ गवर्नर्स का प्रधान कार्यालय वाशिंगटन में है।

बोर्ड निम्नांकित तीन प्रमुख कार्यों को सम्पन्न करता है —

(1) यह फेडरल रिजर्व बैंकों के केन्द्रीय बैंकिंग-सम्बन्धी कार्यों को नियन्त्रित करता है,
(2) यह फेडरल रिजर्व बैंकों के संचालन की देख रेख करता है, तथा
(3) सम्पूर्ण देश के वित्तीय कार्यों पर नियन्त्रण रखता है।

फेडरल रिजर्व बैंक अपने कुल लाभ में से अधिक से अधिक 6 प्रतिशत भाग हिस्सेदारों के बीच वितरित करते हैं। शेष लाभ में से कुछ फेडरल ट्रेजरी को दिया जाता है और शेष सुरक्षित कोष में जमा कर दिया जाता है।

फेडरल रिजर्व बैंक तथा बैंक ऑफ इंगलैंड में अन्तर (Distinction between Federal Re erve Bank & Bank of England)—इस प्रकार फेडरल रिजर्व प्रणाली तथा बैंक ऑफ इंगलैंड में कुछ महत्त्वपूर्ण अन्तर हैं। सर्वप्रथम तो, बैंक ऑफ इंगलैंड की सम्पूर्ण पूंजी अब सरकार की है जबकि फेडरल रिजर्व प्रणाली के अन्तर्गत प्रत्येक रिजर्व बैंक की पूंजी उस क्षेत्र विशेष के सदस्य बैंकों द्वारा प्रदान की जाती है। फेडरल रिजर्व प्रणाली में बोर्ड ऑफ गवर्नर्स की नियुक्ति एक बार में 14 वर्षों के लिए की जाती है जबकि बैंक ऑफ इंगलैंड के डायरेक्टरों की नियुक्ति केवल 4 वर्षों के लिए की जाती है। साथ ही बैंक ऑफ इंगलैंड पर फेडरल रिजर्व प्रणाली की अपेक्षा ट्रेजरी का नियन्त्रण कुछ अधिक है। इस प्रकार दोनों देशों के केन्द्रीय बैंकों में उपरोक्त महत्त्वपूर्ण अन्तर हैं।

रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया[1]

(Reserve Bank of India)

रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया भारत का केन्द्रीय बैंक है। 1 अप्रैल, 1935 ई० से इस बैंक ने कार्य आरम्भ किया। भारत में बहुत पहले से ही एक केन्द्रीय बैंक की स्थापना का प्रयास किया जा रहा था। उदाहरण के लिए, 1926 ई० में हिल्टन-यंग आयोग ने देश में एक केन्द्रीय बैंक की स्थापना का सुझाव दिया था, किन्तु 1935 ई० के पूर्व इस प्रकार के बैंक की स्थापना नहीं की जा सकी।

प्रारम्भ में इस बैंक की स्थापना एक हिस्सेदारों के बैंक के रूप में हुई थी। इसकी पूंजी 5 करोड़ रुपये थी जो 100 रुपये के 5 लाख हिस्सों में विभाजित थी। उस समय भी केन्द्रीय सरकार द्वारा इसके गवर्नर तथा डिप्टी गवर्नर की नियुक्ति की जाती थी, किन्तु बैंक के केन्द्रीय महत्त्व तथा विश्व के अन्य देशों में केन्द्रीय बैंकों के राष्ट्रीयकरण की बढ़ती हुई मांग के कारण 1948 ई० के Reserve Bank (Transfer to Public Ownership) Act के अनुसार इसकी सम्पूर्ण पूंजी केन्द्रीय सरकार द्वारा ले ली गयी। सरकार ने 100 रुपये के प्रति हिस्से के लिए 118 रु० 10 आने मुआवजे के रूप में दिया था। इस अधिनियम के अनुसार बैंक के डायरेक्टर, गवर्नर तथा डिप्टी गवर्नर केन्द्रीय सरकार द्वारा नियुक्त किये जाते हैं।

अन्य देशों के केन्द्रीय बैंक—आजकल विश्व के प्रायः सभी प्रमुख देशों में केन्द्रीय बैंक पाये जाते हैं। **बैंक ऑफ फ्रांस** (Bank of France) फ्रांस का केन्द्रीय बैंक है। 1945 ई० तक

1 रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया का विस्तृत विवरण आगे चलकर एक पृथक् अध्याय में दिया गया है।

बैंक ऑफ इगलैंड की तरह यह भी एक हिस्सेदारो का बैंक था और इसके गवर्नर तथा डिपुटी गवर्नर की नियुक्ति फ्रास सरकार द्वारा की जाती थी, परन्तु Four h Republic के समय से यह बैंक पूर्णरूपेण सरकारी नियन्त्रण के अन्तगत आ गया है।

प्रथम महायुद्ध के बाद 1920 ई० के अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय सम्मेलन (International Financial Conference) के सुझावो के अनुसार बहुत सारे देशो मे, जिनमे केन्द्रीय बैंक नही थे, केन्द्रीय बैंक की स्थापना की गयी। इस प्रकार 192 ई० में दक्षिण अफ्रिका मे South African Reserve Bank, 1924 ई० म आस्ट्रेलिया म Commonwealth Bank of Australia, 1935 ई० मे न्यूजीलैंड मे Reserve Bank of Newzealand, 1935 ई० मे कनाडा मे Bank of Canada तथा भारत मे Reserve Bank of India आदि की स्थापना विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इनमे से अधिकाश बैंको की स्थापना प्रारम्भ मे निजी हिस्सेदारो के बैंक के रूप मे की गयी थी, किन्तु आजकल जनमत केन्द्रीय बैंको के सार्वजनिक स्वामित्व एव नियन्त्रण के पक्ष मे ही है। द्वितीय महायुद्ध के बाद अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष (International Monetary Fund) की स्थापना से अफ्रिका, दक्षिण एशिया तथा लैटिन अमेरिका के नये देशो मे भी केन्द्रीय बैंकिग व्यवस्था के विकास मे बहुत अधिक सहायता प्राप्त हुई है।

विशेष अध्ययन-सूची

1. Crowther : An Outline of, Money, Chapter II
2. *Sayers* : *Modern Banking, Chapter IV.*
3. De Kock · Central Banking, Chapter I
4. R B. I : Reserve Bank of India Functions and Working

———

अध्याय : 22
केन्द्रीय बैंक के कार्य
(Functions of Central Bank)

केन्द्रीय बैंक के कार्य Functions of the Central Bank) :—केन्द्रीय बैंक देश की मौद्रिक एवं बैंकिंग व्यवस्था का प्रधान है। इसका प्रधान कार्य देश के व्यावसायिक बैंको को नियन्त्रित कर मौद्रिक नीति को कार्यान्वित करना है। चूंकि केन्द्रीय बैंक देश की मौद्रिक व्यवस्था का अगुआ होता है, अतएव, इसके कार्यों का प्रभाव देश की सम्पूर्ण आर्थिक व्यवस्था पर पड़ता है।

साधारणतया, आधुनिक समय में केन्द्रीय बैंक निम्नांकित प्रमुख कार्यों को सम्पन्न करता है[1] :

(1) पत्र-मुद्रा जारी करने का कार्य (Regulation of Paper Currency),

(2) सरकार के बैंकर, एजेन्ट एवं सलाहकार के रूप मे कार्य (Banker, Agent and Adviser of the State ,

(3) बैंको के बैंक के रूप मे कार्य (Banker's Bank),

(4) देश की अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा के संरक्षक एवं व्यवस्थापक के रूप मे कार्य (The cus - ody and management of the Nation's Reserves of International currencies),

(5) अन्तिम सहायक के रूप मे कार्य (Lender of the last resort);

(6) बैंको के समाशोधन-गृह के रूप मे कार्य (The Settlement of Clearance Bala ces between the Banks), तथा

(7) साख-नियन्त्रण का कार्य (The control of cr dit)।

किसी देश का केन्द्रीय बैंक साधारणतया उपरोक्त सारे कार्यों को सम्पन्न करता है, किन्तु इनमे से कौन-सा कार्य केन्द्रीय बैंक के लिए अधिक महत्त्वपूर्ण है, यह कहना बहुत ही कठिन है। वास्तव मे, केन्द्रीय बैंक का कोई भी एक कार्य इतना अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं है जिसे इसकी विशेषता के रूप मे वर्णन किया जा सके। अतएव, भिन्न-भिन्न अर्थशास्त्री इसके भिन्न-भिन्न कार्यों को महत्त्व देते हैं। उदाहरण के लिए प्रो० हॉट्रे (Hawtrey के अनुसार केन्द्रीय बैंक की सर्वाधिक प्रमुख विशेषता 'अन्तिम सहायक के रूप मे' (Lender of the last resort) उसका कार्य है। इनके अनुसार नोट जारी करने का कार्य बैंक के अन्तिम सहायक के रूप मे कार्य सम्पन्न करने मे सहायक होता है। दूसरी ओर, वेरा स्मिथ (Vera Smith) के अनुसार केन्द्रीय बैंक का प्रधान

---

1. सुप्रसिद्ध विद्वान डि कॉक (De Kook) के अनुसार केन्द्रीय बैंक निम्नांकित सात कार्यों का सम्पादन करता है :—

(a) The regulation of currency in accordance with the requirements of business and the general public, for which purpose it is granted either the sole right of note issue or at least a partial monopoly thereof;
(b) The performance of general banking and agency services for the state;
(c) The custody of the cash reserves of the commercial banks;
(d) The custody and management of the nation's reserves of international Currencies,
(e) The granting of accommodation, in the form of discounts as collateral advances to commercial banks bill-brokers and dealers, or other financial institutions and the general acceptance of the responsibility of lender of the last resort,
(f) The settlement of clearance balances between the banks and
(g) The control of credit in accordance with the needs of business and with a view to carrying out the broad monetary policy adopted by the state.

—*M. H. De Cock: Central Banking.*

कार्य पत्र-मुद्रा जारी करना है । इसके अनुसार बैंक के अन्य कार्यों का उद्गम पत्र-मुद्रा जारी करने के कार्य से ही हुआ है। इसी प्रकार कीश एवं एलकिन (Kich and Elkin) के अनुसार केन्द्रीय बैंक का प्रधान कार्य देश के मुद्रा-मान के स्थायित्व को बनाये रखना है तथा जौन्सी (Jauncey) के अनुसार केन्द्रीय बैंक का प्रधान कार्य समाशोधन-गृह के रूप मे कार्य करना है। (Clearing is the main operation of the Central Banking) इसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय बैंक के विधान मे केन्द्रीय बैंक की परिभाषा उस बैंक के रूप मे दी गयी है जिसका प्रधान कार्य देश की मुद्रा एव साख की मात्रा को नियन्त्रित करना है। साराश यह है कि विभिन्न अर्थशास्त्रियो ने केन्द्रीय बैंक के विभिन्न कार्यों को प्रधानता दी है। वास्तव मे, केन्द्रीय बैंक के उपर्युक्त सभी कार्य महत्त्वपूर्ण हैं। अतएव, प्रायः सभी देशो के केन्द्रीय बैंक इन सारे कार्यों को सम्पन्न करते हैं।

अब, केन्द्रीय बैंक के इन प्रमुख कार्यों को एक-एक करके विस्तारपूर्वक विवेचना की जाती है :—

1 पत्र-मुद्रा जारी करने का कार्य

(Regulation of Paper Currency)

पत्र-मुद्रा जारी करने के कार्य का विकास Evolution of the Issue Function) — केन्द्रीय बैंक का प्रधान कार्य देश की आवश्यकताओ के अनुसार पत्र-मुद्रा जारी करना है। आजकल ससार के प्राय. सभी देशो मे पत्र-मुद्रा जारी करने का एकाधिकार केन्द्रीय बैंक को ही प्राप्त है। केन्द्रीय बैंक का यह सर्वाधिक प्रधान कार्य है। डि'कॉक के अनुसार वास्तव मे केन्द्रीय *बैंकिंग व्यवस्था का विकास पत्र-मुद्रा जारी करने के अधिकार के साथ ही प्रारम्भ होता है। यही* कारण है कि बहुत समय तक इन बैंको को Bank of Issue कहा जाता था। (The privilege of the note issue was almost everywhere associated with the origin of and development of central banks In fact, until the beginning of the Twentieth century, they were generally known as Bank of issue)

पहले नोट जारी करने का कार्य साधारणतया देश के सभी बैंको द्वारा किया जाता था, किन्तु धीरे-धीरे पत्र-मुद्रा के अत्यधिक प्रसार तथा बैंको की सख्या मे वृद्धि के परिणामस्वरूप पत्र-मुद्रा मे अनुरूपता की आवश्यकता प्रबल होने लगी। अतएव, सरकार ने इस कार्य को देश के किसी एक बैंक के हाथ सुपुर्द करना ही उचित समझा। सर्वप्रथम, 1844 ई० मे बैंक ऑफ इगलैंड को *नोट जारी करने का एकाधिकार प्राप्त हुआ।* इसके बाद 1848 ई० मे फ्रास मे, 1875 ई० मे जर्मनी मे तथा 1897 ई० मे स्वीडन मे नोट जारी करने का अधिकार केन्द्रीय बैंको को दिया गया और *आजकल तो प्रायः प्रत्येक देश मे पत्र-मुद्रा जारी करने का एकाधिकार वहाँ के केन्द्रीय बैंक* को ही प्राप्त है। पत्र-मुद्रा जारी करने का कार्य किसी एक बैंक के हाथ मे देने से देश की मुद्रा-प्रणाली मे एकरूपता (Uniformity) आती है। साथ ही, केन्द्रीय बैंक के हाथ मे पत्र-मुद्रा जारी करने का एकाधिकार रहने से राज्य प्रत्यक्ष रूप से इसकी देख-भाल करता है। इसके अतिरिक्त अन्य कारणो से भी पत्र-मुद्रा जारी करने का कार्य केन्द्रीय बैंक को देना अधिक उचित समझा गया है। केन्द्रीय बैंक को नोट जारी करने का एकाधिकार रहने से व्यावसायिक बैंको के साख-सृजन की शक्ति को सुचारु रूप से नियन्त्रण कर सकते है, मुद्रा के आन्तरिक एवं बाह्य मूल्य को स्थायी बनाये रख सकते हैं तथा इनके नोटो के प्रति जनता का विश्वास भी अधिक रहता है। इस कार्य को सरकारी विभाग द्वारा नही सम्पन्न कर केन्द्रीय बैंक द्वारा इसलिए सम्पन्न किया जाता है कि इतिहास मे बहुत-से ऐसे उदाहरण मिलते है जब कि सरकार ने पत्र-मुद्रा की राशि मे अत्यधिक वृद्धि कर दी थी जिसके फलस्वरूप जनता को भयकर मुद्रा-स्फीति के दुष्परिणामो का शिकार होना पडा था। अतएव, पत्र-मुद्रा जारी करने के कार्य को एक ऐसी सस्था के जिम्मे देना अधिक उचित समझा गया, जो देश के आर्थिक हितो को ध्यान मे रखते हुए स्वतन्त्रतापूर्वक कार्य कर सके।

पत्र-मुद्रा जारी करने के सिद्धांत

(Principles of Note-Issue)

पत्र-मुद्रा जारी करने के निम्नलिखित दो सिद्धान्त हैं :—

(क) करेंसी या मुद्रा-सिद्धान्त (Currency Principle); तथा

(ख) बैंकिंग सिद्धान्त (Banking Principle)।

(क) करेंसी या मुद्रा-सिद्धान्त (Currency Principle) .—इस सिद्धात के अनुसार पत्र-मुद्रा जारी करने के लिए नोटो की मात्रा के बराबर स्वर्ण सुरक्षित कोष मे रखना पडता है। दूसरे शब्दो मे, पत्र मुद्रा के पीछे 100 प्रतिशत स्वर्ण एव चाँदी को आड मे रखना पडता है। इस प्रणाली मे नोटो का प्रसार एव सकुचन धात्विक निधि की मात्रा पर निर्भर करता है। यह सिद्धान्त इस मान्यता पर भी आधारित है कि पत्र-मुद्रा जारी करने का उद्देश्य बहुमूल्य धातुओ के सिक्को के प्रयोग को कम करना है जिससे समाज को विनिमय का एक सुविधाजनक माध्यम प्राप्त हो सके तथा मूल्यवान धातुओ की घिसावट मे भी बचत हो। इस प्रकार इस सिद्धान्त मे सुरक्षा एव नोटो के प्रति जनता के विश्वास को अत्यधिक महत्त्व दिया जाता है।

करेंसी अथवा मुद्रा-सिद्धान्त के गुण (Merits of The Currency Principle).—नोट जारी करने के करेंसी अथवा मुद्रा सिद्धान्त मे सामान्यत निम्नलिखित गुण पाये जाते हैं —(i) **जनता का विश्वास** —इस प्रणाली मे चूँकि नोटो के पीछे 100 प्रतिशत सोना सुरक्षित कोष मे रहता है तथा नोट बहुमूल्य धातुओ मे सदा परिवर्तनीय (convertible) होते हैं, अतएव, इस प्रणाली मे जनता का विश्वास बहुत अधिक रहता है। (ii) **सुरक्षा** —इस प्रणाली मे सुरक्षा की मात्रा भी अधिक पायी जाती है। इसमे सोने अथवा चादी के आधार पर ही पत्र-मुद्रा जारी की जा सकती है। अतएव, इसमे अत्यधिक मुद्रा-प्रसार की सम्भावना नही रहती।

करेंसी अथवा मुद्रा-सिद्धान्त के दोष (Defects of the Currency Principle) —किन्तु, उपरोक्त गुणो के साथ-साथ इस प्रणाली के निम्नलिखित दोष भी हैं —(1) **लोच का अभाव**—इस प्रणाली मे पत्र-मुद्रा की मात्रा पूर्णत स्वर्ण अथवा चाँदी पर आधारित रहती है, अतएव, इसमे आवश्यकतानुसार परिवर्तन नही लाया जा सकता। दूसरे शब्दो मे, इस प्रकार की मुद्रा-प्रणाली मे लोच का अभाव पाया जाता है। (2) **अमितव्ययी** – इस सिद्धान्त पर आधारित मुद्रा प्रणाली मे अमितव्ययिता का दोष भी पाया जाता है। इसका कारण यह है कि इसमे बहुत अधिक मात्रा मे स्वर्ण एव चादी योही सदा बेकार पडे रहते है।

(ख) **बैंकिंग सिद्धान्त** (Banking Principle) पत्र मुद्रा जारी करने का दूसरा सिद्धान्त बैंकिंग सिद्धान्त है इसमे पत्र-मुद्रा जारी करने के लिए 100 प्रतिशत स्वर्ण अथवा चाँदी के कोष की आवश्यकता नही होती, वरन् इसमे प्रचलित नोटो की मात्रा का एक निश्चित प्रतिशत भाग ही धात्विक कोष के रूप मे रखना पडता है। यह सिद्धान्त इस बात पर जोर देता है कि मुद्रा द्वारा विनिमय के माध्यम का कार्य सफलतापूर्वक कार्यान्वित करने के लिए मुद्रा-प्रणाली मे लोच का होना अनिवार्य है।

बैंकिंग सिद्धान्त के गुण (Merits of the Banking Principle) :—पत्र मुद्रा जारी करने के इस सिद्धान्त मे निम्नलिखित गुण पाये जाते हैं —(i) **इस प्रणाली मे अत्यधिक मात्रा मे लोच पायी जाती है** —बैंकिंग सिद्धान्त पर आधारित मुद्रा-प्रणाली का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण गुण यह है कि इसमे लोच की मात्रा बहुत अधिक पायी जाती है। इसमे देश की व्यापारिक एव औद्योगिक आवश्यकताओ के अनुसार मुद्रा की मात्रा मे परिवर्तन लाया जा सकता है। (ii) **बहुमूल्य धातुओं के उपयोग मे बचत** —इस प्रणाली मे चूँकि नोट जारी करने के लिए शत-प्रतिशत स्वर्ण अथवा चाँदी को सुरक्षित कोष मे नही रखना पडता है, अतएव इसमे बहुमूल्य धातुओ के उपयोग मे बचत होती है।

बैंकिंग सिद्धान्त के दोष (Defects of the Banking Principle) .—किन्तु, बैंकिंग सिद्धान्त के उपरोक्त गुणो के साथ-साथ इसके निम्नलिखित दोष भी हैं—**चलनाधिक्य का भय** (Danger of over-issue) —चूँकि इस सिद्धान्त के अनुसार नोट जारी करने के लिए 100 प्रतिशत धात्विक कोष की आवश्यकता नही रहती अतएव, इस सिद्धान्त पर आधारित मुद्रा प्रणाली मे सदा चलनाधिक्य का भय बना रहता है। (ii) **सुरक्षा मे कमी** इस प्रणाली मे कम ही धात्विक कोष के आधार पर पत्र-मुद्रा का प्रचलन किया जाता है, अतएव, इसमे सुरक्षा की कमी रहती है।

दोनों में कौन-सा सिद्धान्त अच्छा है ?—आधुनिक युग मे यह निर्णय करना कि व्यावहारिक दृष्टिकोण से दोनो मे कौन सा सिद्धान्त अच्छा है, कठिन नही-क्योकि चलन, सिद्धान्त

के आधार पर पत्र मुद्रा प्रणाली का निर्माण करना तो आज के विश्व में सम्भव ही नहीं है। स्वर्ण-कोषों की कमी तथा विभिन्न देशों के बीच स्वर्ण के असमान वितरण के कारण नोटों के लिए 100 प्रतिशत सोने की आड प्रदान करना सम्भव नहीं है। चाँदी के साथ भी प्राय: यही बात पायी जाती है साथ ही, इस प्रणाली में लोच का अभाव पाया जाता है। इस कारण आजकल बैंकिंग सिद्धान्त के आधार पर ही सर्वत्र पत्र-मुद्रा-प्रणाली का निर्माण किया गया है। ऐसी प्रणाली में धात्विक निधि तथा अन्य साधनों की व्यवस्था करके सुरक्षा का गुण भी प्राप्त किया जा सकता है। वास्तव में, एक आदर्श मुद्रा-प्रणाली वही होगी जिसमें सुरक्षा तथा लोच दोनों ही के गुण वर्तमान हों और जो साथ-ही-साथ व्यावहारिक भी हो। समुचित नियंत्रण द्वारा बैंकिंग सिद्धान्त में ये सभी गुण प्राप्त किये जा सकते हैं और यही कारण है कि वर्तमान समय में संसार के सभी देशों में पत्र-मुद्रा जारी करने का कार्य इस सिद्धान्त के आधार पर ही होता है।

नोट जारी करने की रीतियाँ

(Methods of Note-Issue)

नोट जारी करने की निम्नलिखित पाँच प्रमुख रीतियाँ हैं —

(i) निश्चित या आंशिक अरक्षित निर्गम-प्रणाली (Fixed or Partial Fiduciary System),

(ii) अधिकतम अरक्षित निर्गम-प्रणाली (Fixed Maximum Fiduciary System),

(iii) आनुपातिक निधि-प्रणाली (Proportional Reserve System),

(iv) वह आनुपातिक पद्धति जिसमें न्यूनतम स्वर्ण-निधि रहती है Proportional system with a minimum gold reserve, तथा

(v) न्यूनतम निधि-प्रणाली (Minimum Reserve System)।

(i) **निश्चित अथवा आंशिक अरक्षित निर्गम प्रणाली** (Fixed or Partial Fiduciary System) — इस प्रणाली को कभी-कभी आंशिक अरक्षित प्रणाली (Partial Fiduciary issue) भी कहा जाता है। पत्र-मुद्रा जारी करने की इस प्रणाली में एक निश्चित मात्रा तक नोट बगैर किसी प्रकार के धात्विक कोष के ही जारी किये जा सकते हैं, परन्तु इस निश्चित मात्रा से अधिक पत्र-मुद्रा के पीछे 100 प्रतिशत धात्विक कोष रखना पड़ता है। जो पत्र-मुद्रा बिना किसी धात्विक कोष के निकाली जाती है उसके पीछे सरकारी प्रतिभूतियों की आड होती है और ऐसे निर्गम को अरक्षित निर्गम (Fiduciary issue) कहा जाता है। इस प्रणाली का प्रमुख उद्देश्य पत्र-मुद्रा के स्वर्ण में परिवर्त्तनशीलता को बनाये रखना होता है। सन् 1844 ई० के बैंक चार्टर एक्ट के अनुसार इंगलैंड में यही प्रणाली अपनायी गयी थी जिसमें बैंक ऑफ इंगलैंड को 140 लाख पौं० की कीमत के नोट बिना धात्विक कोष के जारी करने का अधिकार दिया गया था, परन्तु स्वर्ण-कोषों की कमी और मुद्रा-प्रसार की आवश्यकता के कारण ऐसे निर्गम की मात्रा को सन् 1928 ई० में बढ़ाकर 26 करोड़ पौंड तथा 1931 ई० में 30 करोड़ पौंड कर दिया गया। जापान तथा नार्वे ने भी कुछ संशोधनों के साथ इसी प्रणाली को अपनाया था। 1861 और 1920 ई० के बीच भारत में भी पत्र-मुद्रा जारी करने की यह प्रणाली प्रचलित थी।

गुण-दोष :—इस प्रणाली का मुख्य लाभ यह है कि इसमें सुरक्षा की मात्रा बहुत अधिक होती है। साथ ही, इसमें नोटों के स्वर्ण में परिवर्त्तनशीलता सदा बनी रहती है। इसके अतिरिक्त पत्र-मुद्रा के अति निर्गम का भय नहीं रहता, क्योंकि अरक्षित रकम से अधिक के नोट जारी करने के लिए समान कीमत का स्वर्ण कोष में रखना पड़ता है। जनता का विश्वास भी इस प्रकार की पत्र-मुद्रा प्रणाली के प्रति बहुत अधिक रहता है किन्तु इसमें भी कुछ दोष हैं। इस प्रणाली का मुख्य दोष इसमें लोच का अभाव है। इस प्रणाली में राष्ट्रीय संकट के समय अधिक मुद्रा जारी करने के लिए या तो विदेशों से सोना मंगाना पड़ता है जो लगभग असम्भव ही होता है या इस प्रणाली के नियमों को तोड़ना पड़ता है जिससे इसके प्रति अविश्वास की भावना उत्पन्न हो जाती है। इंगलैंड में इस प्रणाली के इतिहास से यह स्पष्ट है कि उस देश को समय समय पर अरक्षित निर्गम की मात्रा में बहुत अधिक परिवर्तन करने पड़े हैं और अनेक बार इससे सम्बन्धित नियमों

को भी तोडना पडा है । इसके अतिरिक्त यह प्रणाली अमितव्ययी भी होती है और केवल उन्ही देशो मे सफल हो सकती है जहाँ पर्याप्त मात्रा म स्वर्ण हो तथा जहा साख-मुद्रा का इतना अधिक प्रसार हो कि इसके उपयाग के कारण चलन की मात्रा मे समय समय पर भारी परिवर्तन नही होता हो । इगलैंड मे इसकी सफलता का मुख्य कारण यही रहा है ।

(ii) **अधिकतम अरक्षित निर्गम प्रणाली** (Fixed Maximum Fiduciary System) इस प्रणाली के अन्तर्गत विधान द्वारा पत्र-मुद्रा की एक अधिकतम मात्रा निश्चित कर दी जाती है तथा इस निर्धारित सीमा से अधिक नोट जारी नहीं किया जा सकता चाहे उसके लिए 100 प्रतिशत स्वर्ण-कोषो की व्यवस्था ही क्यो न हो। इस प्रकार इस प्रणाली मे बिना किसी स्वर्ण-कोष के ही पत्र-मुद्रा जारी की जा सकती है। इस प्रणाली मे अरक्षित निर्गम की अधिकतम सीमा निश्चित करने में अति सावधानी स कार्य लेना पडता है। देश की वाणिज्यिक तथा व्यावसायिक आवश्यकताओं का ठीक-ठीक अनुमान लगाकर देश मे चलन की मात्रा निश्चित की जाती है। अरक्षित निर्गम की अधिकतम मात्रा साधारणतया इतनी रखी जाती है जिससे कि देश की चलन-सम्बन्धी साधारण आवश्यकताएँ बिना किसी कठिनाई के पूरी होती रहे । इन आवश्यकताओ मे परिवर्तन होने से समय-समय पर अधिकतम अरक्षित निर्गम की मात्रा मे भी परिवर्तन किया जाता है ।

सन् 1928 ई० तक फ्रास मे ही यह प्रणाली प्रचलित थी। बाद मे इगलैंड तथा जापान मे क्रमश 1939 ई० और 1941 ई० के पश्चात यही प्रणाली अपनायी गयी ।

गुण दोष —इस प्रणाली का सबसे बडा गुण यह है कि स्वर्ण को अनावश्यक रूप मे खजानो मे बन्द करके रखने की कोई आवश्यकता नही पडती । स्वर्ण-निधि की कोई आवश्यकता नही पडती । स्वर्ण निधि की मात्रा का निर्णय बैंक की स्वेच्छा पर छोड दिया जाता है। दूसरा गुण यह है कि सरकार सोच-समझकर देश की व्यापारिक तथा वाणिज्यिक आवश्यकताओ के अनुसार पत्र मुद्रा की अधिकतम सीमा निश्चित करती है। इससे मुद्रा-प्रणाली मे आवश्यक लोच बनी रहती है और चलनाधिक्य का भय भी नही रहता, किन्तु यह प्रणाली भी दोषो से मुक्त नही है। सरकार यदा-कदा इसका दुरुपयोग कर सकती है। केवल आय प्राप्त करने के लिए निश्चित अधिकतम अरक्षित सीमा का विस्तार किया जा सकता है जिससे चलन की मात्रा व्यापार और व्यवसाय की आवश्यकताओ स अधिक हो जाती है और चलनाधिक्य के सभी परिणाम दृष्टिगोचर होने लगते हैं। इस प्रणाली मे मुद्रा प्रसार के विरुद्ध किसी प्रकार की रुकावट नही है। इस प्रकार इस प्रणाली मे मौद्रिक अस्थायित्व की सम्भावना सदा बनी रहती है ।

(iii) **आनुपातिक निधि प्रणाली** (Proportional Reserve System) —इस पद्धति मे नोटो की सम्पूर्ण मात्रा के पीछे एक निश्चित प्रतिशत म धात्विक कोष रखना पडता है। यह प्रतिशत नियम द्वारा निश्चित किया जाता है, जैसे—30% अथवा 40% । पत्र-मुद्रा के जिस अश के पीछे स्वर्ण निधि नही होती है, उसकी आड मे सरकारी प्रतिभूतियाँ रखी जाती हैं । इस प्रकार कुल पत्र-मुद्रा का एक निश्चित प्रतिशत ही धात्विक कोष के रूप म रखा जाता है । प्रथम महायुद्ध के पश्चात् यह पद्धति बहुत अधिक लोकप्रिय हुई थी । सन 1928 ई० में फ्रास ने निश्चित अधिकतम अरक्षित प्रणाली का परित्याग कर इसी पद्धति को अपनाया था। सयुक्त राज्य अमेरिका के फेडरल रिजर्व सिस्टम न भी इसी पद्धति को अपनाया है। हिल्टन यग आयोग की सिफारिशो के आधार पर सन् 1927 ई० मे भारत सरकार ने भी इसे अपनाया और सन 1934 ई० के रिजर्व बैंक ऑफ इडिया एक्ट में इसे स्थान दिया गया था। इस पद्धति मे सोने तथा चाँदी की निधि का अनुपात सभी देशो मे एक समान नही है। उदाहरण के लिए, सयुक्त राज्य अमेरिका मे यह 40 प्रतिशत है किन्तु आस्ट्रेलिया कनाडा इत्यादि देशो म यह केवल 25 प्रतिशत मात्र ही है।

गुण-दोष —इस प्रणाली का प्रमुख गुण इसकी लोच है। यदि पत्र-मुद्रा के पीछे 25% स्वर्ण-निधि रखी जाती है तो खजाने मे एक सोने के सिक्के से ही चार कागज के नोट निकाले जा सकते है । इसके अतिरिक्त आवश्यकता पडने पर धात्विक कोष का प्रतिशत घटाकर पत्र मुद्रा का आवश्यक विस्तार भी किया जा सकता है परन्तु इस पद्धति के भी अनेक दोष हैं। इसमें मुद्रा का विस्तार करना तो सरल होता है, परन्तु मुद्रा-सकुचन में कठिनाई होती है। सरक्षित निधि म सोने का एक सिक्का निकालने पर तीन-चार नोटो को रद्द करना पडता है, जबकि अन्य प्रणालियो

मे ऐसी स्थिति मे केवल एक नोट को अलग कर देने से ही काम चल जाता है। दूसरे, इस प्रणाली म भी अत्यधिक मात्रा मे सोना बेकार सुरक्षित-कोषो म बन्द पडा रहता है। साथ ही, इसमे नोटो की परिवर्तनशीलता को बनाये रखने मे कठिनाई होती है। इस सम्बन्ध मे व्यावहारिक कठिनाई यह है कि एक रुपये के भुगतान मे एक सोने का सिक्का दिया जाता है परन्तु एक सिक्के के निकल जाने के कारण सोने की मात्रा कानूनी अनुपात से कम रह जाती है। इस प्रकार इस पद्धति मे नोटो की परिवर्तनशीलता केवल सैद्धान्तिक ही रहती है।

(iv) वह आनुपातिक पद्धति जिसमे न्यूनतम स्वर्ण-निधि रहती है (Proportional System with a Minimum Gold Reserve यह आनुपातिक निधि पद्धति का ही एक सशोधित रूप है। इस पद्धति मे भी नोटो की कुल मात्रा का एक निश्चित अनुपात स्वर्ण एव बहुमूल्य धातुओ तथा प्रतिभूतियो की निधि के रूप मे रखा जाता है, परन्तु इस रीति की विशेषता यह है कि इसम धातु-निधि का एक निश्चित एव न्यूनतम भाग तो धातु के रूप मे रखा जाता है और शेष विदेशी प्रतिभूतियो (Foreign Securities के रूप मे रखा जाता है। इस विधि म सोने एव चांदी की जो मात्रा देश मे रखी जाती है उसकी मात्रा निश्चित होती है और इसमे किसी भी समय कमी नही आने पाती। इस पद्धति का प्रधान गुण सोने की बचत है। साथ ही, इसमे आनुपातिक निधि पद्धति के प्राय सभी लाभ भी प्राप्त होते हैं। इसमे लोच है, मितव्ययिता है तथा परिवर्त्तनशीलता का भी गुण पाया जाता है परन्तु इसमे वे सब दोष भी पाये जाते है जो आनुपातिक निधि पद्धति मे पाये जाते है।

(v) न्यूनतम-निधि प्रणाली (Minimum Reserve System —इस पद्धति में कानून द्वारा धात्विक निधि की एक न्यूनतम मात्रा निश्चित कर दी जाती है। मुद्रा सचालक का कर्त्तव्य केवल इतना होता है कि वह इस निश्चित कीमत की धात्विक निधि को अपने पास बनाये रखे। इसके पश्चात् पत्र-मुद्रा की निकासी की मात्रा पर किसी भी प्रकार का नियन्त्रण नही रहता है। कम-से कम निधि रखकर बैंक कितनी भी मात्रा में पत्र मुद्रा छाप सकते है। 1956 ई० के बाद भारत में भी इस प्रणाली को अपनाया गया है। इस प्रणाली मे लोच, मितव्ययिता तथा परिवर्त्तनशीलता आदि के गुण वर्त्तमान रहते हैं, परन्तु यह प्रणाली केवल अभिवृद्धि (Prosperity) काल मे ही सफल होती है। सकटकाल में उपरोक्त उद्देश्यो की पूर्ति नही होने पाती।

पत्र मुद्रा जारी करने की कौन-सी रीति सबसे अच्छी है? (Which is the best System of note-issue?) पत्र मुद्रा जारी करने के विभिन्न तरीको की व्याख्या ऊपर की जा चुकी है। इनमें से प्रत्येक तरीके के अपने अपने गुण एव दोष दोनो है। अतएव इस निष्कर्ष पर पहुँचना कि इनमें कौन-सी प्रणाली अच्छी है निश्चय ही बहुत कठिन है। वास्तव मे, अच्छी पत्र मुद्रा प्रणाली वही है जिसमें निम्नलिखित गुण पाये जाते हैं—(क) लोच, (ख) मितव्ययिता, (ग) चलना धिक्य पर रोक तथा (घ) परिवर्त्तनशीलता। एक अच्छी पत्र मुद्रा प्रणाली में इन सारे गुणो का समावेश अनिवार्य है। किसी प्रणाली मे ये गुण पाये जाते हैं या नही यह कहना कुछ कठिन जान पडता है। वास्तव मे, नोट निर्गम की कोई भी प्रथा किसी देश के लिए सदा अच्छी नही कही जा सकती। किसी विशेष समय में किसी देश मे पत्र मुद्रा जारी करने की कौन-सी प्रणाली अपनायी जाय, यह उस समय उस देश मे स्वर्ण की मात्रा, मुद्रा बाजार की स्थिति, व्यावसायिक आवश्यकताएँ तथा जनता के स्वभाव आदि पर निर्भर करती है। फिर भी यह कहा जा सकता है कि नोट जारी करने की वही प्रथा सबसे अच्छी है जिसमें सरकार द्वारा नोटो की अधिकतम सीमा तथा स्वर्ण-निधि की न्यूनतम मात्रा तय कर दी जाती है। नोटो की अधिकतम मात्रा एव स्वर्ण निधि की न्यूनतम मात्रा में देश की व्यावसायिक आवश्यकताओ के अनुसार सरकार समय समय पर परिवर्तन भी कर सकती है।

भारत मे पत्र मुद्रा जारी करने की प्रणाली (*System of note issue in India*)—भारत मे पहले आनुपातिक निधि पद्धति (Proportional Reserve System) के आधार पर ही पत्र मुद्रा जारी की जाती थी। इस पद्धति के अनुसार रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया को कुल पत्र मुद्रा की मात्रा के 40 प्रतिशत भाग स्वर्ण अथवा विदेशी प्रतिभूतियो के रूप मे रखना पडता था, किन्तु द्वितीय पचवर्षीय योजना के सम्पादन मे विदेशी विनिमय की बहुत अधिक आवश्यकता पडी जिससे विदेशी प्रतिभूतियो के कोष मे कमी आने लगी। अतएव, रिजर्व बैंक के विधान मे

1956 ई० मे एक सशोधन किया गया जिसके अनुसार आनुपातिक निधि पद्धति की जगह *न्यूनतम* निधि प्रणाली (Minimum Reserve System) को अपनाया गया। न्यूनतम निधि प्रणाली के *अन्तर्गत आजकल* (Reserve Bank of India Second Amendment Act,) 1957 के अनुसार नोट जारी करने के लिए कम से-कम 200 करोड रुपये के मूल्य का स्वर्ण तथा विदेशी प्रतिभूतियो को रखना अनिवार्य है। इसम से कम-से-कम 115 करोड मूल्य का स्वर्ण अवश्य होना चाहिए। इसी आधार पर भारत मे आजकल पत्र-जारी करने का कार्य किया जाता है।

2. केन्द्रीय बैंक का सरकार के बैंकर, एजेन्ट एवं सलाहकार के रूप में कार्य

(The Central Bank as the Government's Banker, Agent and Adviser)

केन्द्रीय बैंक प्रायः सभी देशो मे सरकार के बैंकर, एजेन्ट एवं सलाहकार के रूप मे कार्य करते हैं। प्रत्येक देश मे सरकार को किसी बैंक के साथ अपना कारोबार रखना पडता है। अतएव, प्रारम्भ से ही सरकार ने नोट जारी करनेवाले बैंक (*Bank of Issue*) के साथ ही अपना कारोबार रखना उचित समझा। इस प्रकार प्राचीन केन्द्रीय बैंक बहुत पहले से ही सरकार के बैंकर के रूप मे कार्य करते थे। वास्तव मे, केन्द्रीय बैंक का यह कार्य उसके नोट जारी करने के कार्य से बहुत कुछ सम्बन्धित है।

सरकार के बैंकर के रूप मे *केन्द्रीय बैंक सरकारी विभागो, प्रान्तीय एवं स्थानीय सरकारो* तथा विभिन्न परिषदो एव निगमो का जमा अपने पास रखता है। सरकार की सम्पूर्ण आय केन्द्रीय बैंक मे सरकार के नाम से जमा हो जाती है जिसमे से सरकार समय समय पर आवश्यकतानुसार खर्च करती है। केन्द्रीय बैंक सरकार को मन्दी, युद्ध तथा अन्य आर्थिक कठिनाइयो के समय ऋण भी प्रदान करता है। यह सरकार को आवश्यकतानुसार विदेशी मुद्रा भी प्रदान करता है। सरकार के बैंकर के रूप मे केन्द्रीय बैंक ठीक उसी प्रकार कार्य करता है जिस प्रकार व्यावसायिक बैंक साधारण जनता के बैंकिंग सम्बन्धी कार्यों को सम्पन्न करते हैं। सरकारी कोष का लेखा जोखा साधारणतया सरकारी खजाने (Treasury) के द्वारा रखा जाता है। केन्द्रीय बैंक सरकारी जमा पर सरकार को कोई ब्याज नही देता है।

सरकार का केन्द्रीय बैंक के साथ जमा रखना केवल सरकार के लिए ही सुविधाजनक तथा मितव्ययी नही होता वरन् यह इसलिए भी आवश्यक हो जाता है कि वित्तीय एव मौद्रिक मामला मे घनिष्ठ सम्बन्ध है। सरकार के वित्तीय कार्यों का देश की मौद्रिक प्रणाली पर बहुत गहरा प्रभाव पडता है। प्राय. प्रत्येक देश में सरकार का आय व्यय अन्य सस्थाओ या व्यक्तियों से बहुत अधिक होता है। यदि जनता सरकार को ऋण अथवा कर देती है तो इसका अर्थ यह होता है *कि केन्द्रीय बैंक के साथ व्यावसायिक बैंको का जमा घट जाता है और सरकार का जमा बढ जाता* है। इससे सम्पूर्ण मौद्रिक एव बैंकिंग व्यवस्था प्रभावित होती है। सरकारी व्यय का भी देश के आर्थिक जीवन पर बहुत महत्त्वपूर्ण प्रभाव पडता है। इस प्रकार सरकार के वित्तीय कार्य इतने महत्त्वपूर्ण हैं कि सरकार को सदा केन्द्रीय बैंक से परामर्श लेना पडता है।

केन्द्रीय बैंक सरकार के एजेन्ट के रूप मे भी कार्य करता है। एजेन्ट के रूप म यह सरकार के विभिन्न प्रकार के कार्यों को सम्पन्न करता है, जैसे बैंक सरकारी प्रतिभूतियो का क्रय-विक्रय करता है, इन पर सूद की रकम चुकाता है सरकार के आदेशानुसार विदेशी प्रतिभूतियो का क्रय विक्रय करता है, इत्यादि। केन्द्रीय बैंक विदेशो मे सरकार के बदले ऋण प्राप्त करता है सरकार की ओर से द्रव्य का हस्तातरण (Remittance) करता है, सरकारी ऋणो की व्यवस्था, उनका हिसाब किताब तथा भुगतान आदि करता है। केन्द्रीय बैंक सरकार की ये सारी सेवाएँ नि शुल्क करता है। यह सरकार के सलाहकार (Adviser) के रूप मे भी कार्य करता है। प्रत्येक देश मे सरकार आवश्यक मौद्रिक एव वित्तीय मामलो मे केन्द्रीय बैंक से सलाह भी लेती है। भारत मे भी रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया भारत सरकार तथा विभिन्न राज्य सरकारो के बैंकर, एजेन्ट एव सलाहकार के रूप मे कार्य करता है।

सरकार के बैंकर के रूप मे केन्द्रीय बैंक का कार्य आजकल विशेष महत्त्वपूर्ण हो गया है। राष्ट्र के आर्थिक कल्याण एव देश की मौद्रिक नीति को सफल बनाने के लिए बैंक-मुद्रा पर

नियन्त्रण अनिवार्य है जिसका उत्तरदायित्व केन्द्रीय बैंक पर ही है। साथ ही, सरकार द्वारा कर वसूलने तथा व्यय करने का प्रभाव सम्पूर्ण मुद्रा-बाजार पर पडता है। अतएव, सरकार एव केन्द्रीय बैंक के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध का होना राष्ट्र के आर्थिक कल्याण के लिए अति आवश्यक है. किन्तु कभी-कभी सरकार केन्द्रीय बैंक से अधिक मात्रा मे ऋण लेना प्रारम्भ करती है; क्योकि सरकार के लिए यह ऋण-प्राप्ति का सबसे सुगम साधन है। इससे मुद्रा स्फीति का सृजन होता है। इतिहास मे इस प्रकार की मुद्रा-स्फीति के कितने ही उदाहरण मिलते हैं। द्वितीय युद्ध म तो विभिन्न देशो मे केन्द्रीय बैंको ने सरकार को इस प्रकार का बहुत अधिक ऋण प्रदान किया था। युद्ध-काल मे विभिन्न देशो की सरकारो ने ऋण प्राप्त करने के लिए मुद्रा-बाजार मे प्रतिभूतियो को चलाया जिसका अधिकाश भाग केन्द्रीय बैंक ने ही खरीदा। केन्द्रीय बैंको के तल-पट Balance Sheet के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि द्वितीय युद्ध के बाद से केन्द्रीय बैंक के साधनो (Assets) मे सरकार को दिये गये ऋण या बैंक द्वारा खरीदी गयी सरकारी प्रतिभूतियो का प्रतिशत बहुत अधिक है। 19 3 ई० मे यह बैंक ऑफ इंगलैंड (Bank of England) के पूरे-साधनो का 98 3 प्रतिशत भाग तथा बैंक ऑफ फ्रास Bank of France) का 81·1 प्रतिशत भाग था। अन्य देशो मे भी युद्ध के बाद केन्द्रीय बैंक साधनो मे इसी प्रकार के परिवर्तन हुए है। दूसरे देशो की तरह भारत में रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया (Reserve Bank of India) ने सरकार को ऋण देकर या सरकारी प्रतिभूतियो को खरीद कर सरकार के बजट के घाटे को पूरा किया है जिसकी वजह से रिजर्व बैंक के साधनो में भी सरकारी प्रतिभूतियो अथवा सरकार को दिये गये ऋण का महत्वपूर्ण स्थान हो गया। सयुक्त-राज्य अमेरिका मे पहले फेडरल रिजर्व बैंक प्रत्यक्ष रूप मे सरकार से प्रतिभूतियो को नही खरीद सकते थे किन्तु युद्ध के समय वहाँ भी यह प्रतिबन्ध हटा दिया गया। 1943 ई० मे फेडरल रिजर्व बैंक के कुछ साधनो का 35 प्रतिशत भाग सरकारी प्रतिभूतियो तथा सरकारी ऋणो का था। इस प्रकार युद्ध आदि अवसरो पर सरकार केन्द्रीय बैंक मे अधिक कर्ज लेती है। इसका देश की बैंकिग व्यवस्था पर बहुत बुरा प्रभाव पडता है तथा केन्द्रीय बैंक सरकार की राजस्व नीति की कठपुतली बन जाता है। यह प्रवृत्ति आर्थिक व्यवस्था के लिए निश्चय ही हानिकारक होती है। वास्तव मे, केन्द्रीय बैंक को अपनी नीति के अनुसरण मे कुछ हद तक स्वतन्त्र छोड देना ही अधिक उचित है।

इस प्रकार केन्द्रीय बैंक का राज्य के बैंकर, एजेन्ट तथा सलाहकार के रूप मे कार्य आर्थिक व्यवस्था के लिए बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण है। वास्तव मे, सरकार एव केन्द्रीय बैंक का हित पारस्परिक है तथा इनके कर्त्तव्य एव दायित्व भी एक दूसरे के पूरक हैं। राष्ट्र के प्रतिनिधि के रूप मे सरकार को केन्द्रीय बैंक की *सलाह (Respect sympathy and advice) माननी चाहिए* तथा देश की बैंकिंग एव मौद्रिक व्यवस्था की धुरी के रूप मे कार्य करने की हैसियत से केन्द्रीय बैंको को भी सरकार से इन चीजो की आशा रखनी चाहिए।

3. बैंकों के बैंक के रूप में कार्य

(The Central Bank as the Banker's Bank)

प्रत्येक देश मे केन्द्रीय बैंक 'बैंको के बैंक' (Banker's Bank) के रूप मे भी कार्य करता है। देश के सभी बैंक केन्द्रीय बैंक के साथ अपना बैंकिंग-सम्बन्धी कारोबार रखने हैं। अतएव, केन्द्रीय बैंक का अन्य बैंको मे प्राय वही सम्बन्ध होता है जो एक साधारण बैंक का अपने ग्राहको से।

सर्वप्रथम तो, प्रत्येक देश मे व्यावसायिक बैंको को अपने कुल जमा दायित्व का एक निश्चित प्रतिशत भाग केन्द्रीय बैंक के साथ जमा करना पडता है। इस सम्बन्ध मे विभिन्न देशो मे भिन्न-भिन्न तरीके अपनाये गये हैं। अधिकाश देशो के व्यावसायिक बैंको के साथ यह एक प्रकार का रिवाज (Convention) सा हो गया है। उदाहरण के लिए, इगलैंड मे व्यावसायिक बैंक अपने कुल साधनो (Assets) का प्राय. प्रतिशत भाग नकद मुद्रा के रूप मे रखते हैं जिसका आधा भाग वे बैंक ऑफ इगलैंड (Bank of England) के पास जमा कर देते हैं किन्तु संयुक्त राज्य अमेरिका तथा भारत मे इस प्रकार की कानूनी व्यवस्था (Statutory provision) की गयी है जिसके अनुसार बैंको को अपने कुल चालू एव स्थायी जमा का एक निश्चित प्रतिशत भाग

केन्द्रीय बैंक के पास जमा करना पड़ता है। संयुक्त राज्य अमेरिका में बैंकों को उनकी स्थिति (Location) के अनुसार अपने चालू जमा (Demand Deposit) का 12, 18 एवं 22 प्रतिशत तथा स्थायी जमा (Time Deposit) का 5 प्रतिशत भाग वहाँ के केन्द्रीय बैंक फेडरल रिजर्व बैंक के पास जमा करना पड़ता है। भारत में भी 1962 ई० के एक संशोधन के अनुसार सभी अनुसूचित बैंकों को भारत स्थित अपनी सभी देनदारियों का 3 प्रतिशत भाग औसत रूप से रिजर्व बैंक के पास जमा करना पड़ता है। इसके पहले इन्हें अपने स्थायी जमा (Time Deposit) का 2 प्रतिशत भाग तथा चालू जमा (Demand Deposit) का 5 प्रतिशत भाग नकद मुद्रा के रूप में रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया के साथ जमा करना पड़ता था।

अतः सुविधा तथा पारस्परिक लाभ के उद्देश्य से प्रत्येक देश में व्यावसायिक बैंक अपने नकद कोष का एक निश्चित प्रतिशत भाग केन्द्रीय बैंक के पास जमा करते हैं। इस प्रकार सभी बैंकों द्वारा केन्द्रीय बैंक के पास नकद मुद्रा रखने से देश के नकद कोष का केन्द्रीयकरण हो जाता है। डि कॉक के अनुसार, **"केन्द्रीय बैंक में नकद मुद्रा का यह केन्द्रीकरण देश की अर्थ-व्यवस्था को पर्याप्त मात्रा में शक्ति प्रदान करता है।"** (The centralisation of cash reserves in the Central Bank is a source of great strength to the banking system of any country) इस प्रणाली से बहुत-सारे लाभ भी है। केन्द्रीभूत नकद कोष तथा इसकी विशालता अधिक लोचपूर्ण साख व्यवस्था के निर्माण में सहायक होती हैं। साथ ही जब सम्पूर्ण देश के बैंकों का नकद कोष एक ऐसी संस्था में एकत्र हो जाता है जिसका प्रधान उद्देश्य राष्ट्र के आर्थिक कल्याण में वृद्धि करना है, तो इसका वित्तीय अथवा मौसमी संकटों के समय प्रभावपूर्ण तरीके से प्रयोग किया जा सकता है। बैंकों के नकद कोष के केन्द्रीभूत होने से इसके प्रयोग में भी बचत होती है। यदि सम्पूर्ण देश के बैंकों का नकद कोष एक जगह एकत्र नहीं होकर सभी बैंकों के साथ अलग-अलग रहता तो आवश्यकता पड़ने पर उस कोष को एकत्र कर किसी राष्ट्रीय संकट का सामना करने में निस्सन्देह कठिनाई होती। इस प्रकार नकद कोष का यह केन्द्रीकरण देश की बैंकिंग व्यवस्था के लिए निश्चय ही बहुत लाभदायक है। सदस्य बैंकों के नकद कोष के फेडरल रिजर्व बैंक में केन्द्रीकरण के सम्बन्ध में बर्गेस (Burgess) ने ठीक ही कहा है कि **"सदस्य बैंकों के पास से फेडरल रिजर्व बैंक के पास नकद-मुद्रा का हस्तान्तरण केवल उसकी (नकद कोष) स्थिति में ही परिवर्तन नहीं है, वरन् यह सुरक्षित कोष की प्रकृति एवं प्रभावोत्पादकता में भी परिवर्तन है जिससे ये अपने मौलिक कार्य को अधिक सुचारु रूप सम्पन्न करते हैं।"** (The shift of reserves from the vaults of the member-banks to the vaults of the Federal Reserve Bank was not simply a change in its physical location but that it made change in the charactor and effectiveness of the reserve and enabled them to serve more adequately their original purpose)

बैंकों के जमा पर केन्द्रीय बैंक कोई ब्याज नहीं देता, किन्तु केन्द्रीय बैंक के पास जमा रखने से व्यावसायिक बैंकों को बहुत अधिक सुविधा होती है। इससे प्रत्येक बैंक कम ही कोष रखकर सुगमतापूर्वक अपना कार्य चला सकता है। दूसरे शब्दों में, केन्द्रीय बैंक के पास जमा रखने से व्यावसायिक बैंकों के साधनों की तरलता में वृद्धि होती है। इसके अभाव में इन्हें अपने पास बराबर अधिक कोष रखना पड़ता है। इस प्रकार केन्द्रीय बैंक के पास कम ही कोष रखकर व्यावसायिक बैंक बहुत कम खर्च में तरलता प्राप्त कर लेते हैं, क्योंकि आवश्यकता पड़ने पर ये केन्द्रीय बैंक से सहायता प्राप्त कर नकद कोष की मात्रा में वृद्धि कर सकते हैं। इस प्रकार इस व्यवस्था से देश की मौद्रिक एवं बैंकिंग व्यवस्था में लोच का समावेश होता है। साथ ही व्यावसायिक बैंकों के सुरक्षित कोष के अनुपात में परिवर्तन लाकर केन्द्रीय बैंक देश एवं समय की आवश्यकताओं के अनुसार मुद्रा में भी परिवर्तन लाता है।

'बैंकों के बैंक' के रूप में केन्द्रीय बैंक केवल व्यावसायिक बैंकों का सुरक्षित कोष ही अपने पास नहीं रखता वरन् यह बैंकों को संकट में बचाने का अन्तिम उत्तरदायित्व भी ग्रहण करता है। केन्द्रीय बैंक अपने इस उत्तरदायित्व को अन्तिम सहायक (Lender of the last resort) के रूप में पूरा करता है। यह भी केन्द्रीय बैंक का एक महत्त्वपूर्ण कार्य है।

4 देश की अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा के कोष का संरक्षक

(Custodian of the Nation's Reserves of International Currencies)

केन्द्रीय बैंक का एक प्रधान कार्य देश की अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष के सरक्षक के रूप मे कार्य करना है। *आजकल किसी भी राष्ट्र के कोष के दो महत्त्वपूर्ण अग है* राष्ट्रीय कोष एव अन्तर्राष्ट्रीय कोष। राष्ट्रीय कोष के अन्तर्गत बहुमूल्य धातुओ का कोष रहता है। इसे धात्विक कोष भी कहा जाता है। यह राष्ट्रीय कोष देश की सम्पूर्ण मौद्रिक व्यवस्था के आधार का कार्य करता है। इसी आधार पर प्रत्येक देश मे पत्र मुद्रा जारी करने का कार्य किया जाता है। केन्द्रीय बैंको को पत्र मुद्रा जारी करने के लिए एक विशिष्ट अनुपात मे स्वर्ण-कोष रखना आवश्यक होता है। राष्ट्रीय कोष की प्रथा का आरम्भ पत्र-मुद्रा के प्रचलन के साथ हुआ। पहले माग करने पर पत्र मुद्रा को स्वर्ण मे परिवर्तित करना पडता था। अतएव, मौद्रिक अधिकारियो को पत्र-मुद्रा जारी करने के *लिए पर्याप्त मात्रा मे स्वर्ण सुरक्षित कोष मे रखना पडता था, किन्तु स्वर्ण-मान के* पतन के बाद अब नोटो को स्वर्ण मे परिवर्तित नही किया जाता है। आज भी प्राय प्रत्येक देश मे केन्द्रीय बैंक को पत्र-मुद्रा जारी करने के लिए स्वर्ण कोष आवश्यक रूप से रखना पडता है। स्वर्ण मान के समय मे राष्ट्रीय एव अन्तर्राष्ट्रीय दोनो कोष एक साथ रखे जाते थे, किन्तु आजकल प्रत्येक देश ने अपना अन्तर्राष्ट्रीय कोष अपने राष्ट्रीय कोष से पृथक् कर लिया है। इसका कारण यह है कि आजकल किसी देश की आतरिक मौद्रिक व्यवस्था धात्विक कोष के अभाव मे भी सुचारु रूप से चल सकती है। इससे आतरिक कोष का आजकल बहुत कम महत्त्व हो गया है, किन्तु *अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान के लिए स्वर्ण एव वैदेशिक मुद्रा के कोष का निर्माण अति आवश्यक है।* इसी कोष के द्वारा केन्द्रीय बैंक देश की विनिमय-दर के अस्थायी परिवर्तनो को दूर करने का प्रयास करता है।

वतमान समय मे स्वर्ण तथा अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राओं के कोष के समुचित नियत्रण का महत्त्व बढते जा रहा है, क्योकि किसी भी देश के विपरीत व्यापारिक सतुलन (Unfavourble balance of pa ment) को इसी के द्वारा ठीक किया जाता ह। साथ ही, आजकल पत्र-मुद्रा जारी करने के लिए भी बहुत सारे देशों मे विदेशी मुद्रा के कोष को आड के रूप मे रखा जाता है। *भारत मे भी रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया को पत्र-मुद्रा जारी करने के लिए सदा स्वर्ण तथा* विदेशी मुद्रा के 200 करोड रुपये का कोष रखना पडता है जिसमे कम-से-कम 1 5 करोड रुपये कीमत का स्वर्ण आवश्यक होना चाहिए। अतएव, अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा के कोष का महत्त्व आजकल बहुत अधिक हो गया है। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष (International Monetary Fund) की स्थापना ने विदेशी भुगतान की कठिनाइयो को कुछ सुगम अवश्य बना दिया है, क्योकि आवश्यकता पडने पर कोई भी देश इस कोष से कर्ज लेकर अपने विदेशी भुगतान की प्रतिकूलता को कम कर सकता है। फिर भी, प्रत्येक देश मे केन्द्रीय बैंक एक विशिष्ट रूप मे अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा के कोष को कायम रख रहे हैं, जिसका प्रयोग वे देश की मुद्रा के विदेशी विनिमय की दर मे स्थायित्व (Exchange stability) के लिए करते हैं।

5 अन्तिम सहायक के रूप में कार्य

(Lender of the last Resort)

केन्द्रीय बैंक का एक प्रधान कार्य व्यवसायिक बैंको तथा मुद्रा बाजार की विभिन्न सस्थाओ के लिए अन्तिम ऋण-दाता अथवा सहायक के रूप मे कार्य करना है। (Central Bank acts as the lender of the last resort) इसका तात्पर्य यह है कि जब मुद्रा बाजार अथवा व्यावसायिक बैंको को ऋण-प्राप्ति का कोई दूसरा साधन नही रह जाता तो ऐसी स्थिति मे केन्द्रीय बैंक अन्तिम सहायक के रूप मे इन्हें सहायता प्रदान करता है। अन्तिम सहायक के रूप मे केन्द्रीय बैंक का कार्य केन्द्रीय बैंक के नोट जारी करने के अधिकार से ही विकसित हुआ है। केन्द्रीय बैंक को प्रत्येक देश मे नोट जारी करने का एकाधिकार प्राप्त होता है। इस प्रकार केन्द्रीय बैंक देश की मुद्रा का उद्गम है। साथ ही, यह अपने देश के राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय कोष का भी सरक्षक होता है। व्यावसायिक बैंक भी अपने कोष का एक निश्चित प्रतिशत भाग इसके साथ रखते हैं। इसलिए, केन्द्रीय बैंक का यह नैतिक दायित्व हो जाता है कि वह देश की औद्योगिक

एव व्यापारिक आवश्यकताओं के अनुसार पर्याप्त मात्रा मे पत्र-मुद्रा जारी करे। केन्द्रीय बैंक उद्योग एव व्यापार की आवश्यकताओं की पूर्ति व्यावसायिक बैंकों तथा मुद्रा-बाजार की संस्थाओं के माध्यम से ही करता है। अतएव, केन्द्रीय बैंक को हर समय व्यावसायिक बैंकों की जायज आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भी तत्पर रहना पड़ता है।

व्यावसायिक बैंकों को अपने ग्राहकों की नकद मुद्रा की मांग के भुगतान के लिए कभी-कभी अधिक मात्रा मे मुद्रा की आवश्यकता पड़ती है। खास-खास अवसरों पर, जैसे—कर देने के लिए अथवा फसल तैयार होने के समय जनता बैंकों से अधिक मुद्रा की माग करती है। ऐसी स्थिति मे जब व्यावसायिक बैंक अपने ग्राहकों की माग की पूर्ति अपने साधनों से नही कर सकता है तो वह केन्द्रीय बैंक से सहायता की माग करता है। केन्द्रीय बैंक को ऐसी स्थिति मे अन्तिम सहायक के रूप म व्यावसायिक बैंकों की अनिवार्य रूप से सहायता करनी पड़ती है, किन्तु केन्द्रीय बैंक सहायता मांगनेवाले बैंक की स्थिति, यानी उसके साधन एव दायित्व के सम्बन्ध मे पूर्ण रूप से जांच कर लेता है तथा उसके विनिमय बिलों अथवा हुण्डियों को पुन. बट्टा (Re-discount) कर सहायता प्रदान करता है।

केन्द्रीय बैंक का यह कार्य उसके पुन बट्टा करने (Re discount) के कार्य से सम्बन्धित है। पुन बट्टा करने (Re-discount) का अर्थ यह होता है कि व्यावसायिक बैंक या मुद्रा-बाजार की अन्य संस्थाएँ आवश्यकता पडने पर व्यापारिक बिलों को केन्द्रीय बैंक के हाथ बेचकर (Re-discount) मुद्रा प्राप्त करती हैं, किन्तु पुनः बट्टा करने की सुविधा प्रदान करने मे केन्द्रीय बैंक कई बातों पर ध्यान रखते हैं। सर्वप्रथम तो, केन्द्रीय बैंक केवल उच्च कोटि की अल्पकालीन व्यापारिक बिलों को ही स्वीकार करता है। ऐसे बिल उत्पादन या व्यापार की क्रियाओं से प्रसूत होते हैं और इस कारण स्वत. शोध्य (Self-liquidating) समझे जाते हैं। अतएव केन्द्रीय बैंक इस कारण ऐसे बिलों को ही अधिक पसन्द करते हैं। इनमें भी वे उन्हीं बिलों को अधिक चाहते हैं जिनकी अवधि बहुत समीप रहती है। इससे व्यापारिक बैंक भी ऋण देने मे केवल स्वत शोध्य पत्र (Self-liquidating paper) और अल्पकालीन व्यापारिक बिलों को ही प्राथमिकता प्रदान करते हैं। केन्द्रीय बैंक व्यावसायिक बैंकों को अनिवार्य रूप से यह सुविधा केवल इसलिए प्रदान नही करता है कि ऐसा कर वह देश के उद्योग और व्यापार की महत्त्वपूर्ण आवश्यकताओं की पूर्ति करता है, किन्तु इससे उसका मौद्रिक व्यवस्था पर नियन्त्रण बढ़ जाता है।

किन्तु, प्रथम महायुद्ध के बाद विशेषत 1929-30 ई० की व्यावसायिक मन्दी के समय मे व्यापारिक बिलों का महत्त्व कम होने लगा तथा सरकारी हुण्डियों (Treasury bill) का महत्त्व बढ़ने लगा है। केन्द्रीय बैंक इस प्रकार की सरकारी हुण्डियों का बट्टा कर ऋण अथवा सहायता देन के लिए सदा तत्पर रहता है। केन्द्रीय बैंक पुन बट्टा (Re-discount) की सुविधा बैंक-दर (Bank rate) पर प्रदान करता है जो बाजार दर से साधारण सदा ऊँची रहती है। इगलैण्ड मे सस्ती मुद्रा-नीति (Cheap Money Policy) के समावेश के बाद बैंक दर 2 प्रतिशत कर दी गयी थी किन्तु बैंक ऑफ इगलैण्ड ऋण देने के लिए 2 प्रतिशत से अधिक सूद वसूल करता था। ऐसा करने का प्रधान उद्देश्य यह था कि व्यावसायिक बैंक केवल आवश्यकता पड़ने पर ही केन्द्रीय बैंकों से सहायता की माग करें। इस प्रकार केन्द्रीय बैंकों को पुन बट्टा करने तथा ऋण देने के लिए व्यापक अधिकार का होना अनिवार्य है, किन्तु साधारण समय मे केन्द्रीय बैंक को ऋण अथवा बट्टा करने के लिए आनेवाले बिलों के चुनाव मे उदार नीति का अनुसरण नहीं करना चाहिए जिससे असामान्य समय के लिए पर्याप्त रकम बच जायगा (Thus while the Central bank should have wide re-discounting and lending powers it should in normal times be restrictive rather than liberal in its qualitative requirements as to bills eligible for re-discounts and loans so that a safe margin would be available for abnormal times)

केन्द्रीय बैंक का अन्तिम सहायक (Lender of the last resort) के रूप में कार्य सम्पूर्ण बैंकिंग व्यवस्था के लिए बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। इस शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम 1873 ई० में सुप्रसिद्ध ब्रिटिश बैंकर तथा अर्थशास्त्री बेजहॉट ने किया था। प्रारम्भ मे केन्द्रीय बैंक इस कार्य को बहुत झिझक के साथ सम्पन्न करते थे। हॉट्रे (Hawtrey) के अनुसार 'बैंक ऑफ इगलैण्ड' (Bank of England) पहले बहुधा झिझक के साथ इस कार्य को सम्पन्न करता था। वास्तव मे,

धीरे-धीरे विभिन्न बैंकिंग सकटो के बाद ही बैंक ने इस कार्य को अपने उत्तरदायित्व के रूप में स्वीकार किया और आजकल तो यह कार्य केन्द्रीय बैंक का इतना महत्त्वपूर्ण कार्य हो गया है कि यह केन्द्रीय बैंकिंग की एक आवश्यक विशेषता बन गया है। (It has come to be regarded as *sinequanon* of Central Banking केन्द्रीय बैंक आजकल अपने अन्तिम सहायक के रूप में कार्य को बहुत अधिक महत्त्व देते हैं। वास्तव मे, इससे आज विश्व के प्राय सभी देशो मे बैंकिंग व्यवस्था बहुत अधिक सबल हो गयी है।

बैंक ऑफ इगलैण्ड का अन्तिम सहायक के रूप में कार्य :—बैंक ऑफ इगलैण्ड ने उन्नीसवी सदी के मध्य मे लन्दन के मुद्रा-बाजार द्वारा लायी बिलो को पुन वट्टा (Re discount) कर मुद्रा बाजार को सहायता देना प्रारम्भ किया, किन्तु प्रारम्भ मे ऐसा करने मे वह बहुत अधिक झिझक से काम लेता था। कई आर्थिक सकटो के बाद वह इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि मुद्रा-बाजार को स्थायी रूप देने के लिए अन्तिम सहायक के रूप मे उसका कार्य अनिवार्य है। बेजहाट (Beghot) ने अपनी पुस्तक Lombard Street मे इस बात की सिफारिश की कि बैंक ऑफ इगलैण्ड का अन्तिम सहायक के रूप मे कार्य उसके लिए अनिवार्य होना चाहिए। उसके बाद से इगलैण्ड की बैंकिंग प्रणाली मे ऐसी परम्परा बन गयी है जिसके कारण बैंक ऑफ इगलैण्ड कभी भी मुद्रा बाजार की आवश्यक मागो की पूर्ति करने से इन्कार नहीं कर सकता, किन्तु इगलैण्ड की प्रथा कुछ विचित्र-सी है। वहाँ के व्यावसायिक बैंक ऑफ इगलैण्ड के पास स्वय Re-discounting की सुविधा या ऋण के लिए नहीं जाकर मुद्रा बाजार के माध्यम से अपना सम्पर्क रखते हैं। इसलिए, आवश्यकता पडने पर ये मुद्रा-बाजार को दिये गये अपने अल्पकालीन ऋणो को वापिस लेने लगते हैं जिससे बाध्य होकर मुद्रा-बाजार को बैंक ऑफ इगलैण्ड के पास सहायता के लिए जाना पडता है। बैंक ऑफ इगलैण्ड उन्हे बैंक-दर पर सहायता देता है जो साधारणतया बाजार-दर से अधिक रखी जाती है। इसका प्रभाव बाजार दर पर भी पडता है।

किन्तु, द्वितीय महायुद्ध के बाद इस क्षेत्र मे दो नयी प्रवृत्तियो का समावेश हुआ है। पहली प्रवृत्ति यह है कि बैंक ऑफ इगलैंड और व्यावसायिक बैंको मे प्रत्यक्ष सम्पर्क स्थापित होना शुरू हो गया है। द्वितीय महायुद्ध के समय सरकारी हुडियो की सख्या बहुत बढ गयी और बैंको ने इन्हे बहुत अधिक परिमाण मे खरीदना प्रारम्भ कर दिया। इससे मुद्रा बाजार मे सरकारी हुण्डियो की प्रधानता हो गयी। इनकी सूद की दर भी बहुत कम थी और उसे निम्न-स्तर पर कायम रखने के लिए बैंक ऑफ इगलैण्ड के लिए यह आवश्यक हो गया कि उन्हे स्वीकार कर उनके बदले मे साख की सृष्टि करे। अत: व्यावसायिक बैंको ने भी सरकारी हुण्डियो के आधार पर बैंक ऑफ इगलैण्ड से प्रत्यक्ष रूप मे सहायता प्रारम्भ किया।

दूसरी प्रवृत्ति को Open backdoor method कहते हैं। बैंक ऑफ इगलैंड व्यावसायिक बैंको तथा मुद्रा-बाजार को बैंक दर पर सहायता देने के लिए सदा तत्पर रहता है किन्तु इस दर के बाजार-दर से अधिक रहने के कारण बाजार-दर भी अवश्य ही बढ जाती है। अतएव, बैंक ऑफ इगलैण्ड ने एक ऐसी प्रथा प्रारम्भ की जिसके अनुसार प्रतिनिधि व्यावसायिक बैंको एव मुद्रा बाजार के बिलों को बाजार-दर पर स्वीकार कर उन्हे सहायता देने लगा। इस प्रकार मुद्रा-बाजार को बाजार-दर पर ही सहायता प्राप्त हो जाती है। साथ ही, बाजार दर भी स्थायी रहती है। अत बाजार-दर पर ही बैंक तथा मुद्रा बाजार को इस प्रकार की सहायता मिलती है जिसे Open backdoor method कहा जाता है।

1913 ई० मे जब अमेरिका मे Federal Reserve System की स्थापना हुई तो सदस्य बैंको को पुन वट्टा (Re discounting) की सुविधा देकर उनकी सहायता करना इसका महत्वपूर्ण कार्य समझा गया, किन्तु यह केवल सरकारी हुण्डियों या व्यापारिक बिलो का (Re discount) कर ही ऐसा कर सकता था। फेडरल रिजर्व बैंक पर प्रारम्भ मे ऋण अथवा अग्रिम देने के सम्बन्ध मे प्रतिबन्ध लगा दिया गया था, किन्तु 1929 ई० की भयानक मन्दी के समय से यह प्रतिबन्ध हटा लिया गया और रिजर्व प्रणाली को यह पूरा अधिकार दिया गया कि आवश्यकता पडने पर यह बैंको को अल्पकालीन सहायता Temporary accommodation) प्रदान करे। फेडरल रिजर्व बैंक बैंको के Acceptances को स्वीकार कर ही उन्हे सहायता देता है जो बहुत कुछ इगलैण्ड की Re-discounting प्रणाली के समान है।

रिजर्व बैंक ऑफ इंडिया भी भारत के अनुसूचित बैंको (Scheduled Banks) के अन्तिम सहायक के रूप मे आर्थिक सकट के समय मे ऋण देकर इन्हे सकट से बचाता है।

6. समाशोधन-गृह के रूप में कार्य

(To act as Clearing House)

प्रत्येक देश मे केन्द्रीय बैंक व्यावसायिक बैंको के समाशोधन-गृह (Clearing house) के रूप मे भी कार्य करता है। यह केन्द्रीय बैंक का एक प्रधान कार्य है। केन्द्रीय बैंक यह कार्य केवल परम्परागत (Convention) अथवा सुविधा के दृष्टिकोण से ही करता है। इस कार्य मे उसकी स्थिति बहुत हद तक सहायक होती है, क्योकि देश के सभी व्यावसायिक बैंको के नकद कोष का एक अश इसके साथ जमा रहता है जिसके द्वारा बैंको के आपसी ऋणो का भुगतान सुगमतापूर्वक हो जाता है।

समाशोधन-गृह एक ऐसी सस्था है जो बैंको को पारस्परिक भुगतान की सुविधा प्रदान करती है। प्रो० टॉसिग (Taussing) के अनुसार, "**समाशोधन गृह किसी स्थान के बैंकों का एक ऐसा सामान्य सगठन है जिसका मुख्य उद्देश्य बैंकों द्वारा निर्मित परस्पर दायित्व** (Cross obligations) **का निपटारा या भुगतान करना होता है।**" (Clearing house is a general organisation of banks of a given place having for its main purpose, the off-setting of cross obligations in the form of cheques) केन्द्रीय बैंक प्रायः प्रत्येक देश मे समाशोधन गृह का कार्य करता है। केन्द्रीय बैंक के इस कार्य से व्यावसायिक बैंक बहुत ही लाभान्वित होते हैं। इससे बैंको का आपसी भुगतान बहुत सरल होता है तथा मुद्रा के उपयोग में भी मितव्ययिता होती है। इस प्रकार बैंक का यह कार्य सम्पूर्ण आर्थिक व्यवस्था को सबल बनाता है। विल्स (Wills) के शब्दो मे, "केन्द्रीय बैंक द्वारा समाशोधन की सुविधा प्रदान करने से केवल नकद मुद्रा तथा पूँजी के प्रयोग मे मितव्ययिता ही नही होती, वरन् इससे किसी भी समय देश की तरलता की मात्रा का पता चल जाता है जिसके सम्बन्ध मे केन्द्रीय बैंक को रोज-ब-रोज की जानकारी रखना आवश्यक हो जाता है।" (A system of clearing organised and solidified by the Central Bank is not only a means of economising cash and capital but is also a means of testing at any time the degree of liquidity which the community is maintaining, a matter which is essential for the Central Bank to know from day-to-day Wills) साथ ही, इससे केन्द्रीय बैंक किसी बैंक विशेष की कार्यवाही के सम्बन्ध मे भी जानकारी प्राप्त कर सकता है। इस प्रकार केन्द्रीय बैंक का यह भी एक महत्त्वपूर्ण कार्य है।

7. साख-नियन्त्रण का कार्य

(Control of the Credit-Structure)

केन्द्रीय बैंक का एक प्रधान कार्य देश मे साख-मुद्रा का नियमन एव नियन्त्रण करना है। (Central Bank regulates and controls the credit structure of the country) साख मुद्रा का आधुनिक औद्योगिक एव व्यावसायिक व्यवस्था मे बडा ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह समाज की विभिन्न प्रकार से सेवा करती है, किन्तु कभी कभी उचित नियन्त्रण के अभाव मे इससे समाज को अत्यधिक हानि भी होती है। साख-मुद्रा का सृजन व्यावसायिक बैंको के हाथ मे है। ये अत्यधिक मुनाफा कमाने के उद्देश्य से कभी-कभी अपने साख-सृजन की शक्ति का दुरुपयोग भी करते हैं जो आर्थिक व्यवस्था के लिए निस्सदेह हानिकारक सिद्ध होता है। अतएव, साख-मुद्रा का *नियमन एव नियन्त्रण से देश की आर्थिक व्यवस्था को सबल बनाने के लिए अति आवश्यक है*, और चूँकि केन्द्रीय बैंक देश की मौद्रिक एव आर्थिक व्यवस्था का अगुआ होता है, अतएव साख के नियमन एव नियन्त्रण का कार्य इसी के जिम्मे रहना चाहिए। इस प्रकार साख नियन्त्रण का कार्य केन्द्रीय बैंक के लिए अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हो जाता है।

अगले कुछ अध्यायो मे साख-नियन्त्रण के विभिन्न उद्देश्यो एव तरीकों का सविस्तार व्याख्या की जायगी।

निष्कर्ष—प्रत्येक देश मे केन्द्रीय बैंक साधारणतया उपरोक्त सारे कार्यों को सम्पन्न करता है। किन्तु, इससे यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि केन्द्रीय बैंक केवल उक्त सारे कार्यों को ही सम्पन्न करते हैं। वास्तव मे, आज के युग मे केन्द्रीय बैंक के कार्यों का निरन्तर विस्तार हो रहा है। आधुनिक युग मे केन्द्रीय बैंक का क्या कार्य होना चाहिए इसकी व्याख्या भारतीय चलन एव वित्त आयोग (Royal Commission on Indian Currency and Finance) के समक्ष बैंक ऑफ इगलैंड के तत्कालीन गवर्नर के निम्न बयान से स्पष्ट हो जाता है—' केन्द्रीय बैंक को पत्र-मुद्रा जारी करने का अधिकार, विधि-ग्राह्य मुद्रा (Legal Tender Currancy) का प्रसार अथवा इसे चलन से हटाने का एकाधिकार होना चाहिए इसके पास सरकार के सभी कोष रहने चाहिए, यह देश के सभी बैंको एव उनकी शाखाओ के सभी शेष-धन (Balences) का धारक (Holder) होना चाहिए, इसे सरकार का एक ऐसा एजेन्ट होना चाहिए जिसके द्वारा सरकार की समस्त देशी एव विदेशी आर्थिक क्रियाएँ सम्पन्न की जा सकें, केन्द्रीय बैंक का यह भी कर्त्तव्य होना चाहिए कि देश की मुद्रा के आन्तरिक एव बाह्य मूल्य मे यथासम्भव स्थायित्व बनाये रखते हुए चलन प्रणाली मे उपयुक्त विस्तार एव सकुचन करे, सकट-काल एव आवश्यकता के समय केन्द्रीय बैंक को एक ऐसा स्रोत होना चाहिए जो सरकारी प्रतिभूतियो (Securities) या अन्य स्वीकृत (Approved) अल्पकालीन प्रतिभूतियो के आधार पर ऋण प्रदान कर सके या जो अन्यान्य विपत्रो (Bills) का पुन बट्टा (Rediscount) करके अग्रिम के रूप में साख प्रदान कर सके।" इस कथन से केन्द्रीय बैंक के समस्त कार्यों का बोध हो जाता है।

विशेष अध्ययन-सूची

1. De Kock — Central Banking, Chapters I to VII
2. Sayers — Modern Banking Chapter V
3. Crowther — An Outline of Money, Chapter II
4. Kisch and Elkin — Central Banks

अध्याय : 23

साख का नियन्त्रण

(Credit Control)

प्राक्कथन :—साख का नियमन एवं नियन्त्रण केन्द्रीय बैंक का एक प्रधान कार्य है। साधारणतः, यह कहा जाता है कि केन्द्रीय बैंक का यह कार्य इतना अधिक महत्त्वपूर्ण है कि इसके अन्य सभी कार्यों का सूत्रपात इसी कार्य से हुआ है। वास्तव मे, केन्द्रीय बैंक के अन्य सभी कार्य उसके साख नियन्त्रण-सम्बन्धी कार्य से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित हैं। हम सभी जानते हैं कि प्रत्येक देश की मौद्रिक व्यवस्था मे बैंक मुद्रा, यानी साख का महत्त्व आजकल बहुत बढ गया है। बैंक-मुद्रा (Bank Deposit) या साख-सृजन का कार्य व्यावसायिक बैंक करते हैं। इसकी राशि मे परिवर्तन का देश की आर्थिक स्थिति पर बहुत ही गहरा प्रभाव पडता है, अतएव मौद्रिक नीति के सफल सचालन के लिए इस पर केन्द्रीय बैंक का समुचित नियन्त्रण अनिवार्य हो जाता है। केन्द्रीय बैंक द्वारा साख-नियन्त्रण का अर्थ साख की पूर्ति को देश की औद्योगिक एवं व्यापारिक आवश्यकताओं के अनुसार सतुलित रूप से समायोजित करना है क्योंकि व्यापारिक आवश्यकताओं के अनुसार साख की पूर्ति नहीं रहने से मूल्य-तल प्रभावित होता है।

साख-नियन्त्रण की आवश्यकता (Need for control of credit) :—वर्षों पूर्व से ही आधुनिक आर्थिक व्यवस्था मे साख के सृजन एवं वितरण के नियन्त्रण की आवश्यकता पर जोर दिया जा रहा है। इसका प्रधान कारण यह है कि आधुनिक समय मे देश के अधिकाश मौद्रिक एवं व्यावसायिक भुगतानों मे साख का बहुत बडे पैमाने पर प्रयोग किया जाता है, अतएव साख का देश की आर्थिक स्थिति पर अच्छा तथा बुरा दोनो ही प्रकार का प्रभाव पडता है। इसलिए यह कहा जा सकता है कि आधुनिक आर्थिक व्यवस्था मुद्रा पर नही आधारित होकर मुख्य रूप से साख पर ही आधारित है। साख की मात्रा मे परिवर्तन के फलस्वरूप मुद्रा की क्रय-शक्ति (Purchasing power of money) एवं व्यावसायिक क्रियाशीलता (Business activities) मे परिवर्तन होता है और चूंकि मुद्रा की क्रय-शक्ति एवं व्यावसायिक क्रियाशीलता मे परिवर्तन का आर्थिक जीवन के विभिन्न अगो पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव पडता है, अतएव साख का नियन्त्रण देश के आर्थिक कल्याण के लिए आवश्यक समझा जाता है। वास्तव मे, गत तीस-पैंतीस वर्षों मे मुद्रा की क्रय शक्ति एवं व्यावसायिक क्रियाशीलता मे परिवर्तन के परिणामस्वरूप उत्पन्न आर्थिक एवं सामाजिक अव्यवस्था ने साख के नियमन एवं नियन्त्रण के महत्त्व को और भी बढा दिया है। यही कारण है कि विश्व के प्राय सभी देशो मे केन्द्रीय बैंक का देश की साख-व्यवस्था पर किसी-न-किसी प्रकार का नियन्त्रण अवश्य पाया जाता है।

आधुनिक समय मे चलन की मात्रा का नियमन (Regulation of Currency) भी बहुत हद तक साख के नियन्त्रण से ही सम्बन्धित है। अधिकाश केन्द्रीय बैंकों के विधान मे तो इस प्रकार की व्यवस्था पायी जाती है। उदाहरणार्थ, बैंक ऑफ कैनाडा (Bank of Canada) के विधान मे बैंक का प्रमुख कार्य 'साख एवं चलन का नियन्त्रण' (To regulate credit and currency) तथा रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया (Reserve Bank of India) के विधान मे चलन एवं साख-प्रणाली का देश के आर्थिक हितो के अनुसार नियमन (Generally to operate the credit and currency system of the country to its advantages) आदि की व्यवस्था की गयी है।

साख-नियन्त्रण के उद्देश्य

(Objectives of Credit Control)

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि साख-नियन्त्रण की आवश्यकता के सम्बन्ध मे आज सभी व्यक्ति एकमत हैं, किन्तु साख-नियन्त्रण के उद्देश्य (Objectives of Credit Control), यानी साख का नियन्त्रण किस उद्देश्य से होना चाहिये, इस सम्बन्ध मे आज भी विभिन्न मत पाये जाते हैं।

साख-नियन्त्रण के साधारणतया निम्नलिखित तीन उद्देश्य बतलाये जाते हैं :—

(क) विनिमय-दर को स्थायी बनाना (Stabilization of the Rate of Exchange);

(ख) मूल्य-तल को स्थायी बनाना (Price-stabilization), तथा

(ग) आय एवं रोजगार के उच्च स्तर पर आर्थिक स्थायित्व (Economic stabilization at a high level of income and employment)।

अब साख-नियन्त्रण के इन विभिन्न उद्देश्यों का निम्न विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है–

(क) विनिमय-दर को स्थायी बनाना (Stabilization of the Rate of Exchange) – साख-नियन्त्रण की नीति का प्रधान उद्देश्य विनिमय दर को स्थायी बनाना भी हो सकता है, क्योंकि विनिमय दर के स्थायित्व का देश के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर अनुकूल प्रभाव पड़ता है। उदाहरण के लिए, प्रथम महायुद्ध के पूर्व अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्ण प्रमाप का प्रधान उद्देश्य विनिमय दर को स्थायी बनाना था। अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्ण मान में विभिन्न देशों की मुद्राएँ सोने की बनी या स्वर्ण पर आधारित होती थी, अतः उनकी विनिमय-दरों में स्थायित्व रहता था।

इस प्रकार 1931 ई० के पूर्व साख-नियन्त्रण की नीति का प्रधान उद्देश्य विनिमय दर को स्थायी बनाना था। विनिमय दर के स्थायित्व पर उस समय अधिक जोर दिया जाता था। इसका प्रधान कारण उस समय लोगों के बीच इस प्रकार की धारणा का प्रचलन था कि अन्तर्राष्ट्रीय विश्वास (International confidence) एवं अधिकतम अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार, जो विश्व के अधिकतम आर्थिक कल्याण के लिए आवश्यक समझे जाते थे, के लिए विनिमय दर को स्थायी बनाना बिल्कुल अनिवार्य है। आज भी बहुत-से बैंकर तथा अर्थशास्त्री इस प्रकार की बात सोचते हैं किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्ण-मान (International Gold Standard) के अन्तर्गत किसी भी राष्ट्र को आर्थिक नीति के मामले में स्वतन्त्रता नहीं थी। अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्ण-मान के सफल संचालन के लिए अन्तर्राष्ट्रीय सतुलन की स्थिति को कायम रखना आवश्यक था। अतएव असतुलन की स्थिति उत्पन्न होने पर मूल्य-तल में परिवर्तन लाकर इसे सुधारने का प्रयत्न करना पड़ता था। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्ण मान के अन्तर्गत विदेशी विनिमय की दर में स्थायित्व राष्ट्रीय स्थायित्व की वेदी पर ही प्राप्त किया जाता था। स्वर्ण-मान के अन्तर्गत जब स्वर्ण बाहर जाने लगता था तो देश के मुद्रा अधिकारी को मुद्रा-संकुचन तथा जब स्वर्ण बाहर से आने लगता था तो मुद्रा-प्रसार करना पड़ता था। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्ण-मान स्वतः प्रचलित (Automatic) होता था। इसे कार्यान्वित करने में केन्द्रीय बैंक प्रायः निष्क्रिय ही रहता था। इससे स्पष्ट है कि अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्ण-मान के अन्तर्गत विनिमय दर के स्थायित्व पर ही अधिक ध्यान दिया जाता था।

(ख) मूल्य-तल को स्थायी बनाना (Price Stabilisation) – आधुनिक समय में, विशेषतः अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्ण मान के पतन के बाद से, साख-नियन्त्रण की नीति का प्रधान उद्देश्य आन्तरिक मूल्य-तल को स्थायी बनाना (Price Stabilisation) समझा जाता है। मूल्य तल को स्थायी बनाना कई कारणों से लाभदायक है। इससे देश के राष्ट्रीय व्यापार को प्रोत्साहन मिलता है, आर्थिक व्यवस्था में लोगों का विश्वास बढ़ता है, उत्पादन बढ़ता है और इस प्रकार राष्ट्र के आर्थिक कल्याण में भी वृद्धि होती है।

अधिकांश अर्थशास्त्रियों की राय में साख-नियन्त्रण की नीति का प्रधान उद्देश्य मूल्य तल का स्थायित्व होना चाहिए क्योंकि आन्तरिक मूल्य-तल में स्थायित्व देश के आर्थिक कल्याण के लिए बिल्कुल अनिवार्य है। इन लोगों के अनुसार मूल्य-तल में परिवर्तन का देश के आर्थिक एवं सामाजिक जीवन पर बहुत ही गहरा प्रभाव पड़ता है। इसका देश के उत्पत्ति कार्यों तथा आर्थिक सम्बन्ध पर भी बुरा प्रभाव पड़ता है। धीरे धीरे इसका प्रभाव विभिन्न देशों के आर्थिक जीवन पर भी पड़ता है। साथ ही, विनिमय-दर का स्थायित्व देश की आर्थिक व्यवस्था को दूसरे देशों की मौद्रिक नीति पर आश्रित बना देता है। मूल्य-तल में स्थायित्व के द्वारा इन आर्थिक तथा सामाजिक दुष्परिणामों को रोका जा सकता है। इतना ही नहीं मूल्य तल के स्थायित्व तथा विनिमय दर में आवश्यकतानुसार परिवर्तन की नीति अपनाने से विदेशी मौद्रिक नीति पर निर्भरता को भी समाप्त किया जा सकता है। अतएव केन्द्रीय बैंक के साख-नियन्त्रण की नीति का प्रधान उद्देश्य मूल्य तल को स्थायी बनाना होना चाहिए। केन्द्रीय बैंक अपनी मौद्रिक नीति द्वारा मूल्य-तल को प्रभावित कर सकता है। 1931 ई० में स्वर्ण-मान के पतन के बाद से ग्रेट ब्रिटेन तथा अधिकांश देशों ने इसी प्रकार की मौद्रिक नीति का अनुकरण किया था जिसका प्रधान उद्देश्य मूल्य तल का स्थायित्व था।

(ग) आय एव रोजगार को उच्च स्तर पर स्थायी बनाना (Economic stabilisation at a high level of income and employment)—किन्तु यदि केन्द्रीय बैंक मूल्य तल अथवा विनिमय-दर को स्थायी बनाने मे सफल भी हो जाता है, तो इससे आर्थिक स्थायित्व (Economic stability) नही स्थापित हो सकता है। आर्थिक स्थायित्व के लिए आय एव रोजगार के स्तर को स्थायी बनाना अनिवार्य है। अतएव आजकल बहुत सारे अर्थशास्त्री इस विचार के हैं कि मौद्रिक अधिकारियो का प्रधान उद्देश्य व्यापार चक्र के परिवर्तनो को यथासम्भव कम कर आर्थिक व्यवस्था को आय एव रोजगार के उच्च स्तर पर स्थायी बनाना होना चाहिए। इसके अनुसार मूल्य-तल एव विनिमय-दर को स्थायी बनाना भी वांछनीय है, किन्तु य उद्देश्य इसके सहायक के रूप मे ही हैं। अतएव वर्तमान समय मे प्राय प्रत्येक देश की साख एव मौद्रिक नीति का प्रधान उद्देश्य आय एव रोजगारी के उच्चतम स्तर पर आर्थिक स्थायित्व हो गया है। सक्षेप मे, यह कहा जा सकता है कि राष्ट्र के आर्थिक कल्याण के उद्देश्य से सापेक्षिक आर्थिक स्थायित्व आवश्यक है। अतएव ग्रेट ब्रिटेन, सयुक्त राज्य अमेरिका, स्वीडेन आदि देशो ने भी अपनी मौद्रिक एव साख नीति के प्रधान उद्देश्य के रूप मे इसी उद्देश्य को अपनाया है।

किन्तु इस सम्बन्ध मे **"आधुनिक प्रवृत्ति एक ऐसी मौद्रिक एव साख नीति के अनुकरण की है जिसमे विनिमय दर के स्थायित्व एव उच्चतम स्तर पर रोजगारी तथा वास्तविक आय को बनाये रखने के दोनों उद्देश्यो मे उचित समन्वय स्थापित किया जा सके।"** (The most recent tendency in official monetary circles is to combine the objectives of international exchange stability with that of promoting and maintaining high levels of employment and real income)[1] अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष (International Monetary Fund) की स्थापना ने इस प्रकार के समन्वय के कार्य को बहुत सुगम बना दिया है। मुद्रा-कोष सम्बन्धी समझौते के अनुसार प्रत्येक सदस्य-राष्ट्र को अपनी मुद्रा की विनिमय-दर को स्थायी बनाना अनिवार्य है। सदस्य-राष्ट्र मौलिक असन्तुलन (Fundamental disequilibrium) का समाधान मुद्रा-कोष से कर्ज लेकर या इसकी अनुमति से अपनी मुद्रा के अवमूल्यन द्वारा कर सकते हैं। इस प्रकार मुद्रा कोष की स्थापना से साख एव मौद्रिक नीति के इन दोनो उद्देश्यो मे सामजस्य स्थापित करने में अत्यधिक सुविधा हुई है।

साख नियंत्रण की नीति की सफलता की शर्तें

(Conditions Essential for the Success of Credit Control Policy)

केन्द्रीय बैंक के साख-नियन्त्रण की नीति की सफलता निम्नलिखित शर्तों पर आधारित है—

(1) **केन्द्रीय बैंक का सम्पूर्ण मुद्रा-बाजार पर प्रभावपूर्ण नियन्त्रण होना चाहिए।** मुद्रा बाजार की विभिन्न सस्थाओ का, जो साख अथवा मुद्रा के व्यापारी के रूप मे कार्य करती हैं, केन्द्रीय बैंक से सम्बन्ध अनिवार्य है। सम्पूर्ण बाजार पर नियन्त्रण नही रहने से केन्द्रीय बैंक को साख-नियन्त्रण के कार्य में कठिनाइयो का सामना करना पडता है। उदाहरण के लिए, भारत मे रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया (Reserve Bank of India) का देशी बैंकर एव महाजन (Indigenous banks), जो भारतीय मुद्रा बाजार के एक प्रधान अग हैं, पर प्राय कोई नियन्त्रण नही है। ऐसी स्थिति मे यहाँ साख नियन्त्रण के कार्य में रिजर्व बैंक को कठिनाई होती है।

(2) साख-नियन्त्रण की नीति की सफलता के लिए देश मे एक **सुसगठित मुद्रा-बाजार का होना अत्यन्त आवश्यक है।** सुसगठित मुद्रा-बाजार मे विभिन्न प्रकार की सस्थाएँ कार्य करती हैं जिनका केन्द्रीय बैंक से निकटतम सम्पर्क रहता है, किन्तु सुसगठित मुद्रा-बाजार की स्थापना केवल उन्ही देशो मे सम्भव है जिनका राष्ट्रीय एव अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार दोनो बहुत अधिक विकसित स्थिति मे हो तथा इसके आन्तरिक भुगतान मे विनिमय-बिलो का बडे पैमाने पर प्रयोग किया जाता हो।

(3) साख-नियन्त्रण की नीति की सफलता **आर्थिक एव मौद्रिक क्षेत्र मे केन्द्रीय बैंक की स्थिति एव नेतृत्व पर निर्भर करती है।** इसके लिए केन्द्रीय बैंक मे जनता का पूरा-पूरा

1 De Kock—Central Banking p 138.

विश्वास होना चाहिए। साथ ही, केन्द्रीय वैक एव व्यावसायिक वैको मे परस्पर अधिक सहयोग की भावना का होना भी अनिवार्य है, अन्यथा साख-नियन्त्रण के कार्य मे कठिनाई होगी।

(4) **केन्द्रीय बैंक को साख-नियन्त्रण के सम्बन्ध मे विस्तृत वैधानिक अधिकार भी प्राप्त होना चाहिए** जिससे वह विभिन्न वैको की क्रियाओ को नियन्त्रित कर सके। इसलिए नये-नये केन्द्रीय बैंको को इस सम्बन्ध मे विस्तृत अधिकार दिये गये हैं, जिससे इन्हे व्यावसायिक बैंको की क्रियाओ को नियन्त्रित करने म बहुत अधिक सुविधा प्राप्त होती है।

साख-नियंत्रण के तरीके

(Methods of Credit Control)

साख नियन्त्रण के दो पक्ष हैं —(1) परिमाणात्मक (Quantitative) तथा (2) गुणात्मक (Qualitative)। परिमाणात्मक तरीको का सम्बन्ध साख के परिमाण एव उनकी कीमत के नियन्त्रण से है। पहले यह आम धारणा थी कि साख का परिमाणात्मक नियन्त्रण ही पर्याप्त है, क्योकि साख के परिमाण के नियन्त्रण से ही उसके उपयोग एव व्यवहार का भी नियन्त्रण हो जाता है। यदि व्यावसायिक बैंक उत्पादन एव वाणिज्य की आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए साख की सृष्टि करें और केन्द्रीय बैंक उत्पादन एव वाणिज्य की आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए सहायता दें तो खुद ब-खुद गुणात्मक नियन्त्रण भी हासिल हो जाता है, किन्तु, धीरे धीरे मौद्रिक क्षेत्र के अनुभव ने यह सिद्ध कर दिया है कि साख का केवल परिमाणात्मक नियन्त्रण ही पर्याप्त नही है। इससे साख के दुरुपयोग की सम्भावनाएँ उत्पन्न होती हैं और व्यावसायिक बैंक अधिकतम लाभ कमाने के उद्देश्य से ही साख का सृजन करते हैं। इसका कभी कभी देश के आर्थिक जीवन पर बहुत बुरा प्रभाव पडता है। उदाहरण के लिए, अमेरिका मे बैंको ने शेयर-बाजार को कर्ज देकर 1924-29 ई० के बीच शेयर बाजार (Stock Exchange) की तेजी (Boom) की सृष्टि की जिससे साख का दुरुपयोग हुआ और जिसके परिणामस्वरूप वाल स्ट्रीट का महान सकट (Wall Street crash) उपस्थित हुआ।

अतएव परिमाणात्मक नियन्त्रण के साथ साथ साख का गुणात्मक नियन्त्रण भी अनिवार्य है। इस प्रकार की नीति का उद्देश्य यह है कि साख का प्रयोग उन्ही कार्यो के लिए हो जिन्हे केन्द्रीय बैंक स्वीकार्य समझता हो। अत, गुणात्मक नियन्त्रण को सफल बनाने के लिए केन्द्रीय बैंक साख की सृष्टि विशेष कार्यो के लिए ही मान्य समझता है और जो बैंक इस रास्ते पर नही चलते उन्हें यह सहायता नही प्रदान करता है। इसके परिणामस्वरूप प्रत्येक देश मे केन्द्रीय बैंक की शक्तियो मे पर्याप्त वृद्धि हुई है। गुणात्मक नियन्त्रण के तरीको का अमेरिका मे विशेष रूप से प्रयोग हुआ है।

केन्द्रीय बैंक साख नियन्त्रण के लिए साधारणतया निम्नलिखित तरीको का प्रयोग करता है —

(क) परिमाणात्मक नियन्त्रण के तरीके (Methods of Quantitative Control) – परिमाणात्मक नियन्त्रण के निम्नलिखित प्रधान तरीके है —

(1) बैंक दर नीति (Bank Rate Policy);
(2) खुले बाजार की क्रियाएँ (Open Market Operation) तथा
(3) व्यावसायिक बैंको के नकद कोष के अनुपात मे परिवर्तन (Variations in Cash Reserve Ratio of Commercial Banks)।

(ख) गुणात्मक नियन्त्रण के तरीके (Methods of Qualitative Control) — इनमे निम्नलिखित प्रधान हैं :—

(4) साख की रैशनिंग (Rationing of Credit),
(5) प्रत्यक्ष कार्य (Direct Action),
(6) नैतिक दबाव (Moral Persuasion),
(7) प्रचार (Publicity),

(8) शेयर-बाजार के ऋण की सीमा मे परिवर्तन करना (Regulation of margin requirements of Stock Exchange Securities), तथा

(9) उपभोक्ता-साख का नियन्त्रण (Regulation of Consumer's Credit)।

केन्द्रीय बैंक साधारणतया साख नियन्त्रण के लिए उक्त तरीको का प्रयोग करता है।[1] इनमे से प्रथम श्रेणी के तीन तरीके परिमाणात्मक नियन्त्रण के तरीके (Methods of Quantitative control) तथा द्वितीय श्रेणी के छ तरीके गुणात्मक नियन्त्रण के तरीके (Methods of Qualitative Control) है। परिमाणात्मक तरीको का उद्देश्य साख के परिमाण एव उनकी कीमत का नियन्त्रण करना होता है, क्योंकि साख के परिमाण मे परिवर्तन का मूल्य-तल एव राष्ट्रीय आय पर बहुत गहरा प्रभाव पडता है, किन्तु गुणात्मक नियन्त्रण का उद्देश्य साख के प्रयोग को नियन्त्रित करना होता है। इससे सुव्यस्थित आर्थिक व्यवस्था की सृष्टि होती है।

विशेष अध्ययन-सूची

1. De Kock · Central Banking, Chapter VIII
2. Crowther An Outline of Money, Chapters II & VI
3 Sayers Modern Banking, Chapter V

---

1 सुप्रसिद्ध विद्वान डी काक (De Kock) के अनुसार केन्द्रीय बैंक साख नियत्रण के निम्नांकित तरीकों का प्रयोग करता है—

(i) 'The lowering or raising of their discount and interest rates with a view to lowering or raising money rates generally and encouraging the expansion or contraction of credit

(ii) The buying or selling of securities or bills of exchange in the open market with a view to putting additional funds into the market or withdrawing funds therefrom and thus expanding or contracting credit

(iii) The rationing of credit is an alternative or in addition to raising discount and interest rates

(iv) The taking of 'direct action' either in the form of coercive measures against any offending bank or other financial institutions or in the form of directives issued to banks generally concerning their lending and investment operations in order to assist the central bank in controlling the quantity of credit as well as securing a better qualitative distribution of credit

(v) The lowering or raising of minimum cash reserves to be maintained by the commercial banks as an additional means of enabling the central bank to expand or contract their capacity to create credit

(vi) The imposition of minimum secondary reserve requirements to be maintained by the commercial banks in the form of Government securities and other specified assets in order to restrict their capacity to extend credit for general business purposes

(vii) The regulation of the terms and conditions under which credit repayable in instalments may be granted for purchasing or carrying consumer's durable goods as a means of exercising some direct control over the volume of outstanding consumer credit

(viii) The regulation of margin requirements in connection with purchases of stock exchange securities, as an instrument for exercising some direct control over the volume of credit used in the security markets, and

(ix) The use of moral persuasion and publicity to achieve the desired objectives.

अध्याय : 24

बैंक-दर का सिद्धान्त

(The Theory of Bank Rate)

बैंक-दर का अर्थ (Meaning of the Bank Rate) —बैंक दर वह दर है जिस पर केन्द्रीय बैंक व्यावसायिक बैंको अथवा मुद्रा बाजार की अन्य संस्थाओं के बिलो का पुन बट्टा (Rediscount) करता है। (Bank rate is the rate at which the Central Bank rediscounts Bills of Exchange of Commercial Banks or other institutions) अतएव बैंक-दर को बट्टा दर (Discount Rate) भी कहा जाता है। बैंक-दर बाजार-दर से साधारणतया ऊँची रहती है।[1] बैंक-दर को ऊँचा रखने का कारण यह है कि व्यावसायिक बैंक तथा मुद्रा-बाजार केवल संकटकाल मे ही केन्द्रीय बैंक से सहायता की माग करें। जब बैंक दर बाजार दर से कम होगी, तब व्यावसायिक बैंक केन्द्रीय बैंक की सहायता को अपनी पूँजी के रूप मे प्रयुक्त करने लगेंगे। इसका देश की बैंकिंग व्यवस्था पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा। दूसरे शब्दो मे, केन्द्रीय बैंक व्यावसायिक बैंको अथवा मुद्रा बाजार की अन्य संस्थाओ के केवल अन्तिम ऋण-दाता (Lender of the Last Resort) के रूप म ही कार्य करता है अर्थात जब इन संस्थाओ को किसी दूसरे साधन से ऋण नही मिल पाता, तभी य केन्द्रीय बैंक के पास सहायता के लिए जाती हैं। ऐसी स्थिति मे केन्द्रीय बैंक एक प्रकार से दण्ड (Penalising rate) के रूप में इनसे बाजार दर से कुछ अधिक दर वसूल करता है।

बैंक दर के सिद्धान्त का विकास (Evolution of the Bank-Rate Policy) –बैंक ऑफ इगलैण्ड (Bank of England) पहला केन्द्रीय बैंक था जिसने साख नियन्त्रण के साधन के रूप मे बैंक दर[2] का प्रयोग प्रारम्भ किया। इसने बैंक दर का प्रयोग इस कार्य के लिए सर्वप्रथम 1839 ई० मे किया था और पुन 1847, 1857 एव 1866 ई० के सकट के समय इसका प्रयोग किया गया। इस समय यह बैंक धीरे धीरे मुद्रा बाजार के अतिम ऋण दाता (Lender of the Last Resort) के रूप म कार्य करने के दायित्व को ग्रहण कर रहा था। इसका तात्पर्य यह था कि बैंक ऑफ इगलैड कठिनाई अथवा सकट के समय मुद्रा-बाजार एव व्यावसायिक बैंको की सहायता की माँग को पूरा करने के लिए हर समय तैयार रहता था। धीरे-धीरे अन्य देशो के केन्द्रीय बैंको ने भी इस तरीके को अपनाना प्रारम्भ किया। बैंक ऑफ इगलैंड ने उक्त सकटो के समय बैंक दर के प्रयोग से निम्नलिखित निष्कर्ष निकाला था —(क) बैंक दर की सफलता के लिए यह अनिवार्य है कि इसका प्रयोग किसी प्रवृत्ति के आरम्भ से ही हो क्योकि मन्दी अथवा तेजी के बहुत दूर तक आगे बढ जाने पर बैंक दर का प्रयोग साधारणतया विफल सिद्ध होता है। (ख) बैंक दर सामान्यतया बाजार दर से ऊँची रहनी चाहिए। इससे केन्द्रीय बैंक की सहायता केवल सकट-काल मे ही अन्य बैंको को उपलब्ध हो सकती है।

---

1 यहाँ बैंक दर एव बाजार दर में अन्तर को समझ लेना आवश्यक है। बैंक दर (Bank-rate) केन्द्रीय बैंक की वह दर है जिस पर बैंक व्यावसायिक बैंकों के बिलों का पुन बट्टा करता है। इसके विपरीत बाजार दर (Market rate) वह दर है जिस पर व्यावसायिक बैंक अथवा मुद्रा बाजार की अन्य संस्थाएँ मुद्रा बाजार में प्रथम श्रेणी के विनिमय बिलों का बट्टा (Discount) करती हैं, अथवा व्यावसायिक सस्थाओं को उनकी प्रतिभूतियों अथवा अन्य किसी जमानत के आधार पर ऋण या अग्रिम देती है।

2 बैंक दर सम्बधी सिद्धात की व्याख्या 1802 ई० में हो हेनरी थार्टन (Henry Thorton) ने इन शब्दों में की थी - In order to ascertain how far the desire of obtaining loans at the Bank may be expected at any time to be carried we must enquire into the quantum of profit likely to be derived from borrowing there under the existing circumstances This is to be judged of by considering two points Firstly the amount of interest to be paid on the sum borrowed & secondly on the mercantile or other gain to be obtained by the employment of the borrowed capital We may therefore consider this question as turning principally on a comparison of the rate of interest which the bank takes with the current rate of mercantile profits'

प्रथम महायुद्ध के पूर्व, जब विश्व के अधिकांश देशों मे स्वर्ण प्रमाप का प्रचलन था, साख-नियन्त्रण के लिए बैंक-दर का बहुत बडे पैमाने पर प्रयोग किया जाता था। वास्तव मे, बैंक-दर का प्रयोग अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्ण-मान के एक आवश्यक सहयोगी के रूप मे किया जाता था। अतएव, 1914 ई० के पूर्व बैंक ऑफ इगलैंड तथा अन्य केन्द्रीय बैंक बैंक-दर का बहुत अधिक प्रयोग करते थे, किन्तु प्रथम युद्ध के बाद जब अधिकाश देशों ने स्वर्ण-प्रमाप को पुन अपनाया, तो बैंक-दर के प्रयोग मे बहुत कमी आ गयी। कनलिफ कमिटी (Cunlift Committee) ने स्वर्ण-मान को सफल बनाने के लिए बैंक-दर के प्रयोग को अति आवश्यक बतलाया था, किन्तु व्यवहार मे धीरे-धीरे साख-नियन्त्रण के रूप मे बैंक-दर का प्रयोग विफल सिद्ध होने लगा। 1929 ई० की भयानक आर्थिक मन्दी एव बाद मे स्वर्ण-मान के पतन के पश्चात् केन्द्रीय बैंकों ने सस्ती मुद्रा नीति (Cheap Money Policy) को अपनाया जिससे बैंक-दर का प्रयोग एव महत्व बहुत कम हो गया, किन्तु 1951 ई० से पुन बैंक ऑफ इगलैंड ने साख नियन्त्रण एव मुद्रा स्फीति को रोकने के लिए बैंक दर का प्रयोग प्रारम्भ किया है। भारत मे भी रिजर्व बैंक ऑफ इडिया (Reserve Bank of India) ने 1951 ई० से अपनी बैंक-दर मे पुन समय समय पर परिवतन करना प्रारम्भ किया तथा 1974 ई० तक इसकी बैंक दर म लगभग 14 बार परिवर्तन हो चुके है। इस प्रकार 1951 ई० के बाद पुन *बैंक-दर का प्रयोग किया जाने लगा है।*

बैंक-दर नीति का सिद्धांत

(Theory underlying the Bank-Rate Policy)

स्वर्ण प्रमाप के अन्तगत-साख नियन्त्रण के प्रधान साधन के रूप म बैंक-दर का सिद्धान्त इस बात पर आधारित था कि केन्द्रीय बैंक की बैंक दर मे परिवर्तन के परिणामस्वरूप बाजार की मुद्रा-दर मे भी लगभग समान दर से परिवर्तन होता है और बाजार की मुद्रा दर मे परिवर्तन के परिणामस्वरूप मुद्रा एव साख की माँग एव पूर्ति तथा पूँजी के अन्तर्राष्ट्रीय प्रवाह (International flow of capital) मे परिवर्तन से आंतरिक मूल्य-तल, उत्पादन-व्यय, उत्पादन तथा व्यापार मे अपेक्षित रूप से समयोजन (Adjustment) होगा जिससे भुगतान सन्तुलन (Balance of payment) की व्यवस्था ठीक हो जायगी।

जब केन्द्रीय बैंक बैंक दर मे वृद्धि करता है तो इसके परिणामस्वरूप बाजार की ब्याज-दर भी बढ जाती है। इससे ऋण लेना महँगा तथा कम लाभदायक हो जाता है जिसके परिणामस्वरूप पूँजी की मांग मे कमी हो जाती है, साख का सकुचन होता है एव मूल्य तल तथा मजदूरी कम हो जाती है। इसके परिणामस्वरूप देश मे साख का सकुचन होता है। इसके विपरीत जब केन्द्रीय बैंक अपनी बैंक-दर को घटाता है तो इसका परिणाम यह होता है कि बाजार की ब्याज दरो मे भी कमी आ जाती है जिसके परिणामस्वरूप ऋण लेना सस्ता एव लाभदायक हो जाता है। इससे साख का प्रसार होता है। वास्तव मे, बैंक दर मे परिवर्तन देश की आर्थिक स्थिति के सूचक का कार्य करता है। यदि केन्द्रीय बैंक अपनी बैंक दर मे वृद्धि करता है तो यह खतरे का सूचक होता है तथा बैंक दर मे कमी से यह स्पष्ट होता है कि देश अभी अभिवृद्ध की स्थिति से दूर है, अतएव विनियोग अधिक किया जा सकता है।[1]

इस प्रकार बैंक दर में परिवर्तन का देश की आर्थिक व्यवस्था पर निम्न प्रकार से प्रभाव पड़ता है —

(1) **साख संकुचन एव प्रसार** — बैंक दर मे परिवर्तन के परिणामस्वरूप बाजार की मुद्रा-दर मे भी परिवर्तन होता है जिससे मुद्रा एव साख की माँग प्रभावित होती है। जब बैंक-दर मे वृद्धि होती है तो बाजार मे ब्याज की दरें भी बढ जाती हैं जिससे ऋण लेना लाभदायक नहीं रह जाता, अतएव व्यापारी ऋण की माँग कम कर देते हैं जिससे साख का सकुचन होता है। इसके

1 "A rise in the discount rate may be compared to the amber coloured light of warning of the robot system of finance or as the danger signal of the redlight warning for the business community of rocks ahead on the way in which they are engaged A fall in the discount rate, on the other hand, may be regarded as the green light indicating that the cost is clear and the ship of commerce may proceed on her way with caution"

विपरीत जब बैंक-दर मे कमी होती है तो बाजार की दरें भी घट जाती हैं जिससे व्यापारियो के लिए ऋण लेना लाभदायक हो जाता है। इसके फलस्वरूप साख का प्रसार होता है।

(2) आंतरिक मूल्य-तल एवं मजदूरी पर प्रभाव :—बैंक-दर मे वृद्धि के परिणाम-स्वरूप बाजार की ब्याज दरो मे भी वृद्धि हो जाती है जिससे व्यापारी ऋण लेना कम कर देते हैं। इससे उत्पादन कम होता है तथा औद्योगिक एव व्यापारिक कार्यों मे शिथिलता आ जाती है। इससे आतरिक मूल्य-तल एव मजदूरी मे भी कमी आने लगती है। इसके विपरीत बैंक-दर मे कमी के परिणामस्वरूप बाजार-दर मे भी कमी आ जाती है जिससे व्यापारियो के लिए ऋण लेना लाभदायक हो जाता है तथा व्यापारी अधिक ऋण लेने लगते हैं। इससे औद्योगिक एव व्यापारिक कार्यों को प्रोत्साहन मिलता है तथा आतरिक मूल्य-तल एव मजदूरी मे धीरे-धीरे वृद्धि होने लगती है।

(3) विनिमय-दर पर प्रभाव :—बैंक-दर मे परिवर्तन का विनिमय-दर पर भी महत्त्व-पूर्ण प्रभाव पडता है। बैंक दर मे वृद्धि से बाजार की दरों मे भी वृद्धि हो जाती है, जिससे देश मे बाहर से विदेशी पूँजी आने लगती है। इसके फलस्वरूप देश का भुगतान-सन्तुलन अनुकूल (Favourable balance of payments) हो जाता है तथा विदेशी विनिमय की दर भी अनुकूल हो जाती है। इसके विपरीत जब बैंक-दर मे कमी होती है तो ब्याज की दरें भी कम हो जाती हैं जिससे देश की पूँजी का विदेशो की ओर प्रवाह होने लगता है। इसके फलस्वरूप देश का भुगतान सतुलन विपक्ष मे होने लगता है तथा विनियम की दर प्रतिकूल होने लगती है।

(4) पूँजी के अन्तर्राष्ट्रीय प्रवाह पर प्रभाव :— बैंक-दर मे परिवर्तन का प्रभाव पूँजी के अन्तर्राष्ट्रीय प्रवाह (International flow of Capital) पर भी पडता है। बैंक दर के बढ जाने से बाजार की ब्याज-दर भी बढ जाती है। इसका परिणाम यह होता है कि इस बढी हुई ब्याज-दर से लाभ उठाने के लिए बाहर से अल्पकालीन पूँजी बहुत अधिक मात्रा मे आने लगती है। इसके विपरीत जब बैंक-दर कम हो जाती है तो ब्याज की अन्य दरें भी कम हो जाती हैं जिससे अल्पकालीन पूँजी देश से बाहर जाने लगती है। इस प्रकार बैंक-दर मे वृद्धि या कमी से अन्तर्राष्ट्रीय पूँजी का प्रवाह भी प्रभावित होता है।

बैंक दर नीति की सफलता की शर्तें (Conditions for the success of Bank rate policy) .—**इस प्रकार स्पष्ट है कि बैंक-दर नीति की सफलता के लिए निम्नांकित शर्तों का होना आवश्यक है —**

(i) बैंक-दर मे परिवर्तन का ब्याज की अन्य दरों पर प्रभाव :—केन्द्रीय बैंक की बैंक-दर का बाजार की मुद्रा एवं साख की अन्य दरो पर तत्काल प्रभाव पडना चाहिए, विशेषतः उस समय जबकि इसका उद्देश्य साख का सकुचन करना होता है।

(ii) अर्थ-व्यवस्था मे पर्याप्त मात्रा मे लोच का होना :—देश की आर्थिक व्यवस्था पर्याप्त मात्रा मे लोचदार होनी चाहिए जिससे मुद्रा एव साख की दरो मे परिवर्तन से मूल्य, मजदूरी, लगान, उत्पादन एव व्यवसाय सभी स्पष्ट रूप से प्रभावित हो सकें।

(iii) पूँजी के अन्तर्राष्ट्रीय प्रवाह (International Flow of Capital) पर किसी प्रकार का कृत्रिम नियन्त्रण नही होना चाहिए।

(iv) विनियोगी वर्ग की मनोवृत्ति —बैक दर की सफलता विनियोगी वर्ग की मनोवृत्ति पर भी निर्भर करती है। ब्याज की दर मे वृद्धि होने पर भी यदि व्यापारी बहुत अधिक मात्रा मे लाभ की आशा करते है तो बैंक दर मे वृद्धि से भी साख का सकुचन नही होगा। इसके विपरीत मन्दी काल मे यदि व्यापारी अथवा विनियोगी वर्ग की मनोवृत्ति निराशावादी है तो बैंक-दर मे बहुत अधिक कमी करने पर भी वे ऋण के लिए तत्पर नही होते। इस प्रकार स्वर्ण-प्रमाप के अन्तर्गत बैंक-दर मे परिवर्तन का देश की सम्पूर्ण आर्थिक व्यवस्था पर प्रभाव पडता था।

किन्तु बैंक-दर का अर्थ-व्यवस्था पर प्रभाव किस प्रकार से पड़ता है इस सम्बन्ध में हमारे समक्ष दो महत्वपूर्ण विचारधाराए हैं।—(i) पहली विचारधारा प्रो० हॉट्रे (Hawtrey) की है जिसका प्रतिपादन उन्होने 'Art of Central Banking' एव 'A Century of Bank Rate' नामक अपनी पुस्तको मे किया है। (ii) दूसरी विचारधारा केन्स (Keynes)

की है जिसका प्रतिपादन उन्होंने अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक 'A Treatise on Money' मे किया है। इन दोनो विचारधाराओ मे मतभेद यह है कि हॉट्रे (Hawtrey) के अनुसार बैंक-दर का प्रभाव अल्पकालीन विनियोग, यानी कार्यशील पूँजी (Working Capital) के माध्यम से पडता है, जबकि केन्स (Keynes) के अनुसार इसका प्रभाव अचल पूँजी (Fixed Capital) के माध्यम से पडता है। केन्स के अनुसार बैंक-दर पहले मुद्रा-बाजार की अल्पकालीन दरो को प्रभावित करती है। इससे पूँजी-बाजार की दीर्घकालीन दर प्रभावित होती है और इस प्रकार अचल पूँजी की माग के प्रभावित होने से उत्पादन एव आय दोनो प्रभावित होते हैं, किन्तु ध्यानपूर्वक विचार करने से यह स्पष्ट होगा कि वास्तव मे इन दोनों विचारधाराओं मे कोई मौलिक विभेद नही है। ये दोनो एक ही समस्या के अलग-अलग पक्षो पर जोर देती हैं। *अतएव, इन्हें बहुत हद तक एक-दूसरे का पूरक समझना चाहिए*।

हॉट्रे (Hawtrey) की विचारधारा :—हॉट्रे के अनुसार व्यापारी (Trader) ही सम्पूर्ण आर्थिक व्यवस्था का केन्द्र बिन्दु है। उसका कार्य उपभोक्ताओ की माग का अन्दाजा लगा कर उत्पादन एव माग मे समायोजन स्थापित करना है। व्यापारियो की माग के अनुसार ही उत्पादक उत्पादन की मात्रा निर्धारित करते हैं।

प्रत्येक व्यापारी अपने पास वस्तुओ का भडार रखता है जिसकी मात्रा भडार रखने के खर्च पर निर्भर करती है। यदि खर्च अधिक होगा तो वे भडार कम रखेंगे और यदि खर्च कम होगा तो वे भडार अधिक रखेंगे। इस प्रकार हॉट्रे के अनुसार प्रत्येक व्यापारी की वस्तुओ के भडार रखने की माग लोचदार होती है। वस्तुओ के भडार को रखने मे यो तो बहुत से खर्च हैं, किन्तु इनमे प्रधान खर्च सूद है, क्योंकि प्रत्येक व्यापारी बैंक से ऋण लेकर ही भडार रखता है। जब बैंक के ब्याज की दर बढ जाती है तो व्यापारियो को बैंक से ऋण लेने का खर्च बढ जाता है, अत वे कम ही वस्तुओ का भडार रखने लगते हैं तथा उत्पादको को वे कम ही वस्तुओ के लिए आदेश देते हैं। इससे उत्पादक उत्पादन कम करने लगते हैं, जिससे आय एव रोजगार कम हो जाता है और मन्दी की सृष्टि होती है जो उत्तरोत्तर तीव्रतर होती जाती है। इसके विपरीत जब बैंक दर मे कमी के फलस्वरूप सूद की दर मे कमी होने लगती है तो व्यापारियो को बैंको से कर्ज लेना सस्ता पडता है। इससे ये अधिक भडार रखना प्रारम्भ कर देते है तथा उत्पादको को अधिक वस्तुओ के लिए आदेश देते हैं। इसमे उत्पादक अपना उत्पादन बढाते हैं जिससे आय एव रोजगार मे वृद्धि होती है तथा तेजी की सृष्टि होती है जो उत्तरोत्तर तीव्र होती जाती है।

इस प्रकार हॉट्रे (Hawtrey) के अनुसार बैंक दर कार्यशील पूँजी (Working Capital) *की माग को प्रभावित कर ही तेजी अथवा मन्दी की सृष्टि करता है जिससे मुद्रा एव साख का* प्रसार अथवा सकुचन होता है, किन्तु हॉट्रे के सिद्धान्त की अर्थशास्त्रियो ने कटु आलोचना की है। केन्स (Keynes) ने *हॉट्रे की आलोचना करते हुए यह बतलाया है कि बैंक-दर पूँजी बाजार की* दीर्घकालीन सूद की दर को प्रभावित कर अचल पूँजी (Fixed Capital) की माग को प्रभावित करता है जिससे *तेजी अथवा मन्दी की सृष्टि होती है। साथ ही, हॉट्रे का सिद्धान्त इस मान्यता* पर आधारित है कि सूद व्यापारी (Trader) के खर्च का सर्वाधिक प्रमुख भाग है, किन्तु वास्तव में ऐसी बात नही है। *साथ ही, व्यापारियो की माग भी बिलकुल लोचदार नही होती*। जब तेजी अथवा मन्दी अपनी चरम सीमा पर होती है, तो ऐसी स्थिति मे व्यापारियो की माग बिलकुल लोचहीन होती है। तेजी की स्थिति मे व्यापारियो को इतना अधिक मुनाफा होता है कि सूद की दर बढने पर भी वे वस्तुओ की माग कम नही करते। इसके विपरीत मन्दी के समय हानि की सम्भावना इतनी अधिक रहती है कि सूद की दर मे कमी होने पर भी वे अपनी माग मे वृद्धि नही करते। अतएव, हॉट्रे (Hawtrey) का सिद्धान्त वास्तविकता से बहुत दूर है।

केन्स की विचारधारा — दूसरी ओर केन्स (Keynes) के अनुसार बैंक-दर विनियोग को प्रभावित कर आर्थिक व्यवस्था को प्रभावित करता है। इसके अनुसार विनियोग का अर्थ है अचल पूँजी (Fixed Capital) का उत्पादन। अचल पूँजी मे वृद्धि या कमी दो बातो पर निर्भर करती है—(क) पूँजी की सम्भावित उत्पादकता (Prospective yield of capital), एव (ख) ब्याज की दर। यदि पूँजी की सम्भावित उत्पादकता (Prospective yield of capital) सूद की दर से अधिक होगी तो विनियोजको को मुनाफा होगा एव अचल पूँजी की माग बढेगी। इसके

विपरीत, जब सम्भावित उत्पादकता सूद की दर से कम होगी तो विनियोजकों को हानि होगी एवं अचल पूँजी की माग कम होगी ।

अब हमे यह देखना है कि बैंक-दर दीर्घकालीन पूँजी की दर को किस प्रकार से प्रभावित करती है । बैंक-दर मे वृद्धि के परिणामस्वरूप मुद्रा-बाजार की दरो मे परिवर्तन हो जाता है, क्योकि केन्द्रीय बैंक बैंक दर को मुद्रा-बाजार मे ही क्रियाशील करते हैं । अल्पकालीन मुद्रा-बाजार की दरों मे वृद्धि होने से दीर्घकालीन पूँजी-बाजार मे पूँजी लगाना अब अपेक्षाकृत कम आकर्षक होगा। अतएव, लोग पूँजी-बाजार मे अपनी प्रतिभूतियो को वेचकर अपने धन को बैंको के साथ रखना आरम्भ कर देंगे । साथ ही, जिन व्यक्तियो अथवा फर्मों ने अल्पकालीन मुद्रा-बाजार से ऋण लेकर अपनी कार्यशील पूँजी प्राप्त की है, वे भी अपनी प्रतिभूतियो को वेचकर इन्हे वापस करने का प्रयास करेंगे । व्यावसायिक बैंक भी अपनी प्रतिभूतियो को वेचना प्रारम्भ कर देंगे । इन प्रवृत्तियो का सम्मिलित प्रभाव यह होगा कि दीर्घकालीन पूँजी-बाजार से मुद्रा का प्रवाह मुद्रा बाजार की ओर होने लगेगा । इससे पूँजी-बाजार मे कोष का अभाव हो जायगा जिससे सूद की दर मे भी वृद्धि होगी । इसके विपरीत बैंक-दर कम हो जाने पर मुद्रा बाजार से मुद्रा का प्रवाह पूँजी बाजार की ओर होगा । पूँजी बाजार मे कोष की अधिकता होने से सूद की दर कम हो जायगी ।

पूँजी-बाजार की सूद की दर मे परिवर्तन का प्रभाव उद्योगो की अचल पूँजी की माँग पर पडता है । अचल पूँजी की माँग व्यवसायी निम्नांकित दो उद्देश्यो से करते हैं— (1) उत्पादन के साधनो मे विस्तार के लिए, तथा (2 पुराने यन्त्रो को बदल कर नये-नये यन्त्र लगाने के लिए। पूँजी बाजार मे सूद की दर बढने से उधार लेना उत्पादको के लिए बहुत महँगा पडता है जिससे ये पूँजी की माग कम कर देते हैं । इससे पूँजीगत उद्योगो मे उत्पादन कम हो जाता है तथा वहाँ के बहुत से श्रमिक बेकार हो जाते हैं । इसका देश की आय एव रोजगार पर प्रभाव पडता है । इसके परिणामस्वरूप सम्पूर्ण आर्थिक व्यवस्था मे आय और रोजगार बहुत कम हो जाता है। इस प्रकार मन्दी की सृष्टि होती है । इसके विपरीत सूद की दर कम होने से पूँजीगत उद्योगो के उत्पादन मे वृद्धि होती है जिसके फलस्वरूप इन उद्योगो मे आय एव रोजगारी मे वृद्धि होती है। इसका प्रभाव सम्पूर्ण आर्थिक व्यवस्था पर पडता है जिससे तेजी की सृष्टि होती है ।

किन्तु केन्स की यह विवेचना भी कुछ महत्त्वपूर्ण शर्तों पर आधारित है। सर्वप्रथम तो बैंक-दर पूँजी-बाजार की दीर्घकालीन दरो को उसी स्थिति मे प्रभावित करती है जबकि इसके लिए समुचित वातावरण हो । उदाहरण के लिए, यदि जनता का अनुमान है कि बैंक-दर मे परिवर्तन बहुत क्षणिक है तो ऐसी अवस्था मे इसका कोई प्रभाव नही पडेगा । अतएव, केन्स (Keynes) की विवेचना इस बात पर आधारित है कि बैंक दर की सफलता के लिए अनुकूल जनमत का होना नितात आवश्यक है ।

1914 ई० के बाद बैंक-दर नीति
(Bank Rate Policy since 1914)

प्रथम विश्व-युद्ध के पूर्व तक विश्व मे स्वर्ण-प्रमाप का प्रचलन था । स्वर्ण-प्रमाप के अन्तर्गत बैंक-दर नीति का बहुत बडे पैमाने पर प्रयोग किया जाता था, किन्तु युद्ध प्रारम्भ होने के साथ-साथ 1914 ई० मे स्वर्ण-प्रमाप को स्थगित कर दिया गया, किन्तु इसके बावजूद 1914 ई० के बाद भी केन्द्रीय बैंको ने साख-नियन्त्रण के इस साधन का प्रयोग किया । उदाहरण के लिए, 1914 ई० के अगस्त मे बैंक ऑफ इगलैंड ने अपनी बैंक-दर को बढा कर 10 प्रतिशत कर दिया । एक सप्ताह के बाद इसे घटा कर 5 प्रतिशत कर दिया गया, किन्तु 1914 ई० के बाद साख-नियन्त्रण के अन्य साधनो के प्रचलन से सामान्यत बैंक दर का महत्त्व बहुत कम हो गया ।

बैंक ऑफ इगलैण्ड ने अपनी बैंक दर मे समय समय पर प्रथम विश्व युद्ध के बाद भी परिवर्तन किया । 1925 ई० मे जब स्वर्ण मान पुन. अपनाया गया तब बैंक-दर के महत्त्व मे कुछ वृद्धि अवश्य हुई, किन्तु 1931 ई० मे स्वर्ण मान के पतन के बाद से इसका महत्त्व बिल्कुल घट गया । यह इस बात से स्पष्ट हो जाता है कि जहाँ बैंक ऑफ इगलैण्ड ने बैंक-दर मे 1845 से 1900 ई० के बीच 160 बार तथा 1901 से 1914 ई० के बीच 66 बार परिवर्तन किया था वहाँ 1919 ई० से 1932 ई० के बीच बैंक दर मे केवल 34 बार ही परिवर्तन किया गया । उसमे भी केवल

1931 एवं 1932 ई० मे 10 बार परिवर्तन किया गया। अन्य केन्द्रीय बैंको के साथ भी प्राय: यही बात थी। 1919 ई० से 1932 ई० के बीच बैंक ऑफ फ्रांस ने अपनी बैंक-दर मे 17 बार तथा फेडरल रिजर्व बैंक ने 34 बार परिवर्तन किया था।

बैंक-दर के महत्त्व में कमी के कारण

(Causes of Decline in the Significance of the Bank-Rate)

प्रथम युद्ध के पूर्व बैंक-दर साख-नियन्त्रण का एक प्रधान साधन था, किन्तु युद्ध के बाद साख-नियन्त्रण के अन्य साधनो की अपेक्षा बैंक-दर का महत्त्व धीरे-धीरे कम होने लगा और स्वर्णमान के पतन के बाद से विशेषत. द्वितीय महायुद्ध के समय मे, साख-नियन्त्रण के साधन के रूप मे बैंक दर का महत्त्व बिल्कुल घट गया। (The importance of the discount rate as an instrument of credit control tended to decline absolutely as-well-as relatively to other methods of credit control, and that since the worldwide suspension of the gold standard and particularly since the outbreak of the world war II, discount rate policy as such has been completely relegated to the background by other factors)

बैंक-दर के महत्त्व मे इस कमी के बहुत-से कारण हैं जिनमे निम्नांकित विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं :—

(1) मुद्रा-बाजार की स्थिति मे महान् परिवर्तन (Radical changes in money-market conditions),

(2) आर्थिक व्यवस्था मे परिवर्तन (Changes in the economic structure);

(3) साख नियन्त्रण के अन्य सप्रवाहिक साधनो का अधिकाधिक प्रयोग, तथा

(4) सस्ती मुद्रा-नीति (Cheap money policy) का समावेश।

अब इनका निम्न विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है —

1. मुद्रा-बाजार की स्थिति मे महान् परिवर्तन (Radical changes in money market conditions) :— प्रथम महायुद्ध के बाद मुद्रा-बाजार की स्थिति मे आमूल परिवर्तन दीख पड़ने लगा। चालू खाते के आधार पर ऋण लेने की प्रथा के अधिक प्रचलित होने के कारण व्यावसायिक बिलो का महत्त्व बहुत कम हो गया। साथ ही, विभिन्न प्रकार के नियन्त्रण के कारण विदेशी व्यापार की मात्रा भी कम होने लगी जिससे विदेशी बिलो का परिमाण बहुत ही कम हो गया। साथ ही, युद्ध के बाद सरकारी हुण्डियो (Treasury Bills) तथा अन्य अल्पकालीन सरकारी प्रतिभूतियों (Other Short Term Govt Bonds) की सख्या मुद्रा-बाजार मे बढ़ने लगी। युद्ध के परिणामस्वरूप सरकारी खर्चों तथा ऋण की मात्रा मे भी बहुत अधिक वृद्धि हुई, अतः उन्हे पूरा करने के लिए सरकारी हुण्डियों का प्रयोग किया जाने लगा। इन सबके परिणामस्वरूप मुद्रा-बाजार की बनावट मे बहुत बड़ा परिवर्तन जान पड़ने लगा तथा इनमे केन्द्रीय बैंक की अपेक्षा ट्रेजरी का महत्त्व बढ़ने लगा।

इसके अतिरिक्त विश्व मे लन्दन मुद्रा-बाजार का अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व भी कम होने लगा। युद्ध के पश्चात् ससार के बहुत-सारे देशो मे भी मुद्रा बाजार की स्थापना होने लगी। इसी बीच न्यूयार्क के मुद्रा-बाजार का अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व बढ रहा था। साथ ही, दूसरे केन्द्रो, जैसे—बर्लिन, रोम, स्टॉकहोम तथा टोकियो आदि मे भी मुद्रा बाजार स्थापित किये जा रहे थे। इन सबका लदन मुद्रा-बाजार के सगठन पर बहुत महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ा तथा बैंक-दर की नीति भी धीरे-धीरे असफल सिद्ध होने लगी।

2. आर्थिक व्यवस्था में परिवर्तन (Changes in the economic structure) :— प्रथम विश्व-युद्ध के बाद प्रत्येक देश की आर्थिक व्यवस्था मे लोच की मात्रा धीरे-धीरे समाप्त होने लगी। किन्तु बैंक-दर की नीति की सफलता की एक महत्त्वपूर्ण शर्त यह है कि देश की आर्थिक व्यवस्था पर्याप्त मात्रा मे लोचपूर्ण होनी चाहिए। आर्थिक व्यवस्था मे लोच के अभाव मे बैंक-दर में परिवर्तन का प्रभाव मजदूरी, मूल्य एव उत्पादन आदि पर नहीं पड़ेगा जिससे बैंक-दर नीति का अपेक्षित प्रभाव नहीं हो सकता। प्रथम युद्ध के बाद, विशेषत. 1929 ई० की मन्दी के बाद से

प्रत्येक देश ने आर्थिक नियोजन के आधार पर अपनी अर्थ-व्यवस्था को सुसगठित बनाने का प्रयास किया जिससे आर्थिक जीवन के प्रत्येक अग पर राज्य का नियन्त्रण बढने लगा। ऐसी स्थिति मे बैक-दर की अपेक्षा साख-नियन्त्रण के अन्य प्रत्यक्ष तरीको का महत्त्व बहुत बढ गया। इस प्रकार आर्थिक व्यवस्था मे लोच के अभाव के कारण भी बैक-दर की नीति प्रभावपूर्ण नही रह गयी। इस सम्बन्ध मे वेजमैन (Wagemann) ने ठीक ही कहा है कि "किसी देश की आर्थिक व्यवस्था मे मूल्य, मजदूरी एव यातायात पर जितना ही अधिक नियन्त्रण होगा तथा राज्य का व्यवसाय के क्षेत्र मे जितना ही अधिक हस्तक्षेप बढेगा, वहाँ सूद की दर का प्रभाव उतना ही कम होगा।" (The more an economy is regulated in terms of prices, wages, transport charges, and the more the Government extends its influence over business, the more the influence of interest declines) इस प्रकार लोचपूर्ण आर्थिक व्यवस्था के अभाव मे बैक-दर का विफल होना अति स्वाभाविक है।

3 **साख-नियन्त्रण के अन्य प्रभावपूर्ण साधनो का अधिकाधिक प्रयोग**.—साख-नियन्त्रण के अन्य साधनो के अधिकाधिक प्रयोग (जैसे-खुला बाजार कार्यक्रम, प्रत्यक्ष कार्यवाही, नैतिक दबाव तथा व्यावसायिक बैंको के नकद कोष के अनुपात मे परिवर्तन आदि), जो साख के नियन्त्रण के लिए अधिक प्रत्यक्ष एव प्रभावपूर्ण समझे जाते थे, कारण भी बैक दर का प्रयोग कम किया जाने लगा। साख-नियन्त्रण के इन विभिन्न तरीको का अगले अध्याय मे सविस्तार वर्णन किया गया है।

4 **सस्ती मुद्रा-नीति (Cheap Money Policy) का समावेश** —साख नियन्त्रण के साधन के रूप मे बैक दर के महत्त्व मे कमी का *अन्तिम तथा सर्वाधिक प्रमुख कारण* सस्ती मुद्रा-नीति का समावेश है। 1932 ई० के बाद विश्व के प्राय सभी देशो ने अपनी मौद्रिक नीति के रूप मे सस्ती मुद्रा-नीति को अपनाया। सस्ती मुद्रा-नीति के अपनाये जाने के कई कारण थे जिनमे निम्नलिखित प्रमुख हैं:—

(i) स्वर्ण के मूल्य मे वृद्धि के परिणामस्वरूप सभी देशो मे केन्द्रीय बैंक के स्वर्ण-कोष का मूल्य बढ गया जिससे मुद्रा-प्रसार हुआ।

(ii) सरकार की मौद्रिक आवश्यकताओ मे युद्ध तथा अन्य कारणो से अत्यधिक वृद्धि हो गयी जिसे पूरा करने के लिए साख एव चलन की मात्रा मे बहुत अधिक वृद्धि हुई, तथा

(iii) मन्दी की स्थिति मे सुधार लाने के लिए प्रत्येक देश की नीति विनियोग को प्रोत्साहित करने की हो गयी।

सस्ती मुद्रा-नीति उद्योग-धन्धे एव व्यवसाय के लिए लाभप्रद सिद्ध हो सकती है, किन्तु इसे कायम रखने मे केन्द्रीय बैंक को साख का अत्यधिक प्रसार करना पडता है। उस नीति को सफल बनाने के लिए बैंक-दर बहुत कम रखी जाती है। अतएव, सस्ती मुद्रा-नीति अपनाये जाने के कारण बैंक-दर इतनी कम रखी जाने लगी कि इसमे परिवर्तन का कोई महत्त्व नही रह गया।

इस प्रकार प्रथम महायुद्ध के बाद, विशेषत अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्ण मान के पतन एव भयानक आर्थिक मन्दी के बाद से, साख नियन्त्रण के साधन के रूप मे बैंक-दर का महत्त्व बिलकुल कम हो गया। प्रथम विश्व युद्ध के पूर्व यह साख-नियन्त्रण का प्रधान साधन था। वास्तव मे, स्वर्ण-मान का यह एक आवश्यक सहयोगी माना जाता था। इसीलिए मैकलगन समिति ने बैंक दर को एक सुन्दर एव नाजुक अस्त्र (Beautiful and delicate instrument) बतलाया था, किन्तु दोनो विश्व-युद्धो के बीचवाले समय मे विश्व को यह अनुभव हुआ कि बैंक दर वास्तव मे एक सुन्दर एव नाजुक अस्त्र न होकर एक कुण्ठित एव ढीला-ढाला Halting and clumsy) तरीका हो गया है।

किन्तु यद्यपि आज की आर्थिक कठोरता (economic rigidity and complexity) एव मौद्रिक तरलता (Monetary liquidity) के युग मे बैंक-दर पहले की अपेक्षा कम प्रभावपूर्ण अवश्य हो गयी है, फिर भी साख नियन्त्रण के साधन के रूप मे आज भी यह महत्त्वपूर्ण कार्य कर सकती है। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष (International Monetary Fund) की स्थापना तथा सदस्य-राष्ट्रो का अपनी मुद्रा की विनिमय-दर को स्थायी बनाने के दायित्व से बैंक-दर का महत्त्व पुनः कुछ अवश्य बढ गया है।

बैंक-दर के महत्त्व में पुनः वृद्धि
(Increase in the Importance of the Bank-rate)

गत कुछ वर्षो से विभिन्न देशो के केन्द्रीय बैंक अपनी बैंक-दर मे पुनः परिवर्त्तन कर रहे हैं। उदाहरण के लिए, सितम्बर, 1951 ई० मे बैंक ऑफ इगलैण्ड ने अपनी बैंक-दर को 2 प्रतिशत से बढाकर $2\frac{1}{2}$ प्रतिशत तथा नवम्बर 1951 ई० मे रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया ने अपनी बैंक-दर को 3 प्रतिशत से बढाकर $3\frac{1}{2}$ प्रतिशत कर दिया। बैंक ऑफ इगलैण्ड की बैंक-दर मे इस वृद्धि के कई कारण थे, किन्तु इसका सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कारण इगलैण्ड के भुगतान सतुलन (Balance of Payments) मे सतुलन स्थापित करना तथा मुद्रा-स्फीति के दवाव को कम करना था। इस प्रकार नवम्बर, 1951 ई० के बाद से बैंक-दर के प्रयोग मे उत्तरोत्तर वृद्धि हो रही है। बैंक-दर के इस पुनः प्रयोग को कुछ लेखको ने 'Re-discovery of Money' कहा है।

1956-57 ई० एव 1957-58 ई० मे विश्व के अधिकाश प्रमुख देशो मे आर्थिक नियन्त्रण के लिए बैंक-दर मे परिवर्तन किया गया। अधिकाश देशो में बैंक दर मे वृद्धि की गयी। उदाहरण के लिए 16 मई, 1957 ई० को रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया ने अपनी बैंक-दर को $3\frac{1}{2}$ प्रतिशत से बढाकर 4 प्रतिशत कर दिया। बैंक-दर मे इस वृद्धि के कई कारण थे जिनमे निम्नलिखित विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण थे—(क) मुद्रा-स्फीति के दबाव को रोकना, (ख) विनियोग के प्रसार को सीमित करना, तथा (ग) *अन्तर्राष्ट्रीय शोधन-तुला में सतुलन स्थापित करना।* *8 मार्च, 1962 ई० को* बैंक ऑफ इगलैड ने अपनी बैंक-दर को पुनः 6 प्रतिशत से घटाकर $5\frac{1}{2}$ प्रतिशत कर दिया। इसका प्रधान कारण यह बतलाया गया कि इसके पूर्व इगलैण्ड की बैंक-दर जापान के अतिरिक्त अन्य सभी प्रमुख देशो के केन्द्रीय बैंक की बैंक-दर से अधिक थी। पुन. 21 मार्च, 1962 ई० को बैंक ऑफ इगलैण्ड ने अपनी बैंक-दर $5\frac{1}{2}$ प्रतिशत से घटाकर 5 प्रतिशत कर दिया। इसी प्रकार 3 जनवरी, 1963 ई० को रिजर्व बैंक ऑफ इडिया ने अपनी बैंक-दर को 4 प्रतिशत से बढाकर $4\frac{1}{2}$ प्रतिशत तथा 25 सितम्बर, 1964 ई० को 5 प्रतिशत कर दिया। 17 फरवरी, 1965 ई० को रिजर्व बैंक ऑफ इडिया ने *अपनी बैंक-दर को बढा कर 6 प्रतिशत कर दिया।* बैंक ऑफ इगलैण्ड ने जून, 1966 ई० मे अपनी बैंक-दर को बढाकर 7 प्रतिशत कर दिया था। पुन 1969 के प्रारम्भ में इसने अपनी बैंक-दर को बढाकर 8 प्रतिशत तथा मार्च, 1970 मे इसे घटाकर $7\frac{1}{2}$ प्रतिशत कर दिया। इसी प्रकार 2 मार्च, 1968 को रिजर्व बैंक ऑफ इडिया ने अपनी बैंक-दर को 6 प्रतिशत से घटाकर 5 प्रतिशत कर दिया। बैंक-दर मे यह कमी बैंको द्वारा सस्ती दर पर साख को उपलब्ध बनाने के लिए की गयी थी जो अर्थ-व्यवस्था को सुस्ती (Recession) से निकालने के लिए अनिवार्य समझी गयी थी। 8 जनवरी, 1971 ई० को बढते हुए मूल्यो को रोकने के लिए साख-सकुचन के उद्देश्य से रिजर्व बैंक ने अपनी बैंक-दर को 5 प्रतिशत से बढाकर 6 प्रतिशत कर दिया और 30 मई, 1973 ई० को रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया ने देश मे मुद्रा-स्फीति के बढते हुए दबाव को रोकने के लिए बैंक-दर को 6 प्रतिशत से बढाकर 7 प्रतिशत कर दिया। पुन 23 जुलाई, 1974 को इसने बैंक-दर को 7 प्रतिशत से बढाकर 9 प्रतिशत कर दिया। अभी तक रिजर्व बैंक ऑफ इडिया की बैंक दर इतनी अधिक कभी भी नही थी। इससे स्पष्ट है कि *बैंक-दर का प्रयोग पुन. आजकल बढने लगा है। वास्तव मे, अधिकाश विकसित अर्थ-व्यवस्था वाले* देशो मे बैंक-दर पुन. मौद्रिक नियत्रण का एक महत्त्वपूर्ण साधन बन रही है। जुलाई, 1973 को बैंक ऑफ इगलैंड ने अपनी बैंक दर को बढाकर 11 5 प्रतिशत कर दिया। इस प्रकार का कदम यूरोप मे ब्याज की दर को सबसे ऊँची बनाना है जिससे विदेशो से पर्याप्त मात्रा मे कोष आ सके और इस प्रकार पौंड के समक्ष मदी के सकट को टाला जा सके। किन्तु, यद्यपि बैंक दर के प्रयोग मे पुनः वृद्धि हो रही है, फिर भी इसकी सफलता के मार्ग मे कितनी ही बाधाएँ हैं जिससे यह अपने प्राचीन महत्त्व को नही प्राप्त कर सका है।

अर्द्ध-विकसित देशों मे बैंक दर-नीति (*Bank Rate Policy in und r-developed countries*)—अविकसित तथा अर्द्ध-विकसित देशों मे तो निम्नाकित कारणो से बैंक-दर नीति अधिक प्रभावपूर्ण नही हो सकती। इनमे निम्नाकित कारण विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं—

(1) अविकसित देशो मे मुद्रा-बाजार तथा पूंजी बाजार मे उचित सामजस्य का अभाव

पाया जाता है। अतएव, अल्पकालीन तथा दीर्घकालीन ब्याज की दरो का एक-दूसरे पर प्राय कोई प्रभाव नही पडता।

(2) इन देशो मे व्यापारिक बिलो का बहुत ही कम प्रचार रहता है। सुविकसित बिल बाजार का भी इनमे अभाव पाया जाता है।

(3) साथ ही इन देशो मे बैंकिंग एव साख-सम्बन्धी सुविधाओ का विस्तार कुछ ही क्षेत्रो तक सीमित रहता है।

(4) इन देशों म बैंक के कोषो की माँग कम रहती है।

किन्तु अधिकाश अविकसित राष्ट्रो की स्थिति मे अब धीरे-धीरे सुधार हो रहा है। इन देशो मे भी बिल बाजार को विकसित करने का प्रयास किया जा रहा है। बैंकिंग सम्बन्धी सुविधाएँ भी बढ रही हैं तथा व्यावसायिक बैंक सहायता के लिए धीरे धीरे केन्द्रीय बैंको पर आश्रित होने लगे हैं। इससे यह आशा की जाती है कि इन देशो मे भी साख नियन्त्रण के साधन के रूप मे बैंक दर के प्रयोग मे वृद्धि होगी।

विशेष अध्ययन सूची

1 Do Kock — Central Bank ng, Chapters IX and X
2 Sayers — Modern Ba king, Chapter IX
3 Crowther — An Outline of Money, Chapter VI
4. R B I — Reserve Bank of India Functions and Working

———

अध्याय : 25

खुले बाजार की नीति

(Open Market Operation)

खुले बाजार कार्यक्रम का अर्थ (Meaning of Open Market Operation)—प्रथम विश्व-युद्ध के पूर्व साख-नियन्त्रण के साधन के रूप में बैंक-दर का विस्तृत रूप में प्रयोग किया जाता था। किन्तु युद्ध-काल के पूर्व भी जर्मनी तथा कुछ अन्य देशों में इस कार्य के लिए खुले-बाजार की नीति का प्रयोग किया जाने लगा था। परन्तु वास्तव में, साख-नियन्त्रण के इस साधन को प्रथम-युद्ध के बाद ही वैज्ञानिक रूप मिला। सुप्रसिद्ध विद्वान डी कॉक (De Kock) के अनुसार **विस्तृत अर्थ में "खुले बाजार की नीति का तात्पर्य केन्द्रीय बैंक द्वारा बाजार में किसी भी प्रकार के बिलों अथवा प्रतिभूतियों का क्रय या विक्रय तथा संकीर्ण अर्थ में इसका तात्पर्य केन्द्रीय बैंक द्वारा केवल सरकारी प्रतिभूतियों—दीर्घकालीन अथवा अल्पकालीन का क्रय एवं विक्रय है।"** (In the wider sense, open market operations may be held to cover the purchase or sale by the Central Bank in the market of any kind of paper in which it deals—whether Govt. securities or other securities. But in the narrower sense, open market operation has come to be applied only to the purchase or sale of Government securities, both long-term and short-term.)

खुले बाजार कार्यक्रम का विकास (Evolution of Open Market Operation)—1914 ई० के पूर्व बैंक ऑफ इङ्गलैंड (Bank of England) मुख्यतः साख-नियन्त्रण के लिए बैंक-दर का ही प्रयोग करता था, किन्तु उस समय भी कभी-कभी मुद्रा बाजार में अधिक या कम तरलता होने के कारण बैंक तरलता की मात्रा को नियोजित करने के लिए कुछ विशेष प्रकार की प्रतिभूतियों का क्रय एवं विक्रय करता था। 1914 ई० के पूर्व जर्मनी में रिश बैंक (Reichs Bank) भी अतिरिक्त मुद्रा की मात्रा को कम करने के लिए सरकारी प्रतिभूतियों का विक्रय करता था। किन्तु युद्ध के पूर्व खुले बाजार की नीति का वैज्ञानिक रूप में विकास नहीं हो पाया था। 1920 ई० के बाद बैंक ऑफ इंगलैंड एवं फेडरल रिजर्व बैंक ने इस कार्यक्रम का प्रयोग करना प्रारम्भ किया, किन्तु उस समय भी इसे मुख्यतः बैंक-दर के पूरक के रूप में ही प्रयोग किया जाता था। वस्तुतः 1931 ई० में स्वर्ण-मान की समाप्ति के बाद से बैंक-दर के महत्त्व में कमी हो गयी तथा खुले बाजार की नीति का स्वतन्त्र रूप से प्रयोग किया जाने लगा।

खुले बाजार कार्यक्रम के अधिकाधिक प्रयोग एवं महत्त्व के कई कारण थे जिनमें निम्नांकित विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण हैं— (क) सर्वप्रथम तो प्रथम महायुद्ध एवं युद्धोत्तर काल में यह अनुभव हुआ कि इस तरीके की सहायता से सरकार के आर्थिक साधनों में पर्याप्त रूप से वृद्धि की जा सकती है। (ख) दूसरा कारण बैंक-दर के महत्त्व में ह्रास था जिसके परिणामस्वरूप साख-नियन्त्रण के एक नये एवं अधिक प्रभावपूर्ण तरीके की आवश्यकता जान पड़ने लगी। (ग) तीसरा कारण मुद्रा-बाजार में सरकारी प्रतिभूतियों की मात्रा में वृद्धि के कारण खुले बाजार कार्यक्रम के प्रयोग के क्षेत्र में वृद्धि था। (घ) युद्ध तथा युद्धोत्तर काल में सरकार की आवश्यकताओं में भी बहुत अधिक वृद्धि हुई जिससे मौद्रिक नीति के रूप में सस्ती मुद्रा-नीति (Cheap Money Policy) का समावेश हुआ। सस्ती मुद्रा-नीति के समावेश के समय इसका महत्त्व और भी बढ़ गया, क्योंकि बैंक-दर को निम्न स्तर पर स्थायी बनाने के लिए केन्द्रीय बैंक सरकारी प्रतिभूतियों को खरीद कर बैंक-मुद्रा का प्रसार करने लगे।

खुले बाजार की नीति का सिद्धांत

(Principle Underlying the Open Market Operations)

केन्द्रीय बैंक के साख-नियन्त्रण के साधन के रूप मे खुले बाजार की नीति का सिद्धात यह है कि केन्द्रीय बैंक देश मे प्रचलित मुद्रा की मात्रा मे वृद्धि या कमी के लिए मुद्रा बाजार मे प्रतिभूतियो का क्रय अथवा विक्रय करता है। प्रतिभूतियो के क्रय-विक्रय करने से व्यावसायिक बैंकों का नकद कोष प्रभावित होता है। इसका प्रभाव उनकी साख-सृजन की शक्ति पर भी पड़ता है। जब केन्द्रीय बैंक साख की मात्रा को कम करना चाहता है तो वह मुद्रा बाजार मे प्रतिभूतियों का विक्रय करने लगता है। प्रतिभूतियाँ व्यावसायिक बैंक अथवा जनता के लोग खरीदते हैं। दोनों हालतो मे बैंको का नकद कोष कम हो जाता है, क्योकि प्रतिभूतियो के मूल्य का भुगतान व्यावसायिक बैंकों के ऊपर चेक के द्वारा ही होता है। नकद कोष मे कमी होने से इनकी साख सृजन की शक्ति भी घट जाती हैं। अतएव सुरक्षा का ख्याल कर व्यावसायिक बैंक साख का सकुचन करने लगते हैं। इसके विपरीत, जब केन्द्रीय बैंक सरकारी प्रतिभूतियो का क्रय करता है तो इसके फलस्वरूप व्यावसायिक बैको के नकद कोष की मात्रा मे भी वृद्धि होती है जिससे उनके साख सृजन की शक्ति बढ जाती है। फलस्वरूप वे साख का अधिक प्रसार करते हैं।

इस प्रकार खुले बाजार की नीति द्वारा केन्द्रीय बैंक व्यावसायिक बैको के नकद कोष की मात्रा मे परिवर्तन लाकर उनके साख-सृजन की शक्ति को प्रभावित करता है। इससे सूद की दर भी प्रभावित होती है जिसके फलस्वरूप मूल्य, लागत एव उत्पादन सभी प्रभावित होते हैं। अतएव खुले बाजार की नीति साख-नियन्त्रण का एक प्रधान साधन है। किन्तु बैक-दर एव खुले-बाजार की नीति मे प्रधान अन्तर यह है कि जबकि बैंक-दर का साख एव मुद्रा पर अप्रत्यक्ष तरीके से प्रभाव पडता है, खुले बाजार कार्यक्रम का मुद्रा एव साख तथा सूद की दर पर प्रत्यक्ष एव तत्काल प्रभाव पडता है। इस प्रकार खुली बाजार नीति साख-नियन्त्रण का एक अधिक प्रत्यक्ष एव व्यापक तरीका है बशर्ते कि देश मे अल्पकालीन एव दीर्घकालीन प्रतिभूतियो के लिए एक सुविकसित मुद्रा-बाजार हो। (Open market operations represent, therefore, a more direct as well as a more comprehensive instrument of credit control, provided that there are broad and active market in the short and long term securities in which the Central Bank can legitimately deal)

खुली बाजार-नीति (Open market operation) तथा पुन. बट्टा करने (rediscounting) के परिणाम प्राय. भिन्न भिन्न होते हैं। व्यावसायिक बैंक अथवा बट्टा गृहो को पुन बट्टा की सुविधा केन्द्रीय बैंक, बैंक-दर (Bank-Rate) पर प्रदान करता है। इसके परिणामस्वरूप बाजार की सूद-दर भी प्राय बढ जाती है जिससे बैंक-मुद्रा का प्रसार रुक जाता है किन्तु खुली बाजार-नीति के अन्तर्गत सूद की दर मे वृद्धि किये बगैर ही केन्द्रीय बैंक व्यावसायिक बैंको के नकद कोष मे वृद्धि या कमी करते है।

खुले बाजार की नीति की सफलता की शर्तें

खुली बाजार-नीति का उद्देश्य केवल बैंक-मुद्रा अथवा साख का नियन्त्रण करना ही नहीं है, अपितु इसका उद्देश्य मूल्य-तल एव व्यावसायिक क्रियाशीलता को स्थायी बनाना (Stabilisation of price level and business activity) भी होता है। **अतएव इस कार्यक्रम की सफलता के लिए निम्नलिखित शर्तें अनिवार्य हैं—**

(1) खुली बाजार-नीति के परिणामस्वरूप चलन मे मुद्रा की मात्रा (Quantity of money in circulation) एव व्यावसायिक बैंको के नकद कोष (Cash reserves) मे उसी अनुपात मे अन्तर पडना चाहिए जिस अनुपात मे केन्द्रीय बैंक की खुली बाजार की नीति का उद्देश्य हो।

(2) व्यावसायिक बैंक अपने नकद कोष मे परिवर्तन के अनुरूप अपने ऋण तथा विनियोग मे परिवर्तन करने के लिए तैयार हो।

(3) बैंक-मुद्रा की मांग मे साख के आधार एव सूद की दर मे परिवर्तन के अनुरूप ही परिवर्तन होना चाहिए।

(4) प्रतिभूतियों की माग तथा पूर्ति सदा वर्त्तमान रहनी चाहिए--मुद्रा बाजार मे प्रतिभूतियो की माग तथा पूर्त्ति सदा वर्त्तमान नही रहने से केन्द्रीय वैक की खुली बाजार-नीति सफलतापूर्वक कार्य नहीं कर सकती।

(5) मुद्रा-बाजार पूर्णतः विकसित होना चाहिए— केन्द्रीय वैक की खुली बाजार-नीति तभी सफल हो सकती है जबकि देश में सुविकसित मुद्रा तथा पूंजी बाजार हो जिससे कि केन्द्रीय बैंक जब चाहे तभी अपनी प्रतिभूतियो का क्रय विक्रय कर सके।

खुले बाजार की नीति की सफलता के मार्ग मे कठिनाइयाँ--यद्यपि सामान्य रूप से उक्त उद्देश्यो मे इस प्रकार के सम्बन्ध की प्रवृत्ति पायी जाती है, **फिर भी खुली बाजार नीति की सफलता के मार्ग मे कई कठिनाइयाँ हैं जिनमे निम्नलिखित प्रमुख है**--

सर्वप्रथम तो कभी-कभी प्रतिकूल कारणों के चलते चलन की मात्रा एव व्यावसायिक बैंकों के नक्द कोष मे केन्द्रीय बैंक द्वारा प्रतिभूतियो के क्रय विक्रय के अनुपात मे परिवतन नही भी होता है। उदाहरण के लिए, पूंजी के वहिर्प्रवाह (Out-flow of capital) या अन्य कारणो से प्रतिकूल भुगतान सतुलन (Unfavourable Balance of Payments) या छुपा कर रखने (Hoarding) के लिए नोटो की माग आदि के कारण केन्द्रीय बैंक द्वारा प्रतिभूतियो के क्रय का बैंक मुद्रा के प्रसार पर बिल्कुल प्रभाव नही पड सकता। इसके ठीक विपरीत प्रतिभूतियो के विक्रय का प्रभाव अनुकूल भुगतान सतुलन (Favourable Balance of Payments) या छुपी हुई नोटो के चलन मे आने के कारण बिल्कुल प्रभावहीन हो सकता है। कभी कभी तो बैंक ऑफ इगलैंड अथवा फेडरल रिजर्व बैंक ने स्वर्ण अथवा पूंजी के अन्तर्प्रवाह अथवा वहिर्प्रवाह (Inflow and out flow) को प्रभावहीन बनाने के लिए इस नीति का उपयोग किया है। अतएव इस सम्बन्ध मे सबसे बडी कठिनाई यह है कि केन्द्रीय बैंक द्वारा इसके वास्तविक प्रभाव का पूरा अन्दाजा नही लगता।

दूसरी कठिनाई यह है कि व्यावसायिक बैंक भी अपने नक्द कोष की मात्रा मे परिवर्तन के अनुसार अपने जमा अथवा साख मे परिवर्तन नहीं करते हैं। अतएव, नक्द कोष मे परिवर्तन के फलस्वरूप साख की मात्रा मे समानुपातिक परिवर्तन नही होता है। बहुत सी मौद्रिक, आर्थिक एव राजनीतिक परिस्थितियो के परिणामस्वरूप व्यावसायिक बैंक बढी हुई नक्द मुद्रा का पूर्ण रूप से उपयोग नही करते या जब इनका कोष कम हो जाता है तो साख मे कमी नहीं करते। इस प्रकार ऐसी स्थिति मे केन्द्रीय बैंक की खुली-बाजार नीति बहुधा असफल सिद्ध हो जाती है।

किन्तु, केवल व्यावसायिक बैंक ही कभी-कभी अपने बढे हुए नक्द कोष का पूर्ण रूप से उपयोग नही करते, वरन यदा-कदा ऐसा भी होता है कि उत्सुक तथा योग्य ऋण (Willing and deserving borrowers) की भी कमी रहती है। उदाहरण के लिए, राजनीतिक अथवा आर्थिक अनिश्चितता के समय साहसी जोखिम उठाने के लिए तैयार नही होते। अतएव ऐसी स्थिति मे साधारण सूद की दर पर भी ये ऋण लेने के लिए तैयार नहीं होते। मन्दी के समय भी यदि केन्द्रीय बैंक इस नीति के सहारे बैंको के कोष मे प्रसार कर बैंक मुद्रा की मात्रा मे वृद्धि करना चाहें तो बैंक मुद्रा की माग मे कमी के कारण इस प्रसार मे निश्चय ही बहुत कठिनाई होगी।

खुले बाजार की नीति का क्षेत्र
(Scope of Open Market Operations)

केन्द्रीय बैंक की खुले बाजार नीति का कहां तक इन प्रतिगामी कारणों के विरुद्ध प्रयोग किया जा सकता है, इस सम्बन्ध मे अर्थशास्त्रियो मे मतभेद है। हॉट्रे (Hawtrey) के अनुसार केन्द्रीय बैंक इस नीति के द्वारा गैर-मौद्रिक कारणो को प्रभावहीन बना सकता है, किन्तु इनके अनुसार खुली बाजार-नीति का प्रयोग बैंक दर के साथ होना चाहिये। दूसरी ओर केन्स (Keynes) तथा अन्य अर्थशास्त्री इस विचार के हैं कि यदि खुली बाजार नीति का सावधानी-पूर्वक वृहत तरीके से प्रयोग किया जाय तो यह बैंक दर के बगैर भी अपेक्षित सफलता हासिल कर सकती है बशर्ते कि राज्य की विनियोग नीति अथवा सार्वजनिक कार्यों को इसके पूरक के रूप मे प्रयोग किया जाय। (Open Market Operations, undertaken extensively and skillfully

could achieve the purpose without a discount rate policy if they were supplemented by State organisation of investment or failing this compensatory planning of public works.)

खुली-बाजार-नीति के व्यापक प्रयोग के लिए अल्पकालीन एवं दीर्घकालीन सरकारी प्रतिभूतियों का विस्तृत बाजार होना अति आवश्यक है। साथ ही, जिन सरकारी प्रतिभूतियों के आधार पर केन्द्रीय बैंक खुली बाजार की नीति का अनुकरण करता है उनका देश के वित्तीय संगठन में केन्द्रीय स्थान होना चाहिये। अभी तक विश्व में लन्दन तथा न्यूयार्क ही ऐसे केन्द्र हैं जहाँ पर यह बात पायी जाती है। यही कारण है कि इस तरीके का सफलतापूर्वक एवं बड़े पैमाने पर प्रयोग केवल बैंक ऑफ इंगलैंड तथा अमेरिका के फेडरल रिजर्व बैंक द्वारा ही किया जा सकता है। इस प्रकार किसी देश में खुली-बाजार-नीति के प्रयोग की सीमा उस समय वहाँ की आर्थिक, राजनीतिक एवं सामाजिक परिस्थितियों, वहाँ के लोगों की प्रकृति, बैंकिंग व्यवस्था की बनावट, केन्द्रीय बैंक के अनुभव, योग्यता एवं इज्जत, सार्वजनिक वित्त की स्थिति, केन्द्रीय बैंक तथा व्यावसायिक बैंकों में सहयोग की मात्रा तथा प्रतिभूतियों के बाजार के विस्तार आदि पर निर्भर करती है।

बैंक ऑफ इंगलैंड की खुली-बाजार-नीति (Open Market Operations of the Bank of England :—1918 ई० से अब तक बैंक ऑफ इंगलैंड की खुली-बाजार नीति के प्रयोग के निम्नलिखित उद्देश्य रहे हैं :—

(1) बैंक दर को प्रभावशाली बनाना या बैंक दर में परिवर्तन के लिए वातावरण तैयार करना :— बैंक ऑफ इंगलैंड जब बैंक मुद्रा में कमी लाने की नीति को अपनाता है तो इसके लिए वह बैंक-दर में वृद्धि कर उसे अधिक प्रभावपूर्ण बनाना चाहता है। इस उद्देश्य से वह मुद्रा-बाजार में बिलों को बेचता है जिससे बैंकों के नकद कोष में कमी आ जाती है। इससे व्यावसायिक बैंक अपने कोष की पूर्ति के लिए मुद्रा-बाजार में दिये गये अल्पकालीन ऋण को वापस लेते हैं। इससे मुद्रा बाजार में मुद्रा की कमी हो जाती है जिससे बाध्य होकर बट्टा गृहों को बैंक ऑफ इंगलैण्ड की शरण लेनी पड़ती है। बैंक ऑफ इंगलैण्ड (Bank of England) इन्हें बैंक दर पर सहायता देता है जो बाजार दर से अधिक होती है। इस प्रकार बजार-दर अधिक हो जाती है।

(2) सरकारी कोष के प्रवाह, विशेषतः मौसमी प्रवाह (Seasonal movement) से मुद्रा बाजार में उत्पन्न अव्यवस्था को रोकना — सरकारी कोष में मौसमी प्रवाह को प्रभावहीन बनाने के लिए बैंक ऑफ इंगलैण्ड प्रत्येक दिसम्बर में जब क्रिसमस के लिए नकद मुद्रा की माँग बहुत बढ़ जाती है, सरकारी प्रतिभूतियों को खरीदकर बैंकों के कोष में वृद्धि करता है तथा पुनः जनवरी में इन्हें बेच कर नोटों की मात्रा को कम करता है। इस प्रकार इसे चुकाने के मौसम में भी बैंक इस प्रकार की प्रतिभूतियों के क्रय विक्रय द्वारा मुद्रा बाजार में सरकारी कोष के प्रवाह से होनेवाली अव्यवस्था को रोकता है।

(3) स्वर्ण के अन्तर्वाह (In flow) अथवा बहिर्वाह (out-flow) को रोकना :— स्वर्ण अथवा पूँजी के प्रवाह को प्रभावहीन बनाने के लिए भी बैंक इस नीति का प्रयोग करता है। जब दूसरे देश से स्वर्ण अथवा पूँजी देश में आने लगती है तो इससे बैंकों के कोष में वृद्धि होती है। जिससे मुद्रा प्रसार को प्रोत्साहन मिलता है। इसके विपरीत स्वर्ण अथवा पूँजी बाहर जाने से मुद्रा की राशि में कमी होती है जिससे मुद्रा-संकुचन की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिलता है। अतएव देश की मौद्रिक-व्यवस्था को इसके प्रभाव से मुक्त करने के लिए भी बैंक ऑफ इंगलैंड खुले बाजार की नीति का अनुसरण करता है।

(4) सरकार की ऋण नीति को पुष्टि करना :— युद्ध आदि के समय सरकार को विशेष रूप से अतिरिक्त साधनों की आवश्यकता पड़ती है जिससे वह प्रतिभूतियों के आधार पर बाजार से ऋण लेती है। अतएव ऐसी स्थिति में बैंक ऑफ इंगलैण्ड सरकार की ऋण-सम्बन्धी नीति को प्रोत्साहित करने के लिए खुली बाजार नीति के द्वारा अनुकूल वातावरण तैयार करता है। बैंक ऑफ इंगलैण्ड प्रतिभूतियों को खरीदकर बैंक के कोष में वृद्धि करता है जिससे बैंकों को अधिक ऋण देने के लिए प्रोत्साहन मिलता है।

(5) उद्योग एव वाणिज्य को प्रोत्साहित करने अथवा युद्ध के लिए सस्ती मुद्रा नीति की स्थिति को कायम करने के लिए।—सस्ती मुद्रा नीति का समावेश 1929-32 ई० की भयानक आर्थिक मन्दी के बाद हुआ है। इस मुद्रा नीति की सफलता के लिए भी बैंक ऑफ इंगलैण्ड खुले बाजार कार्यक्रम के द्वारा मुद्रा प्रसार की स्थिति को बनाए रखने का प्रयास करता है। बैंक ऑफ इंगलैण्ड (Bank of England) से जनता सरकारी प्रतिभूतियों को खरीद कर मुद्रा प्रसार की नीति को सफल बनाती है।

फेडरल रिजर्व प्रणाली की खुली बाजार नीति (Open Market Operations of the Federal Reserve System) —संयुक्त राज्य अमेरिका मे फेडरल रिजर्व बैंको ने निम्नलिखित उद्देश्यो की पूर्ति के लिए खुली-बाजार नीति का प्रयोग किया है :—

(i) बैंक-दर को प्रभावशाली बनाने अथवा इसमे परिवर्तन लाने के लिए अनुकूल वातावरण की सृष्टि करने के लिए।—अमेरिका मे खुली बाजार की नीति का प्रयोग बहुत ही विस्तारपूर्वक किया गया है। वहाँ पर इस नीति के उद्देश्य एवं क्षेत्र भी बहुत अधिक व्यापक रहे हैं। इगलण्ड मे बैंक ऑफ इगलैण्ड मुद्रा बाजार मे बिलो के क्रय विक्रय के द्वारा अल्पकालीन सूद दर को प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करता है। परन्तु दीर्घकालीन पूँजी-बाजार की दर पर इसका अप्रत्यक्ष रूप से ही प्रभाव पडता है, किन्तु अमेरिका मे Federal Reserve System मुद्रा बाजार एव पूँजी-बाजार मे प्रतिभूतियो (Securities) के क्रय-विक्रय द्वारा दोनो प्रकार की दरों को प्रत्यक्ष रूप मे प्रभावित करता है। जब Federal Reserve System बाजार की सूद की दर को बढाना चाहता है तो इस उद्देश्य से वह मुद्रा की कमी की सृष्टि करता है जिसके लिए वह बिलो को बेचता है और जब बाजार-दर मे वृद्धि हो जाती है तो बैंक-दर को भी अन्त मे बढा दिया जाता है।

(ii) सरकारी कोष के प्रवाह से उत्पन्न मौद्रिक अव्यवस्था को रोकने के लिए :— इस सम्बन्ध मे बैंक ऑफ इगलैंड (Bank of England) एव फेडरल रिजर्व सिस्टम (Federal Reserve System) के कार्य प्राय एक समान हैं।

(iii) स्वर्ण एव अन्तर्राष्ट्रीय पूँजी के प्रवाह (Flow) से मुद्रा-व्यवस्था को अक्षुण्ण बनाने के लिए भी बैंक ऑफ इगलैण्ड की ही तरह फेडरल रिजर्व सिस्टम भी खुली-बाजार की नीति का प्रयोग करता है।

(iv) आर्थिक स्थायित्व कायम रखने के लिए —जब मूल्य तल की प्रवृत्ति नीचे की ओर जाने की होती है एव मन्दी की स्थिति की शुरुआत हो रही है तो इसे रोकने के लिए फेडरल रिजर्व बैंक बाजार मे बिलो को खरीद कर मुद्रा-प्रसार करते हैं और सूद की दर को निम्न स्तर पर कायम रखकर उत्पादन एव विनियोग को प्रोत्साहित करते हैं। इसके विपरीत अधि-स्फीति की प्रवृत्ति के प्रारम्भ मे ये बिलो को बेचकर मुद्रा मे कमी लाकर उसे रोकने का प्रयत्न करते हैं।

इस प्रकार अमेरिका मे खुली-बाजार नीति ज्यादा व्यापक रूप मे प्रयुक्त हो रही है क्योकि वहाँ इसका उद्देश्य व्यापार चक्र विरोधी (anti cyclical) हो गया है। वहाँ के सभी रिजर्व बैंक एक ही समान नीति का अनुसरण करते हैं क्योंकि Open Market Committee के संरक्षण में उनके कार्यों मे एकरूपता रखने की कोशिश की जाती है।

रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया की खुली बाजार-नीति (Open Market Operations of the Reserve Bank of India) :—भारतीय रिजर्व बैंक खुली-बाजार-नीति का प्रयोग बैंक दर को प्रभावपूर्ण बनाने अथवा बैंक-दर और बाजार-दर के अन्तर को कम करने के लिए करते आया है। द्वितीय विश्व-युद्ध के पूर्व रिजर्व बैंक इस नीति का बहुत ही कम प्रयोग करता था, किन्तु युद्ध एव युद्धोत्तरकाल मे बैंक की खुली-बाजार-नीति का प्रयोग अधिक महत्त्वपूर्ण हो गया है। उस समय से बैंक की इस नीति का प्रधान उद्देश्य सरकारी ऋण के लिए समुचित वातावरण तैयार करना था। युद्ध के बाद साख के प्रसार के लिए बैंक ने प्रतिभूतियो को खरीदना प्रारम्भ कर दिया, परन्तु 1957 ई० के मध्य से पुन. बैंक ने प्रतिभूतियो को बेचना भी प्रारम्भ कर दिया है।

किन्तु, भारत मे अभी संगठित मुद्रा एव बिल-बाजार के अभाव मे इस नीति को सफलतापूर्वक कार्यान्वित करने में बहुत अधिक कठिनाई होती है।

बैंको के नकद कोष के अनुपात में परिवर्तन
(Variations in the Cash Reserve Ratio)

साख-नियन्त्रण के इस साधन का सर्वप्रथम 1933 ई० मे सयुक्त राज्य अमेरिका मे प्रयोग किया गया था। आजकल तो यह साख नियन्त्रण का एक प्रधान साधन हो गया है तथा विश्व के प्राय. सभी देशो मे केन्द्रीय बैंक साख नियन्त्रण के इस तरीके का प्रयोग करते हैं।

आजकल व्यावसायिक बैंको को प्राय सभी देशो मे अपने कुल जमा का एक निश्चित *प्रतिशत भाग केन्द्रीय बैंक के पास सुरक्षित कोष (Reserve Fund) के रूप मे रखना पड़ता है।* इसके बाद जो रकम बैंक के पास शेष नकद कोष (Cash Reserve) के रूप मे रह जाती है उसी के *आधार पर ये साख के सृजन का कार्य करते हैं।* बहुत-सारे देशो मे इस प्रकार की कानूनी व्यवस्था है जिसके अनुसार व्यावसायिक बैंको को अपने कुल जमा दायित्व का एक निश्चित प्रतिशत भाग नकद कोष के रूप मे केन्द्रीय बैंक के पास जमा रखना पडता है। उदाहरण के लिए, 1970 ई० से अमेरिका मे सदस्य बैंको को अपने कुल चालू जमा (Demand Deposit) का बडे-बडे नगरो मे 17½ प्रतिशत तथा छोटे-छोटे नगरो मे 13 प्रतिशत भाग बैंको की स्थिति के अनुसार तथा स्थायी जमा (Time Deposit) का 6 प्रतिशत भाग नकद जमा के रूप में फेडरल रिजर्व बैंक के पास रखना पड़ता है। भारत मे भी व्यावसायिक बैंको को पहले अपने चालू जमा (Demand Deposit) का 5 प्रतिशत एव स्थायी जमा (Time Deposit) का 2 प्रतिशत रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया के पास नकद कोष के रूप मे जमा रखना पडता था, किन्तु 1962 ई० के सशोधन के अनुसार अब सभी अनुसूचित बैंको को अपने कुल जमा दायित्व का औसत रूप से 3 प्रतिशत भाग रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया के पास नकद मुद्रा के रूप मे जमा करना पडता है।

केन्द्रीय बैंक व्यावसायिक बैंको के सुरक्षित कोष के अनुपात मे परिवर्तन लाकर देश मे साख की मात्रा मे आवश्यकतानुसार परिवर्तन कर सकता है। जब केन्द्रीय बैंक व्यावसायिक बैंको के रक्षित कोष के अनुपात मे वृद्धि करता है, तो इससे बैंको को केन्द्रीय बैंक के पास अधिक रकम जमा करनी पडती है जिससे इनके नकद कोष की मात्रा कम हो जाती है और नकद कोष मे कमी के कारण इनके साख-नियन्त्रण शक्ति भी घट जाती है। इसके विपरीत, जब केन्द्रीय बैंक इस वैधानिक अनुपात को घटा देता है तो व्यावसायिक बैंको को कम ही सुरक्षित कोष रखना पडता है जिससे इनके नकद कोष की मात्रा बढजाती है और इसके परिणामस्वरूप इनकी साख-नियन्त्रण की शक्ति भी बढ जाती है। इस प्रकार केन्द्रीय बैंक इस तरीके को अपनाकर भी साख का नियन्त्रण करता है।

बैंको के नकद कोष के अनुपात मे परिवर्तन का प्रयोग सर्वप्रथम सयुक्त राज्य अमेरिका मे किया गया, वहाँ 1933 ई० के फेडरल रिजर्व ऐक्ट मे एक सशोधन के अनुसार फेडरल रिजर्व बोर्ड को यह अधिकार दिया गया कि वह सकटकाल मे प्रेसिडेन्ट की अनुमति लेकर सदस्य बैंको के नकद-कोष के अनुपात मे परिवर्तन ला सकता है। 1935 ई० के बैंकिंग ऐक्ट के अनुसार फेडरल रिजर्व बोर्ड के इस अधिकार को स्थायी बना दिया गया जिसके अनुसार प्रेसिडेंट की अनुमति के बगैर ही निश्चित सीमाओ के अन्दर यह सदस्य बैंकों के नकद-कोष के अनुपात मे परिवर्तन कर सकता है। इसकी सीमाएँ इस प्रकार थी—1917 ई० के कानून के अनुसार नकद-कोष का अनुपात जो निश्चित हुआ था उसे न्यूनतम कोष समझा गया। उसमे परिवर्तन उसके दुगुना तक ही सकता है। साथ ही, बोर्ड इसका प्रयोग सभी बैंको के साथ समान रूप से करेगा। विभिन्न बैंकों के कोषो को भिन्न-भिन्न रूपो मे नही बदला जा सकता है। साथ ही, इस शक्ति का उपयोग फेडरल रिजर्व बोर्ड हानिकारक मुद्रा प्रसार या मुद्रा-सकुचन को रोकने के लिए ही करेंगे।

इस प्रकार के अधिकार केन्द्रीय बैंको को अन्य देशो मे भी दिये गये हैं। किन्तु बैंको की इस नीति की सफलता इस बात पर निर्भर करती है कि व्यावसायिक बैंक सदा अपनी जमा-राशि मे नकद कोष के अनुपात मे परिवर्तन करने के लिए तैयार हो। किन्तु कभी-कभी व्यावसायिक बैंक ऐसा नही करते। उदाहरण के लिए, तेजी के समय अत्यधिक मुनाफे के लोभ से नकद-कोष कम

1. 29 जून, 1973 को नकद जमा के प्रतिशत को 3 प्रतिशत से बढाकर 5 प्रतिशत तथा 22 सितम्बर, 1973 से 7 प्रतिशत कर दिया गया। इस अतिरिक्त जमा की रकम को कम-से कम एक वर्ष के लिए रखना पडेगा तथा इसपर रिजर्व बैंक 4·75 प्रतिशत वार्षिक ब्याज चुकायगा- R B I. Bulletins

रहने पर भी बैंक अधिक साख का सृजन करते हैं। इसके विपरीत मन्दी मे नकद कोष की मात्रा बढने पर भी वे अपनी जमा की राशि मे कोई वृद्धि नही करते। इतना होने पर भी यह कहा जा सकता है कि साख-नियन्त्रण के साधन के रूप में यह तरीका बैंक दर तथा खुले-बाजार की नीति की अपेक्षा अधिक प्रत्यक्ष एवं प्रभावपूर्ण है, किन्तु इसका प्रयोग केवल असाधारण समय मे ही होना चाहिए।

विशेष अध्ययन-सूची

1. De Kock : Central Banking, Chapters, XI & XII.
2. Sayers : Modern Banking, Chapter V.
3. R. B. I. : Reserve Bank of India : Functions & Working,

अध्याय : 26

गुणात्मक नियंत्रण के तरीके

(Methods of Qualitative or Selective Credit Control)

गुणात्मक नियन्त्रण का अर्थ एव उद्देश्य (Meaning and Objectives of Qualitative Control) :—साख-नियन्त्रण के जिन तरीको [बैंक दर, खुले बाजार की नीति तथा नक्द-कोष के अनुपात मे परिवर्तन] की पिछले दो अध्यायो मे व्याख्या की गयी है। वे परिमाणात्मक नियत्रण (Quantitative Control) के तरीके हैं जिनका उद्देश्य साख के परिमाण को नियत्रित करना है। पिछले प्राय 100 वर्षों से साख नियन्त्रण के इसी पक्ष की प्रधानता रही है। किन्तु साख-नियन्त्रण का एक दूसरा पक्ष भी है वह है गुणात्मक नियन्त्रण (Qualitative or Selective Control)। महान् आर्थिक मदी के बाद से विश्व मे साख-नियत्रण के इस तरीके का प्रयोग किया जा रहा है। **"किसी निश्चित उद्देश्य अथवा आर्थिक जीवन की किसी विशेष शाख के लिए साख का नियन्त्रण गुणात्मक नियन्त्रण कहा जाता है।"** (The regulation of credit for specific purposes or branches of economic activity is termed as qualitative or selective credit control) गुणात्मक साख-नियन्त्रण का आधार यह है कि कभी कभी स्वस्थ साख की स्थिति मे किसी खास कार्य के लिए साख प्राप्त करना इतना सुगम हो जाता है कि उस विशेष क्षेत्र मे साख का अनुचित प्रसार हो जाता है अथवा परिकल्पना-सम्बन्धी क्रियाओ की अधिकता हो जाती है जिससे सम्पूर्ण आर्थिक व्यवस्था का स्थायित्व ही खतरे मे आ जाता है। ऐसी स्थिति मे सामान्य रूप से साख का नियन्त्रण अनुचित होता है, किन्तु उस विशेष दिशा मे साख के प्रसार पर नियन्त्रण अधिक अनिवार्य हो जाता है। (The basis of qualitative control is that, consistently with a general credit situation appropriate to a healthy economic system, credit may be so easy to obtain for some purposes that demand expands unduly in particular directions, or speculative activities are over-excited and endanger the stability of the whole economy A general restriction of credit in such circumstances is undesirable, yet something must be done in particular directions) कभी-कभी मुद्रा-प्रसार की स्थिति मे जब सामान्य परिमाणात्मक नियन्त्रण शीघ्रतापूर्वक अथवा पर्याप्त जोर के साथ काम नहीं कर सकता है, तो गुणात्मक नियन्त्रण के तरीको को इसके पूरक के रूप मे भी अपनाया जाता है।

इस प्रकार साख-नियन्त्रण के गुणात्मक तरीको का महत्त्व दिन प्रति-दिन बढता जा रहा है। इनका प्रधान उद्देश्य उचित एव अपेक्षित आर्थिक क्रियाओ को प्रोत्साहित तथा अनुचित आर्थिक क्रियाओ को हतोत्साहित करना होता है। उचित एव अनुचित क्रियाओ का आधार स्थायी नही होकर देश की आर्थिक एव राजनीतिक स्थिति के अनुसार बदलते रहता है। वास्तव मे, 1929-32 ई० की महान् आर्थिक मन्दी के बाद विश्व के अधिकाश देश योजनाकरण के आधार पर अपने आर्थिक विकास मे लगे हुए हैं। आयोजित आर्थिक व्यवस्था (Planned economy) मे साख-नियन्त्रण के इस तरीके का महत्त्व बहुत बढ जाता है।

गुणात्मक नियत्रण के विभिन्न तरीके

(Different Methods of Selective or Qualitative Credit Control)

अतएव आजकल विभिन्न देशो मे केन्द्रीय बैंक गुणात्मक नियन्त्रण के तरीको का स्वतन्त्र रूप से या परिमाणात्मक तरीको के पूरक के रूप मे प्रयोग करते हैं। वास्तव मे, गत कुछ वर्षों के अनुभव से यह स्पष्ट हो गया है कि परिमाणात्मक नियन्त्रण के तरीको के साथ-साथ प्रयोग करने पर गुणात्मक नियन्त्रण के तरीके अधिक प्रभावपूर्ण एव सफल सिद्ध होते हैं।

साख के गुणात्मक नियन्त्रण के निम्नांकित प्रधान तरीके हैं :—

(1) साख की रैशनिंग (Credit rationing);
(2) प्रत्यक्ष तरीका (Direct action),

(3) नैतिक दबाव (Moral persuasion);
(4) उपभोक्ता की साख का नियन्त्रण (Regulation of Consumer's credit);
(5) प्रचार (Publicity); तथा
(6) शेयर बाजार के ऋण की सीमा को निर्धारित करना (Changes in the marginal requirements of stock market loans)।

अब इन तरीकों का पृथक्-पृथक् निम्न विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है :—

1. साख की रैशनिंग
(Credit Rationing)

साख की रैशनिंग गुणात्मक नियन्त्रण का प्रधान तरीका है। इस तरीके को अपनाने से केन्द्रीय बैंक का देश की बैंकिंग व्यवस्था पर अधिकार बढ़ जाता है। यह सर्वविदित है कि केन्द्रीय बैंक देश के व्यावसायिक बैंकों तथा मुद्रा-बाजार की संस्थाओं के अन्तिम ऋणदाता (Lender of the last resort) के रूप मे कार्य करता है। अन्तिम ऋणदाता के रूप मे केन्द्रीय बैंक जब अन्य बैंकों की माग को पूर्ण रूप से पूरा नही कर इसका राशन कर दे या उधार दी जानेवाली रकम पर कुछ प्रतिबन्ध लगाये तब बैंकों की ऋण प्रदान करने की राशि कम हो जाने से उनकी साख सृजन की शक्ति भी कम हो जाती है। केन्द्रीय बैंक की इस नीति को साख की रैशनिंग (Credit Rationing) कहते हैं। **साख की रैशनिंग केन्द्रीय बैंक निम्नलिखित तरीकों से कर सकता है :—**

(i) किसी बैंक के पुनः भुनाने (rediscounting) की सुविधा को बिल्कुल समाप्त कर, या
(ii) किसी बैंक के पुनः भुनाने की सीमा को नियन्त्रित कर (restricting the rediscount limit), या
(iii) विभिन्न बैंक द्वारा विभिन्न उद्योगों को दिये जाने वाले साख के अभ्यंश (quota) को निश्चित करके।

साख की रैशनिंग की नीति सर्वप्रथम तो उस समय प्रयोग मे लायी जाती है जबकि देश की आर्थिक व्यवस्था आर्थिक नियोजन के आधार पर संगठित रहती है जिससे उत्पादन, बचत एवं विनियोग आदि पर राज्य का नियन्त्रण रहता है। आर्थिक नियोजन की नीति मे विभिन्न उद्योगों को उनके महत्त्व के अनुसार प्रोत्साहन दिया जाता है। अतः केन्द्रीय बैंक इस स्थिति मे अन्य बैंकों को यह आदेश देता है कि वे योजना अधिकारियों द्वारा निर्धारित उद्योगों के महत्त्व के अनुसार ही इन्हें साख प्रदान करें। इस प्रकार के आदेश का मुख्य उद्देश्य आवश्यक उद्योगों को ऋण आदि के रूप मे प्रोत्साहन देकर उनके विकास को प्रोत्साहित करना होता है, जिससे देश मे सुव्यवस्थित साख-व्यवस्था का निर्माण हो सके। द्वितीयतः, युद्ध के समय भी युद्ध सम्बन्धी उद्योगों को प्रोत्साहन देने के लिए केन्द्रीय बैंक साख की रैशनिंग करता है।

साख-नियन्त्रण के साधन के रूप मे साख की रैशनिंग का तरीका अन्य तरीकों से अधिक प्रत्यक्ष एवं प्रभावपूर्ण होता है। अतः इसके प्रयोग द्वारा मौद्रिक नीति को अधिक प्रभावपूर्ण बनाया जा सकता है। किन्तु इस नीति को कार्यान्वित करने मे केन्द्रीय बैंक को निम्नांकित कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है :—

(1) सर्वप्रथम, तो उसे विभिन्न उद्योगों की साख-सम्बन्धी आवश्यकताओं का अनुमान लगाकर उसी आधार पर विभिन्न बैंकों को साख सृजन का आदेश देना पड़ता है।
(2) सभी बैंकों के लिए, यदा-कदा, अलग अलग कोटा निर्धारित करना पड़ता है।
(3) इससे व्यावसायिक बैंकों की स्वतन्त्रता समाप्त हो जाती है क्योंकि वे केवल पूर्व निश्चित मदों मे ही रुपया उधार दे सकते हैं।
(4) इसके अन्तर्गत व्यापार की उन्नति साख मुद्रा की मात्रा से सीमित हो जाती है।
(5) अन्ततः, प्रजातान्त्रिक देशों मे इस रीति के प्रयोग मे कठिनाई भी होती है, क्योंकि ऐसे देश मे आर्थिक व्यवस्था का एक महत्त्वपूर्ण भाग अनियन्त्रित रहता है। यही

कारण है कि इगलैंड आदि देशो मे यह तरीका उतनी सफलतापूर्वक कार्य नहीं कर पाया है।

2. प्रत्यक्ष तरीका
(Direct Action)

केन्द्रीय बैंक कभी-कभी साख नियन्त्रण के साधन के रूप मे प्रत्यक्ष तरीके (Direct Action) का भी प्रयोग करता है। इसके अनुसार केन्द्रीय बैंक व्यावसायिक बैंको को अपनी नीति का अनुसरण करने के लिए बाध्य करता है। जो बैंक केन्द्रीय बैंक द्वारा निर्धारित नीति के विरुद्ध कार्य करते हैं उनके विरुद्ध केन्द्रीय बैंक सीधी कार्रवाई (Direct Action) करता है जिसके अनुसार यह इन बैंको को पुन भुगतान (Rediscounting) की सुविधा देना बन्द कर देता है या यदि कोई बैंक केन्द्रीय बैंक से बहुत अधिक परिमाण म सहायता लेना है तो केन्द्रीय बैंक उसे पुन भुगतान की सुविधा देना बन्द कर देता है या यदि पुन भुगतान की सुविधा देता भी है तो बैंक दर (Bank Rate) स ऊँची दर पर ही देता है। इन सब कार्यवाहियो के परिणामस्वरूप व्यावसायिक बैंको को बाध्य होकर केन्द्रीय बैंक की नीति का अनुसरण करना पडता है, किन्तु इस नीति की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि

(क) केन्द्रीय बैंक को पर्याप्त मात्रा मे शक्ति होनी चाहिए,
(ख) मुद्रा-बाजार मे उसका पूरा नेतृत्व हो, एवं
(ग) अन्य बैंको के साथ सहयोग का वातावरण कायम हो।

सयुक्त राज्य अमेरिका के फेडरल रिजर्व सिस्टम को इस सम्बन्ध मे बहुत विस्तृत अधिकार दिये गये हैं। वहाँ इस तरीके का बहुत व्यापक रूप से प्रयोग किया गया है। फेडरल रिजर्व बोर्ड प्रत्येक सदस्य बैंक की सम्पत्ति (a sets' एव दायित्व (liabilities) की स्थिति की जाँच के बाद यदि किसी बैंक की नीति को देश के आर्थिक हित के लिए हानिकारक समझता है तो उसके विरुद्ध प्रत्यक्ष तरीके का प्रयोग कर सकता है। 1945 ई० में बैंक ऑफ इगलैंड को भी इस प्रकार का अधिकार दिया गया था कि वह ट्रेजरी (Treasury) की अनुमति से किसी बैंक की स्थिति के सम्बन्ध मे जांच कर सकता है। भारतीय बैंकिंग कम्पनीज विधान, 1949 ई० (Indian Banking Companies Act, 1949) के अनुसार रिजर्व बैंक को भी अन्य बैंकों की स्थिति की जांच कर इन्हें अनुकूल नीति के अनुसरण का आदेश देने का अधिकार मिला है।

किन्तु गुणात्मक नियन्त्रण के लिए प्रत्यक्ष कार्य का तरीका सतोषजनक एव प्रभावपूर्ण नहीं है। इसके निम्नांकित प्रधान कारण हैं :—

(1) इसमे शक्ति (force) की मात्रा निहित होने के कारण बहुधा इसका परिणाम अनुकूल नहीं होता।
(2) व्यावसायिक बैंक भी साख के वास्तविक प्रयोग के सम्बन्ध मे बहुधा अनभिज्ञ रहते हैं तथा आवश्यक एव कम आवश्यक उद्योगो मे अन्तर नही कर सकते।
(3) अनुचित नियन्त्रण एव हस्तक्षेप के कारण व्यावसायिक बैको का पूर्ण एव ऐच्छिक सहयोग मिलना भी बन्द हो जाता है।

अत. प्रत्यक्ष तरीके की नीति का प्रयोग केवल असाधारण परिस्थितियों के अन्तर्गत ही किया जाना चाहिए।

3. नैतिक दबाव
(Moral Suasion)

नैतिक दबाव भी गुणात्मक नियन्त्रण का एक प्रधान तरीका है। इस नीति के अनुसार केन्द्रीय बैंक व्यावसायिक बैंको की स्थिति की जाँच के बाद उन्हें अनुकूल परामर्श देता है। इस प्रकार यह भी प्रत्यक्ष कार्यवाही से बहुत कुछ मिलता-जुलता है। अन्तर केवल इतना ही है कि इसमें शक्ति (force) का प्रयोग नही होता, अतएव केन्द्रीय एव अन्य बैंको के बीच सद्भावना बनी रहती है। नैतिक दबाव के प्रयोग से केन्द्रीय बैंक सुगमतापूर्वक व्यावसायिक बैंकों का ऐच्छिक एवं सक्रिय सहयोग प्राप्त करने मे समर्थ होता है, जो केन्द्रीय बैंक की नीति की सफलता के लिए बहुत ही आवश्यक है।

इस प्रकार नैतिक दबाव की नीति की सफलता निम्नलिखित बातो पर निर्भर करती है —

(i) केन्द्रीय बैंक का मुद्रा-बाजार एव व्यावसायिक बैंको पर पूरा पूरा अधिकार होना चाहिए,

(ii) उसे इस सम्बन्ध मे पर्याप्त अधिकार प्राप्त होना चाहिए,

(iii) देश मे सुविकसित एव सुसगठित मुद्रा-बाजार होना चाहिए, तथा

(iv) केन्द्रीय बैंक एवं अन्य बैंको के बीच सहयोग एव सद्भावना का वातावरण होना चाहिए।

साख नियन्त्रण के रूप मे इस साधन का प्रयोग अधिकाश केन्द्रीय बैंको द्वारा किया जाता है। ग्रेट-ब्रिटेन, फ्रास, जर्मनी तथा स्विडेन आदि देशो मे केन्द्रीय बैंको को इस तरीके के उपयोग मे बहुत अधिक सुविधा होती है। इन देशो मे केन्द्रीय बैंक को बैंकिंग एवं मौद्रिक व्यवस्था का समझने की प्रया-सी हो गयी है जिससे इन देशो मे केन्द्रीय बैंक का बैंकिंग व्यवस्था पर बहुत अधिक प्रभाव पडता है। किन्तु सयुक्त राज्य अमेरिका मे बैंको की सख्या अधिक होने के कारण इस नीति के कार्यान्वयन मे कठिनाई होती है। भारत मे भी रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया ने नैतिक दबाव (Moral suasion) का प्रयोग किया है। उदाहरण के लिए, सितम्बर, 1949 ई० मे भारतीय रुपये के अवमूल्यन (Devaluation of the Indian Rupee) के बाद रिजर्व बैंक के गवर्नर ने देश के प्रमुख बैंकरो की एक बैठक मे इस बात की सिफारिश की थी कि उन्हें परिकल्पना-सम्बन्धी कार्यों के लिए उधार देना बन्द कर देना चाहिए। इसी प्रकार जून, 1957 ई० मे भी रिजर्व बैंक ने सभी व्यावसायिक बैंको को उद्योगो को दी जानेवाली सहायता मे किसी प्रकार की कमी लाये बगैर अग्रिम (Advances) की मात्रा को कम करने पर जोर दिया था। इस उद्देश्य से बैंको को कृषि-पदार्थों की जमानत पर ऋण देने से मना किया गया था।

किन्तु साख-नियन्त्रण के साधन के रूप मे नैतिक दबाव की नीति को सदा अपेक्षित सफलता नहीं प्राप्त होती है। क्लार्क (Clark) के निम्नाकित कथन से यह स्पष्ट है - "Persuasion as a means of credit control has not been successful. It is true that it may exercise a restraining influence, but at times the forces making for expansion have proved to be too powerful for warning without any 'teeth' in them to be effective."

4. उपभोक्ता साख का नियन्त्रण

(Regulation of Consumer's Credit)

द्वितीय युद्ध काल मे सर्वप्रथम इस तरीके का प्रयोग सयुक्त राज्य अमेरिका मे किया गया था, किन्तु आज यह साख नियन्त्रण का एक प्रधान साधन बन गया है। युद्ध के समय बहुत-सी वस्तुओ की माग अधिक हो जाती है जिससे इनके मूल्य मे वृद्धि होने लगती है तथा मुद्रा-स्फीति का दबाव बढता है। अतएव सयुक्त राज्य अमेरिका मे 9 अगस्त, 1941 ई० के एक विशेष आदेश द्वारा बोर्ड ऑफ गवर्नर को यह अधिकार दिया गया कि वे आवश्यक उपभोक्ता वस्तुओ के क्रय पर प्रतिबन्ध लगा सकते हैं जिससे इन वस्तुओ की माग न बढने पाये और मुद्रा-स्फीति को प्रोत्साहन न मिले।

उपभोक्ता की साख के नियन्त्रण की नीति के अन्तर्गत केन्द्रीय बैंक ऐसा नियम बनाता है जिसके अनुसार उपभोक्ताओ को थोडा-थोडा करके साख की सुविधा (Instalment credit) दी जाती है। इस प्रकार के ऋण का एक अश नकद मुद्रा के रूप मे भी दिया जाता था जिससे साख का निर्माण एक-निश्चित सीमा से अधिक नही होने पाये। युद्ध के बाद भी इस तरीके का प्रयोग मुद्रा स्फीति को रोकने तथा आर्थिक स्थायित्व को कायम रखने के लिए किया जाता है। अन्य देशो मे भी इस तरीके का प्रयोग बढ रहा है।

5 प्रचार

(Publicity)

साख नियन्त्रण के साधन के रूप मे प्रचार का भी प्रयोग केन्द्रीय बैंको द्वारा किया जाता है। इस नीति का आधार यह है कि किसी भी नीति की सफलता इसके पक्ष मे सप्रमाविक जन॰

मत (Effective public op nion) तैयार करने पर निर्भर करती है। अतएव विज्ञापन तथा प्रचार की नीति के द्वारा केन्द्रीय बैंक अपनी नीति के प्रति सप्रमाविक जनमत (Effec ive public op n on) तैयार करता है। साथ ही, समय समय पर मुद्रा-बाजार की स्थिति उद्योग, व्यवसाय, व्यापार एव आयात-निर्यात इत्यादि के सम्बन्ध मे आँकडे एव विवरण प्रकाशित कर मुद्रा-बाजार पर अपना प्रभाव स्थापित करता है। सयुक्त राज्य अमेरिका मे इस तरीके का सबसे अधिक उपयोग किया जाता है। वहाँ प्रत्येक रिजर्व बैंक अपनी-अपनी स्थिति के सम्बन्ध में विस्तृत विवरण प्रकाशित करते हैं। जर्मनी के रिश बैंक (Reichs Bank) द्वारा भी इस तरीके का प्रयोग किया जाता है। भारत मे भी रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया प्रतिमाह अपनी स्थिति के सम्बन्ध में एक विस्तृत विवरण प्रकाशित करता है।

किन्तु, साख नियन्त्रण के इस साधन के वास्तविक प्रभाव के सम्बन्ध मे कुछ निश्चित रूप से नही कहा जा सकता। इसका कारण यह है कि कुछ केन्द्रीय बैंक इसे साख-नियन्त्रण का एक अति साधारण साधन समझते हैं जबकि दूसरे इस पर विशेष महत्व देते हैं। उदाहरण के लिए बर्गेस (Burgess) ने तो इसके सम्बन्ध मे यह विचार प्रकट किया है कि "यह तरीका दीर्घकाल मे वित्तीय स्थायित्व स्थापित करने मे बैंक दर अथवा खुली बाजार नीति की तरह ही महत्वपूर्ण हो सकता है।" इस कथन मे कहाँ तक सत्यता है, यह कहना अभी कठिन है। किन्तु इतना अवश्य है कि भविष्य मे इस तरीके का साख-नियन्त्रण के साधन के रूप में महत्व और भी अधिक होगा।

6. शेयर बाजार के ऋण की सीमा में परिवर्तन करना

(Changes in the Margin Requirements of Stock Market Loans)

साख-नियन्त्रण का यह तरीका भी अपेक्षाकृत नया है। इसका प्रयोग सर्वप्रथम अमेरिका मे हुआ था। इस नीति का प्रयोग प्रतिभूतियो मे सट्टे के लिए प्रयोग की जानेवाली साख की राशि पर नियन्त्रण के लिए किया जाता है। व्यावसायिक बैंक प्रतिभूतियो (Securities) मे सट्टेबाजी के लिए ऋण देते हैं। अतएव सट्टेबाजी के लिए सीमित मात्रा मे ही ऋण एव साख मिल सके, इस उद्देश्य से केन्द्रीय बैंक को व्यावसायिक बैंको द्वारा उक्त कार्यों के लिए दिये जानेवाले ऋणों के सम्बन्ध मे नियम बनाने के अधिकार दिये गये हैं। इस प्रकार उक्त रीति का प्रयोग मुख्यत. सट्टेबाजी के लिए दी जानेवाली साख पर नियन्त्रण स्थापित करने के लिए ही किया जाता है। इस रीति के अन्तर्गत केन्द्रीय बैंक व्यावसायिक बैंको को समय-समय पर प्रतिभूतियो में सट्टेबाजी के लिए दी जानेवाले ऋण की सीमा (Margin) के सम्बन्ध में आदेश देता है जिससे बैंक के ऋणो मे जोखिम नही होने पाये। केन्द्रीय बैंक ऋण की सीमा (Margin Requirements) मे समय-समय पर परिवर्तन करके ऐसे कार्यों के लिए साख के अत्यधिक प्रयोग पर रोक लगा देता है ताकि ऐसे कार्यों के लिए नियन्त्रित मात्रा मे ही साख मिल सके। यह पद्धति निम्नलिखित मान्यताओं पर आधारित है—

(i) जब मार्जिन बढा दी जाती है तो विनियोग योग्य धन को सट्टेबाजी से हटाकर उत्पादन सम्बन्धी कार्यों मे लगाया जाने लगता है। (High margin Requirement diverts investible funds from speculative to productive lines)

(ii) सीमा बढा देने से व्यावसायिक बैंकों की साख-सृजन की शक्ति घट जाती है। (High margin requirements reduce the volume of credit created by commercial bank)

(iii) सीमा बढा देने से परिकल्पनात्मक लाभ की आशा कम हो जाती है। (High Margin Requirement reduce the prospect of making speculative profit)

सयुक्त राज्य अमेरिका मे इस तरीके का बहुत अधिक प्रयोग किया जाता है। यहाँ फेडरल रिजर्व बोर्ड को इस सम्बन्ध में बहुत ही व्यापक अधिकार दिये हैं जिनके अनुसार ये प्रतिभूतियों की सीमा में आवश्यकतानुसार परिवर्तन कर सकते हैं। बोर्ड ने 1936 ई० में यह सीमा प्रति-

भूतियों के मूल्य के 55% रखा था, किन्तु 1938-39 ई० में इसे घटाकर 40 प्रतिशत कर दिया गया। पुनः 1946 ई० की अधिस्फीति के समय इसे बढ़ाकर 100 प्रतिशत कर दिया गया। 1947 ई० में बोर्ड ने पुनः इसे घटाकर 75 प्रतिशत कर दिया। इस प्रकार साख-नियन्त्रण के साधन के रूप में इस तरीके का संयुक्त राज्य अमेरिका मे बहुत अधिक प्रयोग हुआ है।

निष्कर्ष :– इस प्रकार साख के गुणात्मक नियन्त्रण के विभिन्न तरीके हैं जिनका प्रयोग केन्द्रीय बैंक समय-समय पर अपनी आवश्यकतानुसार करता है। किन्तु यह कहना कि इनमे से कौन-सा तरीका सबसे अधिक उपयुक्त है, कठिन है। वास्तव मे, साख-नियन्त्रण की कौन-सी प्रणाली कब अपनायी जानी चाहिये, इस सम्बन्ध मे निर्णय देश की आर्थिक व्यवस्था पर निर्भर करता है। वास्तविकता तो यह है कि केन्द्रीय बैंक प्रायः उक्त सभी तरीकों का आवश्यकतानुसार समुचित एवं सन्तुलित उपयोग कर देश मे साख का गुणात्मक नियन्त्रण करते हैं। साथ ही, साख के नियन्त्रण के इन दोनों तरीकों–परिमाणात्मक एवं गुणात्मक नियन्त्रण को प्रायः एक-दूसरे के पूरक के रूप मे प्रयोग करना चाहिये क्योंकि वर्तमान जटिल आर्थिक व्यवस्थाओं मे केवल किसी एक पद्धति के प्रयोग से साख-व्यवस्था का समुचित एवं प्रभावपूर्ण नियन्त्रण सम्भव नहीं है। अतएव देश की आर्थिक परिस्थितियों के अनुसार साख नियन्त्रण के विभिन्न तरीकों के उचित समन्वय के द्वारा साख-नियन्त्रण के उद्देश्यों को पूरा करने का प्रयास करना चाहिये।

विशेष अध्ययन सूची

1. De Kock : Central Banking, Chapter XIII.
2. Sayers : Modern Banking, Chapter IX.

———

अध्याय : 27

रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया

(Reserve Bank of India)

रिजर्व बैंक की स्थापना :—मुद्रा एव बैंकिंग व्यवस्था मे स्थायित्व लाने के उद्देश्य से भारत मे केन्द्रीय बैंक (Central Bank) की आवश्यकता का अनुभव लोगो को बहुत पहले से ही हो रहा था। किन्तु 1935 ई० के पूर्व तक देश मे इस प्रकार की किसी भी सस्था की स्थापना नही की जा सकी थी। 1913 ई० मे चेम्बरलेन आयोग (Chamberlain Commission) के सदस्य के रूप मे लार्ड केन्स (Keynes) ने भारतीय केन्द्रीय बैंक के विधान का एक खाका तैयार किया था। किन्तु इसी बीच 1914 ई० मे प्रथम विश्व युद्ध छिड जाने के कारण केन्स के प्रस्ताव के सम्बन्ध मे कोई भी विचार नही किया जा सका। सन् 1920 ई० मे ब्रुसेल्स की अन्तर्राष्ट्रीय अर्थ-परिषद् (International Economic Conference) ने स्वर्ण मान की पुनर्स्थापना के लिए इस आशय का एक प्रस्ताव स्वीकार किया था कि जिस देश मे केन्द्रीय बैंक नही है वहाँ इसकी स्थापना शीघ्र ही की जानी चाहिए। वास्तव मे, स्वर्ण मान की सफलता के लिए केन्द्रीय बैंक की स्थापना अनिवार्य थी। अत इस कमी को दूर करने के लिए 1920 ई० मे भारत सरकार ने तीनो प्रेसिडेंसी बैंको को मिलाकर एक इम्पीरियल बैंक ऑफ इण्डिया की स्थापना की। किन्तु इम्पीरियल बैंक प्रधानतया एक व्यावसायिक बैंक था जिसे केन्द्रीय बैंक के कुछ ही कार्य दिये गये थे, अतएव यह केन्द्रीय बैंक की कमी को पूरा नही कर सका। 1926 ई० मे हिल्टन यग आयोग (Hilton Young Commission) ने मौद्रिक एव साख व्यवस्था के समुचित सचालन एव नियत्रण के लिए एक स्वतन्त्र केन्द्रीय बैंक की स्थापना का सुझाव दिया था जिसकी प्रमुख विशेषताएँ रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया की योजना मे सम्मिलित की गयी। केन्द्रीय बैंकिंग जाँच समिति ने भी 1930 ई० मे भारत मे एक केन्द्रीय बैंक की स्थापना का सुझाव दिया। इन सब सिफारिशो एव सुझावो के साथ ही देश की बढती हुई राष्ट्रीय चेतना ने भी रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया की स्थापना मे तात्कालिक सहयोग प्रदान किया। इन सब प्रयत्नो के फलस्वरूप 1934 ई० मे रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया अधिनियम पारित हुआ तथा 1 अप्रैल, 1935 ई० से रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया ने अपना कार्य प्रारम्भ कर दिया।

रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया भारत का केन्द्रीय बैंक है। इसकी स्थापना के पूर्व केन्द्रीय बैंकिंग सम्बन्धी कुछ कार्यों को इम्पीरियल बैंक ऑफ इण्डिया सम्पन्न करता था।

विधान (Constitution) —रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया की स्थापना रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया ऐक्ट के अनुसार 1935 ई० मे हुई। इसकी अधिकृत पूँजी (*Authorised Capital*) 5 करोड रुपये थी जिसे 100-100 रुपये के 5 लाख हिस्सो मे विभाजित किया गया था। बैंक की सचालन-शक्ति कुछ ही व्यक्तियो के हाथ मे केन्द्रित होने से बचाने के लिए सम्पूर्ण देश को पाँच क्षेत्रो—बम्बई, कलकत्ता, मद्रास, दिल्ली तथा रगून मे विभाजित कर दिया गया था। परन्तु इस प्रकार की व्यवस्था होने हुए भी कुछ ही वर्षों मे हस्तातरण के द्वारा धीरे-धीरे अधिकाश हिस्से बम्बई मे ही केन्द्रित हो गये। अत मार्च 1940 ई० मे रिजर्व बैंक के विधान मे एक आवश्यक सशोधन किया गया, जिसके द्वारा इस प्रकार की व्यवस्था की गयी कि किसी भी व्यक्ति के पास बैंक के 20 000 रुपये से अधिक के हिस्से नही हो सकते। यदि किसी व्यक्ति के पास इससे अधिक रकम के हिस्से हो जायँगे तो उसका नाम अशधारियो की सूची से पृथक् कर दिया जायगा।

किन्तु सरकार का यह प्रयत्न भी बैंक के हिस्सो को बम्बई क्षेत्र मे केन्द्रित होने से नही रोक सका। अतः अन्तत Reserve Bank of India (Transfer to Public Ownership)

Act, 1948 के अनुसार 1 जनवरी, 1949 ई० को रिजर्व बैंक का राष्ट्रीयकरण हुआ। सरकार ने हिस्सेदारों को प्रति एक सौ रुपये के लिए 118 रु० 10 आ० मुआवजा देकर सभी हिस्से स्वयं खरीद लिया। इस प्रकार 1 जनवरी, 1949 ई० से यह बैंक पूर्णतया सरकारी बैंक के रूप में कार्य कर रहा है, किन्तु राष्ट्रीयकरण के फलस्वरूप बैंक के विधान एवं कार्यवाही में केवल नाम मात्र के लिए ही परिवर्तन किये गये हैं।

रिजर्व बैंक का प्रबन्ध (Management of the Reserve Bank) :—बैंक के कार्यों का संचालन एक केन्द्रीय संचालन मण्डल (Central Board of Directors) द्वारा होता है जिसके 15 सदस्य होते हैं तथा जिनकी नियुक्ति सरकार द्वारा की जाती है। इनमें एक गवर्नर (Governor) तथा तीन डिपुटी गवर्नर (Deputy Governors), चार स्थानीय मण्डलों से मनोनीत संचालक, भारत सरकार द्वारा मनोनीत 6 संचालक तथा एक सरकारी कर्मचारी होते हैं। सरकारी कर्मचारी को मतदान का अधिकार नहीं होता। केन्द्रीय संचालक मण्डल की बैठक साल में कम-से-कम छः बार तथा प्रत्येक तीन महीने में एक बार अवश्य होती है। बोर्ड ने अपने कुछ अधिकार एक समिति को दे दिये हैं जो साधारणतया प्रति सप्ताह बैठती है।

चारों क्षेत्रों— बम्बई, कलकत्ता, मद्रास तथा दिल्ली में स्थानीय प्रबन्ध के लिए चार स्थानीय मण्डल (Local Boards) हैं। प्रत्येक मण्डल में केन्द्रीय सरकार द्वारा 4 वर्षों के लिए नियुक्त 5 सदस्य होते हैं। ये मण्डल केन्द्रीय संचालन मण्डल के आदेशानुसार कार्य करते हैं तथा केन्द्रीय संचालक मण्डल को आवश्यकतानुसार प्रमुख विषयों पर परामर्श देते हैं।

रिजर्व बैंक का गवर्नर केन्द्रीय संचालक परिषद् का अध्यक्ष तथा बैंक का मुख्य कार्यकारी अधिकारी होता है। बैंक के तीनों डिपुटी गवर्नरों के जिम्मे बैंक के कुछ विभाग के कार्य हैं। गवर्नर तथा डिपुटी गवर्नर की कार्यविधि एक बार में पाँच वर्ष से अधिक नहीं हो सकती है। यह उनकी नियुक्ति के समय केन्द्रीय सरकार के द्वारा निश्चित की जाती है। किन्तु इनकी पुनः नियुक्ति भी की जा सकती है।

संगठन (Organisation) :— बैंक ऑफ इगलैण्ड के समान ही रिजर्व बैंक के भी दो प्रमुख विभाग हैं :—(1) **चलन विभाग** (Issue Department) जिसका प्रमुख कार्य पत्र-मुद्रा जारी करना तथा उसकी जमानत के रूप में विधान द्वारा निश्चित सुरक्षित कोष की व्यवस्था करना है। (2) **बैंकिंग विभाग** (Banking Department)—जिसका निर्माण 1 जुलाई, 1950 ई० को हुआ था। यह अनुसूचित बैंकों के कुल जमा का एक निश्चित प्रतिशत नकद मुद्रा के रूप में अपने पास रखता है। इसके अतिरिक्त यह सरकार के बैंकर तथा देश के अन्य बैंकों के बैंकर के रूप में भी कार्य करता है। इनके अतिरिक्त देश में कृषि-साख की समुचित व्यवस्था के लिए रिजर्व बैंक का एक पृथक कृषि साख विभाग (Agricultural Cr dit D-partment) भी है। यह विभाग कृषि-साख सम्बन्धी विभिन्न समस्याओं का अध्ययन करता है।

रिजर्व बैंक के कार्य

(Functions of the Reserve Bank)

रिजर्व बैंक भारत का केन्द्रीय बैंक है। अतः यह केन्द्रीय बैंक के प्रायः सभी कार्यों को सम्पन्न करता है। वास्तव में, **रिजर्व बैंक का प्रमुख कार्य देश की मौद्रिक व्यवस्था को इस प्रकार से नियन्त्रित करना है जिससे कि देश में आर्थिक स्थायित्व में वृद्धि हो।** (The primary function of the Reserve Bank is to regulate the monetary system of the country so as to promote the maintenance of economic stability and to assist the growth of the economy within its framework) इसके कार्यों को दो विभागों में विभाजित किया जा सकता है—

(क) केन्द्रीय बैंकिंग-सम्बन्धी कार्य, तथा

(ख) साधारण बैंकिंग-सम्बन्धी कार्य।

रिजर्व बैंको के कार्यों का संक्षिप्त विवरण निम्नांकित तालिका से स्पष्ट हो जाता है—

रिजर्व बैंक के कार्य

केन्द्रीय बैंकिंग-सम्बन्धी कार्य	साधारण बैंकिंग-सम्बन्धी कार्य
1. पत्र-मुद्रा जारी करना	1. जमा स्वीकार करना
2 सरकार के बैंकर के रूप मे कार्य	2 व्यापारिक तथा वाणिज्यिक बिलो का क्रय विक्रय
3. बैंकों के बैंक के रूप मे कार्य	3. कृषि बिलो का क्रय विक्रय
4 विदेशी विनिमय पर नियंत्रण	4 ऋण देना
5 साख-नियंत्रण	5 विदेशी प्रतिभूतियों का क्रय विक्रय
6 अन्य केन्द्रीय बैंकिंग-सम्बन्धी कार्य	6 मूल्यवान वस्तुओं का क्रय विक्रय
	7. अन्य देशो के बैंकों से व्यवहार
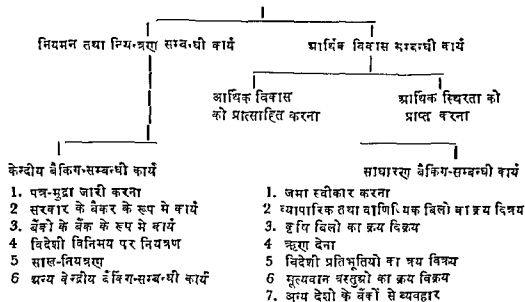
(क) **केन्द्रीय बैंकिंग सम्बन्धी कार्य** (Central Banking Functions of the Reserve Bank of India)—**रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया के केन्द्रीय बैंकिंग-सम्बन्धी निम्नलिखित प्रमुख कार्य हैं—**

(1) *पत्र-मुद्रा जारी करना (Issue of Paper-money)*—देश मे पत्र मुद्रा (एक रुपये के नोट के अतिरिक्त) जारी करने का एक-मात्र अधिकार रिजर्व बैंक को ही प्राप्त है। इस कार्य को सम्पन्न करने के लिए बैंक का एक पृथक विभाग है जिसे चलन विभाग (Issue Department) कहते है। *बैंक के नोटो मे जनता का विश्वास बनाये रखने के लिए रिजर्व बैंक को* पहले कुल निर्गमित नोटो के मूल्य का 40 प्रतिशत भाग स्वर्ण मुद्राओ, स्वर्ण-पाटो एव विदेशी प्रतिभूतियो के रूप मे रखना पड़ता था। इनमे 21 रुपये 3 आने 8 पाई प्रति तोले के हिसाब से *किसी भी समय बैंक के पास कम से कम 40 करोड रुपये का स्वर्ण रखना अनिवार्य था।* इस प्रकार रिजर्व बैंक द्वारा आनुपातिक निधि पद्धति (Proportional Reserve System) के आधार पर नोट जारी करने का कार्य प्राय 20 वर्षो तक चलता रहा। किन्तु देश के आयोजित *आर्थिक विकास के लिए अब अधिक विदेशी मुद्रा की आवश्यकता पडने लगी जिसके फलस्वरूप* नोट जारी करने की इस पद्धति मे भी सशोधन की आवश्यकता पडी। अत रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया (सशोधन) अधिनियम 1956 जो 6 अक्टूबर, 1956 ई० मे लागू हुआ, के अनुसार आनुपातिक निधि पद्धति के स्थान पर एक न्यूनतम कोष (minimum reserve) प्रणाली को अपनाया गया, जिसमे 400 करोड रुपये की विदेशी प्रतिभूतियाँ तथा 115 करोड रुपये के स्वर्ण मुद्रा एव स्वर्णपाट यानी कुल मिलाकर 515 करोड रुपये के न्यूनतम कोष को आवश्यक बनाया गया। साथ ही, बैंक के पास स्वर्ण का मूल्य, जो पहले 21 रुपये 3 आने 8 पाई के हिसाब से तय किया जाता था, को बढा कर 62 रुपये 50 पैसे प्रति तोला कर दिया गया। आगे चलकर रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया (द्वितीय सशोधन) अधिनियम, 1957 ई० के अनुसार विदेशी प्रतिभूतियाँ, स्वर्ण-मुद्रा एव पाट के न्यूनतम कोष की रकम को घटाकर 200 करोड रुपये कर दिया गया जिसमे कम-से-कम 115 करोड रुपये की स्वर्ण मुद्रा एव स्वर्ण पाट का होना अनिवार्य था। साथ ही, इस सशोधन के अनुसार केन्द्रीय सरकार की पूर्व अनुमति से रिजर्व बैंक विदेशी प्रतिभूतियो के कोष को पूर्णतया समाप्त भी कर सकता है, किन्तु ऐसी हालत मे कम से-कम 115 करोड रुपये की स्वर्ण-मुद्रा एव स्वर्ण पाटो का होना बिल्कुल आवश्यक है।

(2) सरकार के बैंकर के रूप में कार्य करना (Acting as Banker to the Govt)—रिजर्व बैंक केन्द्रीय एव राज्य सरकारो के सभी बैंकिग-सम्बन्धी कार्यों को भी सम्पन्न करता है। यह इनसे जमा के रूप मे रकम प्राप्त करता है तथा इनके आदेशानुसार इनका भुगतान भी करता है। सरकार की जो रकम इसके यहाँ जमा की जाती है उस पर यह कोई ब्याज नही देता। यह सरकार के लिए ऋण एकत्र करता तथा उसके भुगतान (Borrowing and refunding) एव प्रबन्ध की भी व्यवस्था करता है। रिजर्व बैंक सरकारी प्रतिभूतियो का क्रय-विक्रय करता है एव विदेशी विनिमय का भी प्रबन्ध करता है। इस बैंक ने सरकारी बैंक के रूप मे बहुत सफलतापूर्वक कार्य किया है। जिस स्थान मे रिजर्व बैंक की शाखाएँ नही हैं वहाँ स्टेट बैंक इस बैंक के एजेन्ट के रूप मे सरकार के बैंकिग-सम्बन्धी कार्यों को सम्पन्न करता है। यह अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष एव विश्व-बैंक मे भारत सरकार के एजेन्ट के रूप मे कार्य करता है। आवश्यक वित्तीय मामलो, जैसे नये ऋणो को जारी करने, कृषि-साख, औद्योगिक वित्त तथा नियोजन एव आर्थिक विकास-सम्बन्धी सूचनाओ के सम्बन्ध मे रिजर्व बैंक सरकार को आवश्यक परामर्श भी देता है।

(3) बैंको के बैंक के रूप में कार्य करना (Acting as Banker's Bank)—रिजर्व बैंक देश के बैंको के बैंक के रूप मे भी कार्य करता है। यह उन पर नियन्त्रण रखता है तथा उनका पथ-प्रदर्शन भी करता है। बैंकिंग व्यवसाय आरम्भ करने से पूर्व किसी भी बैंक को रिजर्व बैंक की अनुमति लेनी पडती है। इसी प्रकार नयी शाखाओं की स्थापना के पूर्व भी रिजर्व बैंक की अनुमति लेनी पडती है। देश के सभी अनुसूचित बैंको (Scheduled Banks) को अपने कुल जमा दायित्व का औसत रूप से 3 प्रतिशत भाग रिजर्व बैंक के पास जमा करना पडता है। 1956 ई० के एक सशोधन के अनुसार रिजर्व बैंक को चालू जमा राशि के लिए नकद कोष की रकम को 5 प्रतिशत से 20 प्रतिशत तक तथा सावधि राशि के लिए 2 प्रतिशत से 8 प्रतिशत तक करने का अधिकार प्राप्त है। रिजर्व बैंक इस जमा राशि से बैंको के अन्तिम ऋणदाता (Lender of the Last Resort) के रूप मे आर्थिक सकटकाल मे इन्हे ऋण देकर फेल होने से बचाता है। यह बैंक दर (Bank rate) तथा खुले बाजार की नीति (Open Market Operation) द्वारा बैंको की साख नीति पर भी नियन्त्रण रखता है। साथ ही, इनके समाशोधन-गृह (Clearing House) का भी कार्य करता है।

(4) विदेशी विनिमय पर नियन्त्रण :–रिजर्व बैंक का एक प्रमुख कार्य मुद्रा के बाह्य मूल्य मे स्थायित्व लाना है। इस उद्देश्य से रिजर्व बैंक अधिकाश देशो की मुद्रा का कोष अपने पास रखता है तथा जनता की माँग के अनुसार इनका क्रय विक्रय करता है। सन् 1946 मे भारत अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष का एक सदस्य बन गया जिसके अनुसार अब रुपये का मूल्य स्वर्ण के रूप मे एक तोला सोना 62 रुपये 50 पैसे निश्चित किया गया। इसी दर से बैंक उन सभी देशो की मुद्राओं का क्रय विक्रय करता है जो अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष के सदस्य हैं। बैंक विदेशी मुद्राओं का क्रय-विक्रय उन्ही दरो पर कर सकता है जिन्हे केन्द्रीय सरकार समय समय पर अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के परामर्श से निश्चित करती है। रिजर्व बैंक एक निश्चित मात्रा से कम मूल्य की विदेशी मुद्रा का सौदा नही करता है, किन्तु रिजर्व बैंक का विशेष सम्बन्ध स्टर्लिंग से ही है। भारत स्टर्लिंग क्षेत्र का एक सदस्य है, अत यहाँ के विदेशी लेन-देन का कार्य मुख्यरूपेण स्टर्लिंग के माध्यम से ही होते हैं। आजकल भारत के कुल विदेशी लेन देन का प्राय 70 प्रतिशत भाग स्टर्लिंग मे, 10 प्रतिशत भाग डॉलर मे तथा शेष रुपये के रूप मे होता है। रिजर्व बैंक 1 शि० 1 पैं० प्रति रुपये की दर से स्टर्लिंग खरीदता तथा 1 शि० की दर से इसका विक्रय करता है। युद्ध तथा अन्य परिस्थितियो मे मुद्रा के बाह्य मूल्य मे स्थायित्व लाने के लिए बैंक सरकारी नीति के अनुसार विभिन्न तरीको से विनिमय नियन्त्रण भी करता है।

(5) साख नियन्त्रण (Credit Control) —रिजर्व बैंक का एक प्रमुख कार्य साख की मात्रा का नियन्त्रण करना है। साख नियन्त्रण का उद्देश्य साख की मात्रा का व्यवसाय की साख-सम्बन्धी माग के साथ समायोजन करना है। देश की साख की मात्रा व्यावसायिक बैंको की साख-नीति पर निर्भर करती है। अत साख-नियन्त्रण का अर्थ बैंको की साख नीति पर नियन्त्रण

रखना है। बैंक-दर में परिवर्तन, खुले बाजार की नीति तथा अन्य वैधानिक अधिकारों के उपयोग द्वारा रिजर्व बैंक साख का नियन्त्रण करता है। साख का सृजन बैंकों के नकद जमा पर भी निर्भर करता है। अतः साख-नियन्त्रण का प्रमुख जरिया बैंकों के नकद जमा कोष को नियन्त्रित करना है। जब रिजर्व बैंक साख की मात्रा में वृद्धि चाहता है तो इसे बैंकों के नकद जमा कोष में वृद्धि का प्रयत्न करना पड़ता है तथा साख की मात्रा में कमी करने के लिए बैंक के नकद जमा-कोष को घटाने का प्रयत्न करना पड़ता है।

रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया साख-नियन्त्रण के उद्देश्य से निम्नांकित तरीकों को काम में लाता है —

(1) **बैंक दर** (Bank rate) :—बैंक-दर वह दर है जिसपर रिजर्व बैंक व्यावसायिक बैंकों को सरकारी प्रतिभूतियों के आधार पर ऋण देता है अथवा उनके प्रथम श्रेणी के विनिमय बिलों को पुन. बट्टा (Re discount) करता है। बैंक दर-नीति द्वारा साख नियन्त्रण तब ही प्रभावशाली होता है जबकि देश की बैंकिंग संस्थाएँ आर्थिक संकट के समय अपने बिलों के पुन भुगतान के लिए केन्द्रीय बैंक पर आश्रित रहती हों। रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया की बैंक-दर नीति आरम्भ से ही अधिक सफल नहीं हो सकी है और आज भी यह बहुत प्रभावपूर्ण (Effective नहीं है। इसका प्रधान कारण देश के विभिन्न स्थानों पर ब्याज की दर में विभिन्नता है। इसके अतिरिक्त भारत में बैंक-दर की नीति के अधिक सप्रमाणिक नहीं होने के दो अन्य कारण हैं—(क) देश में मुद्रा-प्रसार के कारण मुद्रा की बाहुल्यता है जिससे व्यावसायिक बैंकों तथा अन्य बैंकों को बहुत अधिक मात्रा में जनता से जमा-राशि प्राप्त हो जाती है। इसके फलस्वरूप देश की बैंकिंग संस्थाएँ साख-निर्माण तथा आर्थिक सहायता के लिए रिजर्व बैंक पर बहुत कम निर्भर करती हैं। (ख) भारत में रिजर्व बैंक तथा देश की अन्य बैंकिंग संस्थाओं में घनिष्ठ सम्बन्ध नहीं पाया जाता है। (ग) देश में एक सुसगठित बिल-बाजार (Organised Bill Market) का अभाव है।

रिजर्व बैंक की बैंक दर 1938 ई० से नवम्बर, 1951 ई० तक 3% रही, परन्तु नवम्बर 1951 में यह 3½% हो गयी। पुन 1957 ई० में इसे बढ़ाकर 4% कर दिया गया। बैंक-दर की इस वृद्धि के फलस्वरूप देश में ब्याज की अन्य दरों में भी वृद्धि हो गयी जिससे द्वितीय युद्ध-काल में अपनायी गयी सस्ती मुद्रा नीति (Cheap Money Policy) का अन्त हुआ तथा सन् 1951 ई० से दुर्लभ मुद्रा नीति (Dear Money Policy) का प्रारम्भ हुआ। सस्ती मुद्रा-नीति के बहुत-सारे गुण हैं जिनकी व्याख्या इस पुस्तक में आगे की गयी है। किन्तु इसके बहुत-सारे दोष भी हैं जिनके फलस्वरूप धीरे-धीरे इसका परित्याग किया जाने लगा। देश की पंचवर्षीय योजनाओं को कार्यान्वित करने के लिए पूँजी-निर्माण की गति में वृद्धि अनिवार्य है और इसके लिए दुर्लभ मुद्रा-नीति का अनुकरण भी आवश्यक हो जाता है। अत, रिजर्व बैंक ने बैंक-दर को बढ़ाकर अथवा दुर्लभ मुद्रा नीति को अपनाकर देश की पूँजी निर्माण की शक्ति में वृद्धि की है विदेशी पूँजी को आकर्षित करने की परिस्थितियाँ उत्पन्न की हैं, मुद्रा-स्फीति पर रोक लगायी है विदेशी व्यापार की विपक्षता को दूर करने का प्रयत्न किया है तथा बैंकों को असीमित मात्रा में ऋण प्रदान करने की नीति को नियंत्रित किया है इत्यादि। इस प्रकार बैंक दर में इस वृद्धि के कारण ऋण का देना कम हो गया तथा बहुत से ऋण वापिस किये गये।

सितम्बर, 1960 ई० में बैंक-दर को 4 प्रतिशत पर स्थायी रख कर कोटिबद्ध उधार दान दरों (Graded Lending Rates) की नयी योजना चालू की गयी। पुन 2 जनवरी, 1963 से रिजर्व बैंक ने अपनी बैंक-दर को 4 प्रतिशत से बढ़ाकर 4½ प्रतिशत तथा सितम्बर 1964 ई० में 5 प्रतिशत कर दिया। 1963 ई० की संशोधित उधार नीति के अनुसार अनुसूचित बैंक अपने कुल वैधानिक जमा (Statutory Deposits) का 75 प्रतिशत भाग तक बैंक-दर पर रिजर्व बैंक से उधार ले सकता है। इसमें अधिक 75 प्रतिशत तक उधार लेने के लिए उसे बैंक-दर से 1 प्रतिशत अधिक दर पर ब्याज चुकाना पड़ता है। यदि अनुसूचित बैंकों द्वारा प्राप्त ऋण की रकम आधार-भूत कोटा (Basic quota, के 150 प्रतिशत से अधिक हो जाय तो इस अतिरिक्त ऋण की रकम के लिए बैंक दर से 1½ प्रतिशत से अधिक ब्याज चुकाना पड़ता है। इस प्रकार अनुसूचित बैंकों को उधार देने के लिए रिजर्व बैंक की विभिन्न दरें कर दी गयी। पुन 17 फरवरी 1965 ई० को रिजर्व बैंक ने अपने बैंक-दर को बढ़ाकर 6 प्रतिशत कर दिया। फरवरी, 1971 में रिजर्व बैंक ने अपने बैंक-दर को 5 प्रतिशत से बढ़ाकर 6 प्रतिशत किया। आगे चलकर, मई 1973 में देश में

मुद्रा-स्फीति के बढते हुए दबाव को रोकने के लिए बैंक-दर को 6 प्रतिशत से बढाकर 7 प्रतिशत तथा जुलाई, 1974 मे 9 प्रतिशत कर दिया गया है।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया की बैंक-दर का पुन सन् 1951 ई० के बाद प्रयोग किया जाने लगा है तथा इसमे पर्याप्त सफलता भी मिली है।

(ii) **खुले बाजार की क्रियाएँ (Open Market Operations)** :—केन्द्रीय बैंक अपनी बैंक-दर नीति को अधिक प्रभावपूर्ण बनाने के लिए खुले बाजार की नीति को अपनाते हैं। खुले बाजार को नीति का अर्थ केन्द्रीय बैंक द्वारा मुद्रा-बाजार मे सरकारी प्रतिभूतियो तथा प्रथम श्रेणी के बिलो एव प्रतिज्ञा-पत्रो का साख-नियन्त्रण के उद्देश्य से क्रय-विक्रय है। रिजर्व बैंक को भी अन्य केन्द्रीय बैंको की तरह खुले बाजार की क्रियाओ का अधिकार दिया गया है ताकि वह भी इस नीति द्वारा अपनी-बैंक-दर नीति को अधिक प्रभावपूर्ण बना सके। गत वर्षों मे सदस्य बैंक आवश्यकता के समय रिजर्व बैंक को असीमित मात्रा में सरकारी प्रतिभूतियाँ (Govt. Securities) बेचकर धन प्राप्त कर लिया करते थे जिससे साख का प्रसार हो जाया करता था, परन्तु 1951 ई० मे रिजर्व बैंक ने अपनी इस नीति मे भी परिवर्तन कर दिया और यह घोषणा कर दी कि वह बैंक की सामयिक आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए सरकारी प्रतिभूतियो अथवा ऋण-पत्र नहीं खरीदेगा वरन् वह बैंक-दर पर स्वीकृत ऋण-पत्रो के आधार पर ही केवल ऋण देगा। रिजर्व बैंक की खुले बाजार की क्रियाओ की नीति मे इस परिवर्तन के निम्नलिखित लाभ हुए—(क बैंक-दर पहले की अपेक्षा अधिक प्रभावपूर्ण हो गया, (ख) मुद्रा की पूर्ति मे लोच आ गयी, क्योकि व्यस्त व्यावसायिक काल मे बैंक ऋण-पत्रो के आधार पर रिजर्व बैंक से ऋण ले लेते हैं और इस प्रकार की दशाओ का अन्त हो जाने पर ये रिजर्व बैंक को ऋण की राशि लौटा देते है और अपने ऋण-पत्र वापिस कर लेते हैं; तथा (ग) इस नीति से रिजर्व बैंक का देश की विभिन्न बैंकिंग सस्थाओ पर सुप्रभाविक नियन्त्रण स्थापित हो गया है।

परन्तु, रिजर्व बैंक की उक्त नीति के निम्नलिखित दोष भी है :—(अ) खुले बाजार की क्रियाओ का गुप्त रहना अनिवार्य है, परन्तु रिजर्व बैंक की उपर्युक्त नीति से ये क्रियाएँ अब गुप्त नही रह सकती हैं। (आ) जब रिजर्व बैंक ऋण-पत्रो का स्वय क्रय-विक्रय करता था, उस समय ऋण-पत्रो के मूल्य मे बहुत स्थिरता रहती थी, परन्तु रिजर्व बैंक की मुद्रा-नीति के परिवर्तनो से अब ऋण-पत्रो का मूल्य भी बहुत कम हो गया। यह स्पष्ट है कि सरकारी ऋण-पत्रो के मूल्य मे इस प्रकार का परिवर्तन सर्वथा अनुचित ही है। (इ) उक्त परिवर्तित नीति बैंको के लिए अत्यधिक मँहगी, असुविधाजनक तथा कष्टदायक है। अत. सम्भव है कि इस प्रकार की नीति से देश मे एक सुसगठित मुद्रा-बाजार के विकास मे बाधा पडे।

फिर भी, रिजर्व बैंक खुले बाजार की क्रियाओ का बडे पमाने पर प्रयोग करता है तथा 1970-71 मे इस नीति के अतर्गत 84·1 करोड़ की प्रतिभूतियो का विक्रय किया था।

(iii) **नकद कोषों के अनुपात में परिवर्तन (Variations in the Cash Reserve Ratio)** —अन्य केन्द्रीय बैंको की तरह रिजर्व बैंक को भी देश के विभिन्न बैंको की जमाराशि पर नियन्त्रण करने का अधिकार है। 1934 ई० के रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया ऐक्ट के अनुसार प्रत्येक अनुसूचित बैंक (Scheduled Bank) को अपनी माग जमा (Demand Liabilities) का 5% और स्थायी जमा (Time Liabilities) का 2% रिजर्व बैंक के पास जमा करना पडता था। अब तो 1949 ई० के बैंकिंग कम्पनीज एक्ट के अनुसार अन्य प्रकार के बैंको को भी रिजर्व बैंक अथवा अपने पास उक्त प्रतिशत मे नकद जमा रखनी पडती है ताकि देश मे साख का केवल उचित मात्रा मे ही निर्माण हो सके, परन्तु आलोचकों का यह मत है कि उक्त व्यवस्था मे चूँकि बैंको का रिजर्व बैंक के पास या स्वय बैंको के पास नकद कोष समस्त दायित्वो का एक निश्चित प्रतिशत के रूप मे रहता है, इसलिए रिजर्व बैंक द्वारा नकद कोष मे परिवर्तन से साख-नियन्त्रण की नीति अधिक प्रभावशाली एवं सफल नही हो सकी है। इसका कारण स्पष्ट है। देश की बैंकिंग सस्थाएँ अपने शेष धन से ही पर्याप्त मात्रा मे साख-निर्माण का कार्य कर लेती हैं और उन्हे इस कार्य को करने के लिए रिजर्व बैंक पर अधिक निर्भर नही रहना पडता।

नकद कोष के अनुपात मे परिवर्तन को अधिक प्रभावपूर्ण बनाने के लिए 1956 ई० मे रिजर्व बैंक अधिनियम मे सशोधन हुआ जिसके अनुसार रिजर्व बैंक को अनुसूचित बैंकों के नकद्

कोष के अनुपात मे परिवर्तन करने की शक्ति प्रदान की गयी। इस अधिनियम के अनुसार रिजर्व बैंक को अनुसूचित बैंको के नकद कोष के अनुपात मे चालू जमा (Demand Deposit) के सम्बन्ध मे 5 प्रतिशत से 20 प्रतिशत तक तथा स्थायी जमा (Time Deposit) के 2 प्रतिशत से 8 प्रतिशत तक करने का अधिकार दिया गया।

अब रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया सशोधित अधिनियम 1962 ई० के अनुसार, जो 15 सितम्बर 1962 ई० से लागू है, अनुसूचित बैंको को अपने सभी प्रकार के जमा दायित्व का 3 प्रतिशत भाग नकद मुद्रा के रूप मे रिजर्व बैंक के पास जमा करना अनिवार्य बना दिया गया है। रिजर्व बैंक आवश्यकतानुसार इसे बढाकर 15 प्रतिशत तक कर सकता है। मुद्रा-स्फीति के बढते हुए दबाव को रोकने के लिए जून, 1973 ई० से न्यूनतम जमा की रकम को 3 प्रतिशत से बढाकर 5 प्रतिशत कर दिया गया है।

साखनियंत्रण के गुणात्मक तथा प्रत्यक्ष तरीके

(Selective and Direct Methods of Credit Control)

साख-नियन्त्रण के उपर्युक्त तीनो सामान्य अथवा परिमाणात्मक तरीको (General or Quantitative methods) के अतिरिक्त रिजर्व बैंक अधिक प्रत्यक्ष अथवा गुणात्मक नियन्त्रण के निम्नलिखित तरीको को भी कार्य मे लाता है —

(iv) **प्रत्यक्ष कार्यवाही** (Direct Action) —रिजर्व बैंक की प्रत्यक्ष कार्यवाही द्वारा साख-नियन्त्रण की नीति सन् 1949 ई० के बैंकिंग कम्पनीज अधिनियम के पास हो जाने पर कुछ प्रभावपूर्ण हो सकी है। इस अधिनियम के द्वारा रिजर्व बैंक को बैंकिंग कम्पनीज के नियन्त्रण के हेतु कुछ विशेष प्रकार के अधिकार मिल गये है। अब यह बैंक किसी भी बैंक को विशेष प्रकार के लेन-देन करने से रोक सकता है। यह किसी भी बैंक को किसी मामले मे सलाह दे सकता है। यह किसी भी बैंक का निरीक्षण करके उसे अपना निरीक्षण सम्बन्धी प्रतिवेदन भेज सकता है तथा उस पर विचार करने के लिए बैंक के सचालको की बैठक बुला सकता है। किसी भी बैंक को उसकी कार्य-प्रणाली के दोषो को सुधारने के लिए रिजर्व बैंक द्वारा दिये गये सुझावों का पालन करने के लिए भी वह आदेश दे सकता है। इस प्रकार रिजर्व बैंक प्रत्यक्ष कार्यवाही द्वारा भी साख का नियन्त्रण कर सकता है। 1956 ई० से बैंक ने अपने इस अधिकार का प्रयोग करना प्रारम्भ कर दिया है। उदाहरण के लिए, मई से सितम्बर 1956 ई० के बीच रिजर्व बैंक ने धान तथा चावल पर अग्रिम को कम करने के सम्बन्ध मे बहुत सारे आदेश दिये। तब से समय-समय पर रिजर्व बैंक इस सम्बन्ध मे आवश्यक आदेश जारी करता है। यद्यपि रिजर्व बैंक को अनुसूचित तथा असूचित दोनो प्रकार के बैंक की साख-सम्बन्धी क्रियाओ के नियमन का अधिकार प्राप्त है फिर भी, शासन-सम्बन्धी कठिनाइयो के कारण अभी तक बैंक ने केवल अनुसूचित बैंको को ही इस आशय के आदेश दिये हैं।

(v) **साख की रैशनिंग** (Rationing of Credit) —सन् 1949 ई० के बैंकिंग *कम्पनी अधिनियम द्वारा रिजर्व बैंक को यह अधिकार मिल गया है कि वह देश-हित में समस्त* बैंको की अथवा किसी एक बैंक की ऋण नीति निर्धारित कर सकता है और इस प्रकार निर्धारित नीति का पालन सब बैको अथवा सम्बन्धित सस्थाओ को करना पड़ता है। इतना ही नही, रिजर्व बैंक को यहाँ तक अधिकार है कि वह अन्य बैंको को आदेश दे सकता है कि वे केवल अमुक कार्यों के लिए ही ऋण भी अमुक ब्याज की दर पर दें। चूंकि बैंकिंग सस्थाओ को रिजर्व बैंक के इन आदेशो का पालन पूर्णतया करना पड़ता है, इसलिए रिजर्व बैंक की साख रैशनिंग द्वारा साख-नियन्त्रण की नीति अत्यधिक प्रभावपूर्ण एव सफल रही है।

(vi) **प्रचार तथा नैतिक दबाव की नीति** (Methods of Publicity and Moral Persuasion) —चूंकि रिजर्व बैंक का देश की बैंकिंग सस्थाओ से अभी तक बहुत अधिक घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित नही हो सका है, इसलिए वह प्रचार द्वारा साख-नियन्त्रण की नीति को नहीं अपनाता है, परन्तु रिजर्व बैंक देश की बैंकिंग सस्थाओ पर अपना नैतिक प्रभाव डालने मे थोडा बहुत सफल अवश्य हुआ है और वह इस नीति द्वारा ही बैंको के अनेक दोषो को दूर कर रहा है। उदाहरण के लिए, सितम्बर, 1949 ई० मे रुपये के अवमूल्यन के अवसर पर रिजर्व बैंक के गवर्नर

ने देश के सभी प्रमुख बैंको के प्रतिनिधियो की एक बैठक बुलायी जिसमे उन्होने बैंको से सट्टा अथवा फाटका की क्रियाओ के लिए अग्रिम न देने तथा बैंको के सहयोग का अनुरोध किया। उसका परिणाम बहुत ही आशाजनक हुआ। इसी प्रकार जून, 1957 ई० मे बैंक के गवर्नर ने सभी बैंको को पत्र द्वारा अपने-अपने अग्रिमो मे कमी करने का सुझाव दिया। दिसम्बर, 1961 ई० मे रिजर्व बैंक के गवर्नर ने पत्र द्वारा अनुसूचित बैंको से अपने कोषो मे वृद्धि का अनुरोध किया। इस प्रकार रिजर्व बैंक देश के व्यावसायिक बैंको को समय-समय पर समझा-बुझा कर प्रभाव डालने का प्रयास करता है जिसमे उसे अभी तक पर्याप्त सफलता मिल पायी है।

इस प्रकार साख-नियन्त्रण के लिए रिजर्व बैंक उपरोक्त सभी तरीको को काम मे लाता है। निम्नांकित तालिका द्वारा ये तरीके अत्यधिक स्पष्ट हो जाते हैं :—

साख-नियन्त्रण के तरीके

- **परिमाणात्मक नियन्त्रण के तरीके**
  - बैंक-दर (नवम्बर, 1951 ई० तक 3 प्रतिशत, इसके बाद साढ़े तीन प्रतिशत तथा जुलाई, 1974 ई० मे बढ़ाकर नव प्रतिशत किया गया)
  - खुले बाजार की क्रियाएँ (विशेष रूप से 1951 ई० के बाद प्रयोग मे लायी गयी है)
  - नकद कोष के अनुपात मे परिवर्तन—(1956 ई० के संशोधन के अनुसार इस सम्बन्ध मे बैंक को बहुत ही विस्तृत अधिकार प्राप्त हुआ है)
- **गुणात्मक नियन्त्रण के तरीके**
  - प्रत्यक्ष कार्यवाही (1956 ई० से इस शक्ति का प्रयोग प्रारम्भ किया गया है)
  - साख की रैशनिंग (1949 ई० के एक्ट के द्वारा बैंक को यह अधिकार प्राप्त है)
  - नैतिक प्रभाव (सर्वप्रथम सितम्बर, 1949 मे प्रयोग किया)

रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया की साख नियन्त्रण की नीति के अप्रभावपूर्ण होने के कारण (Causes of ineffectiveness of the Credit-Control Policy of the Reserve Bank of India) :—उक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि रिजर्व बैंक के पास साख-नियन्त्रण के बहुत से साधन है, परन्तु अनुभव से यही पता चलता है कि इतने अधिक साधनों के होते हुए भी रिजर्व बैंक देश मे साख एवं मुद्रा के नियन्त्रण मे बहुत अधिक सफल नहीं हो पाया है। इसके निम्नांकित प्रधान कारण है :—

(क) एक सुविकसित बिल बाजार का अभाव :—देश मे अभी तक एक सुव्यवस्थित एवं सुसंगठित मुद्रा-बाजार तथा बिल-बाजार का अभाव है जिसमे साख-नियन्त्रण के उद्देश्य से रिजर्व बैंक की बैंक-दर की नीति प्रभावपूर्ण नहीं हो पायी है।

(ख) देश के आर्थिक ढाँचे में लोच का अभाव —देश मे श्रमिकों की मजदूरी तथा वस्तुओ के मूल्यो के सम्बन्ध मे अनेक नियन्त्रण पाये जाते हैं जिनके परिणामस्वरूप देश का आर्थिक ढाँचा लोचदार नहीं रह जाता है। ऐसी स्थिति मे रिजर्व बैंक की कोई भी साख-सृजन-नीति बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं हो सकती है।

(ग) स्वदेशी बैंकिंग व्यवस्था पर रिजर्व बैंक के नियन्त्रण का अभाव रिजर्व बैंक अभी तक देशी बैंको पर किसी प्रकार का नियन्त्रण नहीं स्थापित कर सका है। इस प्रकार चूँकि रिजर्व बैंक का भारतीय मुद्रा-बाजार के एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण अंग पर कोई नियन्त्रण नहीं हो पाया है, इसलिए, यह अपनी साख एवं मुद्रा-नीति के संचालन मे बहुत सफल नहीं हो सका है।

(घ) व्यावसायिक बैंकों के पास नकद कोष का बाहुल्य :—भारत मे द्वितीय युद्धोत्तर काल मे अत्यधिक मुद्रा-प्रसार के कारण बैंको के पास बहुत अधिक मात्रा मे नकद मुद्रा जमा हो

गयी। इससे समस्त दायित्वो का एक निश्चित प्रतिशत रिजर्व बैंक के पास या अपने पास नकद के रूप मे रखने के बाद भी इनके पास इतनी रकम रह जाती है कि साख-सृजन के लिए इन्हें *रिजर्व बैंक पर आश्रित नही रहना पडता है।*

इस प्रकार रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया के साख-नियन्त्रण की नीति अभी तक मुख्यत अप्रभावपूर्ण ही रही है।

(6) **अन्य केन्द्रीय बैंकिंग-सम्बन्धी कार्य**.—रिजर्व बैंक केन्द्रीय बैंकिंग-सम्बन्धी कुछ अन्य कार्य भी करता है, जो निम्न प्रकार हैं.—

(अ) कृषि वित्त व्यवस्था —प्रारम्भ से ही रिजर्व बैंक ने कृषि-कार्यों के लिए वित्त की सुविधा प्रदान करने के लिए कृषि-साख विभाग की स्थापना कर दी थी। इस विभाग के निम्न कार्य निर्धारित किये गये हैं —(क) कृषि-साख से सम्बन्धित समस्याओं के बारे मे अनुसधान करना, (ख) कृषि-साख के सम्बन्ध मे रिजर्व बैंक, राज्य सहकारी बैंक व अन्य बैंको की क्रियाओ मे समन्वय स्थापित करना है।

(ब) औद्योगिक वित्त व्यवस्था —इसी प्रकार औद्योगिक साख प्रदान करनेवाली विभिन्न सस्थाओ की स्थापना मे भी रिजर्व बैंक सक्रिय सहयोग प्रदान करता है। इनमे औद्योगिक वित्त निगम, राज्य वित्तीय निगम तथा औद्योगिक बैंक आदि उल्लेखनीय है।

(स) बैंकिंग सम्बन्धी प्रशिक्षण —बैंकिंग सम्बन्धी प्रशिक्षण की सुविधा के लिए रिजर्व बैंक ने 1954 ई० मे एक बैंकिंग ट्रेनिंग कालेज की स्थापना की है जहाँ विभिन्न बैंको के अधिकारियो को प्रशिक्षण दिया जाता है।

(द) आर्थिक सूचनाएँ और आँकड़े एकत्र करना एवं उन्हें प्रकाशित करना —रिजर्व बैंक का एक महत्वपूर्ण कार्य मुद्रा, साख, कृषि-उत्पादन, लाभाश, ब्याज की दरें व मुद्रा बाजार आदि विभिन्न विषयो के सम्बन्ध मे अनुसधान करना, आँकडो को सग्रह करना और उन्हे प्रकाशित करना है। यह कार्य बैंक के "शोध एव साख्यिकी विभाग" द्वारा सम्पादित किया जाता है।

(य) समाशोधन-गृह का कार्य —रिजर्व बैंक देश का केन्द्रीय बैंक होने के कारण सदस्य बैंको के लिए समाशोधन-गृह के कार्य भी सम्पन्न करता है।

(र) मुद्रा का स्थानान्तरण —रिजर्व बैंक मुद्रा और कोष को एक स्थान से दूसरे स्थान मे भजने का कार्य भी सम्पन्न करता है।

(7) **साधारण बैंकिंग-सम्बन्धी कार्य** (Ordinary Banking Functions of the Reserve Bank) —रिजर्व बैंक के साधारण बैंकिंग-सम्बन्धी कार्य निम्नांकित हैं:—

(i) जमा स्वीकार करना —रिजर्व बैंक केन्द्रीय, प्रान्तीय तथा स्थानीय सरकारो, पोर्ट ट्रस्ट एव अन्य बैंको तथा व्यक्तियों से बिना ब्याज निक्षेप (Deposit) स्वीकार करता है, किन्तु यह निजी व्यक्तियो का जमा स्वीकार नही करता।

(ii) व्यापारिक एवं वाणिज्यिक बिलों का क्रय-विक्रय करना—*रिजर्व बैंक भारत मे* भुगतान किये जानेवाले व्यापारिक एव वाणिज्यिक बिलो तथा प्रतिज्ञा-पत्रो को खरीदता, बेचता तथा पुन कटौती भी करता है, बशर्ते कि ये बिल 90 दिन से अधिक की अवधि की न हो।

(iii) कृषि-बिलों का क्रय-विक्रय—यह बैंक भारत मे भुगतान होनेवाले अधिक-से अधिक 15 महीने की अवधि के कृषि-बिलो का क्रय-विक्रय एव पुन. कटौती (Re-discount) करता है।

(iv) ऋण देना—यह बैंक सरकार तथा बैंको को 'माग पर भुगतान' किया जानेवाला ऋण अथवा अधिक-से अधिक 90 दिन की अवधि के लिए ऋण देता है। यह ऋण स्वीकृत प्रतिभूतियो, *बैंको के ऋण-पत्रो तथा सोना, चाँदी आदि की जमानत पर दिया जाता है, किन्तु यह* निजी व्यक्तियो को ऋण नही प्रदान करता।

(v) विदेशी प्रतिभूतियो का क्रय-विक्रय—रिजर्व बैंक भारत के बाहर अन्य देशो की उन प्रतिभूतियो का क्रय-विक्रय कर सकता है जिनका भुगतान खरीदने की तारीख से 10 वर्षों के अन्दर हो जाता है।

(vi) **मूल्यवान धातुओं का क्रय-विक्रय**—रिजर्व बैंक सोने चाँदी व सोने के सिक्को के क्रय-विक्रय का कार्य भी करता है।

(vii) **अन्य देशों के बैंकों से व्यवहार**—रिजर्व बैंक अपने कार्य को सुचारु रूप से चलाने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष (I M F) के सदस्य राष्ट्रो के केन्द्रीय बैंको के साथ खाता खोल सकता है, उनसे एजेन्सी सम्बन्ध बना सकता है, उनके एजेन्ट के रूप मे कार्य कर सकता है तथा अन्तर्राष्ट्रीय बैंक से लेन-देन कर सकता है।

रिजर्व बैंक एवं कृषि-साख

(Reserve Bank and Agricultural Credit)

रिजर्व बैंक का एक प्रमुख कार्य कृषि साख की समुचित व्यवस्था करना है। इस उद्देश्य से ही बैंक का एक पृथक् कृषि-साख विभाग (Agricultural Credit Department) है। प्रारम्भ मे रिजर्व बैंक के इस विभाग का कार्य केवल कुछ विवरणो के प्रकाशन मात्र तक ही सीमित था। इसलिए इसकी कडी आलोचना की गयी, लेकिन पिछले दस वर्षों मे बैंक ने इस कमी को दूर करने का प्रयत्न किया है। इस विभाग को निम्नाकित कार्य सौंपे गय—

(1) इसका **सर्वप्रथम** कार्य कृषि साख-सम्बन्धी प्रश्नो का अध्ययन करना तथा विशेषज्ञो की नियुक्ति करना है।

(2) **द्वितीयत** यह केन्द्रीय तथा राज्य सरकारो एव प्रादेशिक सहकारी बैंको को कृषि-साख के विकास के सम्बन्ध मे उचित परामर्श देता है।

(3) **तृतीयत** रिजर्व बैंक प्रान्तीय सहकारी संस्थाओ को ग्रहणीय प्रतिभूतियो एव प्रान्तीय सहकारी बैंको तथा भूमि बन्धक बैंको के प्रतिज्ञा पत्रो के आधार पर अधिक से अधिक 90 दिनो के लिए ऋण देता है। विशेष परिस्थितियो मे इन बिलो की अवधि 9 महीने तक बढा दी जाती है। कुछ दिन पहले से यह सीमा 14 महीने कर दी गयी है। रिजर्व बैंक प्रान्तीय सहकारी सस्थाओ को भी व्यावसायिक बैंको की शर्तों पर ऋण देता है। सहकारी सस्थाओ के लिए ब्याज की दर बैंक-दर बढने पर डेढ प्रतिशत ही रखी गयी। रिजर्व बैंक ने 1954 ई० मे सहकारी बैंको को कृषि-कार्य के लिए सहायता प्रदान करने के लिए 16 करोड रुपये का ऋण दिया था। कृषि-साख की समुचित व्यवस्था के लिए रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया एक्ट 1951 तथा 1953 ई० मे सशोधन किये। 1949-50 ई० मे ग्रामीण बैंकिंग जाँच-समिति की सिफारिशो के आधार पर बिलो की परिपक्वता का समय 9 महीने से बढाकर 15 महीने तक कर दिया गया तथा सहकारी सस्थाओ से कम ब्याज की दर ली जाने लगी। 1956 ई० मे रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया एक्ट के सशोधन का एक-मात्र उद्देश्य कृषि-साख का विस्तार ही था। इस सशोधन के फलस्वरूप रिजर्व बैंक कृषि-कार्य के लिए 15 महीने से 5 वर्ष तक की अवधि के लिए 5 करोड रुपये तक ऋण दे सकता है। राज्य सरकार, सहकारी समितियों तथा बैंको के माध्यम से यह रकम कृषको को दी जायगी जो इसे कुआँ खुदवाने, ट्रैक्टर एव कृषि के लिए अन्य वैज्ञानिक औजार खरीदने तथा छोटे-मोटे बाँधो के द्वारा सिचाई की सुविधा का प्रबन्ध करने के लिए प्रयोग करेंगे। इसके अतिरिक्त रिजर्व बैंक को सहकारी बैंको के अधिपत्रो को पुन बट्टा करने तथा छोटे छोटे उद्योगो के उत्पादन एव वितरण सम्बन्धी कार्यों के लिए आर्थिक सहायता देने की भी अनुमति मिल गयी है।

अखिल भारतीय ग्रामीण साख-सर्वेक्षण समिति (All India Rural Credit Survey Committee) की सिफारिशो के आधार पर सन् 1955 ई० मे रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया एक्ट मे सशोधन किया गया जिसके अनुसार रिजर्व बैंक के अन्तर्गत कृषि साख से सम्बधित निम्नलिखित दो कोषो की स्थापना की गयी—

(क) **पहला कोष राष्ट्रीय कृषि-साख (दीर्घकालीन) कोष** [National Agricultural Credit (Long Term Operation) Fund] है। इस कोष की स्थापना 3 फरवरी, 1956 ई० को हुई थी। इस कोष मे सरकार ने प्रारम्भ मे 10 करोड रुपये जमा के रूप मे दिया और अगले 5 वर्षों तक रिजर्व बैंक इस कोष मे 5 करोड रुपये प्रतिवर्ष जमा करने को था। इस क्रम से 1960 61 ई० तक इस कोष मे 35 करोड रुपये हो जाने की आशा थी। इस कोष की

स्थापना निम्नलिखित उद्देश्यो से की गयी हैं—(1) इस कोष मे से राज्य सरकारो को सहकारी साख-संस्थाओ की हिस्सा पूँजी मे लगाने के लिए 20 वर्षो तक की अवधि के लिए ऋण दिया जायगा। (ii) साथ ही, इस कोष मे राज्य सहकारी बैंको को कृषि-कार्य के लिए 15 महीने से 5 वर्ष की अवधि तक के लिए मध्यकालीन ऋण देने की व्यवस्था है, तथा (iii) इसमे से भूमि बन्धक बैंको को 20 वर्षों तक के लिए दीर्घकालीन ऋण दिया जायगा। जून 1972 तक इस कोष के पास कुल 209 करोड रुपये की रकम जमा हो गयी थी।

(ख) दूसरा कोष राष्ट्रीय कृषि साख (स्थायित्व) कोष [National Agricultural Credit Stabilization) Fund] है जिसकी स्थापना 30 जून, 1956 ई० को हुई थी। इस कोष मे रिजर्व बैंक प्रतिवर्ष 1 करोड रुपया जमा करेगा। इस कोष की रकम मे से राज्य-सहकारी बैंको को 15 महीने से लेकर 5 वर्ष तक के लिए मध्यकालीन कर्ज दिया जायगा। जून, 1972 तक इस कोष मे 45 करोड रुपये की रकम जमा हो गयी थी।

इससे यह स्पष्ट है कि रिजर्व बैंक कृषि-साख सम्बन्धी समस्याओ के समाधान के लिए अत्यधिक प्रयत्नशील है। इसके प्रयत्नो के फलस्वरूप देश मे कृषि-साख की व्यवस्था मे उत्तरोत्तर सुधार होता जा रहा है। रिजर्व बैंक की कृषि-साख सम्बन्धी नीति के सम्बन्ध मे दो बाते महत्त्वपूर्ण है :-सर्वप्रथम तो अबतक रिजर्व बैंक ने कृषि को केवल अल्पकालीन ऋण ही प्रदान किया है। वास्तव मे, वैधानिक रूप मे मध्यकालीन एव दीर्घकालीन साख रिजर्व बैंक के क्षेत्र से परे हैं। किन्तु भूमि बन्धक बैंको के ऋण-पत्रो को खरीद कर यह परोक्ष रूप से दीर्घकालीन साख प्रदान करने मे सहायता प्रदान करता है। दूसरा, यह है कि अभी तक रिजर्व बैंक द्वारा प्रदान की गयी सुविधाओ का, मुख्य रूप से गुजरात, महाराष्ट्र, तमिलनाडु, आन्ध्र तथा मैसूर जैसे राज्यो मे ही, जहाँ पर सहकारिता आन्दोलन का विकास हुआ है, पूर्ण रूप से प्रयोग किया जा सका है। अन्य राज्यो मे अभी तक रिजर्व बैंक की गारंटी पर ही कृषि-साख प्रदान किया जाता है। इससे स्पष्ट है कि कृषि-साख सम्बन्धी सहायता को प्राप्त करने के लिए सहकारिता आन्दोलन का विकास अनिवार्य है। इतना ही नही रिजर्व बैंक ने कृषि पुनर्वित्त निगम की स्थापना मे भी सहयोग प्रदान किया है।

रिजर्व बैंक एवं औद्योगिक वित्त

(Reserve Bank and Industrial Finance)

रिजर्व बैंक आजकल देश मे औद्योगिक संस्थानो को वित्तीय सहायता प्रदान करने मे भी महत्त्वपूर्ण सहयोग प्रदान कर रहा है। इस उद्देश्य से 1957 ई० मे एक **औद्योगिक वित्त-विभाग** (Industrial Finance Department) की स्थापना की गयी। हमारे देश मे पूँजी का अभाव है जिससे द्रुतगति से औद्योगीकरण के कार्य मे निस्सन्देह कठिनाई उपस्थित होती है। अत औद्योगीकरण की आवश्यकताओ को देखते हुए देश मे उद्योग-धन्धो को दीर्घ एव मध्यकालीन कर्ज प्रदान करनेवाली संस्थाओ की स्थापना अनिवार्य हो जाती है। इस उद्देश्य से रिजर्व बैंक ने इस प्रकार की बहुत-सी संस्थाओ की स्थापना मे महत्त्वपूर्ण सहयोग प्रदान किया है जिनमे औद्योगिक वित्त निगम (Industrial Finance Corporation), राज्य वित्तीय निगम (State Financial Corporations) तथा औद्योगिक विकास बैंक (Industrial Development Bank) इत्यादि प्रमुख हैं। बैंक ने इन संस्थाओ की हिस्सा-पूँजी का एक अंश प्रदान किया है तथा वह इन्हे आवश्यकतानुसार उधार की सुविधा भी प्रदान करता है। लघु उद्योगो को ऋण एव सहायता प्रदान करने के लिए रिजर्व बैंक ने सरकार की ओर से जुलाई, 1960 ई० से एक प्रत्याभूति योजना (Guarantee scheme) चालू की है जिसके अन्तर्गत यह एक निर्धारित मात्रा तक अन्य बैंको द्वारा लघु उद्योगो को दिये गये ऋणो के भुगतान की गारंटी लेती है। पहले यह योजना केवल 22 जिलो मे लागू की गयी थी, किन्तु वर्त्तमान समय मे यह सर्वत्र लागू है। इसके अन्तर्गत एपेक्स सहकारी बैंकों (Apex Co-operative Banks) द्वारा लघु उद्योगो को दिये गये सभी प्रकार के अग्रिम भी आते हैं। इस प्रकार रिजर्व बैंक औद्योगिक साख के क्षेत्र मे भी आजकल महत्त्वपूर्ण कार्य कर रहा है।

देश के आर्थिक विकास के साथ-साथ रिजर्व बैंक के कार्यो की सीमा भी बढती जा रही है। यह बैंक आजकल बहुत प्रकार के विकास-सम्बन्धी कार्यों का सम्पादन कर रहा है। साख-

व्यवस्था के नियमन के साथ-साथ रिजर्व बैंक आज देश मे एक ऐसी बैंकिंग व्यवस्था के विकास मे लीन है जो वाणिज्य-व्यवसाय के अतिरिक्त कृषि एव उद्योग-धन्धो के विकास मे भी समुचित सहयोग प्रदान कर सके। इस उद्देश्य की पूर्ति मे यह पर्याप्त सफल भी रहा है। साथ ही, यह सरकार को आर्थिक एव वित्तीय मामलो मे परामर्श भी देता है। बैंक के इस कार्य का महत्त्व भी आज दिन-प्रति-दिन बढता ही जा रहा है। इसके अतिरिक्त रिजर्व बैंक व्यावसायिक बैंको, सहकारी समितियो, सयुक्त पूँजी कम्पनियो तथा विदेशी व्यापार आदि के सम्बन्ध मे आँकड़े एकत्र करता है तथा समय-समय पर इनका प्रकाशन भी करता है। इस प्रकार रिजर्व बैंक के कार्यों की सीमा मे उत्तरोत्तर वृद्धि होती जा रही है।

रिजर्व बैंक के कार्यों का मूल्यांकन

(An Appraisal of the Functions of the Reserve Bank of India)

अब हमे यह देखना है कि रिजर्व बैंक अपने उद्देश्यो की पूर्ति मे कहाँ तक सफल रहा है ? रिजर्व बैंक की स्थापना अप्रैल, 1935 ई० मे हुई थी। इसकी स्थापना के पूर्व देश मे कोई केन्द्रीय बैंक नही था। केन्द्रीय बैंक के अभाव मे देश का मुद्रा-बाजार पूर्णतया असगठित था तथा बैंकिंग व्यवस्था का भी पर्याप्त विकास नही हो पाया था। अत. रिजर्व बैंक की स्थापना से बहुत-सी आशाएँ थी। रिजर्व बैंक अबतक अपने जीवन-काल के प्राय. 38 वर्ष पूरा कर चुका है। इस अवधि मे इसने निस्सन्देह देश मे एक दृढ एव सुव्यवस्थित बैंकिंग व्यवस्था के विकास मे सहयोग प्रदान किया है। रिजर्व बैंक ने सफलतापूर्वक देश मे पत्र-मुद्रा जारी करने का कार्य किया है। इसने सस्ती मुद्रा-नीति (Cheap Money Policy) का अनुसरण कर भारतीय उद्योग, कृषि एव वाणिज्य की बढती हुई आवश्यकताओ की पूर्ति की है। 1951 ई० तक बैंक-दर 3 प्रतिशत थी। 1951 ई० मे इसे बढाकर $3\frac{1}{2}$ प्रतिशत कर दिया गया। पुनः 1957 ई० मे इसे बढाकर 4 प्रतिशत तथा 1963 ई० मे $4\frac{1}{2}$ प्रतिशत कर दिया गया। मई, 1973 ई० मे बैंक-दर को बढाकर 7 प्रतिशत जुलाई, 1974 में 9 प्रतिशत कर दिया जो पिछले सभी वर्षों से अधिक है। रिजर्व बैंक ने देश की बैंकिंग व्यवस्था को भी विभिन्न प्रकार से सहायता प्रदान किया है। बहुत से व्यावसायिक बैंको को आर्थिक संकट मे अन्तिम ऋणदाता (Lender of the Last Resort) के रूप मे सहायता प्रदान कर इसने उन्हें फेल होने से बचाया है। औद्योगिक वित्त-व्यवस्था को सुदृढ आधार प्रदान करने मे भी रिजर्व बैंक बहुत अधिक प्रयत्नशील रहा है। बैंक के इन प्रयत्नो के फलस्वरूप ही देश मे औद्योगिक वित्त-निगम (Industrial Finance Corporation), राज्य वित्तीय निगम (State Financial Corporations), पुनर्वित्त निगम (Re-finance Corporation), औद्योगिक विकास बैंक (Industrial Development Bank) तथा इसी प्रकार की अन्य सस्थाएँ स्थापित हो सकी हैं। ये सस्थाएँ उद्योग-धन्धो को दीर्घकालीन ऋण प्रदान करती हैं। कृषि-साख के सहायतार्थ बैंक का कृषि-साख विभाग प्रारम्भ से ही प्रयत्नशील रहा है, किन्तु हाल के सशोधन के फलस्वरूप बैंक कृषि साख की व्यवस्था मे और भी अधिक प्रयत्नशील हो गया है। रिजर्व बैंक ने भारत एव राज्य सरकारो के लिए सरकारी ऋण की व्यवस्था भी की है। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष से सम्बन्ध स्थापित कर बैंक ने रुपये के वाह्य मूल्य को भी स्थायी बनाने का प्रयत्न किया है। इस प्रकार रिजर्व बैंक ने केन्द्रीय बैंक के प्राय सभी कार्यो को पर्याप्त सफलता के साथ सम्पन्न किया है।

किन्तु, रिजर्व बैंक के कार्यों की कई कारणों से आलोचना भी की जाती है। इसके विरुद्ध साधारणतया निम्नलिखित आरोप लगाये जाते हैं :—

(1) **रुपये के आन्तरिक मूल्य में अस्थिरता** (Instability in the internal value of the Rupee) .—रिजर्व बैंक रुपये के आन्तरिक मूल्य को स्थायी बनाने मे प्रायः असफल रहा है। द्वितीय महायुद्ध के समय देश मे मुद्रा की मात्रा मे बहुत अधिक वृद्धि हुई जिससे मुद्रा के मूल्य मे बहुत ह्रास हुआ तथा मूल्य-तल मे पर्याप्त वृद्धि हुई। इसका देश की आर्थिक व्यवस्था पर बडा ही घातक प्रभाव पडा है, किन्तु इसके लिए हम केवल रिजर्व बैंक को ही पूर्ण रूप से उत्तरदायी नही ठहरा सकते। इसके लिए सरकार तथा तत्कालीन परिस्थितियाँ भी बहुत हद तक उत्तरदायी थी।

(2) **सुव्यवस्थित मुद्रा-बाजार एव बिल-बाजार का अभाव** :—प्रायः यह कहा जाता है कि रिजर्व बैंक देश मे एक सुसगठित मुद्रा एव बिल-बाजार की स्थापना मे असफल रहा है।

देश मे मुद्रा-बाजार के समुचित विकास के लिए यह बाजार के विभिन्न अगो मे यथेष्ट सहयोग नही उत्पन्न कर सका है। अपने जीवन-काल के प्राय· 38 वर्षों के बाद भी यह देशी बैंकिंग प्रणाली से प्रभावपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करने मे प्राय. असफल रहा है। इसी प्रकार बिलो के पुनः भुगतान (Re-discount) की सुविधा प्रदान करने मे भी प्रायः असफल रहा है। भारतीय मुद्रा-बाजार के विभिन्न हिस्सो से प्रचलित ब्याज की दरों मे भी अब तक समानता नही आ पायी है। इस प्रकार रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया के विभिन्न प्रयत्नो के परिणामस्वरूप देश मे अभी तक समुचित बिल-बाजार का विकास नहीं हो पाया है।

(3) कृषि-साख (Agricultural Credit) **की समुचित व्यवस्था का अभाव** :—रिजर्व बैंक के विरुद्ध यह भी कहा जाता है कि यह देश कृषि-साख की समुचित व्यवस्था को प्रोत्साहित नही कर सका है। भारत मे कृषि साख प्रदान करने के प्रमुख साधन—महाजन तथा साहूकार—की क्रियाओ को अभी-तक बैंक नियन्त्रित नहीं कर सका है। इसमे कोई सन्देह नही कि ग्रामीण साख-सर्वेक्षण समिति की सिफारिशो के आधार पर बैंक ने कृषि-साख को अधिक प्रोत्साहित करना प्रारम्भ कर दिया है किन्तु फिर भी, अब तक इस क्षेत्र मे बहुत अधिक कार्य करने की आवश्यकता है।

इस प्रकार रिजर्व बैंक के कार्यों के विरुद्ध बहुत-सारी आलोचनाएँ दी जाती हैं किन्तु इन सारी आलोचनाओ के बावजूद देश मे आर्थिक स्थायित्व के युग का सचार करने मे बैंक ने निस्सदेह बडा ही महत्त्वपूर्ण सहयोग प्रदान किया है। रिजर्व बैंक ने समय-समय पर अपने कार्यों द्वारा देश की आर्थिक-व्यवस्था को सुदृढ आधार प्रदान करने का सफल प्रयास किया है। आशा की जाती है कि भविष्य मे देश के आर्थिक हित मे बैंक और अधिक उपयोगी कार्य करेगा।

विशेष अध्ययन सूची

1. Reserve Bank of India : Functions and Working
2. Reserve Bnak of India : Reports on Currency and Finance.
3. S. K. Basu : A Survey of Contemporary Banking Trends, Chapters XII to XIV
4. K. N. Raj : Monetary Policy of the Reserve Bank of India.

—: o :—

अध्याय : 28
बैंकों का राष्ट्रीयकरण
(Nationalisation of Banks)

प्राक्कथन :—आधुनिक युग मे किसी देश के आर्थिक जीवन मे बैंको का बडा ही महत्व पूर्ण स्थान है। अतः विभिन्न देशो मे समय-समय पर इनके राष्ट्रीयकरण की माग होती रही है। **बैंकों के राष्ट्रीयकरण के प्रश्न के दो प्रमुख पहलू हैं :—**

(क) केन्द्रीय बैंक का राष्ट्रीयकरण (Nationalisation of the Central Bank), तथा

(ख) व्यावसायिक बैंको का राष्ट्रीयकरण (Nationalisation of Commercial Banks)।

रूस तथा इसी प्रकार के अन्य समाजवादी देशो मे सभी प्रकार के बैंको का राष्ट्रीयकरण किया जा चुका है। इगलैंड, फ्रास आदि मुक्त अर्थ व्यवस्थावाले देशो मे केवल केन्द्रीय बैंक का राष्ट्रीयकरण हुआ है, किन्तु व्यावसायिक बैंको का नही। इसके विपरीत सयुक्त राज्य अमेरिका मे किसी भी प्रकार के बैंक का राष्ट्रीयकरण नही हुआ है। अतएव, बैंको के राष्ट्रीयकरण के दृष्टिकोण से वर्तमान समय मे विश्व के विभिन्न देशो को तीन वर्गों मे विभाजित किया जा सकता है —प्रथम श्रेणी मे वे देश आते हैं जिनमे सभी प्रकार के बैंको का राष्ट्रीयकरण हुआ है, द्वितीय श्रेणी मे वे देश आते हैं जिनमे केवल केन्द्रीय बैंक या एक-आध व्यावसायिक बैंक का ही राष्ट्रीयकरण हुआ है तथा तृतीय श्रेणी मे वे देश आते हैं जिनमे किसी भी प्रकार के बैंक का राष्ट्रीयकरण नही हुआ है।

केन्द्रीय बैंक का राष्ट्रीयकरण (Nationalisation of the Central Bank) —जहाँ तक केन्द्रीय बैंक के राष्ट्रीयकरण का प्रश्न है, अब प्राय सभी इस बात से सहमत हैं कि अधिकतम सामाजिक कल्याण के लिए केन्द्रीय बैंक जैसी महत्त्वपूर्ण सस्था पर राज्य का स्वामित्व एव नियन्त्रण बिल्कुल अनिवार्य है। केन्द्रीय बैंक प्रारम्भ से ही महत्त्वपूर्ण कार्यों को करते आ रहे हैं। इनका प्रधान उद्देश्य देश की मौद्रिक नीति को कार्यान्वित करना है। व्यावसायिक बैंको की तरह अधिकतम मुनाफा कमाना नही चाहते। इस प्रकार केन्द्रीय बैंक के कार्यों पर सरकारी नियन्त्रण के सम्बन्ध मे विद्वानो तथा राजनीतिज्ञो मे अब कोई मतभेद नही है। मतभेद केवल इसी बात को लेकर है कि सरकारी नियन्त्रण के साथ-साथ सरकारी स्वामित्व भी हो या नहीं। वास्तव मे, यह प्रश्न व्यावहारिक है सैद्धांतिक नही। यदि केन्द्रीय बैंक पर सरकारी नियन्त्रण बिलकुल प्रभावपूर्ण हो तो राज्य के स्वामित्व की कोई आवश्यकता नही, किन्तु अपूर्ण नियत्रण की स्थिति मे केन्द्रीय बैंक पर राज्य का स्वामित्व अधिक आवश्यक हो जाता है।

फिर भी, केन्द्रीय बैंक के राष्ट्रीयकरण के पक्ष एवं विपक्ष में बहुत-सारे तर्क दिये जाते हैं जिनमें निम्नलिखित प्रमुख हैं —

केन्द्रीय बैंक के राष्ट्रीयकरण के पक्ष मे तर्क (Arguments in favour of Nationalisation of Central Bank) —केन्द्रीय बैंक के राष्ट्रीयकरण के पक्ष मे साधारणतया निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत किये जाते है :—

(i) **अधिकतम जन-कल्याण की प्राप्ति के लिए केन्द्रीय बैंक पर राज्य का स्वामित्व अनिवार्य है।** केन्द्रीय बैंक का प्रधान कार्य राज्य की मौद्रिक नीति को कार्यान्वित करना है जिससे इसके कार्यों का देश की सम्पूर्ण आर्थिक व्यवस्था पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव पडता है। अतएव, आर्थिक दृष्टि से ऐसी महत्त्वपूर्ण सस्था पर सरकार का पूर्ण स्वामित्व बिलकुल अनिवार्य है।

(ii) **आर्थिक नियोजन तथा पूर्ण रोजगारी (Full employment) के उद्देश्य की पूर्ति के लिए भी केन्द्रीय बैंक का राष्ट्रीयकरण अनिवार्य है।** आजकल प्रत्येक देश की आर्थिक नीति का प्रधान उद्देश्य आय के उच्च स्तर पर पूर्ण रोजगार की स्थापना है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए लोग आर्थिक नियोजन का अवलम्बन कर रहे हैं। योजना के उद्देश्यो की पूर्ति के लिए पर्याप्त मात्रा मे साधनो की आवश्यकता पडती है। और, जैसा कि हम जानते हैं केन्द्रीय बैंक से ही प्रत्येक देश मे मुद्रा का उद्गम होता है। अतएव, इसके राष्ट्रीयकरण से विकास के लिए साधन प्राप्त किया जा सकता है।

(iii) बैंक के कार्य में इससे अधिक कुशलता आ जायगी —जब केन्द्रीय बैंक पूर्ण रूप से सरकारी प्रबन्ध एवं नियन्त्रण में रहेगा तो वह अपने कार्यों को अधिक क्षमता के साथ कर सकता है। अतएव कार्य-कुशलता के दृष्टिकोण से भी केन्द्रीय बैंकों का राष्ट्रीयकरण आवश्यक हो जाता है।

(iv) लाभ का उपयोग राष्ट्रीय हित में हो सकता है—केन्द्रीय बैंक अपने कार्यों से, जिन पर साधारणतया इसका एकाधिकार होता है विभिन्न प्रकार से लाभ प्राप्त करता है। राष्ट्रीयकरण के समर्थकों की यह राय है कि बैंक का यह लाभ हिस्सेदारों के बीच नहीं बाँट कर इसका प्रयोग जन-कल्याण में होना चाहिए। यह तभी हो सकता है जबकि बैंक का राष्ट्रीयकरण हो जाता है।

(v) केन्द्रीय बैंक के अन्य महत्त्वपूर्ण कार्यों के कारण भी इसका राष्ट्रीयकरण आवश्यक हो जाता है —केन्द्रीय बैंक के अधिकांश कार्यों का राज्य की नीति से सम्बन्ध होता है, जैसे—सरकार के आय-व्यय का हिसाब रखना, सार्वजनिक ऋण की व्यवस्था करना, पत्र-मुद्रा जारी करना इत्यादि। इन महत्त्वपूर्ण कार्यों को करने से इसका प्रभाव देश की सम्पूर्ण आर्थिक व्यवस्था पर पड़ता है। अतएव केन्द्रीय बैंक का राष्ट्रीयकरण आवश्यक हो जाता है।

केन्द्रीय बैंक के राष्ट्रीयकरण के विपक्ष में तर्क (Arguments against Nationalisation of Central Bank) —केन्द्रीय बैंक के राष्ट्रीयकरण के विपक्ष में साधारणतया निम्नांकित तर्क दिये जाते हैं —

(i) सरकारी स्वामित्व के अन्तर्गत रहने से बैंक के कार्यों का संचालन ठीक-ठीक नहीं होता है —केन्द्रीय बैंक के कार्य इतने अधिक जटिल होते हैं कि इन्हें विशेषज्ञों द्वारा ही सम्पन्न किया जा सकता है। प्रजातन्त्र के अन्तर्गत चुने हुए मंत्रियों को इसकी कार्यवाही के सम्बन्ध में समुचित जानकारी नहीं रहती है। अतएव इससे बैंक के कार्यों में अकुशलता की आशंका रहती है, किन्तु वास्तव में यह तर्क बिलकुल तथ्यहीन जान पड़ता है, क्योंकि सरकारी स्वामित्व के अन्तर्गत भी बैंकों की वास्तविक कार्यवाही इसके स्थायी कर्मचारियों के हाथ में ही रहती है जो इस कार्य में बहुधा दक्ष रहा करते हैं।

(ii) सरकारी कर्मचारियों की अकुशलता —केन्द्रीय बैंक के राष्ट्रीयकरण से बैंक पूर्णतया सरकारी कर्मचारियों के हाथ में आ जाता है जिनकी तरक्की प्रायः उनकी नौकरी की अवधि के अनुसार होती है। इसके परिणामस्वरूप केन्द्रीय बैंक का कार्य कुशलतापूर्वक नहीं सम्पन्न किया जाता है किन्तु हिस्सेदारों का बैंक रहने से कर्मचारियों की तरक्की या नौकरी इनकी कार्य कुशलता पर निर्भर करती है। अतएव, वे बहुत सोच विचार कर तथा परिश्रम से बैंक का कार्य करते हैं। अतः जब केन्द्रीय बैंक व्यक्तिगत हाथों में रहता है तब यह व्यावसायिक सिद्धान्तों (Sound Business Principles) का अच्छे प्रकार से पालन करता है और बैंक के कर्मचारी भी अधिक कुशलता से कार्य करते हैं।

(iii) कार्यों में विलम्ब होने लगता है —सरकारी स्वामित्व के अन्तर्गत आ जाने से बैंक के कार्यों में विलम्ब (Red Tapism) होने लगता है। किसी साधारण-सी बात के सम्बन्ध में भी निर्णय लेने में अनावश्यक रूप से देर होती है, परन्तु वैयक्तिक स्वामित्व के अन्तर्गत किसी समस्या के सम्बन्ध में निर्णय अति शीघ्रता से लिया जाता है जिससे इसके कार्यों में अनावश्यक विलम्ब नहीं हो पाता।

(iv) राजनीतिक दलों का प्रभाव —केन्द्रीय बैंक के कार्यों का देश की आर्थिक व्यवस्था पर बहुत ही महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। केन्द्रीय बैंक के राष्ट्रीयकरण से इस बात की आशंका रहती है कि कहीं ये इन राजनीतिक दलों के हाथ की कठपुतली न बन जायँ जिससे ये देश के आर्थिक कल्याण के लिए सुचारु रूप से कार्य करने में असमर्थ हो जायँ।

केन्द्रीय बैंक के राष्ट्रीयकरण के विपक्ष में दिये जानेवाले तर्क बहुधा अयुक्तिसंगत जान पड़ते हैं। वास्तव में, आयोजित अर्थ व्यवस्था के अन्तर्गत उत्पादन विनियोग एवं बचत सभी पर सरकार का नियन्त्रण अनिवार्य है। इसके साथ ही, मुद्रा की सम्पूर्ण राशि पर नियन्त्रण भी अनिवार्य है। ऐसी स्थिति में केन्द्रीय बैंक का राष्ट्रीयकरण अति आवश्यक हो जाता है। यही

कारण है कि आजकल विश्व में केन्द्रीय बैंक के राष्ट्रीयकरण की प्रवृत्ति उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही है। उदाहरण के लिए, 1936 ई० में डेनमार्क तथा न्यूजीलैंड के केन्द्रीय बैंक 1938 ई० में कैनाडा के केन्द्रीय बैंक, 1945 ई० में आस्ट्रेलिया के केन्द्रीय बैंक, 1946 ई० में इंगलैंड तथा फ्रांस के केन्द्रीय बैंक एवं 1949 ई० में भारत के रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया का राष्ट्रीयकरण हुआ। इनमें से कैनाडा के अतिरिक्त अन्य सभी देशों में केन्द्रीय बैंकों का राष्ट्रीयकरण मुआवजा देकर किया गया है।

व्यावसायिक बैंकों का राष्ट्रीयकरण

(Nationalisation of Commercial Banks)

व्यावसायिक बैंक के राष्ट्रीयकरण के पक्ष में तर्क (Arguments in favour of Nationalisation of Commercial Banks) —व्यावसायिक बैंकों के राष्ट्रीयकरण का प्रश्न अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। व्यावसायिक बैंकों के राष्ट्रीयकरण के पक्ष में बहुत-से महत्त्वपूर्ण तर्क दिये जाते हैं **जिनमें साधारतया प्रो० सेयर्स (Sayers) द्वारा दिये गये निम्नांकित तर्क विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण हैं —**

(1) कार्य-क्षमता-सम्बन्धी तर्क (Efficiency issue),

(2) एकीकरण सम्बन्धी तर्क (Integration issue),

(3) मुद्रीकरण-सम्बन्धी तर्क (Monetisation issue) तथा

(4) समाजीकरण-सम्बन्धी तर्क (Socialisation issue)।

(1) कार्य-क्षमता-सम्बन्धी तर्क (Efficiency issue) —व्यावसायिक बैंकों के राष्ट्रीयकरण के पक्ष में सबसे महत्त्वपूर्ण तर्क यह दिया जाता है कि राष्ट्रीयकृत बैंक निजी बैंकों की अपेक्षा अधिक कार्य-कुशल होते हैं। निजी बैंकों द्वारा उधार तथा बैंक-जमा के वितरण के कार्य न्यूनतम व्यय पर नहीं किये जाते है। साथ ही, आपस की प्रतिस्पर्द्धा के कारण इनकी आवश्यकता से अधिक शाखाएँ होती हैं जिससे इनका व्यवस्थापन-सम्बन्धी व्यय भी बहुत अधिक होता है। इसके विपरीत, राष्ट्रीयकृत बैंकों में नयी नयी शाखाओं की स्थापना में आपसी प्रतिस्पर्द्धा नहीं होगी जिससे इनका व्यवस्थापन-व्यय अपेक्षाकृत कम होता है। इस प्रकार यह कहा जाता है कि राष्ट्रीयकृत बैंकों का व्यवस्थापन-व्यय अपेक्षाकृत कम होगा।

किन्तु, प्रो० सेयर्स (Sayers) आदि विद्वानों की राय में निजी बैंक कम कार्य कुशल नहीं होते। साथ ही, इनके व्यवस्थापन व्यय में कटौती की भी बहुत कम गुंजाइश रहती है। निजी बैंकों की शाखाएँ आवश्यकता से अधिक अवश्य होती हैं, किन्तु इनका नियन्त्रण अच्छी तरह से होता है। वास्तव में बैंकों की व्यवस्था के लिए योग्य एवं विशेषज्ञ बैंकरों की आवश्यकता होती है। इंगलैण्ड आदि देशों में इस प्रकार के योग्य सचालक पर्याप्त सख्या में पाये जाते हैं। इन देशों में व्यावसायिक बैंक न अधिक मुनाफा कमाने पर जोर देते हैं, न इनका उत्पादन व्यय ही अधिक होता है, किन्तु भारत में योग्य बैंक सचालकों का अभाव है। साथ ही भारत में सरकारी प्रबन्ध अपनी अकुशलता के लिए कुख्यात है। अतएव, अच्छे एवं सुयोग्य बैंक सचालकों के अभाव में बैंकों का राष्ट्रीयकरण किस हद तक लाभप्रद होगा, यह कहना बहुत ही कठिन है। वास्तव में, भारत जैसे देश में बैंकों के अच्छे कानून से अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान अच्छे बैंकरों का है।

(2) एकीकरण-सम्बन्धी तर्क (Integration Issue) :—केन्द्रीय बैंक का प्रधान कार्य देश की मौद्रिक नीति को कार्यान्वित करना है, यह तभी सम्भव है जबकि केन्द्रीय बैंक का देश के व्यावसायिक बैंकों पर समुचित नियंत्रण रहे। किन्तु प्रत्येक देश में व्यावसायिक बैंकों की सख्या बहुत अधिक होती है। इससे इन असख्य एवं बिखरे हुए व्यावसायिक बैंकों पर नियंत्रण का कार्य बहुत ही कठिन हो जाता है। साथ ही व्यावसायिक बैंक केन्द्रीय बैंक का नेतृत्व सदा सहर्ष स्वीकार नहीं करते। इसमें कोई सन्देह नहीं कि व्यावसायिक बैंकों पर नियंत्रण रखने के लिए केन्द्रीय बैंक के पास बहुत-से अस्त्र मौजूद रहते हैं, फिर भी, नियंत्रण के कार्य में बहुत अधिक कठिनाई होती है। अतएव, केन्द्रीय बैंकों के नियंत्रण को अधिक प्रभावपूर्ण बनाने के लिए भी व्यावसायिक बैंकों का राष्ट्रीयकरण अनिवार्य है। राष्ट्रीयकरण से व्यावसायिक बैंकों की सख्या

बहुत कम हो जायगी जिससे मौद्रिक नीति को कार्यान्वित करने का कार्य निश्चय ही बहुत सुगम हो जायगा। भारत में भी व्यावसायिक बैंकों की संख्या बहुत अधिक है। इनके अतिरिक्त सैकड़ों स्वदेशी बैंकर्स हैं जिन पर केन्द्रीय बैंक का प्राय कोई नियन्त्रण नहीं हो पाया है। ऐसी स्थिति में मौद्रिक नीति को कार्यान्वित करने में बहुत कठिनाई होती है। यदि राष्ट्रीयकरण के द्वारा इन बैंकों का सम्मिश्रण कर दिया जाय तो नियन्त्रण का कार्य बहुत ही सुविधाजनक हो जायगा।

इस प्रकार व्यावसायिक बैंकों के राष्ट्रीयकरण से इनका एकीकरण होगा जिससे इनके नियन्त्रण एवं मौद्रिक नीति के कार्यान्वयन का कार्य बहुत ही सुगम हो जायगा।

(3) मुद्रीकरण-सम्बन्धी तर्क (Monetisation Issue) .—मुद्रा सृजन के कार्य पर प्रारम्भ से ही राज्य का विशेषाधिकार रहा है। अतएव, मुद्रा के सृजन का लाभ राज्य को ही प्राप्त होना चाहिए जो इसे जन-हित के कार्यों में व्यय करेगा। हम जानते हैं कि आज के युग में व्यावसायिक बैंकों का जमा नकद मुद्रा की ही तरह प्रयोग किया जाता है। इतना ही नहीं, इंगलैंड तथा अमेरिका-जैसे आर्थिक दृष्टि से विकसित राष्ट्रों में मुद्रा की कुल पूर्ति का एक बहुत बड़ा भाग व्यावसायिक बैंकों के जमा का है। व्यावसायिक बैंक, बैंक जमा के सृजन द्वारा ही अपने लाभ का एक बहुत बड़ा भाग प्राप्त करते हैं। राष्ट्रीयकरण के समर्थकों का यह कहना है कि बैंक-जमा पर राष्ट्रीय स्वामित्व होना चाहिए तथा इनका लाभ निजी बैंकों के हिस्सेदारों को नहीं प्राप्त होकर स्वयं सरकार एवं समाज को प्राप्त होना चाहिए।

अतएव, मुद्रीकरण के आधार पर भी व्यावसायिक बैंकों के राष्ट्रीयकरण का तर्क दिया जाता है। वास्तव में, बैंकों के राष्ट्रीयकरण के पक्ष में यह सर्वाधिक प्रमुख तर्क है। निजी नियन्त्रण में व्यावसायिक बैंकों को छोड़ने से मौद्रिक क्षेत्रों में भी एकाधिकार (Money Trust) की स्थापना की सम्भावना रहती है। उदाहरण के लिए, इंगलैंड के बैंकिंग व्यवसाय का एक बहुत बड़ा भाग वहाँ के पंच महान् (Big Five) बैंकों के हाथों में है। ये आपस में मिलकर अधिक लाभ कमाने के उद्देश्य से मौद्रिक क्षेत्र में एकाधिकार की स्थापना कर सकते हैं। बैंकों के राष्ट्रीयकरण के द्वारा इस प्रवृत्ति को समाप्त किया जा सकता है।

(4) समाजीकरण-सम्बन्धी तर्क (Socialisation Issue) :—जिस देश में उद्योग-धन्धों का राष्ट्रीयकरण हो रहा है वहाँ व्यावसायिक बैंकों को पूँजीपतियों के हाथ में छोड़ना युक्ति-संगत नहीं है। इससे समाजीकरण (Socialisation) की क्रिया में बाधा उत्पन्न होती है, क्योंकि साधारणतः यह देखा जाता है कि निजी व्यवस्था के अन्तर्गत के बैंक राष्ट्रीय उद्योग-धन्धों को उधार देने में आनाकानी करते हैं। अतएव, ऐसी स्थिति में व्यावसायिक बैंकों का पहले ही राष्ट्रीयकरण होना चाहिए। प्रो० सेयर्स (Sayers) ने इस सम्बन्ध में बहुत ही ठीक कहा है कि ऐसे देशों में व्यावसायिक बैंकों के राष्ट्रीयकरण के उचित समय के सम्बन्ध में विवाद है न कि निजी व्यावसायिक बैंकों बनाम राष्ट्रीयकृत व्यावसायिक बैंक के सम्बन्ध में। जो देश समाजीकरण के मार्ग पर अग्रसर हो रहे हैं वहाँ तो आज अथवा कल सभी उद्योगों का राष्ट्रीयकरण निश्चय ही होगा। अतएव, प्रश्न केवल इतना ही है कि व्यावसायिक बैंकों का राष्ट्रीयकरण पहले किया जाय या बाद में। वास्तव में, यदि निजी व्यावसायिक बैंक राष्ट्रीयकरण के मार्ग में बाधा पहुँचा रहे हों तो इनका राष्ट्रीयकरण पहले ही कर लेना चाहिए।

किन्तु प्रश्न यह है कि व्यावसायिक बैंक ऐसा क्यों करेंगे? आजकल तो व्यावसायिक बैंक अपने जमा का अधिकांश भाग, प्राय 70 प्रतिशत भाग तक, सरकारी प्रतिभूतियों में ही लगाते हैं। इस अर्थ में सभी व्यावसायिक बैंक प्राय सरकारी बैंक ही हो गये हैं। अतएव, राष्ट्रीय उद्योगों को उधार देने में ये क्यों आनाकानी करेंगे। साथ ही इनके राष्ट्रीयकरण से कोई हानि भी नहीं होगी वरन् इससे राष्ट्रीय ऋण कम हो जायगा। फ्रांस में तो सरकार ने केवल केन्द्रीय बैंक का ही राष्ट्रीयकरण नहीं किया है, वरन वहाँ के चार प्रमुख व्यावसायिक बैंकों का भी राष्ट्रीयकरण किया है। भारत में भी 1955 ई० में इम्पीरियल बैंक जो यहाँ का सबसे बड़ा व्यावसायिक बैंक था, का तथा 1969 में 14 अन्य बड़े-बड़े व्यावसायिक बैंकों का राष्ट्रीयकरण किया गया।

इस प्रकार व्यावसायिक बैंकों के राष्ट्रीयकरण के पक्ष में उक्त सारे तर्क दिये जाते हैं। इन्हीं तर्कों के आधार पर राष्ट्रीयकरण के समर्थक व्यावसायिक बैंकों का राष्ट्रीयकरण चाहते हैं।

व्यावसायिक बैंकों के राष्ट्रीयकरण के विपक्ष में तर्क

(Arguments against Nationalisation of Commercial Banks)

दूसरी ओर, व्यावसायिक बैंको के राष्ट्रीयकरण के विपक्ष मे भी बहुत सारे तर्क दिये जाते हैं जिनमे निम्नांकित प्रमुख हैं—

(1) व्यावसायिक बैंकों का राष्ट्रीयकरण हो जाने पर वे ऋण देने में पक्षपात करेंगे—राष्ट्रीयकरण के विपक्ष में यह कहा जाता है कि राज्य के हाथ मे बैंको के चले जाने से ये ऋण देने मे पक्षपात करने लगेंगे। ऋण देना एक राजनीतिक विषय हो जायगा और राज्य कुछ उद्योगो को प्रोत्साहन देकर एव कुछ को न देकर इनके बीच एक प्रकार से विभेद का व्यवहार करेगा, किन्तु इस सम्बन्ध मे ध्यान देने योग्य बात यह है कि आर्थिक नियोजन मे साख का वितरण सार्वजनिक महत्त्व के अनुसार होता है। ऐसी व्यवस्था मे योजना के लिए पर्याप्त परिमाण मे वित्त का होना आवश्यक है। आर्थिक नियोजन मे भिन्न-भिन्न उद्योगो मे विभेद भी आवश्यक हो जाता है। आवश्यक उद्योगो को प्रोत्साहन दिया जाता है, किन्तु यह राष्ट्र के आर्थिक कल्याण के लिए होता है। इसके पीछे कोई अन्य उद्देश्य कार्य नही करता। अतएव, आयोजित अर्थ-व्यवस्था मे व्यावसायिक बैंको के ऊपर राज्य का स्वामित्व होना नितात आवश्यक है।

प्राय यह भी कहा जाता है कि राज्य के स्वामित्व मे होने से ये सिर्फ बडे उद्योगो को ही प्रोत्साहन देंगे। इस कारण छोटे उद्योगो को कठिनाइयो का सामना करना पडेगा, किन्तु वास्तव मे ऐसा तर्क युक्तिसगत नही जान पडता। बैंको के राष्ट्रीयकरण के पक्ष मे बहुधा वे ही लोग हैं जो बडे उद्योगो का भी राष्ट्रीयकरण करना चाहते हैं। राज्य के नियन्त्रण मे रहने से बैंक छोटे-छोटे उद्योगो को विशेष प्रोत्साहन देंगे, क्योंकि ऐसा कर राज्य पूर्ण रोजगारी की स्थिति प्राप्त करना चाहता है।

(2) राष्ट्रीयकरण से आर्थिक सकट उत्पन्न होगा—व्यावसायिक बैंको के राष्ट्रीयकरण के विपक्ष मे दूसरा तर्क यह दिया जाता है कि राष्ट्रीयकरण से देश मे पूँजी की कमी हो जायगी। यहाँ से पूँजी बाहर जाने लगेगी, किन्तु इस तर्क मे कोई तथ्य नही जान पडता। बैंको का राष्ट्रीयकरण आयोजित अर्थ व्यवस्था मे ही होगा और आयोजित अर्थ व्यवस्था मे सरकार पूँजी को बाहर नही जाने देगी।

(3) रुपया जमा करनेवालों का हित सुरक्षित नहीं रहेगा—इसके विपक्ष मे तीसरी बात यह कही जाती है कि राष्ट्रीयकरण से रुपया जमा करनेवालो (Depositors) का हित सुरक्षित नही रह सकेगा। दूसरे शब्दो मे, बैंक निजी व्यक्तियो के हाथ मे रहकर ही अपने जमा करने वालो के हितो की रक्षा कर सकते हैं। साथ ही, यह कहा जाता है कि राष्ट्रीयकरण से जमा का रहस्य (secrecy) भग हो जायगा, किन्तु यह तर्क भी युक्तिसगत नही प्रतीत होता। वास्तव मे, बैंको पर राज्य का स्वामित्व होने से जमा करनेवालो का हित ज्यादा सुरक्षित रह सकेगा। साथ ही, राज्य के स्वामित्व मे आ जाने से बैंक ज्यादा साहसपूर्ण तरीके से कार्य कर सकेंगे जिससे देश का विशेष रूप से आर्थिक कल्याण हो सकेगा।

निष्कर्ष—इस प्रकार व्यावसायिक बैंको के राष्ट्रीयकरण के पक्ष तथा विपक्ष मे दिये जानेवाले विभिन्न तर्कों के अध्ययन से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि आयोजित आर्थिक व्यवस्था मे व्यावसायिक बैंको का राष्ट्रीयकरण अधिक उचित होगा, किन्तु जैसा कि कोल (G D H Cole) महोदय का कहना है, "जब बिना बैंको के राष्ट्रीयकरण के ही आर्थिक नियोजन की आवश्यकता की पूर्ति के उद्देश्य से साख के वितरण को नियन्त्रित किया जा सके तो ऐसी स्थिति मे बैंको का राष्ट्रीयकरण आवश्यक नहीं है।" किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि बैंको का राष्ट्रीयकरण आवश्यक नही है। वास्तव मे, पुन कोल महोदय के शब्दो मे ही "योजना के सफल सचालन एव सस्ती दर पर साख की पूर्ति के लिए यह अत्यन्त ही वाछनीय है।" और, पुन. जैसा कि कोल ने कहा है, "यदि व्यावसायिक बैंक एक सार्वजनिक सस्था की तरह व्यवहार नहीं करते हो तब तो ऐसी स्थिति मे आयोजित आर्थिक व्यवस्था के अन्तर्गत इनका राष्ट्रीयकरण अत्यावश्यक हो जाता है।" (The socialisation of Banks will be absolutely

necessary unless the banks act as if they had been socialised even if they have not been.)

किन्तु, केवल बैंको के राष्ट्रीयकरण से ही योजनाकरण का उद्देश्य पूरा नही हो सकता। इसके लिए बैंको के राष्ट्रीयकरण के साथ-साथ उद्योगो का भी राष्ट्रीयकरण आवश्यक है। यही कारण है कि रूस जैसी समाजवादी आर्थिक व्यवस्थावाले देशों मे, जिनका आर्थिक विकास योजनाकरण के आधार पर हुआ है उद्योग-धधो के साथ-ही-साथ केन्द्रीय तथा व्यावसायिक दोनो प्रकार के बैंको का राष्ट्रीयकरण किया गया है।

1969 ई० में देश के 4 बड़े-बड़े व्यावसायिक बैंको का राष्ट्रीयकरण कर भारत सरकार भी इस दिशा में महत्त्वपूर्ण कार्य किया है।

विशेष अध्ययन-सूची

1. Sayers : Modern Banking.
2. G. D. H. Cole : Money : Its Present and Future

अध्याय : 29

भारतीय बैंकों का राष्ट्रीयकरण

(Nationalisation of Banks in India)

प्राक्कथन :—स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद से ही भारत मे भी व्यावसायिक बैंको के राष्ट्रीयकरण की माग की जा रही है। 1954-55 ई० मे अखिल भारतीय कांग्रेस महासमिति द्वारा समाजवादी ढांचे की सामाजिक व्यवस्था Socialist Pattern of Society) के आदर्श को अपनाने के बाद तो राष्ट्रीयकरण की माग को और भी बल मिला। राष्ट्रीयकरण की इस बढती हुई माग के परिणामस्वरूप ही 1949 ई० मे रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया Reserve Bank of Ind a) का राष्ट्रीयकरण किया गया तथा 1955 ई० मे इम्पीरियल बैंक ऑफ इण्डिया (Imperial Bank of India) का राष्ट्रीयकरण किया गया तथा अन्य 12 बैंको को मिलाकर एक स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया (State Bank of India) की स्थापना की गयी, किन्तु इससे भी व्यावसायिक बैंको के राष्ट्रीयकरण की माग मे कोई कमी नही आयी। परिणामस्वरूप अक्टूबर, 1967 ई० मे अखिल भारतीय काग्रेस महासमिति के जबलपुर अधिवेशन मे बैंको के राष्ट्रीयकरण के प्रश्न पर तत्कालीन वित्त मन्त्री श्री मोरारजी देसाई ने यह घोषणा की कि फिलहाल देश के व्यावसायिक बैंको का सामाजिक नियन्त्रण (Social control) किया जायगा और दो वर्षों मे यदि सामाजिक नियन्त्रण की नीति सफल नही होगी तो व्यावसायिक बैंको के राष्ट्रीयकरण के प्रश्न पर विचार किया जायगा।

किन्तु, सामाजिक नियन्त्रण के बाद भी व्यावसायिक बैंको के राष्ट्रीयकरण की माग जोर पकडती ही गयी और अन्तत 19 जुलाई, 1969 को एक अध्यादेश द्वारा भारत सरकार ने 50 करोड रुपये से अधिक जमावाले देश के 14 प्रमुख व्यावसायिक बैंको का राष्ट्रीयकरण कर लिया।

अब भारत मे बैंको के राष्ट्रीयकरण के पक्ष तथा विपक्ष के विभिन्न तर्कों की व्याख्या की जायगी।

भारत में व्यावसायिक बैंको के राष्ट्रीयकरण के पक्ष में तर्क

(Arguments for Nationalisation of Commercial Banks in India)

भारत मे व्यावसायिक बैंको के राष्ट्रीयकरण के पक्ष मे समय समय पर विभिन्न तर्क दिये जाते रहे हैं जिनमें निम्नांकित विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं :—

(1) जमाकर्त्ताओ के हितो की सुरक्षा (Safeguarding the interest of depositors) —व्यावसायिक बैंको का एक प्रमुख कार्य जनता की बचतो को जमा के रूप मे स्वीकार करना है। जनसाधारण सुरक्षा अथवा व्याज कमाने के उद्देश्य से ही अपनी बचतो को बैंको मे जमा करते हैं, किन्तु व्यावसायिक बैंक यदा कदा इनके जमा का दुरुपयोग करते हैं जिसके परिणामस्वरूप समय-समय पर बहुत से बैंको को अपना कार्य ही बन्द करने के लिए विवश होना पडता है तथा जनता का जमा डूब जाता है। उदाहरण के लिए, भारत मे 1913 से 1951 के बीच के बैंक-सकट की अवधि मे 1597 बैंक जिनकी कुल परिदत्त पूंजी 19 56 करोड रुपये थी, फेल कर गये। इसी प्रकार 1953 से 1960 के बीच 86 बैंक, जिनकी कुल परिदत्त पूंजी 1 24 करोड रुपये तथा कुल जमा 3 37 करोड रुपये था, बन्द हो गये। इससे स्पष्ट है कि निजी नियन्त्रण के अन्तर्गत के बैंको मे जमाकर्त्ताओ का हित सदा सुरक्षित नही रहता। देश मे डालमिया जैन के नियन्त्रण के अन्तर्गत की कम्पनियो की कार्यवाही की जाँच के लिए नियुक्त विवान बोस आयोग का भी यह निष्कर्ष था कि इस वर्ग की कम्पनियो की सभी राष्ट्र-विरोधी तथा समाज विरोधी क्रियाओ मे किसी-न-किसी बैंक का अवश्य ही सहयोग था। अत , जमाकर्त्ताओ के हितो की सुरक्षा के लिए व्यावसायिक बैंको का राष्ट्रीयकरण अनिवार्य है। जमा बीमा निगम (Deposit Insurance

Corporation) की स्थापना से छोटे-छोटे जमाकर्त्ताओं के हित तो सुरक्षित हो गये हैं, किन्तु 10,000 रुपये से अधिक के जमा अभी भी असुरक्षित ही हैं।

(2) निजी बैंकों द्वारा साख के अत्यधिक सृजन से स्फीति को बल मिला है (Overexpansion of credit by privately owned commercial banks has greatly added to the inflationary pressure) :— भारत मे व्यावसायिक बैंको के राष्ट्रीयकरण के पक्ष मे बहुधा यह तर्क भी प्रस्तुत किया जाता है कि निजी नियन्त्रण के अन्तर्गत के व्यावसायिक बैंक अधिकाधिक लाभ कमाने के उद्देश्य से साख का अनुचित सृजन करते हैं जिससे देश मे स्फीतिजनक प्रवृत्तियो को और बल मिलता है। डा० ज्ञानचन्द (Gyanchand) ने अपनी पुस्तक 'The Meance of Inflation' मे इसकी चर्चा करते हुए लिखा है कि "The credit which the banks provide are not merely loans of the savings which is deposited with them by their clients...Even the loans which are made from savings give the banks enormous power over the surplus resources of the country which should not be used according to the discretion of self-appointed directors and not unoften in their own interest and that of their business friends But as currency and credit differ only in form and not in substance as intruments of exchange, the privately owned institutions are an important source of money supply and exercise this function as stated above without due regard for the interests of the community"

निस्सन्देह रिजर्व बैंक के नियन्त्रण के बावजूद व्यावसायिक बैंक अधिकाधिक लाभ कमाने के उद्देश्य से अर्थ-व्यवस्था की आवश्यकताओं को ध्यान मे रखे बगैर ही अनुचित तरीके से साख का सृजन करने मे सफल हो जाते हैं। इस प्रक्रिया मे बड़े-बड़े उद्योगपतियो तथा व्यावसायियो को तो असीमित मात्रा मे ऋण प्राप्त हो जाता है, किन्तु जिन्हे वित्त की वास्तविक रूप से आवश्यकता होती है, वे इसमे वचित ही रह जाते हैं। वास्तव मे, पिछले कुछ वर्षो मे, अधिक लाभ तथा आर्थिक शक्ति प्राप्त करने के लोभ मे व्यावसायिक बैंको द्वारा अनियोजित तरीके से साख के प्रसार से देश मे स्फीतिजनक प्रवृत्तियाँ विशेष रूप से प्रभावित हुई हैं और इसे नियन्त्रित करने से रिजर्व बैंक की साख-नीति वस्तुत प्रभावहीन रही है।

(3) आर्थिक सत्ता का सकेन्द्रण (Concentration of economic power) :— भारत मे प्रमुख व्यावसायिक बैंको का स्वामित्व कुछ प्रमुख औद्योगिक गृहो के हाथ मे है जिन्हे इन बैंको द्वारा बहुत बड़े पैमाने पर ऋण तथा अग्रिम सदा प्राप्त होते हैं। इन औद्योगिक गृहो के प्रतिनिधि प्रमुख व्यावसायिक बैंको के सचालन-मण्डल के सदस्य होते हैं। इस प्रकार Interlocking of Directorship के द्वारा ये अपने उद्योगो के लिए वित्त प्राप्त करने मे समर्थ हो पाते है। प्रत्येक बैंक उसी उद्योग को अधिकाधिक ऋण प्रदान करता है जिसमे उसके सचालको का हित निहित रहता है। यही समाज मे आर्थिक शक्ति तथा सत्ता के अनुचित सकेन्द्रण का प्रधान कारण है। उदाहरण के लिए, 1965 ई० के अन्त मे बैंको के कुल अग्रिम का 88·7 प्रतिशत भाग केवल उद्योग तथा वाणिज्य को दिया गया था। रिजर्व बैंक के गवर्नर ने भी इस प्रकार का विचार व्यक्त किया है। अवाछनीय ढग से बैंको के जमा का प्रयोग करने से सकेन्द्रण देखने को यदा-कदा मिलता है।

किन्तु, इस प्रकार का तर्क सर्वथा उचित प्रतीत नही होता, क्योंकि देश मे आर्थिक सकेन्द्रण के लिए सरकार की योजना-सम्बन्धी प्राथमिकताएँ, लाइसेंस नीति तथा आयात-निर्यात नीति भी कम उत्तरदायी नही हैं। साथ ही यह कहना भी तथ्ययुक्त नही है कि बैंको ने अपने हितोंवाली या ऐसे फर्मों में अपने धन का अधिकाश भाग लगाया है जिनमे वे निजी दिलचस्पी रखते हैं। उदाहरण के लिए, 1966 ई० मे देश के 20 प्रमुख व्यावसायिक बैंको ने कुल 1472 करोड रुपये अग्रिम के रूप मे दिये थे जिनमे 1322 करोड रुपये यानी कुल अग्रिम का प्राय· 89 9 प्रतिशत भाग ऐसे फर्मों को दिया गया था जिनमे इसके संचालकों का कोई हित निहित नही था। निम्नाकित तालिका से यह अधिक स्पष्ट हो जाता है :—

1966 में निजी क्षेत्र के 20 बड़े बड़े बैंकों के अग्रिम का वितरण

मदें	अग्रिम (करोड रु० मे)	कुल अग्रिम का प्रतिशत
1. वे अग्रिम जिनमे निदेशको का हित निहित है	50	3 4
2. वे अग्रिम जिनमे निदेशको का नाम-मात्र का हित है	99	6 7
3. वे अग्रिम जिनमे निदेशको का कोई हित नही है	1323	89 9
कुल	1472	100 0

दूसरी ओर इस सन्दर्भ मे अधिक दिलचस्प बात यह है कि स्टेट बैंक ने 1966 मे अपने कुल अग्रिम का 24 प्रतिशत भाग अपने निदेशको तथा उनसे सम्बन्धित फर्मो को दिया था ।

(4) बैंकिंग सेवाओं के नियोजित विस्तार (Planned expansion of Banking services) के लिए :- देश मे बैंकिग सेवाओ के नियोजित विस्तार के लिए भी व्यावसायिक बैंको का राष्ट्रीयकरण आवश्यक बतलाया जाता है । देश की प्राय 82 प्रतिशत जनसख्या गाँवो मे निवास करती है और देश के ग्रामीण क्षेत्रो मे अब भी बैंको का विस्तार बिल्कुल नही हुआ है । साथ ही, भिन्न-भिन्न राज्यो मे बैंकिग सम्बन्धी सेवाओ के विस्तार मे विषमता पायी जाती है । महाराष्ट्र, कर्नाटक, तमिलनाडु, पश्चिमी बगाल तथा केरल आदि राज्यों मे अन्य राज्यो की अपेक्षा बैंकिग-सम्बन्धी सुविधाओ का अधिक विस्तार हुआ है । यह इस बात से स्पष्ट है कि जबकि केरल मे औसत रूप से प्रति 58 वर्गमील मे एक बैंक है, जम्मू एव कश्मीर मे प्रति 6151 वर्गमील तथा उडीसा मे 1075 वर्गमील मे एक बैंक है ।

ग्रामीण क्षेत्रो मे बैंकिग-सम्बन्धी सेवाओ के विस्तार की भी बहुत अधिक आवश्यकता है, किन्तु इस अल्पकाल मे बहुत ही कम लाभ की आशा रहती है । अत. राष्ट्रीयकरण के बगैर ग्रामीण क्षेत्रो मे बैंकिग सेवाओ का समुचित विस्तार सम्भव नही है ।

(5) आर्थिक विकास की योजनाओं में सहयोग के लिए :—बैंको के राष्ट्रीयकरण से देश की जनता का भारतीय बैंकिग प्रणाली में विश्वास बढेगा जिससे बैंकों की जमा-राशि मे अधिक वृद्धि की सम्भावना है । इससे भारत सरकार को धन प्राप्ति का एक ऐसा साधन प्राप्त होगा जिसमे निरन्तर वृद्धि होती जायगी । स्पष्टत इससे आर्थिक विकास की पचवर्षीय योजनाओ के कार्यान्वयन मे अधिक सहायता की आशा की जाती है।

किन्तु, इस प्रकार का तर्क बिल्कुल तथ्यहीन जान पडता, है क्योकि निजी क्षेत्र के बैंक भी छोटी-छोटी बचतो को एकत्र करने म राजकीय क्षेत्र के बैंको से पीछे नही हैं । साथ ही, इनका जमा भी अनुत्पादक कार्यो मे नही लगाया गया है ।

(6) महत्त्वपूर्ण क्षेत्रों के लिए ऋण-प्राप्ति में सुविधा —भारतीय बैंको पर यह आरोप भी लगाया जाता है कि ये बहुधा केवल बडे-बडे उद्योगो तथा महत्त्वपूर्ण व्यावसायिक इकाइयो को ही कर्ज प्रदान करते हैं । कृषि, लघु उद्योग तथा निर्यात व्यापार, जिनका देश की अर्थ व्यवस्था मे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है, के लिए साख प्रदान करने म ये कोई विशेष रुचि नही दिखलाते ।

इस तर्क म सत्य की मात्रा अधिक अवश्य जान पडती है जैसा कि राष्ट्रीयकरण के पूर्व इनके ऋणो के वितरण की निम्नांकित तालिका से स्पष्ट है —

ऋण-प्राप्ति के क्षेत्र	कुल ऋण का प्रतिशत
1 उद्योग	64 3
2, व्यापार	24 4
3. वित्तीय संस्थाएँ	3 3
4. कृषि	0 2
5 लघु उद्योग	4 6
6 व्यवसाय	0 6
7. विविध	2 6
कुल	100 0

इस प्रकार स्पष्ट है कि बैंको के कुल ऋण का केवल 0 2 प्रतिशत कृषि तथा 4 6 प्रतिशत लघु उद्योगो को प्राप्त हुआ है। इन क्षेत्रों की अवहेलना का एक कारण यह भी है कि इनमे जोखिम की मात्रा बहुत अधिक पायी जाती है। केवल राष्ट्रीयकृत बैंक ही इतना अधिक जोखिम वहन कर सकते हैं। अत कृषि लघु उद्योग तथा निर्यात व्यापार को अधिकाधिक सहायता प्रदान करने के लिए भी व्यावसायिक बैंकों का राष्ट्रीयकरण आवश्यक बतलाया जाता है।

भारत में व्यावसायिक बैंको के राष्ट्रीयकरण के विपक्ष में तर्क

(Arguments against Nationalisation of Commercial Banks in India)

इसके विपरीत कुछ लोग भारत मे बैंको के राष्ट्रीयकरण को सामाजिक तथा आर्थिक दृष्टिकोण से हितकर नही मानते। व्यावसायिक बैंको के राष्ट्रीयकरण के विपक्ष मे ये बहुधा निम्नांकित तर्क प्रस्तुत करते हैं —

(1) रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया को व्यावसायिक बैंकों के नियन्त्रण के सम्बन्ध मे यो ही बहुत व्यापक अधिकार प्राप्त हैं —भारतीय बैंकिंग अधिनियम के अन्तर्गत रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया, जो देश का केन्द्रीय बैंक है, को देश के व्यावसायिक बैंको के नियमन एवं नियन्त्रण के सम्बन्ध मे अत्यन्त व्यापक अधिकार प्रदान किये गये है। सामाजिक नियन्त्रण कार्यक्रम के अन्तर्गत तो रिजर्व बैंक को और भी व्यापक अधिकार प्रदान किये गये थे। रिजर्व बैंक द्वारा इन अधिकारो का समुचित रूप से प्रयोग करने पर व्यावसायिक बैंको के राष्ट्रीयकरण की कोई आवश्यकता ही नही रह जाती। रिजर्व बैंक के ये अधिकार निम्नांकित विवरण से अधिक स्पष्ट हो जाते हैं—

(क) व्यवस्थापन पर नियन्त्रण (Control over management)—रिजर्व बैंक किसी भी बैंक के अध्यक्ष अथवा किसी निदेशक को हटा सकता है, निदेशक मंडल मे अपना प्रतिनिधि (Nominee) रख सकता है तथा प्रमुख कार्याधिकारी की नियुक्ति मे भी हस्तक्षेप कर सकता है।

(ख) निरीक्षण (Supervision)—रिजर्व बैंक किसी भी बैंक के खाते का पूर्ण रूप से निरीक्षण कर सकता है तथा किसी भूल को सुधारने का आदेश दे सकता है। साथ ही, एक करोड से अधिक के सभी अग्रिम के लिए व्यावसायिक बैंको को रिजर्व बैंक की पूर्व अनुमति लेनी पडती है।

(ग) बैंको के विस्तार पर नियन्त्रण (Regulation over expansion of Banks)—रिजर्व बैंक की अनुमति के बगैर कोई भी बैंक कोई नयी शाखा नही खोल सकता। इसी प्रकार यह छोटे-छोटे बैंको को मध्यम अथवा बडे आकार के बैंको से मिलाने का आदेश भी दे सकता है।

(घ) साख-नियन्त्रण (Credit control)—रिजर्व बैंक को साख-नियन्त्रण के सम्बन्ध मे भी व्यापक अधिकार प्राप्त हैं। इसे जमा तथा ऋण पर ब्याज की दरो को निश्चित करने का अधिकार प्राप्त है। 1972 ई० के एक संशोधन के अनुसार व्यावसायिक बैंको को अपने कुल जमा का कम से कम 27 प्रतिशत भाग तरल साधन के रूप मे रखना पडता है। इसमे सरकारी प्रतिभूतियाँ भी सम्मिलित हैं।

साराश यह है कि बैंकिंग व्यवसाय के क्षेत्र मे कोई भी ऐसा कार्य नही है जिस पर रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया का प्रभावपूर्ण नियन्त्रण नही हो। ऐसी स्थिति मे व्यावसायिक बैंको का राष्ट्रीयकरण लगभग अनावश्यक सा ही प्रतीत होता है।

(2) कुल जमा का एक बहुत बड़ा भाग पहले से ही राजकीय क्षेत्र में विद्यमान है—यह तर्क देना कि व्यावसायिक बैंकों के राष्ट्रीयकरण से सरकार को जमा के रूप मे एक बहुत बडी रकम प्राप्त होगी बिल्कुल तथ्यहीन है। वास्तव मे, देश के व्यावसायिक बैंको के कुल जमा का एक बहुत बडा भाग पहले से ही स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया तथा इसके सहायक बैंको के हाथ मे है। इनके अतिरिक्त पोस्ट ऑफिस बचत बैंक-व्यवस्था है जिसके द्वारा सरकार जनता की बचतो का एक बडा भाग एकत्र करती है। 31 मार्च 1966 को कुल पोस्टल जमा 641 करोड रुपये था। इनके अतिरिक्त राजकीय क्षेत्र मे औद्योगिक वित्त निगम, राज्य वित्तीय निगम, औद्योगिक विकास बैंक, यूनिट ट्रस्ट ऑफ इण्डिया तथा जीवन बीमा निगम आदि हैं जिनके द्वारा पूँजी बाजार का एक बहुत बडा भाग सरकारी क्षेत्र मे चला जाता है। यदि संस्थानिक वित्त के क्षेत्र मे जीवन बीमा निगम (Life Insurance Corporation) के कार्यों को भी ध्यान म रखा जाय तो इससे सरकारी क्षेत्र का महत्त्व बहुत ही बढ जाता है। इनके द्वारा सरकार बहुत हद तक निजी क्षेत्र को नियन्त्रित करने मे समर्थ है।

(3) राष्ट्रीयकरण से सम्पूर्ण शक्ति एक केन्द्रीय संस्था के हाथ में केन्द्रित हो जायगी जिसके निर्णय सभी के लिए बाध्य होंगे। दूसरे शब्दो मे, इससे एक बहुत ही छोटे वर्ग के व्यक्तियों के हाथ विशाल आर्थिक शक्ति का सकेन्द्रण हो जायगा। इससे जमाकर्त्ताओ तथा ऋण लेनेवालों को नौकरशाही के इशारे पर चलना होगा। दूसरे शब्दो मे, इससे लोग एक प्रकार के Post Office Socialism का अनुभव करेंगे। राष्ट्रीयकरण से लोचपूर्णता तथा प्रयोजन एव उद्योग के लिए क्षेत्र के बहुत ही सीमित हो जाने की भी सम्भावना है।

(4) यह कहना भी सत्य नहीं है कि व्यावसायिक बैंक केवल अपने संचालकों तथा इनसे सम्बन्धित कम्पनियों को ही कर्ज तथा अग्रिम प्रदान करते हैं। वास्तव म, इनके ऋण तथा अग्रिम पर रिजर्व बैंक का प्रभावपूर्ण नियन्त्रण होता है तथा बैंको को अपने तन-पट मे इन्हें दिखलाना पडता है और सबसे बडी बात तो यह है कि इस प्रकार का अग्रिम कोई बहुत बडा भी नही है। उदाहरण के लिए, 1966 ई० मे निजी क्षेत्र के 20 प्रमुख अधिसूचित बैंको के कुल जमा का केवल 1½ प्रतिशत भाग सचालकों तथा इनसे सम्बन्धित कम्पनियो मे था जबकि राजकीय क्षेत्र के बैको द्वारा 26 प्रतिशत भाग उनके सचालकों तथा उनसे सम्बन्धित कम्पनियो को दिया गया था।

(5) व्यावसायिक बैंकों के राष्ट्रीयकरण से इनकी कुशलता में भी कमी आ जायगी—इस प्रकार का तर्क जीवन बीमा निगम तथा अन्य राजकीय सस्थाओ की कार्यवाही के आधार पर प्रस्तुत किया जाता है। इस प्रकार की अकुशलता का एक प्रमाण जीवन बीमा निगम के विनियोग से मिल सकता है। निगम द्वारा लाखो रुपये अवाछनीय ढग से विनियोजित किये गये थे। हरिदास मुद्रा का मुकदमा इसका सबसे बडा उदाहरण है।

(6) कृषि तथा लघु उद्योगों के लिए धन—व्यावसायिक बैंको के राष्ट्रीयकरण के पक्ष मे सर्वाधिक प्रधान तर्क यह दिया जाता है कि ये कृषि तथा लघु उद्योग के लिए ऋण नही प्रदान करते, किन्तु इस प्रकार का आरोप बहुधा युक्तिसगत नही है, क्योकि लघु उद्योगो तथा कृषि को ऋण प्रदान करना एक बडा ही कठिन कार्य है। सर्वप्रथम लघु उद्योगो का उदाहरण लिया जाय। लघु उद्योगो को कर्ज चुकाने की शक्ति (Credit worth ness) के सम्बन्ध म पता लगाना बडा ही कठिन कार्य है। साथ ही, इनकी आर्थिक स्थिति के सम्बन्ध मे पता लगाना भी बडा ही कठिन कार्य है। सबसे बडी बात तो यह है कि बैंको को सदा तरलता एव सुरक्षा को ध्यान में रखकर ही ऋण देना पडता है, क्योकि बैंक अपने जमाकर्त्ताओ की रकम के Trustees होते है।

व्यावसायिक बैंको द्वारा कृषि को ऋण प्रदान करना तो और भी कठिन कार्य है। कृषि के क्षेत्र मे ऋण प्रदान करने की समस्या ग्रामीण क्षेत्रो मे बिखरे हुए लगभग 6 करोड व्यक्तिगत किसानो को ऋण देने की है जो बहुधा जीवन-निर्वाह स्तर पर कृषि का कार्य करते हैं। इनमे से अधिकाश की जोतें अनार्थिक है। इन किसानो को ऋण प्रदान करना व्यावसायिक बैंको के लिए व्यावहारिक नही जान पडता। कृषि तथा किसानों को ऋण प्रदान करने के लिए सहकारी संस्याएँ पिछले 60 65 वर्षों से विशेष रूप से कार्य करती हैं, किन्तु सहकारिता आन्दोलन भी

अपने उद्देश्य की पूर्ति मे मुख्यत असफल ही रहा है। अत किसानो की साख-सम्बन्धी आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए सहकारिता आन्दोलन को ही सबल आधार प्रदान करना नितात आवश्यक है।

बैंकों का सामाजिक नियन्त्रण

(Social Control of Commercial Banks)

देश मे व्यावसायिक बैंको के राष्ट्रीयकरण की बढती हुई माग क परिणामस्वरूप अक्टूबर, 1967 ई० मे अखिल भारतीय कांग्रेस महासमिति ने अपने अधिवेशन मे बैंको के सामाजिक नियन्त्रण के सम्बन्ध मे एक प्रस्ताव पारित किया।

किन्तु, बैंको के सामाजिक नियन्त्रण का आशय क्या है ? प्रो० जी० डी० एच० कोल (G D H. Cole) जैसे कुछ लेखको के अनुसार बैंको के सामाजिक नियन्त्रण का तात्पर्य बैंको का राष्ट्रीयकरण अथवा समाजीकरण है, किन्तु भारतीय सदर्भ मे समाजीकरण तथा राष्ट्रीयकरण पर्यायवाची शब्द नही है। वास्तव मे, जब कि व्यावसायिक बैंको के राष्ट्रीयकरण का आशय सरकार द्वारा बैंको के स्वामित्व तथा नियन्त्रण दोनो से है, सामाजिक नियन्त्रण का तात्पर्य कुछ सामाजिक तथा आर्थिक उद्देश्यो की पूर्ति के लिए सरकार द्वारा अधिकाधिक मात्रा मे बैंको का नियमन एव नियत्रण है। इस नीति के अन्तर्गत बैंको का स्वामित्व इनके हिस्सेदारो के ही हाथ मे रहेगा तथा इनकी व्यवस्था इनके द्वारा चुने गये सचालकमडल के द्वारा ही की जायगी, किन्तु सरकार को इनके लिए एक पूर्णकालिक अध्यक्ष की नियुक्ति का अधिकार प्रदान किया गया जो एक प्रोफेसनल बैंकर होगा। अखिल भारतीय कांग्रेस महासमिति के प्रस्ताव के अन्तर्गत सामाजिक नियत्रण की व्याख्या निम्न प्रकार से की गयी थी : "Social control means greater participation of banks with effective state guidance in the mobilization of deposits and distribution of credit to the socially desirable sectors of the economy" इसके अनुसार सामाजिक नियन्त्रण के अन्तर्गत निम्नाकित बातो का समावेश आवश्यक है .—(क) गावो मे बैंकिग-सम्बन्धी आदतो के प्रसार तथा बचत को एकत्र करने के उद्देश्य से ग्रामीण क्षेत्रो मे बैंको का अधिकाधिक प्रसार, (ख) कृषि, लघु उद्योग तथा निर्यात के लिए प्राथमिकता के आधार पर ऋण प्रदान करना, (ग) विकास-सम्बन्धी योजनाओ के अनुरूप बैंको का विकास जिससे ये योजना के लक्ष्यो की पूर्ति मे सहायक हो सकें, तथा (घ) साख के अत्यधिक सकेन्द्रण को रोकना।[1]

बैंकों का सामाजिक नियन्त्रण-सम्बन्धी विधेयक, 1967 :-बैंको को सामाजिक नियत्रण के अन्तर्गत लाने के उद्देश्य स 23 दिसम्बर 1967 को श्री मोरारजी देसाई ने ससद् के समक्ष एक विधेयक प्रस्तुत किया जो 1968 ई० मे कानून बन गया था तथा 1 फरवरी, 1969 से लागू किया गया। इस विधेयक के अन्तर्गत बैंको पर प्रभावपूर्ण नियन्त्रण के लिए निम्नांकित कदम उठाने की व्यवस्था थी .—

(i) सर्वप्रथम तो, प्रत्येक बैंक के लिए एक पूर्णकालिक अध्यक्ष होगा जो बैंक व्यवसायी (Professional banker) होगा। उसका कार्यकाल 5 वर्षों का होगा। उसकी नियुक्ति अथवा बर्खास्तगी के लिए रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया की पूर्व अनुमति आवश्यक होगी।

(ii) बैंको के सचालक मंडल में कम-से-कम दो निर्देशक ऐसे होंगे जिन्हें कृषि, लघु उद्योग तथा सहकारिता के सम्बन्ध मे व्यावहारिक अनुभव हो।

1 दिसम्बर, 1967 में ससद् में सामाजिक नियन्त्रण सम्बन्धी नीति की व्याख्या करते हुए श्री मोरारजी देसाई ने निम्नांकित विचार व्यक्त किया था :—"Our fundamental aim within the frame work of democratic socialism, is to regulate our social and economic life or to attain the optimum growth rate for our economy and to prevent at the same time any monopolistic trend concentration of economic power and misdirection of resources The banking system is an important intermediary through which the savings of the community are channelised, and is a key constituent of our economic life We are all agreed that its policies and practices must serve the basic social and economic objectives"

(iii) कोई भी बैंक अपने निदेशकों तथा उद्योगों को जिनमें उनका हित निहित हो ऋण नहीं प्रदान करेगा।

(iv) लगातार बैंकिंग अधिनियम तथा रिजर्व बैंक के निर्देशों का उल्लंघन करनेवाले बैंक के सम्पूर्ण कारोबार को रिजर्व बैंक अपने हाथ में ले सकता है।

(v) एक **राष्ट्रीय साख-परिषद्** (National Credit Council) की स्थापना की व्यवस्था थी जिसके 25 सदस्य होंगे। वित्त मन्त्री इसके अध्यक्ष होंगे। रिजर्व बैंक के गवर्नर, योजना आयोग के उपाध्यक्ष, वित्त मन्त्रालय के सचिव तथा कृषि-पुनर्वित्त निगम के अध्यक्ष के अतिरिक्त इसके 20 अन्य सदस्य होंगे जो विभिन्न हितों के विशेषज्ञ होंगे। इस परिषद का मुख्य कार्य बैंकों के लिए साख-वितरण के सम्बन्ध में व्यापक नीति का निर्धारण तथा विभिन्न साख-संस्थाओं की साख-सम्बन्धी नीति में समन्वय करना होगा।

इस प्रकार सामाजिक नियंत्रण की नीति के अंतर्गत बैंकों पर अधिक प्रभावपूर्ण नियन्त्रण की व्यवस्था की गयी थी। साथ ही, सरकार द्वारा इस संदर्भ में एक राष्ट्रीय बैंकिंग नीति की भी घोषणा की गयी। इस राष्ट्रीय बैंकिंग नीति में निम्नांकित पाँच बातों का समावेश था —

(i) जमाकर्त्ताओं का हित सुरक्षित होना चाहिए।

(ii) देश में मौद्रिक स्थायित्व बना रहना चाहिए।

(iii) बैंकिंग नीति का प्रधान उद्देश्य आर्थिक विकास के क्रम में सहायता प्रदान करना होना चाहिए।

(iv) साधनों के वितरण में प्राथमिक क्षेत्रों का प्राथमिकता दी जानी चाहिए।

(v) साधनों का श्रेष्ठतम उपयोग होना चाहिए।

इस प्रकार कुल मिलाकर सामाजिक नियंत्रण की नीति देश के आर्थिक हित को ध्यान में रखकर तैयार की गयी थी। इससे आर्थिक विकास के क्षेत्र में बैंकों से महत्त्वपूर्ण सहयोग की आशा की जाती थी।

चौदह बड़े व्यावसायिक बैंकों का राष्ट्रीयकरण

(Nationalisation of 14 Major Commercial Banks)

किन्तु, सामाजिक नियंत्रण की नीति भी राष्ट्रीयकरण के हिमायतियों की आकांक्षाओं की पूर्ति नहीं कर सकी तथा बैंकों के राष्ट्रीयकरण की मांग निरंतर जारी रही। 1969 में कांग्रेस महासमिति के बंगलोर अधिवेशन में सामाजिक नियंत्रण की कटु आलोचना हुई। तत्कालीन गृह मंत्री चौहान ने इसकी आलोचना करते हुए यह विचार व्यक्त किया था कि 'राष्ट्रीयकरण के बगैर सामाजिक नियंत्रण का कोई अर्थ नहीं होता तथा सामाजिक नियंत्रण के बगैर राष्ट्रीयकरण एक प्रपंच मात्र है।" (Social control without nationalisation has no meaning and nationalisation without Social control could be a fraud)

अतः अभी सामाजिक नियंत्रण नीति की स्याही भी नहीं सूख पायी थी कि 19 जुलाई, 1969 को एक अध्यादेश द्वारा भारत सरकार ने 50 करोड़ रुपये से अधिक जमावाले निम्नांकित 14 बैंकों का राष्ट्रीयकरण किया —

(1) सेन्ट्रल बैंक आफ इण्डिया,	(2) बैंक ऑफ इण्डिया
(3) पंजाब नेशनल बैंक,	(4) बैंक आफ बड़ौदा,
(5) युनाइटेड कमर्शियल बैंक	(6) कैनारा बैंक,
(7) युनाइटेड बैंक ऑफ इण्डिया	(8) डेना बैंक,
(9) सिंडिकेट बैंक,	(10) यूनियन बैंक आफ इण्डिया,
(11) इलाहाबाद बैंक,	(12) इण्डियन बैंक,
(13) बैंक ऑफ महाराष्ट्र, तथा	(14) इण्डियन ओवरसीज बैंक।

इस प्रकार सरकार ने एक कलम से 2742 करोड़ रुपये के अतिरिक्त जमा पर अपना अधिकार कर लिया। स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया तथा इसके सहायकों के साथ साथ इन चौदह बैंकों

को मिलाकर सरकार का अब कुल बैंक जमा के 85 प्रतिशत से भी अधिक भाग पर नियन्त्रण स्थापित हो गया है।

बैंको के राष्ट्रीयकरण की घोषणा करते हुए प्रधान मत्री ने अपने एक प्रसारण मे[1] यह एलान किया कि बैंकिंग व्यवस्था जैसी सस्था, जिसका राष्ट्र के करोडो निवासियो के जीवन से अत्यधिक घनिष्ठ रूप मे सम्बन्ध है को, अधिक व्यापक सामाजिक उद्देश्य से प्रेरित होना चाहिए तथा राष्ट्रीय प्राथमिकताओ एव उद्देश्यो की पूर्ति के लिए कार्य करना चाहिए। इसीलिए यह माग की जाती रही कि बड बडे बैंको पर केवल सामाजिक नियन्त्रण ही नही होना चाहिए वरन् इन्हे सरकारी स्वामित्व के अन्तगत लाना चाहिए। प्रमुख बैंको का राष्ट्रीयकरण जनता की बचत को एकत्र करने तथा उसे उत्पादक कार्यो मे लगानेवाली सस्थाओ को राजकीय स्वामित्व के अन्तर्गत लाने की ओर पहला कदम है।" (The nationalisation of major commercial banks is a significant step in the process of public control over the principal institution for the mobilisation of peoples' savings and canalising them towards productive purposes)

राष्ट्रीयकरण के उद्देश्य (Objectives of Nationalization) —भारत सरकार द्वारा प्रमुख बैंकों के राष्ट्रीयकरण के निम्नांकित प्रधान उद्देश्य हैं —

(1) **अर्थ व्यवस्था के विकास को तीव्रतर बनाना** (Accelerating the pace of the growth of the Economy) —इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए राष्ट्रीयकरण के बाद प्रमुख क्षेत्रो मे बैंक-साख के प्रवाह मे वृद्धि की जायगी। साथ ही, अबतक के उपेक्षित क्षेत्रो म भी इसके प्रवाह मे वृद्धि होगी। इस प्रकार आर्थिक विकास की गति तीव्र होगी जिसका निर्धनता तथा बेरोजगारी की समस्या पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव पडेगा और साथ ही, समाज मे धनी तथा निर्धन वर्गों के बीच विषमता मे भी कमी होगी।

(2) **देश मे बचत को अधिक प्रभावपूर्ण तरीके से एकत्र करना तथा इसे देश की सामाजिक एव आर्थिक प्राथमिकताओं के अनुसार प्रयोग मे लाना** (To mobilise more effectively the country's savings and to channelise them in conformity with nation's social and economic priorities) सम्भव होगा।

(3) **बैंको पर से चन्द व्यक्तियो के नियन्त्रण को समाप्त करना** (Removal of control over banks by a few)।

(4) **कृषि लघु उद्योग तथा निर्यात व्यापार के लिए पर्याप्त मात्रा मे साख की व्यवस्था** (*Provision of adequate credit for agriculture, small industries and* export) बैंको के राष्ट्रीयकरण के द्वारा सम्भव होगी।

(5) **बैंको की व्यवस्था को पेशेवर व्यवस्थापको के हाथ सुपुर्द करना** (The giving of a professional bent to bank management)।

(6) **नये साहसोद्यमियों के वग को प्रोत्साहित करना** (To encourage and foster the growth of progressive new entrepreneurs)।

(7) **ग्रामीण क्षेत्रों में बैंकिंग-सम्बन्धी सुविधाओं का विस्तार** (To extend banking facilities in unbanked and under banked centres especially in rural areas)।

---

1 बगलोर अधिवेशन में बैंकों के राष्ट्रीयकरण को तत्कालीन परिस्थितियों में अनावश्यक बतलाते हुए तत्कालीन उप प्रधान मन्त्री तथा वित्त मन्त्री श्री मोरारजी देसाई ने एक पृथक् टिप्पणी में निम्नांकित विचार व्यक्त किया था ' Mere nationalisation will not provide more resources Banks are the custodians of people's savings and it is only natural that they exercise a degree of care in deploying the funds entrusted to them while at the same time making credit available according to national priorities No bank, whether in public or private sector, can abandon the test of viability of credit transactions The experiment of social control is a continuing one It aims at socialization of credit without nationalisation of banking "

(8) **बैंक के कर्मचारियो के लिए प्रशिक्षण की समुचित सुविधा तथा सेवा की शर्तों में सुधार** (The provision of adequate training as well as reasonable terms of services for the bank staff)।

25 जुलाई, 1969 को ससद् मे इस सम्बन्ध मे एक विधेयक पारित हुआ जो आगे चलकर अधिनियम बन गया। इस अधिनियम के अन्तर्गत सभी राष्ट्रीयकृत बैंको को समान मूल्य के आधार पर 75 करोड रुपये मुआवजा देने की व्यवस्था थी। मुआवजे की रकम प्रतिज्ञा-पत्र या शेयर सर्टिफिकेट के रूप मे दी जायगी जो 10 वर्षों के बाद परिपक्व होंगे। साथ ही, इन पर $4\frac{1}{2}$ प्रतिशत वार्षिक ब्याज भी चुकाई जायगी। किन्तु, विदेशो मे स्थित इन बैंको की शाखाओ के सम्बन्ध मे यह लागू नही होगा, यदि उन देशो के कानून के अनुसार सरकारी बैंको को वहाँ काम काज करने की इजाजत नही है।

किन्तु, बैंक राष्ट्रीयकरण अधिनियम को कुछ लोगो ने सर्वोच्च न्यायालय मे चुनौती दी तथा सर्वोच्च न्यायालय ने बहुमत से राष्ट्रीयकरण को दो आधार पर अवैध करार किया – सर्वप्रथम तो सभी बैंको का राष्ट्रीयकरण नही कर सरकार ने केवल इन 14 बैंको के प्रति भेद-भाव (H stile discrimination) किया था। द्वितीयत, इस अधिनियम के अन्तर्गत मुआवजे की रकम भी अपर्याप्त थी। अत बैंको के राष्ट्रीयकरण के सम्बन्ध मे पुन एक नया विधयक लाना पडा जिसमे इन त्रुटियों को दूर करने का प्रयास किया गया। इस नये अधिनियम मे बैंको को अधिक मुआवजा दिया गया। साथ ही, भेद-भाव की भावना को समाप्त करने के लिए यह व्यवस्था की गयी कि राष्ट्रीयकृत बैंको के सचालक अथवा हिस्सेदार भी नये बैंकिग व्यवसाय की स्थापना कर सकते हैं।

राष्ट्रीयकरण के विरुद्ध तर्क (Arguments against Nationalisation):—अब यह प्रश्न है कि क्या बैंको का राष्ट्रीयकरण उचित ह तथा इससे आर्थिक विकास के क्षेत्र म यथोचित सहयोग प्राप्त हो सकता है? वास्तव म, भारत सरकार द्वारा प्रमुख बैंको के इस राष्ट्रीयकरण की कई कारणो से आलोचना की गयी है। इनमे निम्नाकित उल्लेखनीय हैं:—

(1) **राजनीतिक निर्णय** (Political decision) —14 प्रमुख व्यावसायिक बैंको के राष्ट्रीयकरण के सम्बन्ध मे सरकार का निर्णय जिस पृष्ठभूमि तथा जितनी जल्दीबाजी मे लिया गया उसे देखकर इसे राजनीतिक निर्णय ही कहा जा सकता है। वास्तव मे, काग्रेस के दोनो गुटो के पारस्परिक मतभेद के फलस्वरूप सत्तारूढ काग्रेस ने अपनी स्थिति को सुदृढ बनाने के लिए ही ऐसा कदम उठाया था। यह इस बात से स्पष्ट है कि दिसम्बर, 1963 मे भारत सरकार ने एक बैंकिग आयोग (Banking Commission) की नियुक्ति की थी। किन्तु इसकी सिफारिशो के पूर्व ही बैंका का राष्ट्रीयकरण कर देना राजनीतिक निर्णय ही कहा जा सकता है।

(2) **राजनीतिज्ञो का प्रभुत्व** —राष्ट्रीयकरण से बैंको की व्यवस्था मे राजनीतिज्ञो के प्रभुत्व में वृद्धि की आशा की जाती है। जिस प्रकार से देश का सहकारिता आन्दोलन पराजित राजनीतिज्ञो का कार्य क्षेत्र बन गया है उसी प्रकार सत्तारूढ दल बैंको के संचालक मडल मे भी अपने लोगो को रखना प्रारम्भ कर देगा। देश के राजकीय क्षेत्र के प्राय सभी उद्योगो के साथ यही बात पायी जाती है और बैंको का सचालन राजनीतिज्ञो के हाथ मे आने से पुन बैंको की समग्र सत्ता कुछ ही व्यक्तियो के हाथो मे केन्द्रीयकरण हो जायगा जो समाजवादी अर्थ-व्यवस्था के लिए निश्चय ही हानिकारक सिद्ध होगा।

(3) **नौकरशाही का प्रभुत्व** —राष्ट्रीयकृत बैंको के सचालन मे उसी लाल फीतेशाही तथा कागजी कार्यवाही के प्रभावपूर्ण होने की आशा है जो अन्य सरकारी सस्थाओ तथा वित्तीय कार्यालयो मे पायी जाती है। इससे राष्ट्रीयकरण का मूल उद्देश्य ही समाप्त हो जायगा।

(4) **क्षेत्रीय सकीर्णता** —राष्ट्रीयकरण के अन्तर्गत एक प्रमुख समस्या इस बात को लेकर भी उत्पन्न हो गयी है कि राष्ट्रीयकृत बैंको के सचालक मडलो मे राज्य सरकारो का कितना प्रतिनिधित्व हो? कुछ राज्य सरकारो ने तो यह मागना भी प्रारम्भ कर दिया है कि बैंको द्वारा उनके क्षेत्र मे सग्रहीत राशि उन्ही राज्यो मे विनियोग की जाय। इस प्रकार की माग देश की एकता तथा क्षेत्रीय सतुलन की भावना के विपरीत है। यदि इसे स्वीकार कर लिया गया तो

असम, उड़ीसा, बिहार तथा जम्मू-कश्मीर जैसे पिछड़े हुए राज्यों के विकास में इससे कोई भी सुविधा नहीं प्राप्त होगी।

(5) **छोटे-छोटे हितों का प्रतिनिधित्व भी साख के सिद्धांत के विरुद्ध है** :—राष्ट्रीयकरण के पश्चात् बैंकों के संचालक मंडल में छोटे-छोटे हितों के प्रतिनिधित्व की जो माँग की जाती है वह भी स्वस्थ नहीं है। इससे संचालक मंडल में बहुधा ऐसे व्यक्ति आ जायेंगे जिन्हें बैंकों की वास्तविक कार्यवाही के सम्बन्ध में कोई जानकारी नहीं रहती, अतः इस सम्बन्ध में भी आदर्श की जगह व्यावहारिकता को कसौटी मानना चाहिये।

बैंकों के राष्ट्रीयकरण को सफल कैसे बनाया जाय ?

इस प्रकार व्यावसायिक बैंकों के राष्ट्रीयकरण की कटु आलोचना की जाती है, किन्तु अब तो इनका राष्ट्रीयकरण एक वास्तविकता बन गया है। अतः अब प्रश्न यह है कि व्यावसायिक बैंकों के राष्ट्रीयकरण को सफल कैसे बनाया जाय ? वास्तव में, भारतीय बैंकों का राष्ट्रीयकरण सरकार तथा बैंक कर्मचारियों के लिए एक चुनौती है। यदि राष्ट्रीकरण से जनता को अधिक सुविधाएँ नहीं मिलेंगी तथा कृषि, लघु उद्योग एवं निर्यात को अधिकाधिक मात्रा में सहायता नहीं प्राप्त होगी तो राष्ट्रीकरण के विरोधियों की धारणाएँ सही ही निकलेंगी। अतः राष्ट्रीयकरण को सफल बनाने के लिए निम्नांकित प्रयत्नों को अपनाना अनिवार्य है :—

(1) **बैंक कर्मचारियों की मनोवृत्ति में परिवर्तन** :—सर्वप्रथम तो, राष्ट्रीयकरण की सफलता बैंक कर्मचारियों की मनोवृत्ति में आमूल परिवर्तन पर निर्भर करती है। अभी तक बैंक कर्मचारी अपने को जनता का सेवक नहीं समझते जिससे देश में बैंकिंग-सम्बन्धी सेवाएँ बहुत ही कम लोकप्रिय हो पायी हैं। वास्तव में, अब बैंक कर्मचारियों को इस धारणा पर कार्य करना चाहिए कि 'ग्राहक ही राजा है' (Customer is the king) तथा कोई भी ग्राहक छोटा नहीं है (No Customer is small)। इस उद्देश्य से बैंक कर्मचारियों के लिए स्थान-स्थान पर प्रत्यास्मरण कार्यक्रमों (Refresher Courses) की व्यवस्था की जानी चाहिए जिनमें इन्हें जनसेवा की मूल भावना की प्रेरणा दी जानी चाहिये।

(2) **जमा-संग्रह पर जोर**—बैंकों के कर्मचारियों की मनोवृत्ति में परिवर्तन के साथ-साथ राष्ट्रीयकृत बैंकों को जमा में वृद्धि के लिए भी विशेष प्रयत्नों का आयोजन करना चाहिए। इस उद्देश्य से ग्रामीण क्षेत्रों में इन बैंकों को अपनी शाखाओं का विस्तार करना चाहिए। कृषि से देश की कुल राष्ट्रीय आय का लगभग 50 प्रतिशत भाग प्राप्त होता है। साथ ही, आयोजित विकास कार्यक्रम के अन्तर्गत पिछले प्रायः 20 वर्षों में कृषि के क्षेत्र में अरबों रुपये की पूँजी लगी हुई है, फिर भी, कृषक-परिवार कुल बचतों का केवल 2.3 प्रतिशत भाग ही संग्रह करते हैं। ग्रामीण क्षेत्र में बैंकों की शाखाओं के विस्तार, में 'एक कर्मचारी कार्यालय' (One man office) तथा 'चलते-फिरते बैंकों' (Mobile banks) से भी बहुत अधिक सहायता मिल सकती है। संतोष का विषय है कि राष्ट्रीयकरण के बाद नयी शाखाओं की स्थापना में ग्रामीण तथा अर्द्ध शहरी क्षेत्रों को ही प्राथमिकता दी जा रही है। इससे ग्रामीण क्षेत्रों में बैंकों के विस्तार में बहुत अधिक सहायता मिल रही है।

(3) **लघु उद्योगों को वित्त** :—भारत में प्रायः 1.2 लाख लघु औद्योगिक संस्थान हैं जिनमें कोई 29 लाख व्यक्ति नियोजित हैं तथा जो समस्त निर्माण क्षेत्र का लगभग 52 प्रतिशत भाग समान तैयार करते हैं। अतः राष्ट्रीकृत बैंकों का लघु उद्योगों के विकास में भी उदारतापूर्वक साख प्रदान करना चाहिए। इस प्रकार के उद्योगों को लगभग 400-500 करोड़ रुपये के वार्षिक साख की आवश्यकता है। बैंकों को इतनी मात्रा में इन्हें वित्त प्रदान करने में कोई विशेष कठिनाई नहीं होनी चाहिए। इसके अतिरिक्त इन्हें तकनीकी सहायता भी प्रदान करनी चाहिए।

(4) **कृषि के लिए वित्त** :—भारत में व्यावसायिक बैंकों के विरुद्ध बहुधा यह शिकायत भी की जाती है कि ये कृषि तथा किसानों को ऋण नहीं प्रदान करते। 1968 ई० में प्रमुख अधिसूचित बैंकों के कुल विनियोग का केवल 0.2 प्रतिशत भाग ही कृषि को दिया गया था। अतः राष्ट्रीयकृत बैंकों को कृषि के लिए वित्त प्रदान करने की विशेष व्यवस्था करनी चाहिये। ग्रामीण साख-सर्वेक्षण समिति (1969) ने अपने प्रतिवेदन में यह विचार व्यक्त किया था कि 1973-74 तक

ग्रामीण साख के लिए लगभग 4`00 करोड रुपये की वार्षिक रकम की आवश्यकता होगी। राष्ट्रीयकृत बैंको को इसका एक बडा भाग स्वय पूरा करने के लिए तत्पर रहना चाहिए। ऐसा करने मे इन्हे किसी विशेष प्रकार की कठिनाई नही होगी।

(5) **निर्यात** (Export, देश के आर्थिक विकास के लिए निर्यात-सम्बन्धी उद्योगो पर अधिक जोर देना आवश्यक है। चतुर्थ पचवर्षीय योजना के अन्तर्गत निर्यात मे 7 प्रतिशत वार्षिक वृद्धि का आयोजन है जिसके परिणामस्वरूप निर्यात की कुल मात्रा के 1968-69 मे 134 करोड रुपये से बढकर 1973-74 मे 1900 करोड रुपये तथा 1980-82 तक 3010 करोड रुपये होने की आशा है। निर्यात मे इतनी अधिक वृद्धि के लिए निर्यात-सम्बन्धी उद्योगो को विशेष सहायता की आवश्यकता है। राष्ट्रीयकृत बैंको को इस सम्बन्ध मे वित्त, तकनीकी सलाह तथा विक्रय-सम्बन्धी मार्ग-प्रदर्शन की व्यवस्था करनी चाहिए। वास्तव मे, पश्चिमी देशो के बैंको की तरह भारतीय बैंको को भी विदेशी बाजारो के सम्बन्ध मे जानकारी प्राप्त करने के लिए पृथक् विभागो की स्थापना की जानी चाहिये तथा निर्यातको को इस सम्बन्ध मे विभिन्न प्रकार की सहायता प्रदान करनी चाहिए।

(6) **सरकारी नीति** (Government Policy).—व्यावसायिक बैंको को अपने-अपने कार्यक्षेत्र मे सरकार द्वारा निर्धारित विकास की योजनाओ तथा प्राथमिकताओ की जानकारी रखनी चाहिए। इन्हे अपनी व्यापक नीति का निर्धारण इन्ही योजनाओ को ध्यान मे रखकर करना चाहिए। ऐसा करने से ही देश के आर्थिक विकास मे ये राष्ट्रीयकृत बैंक सहयोग प्रदान कर सकते है।

(7) **राष्ट्रीयकृत बैंकों को क्षेत्रीय निगमो में संगठित किया जाना चाहिए**—बैंको के राष्ट्रीयकरण को सफलीभूत बनाने के लिए इनके सगठन मे आमूल परिवर्तन लाने की आवश्यकता है, किन्तु सभी राष्ट्रीयकृत बैंको को मिलाकर एक सगठन का निर्माण कार्यकुशलता की दृष्टि से उत्तम नही होगा। जीवन बीमा निगम (Life Insurance Corporation) की कार्यवाही से यह बिल्कुल स्पष्ट है। बैंकिंग आयोग ने भी इन्हें चार-पाँच क्षेत्रीय निगमो के रूप मे सगठित कर देने का सुझाव दिया है। इन क्षेत्रीय निगमो को अपने रोज-व-रोज के कार्यो के सम्पादन मे पर्याप्त स्वतन्त्रता रहनी चाहिए। ऐसा करने से राष्ट्रीयकरण के उद्देश्यो की पूर्ति हो सकती है।

(8) **बैंकों की सेवाओं में सुधार**—भारतीय बैंको की सेवाएँ अभी तक अत्यन्त निम्न कोटि की रही हैं। इससे जनसाधारण को बैंको से अपना कारोबार रखने मे कठिनाइयों का अनुभव होता है। अत बैंको की सेवाओ मे सुधार की प्रबल आवश्यकता है। इसके लिए बैंक कर्मचारियो के चुनाव की प्रणाली को अधिक वैज्ञानिक रूप देना होगा। साथ ही, कर्मचारियों के लिए दैनिक न्यूनतम कार्यक्रम निर्धारित कर देना चाहिए और कर्मचारियो की स्थिति के सम्बन्ध मे समय समय पर जानकारी प्राप्त करने के लिए विशेष समितियाँ तथा आयोगो का सगठन करना चाहिए।

इस प्रकार उपरोक्त उपायो द्वारा राष्ट्रीयकृत बैंको की कार्यवाही को अधिक सुलभ बनाकर इन्हें देश के आर्थिक विकास के लिए लाभदायक बनाया जा सकता है। वास्तव मे, राष्ट्रीयकरण कोई रामबाण औषधि नही है, अत इसे सफल बनाने के लिए बैंकिंग-सम्बन्धी नीतियो मे क्रांतिकारी परिवर्तन लाने होगे तथा इनका दृढता के साथ पालन करना होगा अन्यथा विकास का क्रम गतिशील होने के बजाय शिथिल हो जायगा तथा जनता का बैंको पर से विश्वास ही समाप्त हो जायगा। अत आशा है कि रिजर्व बैंक के नेतृत्व मे राष्ट्रीयकृत बैंक ऐसी क्रान्तिकारी नीतियो का कुशलतापूर्वक कार्यान्वयन करेंगे जिससे देश के आर्थिक विकास मे ये यथोचित सहयोग प्रदान कर सके।

राष्ट्रीयकृत बैंकों की प्रगति

(Progress of Nationalised Banks)

जुलाई, 969 मे 14 बडे बडे व्यावसायिक बैंको का राष्ट्रीयकरण किया गया। इसके बाद इन बैंको की कार्यवाही मे महत्त्वपूर्ण प्रगति हुई है, व्यावसायिक बैंको के भौगोलिक वितरण

में सुधार हुआ है, शाखाओं का द्रुतगति से विस्तार हुआ बड़े पैमाने पर जमा का एकत्रीकरण हुआ तथा प्राथमिक क्षेत्र को दिये जानेवाले साख की मात्रा में भी तीव्र गति से वृद्धि हुई है।" (There has been a considerable expansion in the geographical and functional coverage of the commercial Banks, with massive branch expansion, large scale deposit mobilization and a significant rise in credit extended to priority sectors) निम्नांकित विवरण से यह स्पष्ट है :—

(i) **नयी शाखाएँ** (New Branches) – राष्ट्रीयकरण के बाद राष्ट्रीयकृत बैंकों ने नयी शाखाओं की स्थापना में विशेष रूप से अभिरुचि दिखलाना प्रारम्भ कर दिया है। शाखाओं की स्थापना में मुख्यतः ग्रामीण तथा ऐसे क्षेत्र जहां पर बैंक की सुविधा नहीं है को प्रधानता दी जाती है। जून, 1969 में 14 बैंकों की कुल 4,133 शाखाएँ थी जो बढ़कर जून 1972 तक कुल 7 189 तथा जून, 1973 में 8109 शाखाएँ हो गयी, यानी राष्ट्रीयकरण के प्रथम चार वर्षों में प्रायः इन 14 बैंकों की 3976 नयी शाखाएँ स्थापित की गयी। इनमें से 2924 नयी शाखाएँ ग्रामीण एवं अर्द्ध-शहरी क्षेत्रों में स्थापित की गयी हैं।

शाखाओं की संख्या में वृद्धि से जहाँ जून 1969 में देश में प्रति 65000 जनसंख्या पर बैंक की एक शाखा थी वहाँ पर जून, 1974 में प्रति 32 हजार जनसंख्या पर बैंक की एक शाखा हो गयी। नयी शाखाओं की स्थापना में अविकसित राज्यों को प्राथमिकता दी गयी जिसके परिणामस्वरूप प्रति बैंक शाखा औसत जनसंख्या असम में जून, 1969 में 198,000 से घटकर जून, 1974 में 79,000, बिहार में 2,0,0700 से घटकर 84 000 उड़ीसा में 2,12,000 से घटकर 86,000 तथा त्रिपुरा में 2,76,000 से घटकर 86,000 हो गयी। इसी प्रकार ग्रामीण क्षेत्रों में 1969 में कुल शाखाओं का 22 4 भाग था जो बढ़कर जून, 1973 में 36 2 प्रतिशत हो गया।

(ii) **कृषि, लघु उद्योग तथा अन्य उपेक्षित क्षेत्रों को अधिक ऋण** :—राष्ट्रीयकरण के पूर्व व्यावसायिक बैंक कृषि, लघु उद्योग, फुटकर व्यापार तथा निर्यात आदि को केवल नाम-मात्र की सहायता प्रदान करते थे, किन्तु राष्ट्रीयकरण के बाद इन उपेक्षित क्षेत्रों को प्राथमिकता के आधार पर सहायता प्रदान की जा रही है। जून, 1969 में इन बैंकों द्वारा कृषि तथा अन्य उपेक्षित क्षेत्रों को बैंकों के कुल ऋण का केवल 14 5 प्रतिशत ऋण दिया गया था। इसका प्रतिशत बढ़कर जून, 1970 में 21·3 प्रतिशत, 1971 में 22 प्रतिशत, जून,1972 में 23 प्रतिशत तथा सितम्बर, 1973 में 25 प्रतिशत हो गया। 1971 तथा 1972 में उपेक्षित क्षेत्रों को दियेजाने वाले ऋण में प्रगति केवल नाम मात्र की हुई है। इसके लिए राष्ट्रीयकृत बैंकों के प्रबन्धकों का कहना है कि ऋणों की गुणात्मक वृद्धि पर अधिक जोर होने के कारण इसमें कम ही वृद्धि दिखलायी दे रही है, किन्तु इस प्रकार की व्याख्या को किसी भी तरह संतोषजनक नहीं माना जा सकता। वास्तव में, पहले इन प्राथमिक क्षेत्रों (Primary sectors) की ऋण-सम्बन्धी आवश्यकताओं का अनुमान लगा लेना चाहिए और तब इन बैंकों को ऋण देने की प्रक्रिया के सरलीकरण द्वारा इनकी आवश्यकताओं की पूर्ति का प्रयास करना चाहिए। 'Lead Bank' योजना से इन क्षेत्रों में बहुत अधिक सहायता की आशा की जाती है। इस योजना के अन्तर्गत अबतक देश के कुल 337 जिलों में से 270 जिलों का सर्वेक्षण पूरा किया गया है तथा इनमें 100 जिलों में जिला स्तर पर परामर्शदात्री समितियों की स्थापना की गयी है, किन्तु इस सम्बन्ध में सर्वाधिक प्रबल आवश्यकता अबतक के इस उपेक्षित क्षेत्र के ऋण देने की प्रक्रिया को यथासम्भव सरल बनाने की है।

कृषि तथा अन्य उपेक्षित क्षेत्रों को दिये जानेवाले ऋण में वृद्धि का अन्दाजा ऋणी व्यक्तियों के खातों (Borrower's account) की संख्या में वृद्धि से भी लगता है। जून, 1969 में इस वर्ग के खातों की संख्या 2 6 लाख थी जो बढ़कर जून, 1970 में 9 3 लाख, जून, 1971 में 11·9 लाख तथा दिसम्बर 197? में 17 3 लाख हो गयी।

इस अवधि में कृषि-क्षेत्र को दिये गये ऋण में भी पर्याप्त वृद्धि हुई है। जून, 1969 में इन बैंकों द्वारा कृषि तथा किसानों के पास बकाया ऋण केवल 38 करोड़ रुपये था, यह बढ़कर जून, 1974 में 332 करोड़ रुपये हो गया। गहन कृषि-विकास के लिए रिजर्व बैंक की योजना के अनुसार इन

बैंकों ने Village adoption scheme के अन्तर्गत कुछ-कुछ गाँवो को चुनकर कार्य करना भी प्रारम्भ किया है।

(iii) **जमा में वृद्धि**— राष्ट्रीयकरण के बाद राष्ट्रीयकृत बैंको के जमा की राशि मे भी पर्याप्त वृद्धि हुई है। उदाहरण के लिए, जून 1969 से जून, 1973 के बीच की अवधि मे सभी व्यावसायिक बैंको की जमा राशि 4646 करोड़ रुपये से बढकर 9018 करोड रुपये हो गयी। इस प्रकार 4 वर्षो मे कुल जमा मे 4372 करोड़ रुपये की वृद्धि हुई। इसमे से सार्वजनिक क्षेत्र के बैंको की जमा राशि म 3698 करोड रुपये की वृद्धि हुई। केवल 14 राष्ट्रीयकृत बैंको की जमा राशि मे 2421 करोड की वृद्धि हुई। इस अवधि मे राष्ट्रीयकृत बैंको की जमा राशि मे वृद्धि का अनुपात क्रमशः 15·3 प्रतिशत, 17·5 प्रतिशत तथा 22·5 प्रतिशत था।[1] स्पष्ट है कि इस अवधि मे मूल्य-तल मे वृद्धि के वावजूद बैंक जमा मे पर्याप्त वृद्धि हुई है।

इस प्रकार राष्ट्रीयकरण के बाद राष्ट्रीयकृत बैंको ने निस्सदेह पर्याप्त प्रगति की है, किन्तु इसके बावजूद बैंकिंग-सम्बन्धी सेवाओ के वितरण की क्षेत्रीय विषमता मे अभी तक बहुत ही कम कमी हुई है। परिणामस्वरूप, आज भी भिन्न-भिन्न राज्यो मे बैंकिंग सम्बन्धी सेवाओ का वितरण एक समान नही है। भिन्न-भिन्न राज्यो में बैंको की शाखाओ का विवरण निम्न तालिका से स्पष्ट है :—

विभिन राज्यो में शाखाओ का वितरण तथा प्रति कार्यालय जनसख्या[2]

राज्य	बैंक कार्यालयों की संख्या		प्रति बैंक कार्यालय जनसंख्या (हजार मे)	
	30 जून, 1969	30 जून, 1974	30 जून, 1969	30 जून, 1974
आन्ध्रप्रदेश	567	1234	71	35
असम	74	184	198	719
बिहार	273	672	207	84
गुजरात	752	1436	34	19
हरियाना	172	3'0	57	26
हिमाचल प्रदेश	42	159	80	22
जम्मू एव काश्मीर	35	164	114	28
केरल	601	1,63	35	18
मध्यप्रदेश	343	820	116	51
महाराष्ट्र	11 8	2005	44	25
मणिपुर	2	9	479	119
मेघालय	7	18	41	56
कर्नाटक	756	1621	38	18
नागालैंड	2	71	205	74
उडीसा	100	255	212	86
पजाब	346	869	42	16
राजस्थान	354	743	70	35
तमिलनाडु	10.0	1784	37	23
त्रिपुरा	5	18	276	85
उत्तरप्रदेश	747	1683	129	53
पश्चिमी बगाल	504	987	87	45
केन्द्रशासित प्रदेश	392	725	—	—
कुल भारत	8262	16,936	65	32

1 Economic Survey 1972-73. p. 6.

2. Annual Report and Trend and Progress of Banking in India, *R B. I. Bulletin* Aug. 1974.

विशेष अध्ययन-सूची

1. Sayers : Modern Banking.
2. N. Kumar : Bank Nationalisation in India.
3. The Economic Times, Bombay, 21st to 30th June, 1969.
4. Govt. of India : Report of the Banking Commission, 1972.

———

खंड : 3

"Money must be managed because it does not manage itself."
—*Walter Bagehot*

"Stable prices are as harmful and inequitous as rapidly rising or rapidly falling prices."

मौद्रिक एवं वित्तीय नीति
(Monetary and Fiscal Policy)

* मौद्रिक एवं वित्तीय नीति-सम्बन्धी कुछ स्मरणीय उद्धरण *

1 ' By the term monetary policy is meant the measures that are undertaken to influence the public spending when such measures operate through the changes in the rate of interest, the supply of currency and other forms of cash and the availability of credit "

2. "The low interest rate is more expedient than wage reduction for solving the prob'em of mass unemployment "

3 "Exclusive reliance upon monetary policy as the means to cope with inflation is a dangerously one-sided weapon A many sided attack on thr problem is needed '

4. "Inflation is a state in which the value of money is falling, i e, prices are rising "

5 "Deflation is a state in which the value of money is rising, i e, prices are falling "

/

अध्याय : 30
मौद्रिक नीति
(Monetary Policy)

प्राक्कथन :—अभी तक इस पुस्तक मे मुद्रा के सम्बन्ध मे इस बात की व्याख्या की गयी है कि मुद्रा आधुनिक समाज की किस प्रकार से सेवा करती है, इसके मूल्य मे क्यो परिवर्तन होना है और इस परिवर्तन का व्यापार एव उत्पादन पर क्या प्रभाव पडता है। अब अगले कुछ अध्यायो मे मुद्रा के अन्तर्राष्ट्रीय स्वरूप की व्याख्या की जायगी। किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय स्वरूप की व्याख्या के पूर्व इस बात की जानकारी अनिवार्य है कि किसी देश की मौद्रिक नीति क्या होनी चाहिए ? मुद्रा से आधुनिक समाज को इतने अधिक लाभ हैं कि कोई भी आधुनिक समाज मुद्रा के बगैर चल नही सकता। किन्तु मुद्रा के इन विभिन्न लाभो के साथ-साथ इसके कुछ प्रमुख दोष भी हैं। मूल्य-तल में परिवर्तन (Fluctuations of price-level) और व्यवसाय-चक्र की मन्दी एव तेजी (ebbs and flow of trade-cycle), जो कम-से-कम आशिक रूप से मुद्रा की विद्यमानता के परिणाम हैं, मुद्रा के इन दोषो मे प्रमुख हैं। मुद्रा के इन दोषो को दूर करने के लिए एक समुचित मौद्रिक नीति की आवश्यकता पडती है।

मौद्रिक नीति का आशय (Meaning of Monetary Policy) —**मौद्रिक नीति का तात्पर्य उन उपायों से है जो जनता के व्यय को प्रभावित करने के उद्देश्य से अपनाये जाते हैं तथा जो उपाय ब्याज की दर, मुद्रा की पूर्ति तथा साख-नियन्त्रण के माध्यम से कार्य करते हैं।** (By the term monetary policy is meant the measures that are undertaken to influence the public spending when such measures operate through changes in the rate of interest, the supply of currency and other forms of cash and the availability of credit) दूसरे शब्दो मे, अर्थ-व्यवस्था मे किसी विशेष आर्थिक उद्देश्य (जसे मूल्य-तल की स्थिरता, विनिमय दर का स्थायित्व, पूर्ण रोजगार इत्यादि) की पूर्ति के लिए मुद्रा एव साख की मात्रा के प्रसार अथवा सकुचन के प्रबन्ध को मौद्रिक नीति कहते हैं। **प्रो० हैरी जॉनसन** (Harry G Johnson) के अनुसार, 'मौद्रिक नीति का तात्पर्य बैंक की उस नीति से है जिसके द्वारा केन्द्रीय बैंक सामान्य आर्थिक नीति के उद्देश्यो की पूर्ति के लिए मुद्रा की पूर्ति को नियन्त्रित करता है।"[1] इसी प्रकार सुप्रसिद्ध अर्थशास्त्री **पॉल एंजिग** (Paul Einzig) के अनुसार "मौद्रिक नीति के अन्तर्गत वे सब मौद्रिक निर्णय तथा उपाय आते हैं जिनका उद्देश्य मौद्रिक प्रणाली को प्रभावित करना होता है।"[2] प्रो० केन्ट (Kent) के अनुसार भी मौद्रिक नीति वह नीति है जिसके अन्तर्गत परिचालन मे मुद्रा की मात्रा के प्रसार एव सकुचन की व्यवस्था की जाती है ताकि कोई महत्त्वपूर्ण उद्देश्य जैसे पूर्ण रोजगार प्राप्त किया जा सके।

मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त (Quantity Theory of Money) के अनुसार मुद्रा की मात्रा में कमी एव वृद्धि का समाज के व्यय पर प्रत्यक्ष रूप से प्रभाव पडता है। मुद्रा की मात्रा मे वृद्धि होने से समाज का कुल व्यय बढ जाता है जिससे मूल्य-तल में वृद्धि की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है। इसके विपरीत मुद्रा की मात्रा मे कमी से उपभोग व्यय कम हो जाता है जिससे वस्तुओ का मूल्य भी कम हो जाता है। किन्तु, वास्तव मे, मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त का यह विश्लेषण सही नही है। मुद्रा का समाज की आर्थिक व्यवस्था पर किस प्रकार से प्रभाव पडता है इसकी सम्यक् व्याख्या वस्तुत: परिमाण सिद्धात नही कर पाता है।

सुप्रसिद्ध अर्थशास्त्री केन्स (Keynes) के अनुसार मुद्रा का प्रभाव समाज पर तीन प्रकार के प्रभावो से पडता है जो मुद्रा की सम्पूर्ण माग को निश्चित करते हैं—(1) मुद्रा-मचय की

1. Harry G. Johnson ' Monetary Theory & Policy, American Economic Review, 1962, p 346

2. Paul Einzig : Monetary Policy : Ends and Means, p. 50.

प्रवृत्ति (Liquidity preference), (2) विनियोग (Investment), तथा (3) उपभोग (Consumption)।

मुद्रा की माग मुद्रा-सञ्चय की प्रवृत्ति (Liquidity Preference) से प्रभावित होती है। यदि मुद्रा की मात्रा म वृद्धि हो, किन्तु मुद्रा सचय की प्रवृत्ति भी पहले से अधिक बढ जाय, तो सूद की दर स्थायी रहेगी तथा मुद्रा की माग मे कोई वृद्धि नही होगी। इससे सामान्य मूल्य-तल भी प्रभावित होगा।

इसी प्रकार मुद्रा की मात्रा मे परिवर्तन से विनियोग (Investment) भी प्रभावित होता है। सूद की दर कम होने से विनियोग प्रोत्साहित होता है जिससे आय एव रोजगार मे वृद्धि होती है। इसके विपरीत मुद्रा की माग स्थायी होने से सूद की दर कम होती है जिससे सम्पूर्ण माग मे समान अनुपात मे ही वृद्धि होती है।

मुद्रा की मात्रा मे परिवर्तन से उपभोग (Consumption) भी प्रभावित होता है। मुद्रा की मात्रा मे वृद्धि होने से उपभोग (Consumption) मे वृद्धि होती है और उपभोग मे वृद्धि से सम्पूर्ण माँग म वृद्धि होती है जिससे आय एव रोजगारी मे वृद्धि होती है। बेकारी की स्थिति मे मुद्रा की मात्रा मे वृद्धि कर विनियोग को प्रोत्साहित किया जाता है जिससे उद्योगो मे अतिरिक्त आय एव रोजगारी की सृष्टि होती है। इससे अन्य उद्योगो की वस्तुओ की माग बढती है जिससे उनमे प्रसार होता है और इस प्रकार समाज की माग उत्तरोत्तर बढती जाती है तथा आय एव रोजगारी मे कई गुनी अधिक वृद्धि होती है। जो अतिरिक्त आय एव रोजगारी प्राथमिक विनियोग (Primary Investment) के फलस्वरूप बढती है, उसमे आय एव रोजगारी मे कई गुना अधिक वृद्धि होती है। इन दोनो के इस परिमाणात्मक सम्बन्ध को केन्स ने गुणक (Multiplier) कहा है। एक उदाहरण द्वारा इसे अधिक स्पष्ट किया जा सकता है—मानलिया कि प्रारम्भ मे एक लाख रुपये के विनियोग से 100 मनुष्यो को रोजगार मिलता है, किन्तु अन्त मे विनियोग की इस क्रिया क फलस्वरूप 1000 आदमियो को रोजगार मिल जाता है। अतएव यहाँ पर इन दोनो का परिमाणात्मक सम्बन्ध, यानी गुणक (multiplier) 10 हुआ। इस प्रकार विनियोग मे वृद्धि के परिणामस्वरूप अन्ततोगत्वा समाज की सम्पूर्ण आय एव रोजगारी किस अनुपात मे बढेगी यह गुणक द्वारा निर्धारित होता है। यदि गुणक (multiplier) का परिमाण कम है, तो आय एव रोजगार में कम वृद्धि होगी और यदि अधिक है तो अधिक वृद्धि होगी।

इस प्रकार मुद्रा की मात्रा में वृद्धि एव कमी का समाज की आय एव रोजगारी पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव पडता है, अतएव मौद्रिक नीति (Monetary policy) का समाज के जीवन में बडा ही महत्त्वपूर्ण स्थान है।

मौद्रिक नीति के उद्देश्य

(Objectives of the Monetary Policy)

समाज की आय एव रोजगारी पर मौद्रिक नीति का बहुत ही गम्भीर प्रभाव पडता है। अतएव इसके उद्देश्यो की विवेचना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। **साधारणतया, मौद्रिक नीति के निम्नांकित प्रधान उद्देश्य हो सकते हैं** —

(1) विदेशी विनिमय-दर का स्थायित्व (Stability of Exchange Rates),
(2) मूल्य-तल को स्थायी बनाना (Price Stability),
(3) धीरे-धीरे बढने वाला मूल्य-तल (A gently rising price-level),
(4) तटस्थ-मुद्रा Neutral money),
(5) पूर्ण रोजगार के स्तर पर आर्थिक व्यवस्था का स्थायित्व (Economic stability at the level of full employment) तथा
(6) आर्थिक विकास को प्रोत्साहित करना (Encouraging Economic Development)।

मौद्रिक नीति के उक्त सारे उद्देश्य हैं। किन्तु इन विभिन्न उद्देश्यो मे वर्तमान समय मे मौद्रिक नीति के अन्तिम दो उद्देश्य, यानी देश के आर्थिक विकास को प्रोत्साहित करना तथा पूर्ण

रोजगारी के स्तर पर आर्थिक व्यवस्था को स्थायी बनाना ही विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण हैं। अब एक-एक करके मौद्रिक नीति के इन विभिन्न उद्देश्यों की निम्नलिखित व्याख्या की जा रही है :—

(1) विदेशी विनिमय-दर का स्थायित्व

(Stability of Exchange Rates)

कुछ लेखकों के अनुसार मौद्रिक नीति का उद्देश्य विदेशी विनिमय-दर का स्थायित्व होना चाहिए। अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्ण मान (International Gold Standard) के अन्तर्गत विभिन्न देशों की मुद्राओं की विनिमय दरें स्थायी रहती थी, यदि उनमें कुछ परिवर्त्तन भी होता था, तो वह स्वर्ण विन्दुओं (Gold points) तक ही सीमित रहता था जिनकी सीमा सोने के आयात निर्यात व्यय पर निर्भर करती थी। पर स्वर्ण-मान के अन्तर्गत कोई राष्ट्र स्वतन्त्र रूप से आन्तरिक आर्थिक एवं मौद्रिक नीति का अनुकरण नहीं कर सकता था। दूसरे शब्दों में स्वर्ण-मान में अन्तर्राष्ट्रीय सतुलन की प्राप्ति मूल्य-स्तर एवं आय के स्तर में परिवर्त्तन के द्वारा ही होती थी। किन्तु तीसा की महान् आर्थिक मंदी के संकट तथा अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्ण-मान के पतन के बाद से मौद्रिक नीति के उद्देश्य के रूप में आन्तरिक आर्थिक स्थायित्व को प्रधानता दी जाने लगी क्योंकि इससे कोई भी राष्ट्र स्वतन्त्र आर्थिक नीति का अनुसरण कर ही देश में आर्थिक स्थायित्व कायम कर सकता था।

अब विनिमय-दर में अत्यधिक परिवर्तन भी कई कारणों से देश की आर्थिक व्यवस्था के लिए हानिकारक सिद्ध होता है। प्रथमत, विनिमय दर में सदा परिवर्तन से अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में अनिश्चितता आ जाती है जिससे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को बहुत हानि होती है। इस अनिश्चितता के कारण विदेशी व्यापार में बहुत अधिक हानि होती है तथा इससे विदेशी व्यापार-प्रधान देशों की आय एवं रोजगार के स्तर भी स्थायी नहीं रह पाते हैं। **द्वितीयत** विनिमय-दर के परिवर्तन से आयात एवं निर्यात की वस्तुओं की कीमतों में भी परिवर्तन होता है जिसका प्रभाव आन्तरिक मूल्य-तल एवं उत्पादन व्यय पर पड़ता है। साथ ही, विनिमय दरों में परिवर्तन होने में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की प्रायः सभी वस्तुएँ प्रभावित होती हैं जिससे सम्पूर्ण आर्थिक व्यवस्था का आधार ही प्रभावित होता है। **तृतीयत**, विनिमय दरों में उन्मुक्त रूप से परिवर्तन होने से एक देश से दूसरे देश में पूँजी का प्रवाह बढ़ जाता है जिससे मुद्रा-सचय की प्रवृत्ति (liquidity preference of money) में असाधारण रूप से वृद्धि होती है। इसके फलस्वरूप स्वर्ण सचय की प्रवृत्ति भी उत्पन्न होती है। इससे सूद की दर बढ़ जाती है, विनियोग में कमी आती है तथा बेकारी उत्पन्न होती है। **चतुर्थत**, विनिमय-दर में अत्यधिक परिवर्तन का एक बुरा प्रभाव यह भी है कि इससे दीर्घकालीन विदेशी विनियोग को बाधा पहुंचती है। इससे विनिमय नियन्त्रण के विभिन्न तरीकों को अपनाने की आवश्यकता पड़ती है। फलस्वरूप कोई अपनी मुद्रा का अधिमूल्यन (Over valuation) करता है तो कोई देश इसका अवमूल्यन (Devaluation) करता है।

इस प्रकार विनिमय-दर में अत्यधिक परिवर्तन आर्थिक व्यवस्था के लिए हानिकारक होते हैं, किन्तु बिल्कुल स्थायी विनिमय-दर भी आर्थिक व्यवस्था को स्थायी बना देती है। इस प्रकार अत्यधिक परिवर्तनशील विनिमय-दर तथा बिल्कुल स्थायी विनिमय दर दोनों ही अमान्य हैं। ऐसी स्थिति में विनिमय-दर के सम्बन्ध में एक ऐसी नीति का अनुसरण करना चाहिए जिसमें विनिमय दर को स्थायी तो रखा जाय किन्तु भुगतान सतुलन (Balance of Payment) में मौलिक असतुलन (fundamental disequilibrium) को ठीक करने के लिए अवमूल्यन (devaluation) अथवा अधिमूल्यन (Over-valuation) द्वारा इसमें परिवर्तन लाया जा सके। अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्ण-मान के अन्तर्गत विनिमय-दर को स्थायी तो रखा जाता था, किन्तु कभी अपस्फीति एवं बेकारी की सृष्टि कर, तो कभी अधिस्फीति के द्वारा। दूसरे शब्दों में, स्वर्ण प्रमाप के अन्तर्गत भुगतान-सतुलन में सतुलन की प्राप्ति होती थी किन्तु आन्तरिक आर्थिक स्थायित्व की बलि पर। अतएव इस सम्बन्ध में सबसे सुन्दर नीति वही होगी जिसके अनुसार विनिमय-दर को स्थायी तो रखा जाय किन्तु साथ ही-साथ मौलिक असतुलन की स्थिति में परिवर्तन की व्यवस्था भी हो। अब प्रश्न यह है, कि विनिमय-दर को किस स्तर पर स्थायी बनाया जाय? विनिमय-दर तभी स्थायी हो सकती है जब इसे सतुलन दर (Equilibrium rate) के समान रखा जाय। **रैगनर नर्क्स** (Ragnar Nurske) के अनुसार "सतुलन-दर (Equilibrium rate) विनिमय की वह दर है,

जिससे किसी निश्चित समय मे देश की अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा के कोष मे परिवर्तन लाये बगैर ही भुगतान का सतुलन किया जा सके।" (The Equilibrium Rate of Exchange is the rate over a certain period which maintains the balance of payment in equilibrium without any net change in the international currency reserves) किन्तु कोई भी दर किसी देश के लिए बराबर सतुलन की दर नही हो सकती। इसमे देश की आर्थिक स्थिति मे परिवर्तन के अनुसार सदा परिवर्तन लाने की आवश्यकता होगी, नही तो मौलिक असतुलन की सृष्टि होगी जिससे विनिमय-दर मे परिवर्तन करना पडेगा।

इस प्रकार विनिमय-दर के सम्बन्ध मे सबसे उपयुक्त नीति लोचपूर्ण विनिमय-दर की प्रणाली (System of flexible Exchange rate) होनी चाहिए। लोचपूर्ण विनिमय दर की प्रणाली वह प्रणाली है जो सुगमतापूर्वक व्यवस्थित हो सके तथा आर्थिक स्थिति मे परिवर्तन के फलस्वरूप जिसमें सुगमतापूर्वक सामजस्य लाया जा सके। किन्तु, विनिमय-दर मे लोच व्यवस्थित (managed exchange flexibility) होनी चाहिए।

फिर भी, व्यावहारिक रूप मे सतुलित विनिमय-दर की प्राप्ति मे बहुत अधिक कठिनाइयाँ हैं। प्राय यह कहा जाता है कि विनिमय बाजार मे माग एव पूर्ति की शक्तियो के उन्मुक्त रूप से कार्यशील होने से जहाँ माग पूर्ति के बराबर होगी वही सतुलन-दर की प्राप्ति हो जायगी।

किन्तु इसका तात्पर्य यह है कि ऐसी स्थिति मे माग एव पूर्ति के अल्पकालीन प्रभाव से विनिमय दर मे सदा परिवर्तन होते रहेगा। इस प्रकार सतुलन-दर (Equilibrium Rate) की धारणा की तरह सतुलित विनिमय-दर की धारणा भी है जिसे व्यावहारिक जीवन मे प्राप्त करने मे बहुत अधिक कठिनाई होती है।

(2) मूल्य-तल को स्थायी बनाना

(Price Stability)

हम सभी यह जानते हैं कि मुद्रा की मात्रा मे परिवर्तन होने से मूल्य-तल मे भी परिवर्तन होता है। मूल्य तल मे परिवर्तन का समाज के विभिन्न वर्गो पर बहुत ही बुरा प्रभाव पडता है। हम यह भी देख चुके हैं कि स्फीति एव अपस्फीति दोनो बुरी चीजें हैं। अतएव बहुत-से लोग इस विचार के हैं कि मौद्रिक नीति का सर्वोत्तम उद्देश्य मूल्य तल का स्थायित्व होना चाहिए। 1924 ई० से 1929 ई० के बीच फेडरल रिजर्व बोर्ड की नीति का भी यही प्रधान उद्देश्य था। कैसल (Cassel) तथा प्रारम्भ मे केन्स (Keynes) का भी यही विचार था। इन लोगो के अनुसार देश की मौद्रिक नीति का प्रधान उद्देश्य मूल्य तल की स्थिरता होनी चाहिए, क्योकि मूल्य-तल मे अस्थिरता से मुद्रा-स्फीति तथा अपस्फीति की स्थिति उत्पन्न हो जाती है जिससे देश मे आर्थिक एव सामाजिक अशान्ति उत्पन्न होती है। मूल्य-तल मे वृद्धि उपभोक्ताओ तथा विनियोजको दोनो ही के लिए हानिकारक होती है। इसके विपरीत मूल्य तल मे ह्रास से भी बेरोजगारी फैलती है। साथ ही मूल्य मे अस्थिरता स्वभाव मे सचयी होती है, अर्थात् एक बार आरम्भ होने के बाद धीरे-धीरे बढती ही जाती है और कुछ समय बाद देश तथा समाज के लिए एक कठिन समस्या बन जाती है। जो लोग मूल्य तल के स्थायित्व के उद्देश्यो का समर्थन करते हैं उनके अनुसार मुद्रा के मूल्य को स्थायी बनाना बहुत ही आवश्यक होता है क्योकि मुद्रा के मूल्य को स्थायी बनाकर सामान्य मूल्य तल को भी स्थायी बनाया जा सकता है।

किन्तु मौद्रिक नीति के इस उद्देश्य को कार्यान्वित करने में कई सैद्धान्तिक एव व्यावहारिक कठिनाइयाँ हैं जिनमें निम्नांकित प्रमुख हैं —

(क) सर्वप्रथम तो यह जानने मे कठिनाई है कि **किस मूल्य तल को स्थायी बनाया जाय।** हम जानते हैं कि मुद्रा की इकाई का सामान्य मूल्य उसकी क्रय-शक्ति के रूप मे ही जाना जाता है और उसे हम वस्तुओ एव सेवाओं के उस समुदाय से व्यक्त करते है जिसे मुद्रा की एक इकाई खरीद सकती है। किन्तु किस मूल्य-तल को स्थायी बनाया जाय ? मूल्य तल विभिन्न प्रकार के होते हैं, जैसे—थोक मूल्य (Wholesale Price), खुदरा मूल्य (Retail Price) एव श्रम मूल्य। अब प्रश्न यह है कि इनमें से किस प्रकार के मूल्य-तल को स्थायी बनाया जाय ? थोक मूल्य का

निर्देशांक उपभोक्ता की क्रय-शक्ति का सच्चा परिचायक नहीं होता। इसी प्रकार खुदरा मूल्य अथवा श्रम-मूल्य भी मुद्रा की क्रय-शक्ति के विभिन्न पहलुओं का अध्ययन नहीं करते हैं। वास्तव मे, मुद्रा के मूल्य को व्यक्त करने मे बहुत-सी सैद्धान्तिक एव व्यावहारिक कठिनाइयाँ हैं जिससे मूल्य-तल को स्थायी बनाने मे हमारे समक्ष कोई मूर्त्त आधार (Objective criterion) नहीं रह जाता। मूल्य-तल के स्थायित्व (Price stabilisation) के सम्बन्ध में यह पहली प्रमुख कठिनाई है। किन्तु इस कठिनाई को दूर करने के लिए यह कहा जाता है कि सामान्य मूल्य के बदले कुछ खास वस्तुओं एव सेवाओं के मूल्य स्तर को ही स्थायी बनाया जाय क्योंकि सामान्य मूल्य-तल (General price level) की सृष्टि भी कई विशेष मूल्य-तल (Particular price-level) के योग से होती है।

(ख) इस सम्बन्ध मे दूसरी बात यह है कि **मूल्य में परिवर्तन बेकारी का कारण नहीं वरन् इसका परिणाम होता है।** वास्तव मे, मूल्य तथा व्यापार मे परिवर्तन का कारण बचत की अपेक्षा विनियोग मे परिवर्तन होता है। साथ ही, मूल्य-तल के स्थायी रहने पर भी मुनाफा-स्फीति (Profit-inflation) अथवा मुनाफा-अपस्फीति (Profit deflation) हो सकती है। उदाहरण के लिए, यदि किसी आविष्कार अथवा श्रम की निपुणता मे वृद्धि के कारण उत्पादन-व्यय कम हो जाय तो मूल्य को स्थायी रखने से मुनाफा-स्फीति (Profit-inflation) की सृष्टि होगी। इसी प्रकार अन्य कारणो के परिणामस्वरूप यदि उत्पादन-व्यय में वृद्धि हो जाय तो अपस्फीति एव बेकारी को प्रोत्साहन मिलेगा।

(ग) इस सम्बन्ध मे एक कठिनाई यह भी है कि **मूल्य-तल में होनेवाले सभी परिवर्तन का अर्थ व्यवस्था पर हानिकारक प्रभाव नहीं पड़ता।** दूसरे शब्दों मे, मूल्य-तल मे अस्थायी अथवा मौसमी परिवर्तन सदा अव्यवस्था के कारण नहीं उत्पन्न होते। वास्तव मे, मूल्य-तल के कुछ परिवर्तन अव्यवस्था मे वृद्धि करते हैं और कुछ सुधारक भी होते हैं, किन्तु मूल्य-तल के जो परिवर्तन सुधारक होते हैं उन्हे रोकना वाछनीय नहीं होगा।

इनके अतिरिक्त जैसा कि हॉयक (Hayek) महोदय ने कहा है कि "**मौद्रिक नीति के लिए औसत मूल्य-तल मे परिवर्तन को अपेक्षा सापेक्षिक मूल्य-तल मे परिवर्तन** (Relative Price Changes) **ही अधिक महत्त्वपूर्ण हैं।**" ऐसा हो सकता है कि औसत मूल्य-तल स्थायी हो, किन्तु सापेक्षिक मूल्य-तल स्थायी नहीं हो। उदाहरण के लिए, मजदूरी मे भिन्न-भिन्न तरह से वृद्धि हो सकती है, या उपभोग की वस्तुओ एव विनियोग-जन्य सामानो के मूल्य मे भी भिन्न-भिन्न तरह से परिवर्तन हो सकता है। ऐसा हो सकता है कि कुछ उपभोग की वस्तुओ के मूल्य स्थायी हो, कुछ के बढ रहे हो तथा कुछ वस्तुओं के मूल्य घट रहे हो या उपभोग की वस्तुओ की अपेक्षा विनियोग की वस्तुओ के मूल्य मे कम या अधिक वृद्धि या कमी हो रही हो। इस प्रकार से सापेक्षिक मूल्य स्थायी नहीं रहने का उत्पादन एव वितरण दोनो पर प्रभाव पडता है। साथ ही, इससे समाज के विभिन्न वर्गों मे असतोष एव सघर्ष की सृष्टि हो सकती है तथा आर्थिक व्यवस्था के आधार मे भी परिवर्तन हो सकता है। अतएव औसत मूल्य-तल की अपेक्षा सापेक्षिक मूल्य-तल को स्थायी बनाना ही अधिक महत्त्वपूर्ण है। साधारणत, यह देखा जाता है कि स्फीति (Inflation) एव अपस्फीति (Deflation) के समय औसत मूल्य तल ही अधिक महत्त्वपूर्ण होते हैं क्योंकि इनमे सामान्य मूल्य-तल के साथ एक ही दिशा मे परिवर्तन होने की प्रवृत्ति पायी जाती है। किन्तु ऐसी स्थिति मे भी विशेष मूल्यो में एक ही तरह के परिवर्तन नहीं होते, कुछ मूल्य अधिक अनुपात मे बढते हैं तो कुछ कम अनुपात मे। अतएव ऐसी स्थिति मे सापेक्षिक मूल्य-तल ही महत्त्वपूर्ण है।

आर्थिक व्यवस्था में साधारणतया निम्नलिखित प्रकार के मूल्य ही अधिक महत्त्वपूर्ण होते हैं :—(1) उपभोग की वस्तुओ के मूल्य, (2) विनियोग की वस्तुओ के मूल्य, (3) मजदूरी की दर, तथा (4 प्रतिभूतियो के मूल्य अथवा सूद की दर। अतएव सापेक्षिक मूल्य तल को स्थायी रखने के लिए इन्हीं के पारस्परिक सम्बन्धो को स्थायी रखना अधिक वाछनीय है।

(घ) मूल्य तल को स्थायी रखने के सम्बन्ध मे एक कठिनाई इस बात को लेकर भी है कि **मूल्य-तल को किस प्रकार से स्थायी बनाया जाय।** यदि जनसख्या, तकनीक तथा मुद्रा के भ्रमण-प्रवाह मे परिवर्तन हो तो सिर्फ मुद्रा के परिमाण को स्थायी रखकर ही मूल्य-तल को

स्थायी नही बनाया जा सकता। अतएव कुछ अर्थशास्त्री मुद्रा के परिमाण को स्थिर रखने के बजाय मौद्रिक आय को स्थिर रखने के पक्ष मे हैं और चूंकि मौद्रिक आय मे मजदूरी की ही प्रधानता है, अतएव मौद्रिक आय को स्थायी रखने का तात्पर्य है मजदूरी को स्थायी बनाना। इस प्रकार मुद्रा की मात्रा को स्थिर रखने के बजाय मौद्रिक आय को स्थिर रखना ही अधिक वाञ्छनीय है। साथ ही, चूंकि माग आय पर निर्भर करती है इसलिए बेकारी को दूर करने के लिए या मूल्य के स्थायित्व के लिए मुद्रा की मात्रा को स्थायी रखने के बजाय मौद्रिक आय को स्थायी रखना ही अधिक उपयुक्त है। किन्तु केवल मौदिक आय को स्थायी रखकर ही बेकारी का निराकरण तथा मूल्य का स्थायित्व नही प्राप्त किया जा सकता है। इसका कारण यह है कि मौद्रिक आय का एक ही हिस्सा उपभोग पर व्यय किया जाता है, अतएव बचत के विनियोग से अधिक या कम होने पर इसमें परिवर्तन होता है। इसलिए मूल्य-तल को स्थायी रखने के लिए मौद्रिक आय को स्थायी बनाने की अपेक्षा कुल उत्पादन-व्यय को स्थायी रखना ही अधिक आवश्यक है। किन्तु इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए केवल मौद्रिक नीति ही पर्याप्त नही है बगैर वित्तीय नीति (Fiscal Policy) के कुल उत्पादन-व्यय को स्थायी नही रखा जा सकता।

उपरोक्त कठिनाइयो के कारण आजकल मौद्रिक नीति के उद्देश्य के रूप मे मूल्य-तल के स्थायित्व पर जोर नही दिया जाता है। द्वितीय महायुद्ध के समय एव युद्धोत्तर काल मे पूर्ण रोजगार (Full employment) की स्थिति से तेजी की सृष्टि हुई जिससे मूल्य-तल के स्थायित्व के उद्देश्य का व्यावहारिक महत्त्व बिल्कुल समाप्त हो गया। साथ ही, अधिकाश अर्थशास्त्री इस राय के भी है कि '**स्थायी मूल्य-तल भी तेजी से बढ़ने अथवा घटनेवाले मूल्य-तल की तरह हानिकारक होते हैं।**' (Stable prices are as harmful and inequitous as rapidly rising or rapidly falling prices) कहा भी जाता है कि स्थिर कीमतें देश मे आर्थिक शिथिलता या गतिहीनता (Economic stagnation) का परिचायक होती हैं। प्रो० **हॉयक** (Hayek) ने इसकी आलोचना करते हुए कहा है कि यह नीति एक प्रगतिशील समाज की वास्तविक आवश्यकताओ को भुला देती है। सबसे बडी बात तो यह है कि मूल्य-तल के सभी परिवर्तनो का अर्थ-व्यवस्था पर हानिकारक प्रभाव नहीं पडता। किन्तु यह नीति इस अवास्तविक मान्यता पर आधारित है कि मूल्य-तल के सभी परिवर्तन आर्थिक विकास एव स्थिरता के लिए घातक सिद्ध होते हैं। साथ ही, यह भी कोई आवश्यक नही कि स्थायी मूल्य-तल से मौद्रिक अस्त-व्यस्तता के सारे कारणो का निराकरण किया ही जा सके। इस प्रकार, आजकल मौद्रिक नीति के उद्देश्य के रूप मे मूल्य-तल की स्थिरता पर जोर नही दिया जा सकता है।

(3) धीरे-धीरे बढ़ने वाला मूल्य-तल

(A gently rising Price-level)

कुछ लेखको के अनुसार मौद्रिक नीति का उद्देश्य मूल्य-तल का स्थायित्व नही होकर धीरे-धीरे बढने वाला मूल्य-तल (A gently rising price-level) होना चाहिए। इन लोगो के अनुसार स्थायी मूल्य तल (Stable Prices) भी तेजी से बढने वाले या तेजी से घटने वाले मूल्य-तल की ही तरह हानिकारक होते है। पूँजीवाद मे उत्पादन मुनाफा के लिए होता है। मुनाफा मूल्य तथा उत्पादन व्यय के अन्तर को कहते हैं। जब मूल्य मे वृद्धि होती है तो उत्पादन व्यय ठीक उसी अनुपात मे नही बढता, क्योकि लगान, मजदूरी तथा ब्याज प्रायः पूर्व निश्चित होते हैं। अतएव मूल्य बढने से मुनाफा बढता है और मुनाफा बढने से उत्पादन तथा रोजगार मे वृद्धि होती है। इस प्रकार धीरे-धीरे बढने वाले मूल्य-तल का एक दूसरा लाभ भी है। इस प्रकार के मूल्य-तल के कारण मुद्रा का मूल्य कम होता है। इससे कर्ज का बोझ हल्का होता है। मूल्य मे वृद्धि मे निस्सदेह वास्तविक मजदूरी कम होती है, किन्तु अनेक बेकारो को दर दर मारते-फिरते रहने से क्या यह अच्छा नही है कि कारखाना मजदूरो से भरा रहे, भले ही कुछ मजदूर असन्तुष्ट हो। यह भी ठीक है कि मूल्य तल मे वृद्धि से मुनाफा मे अधिक वृद्धि नही होती, किन्तु मुनाफा मे जो थोडी-बहुत वृद्धि होती रहती है उसका उत्पादन पर अनुकूल प्रभाव पडता है।

किन्तु मौद्रिक नीति के इस उद्देश्य में भी निम्नांकित दो प्रमुख त्रुटियाँ हैं :—

(क) सर्वप्रथम तो यदि सभी व्यक्ति मूल्य-तल मे वृद्धि की आशा करें तो उत्पादन-व्यय मे भी मूल्य के अनुपात मे वृद्धि होगी। इससे मुनाफा मे कोई वृद्धि नही होगी।

(ख) इस नीति की दूसरी त्रुटि यह है कि साख की स्वाभाविक अस्थिरता के कारण मूल्य में यह वृद्धि धीरे धीरे नही होकर द्रुतगति से होगी जिससे स्फीति की प्रवृत्ति के स्थायी होने की सम्भावना हो जाती है। अतएव मौद्रिक नीति का यह उद्देश्य भी युक्तिसगत नही जान पडता।

(4) तटस्थ मुद्रा-नीति

(Neutral Money Policy)

हॉयक (Hayek एव ऑस्ट्रियन स्कूल के अन्य अर्थशास्त्री व्यवसाय-चक्र के निराकरण के लिए तटस्थ मुद्रा (Neutral Money) की नीति के पक्ष मे हैं। मूल्य तल का स्थायित्व एव तटस्थ मुद्रा की नीति मे इस बात को लेकर समता है कि इन दोनो मे आर्थिक व्यवस्था क अन्तर्गत मुद्रा के कार्य को निष्क्रिय बनाने का प्रयत्न किया जाता है। मूल्य-स्थायित्व की नीति के अन्तर्गत सामान्य मूल्य-तल को स्थायी बनाकर मुद्रा के मूल्य को स्थायी बनाया जाता है, जबकि तटस्थ-मुद्रा की नीति के अन्तर्गत मुद्रा के सापेक्षिक मूल्य-तल की रचना को अस्त- व्यस्त करने से रोकने का प्रयास किया जाता है। दूसरे शब्दो मे, तटस्थ-मुद्रा की नीति का उद्देश्य मुद्रा की राशि का एक विशेष तरह से नियन्त्रण करना है जिससे मुद्रा का उत्पादन, मूल्य एव रोजगार आदि पर कोई प्रभाव नहीं पडे।[1]

तटस्थ मुद्रा की नीति का सिद्धान्त यथेष्टकारिता (Laissez-faire) के विचार पर आधारित है। इस नीति के अनुसार मुद्रा का कार्य केवल विनिमय के माध्यम के रूप मे कार्य करना है, मूल्य तल के निर्धारण का नही। दूसरे शब्दो मे, मुद्रा तटस्थ तब रहती है जब वह सापेक्षिक मूल्य (relative values) के सम्बन्ध को विकृत नही करे। इस नीति के अनुसार मुद्रा की राशि का एक विशेष प्रकार से नियन्त्रण होना चाहिए जिसमे वस्तुओ के उत्पादन, उसके क्रय विक्रय तथा मूल्य पर मुद्रा का कोई प्रभाव नही पडे। इस विचारधारा के अर्थशास्त्रियो के अनुसार मूल्य मे परिवर्तन के कारणो को दो वर्गों मे विभाजित किया जा सकता है—वस्तु-पक्ष एव मुद्रा-पक्ष। मूल्य मे परिवर्तन वस्तुओ की माग एव पूर्ति मे परिवर्तन के परिणामस्वरूप होते हैं। यह मूल्य-परिवतन के कारणो का वस्तु पक्ष हुआ। मूल्य-तल मे परिवर्तन का दूसरा कारण मुद्रा की मात्रा मे परिवर्तन है जिसे मुद्रा-पक्ष कहते हैं। पहले प्रकार का कारण वाछनीय है, दूसरे प्रकार का नही, यानी मुद्रा की मात्रा मे परिवर्तन के अनुसार मूल्य मे परिवर्तन नही होना चाहिए। यही तटस्थ मुद्रा की धारणा है। इस नीति के समर्थको के अनुसार देश के आर्थिक साधनो का विभिन्न उत्पादक कार्यों के बीच इस प्रकार से वितरण होना चाहिए कि मुद्रा का वितरण पर अच्छा अथवा बुरा कोई भी प्रभाव नही पडे। मुद्रा के निर्माण तथा समाप्ति से अर्थ व्यवस्था मे वास्तविक माग तथा पूर्ति की समानता भग हो जाती है। वास्तव में, ये अर्थ-व्यवस्था में व्याकुलता उत्पन्न करनेवाले ऐसे मौद्रिक कीटाणु हैं जो अतटस्थ मुद्रा-नीति के द्वारा आर्थिक शरीर मे प्रवेश करते हैं।" (Creation as well as destruction of money spoil the equivalence of the total supply and demand, they are disturbing monetary germs injected into economic body by a monetary policy which is not neutral)[2]

किन्तु इससे यह नही समझना चाहिए कि मुद्रा की राशि को स्थायी रखकर तटस्थ मुद्रा की नीति के उद्देश्यो को प्राप्त किया जा सकता है। वास्तव मे समाज के लिए यदि मुद्रा की मात्रा स्थायी रहे, किन्तु इसके भ्रमण-प्रवाह (velocity of circulation) मे वृद्धि हो जाय तो इससे कार्यशील मुद्रा की मात्रा मे वृद्धि होगी जिसके परिणामस्वरूप वस्तुओ की कीमत भी बढ जायगी। इसके विपरीत यदि मुद्रा की मात्रा स्थिर रहे और इसका भ्रमण प्रवाह भी कम हो जाय तो इससे कार्यशील मुद्रा की पूर्ति कम हो जायगी जिससे मूल्य-तल भी कम हो जायगा। अतएव यदि मौद्रिक अधिकारी मुद्रा की मात्रा को स्थायी रखें तो इससे मुद्रा तटस्थ नहीं रह सकती। अतएव यह धारणा कि मुद्रा की मात्रा को स्थायी बनाकर मुद्रा को तटस्थ बनाया जा सकता है, निश्चित ही अयुक्तिसगत है।

---

1. तटस्थ मुद्रा नीति की सविस्तार व्याख्या प्रो० हॉयक (F A Hayek) की सुप्रसिद्ध पुस्तक 'Prices and Production' में की गयी है।

2. G. N. Halm Monetary Theory, P. 123.

इसी प्रकार यदि देश में वैज्ञानिक उन्नति हो, उत्पादन के साधनो मे वृद्धि हो एव सम्पूर्ण आर्थिक व्यवस्था प्रगतिशील हो तो ऐसी स्थिति मे भी मुद्रा की मात्रा मे वृद्धि नही करने से महान् अपस्फीति (deflation) का सृजन होगा। उदाहरण के लिए, यदि अमेरिका, इगलैंड आदि देशो मे पिछले 100 वर्षो मे मुद्रा की मात्रा मे वृद्धि ही नही की गयी होती तो इससे महान् अपस्फीति (deflation) का सृजन हुआ रहता। इसका अनुमान इसी बात से सुगमतापूर्वक लगाया जा सकता है कि इस समय मे इन देशों मे पिछले सौ वर्षों की अपेक्षा मुद्रा की पूर्ति मे कई गुनी वृद्धि हुई है। अतएव मुद्रा की तटस्थता का अर्थ मुद्रा की मात्रा को स्थायी रखना नही है। वास्तव में, जनसख्या की वृद्धि एव आर्थिक प्रगति के अनुसार मुद्रा की राशि मे वृद्धि ही इस प्रकार की मौद्रिक नीति का कार्यक्रम हो सकता है।

किन्तु तटस्थ मुद्रा की नीति के सम्बन्ध मे विभिन्न शर्तों को निर्धारित करना बिल्कुल कठिन हो जाता है। यदि इस बात को मान भी लिया जाय कि पूर्ण रोजगारी की स्थिति प्राप्त हो गयी है तो भी मौद्रिक अधिकारियो को मुद्रा की माग मे परिवर्तन की व्यवस्था करनी होगी तथा उत्पादन के गहन एव विस्तृत विस्तार मे अतर करना होगा। (To distinguish between extensive and intensive expansion of production) यदि कार्य क्षमता मे वृद्धि के परिणामस्वरूप मूल्य-तल मे कमी हो जाय तो इसके लिए अधिक मुद्रा की मात्रा को स्थायी रखना होगा, बढती हुई जनसख्या के लिए अधिक मुद्रा की व्यवस्था करनी होगी, एकाधिकार के मूल्य पर ध्यान देना होगा तथा सापेक्षिक मूल्य तल मे महान् परिवर्तन को रोकने के लिए मुद्रा की मात्रा मे वृद्धि करनी होगी। साथ ही, इससे स्पष्ट है कि व्यावहारिक रूप मे तटस्थ मुद्रा की नीति के आदर्श को प्राप्त करना कठिन है। वास्तव मे, तटस्थ मुद्रा नीति के दोनो उद्देश्यों-मुद्रा की मात्रा की स्थिरता तथा मूल्यो की स्थिरता परस्पर-विरोधी लक्ष्य है। यह नीति अवास्तविक है तथा आज के प्रगतिशील विश्व मे लागू नही हो सकती। वास्तव मे, अनियन्त्रित आर्थिक व्यवस्था मे तटस्थ मुद्रा का आदर्श नही प्राप्त किया जा सकता है। इसकी प्राप्ति सिर्फ पूर्णत: आयोजित आर्थिक व्यवस्था (fully planned economy) मे ही सम्भव है। आयोजित अर्थ-व्यवस्था मे समाज की माग, वस्तुओ का उत्पादन, समाज की आय, उत्पादन-व्यय, बचत एव विनियोग सभी पर नियन्त्रण रहता है। साथ ही इस प्रकार की आर्थिक व्यवस्था मे मजदूरी, मुद्रा की मात्रा एवं कीमतें भी नियन्त्रित रहती हैं। अतएव इस प्रकार की आर्थिक व्यवस्था मे समाज की आय एव उत्पादन मे परिवर्तन के अनुसार मुद्रा की मात्रा मे परिवर्तन करना बहुत सुगम है। इस प्रकार निष्कर्ष के तौर पर यह कहा जा सकता है कि आयोजित अर्थ-व्यवस्था मे ही तटस्थ मुद्रा की नीति का अनुसरण किया जा सकता है।

(5) मौद्रिक नीति एवं पूर्ण रोजगारी
(Monetary Policy and Full-employment)

आधुनिक समय मे मौद्रिक नीति का प्रधान उद्देश्य पूर्ण रोजगारी की प्राप्ति एव इसी स्तर पर देश की आर्थिक व्यवस्था को स्थायी बनाना है। किन्तु इस उद्देश्य की विवेचना के पूर्व हमे यह देखना होगा कि पूर्ण रोजगारी (Full employment) का अर्थ क्या है? साधारणतया पूर्ण-रोजगारी उस स्थिति को कहते हैं जिसमे देश मे उत्पादन के सभी उपलब्ध साधन - भूमि, श्रम एव पूँजी आदि कार्यरत रहते हैं। किन्तु सभी उपलब्ध साधनो के कार्यरत रहने पर भी यह आवश्यक नहीं कि राष्ट्र की आय अधिकतम हो। उत्पादन के सभी साधन एक-दूसरे के पूरक होते हैं, किन्तु वे सर्वत्र एक ही परिमाण मे उपलब्ध नही होते। अतएव उत्पादन एव रोजगारी मे ज्यो-ज्यो वृद्धि होती है, त्यो-त्यो सीमित परिमाण मे उपलब्ध साधन शीघ्र ही पूर्ण रोजगारी की स्थिति मे पहुँच जाते है। किन्तु अधिक मात्रा मे उपलब्ध साधन कुछ परिमाण मे बेकार रह जाते हैं। ऐसी स्थिति मे उत्पादन मे वृद्धि कठिन हो जाती है क्योकि कुछ आवश्यक साधन केवल सीमित मात्रा मे ही उपलब्ध रहते हैं। अतएव सभी बेकार साधनो को कार्यरत किया जाय तो भी उत्पादन मे इनका सयोग ऐसा होगा जिसके फलस्वरूप राष्ट्रीय आय अधिकतम नही हो सकती। इससे स्पष्ट है कि राष्ट्रीय आय उच्चतम तभी होती है जब उत्पादन के सभी साधनो का एक आदर्श सयोग (Ideal Combination) रहता है। अतएव पूर्ण-रोजगारी की स्थिति मे भी कुछ साधन बेकार रह सकते हैं।

प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियो के अनुसार पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति मे पूर्ण रोजगारी की प्रवृत्ति कार्य करती है, अतएव जो भी साधन बेकार रहते हैं वे स्वेच्छापूर्वक बेकार रहते हैं। किन्तु इन्होने मदी आदि के समय मे जो अनैच्छिक बेकारी (Involuntary unemployment) रहती है उसकी व्याख्या नही की है। वास्तव मे, मन्दी के समय साधनो की अनच्छिक बेकारी वर्तमान रहती है, यानी बहुत से साधन कार्य करने के लिए इच्छुक रहते हैं, किन्तु माग नही रहने के कारण उन्हें बेकार रहने के लिए विवश होना पडता है। पूर्ण रोजगारी के अन्तर्गत इस प्रकार की अनैच्छिक बेकारी वर्तमान नही रहती। पूर्ण रोजगारी की स्थिति मे केवल ऐच्छिक बेकारी (Voluntary unemployment) तथा आर्थिक सघर्षों की बेकारी (Frictional unemployment) ही पायी जाती है। आर्थिक सघर्षों की बेकारी (*Frictional unemployment*) आर्थिक व्यवस्था के परिवर्तनशील होने के कारण उत्पन्न होती है।-प्रो० लरनर के अनुसार **"पूर्ण रोजगार का तात्पर्य उस अवस्था से है जबकि प्रचलित दर पर बिना किसी विशेष असुविधा के कार्य के लिए इच्छुक व्यक्तियों को कार्य मिल जाता है।"**

इस प्रकार पूर्ण-रोजगारी की धारणा उस आर्थिक व्यवस्था की धारणा को कहते हैं जिसमे साधनो के आदर्श सयोग से राष्ट्र की आय उच्चतर स्तर पर हो, किन्तु इस प्रकार की व्यवस्था मे कुछ साधन बेकार भी रह सकते हैं। किन्तु इनमे अनैच्छिक बेकारी नही होनी चाहिये। आधुनिक समय मे राष्ट्रो की मौद्रिक एव आर्थिक नीति का प्रधान उद्देश्य पूर्ण रोजगारी (Full-employment) की प्राप्ति करना तथा इसी स्तर पर आर्थिक स्थायित्व की स्थापना है। इस प्रकार मौद्रिक नीति के इस उद्देश्य के निम्नलिखित दो पहलू हैं :—

(क) साधनो की बेकारी को दूर करना एव पूर्ण-रोजगारी की स्थिति उत्पन्न करना, तथा
(ख) पूर्ण-रोजगारी के स्तर पर देश की आर्थिक व्यवस्था को स्थायी बनाना।

किन्तु अब हमे यह देखना है कि पूर्ण-रोजगारी किस प्रकार प्राप्त की जा सकती है? केन्स (Keynes) के अनुसार रोजगार मे वृद्धि समाज की सम्पूर्ण सक्रिय माग द्वारा निर्धारित होती है।

समाज की सम्पूर्ण सक्रिय मांग के दो निर्णायक तत्व हैं :

(क) उपभोग की वस्तुओ (Consumer's goods) की माग, तथा
(ख) उत्पादन की वस्तुओ (Producer's goods) की माग ;

इस विवरण से स्पष्ट है कि रोजगार मे कमी का कारण समाज की सम्पूर्ण सक्रिय मांग मे कमी है। अतएव पूर्ण-रोजगारी के उद्देश्य की प्राप्ति के लिए समाज की सम्पूर्ण माग को एक विशिष्ट स्तर पर लाना होगा। इस स्तर से माग कम होने पर बेकारी की समस्या उत्पन्न होगी। समाज की सम्पूर्ण माग मे वृद्धि के लिए उपभोग एव विनियोग मे वृद्धि करनी होगी। किन्तु कभी-कभी कुछ साधनो की बेकारी इस कारण भी होती है कि उनके पूरक साधनो का अभाव रहता है जिससे उत्पादन मे वृद्धि करने मे भौतिक कठिनाई होती है। अतएव बेकारी की समस्या के समाधान के लिए माग मे वृद्धि के साथ साथ उत्पादन की भौतिक कठिनाइयो को भी दूर करने का प्रयत्न करना होगा। उत्पादन मे वृद्धि की भौतिक कठिनाइयो को आर्थिक पुनर्गठन (Economic re-organisation) के द्वारा दूर किया जा सकता है। किन्तु मौद्रिक नीति का सम्बन्ध सम्पूर्ण माग को प्रभावित करने से ही है, आर्थिक पुनर्सगठन के उद्देश्य से किये जानेवाले प्रयत्नो का मौद्रिक नीति से प्राय कोई सम्बन्ध नही होता।

सम्पूर्ण माग मे वृद्धि के लिए उपभोग एव विनियोग दोनो मे वृद्धि करनी होगी। इनमे वृद्धि से उपभोग की सीमान्त प्रवृत्ति (Marginal propensity to consume) प्रभावित होती है। उपभोग की सीमात प्रवृत्ति कई बातो से प्रभावित होती है जिनमे राष्ट्र की आय प्रधान है। अतएव मौद्रिक नीति द्वारा उपभोग की मात्रा मे वृद्धि की जा सकती है। इसके साथ ही विनियोग मे वृद्धि सूद की दर (Rate of interest) एव पूंजी की सीमात उत्पादकता (Marginal efficiency of capital) पर भी निर्भर करती है। सूद की दर के सीमात उत्पादकता से कम होने पर विनियोग प्रोत्साहित होता है और अधिक होने पर विनियोग हतोत्साहित होता है। इससे स्पष्ट है कि सूद की दर को निम्न स्तर पर रख कर [जिसे सस्ती मुद्रा-नीति (Cheap money policy) कहते हैं] विनियोग मे वृद्धि की जा सकती है।

किन्तु, यहाँ पर यह कहना अनिवार्य है कि केवल मुद्रा-प्रसार एवं उपभोग तथा सूद की दर में कमी से विनियोग में वृद्धि नहीं हो सकती। इसके लिए यह अनिवार्य है कि केन्द्रीय एवं व्यावसायिक बैंक जिस अतिरिक्त मुद्रा की सृष्टि करते हैं उसका समाज में संचालन हो। ऐसा होने से सम्पूर्ण माँग प्रभावित होगी तथा रोजगार के साधनों में भी वृद्धि होगी। केन्स (Keynes) का इस सम्बन्ध में निम्नांकित कथन अधिक महत्त्वपूर्ण जान पड़ता है : —"If the treasury were to fill old bottles with bank notes, bury them at suitable depths in disused coal mines which are then filled up to surface with town-rubbish and leave it to private enterprise to dig the notes up again, there need be no more unemployment "

मन्दी की स्थिति में, जब बेकारी की समस्या अत्यधिक प्रबल रहती है तो उपभोग की अपेक्षा विनियोग में ही अधिक कमी होती है। ऐसी स्थिति में विनियोग में वृद्धि के द्वारा ही उपभोग को प्रभावित किया जा सकता है। किन्तु मन्दी (Depression) की स्थिति में केवल मुद्रा-प्रसार एवं सस्ती मुद्रा-नीति से ही विनियोग को प्रोत्साहन नहीं मिलता क्योंकि उत्पादकों को सम्पूर्ण भविष्य ही अन्धकारमय जान पड़ता है जिससे वे शीघ्र विनियोग में वृद्धि नहीं चाहते हैं। ऐसी स्थिति में सरकार को अपने विनियोग में वृद्धि करनी पड़ती है, और सरकार वित्तीय नीति (Fiscal Policy) के प्रयोग द्वारा ही अपने विनियोग में वृद्धि करती है।

रोजगार के साधनों में वृद्धि के लिए वित्तीय नीति का प्रयोग साधारणतया घाटे की वित्त-व्यवस्था (Deficit Financing) के रूप में किया जाता है। घाटे की वित्त-व्यवस्था के अन्तर्गत सरकार अपने खर्च में वृद्धि करती है। इस अधिक खर्च की पूर्ति केन्द्रीय तथा व्यावसायिक बैंकों द्वारा अतिरिक्त मुद्रा का सृजन करके की जाती है। वित्तीय व्यवस्था में इस अतिरिक्त मुद्रा के प्रवेश करने से सूद की दर में कमी हो जाती है जिससे विनियोग में वृद्धि होती है। इससे उपभोग भी प्रभावित होता है। घाटे की वित्त-व्यवस्था के द्वारा सरकार अपने विनियोग में वृद्धि कर बेकार साधनों को कार्य में लगाती है जिससे इन उद्योगों में रोजगार की वृद्धि होती है। इस प्रकार इन साधनों की आय में वृद्धि होती है जिससे इनकी अन्य वस्तुओं की माँग बढ़ती है और परिणामस्वरूप अन्य उद्योगों में भी रोजगार बढ़ता है। इससे कुछ समय के बाद राष्ट्रीय आय एवं रोजगार दोनों में पर्याप्त वृद्धि होती है। राष्ट्रीय आय एवं रोजगार में वृद्धि होने के फलस्वरूप विनियोग में वृद्धि की जो प्रवृत्ति होती है उसे त्वरण (Acceleration) कहा जाता है और सरकारी विनियोग के परिणामस्वरूप जो अतिरिक्त रोजगार प्राप्त होता है एवं अन्त में इसके फलस्वरूप सम्पूर्ण रोजगार में जो वृद्धि होती है, इन दोनों के परिमाणात्मक सम्बन्ध को गुणक (multiplier) कहते हैं। उदाहरणार्थ, सरकारी विनियोग के परिणामस्वरूप यदि 100 आदमियों को रोजगार मिले और इसके फलस्वरूप समाज में अन्ततः कुल 1000 आदमियों को रोजगार मिल जाय तो ऐसी स्थिति में गुणक $\frac{1000}{100} = 10$ होगा।

इस प्रकार सरकारी विनियोग में वृद्धि के परिणामस्वरूप राष्ट्रीय आय एवं रोजगार में किस गति से वृद्धि होती है यह गुणक के परिमाण पर निर्भर करता है। गुणक का परिमाण समाज की सीमांत उपभोग की प्रवृत्ति (Marginal propensity to consume) पर निर्भर करता है। यदि सरकारी विनियोग की वृद्धि के फलस्वरूप जिस आय का सृजन होता है उसका अधिकांश भाग उपभोग में खर्च हो एवं संचय की प्रवृत्ति बिल्कुल वर्तमान न हो तो ऐसी स्थिति में माँग में उत्तरोत्तर वृद्धि होने से आय एवं रोजगार में अधिक वृद्धि होगी। इस कारण गुणक का परिमाण बहुत अधिक होगा। इसके विपरीत यदि अतिरिक्त आय का अधिकांश भाग संचित होने लगे तो इससे आय एवं रोजगार में बहुत कम वृद्धि होगी जिससे गुणक का परिमाण भी कम होगा।

किन्तु घाटे की वित्त व्यवस्था (Deficit financing) की नीति की कुछ महत्त्वपूर्ण सीमाएँ भी हैं। सर्वप्रथम तो इसका प्रयोग केवल अल्पकालीन नीति के रूप में ही होना चाहिए जिससे आर्थिक व्यवस्था की शिथिलता समाप्त हो जाय एवं निजी विनियोग को प्रोत्साहन मिले। जिस अनुपात में निजी विनियोग में वृद्धि हो उसी अनुपात में सरकार को अपने विनियोग में कमी करनी चाहिए। किन्तु घाटे की वित्त व्यवस्था के द्वारा निजी विनियोग को कितना प्रोत्साहन मिल रहा है,

यह गुणक एवं त्वरण (acceleration) के परिमाण पर निर्भर करता है। इनका परिमाण कम होने से निजी विनियोग मे कम वृद्धि होती है जिससे घाटे की वित्त व्यवस्था को बहुत समय तक चलाना पडता है। साथ ही, यदि निजी विनियोग मे प्रसार शीघ्र ही रुक जाय और इसके परिणामस्वरूप आर्थिक व्यवस्था का प्रसार भी रुक जाय तो ऐसी स्थिति मे घाटे की वित्त-व्यवस्था को प्राय स्थायी रूप देना पडता है। किन्तु इससे सरकारी ऋण मे भी वृद्धि होती है जिससे अधिस्फीति की सृष्टि की प्रवृत्ति होती है।

घाटे की वित्त-व्यवस्था (Deficit financing) का परिमाण यदि प्रारम्भ मे बहुत अधिक है तो इसमे उत्तरोत्तर वृद्धि करना अनिवार्य हो जाता है। इससे निजी विनियोग की मात्रा मे कमी आने की सम्भावना रहती है। इसके विपरीत यदि प्रारम्भ मे घाटे की वित्त व्यवस्था की मात्रा कम है तो उसका विनियोग पर प्रतिकूल प्रभाव नहीं पडता। इसलिए यह कहा जाता है कि घाटे की वित्त-व्यवस्था से पूर्ण रोजगार की प्राप्ति नहीं हो सकती, इससे रोजगार मे केवल वृद्धि की प्रवृत्ति उत्पन्न की जाती है। साथ ही, घाटे की वित्त-व्यवस्था की नीति की सफलता के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि इससे समाज मे आशावादी मनोवृत्ति की सृष्टि हो तथा विनियोग के लिए भी पर्याप्त रूप से अवसर वर्तमान हो।

आधुनिक समय मे बेकारी की समस्या का समाधान मौद्रिक एव वित्तीय दोनो प्रकार की नीतियो के प्रयोग के द्वारा किया जाता है। वास्तव मे, अकेले मौद्रिक नीति इस क्षेत्र मे सफलीभूत नहीं हो सकती। मौद्रिक नीति से ब्याज की दर को नियन्त्रित किया जा सकता है किन्तु सूद की दर के अतिरिक्त विनियोग पूँजी की सीमात उत्पादन-क्षमता (Marginal efficiency of Capital) पर भी निर्भर करता है जिसका मुनाफा से बहुत ही घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। और, चूँकि मौद्रिक नीति मुनाफा को नियन्त्रित नहीं कर सकती, अतएव केवल मौद्रिक नीति के प्रयोग से विनियोग मे वृद्धि सम्भव नही है। इसीलिए बेकारी की समस्या के समाधान मे मौद्रिक एव वित्तीय दोनो ही नीतियो का सम्मिलित प्रयोग अति अनिवार्य है।

साथ ही, पूर्ण रोजगारी की स्थिति मे आर्थिक स्थायित्व कायम रखने के लिए उन कारणों का निराकरण करना होता है जिनके फलस्वरूप अस्थायित्व उत्पन्न होता है। पूर्ण रोजगारी की स्थिति मे अस्थायित्व के दो कारण हैं —(1) व्यवसाय-चक्र (Trade cycle), एव (2) अधिस्फीति का दवाव (Inflationary pressure)।

सर्वप्रथम तो पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था की एक प्रमुख विशेषता व्यवसाय-चक्र का नियमित रूप से होना है। केन्स (Keynes) के अनुसार पूँजीवादी आर्थिक व्यवस्था मे आय एव रोजगार मे वृद्धि से समाज मे उपभोग की प्रवृत्ति कम होती है और सचय की प्रवृत्ति बढती है जिससे विनियोग मे कमी आने लगती है। अतएव इस प्रकार की व्यवस्था पूर्ण रोजगार के नीचे ही सतुलन-बिन्दु पर आ जाती है। निजी विनियोग मे इस कमी की पूर्ति के लिए सरकारी विनियोग मे वृद्धि अनिवार्य है जिससे कि अर्थ व्यवस्था पूर्ण रोजगार के स्तर पर पहुँच सके। किन्तु पूर्ण रोजगार की प्राप्ति के बाद समाज मे बहुत-सी ऐसी शक्तियाँ कार्य करने लगती हैं जिनकी प्रवृत्ति आर्थिक व्यवस्था को असन्तुलित बनाने की होती है। उदाहरण के लिए, निर्यात मे कमी होने से व्यावसायिक बैंको द्वारा मुद्रा-सकुचन की नीति का अनुसरण करने से विनियोग मे कमी आ जाती है जिससे बेकारी बढती है एव मन्दी की सृष्टि होती है। अतएव निजी विनियोग मे कमी को रोकने के लिए सरकारी विनियोग मे वृद्धि करने के लिए तैयार रहना चाहिए। इस प्रकार सम्भावित मन्दी को रोकने के लिए मौद्रिक नीति का व्यवसाय-चक्र विरोधी (anti cyclical) होना अनिवार्य है। किन्तु, केवल मौद्रिक नीति से विनियोग को स्थायी नही बनाया जा सकता इसके लिए इसके साथ साथ समुचित प्रशुल्क-नीति (Fiscal Policy) का उपयोग भी अनिवार्य है।

पूँजीवादी आर्थिक व्यवस्था जैसे-जैसे पूर्ण रोजगार की ओर अग्रसरित होती जाती है, वैसे-वैसे इससे अधिस्फीति की प्रवृत्तियों को बल मिलने लगता है। इस अधिस्फीति की प्रवृत्ति के कई कारण हैं जिनमे निम्नलिखित विशेष रूप से महत्वपूर्ण हैं —

(1) रोजगार मे वृद्धि से उत्पादन मे जो वृद्धि होती है उसका सीमात उत्पादन व्यय अपेक्षाकृत अधिक होता है।

(ii) उत्पादन के कुछ साधनों के अभाव के कारण इन साधनों के लिए अधिक मूल्य चुकाना पड़ता है।

(iii) पूर्ण रोजगार की स्थिति में उत्पादन लोचहीन होता है, अतएव मौद्रिक आय में वृद्धि के परिणामस्वरूप अधिस्फीति की प्रवृत्ति उत्पन्न होने लगती है।

(iv) श्रमिक-संघ श्रम की उत्पादन-क्षमता में वृद्धि की अपेक्षा अधिक मजदूरी की माग करने लगते हैं।

पूर्ण रोजगार की स्थिति मे अधिस्फीति के दबाव को रोकने के लिए उक्त प्रवृत्तियों का नियन्त्रण अनिवार्य है। किन्तु मौद्रिक नीति न तो उत्पादन मे वृद्धि की भौतिक कठिनाइयों का निराकरण करती है, न उत्पादन व्यय का नियंत्रण ही। मौद्रिक नीति केवल समाज की सम्पूर्ण माग को नियन्त्रित कर सकती है, किन्तु वह भी अकेले नही।

( ) मौद्रिक नीति एवं आर्थिक विकास

(Monetary Policy and Economic Development)

आर्थिक दृष्टि से विकसित राष्ट्रों मे मौद्रिक नीति का प्रधान उद्देश्य पूर्ण रोजगार के स्तर पर देश मे आर्थिक स्थायित्व को स्थापित करना होता है, किन्तु अविकसित एवं अर्द्ध विकसित (un-developed and under-developed) राष्ट्रों मे इसका प्रधान उद्देश्य आर्थिक विकास को प्रोत्साहित करना होता है। पूर्ण रोजगार की जगह आर्थिक विकास को मौद्रिक नीति का उद्देश्य बनाना सच्चे अर्थ मे कल्याणकारी राज्य की स्थापना की ओर एक पग बढने के समान है। अविकसित देशों मे प्रधान समस्या विनियोग के अभाव की रहती है। मौद्रिक नीति द्वारा विनियोग मे वृद्धि की जा सकती है। ब्याज की दर को कम कर एवं अतिरिक्त बैंक-मुद्रा की सृष्टि कर विनियोग को बढाया जा सकता है। किन्तु ऐसे देशो मे अधिस्फीति की प्रवृत्ति कई कारणों से उत्पन्न हो जाती है, जैसे विनियोग मे वृद्धि होने से माग मे वृद्धि होती है, किन्तु उत्पादन इतनी शीघ्रता से नही बढ़ता। साथ ही, घाटे की वित्त-व्यवस्था (Deficit financing) के द्वारा देश के साधनों की कमी को पूरा किया जाता है। इन कारणों से अधिस्फीति की प्रवृत्तियों को बल मिलता है। अतएव विकासोन्मुख आर्थिक व्यवस्था वाले देश मे मौद्रिक नीति का उद्देश्य आवश्यक विनियोग की वृद्धि को प्रोत्साहित एवं अनावश्यक विनियोग की वृद्धि को हतोत्साहित करना होना चाहिए। ऐसी नीति के अनुसरण मे गुणात्मक साख-नियन्त्रण (Selective or qualitative credit control) के साधनों का प्रयोग अधिक लाभदायक सिद्ध होता है। गुणात्मक नियंत्रण के तरीकों द्वारा आवश्यक विनियोग के क्षेत्र मे ब्याज की दर को कम तथा अनावश्यक क्षेत्र में सूद का दर को अधिक किया जाता है। इस प्रकार अविकसित एवं अर्द्ध विकसित आर्थिक व्यवस्था वाले देशों में मौद्रिक नीति के प्रयोग के द्वारा आर्थिक विकास को प्रोत्साहित किया जाता है।

आर्थिक विकास के सम्बन्ध में मौद्रिक नीति के निम्नांकित तीन पहलू हैं :—

(क) ब्याज की दर के पूर्ववत् रहने पर बैंक-मुद्रा में वृद्धि के द्वारा आर्थिक विकास को प्रोत्साहित करना,

(ख) ब्याज की दर को घटाकर आर्थिक विकास को प्रोत्साहित करना, तथा

(ग) घाटे की वित्त-व्यवस्था के द्वारा आर्थिक विकास करना।

(क) बैंक-मुद्रा मे वृद्धि के द्वारा आर्थिक विकास को प्रोत्साहित करना — विकासोन्मुख आर्थिक व्यवस्था वाले देशों मे विनियोग को बढाने के लिए अतिरिक्त बचत की आवश्यकता पडती है। किन्तु इन देशो मे प्रति व्यक्ति आय की न्यूनता के कारण पर्याप्त मात्रा में बचत नही हो पाती। ऐसी स्थिति मे आर्थिक विकास को प्रोत्साहित करने के लिए बैंक मुद्रा का प्रसार आवश्यक है। किन्तु इस प्रकार की अतिरिक्त मुद्रा का प्रयोग केवल विनियोग के लिए ही होना चाहिए। इसे उपभोग पर नही खर्च किया जाना चाहिए। इस प्रकार विनियोग को बढाने के लिए बचत की कमी को बैंक मुद्रा की मात्रा मे वृद्धि के द्वारा पूरा कर आर्थिक विकास को प्रोत्साहित किया जा सकता है।

(ख) ब्याज की दर को घटाकर आर्थिक विकास को प्रोत्साहित करना —अविकसित

तथा अर्द्ध-विकसित देशो मे व्याज की दर का निम्न होना भी आर्थिक विकास के लिए कई दृष्टि से आवश्यक है। इस प्रकार के देशो मे विनियोग के लिए पूँजी का अभाव रहता है जिससे विदेशो से ऋण लेने की आवश्यकता पडती है, अतएव ब्याज की दर का न्यून होना अनिवार्य है। साथ ही, इन देशो मे सरकार को बडे पैमाने पर आन्तरिक ऋण लेने की भी आवश्यकता पडती है। अतएव निम्न ब्याज की दर पर ऋण प्राप्त करने मे सुविधा होगी तथा ब्याज के रूप मे सरकार को बहुत ही कम रकम व्यय करनी पडेगी।

ब्याज की दर आर्थिक विकास को ओर भी कई प्रकार से प्रभावित करती है। ब्याज की दर मे कमी से पूँजी की मात्रा मे वृद्धि होती है, पूँजी की मात्रा मे वृद्धि से श्रम की उत्पादकता बढती है और श्रम की उत्पादकता बढने से पूँजी-निपज अनुपात (Capital-output ratio) मे कमी होती है, यानी श्रम की उत्पादकता मे वृद्धि से पूँजी की एक निश्चित मात्रा से पहले की अपेक्षा अधिक उत्पादन किया जा सकता है और इस प्रकार आर्थिक प्रगति को तीव्र बनाया जा सकता है। प्रो० कुरिहारा का इस सम्बन्ध मे निम्नांकित कथन विशेष रूप से उल्लेखनीय है :—
"There seems to be some scope for a cheap policy as an in trument of development programmes, especially in those under-developed economies following the principle of profit maximization over the expected future useful life of durable capital equipment"[1]

किन्तु इस प्रकार के देशो के आर्थिक विकास मे भी सस्ती मुद्रा-नीति का महत्त्व निम्नांकित कारणो से सीमित हो जाता है :—**सर्वप्रथम** तो इन देशो मे लोगो की आय मे कमी के परिणाम-स्वरूप विनियोग के कम होने के कारण विनियोग करने की इच्छा सीमित होती है। ऐसी स्थिति मे राज्यो को स्वय बडे पैमाने पर राजकीय व्यय का आयोजन करना पडता है। और चूँकि राजकीय व्यय का उद्देश्य मुनाफा कमाना नही होकर सामाजिक कल्याण की वृद्धि तथा आर्थिक विकास की नीव को सुदृढ बनाना होता है, अतः इस प्रकार के विनियोग मे ब्याज की दर का महत्त्व बहुत ही कम होता है। **द्वितीयत.**, व्याज की दर के कम होने से बचत की इच्छा भी कम रहती है। अत बचत को प्रोत्साहित करने के लिए ब्याज की दर को उच्च करने की आवश्यकता पडती है।

(ग) घाटे की वित्त-व्यवस्था एव आर्थिक विकास (Deficit Financing and Economic Development)——अर्द्धविकसित देशो में विनियोग के लिए आवश्यक पूँजी प्राप्त करने का एक प्रधान साधन घाटे की वित्त व्यवस्था को अपनाना भी है। घाटे की वित्त-व्यवस्था के अन्तर्गत सरकार मुख्यत केन्द्रीय तथा व्यावसायिक बैंको से कर्ज लेकर अथवा अतिरिक्त मात्रा मे नोट छापकर विनियोग के लिए साधन प्राप्त करती है। **घाटे की वित्त-व्यवस्था का तात्पर्य सरकार द्वारा अपनी आय से अधिक व्यय करना होता है।** (Deficit financing means expenditure by the Govt in excess of its receipts, whether by way of taxes, *earnings* from state enterprises, loans, small savings and deposits of other miscellaneous sources) घाटे की वित्त-व्यवस्था की नीति का प्रयोग दो प्रकार से किया जाता है। सर्वप्रथम तो इसे एक दीर्घकालीन नीति के रूप मे तब तक प्रयोग किया जाता है जब तक कि अर्थ-व्यवस्था स्वय प्रगति (self-sustained growth) की स्थिति मे नहीं पहुँच जाती। द्वितीयत, इस नीति का प्रयोग अल्पकालीन नीति के रूप मे भी किया जा सकता है जब इसका उद्देश्य अल्पकाल मे साधनो की कमी को दूर करना है।

किन्तु आर्थिक विकास के संदर्भ में घाटे की वित्त व्यवस्था की बहुत अधिक आलोचना की जाती है। सर्वप्रथम तो एक सीमा के बाद घाटे की वित्त व्यवस्था से मुद्रास्फीति की आशंका उत्पन्न हो जाती है। इसमे कोई संदेह नही कि विकसित देशो मे घाटे की वित्त व्यवस्था के प्रयोग के द्वारा रोजगार तथा राष्ट्रीय आय मे महत्त्वपूर्ण वृद्धि की जा सकती है तथा इससे मुद्रास्फीति की भी कोई आशंका नहीं रहती। किन्तु अविकसित तथा अर्द्ध-विकसित देशो मे बडे पैमाने पर घाटे की वित्त व्यवस्था का सहारा लेने से जो अतिरिक्त आय की सृष्टि होगी उससे माग बढेगी

1. K. K. Kurihara : The Keynesian Theory of Economic Development. —P. 143.

और वस्तुओं के अभाव के कारण अधिस्फीति की सृष्टि की सम्भावना उत्पन्न हो जायगी। अधिस्फीति के कारण बचत की इच्छा कम हो जाती है तथा लोग अपनी बचत को स्वर्ण आदि के रूप में रखना प्रारम्भ कर देते हैं। संयुक्त राष्ट्र संघ की एक विशेषज्ञ समिति ने इसे निम्न प्रकार से स्पष्ट किया है: "Inflationary methods of financing should be avoided, since such measures tend to deprive the savers of a portion of the real value of their savings, unless they hold their savings in such undesirable forms as gold and foreign exchange"

किन्तु इसके विपरीत प्रो० कुरिहारा जैसे कुछ लेखक घाटे की वित्त व्यवस्था का समर्थन करते हैं। प्रो० कुरिहारा के अनुसार यदि कोई अर्द्ध विकसित अर्थ-व्यवस्था विनियोग का प्रयोग टिकाऊ साधनों के उत्पादन में करती है तो इससे अधिस्फीति की आशंका नहीं उत्पन्न होती। (If an under-developed economy planning the growth of net investment gears its investment planning primarily to the construction of productive durable equipments, it will give full play to the sigma effect involved)[1] विनियोग की मात्रा में वृद्धि से तकनीकी प्रगति को भी सहायता मिलती है। इससे पूँजी की उत्पादकता को बल मिलता है तथा राष्ट्रीय आय में तीव्र गति से प्रगति होती है और राष्ट्रीय आय में वृद्धि होने से बचत भी प्रोत्साहित होती है।

साराश यह है कि अर्द्ध-विकसित देशों के आर्थिक विकास के लिए घाटे की वित्त-व्यवस्था की सहायता केवल आवश्यक ही नहीं, वरन् एक हद तक अनिवार्य भी होती है। वास्तव में, घाटे की वित्त व्यवस्था मशीन को साफ कर सुव्यवस्थित ढंग से चलायमान रखनेवाले तेल की तरह है न कि मशीन चलाने वाले ईंधन या शक्ति की तरह। दूसरे शब्दों में, हमें सदा यह प्रयत्न करना होगा कि घाटे की वित्त व्यवस्था के फलस्वरूप बढ़ी हुई मुद्रा विकास के लिए लाभदायक तो हो, किन्तु इसका प्रभाव मूल्य वृद्धि पर विशेष रूप से नहीं पड़ सके।

अन्तिम विचार—मौद्रिक नीति के इन विभिन्न उद्देश्यों के अध्ययन से आर्थिक व्यवस्था के सम्बन्ध में कुछ विशेष बातों की जानकारी प्राप्त होती है। सर्वप्रथम तो मौद्रिक नीति के विभिन्न उद्देश्यों में परस्पर विरोध है। उदाहरण के लिए पूर्ण रोजगारी की प्राप्ति एवं विनिमय-दर का स्थायित्व इन दोनों उद्देश्यों में सामंजस्य नहीं हो सकता किन्तु मौद्रिक नीति के विभिन्न उद्देश्यों में आज कल पूर्ण रोजगारी के स्तर पर आर्थिक व्यवस्था का स्थायित्व (Equilibrium of saving and investment at the point of full employment) ही सर्वाधिक महत्वपूर्ण उद्देश्य हो गया है।

द्वितीयत, इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए मौद्रिक नीति प्रशुल्क नीति (Fiscal Policy) की अपेक्षा आज गौण समझी जाती है। दूसरे शब्दों में, केवल मौद्रिक नीति से इन उद्देश्यों की प्राप्ति नहीं हो सकती। इसके कई कारण हैं जिनमें निम्नांकित प्रमुख हैं—सर्वप्रथम तो प्रारम्भ में रोग का ठीक ठीक निदान करना ही कठिन होता है। निवारण उपचार से अच्छा होता है किन्तु यह तभी सम्भव है जब आर्थिक घटनाओं के सम्बन्ध में भविष्यवाणी की जा सके और रोग का ठीक ठीक निदान हो सके। इस सम्बन्ध में दूसरी कठिनाई ठीक समय में उपचार के प्रयोग की है। यदि रोग का निदान हो भी जाय तो दवा भी तभी काम कर सकती है जब रोग के प्रारम्भ में ही उसका प्रयोग किया जाय। दूसरे शब्दों में, स्फीति तथा अपस्फीति के शुरू में ही मौद्रिक नीति प्रभावपूर्ण होती है। तीसरी बात यह है कि स्फीति (Inflation) को रोकना अपस्फीति (Deflation) की अपेक्षा अधिक सरल होता है। इसका कारण यह है कि स्फीति बिना बैंक की रजामन्दी के नहीं हो सकती। विनियोग घटाने तथा बचत बढ़ाने में बैंक की सलाह की आवश्यकता नहीं पड़ती है, परन्तु बिना बैंक की स्वीकृति के विनियोग बचत से अधिक नहीं बढ़ाया जा सकता। स्फीति प्रारम्भ में आनन्ददायक होती है, अतएव शुरू में ही स्फीति को दबाना केन्द्रीय बैंक के लिए लोकप्रिय कार्य नहीं होता और जब व्यवसायियों को भविष्य में विश्वास नहीं होता तब सिर्फ बैंक दर घटाने से विनियोग नहीं बढ़ सकता। एक तो यह निश्चित करना कठिन है कि कौन ब्याज-दर विनियोग तथा बचत में साम्य स्थापित कर सकती है दूसरे, केन्द्रीय बैंक का

---

1 Kurihara The Keynesian Theory of Economic Development

सिर्फ अल्पकालीन ब्याज-दर पर ही प्रत्यक्ष नियन्त्रण होता है, दीर्घकालीन ब्याज-दर पर नही। किन्तु विनियोग दीर्घकालीन ब्याज दर पर ही निर्भर करता है। तृतीयत, सभी केन्द्रीय बैंको को सदस्य बैंको पर एक-सा अधिकार प्राप्त नही है न सर्वत्र ट्रेजरी तथा बैंको मे एक समान सहयोग ही पाया जाता है। चौथे, केन्द्रीय बैंक साख के परिमाण को निश्चित कर सकता है उसके गुण या उचित प्रयोग को नही। सभी केन्द्रीय बैंको को साख के परिमाण पर भी पूरा पूरा अधिकार नही रहता है। आजकल साख के परिमाण को भी सदस्य बैंक परोक्ष रूप से निर्धारित करते हैं। यह कोई जरूरी नही है कि खुला बाजार-कार्यक्रम से सदस्य बैंको का नकद जमा बढे ही। हो सकता है कि एक ओर केन्द्रीय बैंक प्रतिभूतियाँ खरीद कर उसके नकद जमा बढाने का प्रयत्न करे और दूसरी ओर वे केन्द्रीय बैंक को अपना ऋण अदा कर नकद जमा घटावें। साथ ही, यदि नकद जमा बढे तो भी यह कोई आवश्यक नही कि बैंक-जमा बढे ही। हो सकता है कि सदस्य बैंक अपने सचित अनुपात को ही बढा दें। यदि बैंक-जमा बढे भी तो यह कोई आवश्यक नही है कि विनियोग और अग्रिम बढें। यदि खुले बाजार कार्यक्रम द्वारा बैंक-जमा का अति विस्तार रोक भी दिया जाय तो भी इस कार्यक्रम द्वारा बैंक जमा का विस्तार करना सरल नही है। सक्षेप मे, जनता मे यह आशका उत्पन्न करना कि विनियोग से कोई लाभ नही होगा, आसान है, किन्तु इस भय को दूर करना आसान नही है। अतएव, इससे स्पष्ट है कि मौद्रिक नीति अकेले कुछ भी नही कर सकती, किन्तु इसका यह तात्पर्य नही कि मौद्रिक नीति उपयोगी ही नही है। प्रशुल्क नीति के साथ मिलकर मौद्रिक नीति स्फीति तथा अपस्फीति को रोकने में बहुत हद तक सहायक हो सकती है।

अर्द्ध-विकसित देशों के लिए मौद्रिक नीति

(Monetary Policy for Under-developed Countries)

आज का युग विकास का युग है। आज सभी अविकसित तथा अर्द्ध विकसित राष्ट्र विकास को अपनी आर्थिक नीति का लक्ष्य बनाए हुए हैं। अत, प्रश्न यह है कि मौद्रिक नीति का इस प्रकार के देशो में क्या उद्देश्य होना चाहिए? दूसरे शब्दों में, इन देशों के आर्थिक विकास के महत्त्वपूर्ण कार्य में मौद्रिक नीति क्या सहयोग प्रदान करती है? इस सम्बन्ध में हम यह कह सकते हैं कि तीव्र गति से बढते हुए मूल्य-तल तथा अस्थिर विनिमय दर विकास के कार्य में बाधक सिद्ध होते हैं। ये आन्तरिक बचत तथा विदेशी पूँजी के अन्तर्प्रवाह को हतोत्साहित कर विकास की गति को अवमदित करते हैं, किन्तु यहाँ पर यह कहना भी अनुपयुक्त नही होगा कि स्फीति को जान बूझ कर दमित करना तथा आयात आदि पर कृत्रिम नियन्त्रण के द्वारा विनिमय दर को ऊँचा बनाने की नीति और भी खतरनाक होती है। दमित स्फीति (Suppressed inflation), जो अधिकाश विकासशील देशो की एक प्रधान विशेषता है, साधारणतया दुर्लभ साधनो को अधिक आवश्यक क्षेत्र से कम आवश्यक क्षेत्र की ओर प्रवाहित करती है, अवास्तविक विनिमय दरो को बनाये रखने के लिए सरकार को विनिमय पर विभिन्न प्रकार के नियन्त्रण लगाना पडता है। इससे परिकल्पनात्मक क्रियाओ को प्रोत्साहन मिलता है। निर्यात बढाने के विभिन्न उपायों क बावजूद निर्यात में कोई वृद्धि नही होती जिसमे आर्थिक विकास के कार्य मे बाधा पडती है। अत यह कहा जा सकता है कि अर्द्ध-विकसित देशो के सदर्भ में मौद्रिक नीति का प्रमुख उद्देश्य औद्योगिक तथा कृषि-उत्पादन में वृद्धि के साथ-साथ आन्तरिक मूल्य-तल को स्थायी बनाना तथा विनिमय दर को वास्तविक स्तर पर स्थायी बनाना होना चाहिए।

इसके साथ ही एक अर्द्ध-विकसित देश में मौद्रिक नीति का प्रधान उद्देश्य व्यापार संतुलन में स्थिरता लाना भी होना चाहिए। विकासशील देशो में व्यापार सतुलन साधारणतया प्रतिकूल हो जाता है। अत केन्द्रीय बैंक को उचित मौद्रिक नीति अपना कर विदेशी मुद्रा का नियन्त्रण करना चाहिए और इस प्रकार व्यापार सतुलन मे अनुकूलता लानी चाहिए।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि आर्थिक विकास के सम्बन्ध में मौद्रिक नीति के दो प्रमुख उद्देश्य होने हैं—मूल्य स्थायित्व को बनाये रखना और आर्थिक विकास को प्रोत्साहन देना। इन दोनो उद्देश्यो में कौन-सा उद्देश्य अधिक महत्त्वपूर्ण है, इस सम्बन्ध में अर्थशास्त्रियो में बहुत मतभेद हो सकता है, परन्तु वस्तुत आर्थिक विकास और मूल्य स्थिरता के बीच कोई विरोध

नही है। वास्तव में, मुद्रा-प्रसार विकास के प्रथम सोपान का एक स्वाभाविक परिणाम है और इसलिए कीमत स्थायित्व को अधिक महत्त्व नही दिया जा सकता।

अर्द्ध-विकसित राष्ट्रों में मौद्रिक नीति की सीमाएँ (Limitations of Monetary Policy in Under developed Countries)—यद्यपि अर्द्ध-विकसित देशो के आर्थिक विकास मे मौद्रिक नीति का महत्वपूर्ण स्थान है, परन्तु इन देशो की कुछ सरचनात्मक विशेषताओ के परिणामस्वरूप वहाँ मौद्रिक नीति के सफल प्रयोग का क्षेत्र अत्यन्त सीमित रहता है। वास्तव मे, **अर्द्ध-विकसित देशों में मौद्रिक नीति के पूर्ण रूप से प्रभावशाली-न होने के निम्नांकित प्रधान कारण है :—**
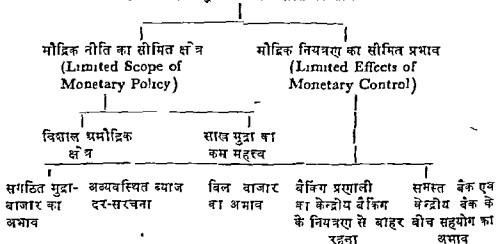
अब इन सीमाओं का निम्न विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है :—

(i) विशाल अमौद्रिक क्षेत्र की विद्यमानता :—अर्द्ध-विकसित देशो मे एक विशाल अमौद्रिक क्षेत्र पाया जाता है जहाँ मुद्रा का चलन नही होता वरन् वस्तु-विनिमय की पद्धति ही प्रचलित होती है। फलतः इन क्षेत्रो मे मुद्रा की मात्रा या ब्याज की दर-सम्बन्धी परिवर्तनो का आर्थिक क्रियाओं पर कोई प्रभाव नही पडता।

(ii) साख-मुद्रा का कम महत्त्व—अर्द्ध-विकसित देशो मे बैंकिंग तथा साख-सम्बन्धी सुविधाओ के अभाव के कारण साख-मुद्रा के स्थान पर चलन मुद्रा ही अधिक महत्वपूर्ण रहती है, अतएव केन्द्रीय बैंक की साख-नियत्रण नीति का मुद्रा की पूर्ति पर बहुत ही कम प्रभाव पडता है।

(iii) संगठित मुद्रा-बाजार का अभाव—अर्द्धविकसित देशो मे साधारणतया सगठित मुद्रा-बाजार का अभाव पाया जाता है। अत. बैंक दर, खुले बाजार की क्रियाएँ एव बैंक कोष मे परिवर्तन का देश की साख-व्यवस्था पर प्रभावशाली प्रभाव नही पडता। दूसरे शब्दो मे, बैंक दर बढने से भी इन देशो मे साख का सकुचन नही हो पाता क्योकि व्यापारिक बैंक केन्द्रीय बैंक के ऊपर आश्रित नहीं होते। ब्याज दर बढने से इन बैंको के पास जमा राशि बढ जाती है, इस कारण वे अपने साख-निर्माण का कार्य पूर्ववत् करते रहते है। खुले बाजार की क्रियाएँ भी अधिक सफल नहीं होती क्योकि इन देशो में प्रतिभूतियो का बाजार अविकसित होता है।

(iv) अव्यवस्थित ब्याज दर-सरचना—अर्द्ध-विकसित देश की ब्याज दर सरचना प्राय: सुसम्बन्धित एव सुव्यवस्थित नही होती। यहाँ ब्याज की दरो में एकरूपता का अभाव रहता है। बैंक-दर, बाजार की ब्याज दर एव बट्टा दरो के बीच भारी अन्तर रहता है। इतना ही नहीं, ब्याज की दर स्थान के अनुसार भी बदलती रहती है। अत अर्थ-व्यवस्था में प्रचलित विभिन्न ब्याज दरो व केन्द्रीय बैंक की ब्याज दर (बैंक दर) में कोई निश्चित सम्बन्ध न होने के कारण मौद्रिक नीति अधिक प्रभावपूर्ण नही हो पाती।

(v) सुसंगठित बिल बाजार का अभाव:—अर्द्ध-विकसित देशो में साधरणतया एक

सुविकसित बिल बाजार का अभाव होता है जिसके कारण साख-प्रणाली ठीक से कार्य नहीं कर पाती।

उपरोक्त कारणों से ही यह कहा जाता है कि अर्द्ध-विकसित देशों में आर्थिक विकास की गति को तीव्र करने के लिए अपनाई गयी मौद्रिक नीति निश्चित रूप से निष्फल होती है। अमरीकी अर्थशास्त्री हावर्ड एलिस (Howard Ellis) ने इस सम्बन्ध में ठीक ही कहा है कि "The political atmosphere, the tax systems, the balance of payments situations the *aims of autarchy and rapidity of development, the habits of savings* (or rather their absence), the long established and quite rational mistrust of domestic currencies, the absence of markets for government securities, the "demonstration effect" of foreign standards of living—all of these produce a strongly inflationary bias and inflation has particularly pernicious effects on development" भारत के संदर्भ में रिजर्व बैंक के एक भूतपूर्व गवर्नर श्री एच० वी० आर० आयंगर (*H V R. Iyenger*) ने *कहा था, 'यद्यपि इसमें कोई शंका नहीं है कि मौद्रिक नीति* प्रशासकों को आर्थिक विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान रहता है, परन्तु फिर भी उनके महत्त्व की अतिशयोक्ति नहीं करनी चाहिए। किसी भी प्रकार की मौद्रिक नीति खाद्यान्न उत्पादन में वृद्धि नहीं कर सकती। इसी प्रकार समाजद्रोही तत्त्वों जैसे काला-बाजार सट्टेबाजी व जमाखोरी पर भी मौद्रिक नीति का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। मौद्रिक नीति का प्रमुख उद्देश्य यह होना चाहिए कि मुद्रा की पूर्ति को इतना रखें कि न्यून पूर्ति वाली वस्तुओं पर माग का दबाव कम बना रहे। *साथ ही, साख नियन्त्रण इतना कठोर नहीं होना चाहिए कि इससे उत्पादन में रुकावट हो या बाजार* के विस्तार में बाधा उपस्थित हो।"

यद्यपि एक अर्द्ध-विकसित देश के विकास में मौद्रिक नीति या क्षेत्र उक्त कारणों से अत्यन्त सीमित हो जाता है, परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि अर्द्ध-विकसित देशों में इसकी कोई भूमिका ही नहीं है। यह सत्य है कि आर्थिक विकास की समस्या केवल मौद्रिक उपायों से ही नहीं सुलझायी जा सकती क्योंकि आर्थिक विकास मौद्रिक तत्वों पर ही नहीं वरन् वास्तविक तत्वों जैसे श्रम, *पूंजी, भूमि, संगठन एवं साहस के रूप में उपलब्ध होने वाले प्रसाधनों पर भी निर्भर करता है।* परन्तु मौद्रिक नीति साख की पूर्ति और उसके प्रयोग को प्रभावित करके, मुद्रा-प्रसार का सामना करके एवं भुगतान सन्तुलन में समता बनाये रखकर आर्थिक विकास में महत्त्वपूर्ण सहयोग प्रदान कर सकती है।

विशेष अध्ययन-सूची

1	Crowther	An Outline of Money, Chapter IV
2	Hayek	Prices and Production
3	De Kock	Central Banking, Chapter XVI
4	Halm	*Monetary Theory, Chapter X*
5	Hansen	Monetary Theory & Fiscal Policy. Chapters XI & XII

अध्याय : 31
सस्ती मुद्रा-नीति
(Cheap Money Policy)

प्राक्कथन.—1929 ई० की भयानक आर्थिक मन्दी एवं 1931 ई० में अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्ण-मान के पतन के बाद से इगलैंड एव अन्य देशो मे आय मे वृद्धि एव पूर्ण रोजगारी (Full employment) की नीति को अत्यधिक प्रधानता दी जाने लगी। किन्तु आर्थिक मन्दी के बाद सभी राष्ट्रों की आर्थिक व्यवस्था आय एव रोजगारी के बहुत ही निम्न स्तर पर पहुँच गयी थी। इस स्तर मे वृद्धि लाने के लिए समाज की सम्पूर्ण माग मे वृद्धि आवश्यक थी। और सम्पूर्ण माग मे वृद्धि उपभोग (Consumption) एव विनियोग (Investment) मे वृद्धि के द्वारा लायी जाती है, किन्तु मन्दी के परिणामस्वरूप उपभोग की अपेक्षा विनियोग मे बहुत कमी आ गयी थी। अतएव, आय एव रोजगार के स्तर मे वृद्धि के लिए विनियोग को प्रोत्साहित करना अनिवार्य था। हम देख चुके हैं कि विनियोग मे वृद्धि दो बातो पर निर्भर करती है —

(क) सूद की दर (Rate of Interest), एव

(ख) पूँजी की सीमात उत्पादकता (Marginal productivity of Capital)।

जब सूद की दर पूँजी की सीमात उत्पादकता से कम रहती है तो विनियोग प्रोत्साहित होता है और इस प्रकार विनियोग के परिणामस्वरूप त्वरण (Acceleration) एव गुणक की प्रक्रिया से सम्पूर्ण आय एव रोजगारी मे वृद्धि होती है। इस प्रकार सम्पूर्ण आय एव रोजगार मे वृद्धि के लिए विभिन्न देशो की मौद्रिक नीति मे सस्ती मुद्रा-नीति (Cheap money policy) का समावेश हुआ। सस्ती मुद्रा-नीति को दो कारणो से महत्त्व दिया जाने लगा — (क) पूर्ण रोजगारी (Full employment) की प्राप्ति के लिए, तथा (ख) आर्थिक व्यवस्था को आय एव रोजगारी के उच्च स्तर पर स्थायी बनाने के लिए।

सस्ती मुद्रा नीति का अर्थ Meaning of the Cheap Money Policy) अब हमे यह देखना है कि सस्ती मुद्रा नीति का क्या अर्थ है ? सस्ती मुद्रा नीति का अर्थ देश के केन्द्रीय बैंक द्वारा सरकार की सहायता से मुद्रा-बाजार मे हस्तक्षेप कर सूद की दर को बहुत ही निम्न-स्तर पर कायम रखना है। केन्द्रीय बैंक के हस्तक्षेप के अभाव मे सूद की दर बहुत अधिक रहती है। इगलैंड मे 1932 ई० मे सस्ती मुद्रा नीति अपनाने के पहले बैंक ऑफ इगलैंड की बैंक दर 3 प्रतिशत थी, सस्ती मुद्रा नीति के अन्तर्गत इसे घटा कर 2 प्रतिशत कर दिया गया। किन्तु केवल बैंक दर मे कमी लाने से ही सूद की दरो मे कमी होगी यह आवश्यक नही। मुद्रा बाजार मे सूद की दर को निम्न स्तर पर लाने के लिए केन्द्रीय बैंक को हस्तक्षेप कर बाजार-दर को भी कम करना पडता है। बाजार-दर को निम्न स्तर पर रखने के लिए केन्द्रीय बैंक को व्यवसायिक बैंको के कोष मे वृद्धि कर अतिरिक्त मुद्रा की सृष्टि करनी पडती पडती है। किन्तु केवल अतिरिक्त मुद्रा की सृष्टि तथा व्यवसायिक बैंको के कोष मे वृद्धि से ही मुद्रा बाजार की दर मे कमी सम्भव नही है। इसके लिए केन्द्रीय बैंक द्वारा जारी की गयी अतिरिक्त मुद्रा को बाजार मे रखना होगा। व्यावसायिक बैंको की मुद्रा-सृजन की शक्ति मे वृद्धि के लिए यह आवश्यक होगा कि बाजार मे ऐसे साधन पर्याप्त मात्रा मे उपलब्ध हो जिनके आधार पर व्यावसायिक बैंक इस प्रकार की मुद्रा का सृजन कर सकें। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए सरकार अपने विनियोग मे वृद्धि करती है और इस खर्च की पूर्ति वह बैंको से कर्ज लेकर करती है। सरकार प्रतिभूतियो को जारी करती है, जिन्हें वह केन्द्रीय अथवा व्यावसायिक बैंको के हाथ रख कर उनसे कर्ज लेती है। इसके परिणामस्वरूप सरकार का बैंको के साथ जमा बढ जाता है और जब सरकार अपने इस जमा को खर्च करने लगती है तो व्यावसायिक बैंको का केन्द्रीय बैंक के साथ कोष बढने लगता है। इससे मुद्रा की राशि मे कई गुनी वृद्धि होती है। इस प्रकार सस्ती मुद्रा-नीति के अन्तर्गत केन्द्रीय बैंक सरकारी प्रतिभूतियों के क्रय-विक्रय के लिए सदा तत्पर रहता था जिससे बाजार दर भी एक निम्न-दर पर स्थायी रहती थी।

निम्न सूद की दर के पक्ष में तर्क

(Rationale of the Low Interest Rates)

पूर्ण रोजगार की स्थिति को प्राप्त करने तथा बनाये रखने के लिए सस्ती मुद्रा-नीति अथवा निम्न सूद की दर (Low Interest Rate) को कई कारणो से आवश्यक समझा जाता है। इनमे निम्नांकित विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं :—

(1) निम्न तथा स्थायी सूद की दर का पूँजी बाजार एवं विनियोग पर बहुत अच्छा प्रभाव पड़ता है (Low and stable interest rate has a healthy effect on the capital market and therefore investment) —निम्न एव स्थायी सूद की दर का पूँजी-बाजार पर बहुत ही अच्छा प्रभाव पडता है। इससे विनियोग को प्रोत्साहन मिलता है क्योंकि इसके अन्तर्गत सूद की दर मे वृद्धि के परिणामस्वरूप होने वाली हानि की सम्भावना प्राय समाप्त हो जाती है। एक उदाहरण द्वारा इसे अधिक स्पष्ट किया जा सकता है। मानलिया कि कोई व्यक्ति 1000 रुपये का एक ऋण-पत्र 4 प्रतिशत ब्याज की दर पर खरीदता है जिससे उसे 40 रुपये की वार्षिक आय प्राप्त हो सके। यदि इस प्रकार के ऋण-पत्रो पर सूद की दर बढकर 5 प्रतिशत हो जायगी तो इस दर पर 40 रुपये की वार्षिक आय 800 रुपये के विनियोग से ही प्राप्त की जा सकती है। इस प्रकार सूद की दर मे 4 से 5 प्रतिशत की वृद्धि होने पर वास्तविक विनियोग मे 200 रुपये या 20 प्रतिशत की कमी हो सकती है। इससे स्पष्ट है कि बढती हुई सूद की दर का मुद्रा-बाजार पर बहुत बुरा प्रभाव पडता है। यह पूँजी की सीमात उत्पादकता (Marginal productivity of capital) को प्रभावित कर वास्तविक विनियोग को प्रोत्साहित करता है। सूद की दर अधिक होने पर नये पूँजीगत साधन बढाने की अपेक्षा वर्तमान साधनो, जैसे ऋण-पत्र अथवा प्रतिभूतियो को खरीदना ही अधिक लाभदायक सिद्ध होता है। इसके विपरीत निम्न-सूद की दर की नीति अपनाने से पूँजी की सीमात उत्पादकता की अपेक्षा सूद की दर कम ही दिखायी देती है जिससे नये विनियोग को प्रोत्साहन मिलता है।

(2) निम्न सूद की दर दीर्घकालीन पूँजी के निर्माण में सहायक होती है (The Low interest rate is conducive to long-term capital formation) :—यद्यपि निम्न सूद की दर को पूँजी के विनियोग-सम्बन्धी निर्णय का बहुत साधारण कारण समझा जाता है क्योंकि अधिकाश व्यावसायियो के उत्पादन व्यय मे सूद का बहुत ही छोटा भाग रहता है, फिर भी यह कुछ विशेष प्रकार के विनियोग मे अधिक महत्त्वपूर्ण सिद्ध होता है। ऐसे व्यवसायो मे निर्माण तथा सार्वजनिक सेवाओ का स्थान प्रधान है। किसी भी देश मे पूँजी-निर्माण मे इस प्रकार के व्यवसाय का महत्त्वपूर्ण स्थान रहता है। इससे स्पष्ट है कि दीर्घकालीन निम्न सूद की दर नीति आर्थिक स्थायित्व को प्रोत्साहित करती है। ऋण-पत्रो पर सूद की दर मे कमी करने से निजी उद्योग मे स्थायित्व उत्पन्न होता है।

(3) निम्न सूद की दर से सरकारी विनियोग को प्रोत्साहन मिलता है (Low interest rates facilitate loan-financed Public Investment) —सस्ती मुद्रा-नीति के पक्ष मे सर्वाधिक प्रमुख तर्क यह है कि इससे सरकार को ऋण लेकर सार्वजनिक कार्यों मे विनियोग करने मे सुविधा होती है। आजकल प्रत्येक देश के राजकीय व्यय मे बहुत अधिक वृद्धि हो रही है। राजकीय व्यय मे इस वृद्धि के बहुत सारे कारण हैं। परन्तु पूर्ण रोजगार की प्राप्ति के लिए निजी विनियोग मे समय-समय पर विभिन्न कारणो से जो कमी होती है, उनकी पूर्ति के लिए भी सरकार सार्वजनिक कार्यों पर बहुत अधिक रकम व्यय करती है। ऐसी स्थिति मे अपने बढे हुए खर्च की पूर्ति सरकार मुद्रा बाजार से ऋण लेकर ही करती है। सूद की दर कम होने से सरकार के लिए ऋण लेना अपेक्षाकृत अधिक सस्ता हो जाता है। अतएव, सस्ती मुद्रा-नीति के समर्थन मे यह सबसे प्रमुख तर्क है।

(4) बेकारी की समस्या के समाधान में निम्न सूद की दर अधिक सहायक होती है (The Low interest rate is more expedient than wage reduction for solving the problem of mass unemployment) :—बेकारी की समस्या के समाधान मे सस्ती मुद्रा-नीति मजदूरी की दर मे कमी की अपेक्षा अधिक युक्तिसगत जान पडती है क्योंकि श्रम सघो के कारण आजकल मजदूरी की दर मे कटौती प्राय असम्भव हो गयी है। साथ ही, मजदूरी मे

कटौती से कुल माग मे कमी हो जायगी जिससे पूर्ण-रोजगारी का उद्देश्य ही पूरा नही हो सकता। इस प्रकार मजदूरी मे कटौती की अपेक्षा पूर्ण रोजगारी की प्राप्ति के लिए सूद की दर मे कमी ही अधिक उपयुक्त साधन है।

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि बेकारी की समस्या के समाधान मे सस्ती मुद्रा-नीति का महत्त्वपूर्ण स्थान है। वास्तव मे, सस्ती मुद्रा-नीति के पक्ष मे सबसे प्रबल तर्क पूर्ण-रोजगारी की प्राप्ति तथा इसे बनाये रखना ही समझा जाता है। यही कारण है कि 1931-32 ई० से लेकर 1950-51 ई० तक ससार के प्रायः सभी प्रमुख देशो की मौद्रिक नीति मे सस्ती मुद्रा-नीति को प्रधान स्थान दिया गया था।

सस्ती मुद्रा-नीति के विपक्ष में तर्क

(Arguments Against Cheap Money Policy)

यद्यपि सस्ती मुद्रा-नीति पूर्ण-रोजगार की दृष्टि से आवश्यक समझी जाती है, फिर भी इस प्रकार की नीति के विरुद्ध कई आलोचनाएं दी जाती हैं। वास्तव मे, निम्न सूद की दर की नीति को अपनाने मे बहुत-सी कठिनाइयां है। सस्ती मुद्रा-नीति के विरुद्ध साधारणतया निम्नांकित तर्क दिये जाते है :—

(1) सर्वप्रथम तो निम्न सूद की दर की आलोचना इस बात को लेकर की जाती है कि यह मनुष्य के लिए धन जमा करने में बाधक सिद्ध होती है और इस प्रकार व्यावसायिक उन्नति में बाधा उत्पन्न करती है (Low interest rates discourage a man from building up a fortune to pass along to his heirs and therefore reduce incentive to business development and leadership) :—सस्ती मुद्रा-नीति की आलोचना इस तर्क के आधार पर की जाती है कि यह भविष्य के लिए धन जमा करने में बाधक सिद्ध होती है। किन्तु इस तर्क के विरुद्ध यह कहा जाता है कि ऊंची सूद की दर से जिस Rentier वर्ग की उत्पत्ति होती है वह सुयोग्य व्यवसाय सचालन एव नेतृत्व के लिए बिल्कुल आवश्यक नहीं है। केन्स (Keynes) का इस सम्बन्ध मे यह विचार ठीक जान पडता है कि "बेकार विनियोगी वर्ग, जो वगैर किसी जोखिम अथवा त्याग के ऊंचे सूद के रूप मे बोनस पा रहा है, को धीरे-धीरे समाप्त कर वास्तविक जोखिम उठाने वालो के लिए स्थान रिक्त करना चाहिए।" (The functionless investors, now receiving a bonus in the form of interest for no genuine sacrifice, should gradually disappear to make room for genuine risk-takers.) किन्तु इतना होने पर भी सस्ती मुद्रा-नीति के विरुद्ध विनियोगी वर्ग द्वारा दिये जाने वाले तर्क की पूर्ण रूप से अवहेलना नही की जा सकती।

(2) निम्न सूद की दर बचत को हतोत्साहित कर वृद्धि तथा आश्रितों के आर्थिक जीवन को असुरक्षित बनाती है (Low interest rates discourage thrift and encourage economic insecurity for the aged and dependents) .—सस्ती मुद्रा-नीति के विरुद्ध साधारणतया यह कहा जाता है कि यह बचत को हतोत्साहित करती है जिससे वृद्ध एव आश्रितो का जीवन अधिक असुरक्षित हो जाता है। सूद की दर कम होने से लोगो मे बचाने की भावना बहुत कम हो जाती है। किन्तु दूसरी ओर यह भी कहा जाता है कि अधिक ऊंची सूद की दर भी बचत को कम करता है क्योंकि सूद के रूप मे अधिक आय से कम बचाने की आवश्यकता पडती है। सुरक्षा के सम्बन्ध मे भी यह कहा जाता है कि वृद्ध एवं आश्रितो के लिए सुरक्षा ऊंची सूद की दर से नही, वरन् सामाजिक पद्धति द्वारा प्रदान की जानी चाहिए। इस तर्क के विरुद्ध यह भी कहा जाता है कि सुरक्षा सूद से नहीं वरन् मूलधन से बढ़ती है। इन सब बातो मे सत्यता की मात्रा जो भी हो, इतना अवश्य है कि बचत एव सुरक्षा का तर्क सस्ती मुद्रा-नीति के मार्ग मे रुकावट नही उत्पन्न कर सकता।

(3) निम्न सूद की दर से बैंक तथा शिक्षण एव परोपकारी संस्थाओं की आय कम हो जाती है (Low interest rates reduce the income of banks, educational and charitable institutions) :—जहाँ तक शिक्षण तथा अन्य सस्थाओ की आय का सम्बन्ध है इनकी आय मे कमी ही अधिक महत्त्वपूर्ण एवं चिन्ताजनक है। प्रायः कहा जाता है कि निम्न

सूद की दर से व्यावसायिक बैंको की आय कम हो जायगी जिससे ये अपनी सेवाओ के मूल्य को बढा देंगे। इस प्रकार निम्न ब्याज की दर व्यावसायिक बैंको के लिए वास्तव मे एक समस्या बन जाती है। किन्तु इस तर्क के सम्बन्ध मे यह कहा जाता है कि सस्ती मुद्रा-नीति से पूर्ण-रोजगारी प्राप्त होती है जिससे व्यावसायिक बैंक अपने ऋण एव विनियोग तथा सेवाओ के मूल्य मे वृद्धि कर अपनी आय की कमी की पूर्ति कर सकते हैं।

(4) सस्ती मुद्रा-नीति 'स्वामित्व के बदले लाभ' की स्वीकृत धारणा के महत्त्व को कम कर पूँजीवादी आर्थिक व्यवस्था के मूलभूत तत्त्व को ही समाप्त कर देती है (Cheap money policy may undermine the accepted concept of return to ownership and strip the capitalistic concept of a basic element of its most characteristic institutions) :—सस्ती मुद्रा-नीति की आलोचना इस बात को लेकर भी की जाती है कि यह स्वामित्व के बदले लाभ की धारणा को कम करके पूँजीवादी आर्थिक व्यवस्था के एक मूलभूत तत्त्व को ही समाप्त कर देती है। किन्तु इस तर्क के विरुद्ध केन्स (Keynes) आदि लेखको का यह विचार है कि अमेरिका-जैसे धनी एव पूँजीवादी देश मे निरन्तर पूर्ण-रोजगार के कारण बचत बहुत अधिक होगी तथा ऐसी आर्थिक व्यवस्था मे सूद की दर शून्य रहने पर भी पर्याप्त मात्रा मे बचत हो सकती है।

(5) सस्ती मुद्रा-नीति ऐसी प्रवृत्तियों की सृष्टि करती है जिनका निदान केवल महँगी मुद्रा-नीति के द्वारा ही किया जा सकता है (Cheap money policy creates tendencies which can be cured only by dear money policy) :—सस्ती मुद्रा-नीति के विरुद्ध डी-कॉक (De Cock) का यह कथन है कि यह ऐसी प्रवृत्तियो को जन्म देती है जिन्हे केवल महँगी मुद्रा-नीति के द्वारा ही दूर किया जा सकता है। सस्ती मुद्रा-नीति के फलस्वरूप उत्पादन-नियन्त्रण मे वृद्धि न होकर मौद्रिक कोषो का प्रयोग अनुपयोगी कार्यों के लिए किया जाने लगता है। दूसरे शब्दो मे, इस प्रकार की नीति मे उचित एव उपयोगी विनियोग की अपेक्षा अनुचित एव अनुपयोगी विनियोग के प्रोत्साहन की सदा आशंका बनी रहती है। इस त्रुटि के निदान के लिए सस्ती मुद्रा-नीति का प्रयोग आर्थिक नियन्त्रण के अन्य तरीको के साथ किया जाना चाहिए।

इस प्रकार सस्ती मुद्रा नीति के विरुद्ध उक्त सारे तर्क प्रस्तुत किये जाते हैं। अतएव यद्यपि सिद्धान्तत. सस्ती मुद्रा-नीति के सिद्धान्त को स्वीकार किया जा सकता है, फिर भी व्यावहारिक रूप मे इस नीति के कार्यान्वियन मे कई एक सस्थागत एव मनोवैज्ञानिक कठिनाइयाँ है जिनसे इसे स्वीकार करना प्राय. असम्भव-सा हो जाता है। यही कारण है कि आजकल पूर्ण रोजगार की प्राप्ति के लिए सस्ती मुद्रा-नीति पर जोर नही देकर मुख्य रूप से प्रशुल्क नीति पर ही जोर दिया जाता है।

व्यवहार में सस्ती मुद्रा-नीति

(Cheap Money Policy in Practice)

उक्त कठिनाइयो के बावजूद 1951 ई० तक इगलैंड तथा अन्य प्रमुख देशो ने अत्यधिक सस्ती मुद्रा-नीति (Ultra cheap money policy) का अनुकरण किया। सस्ती मुद्रा-नीति के इतने दिनो तक प्रचलन मे रहने के कई कारण थे जिनमे निम्नलिखित प्रमुख थे—(1) इन देशो मे मौद्रिक अधिकारियो का यह विश्वास था कि सस्ती मुद्रा-नीति के द्वारा आर्थिक क्रियाओ को प्रोत्साहित किया जा सकता है, अतएव पूर्ण-रोजगारी कायम करने के लिए यही अनुकूल मौद्रिक-नीति थी। (2) सस्ती मुद्रा-नीति सरकारी ऋण के लिए भी लाभदायक थी। द्वितीय महायुद्ध के समय तथा बाद मे विभिन्न देशो की सरकारो को बहुत अधिक मात्रा मे ऋण की आवश्यकता पडी, अतएव कम ही सूद की दर पर ऋण प्राप्त करने के लिए भी सस्ती मुद्रा-नीति को अपनाया गया। (3) युद्ध के पश्चात् सरकारी प्रतिभूतियो की मात्रा मे अत्यधिक वृद्धि होने के कारण मुद्रा-बाजार मे इनका महत्त्व बहुत बढ गया। प्रतिभूतियो की कीमत को स्थायी बनाने के लिए भी सूद की दर को निम्न स्तर पर स्थायी रखना अति अनिवार्य था।

किन्तु व्यवहार मे यह नीति बहुत हद तक सफल नही रही। केन्स (Keynes) तथा इनके अनुयायियो के अनुसार सूद की दर को निम्न स्तर पर रख कर आर्थिक क्रियाओ को प्रोत्साहित किया जा सकता है तथा उत्पादन, आय एव रोजगार के परिमाण मे वृद्धि लायी जा सकती है। किन्तु केवल मौद्रिक नीति के प्रयोग द्वारा इस कार्य मे बहुत कम सफलता मिल पाती है। उदाहरण के लिए, महान् आर्थिक मन्दी के बाद जब इस नीति का समावेश हुआ तो यह देखा गया कि आर्थिक क्रियाओ पर इसका प्राय. कोई प्रभाव नही पडा।

युद्धोत्तर काल मे सस्ती मुद्रा-नीति बहुत दिनो तक नहीं चल सकी तथा विभिन्न देशो ने धीरे-धीरे इसे छोडना प्रारम्भ किया। 1951 ई० के नवम्बर मे बैंक ऑफ इगलैंड ने अपनी बैंक-दर को 2 प्रतिशत से बढाकर $2\frac{1}{2}$ प्रतिशत तथा फरवरी, 1952 ई० मे 4 प्रतिशत कर दिया। भारतवर्ष मे भी रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया ने अपनी बैंक-दर को 3 प्रतिशत से बढाकर $3\frac{1}{2}$ प्रतिशत कर दिया। 2 जनवरी, 1963 ई० को रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया ने अपनी बैंक दर को बढाकर 4 प्रतिशत, 25 सितम्बर, 1964 ई० को इसे बढाकर 5 प्रतिशत, 17 फरवरी, 1965 ई० को 6 प्रतिशत तथा जुलाई, 1974 मे 9 प्रतिशत कर दिया। साथ ही बैंक ऑफ इगलैंड ने Open Back-door की प्रथा का परित्याग कर दिया। Open Backdoor प्रथा के अन्तर्गत बैंक ऑफ इगलैंड बैंक-दर के 2 प्रतिशत रहने के बावजूद स्वय या अपने प्रतिनिधियो के द्वारा मुद्रा-बाजार एव व्यावसायिक बैंको से बैंक-दर से $\frac{1}{2}$ प्रतिशत कम की दर पर ही सरकारी बिलो का क्रय विक्रय करता था। इस प्रथा के समाप्त होने के बाद बैंक ने बैंक दर पर बिलो का क्रय विक्रय प्रारम्भ कर दिया। 20 वर्षों के बाद बैंक-दर मे इस वृद्धि का मुद्रा-बाजार पर गम्भीर मनोवैज्ञानिक प्रभाव होना अनिवार्य था। इससे यह स्पष्ट हो गया कि आर्थिक नियन्त्रण के साधन के रूप मे आज भी मौद्रिक अस्त्रो का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

विशेष अध्ययन-सूची

1. Kurihara : Monetary Theory and Public Policy
2. Hansen · Monetary Theory and Fiscal Policy

अध्याय : 32

प्रशुल्क नीति

(Fiscal Policy)

प्राक्कथन :— प्रशुल्क अथवा वित्तीय नीति का तात्पर्य राजस्व (बजट-नीति) की क्रियाओं द्वारा आर्थिक उद्देश्यो की पूर्ति के लिए किये गये प्रयत्नो से है। दूसरे शब्दो मे, इसका तात्पर्य सरकारी व्यय, करारोपण, ऋण की प्राप्ति तथा व्यवस्था से है। (Fiscal policy refers to government spending, taxing borrowihg and debt management) वर्तमान समय मे, सरकार अपनी आय एव व्यय द्वारा आर्थिक व्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रो को प्रभावित करने का प्रयास करती है। अतएव किसी विशेष उद्देश्य, जैसे पूर्ण-रोजगार की प्राप्ति अथवा युद्ध के लिए वित्त-प्रबन्ध इत्यादि की पूर्ति के लिए सरकार द्वारा कर के ढांचे अथवा करो द्वारा प्राप्त आय के आकार के निर्धारण या राजकीय व्यय के आकार एव दिशा-निर्धारण को वित्तीय अथवा प्रशुल्क नीति कहते हैं। आर्थर स्मिथीज (Arthur Smithies) के अनुसार, "**प्रशुल्क नीति वह नीति है जिसमे सरकार अपने व्यय तथा आगम के कार्य-क्रमो को राष्ट्रीय आय, उत्पादन तथा रोजगार पर इच्छित प्रभाव डालने तथा अवांछित प्रभावों को रोकने के लिए प्रयुक्त करती है।**" (Fiscal policy is a policy under which the government uses its expenditure and revenue programmes to produce desirable effects and avoid undesirable effects on national income, production and employment) केन्स ने भी प्रशुल्क नीति को उपभोग के समान और विनियोग की प्रेरणा के बीच समायोजन करने वाला संतुलन तत्व बतलाया है। वास्तव मे, इनके अनुसार, 'प्रशुल्क नीति एक ऐसी नीति है जो अर्थ-व्यवस्था मे सतुलनकारी तत्व के रूप मे राजस्व का प्रयोग करती है।" (Fiscal policy is a policy that uses Public Finance as a balancing factor in the development of the economy) इसी प्रकार प्रो० सैम्युलसन (Samuelson) के अनुसार भी सक्रिय प्रशुल्क नीति से हमारा आशय कराधान एव सार्वजनिक व्यय को ऐसा रूप देने की प्रक्रिया से है (i) जो व्यापार-चक्र की लहरो को दबाने मे सहायक सिद्ध हो सके, तथा (ii) जो एक विकासशील एव उच्च रोजगार वाली अर्थ-व्यवस्था को अत्यधिक मुद्रा-स्फीति अथवा मुद्रा-सकुचन से मुक्त रख सके।" (By a positive fiscal policy, we mean the process shaping public taxation and public expenditure so as (i) to help dampen down the swings of the business cycle, and (ii) to contribute towards the maintenance of a progressive, high employment economy from excessive inflation or deflation)

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि प्रशुल्क नीति के अन्तर्गत हम करारोपण, सार्वजनिक ऋण तथा सार्वजनिक व्यय की उन क्रियाओ का विवेचन करते हैं जिनके द्वारा सरकार पूर्व निर्धारित उद्देश्यो की प्राप्ति का प्रयास करती है। प्रशुल्क नीति की सफलता वित्तीय क्रियाओ के आर्थिक प्रभावो पर निर्भर करती है जो अत्यन्त व्यापक होते हैं। इसीलिए आधुनिक समय मे वित्तीय नीति का उपयोग बढता जा रहा है तथा सामान्य आर्थिक नियन्त्रण के लिए मौद्रिक नीति की अपेक्षा यह अधिक शक्तिशाली सिद्ध हो रही है। आधुनिक समय मे प्रशुल्क नीति के तीन मुख्य अग हैं—कर (Tanation), (ख) सार्वजनिक ऋण (Public Debt), तथा (ग) राजकीय व्यय (Public expenditure)। भिन्न-भिन्न समय मे सरकार विभिन्न प्रकार के प्रत्यक्ष तथा परोक्ष करो को लगाती है और इसी प्रकार विभिन्न मदो मे भिन्न भिन्न प्रकार से व्यय करती है। अत-एव वित्तीय नीति के ये दो मुख्य अग हैं। किन्तु आधुनिक समय मे सार्वजनिक ऋण (Public debt) का भी महत्व बढता जा रहा है जिससे इसे वित्तीय नीति का तीसरा अग माना जाने लगा है। दूसरे शब्दो मे, यह कहा जा सकता हैं कि कर, सार्वजनिक व्यय एव सार्वजनिक ऋण प्रशुल्क या वित्तीय नीति के मुख्य अस्त्र हैं।

---

1 Arthur Smithies in '*A Survey of Contemporary Economics*' edited by H. S Ellis, P 174

प्रशुल्क नीति की उपयोगिता की ओर लोगों का ध्यान सर्वप्रथम 1929 ई० की मंदी के समय गया जबकि विश्व के प्रमुख राष्ट्रों द्वारा आर्थिक मदी के कुप्रभावों को दूर करने के लिए राजकीय व्यय में वृद्धि की जाने लगी। इस भयानक आर्थिक मदी एवं सुस्ती (Recession) के कारण उत्पन्न विस्तृत बेरोजगारी ने वित्तीय नीति के महत्त्व को और भी स्पष्ट बना दिया। इसी महान् आर्थिक मदी के समय राजकीय व्यय के एक सिद्धान्त 'समुद्दीपन' (Pump priming) का जन्म हुआ।

राजकीय बजट एवं आर्थिक क्रियाएँ (Budget and Economic Activity) :— आधुनिक समय मे राज्य अपने बजट द्वारा देश की अर्थ-व्यवस्था को बहुत अधिक नियंत्रित करता है। आज से प्रायः 50 वर्ष पूर्व सरकार का बजट बहुत ही छोटा हुआ करता था। उस समय तक करो का प्रधान उद्देश्य सरकार के लिए आय प्राप्त करना तथा व्यय का उद्देश्य वाह्य आक्रमण से देश की सुरक्षा एव आंतरिक शान्ति को बनाये रखना समझा जाता था, अतः वित्तीय नीति का आर्थिक क्रियाओं के नियमन मे कोई महत्त्वपूर्ण प्रभाव नही पडता था। किन्तु आज परिस्थितियाँ पूर्णतया बदल गयी हैं। आज प्रायः सभी प्रगतिशील देशो मे राजकीय व्यय एवं आय के आकार मे बहुत अधिक वृद्धि हो गयी है। साथ ही, इनके उद्देश्यों मे भी परिवर्तन हुआ है जिससे समाज की कुल आय तथा रोजगार के निर्धारण में इनका विशेष महत्त्व हो गया है।

आधुनिक समय में राजकीय व्यय एवं आय अर्थ-व्यवस्था मे कीमत, रोजगार, कुल व्यय तथा राष्ट्रीय आय के वितरण को महत्त्वपूर्ण रूप मे प्रभावित करते हैं। उदाहरण के लिए, सार्वजनिक व्यय का समाज की आय एव रोजगार पर प्रभाव पड़ता है। जब राज्य अपने कर्मचारियों के वेतन मे वृद्धि, सार्वजनिक ऋण पर ब्याज का भुगतान तथा सामाजिक सुरक्षा की योजनाओं पर अधिकाधिक मात्रा मे व्यय करता है तो इससे समाज के लोगों की आय में वृद्धि होती है। आय में वृद्धि से उपभोग के लिए वस्तुओं की माग में वृद्धि होती है जिससे निर्माता अथवा उत्पादक अपने उत्पादन की इकाइयों की उत्पादन-क्षमता मे वृद्धि करते हैं। इससे उत्पादन के साधनों की माग मे वृद्धि होती है और परिणामस्वरूप समाज मे रोजगार एवं आय के स्तर मे वृद्धि होती है।

इसी प्रकार बजट के दूसरे अग, यानी करो का भी अर्थ-व्यवस्था पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव पडता है। कर प्रत्येक कर-दाता के लिए भार-स्वरूप सिद्ध होता है। कर चुकाने से कर-दाताओं की आय में कर की रकम के बराबर कमी हो जाती है और जैसा कि हम जानते हैं उपभोग तथा बचत आय पर ही निर्भर करते हैं। अतएव आय कम होने से उपभोग तथा बचत दोनों में कमी होती है। उपभोग कम होने से वस्तुओं की माग कम हो जाती है जिससे उत्पादन घट जाता है और उत्पादन मे कमी होने से रोजगार तथा आय में और अधिक कमी होती है। इस प्रकार बचत कम होने से समाज में पूँजी का निर्माण (capital formation) कम हो जाता है जिससे उद्योग-धन्धों को पूँजी के अभाव मे कठिनाइयों का सामना करना पडता है। साराश यह है कि सार्वजनिक व्यय की ही तरह करो का भी देश की अर्थ-व्यवस्था पर गहरा प्रभाव पड़ता है।

बजट तीन प्रकार के होते हैं—(1) बचत वाले बजट (Surplus Budget), (2) घाटे वाले बजट (Deficit Budget), तथा (3) सतुलित बजट (Balanced Budget)। इनमे से बचत वाले बजटो का आर्थिक व्यवस्था पर साधारणतया अपस्फीतिजनक प्रभाव (deflationary effect) पडता है। इसके विपरीत घाटे वाले बजटों से आर्थिक क्रियाओं के विस्तारीकरण मे सहायता मिलती है। मदी के समय, जब अर्थ-व्यवस्था मे आय-प्रवाह मे वृद्धि की आवश्यकता होती है, घाटे वाले बजटो तथा अभिवृद्धि के समय जब अर्थ-व्यवस्था मे आय-प्रवाह मे कमी की आवश्यकता होती है, बचत वाले बजटो को प्रस्तुत करना ही उत्तम होता है। सतुलित बजटो का भी अर्थ-व्यवस्था पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव पडता है। इसका प्रभाव मुख्यतः करो एव सार्वजनिक व्यय की बनावट पर निर्भर करता है, किन्तु साधारण समय मे सतुलित बजट तैयार करना ही वित्त-मन्त्री के लिए अधिक बुद्धिमानी का कार्य समझा जाता है।

प्रशुल्क नीति के उद्देश्य

(Objectives of the Fiscal Policy)

अब प्रश्न यह है कि प्रशुल्क अथवा वित्तीय नीति के क्या उद्देश्य हैं ? वास्तव में वित्तीय नीति के उद्देश्य विभिन्न देशो की आर्थिक परिस्थितियों के अनुसार भिन्न-भिन्न होते हैं। उदाहरण

के लिए, अमेरिका तथा इगलैंड जैसे विकसित देशो मे **वित्तीय नीति का प्रधान उद्देश्य पूर्ण-रोजगार के बिन्दु पर आर्थिक स्थायित्व** (Economic stability at the level of full employment) समझा जाता है, किन्तु भारत जैसे एक अर्द्ध-विकसित देश मे इसका प्रधान उद्देश्य द्रुतगति से देश का आर्थिक विकास (rapid economic development) ही होना चाहिए। इसके अतिरिक्त वित्तीय नीति का एक तीसरा उद्देश्य **समाज मे आर्थिक विषमता को कम करना** (Reduction of economic inequality) भी हो सकता है। इस प्रकार वित्तीय नीति के ये सभी उद्देश्य हो सकते हैं। वास्तव में, ये उद्देश्य परस्पर-विरोधी भी हो सकते हैं, यानी एक ही समय इन सभी उद्देश्यो की पूर्ति करना सम्भव नहीं है।

अब प्रशुल्क नीति के इन विभिन्न उद्देश्यों का निम्न विवरण प्रस्तुत किया जाता है—

(1) **प्रशुल्क नीति तथा आर्थिक विकास** (Fiscal Policy and Economic Development)—साधारणतया अविकसित तथा अर्द्ध-विकसित राष्ट्रो मे वित्तीय नीति का प्रधान उद्देश्य द्रुतगति से देश का आर्थिक विकास होता है। आर्थिक विकास का तात्पर्य प्रति व्यक्ति औसत वास्तविक आय मे वृद्धि से है।[1] आर्थिक विकास बहुत-से तत्वो पर निर्भर करता है, किन्तु इनमे पूँजी-निर्माण (capital formation) की दर मे वृद्धि प्रमुख हैं। पूँजी का निर्माण बचत की मात्रा पर निर्भर करती है और बचत की मात्रा आय के परिमाण पर। एक नितात विकसित राष्ट्र मे प्रति व्यक्ति औसत आय के अधिक होने के कारण व्यक्तिगत एव व्यापारिक बचत की मात्रा अपने-आप अधिक होती है। अतएव, इन दोनो मे वित्तीय नीति का प्रधान उद्देश्य केवल यह देखना होता है कि बचत के उत्पादक ढग से विनियोग होने मे करो मे कोई अनावश्यक बाधा न पहुँचे। इसका दूसरा कार्य अर्थ-व्यवस्था को स्थायित्व प्रदान करने के लिए पूँजी-निर्माण मे होनेवाले परिवर्तनो को यथासम्भव कम करना होता है। विकसित राष्ट्रो मे वित्तीय नीति का तीसरा कार्य, करो के द्वारा विनियोग के स्वरूप को प्रभावित करना होता है। साथ ही, इन देशो मे सरकार शिक्षा, परिवहन एव यातायात, अनुसधान तथा अन्य प्रकार के विकासात्मक कार्यों मे सार्वजनिक व्यय को बढाकर भावी विकास की जडो को मजबूत बना सकती है। इस प्रकार आर्थिक विकास मे सार्वजनिक व्यय का स्थान महत्त्वपूर्ण होता है।

किन्तु आर्थिक विकास मे करो का महत्त्व भी किसी प्रकार से कम नहीं है। उदाहरण के लिए, यदि करो से बचत की मात्रा कम होती है अथवा लोग बचत का उपयोग करो के भुगतान मे करते हैं तो इससे वैयक्तिक विनियोग मे कमी आती है। इसी प्रकार करो से लाभ की मात्रा कम होने पर भी विनियोग की इच्छा म कमी होती है जिससे आर्थिक विकास की गति धीमी पड जाती है। अतएव, वित्तीय नीति इस प्रकार की होनी चाहिए जिससे कि करो के हानिकारक प्रभावो को भी कम किया जा सके।

इसी प्रकार राज्य की ऋण-सम्बन्धी नीति का भी दीर्घकालीन आर्थिक विकास पर प्रभाव पडता है। यदि सरकार द्वारा ऋण लिये जाने के फलस्वरूप वैयक्तिक विनियोग के लिए द्रव्य की कमी पड जाती है तो इससे आर्थिक विकास रुक-सा जायगा। इसके विपरीत यदि सरकार द्वारा ऋण शोधन के परिणामस्वरूप व्यापारियो तथा वैयक्तिक विनियोजको के पास द्रव्य की मात्रा बढ जाती है तो इससे वैयक्तिक विनियोग बढता है और आर्थिक विकास की गति भी तीव्र हो जाता है।

अर्द्ध-विकसित देशो में प्रशुल्क नीति का प्रधान उद्देश्य आर्थिक विकास—अविकसित अथवा अर्द्ध-विकसित अर्थ व्यवस्था वाले देशो मे वित्तीय नीति का प्रधान कार्य विनियोग की कमी को पूरा करने के लिए पर्याप्त मात्रा म बचत करना होता है। इन देशो मे वित्तीय अधिकारियो के समक्ष प्रमुख समस्या देशवासियो को दरिद्रता की अधी गली से निकालने की होती है। अतएव, इनमे एक ओर वित्तीय नीति का कार्य उत्पादन शक्ति मे वृद्धि की दर को तीव्रतर बनाना तथा दूसरी ओर आर्थिक स्थायित्व को बनाये रखना होता है। इस दोहरे कार्य को सपादित करने के

---

1 "Economic development is a process whereby an economy's real national income increases over a long period of time And, if the rate of development is greater than the rate of population growth, then per-capita real income will increase"—Meier & Baldwin: Economic Development.

लिए वित्तीय नीति को एक प्रभावपूर्ण कर-प्रणाली द्वारा सार्वजनिक व्यय को बढाने का प्रयत्न करना पडगा। एक विकासो-मुख आर्थिक व्यवस्था मे कर-प्रणाली को समाज मे उपभोग के लिए एक आवश्यक न्यूनतम मात्रा छोडकर, आर्थिक विकास के लिए अधिक-से-अधिक साधनो को प्राप्त करने की कोशिश करनी चाहिए, किन्तु ऐसी अर्थ-व्यवस्था मे भी करारोपण का उद्देश्य सम्पूर्ण माग मे कमी करना नही होकर केवल कुछ विशेष साधनो की प्रभावपूर्ण माग (effective demand) मे कमी करना होता है जिससे उन साधनो को आर्थिक विकास के लिए आवश्यक अन्य कार्यों में प्रयुक्त किया जा सके। दूसरे शब्दो मे, वित्तीय नीति का उद्देश्य आर्थिक साधनो का विभिन्न उपयोगो के बीच इस प्रकार से विभाजन होना चाहिए जिससे कि देश की उत्पादन-क्षमता में भी वृद्धि हो तथा देशवासियो के रहन सहन का स्तर भी ऊँचा हो। और, उचित ढग का विभाजन *निश्चित कर देने के बाद साधनो का उपयोग इसी ढग से हो यह देखने का दायित्व वित्तीय नीति,* विशेषतया कर-प्रणाली का ही होता है। साथ ही, अविकसित देशो मे बचत की कमी को पूरा करने का दायित्व भी अब अधिकाधिक मात्रा मे सरकार का ही होता जा रहा है। इस दायित्व की पूर्ति सरकार स्वय अथवा निजी उत्पादकों को कर मे छूट देकर करती है जिससे बचत की मात्रा बढ सके। तीसा की भयानक आर्थिक मन्दी के बाद आर्थिक क्रियाओ के स्तर को ऊँचा बनाये रखना राज्य का प्रमुख कर्त्तव्य समझा जाने लगा है। अर्द्ध-विकसित देशो मे राज्यो को बडे पैमाने पर उन सुविधाओ को प्रदान करना पडता है जिनसे आर्थिक विकास प्रेरित होने के साथ साथ विकास की क्रिया मे वैयक्तिक पूंजी का योगदान बढता है। शिक्षा, अनुसधान यातायात, शक्ति तथा सिंचाई आदि की सुविधाएँ प्रदान करना व्यक्तिगत साहस के सामर्थ्य से पर है, अतएव इनकी व्यवस्था सरकार द्वारा ही की जाती है।

(2) प्रशुल्क नीति एव आर्थिक स्थायित्व (Fiscal policy and Economic stability) .—आधुनिक समय मे आर्थिक दृष्टि से विकसित राष्ट्रो मे वित्तीय नीति का एक प्रधान उद्देश्य पूर्ण रोजगार के स्तर पर आर्थिक स्थायित्व भी है। प्रतिष्ठित अर्थशास्त्री आर्थिक स्थायित्व का तात्पर्य केवल सामान्य मूल्य-तल की स्थिरता से ही लगाते थे। वे पूर्ण रोजगार की स्थिति को अर्थ व्यवस्था मे सदा वर्त्तमान मानते थे। परन्तु तीसा की महान् आर्थिक मन्दी के काल मे इस प्रतिष्ठित भ्रमात्मक विचार का विस्फोट हो गया। इसके बाद अर्थशास्त्रियो एव राजनीतिज्ञो का ध्यान अर्थ-व्यवस्था मे बेकारी के रोग के निदान की ओर आकर्षित हुआ। उदाहरण के लिए, सयुक्त राज्य अमेरिका की काग्रेस (Congress) ने 1946 ई० मे एक Employment Act बनाकर वित्तीय नीति के आर्थिक उद्देश्य को निम्नांकित शब्दो मे व्यक्त किया —' it is the continuing policy and responsibility of the Federal Government to use all practicable means consistent with its needs and obligations and other essential considerations of industry, agriculture, labour and local governments to co ordinate and utilise all its plans, functions and foster and promote free competitive enterprise and the general welfare condition under which there will be afforded useful employment opportunities, including self-employment for those able, willing and seeking to work and to improve maximum employment, production and purchasing power "

प्रथम महायुद्ध के समय से स्फीति तथा अस्फीति के भयानक रोग ससार के लगभग सभी राष्ट्रो की अर्थ व्यवस्थाओ के स्थायित्व को भग करते रहे। परिणामस्वरूप, वर्तमान समय में वित्तीय नीति का प्रधान उद्देश्य पूर्ण-रोजगार के बिन्दु पर आर्थिक स्थायित्व प्राप्त करना है। किन्तु यहाँ पर पूर्ण रोजगार तथा मूल्य स्थिरता के अर्थों को समझना आवश्यक हो जाता है। विलियम बेवरिज के अनुसार, **"पूर्ण-रोजगार का विचार उस विशेष स्थिति की ओर संकेत करता है जिसमें बेकार व्यक्तियो की सख्या की तुलना में काम करने के लिए अधिक रिक्त स्थान प्राप्त होते हैं।"** (Full employment refers to a situation in which there are more vacant jobs than unemployed men)[1]

[1] William H Beveridge . Full Employment in a Free Society,

इसी प्रकार स्वीडेन के सुप्रसिद्ध अर्थशास्त्री ओहलिन (Bertil Ohlin) के अनुसार, "Full employment is the degree of employment that exists when the aggregate

अमेरिकन इकॉनामिक एसोसियेशन के अनुसार "पूर्ण रोजगार का अर्थ यह है कि उन सभी योग्यता-प्राप्त व्यक्तियो को, जो प्रचलित वेतन की दरो पर काम करना चाहते हैं, अधिक विलम्ब के बगैर उत्पादक कार्य मे काम प्राप्त हो सकता है। इसका अर्थ यह है कि जो व्यक्ति पूर्णकालिक आधार पर कार्य करना चाहते हैं उनको पूर्णकालिक कार्य प्राप्त हो सकता है......किन्तु इसका तात्पर्य यह नही कि इस प्रकार की अर्थ-व्यवस्था मे बेरोजगारी शून्य होती है।" (Full employment means that qualified people who seek jobs at prevailing wage rates can find them in productive activity without considerable delay. It means full time jobs for people who want full time work . ...It does not mean that unemployment is ever zero.)

इसी प्रकार मूल्य तल की स्थिरता का अर्थ है "मूल्यो के सामान्य स्तर मे तीव्र अल्पकालीन उतार-चढाव की प्रवृत्ति की अनुपस्थिति।" (Price stability means the absence of any marked trend or sharp short-term movements in the generel level of prices) अतएव वित्तीय नीति का उद्देश्य मूल्य-तल मे सामयिक उतार-चढाव पर नियन्त्रण होना चाहिए। किन्तु, यद्यपि पूर्ण रोजगार एव मूल्य-तल की स्थिरता की एक साथ प्राप्ति वित्तीय नीति के प्रशसनीय लक्ष्य हैं तथापि इन दोनो लक्ष्यो को एक साथ प्राप्त करना अत्यन्त कठिन कार्य हैं। वास्तव मे, हमारी आर्थिक व्यवस्था मे कई अपूर्णताएँ पायी जाती हैं जिनसे थोडी-बहुत मात्रा मे मूल्यो की स्थिरता को परित्याग किये बगैर पूर्ण रोजगार के लक्ष्यो को प्राप्त करना कठिन हो जाता है। अतएव पूर्ण रोजगार की स्थिति की प्राप्ति के लिए थोडी-बहुत मात्रा मे मूल्य-स्फीति को सहन करना अनिवार्य है।

किन्तु आर्थिक स्थायित्व का उद्देश्य इस महान् सत्य की ओर भी सकेत करता है कि आर्थिक स्थायित्व प्राप्त करने की उत्सुकता के पीछे सरकार को अन्य आवश्यक उद्देश्यो, जसे समाज के प्रत्येक व्यक्ति को उपभोग एव रोजगार-प्राप्ति की पूरी-पूरी स्वतन्त्रता आदि को भी नही भुला देना चाहिए।

आर्थिक स्थायित्व के उद्देश्य की प्राप्ति के लिए वित्तीय नीति को व्यापार-चक्र विरोधी (anti-cyclical or counter-cyclical) होना चाहिए। राज्य एक ओर अपनी आय से अधिक व्यय कर अर्थ-व्यवस्था मे आय, रोजगार तथा आर्थिक क्रियाओ का विस्तार कर सकता है तो दूसरी ओर अपने व्यय मे कमी तथा करो मे वृद्धि के द्वारा रोजगार, आय एव आर्थिक क्रियाओं के स्तर मे सकुचन उत्पन्न कर सकता है। दूसरे शब्दो मे, राज्य अपनी बजट नीति के द्वारा आर्थिक व्यवस्था का नियमन करता है। किन्तु बजट की नीति आर्थिक स्थायित्व की प्राप्ति का सफल साधन तभी बन सकती है जबकि राज्य को इन बातो का ज्ञान हो कि कब उसे अपनी आय से अधिक तथा कब आय से कम व्यय करना चाहिए। उदाहरण के लिए, यदि स्फीति के समय राज्य घाटे के बजट की नीति को अपना कर आय से अधिक व्यय करने लगता है तो ऐसी नीति आर्थिक स्थायित्व के लिए घातक सिद्ध हो सकती है क्योकि स्फीति के समय प्रमुख समस्या व्यय मे वृद्धि की नही, वरन् समाज के कुल व्यय मे कमी की होती है। यह तभी सम्भव है जब राज्य बचत वाले बजट बनाकर अपने करो मे वृद्धि तथा व्यय मे कमी करता है। करो मे वृद्धि का परिणाम यह होता है कि समाज मे लोगो की व्यय योग्य आय (disposable income) में कमी हो जायगी जिससे उनकी क्रय शक्ति (purchasing power) भी कम हो जायगी और इस प्रकार आर्थिक व्यवस्था सतुलित विकास की ओर अग्रसर होने लगेगी।

इसके विपरीत मन्दी के समय सरकार को घाटे वाले बजटो (Deficit Budgets) का निर्माण करना चाहिए। मन्दी का समय बढती हुई बेरोजगारी तथा गिरती हुई राष्ट्रीय आय का समय होता है। इस समय मे व्यक्तिगत क्षेत्र मे विनियोग की मात्रा भी न्यूनतम हो जाती है तथा

---

demand for commodities is at the highest level that is compatiable with the condition that demand at existing prices is balanced by current domestic supply......... Over employment means simply that in most industries, not low wage industries there is much greater number of vacancies than of people looking for jobs"

समस्त माग पूर्ण-रोजगार की स्थिति उत्पन्न करने के लिए अपर्याप्त सिद्ध होती है। ऐसे समय मे सरकार को अपनी आय से अधिक व्यय करना चाहिए। वास्तव मे, मन्दी के समय आवश्यकता इस बात की है कि सरकार सार्वजनिक निर्माण कार्यों पर अधिकाधिक व्यय करके अर्थव्यवस्था मे समस्त माग के स्तर को इतना अधिक कर दे कि अर्थ व्यवस्था पूर्ण रोजगार की स्थिति मे सतुलित हो।

(3) **प्रशुल्क नीति और आर्थिक समानता** (Fiscal Policy and Economic Equality) प्राय. सभी विकसित देशो मे वित्तीय उपायो द्वारा सरकार धन और आय के उचित वितरण का प्रयास भी करती है। अर्द्ध-विकसित देशो मे भी धन एव आय के वितरण मे घोर विषमता पायी जाती है। इसके परिणामस्वरूप सभी देशवासियो को जीवन म आगे बढने के लिए एक समान अवसर नही प्राप्त होता। अतएव, ऐसे देशो मे वित्तीय नीति द्वारा धन और आय का पुनर्वितरण अत्यन्त आवश्यक और उचित होता है, किन्तु ऐसा करते समय यह ध्यान रखना चाहिए कि राष्ट्रीय उत्पादन मे उच्चतम स्तर से किसी प्रकार कमी नही होने पाये। आर्थिक असमानता को कम करना आधुनिक कल्याणकारी राज्य का एक प्रमुख कर्त्तव्य है। धन एव आय के वितरण की वर्त्तमान असमानता को दूर करने के लिए प्रगतिशील करो का सहारा लिया जाता रहा है। अर्द्ध-विकसित देशो मे साहसियो की अपेक्षा सूदखोरो (लगान, किराया,' ब्याज आदि पर आश्रित व्यक्तियो) की सख्या अधिक होती है। अतः आर्थिक समानता के उद्देश्य से किये गये वित्तीय प्रयत्नो से उत्पादन-क्षमता मे कोई कमी की आशका नही होनी चाहिए। इसके विपरीत, आर्थिक विषमता मे कमी से देश के साधनो का अधिक अच्छा उपयोग हो सकेगा, और सट्टेबाजी, मुनाफाखोरी और अपव्यय मे कमी होगी।

सरकार की कर और व्यय-सम्बन्धी उन सभी नीतियो से आर्थिक विषमताएँ कम होती है जिनसे धनिको की आय कम होती है और गरीबो की आय मे वृद्धि होती है। सार्वजनिक व्यय द्वारा गरीबो को कई प्रकार की आर्थिक सहायता मिलती हैं। उदाहरण के लिए, सामाजिक सुरक्षा और बीमा की योजनाओ पर किये गये सरकारी व्यय से गरीबो की वास्तविक आय बढती है। भा रतवर्ष मे पिछडी जातियो और हरिजनो के उत्थान पर किये गये व्यय इसी प्रकार के हैं। अन्य देशो मे बेरोजगार व्यक्तियो तथा बूढे, बीमार, अपगो की आर्थिक सहायता के लिए सरकार प्रबध करती है। और, इन सभी कार्यो के लिए सरकार कर लगाकर ऊँची आय वाले व्यक्तियो की आय कम करती है। मृत्यु-कर उपहार कर और सम्पत्ति की अधिकतम सीमा निश्चित कर सरकार धन के स्वामित्व पर रोक लगाती है। कुछ वस्तुओ का न्यूनतम मूल्य निश्चित कर और कुछ उद्योगो मे न्यूनतम मजदूरी निश्चित कर भी सरकार आर्थिक समानता लाने का प्रयत्न करती है। निर्धन व्यक्तियो की सतान के लिए नि.शुल्क शिक्षा तथा चिकित्सा आदि की व्यवस्थाओ के द्वारा भी आर्थिक विषमताओ को बहुत हद तक दूर किया जा सकता है।

किन्तु यद्यपि किसी भी देश से आर्थिक विषमता को बिलकुल समाप्त करना सम्भव नही है, फिर भी प्रशुल्क नीति के द्वारा घोर आर्थिक विषमता को दूर करने मे बहुत अधिक सफलता प्राप्त हुई है। इगलैड मे आय का वर्तमान वितरण वित्तीय नीति की सफलता का एक प्रमुख उदाहरण है। इस प्रकार वित्तीय नीति के उपरोक्त सभी उद्देश्य हैं। इन उद्देश्यो मे सतुलन स्थापित करना तथा इन्हें सरकारी नीति के अनुरूप बनाना सरकार के बजट का एक प्रमुख कार्य है।

मौद्रिक एवं प्रशुल्क नीतियों में सम्बध

किसी भी देश मे मौद्रिक तथा वित्तीय दोनो नीतियो को एक दूसरे का पूरक होना चाहिए। इन दोनो के पूरक के रूप मे कार्य करने से आर्थिक स्थायित्व के उद्देश्य की शीघ्र पूर्ति हो सकती है। मौद्रिक नीति मुद्रा की मात्रा एवं इसे प्राप्त करने के तरीके को प्रभावित कर अर्थ-व्यवस्था मे आय, रोजगार तथा व्यय की मात्रा को प्रभावित करती है। दूसरी, ओर वित्तीय नीति राजकीय कर तथा सार्वजनिक ऋण के माध्यम से अर्थ-व्यवस्था मे आय, रोजगार तथा व्यय की मात्रा को प्रभावित करती है। इस प्रकार मौद्रिक तथा वित्तीय नीतियो के निकट सम्पर्क मे कार्य करने से ये अधिक सफल होती हैं, अतएव इनके प्रबधको मे भी निकटतम सम्बन्ध का होना अनिवार्य है।

साधारणतया स्फीति के समय बचत वाले बजट के साथ साथ महँगी मुद्रा नीति (dear money policy) के अनुकरण से आर्थिक स्थायित्व को प्राप्त किया जा सकता है। इसके विपरीत आर्थिक मंदी के समय मे घाटे के बजट के साथ-साथ सस्ती मुद्रा नीति (cheap money policy) का अनुकरण करने से अभिवृद्धि की स्थिति शीघ्र ही प्राप्त कीजा सकती है। साराश यह है कि आर्थिक स्थायित्व के उद्देश्यो की प्राप्ति के लिए इन दोनो प्रकार की नीतियो म समन्वय अनिवार्य है। इन नीतियो का महत्त्व श्री केमरॉन थामसन (J Cameron Thomson) के निम्नाकित बयान से अधिक स्पष्ट हो जाता है "Fiscal, monetary and debt policies are appropriat means for attacking the problem of instability in a free society The problem of instability is essentially a problem of broad forces affecting the overall magnitudes of the economy The advantage of Fiscal, monetary and debt policies is that they allow the government to influence the overall forces that determine the stability of the economy without involving the government in detailed control of the particulars of the economy" इस प्रकार मौद्रिक एव वित्तीय नीतियाँ आर्थिक स्थायित्व के उद्देश्य की प्राप्ति के लिए उपयोगी एव आवश्यक यन्त्र हैं। साथ ही, इसका प्रयोग एक दूसरे के पूरक के रूप मे करना अधिक उपयोगी होता है।

विशेष अध्ययन-सूची

1. K K. Kurihara — Monetary Theory and Public Policy
2. A H Hansen — Monetary Theory & Fiscal Policy.
3. A. H Hansen — Economic Policy and Full Empolyment

अध्याय : 33

प्रशुल्क नीति एवं पूर्ण रोजगार

(Fiscal Policy and Full Employment)

पूर्ण रोजगार के सम्बन्ध में प्रशुल्क नीति का प्रतिष्ठित मत :—प्राचीन अंग्रेज अर्थशास्त्रियों का यह विचार था कि समाज मे सदा पूर्ण रोजगार की स्थिति बनी रहती है। इन लोगो का यह विचार जे० बी० से (J, B Say) के इस प्रसिद्ध कथन कि "पूर्ति स्वय अपनी माग उत्पन्न कर लेती है" (Supply creates its own demand.) पर आधारित था। इस आधार पर वे लोग यह निष्कर्ष निकाल लेते थे कि निजी उपक्रम सभी उपलब्ध साधनो का प्रयोग स्वय कर लेता था। अतएव यदि सरकार इन साधनो का प्रयोग करना चाहती है तो वह निजी उद्योगपतियो को इनके प्रयोग से वचित करके ही ऐसा कर सकती है। इसका तात्पर्य यह है कि इन लोगो के अनुसार सरकारी व्यय से किसी प्रकार भी प्रभावोत्पादक माग नही उत्पन्न हो पायी और न इससे रोजगार मे ही कोई वृद्धि होती है। अतएव इन लोगो के अनुसार सरकार को अपना बजट सदा सतुलित रखना चाहिए। **इनके अनुसार राजस्व प्रणाली के निम्नांकित प्रधान सिद्धांत थे** :—(1) बजट को सदा सतुलित एव छोटा-से-छोटा होना चाहिए। (2) उपभोग पर कर लगाना चाहिए तथा बचतो को कर-मुक्त कर देना चाहिए। (3) ऋण केवल उत्पादक विनियोगो के लिए ही लिये जायें। इन लोगो के सभी विचार इस मान्यता पर आधारित थे कि निजी विनियोग स्वय पूर्ण रोजगार की स्थिति स्थापित करने में समर्थ होते हैं; अतएव राज्य का इस क्षेत्र मे किसी भी प्रकार का हस्तक्षेप नही करना चाहिए।

केन्स के विचार :—प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियो के इन विचारो का सुप्रसिद्ध अर्थशास्त्री केन्स (Keynes) ने सर्वप्रथम जोरदार रूप से खडन किया। केन्स ने यह सिद्ध किया था कि प्रतिष्ठित अर्थशास्त्र जिन मान्यताओ पर आधारित था वे व्यावहारिक जीवन मे लागू नही होते। साथ ही, किसी भी देश में निजी उपक्रम के प्रयासो से ही सदा पूर्ण रोजगार की स्थिति नही पायी जाती है। केन्स के अनुसार पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था मे निरन्तर रूप से उतार-चढाव हुआ करते हैं तथा एक ऐसी स्थिति पायी जाती है जिससे कि आर्थिक व्यवस्था पूर्ण रोजगार के स्तर से इधर-उधर हट सकती है। अगर किसी खास समय मे पूर्ण रोजगार की स्थिति पायी जाती है तो यह बिलकुल 'सयोग' की बात है।[1] (I shall argue that the postulates of classical theory are applicable to a special case only and not to the general case Moreover the character stics of the special case assumed by the classical theory happens not to be those of economic society in which we actually live, with the result that its teaching is misleading and disastrous if we attempt to apply it to the facts of experience.) अतएव केन्स ने एक न्यून रोजगार के साम्य (Under-employment equilibrium) के विचार को स्थापित किया।

केन्स ने अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक 'General Theory' मे यह सिद्ध किया कि उपभोग को कम कर एव आय को बचाकर पूँजी नही जमा की जा सकती, वरन् इससे बेकारी उत्पन्न होती है राष्ट्रीय आय कम होती है और विनियोग कम होने से पूँजी का सचय कम हो जाता है। आजकल यह नहीं कहा जा सकता कि 'हम जो कुछ भी उपयोग नही कर पाते, व्यापारी उसका उपयोग विनियोग के लिए करते हैं, वरन् वास्तविकता यह है कि यदि हम उपभोग न करें तो व्यापारी विनियोग करने के लिए तैयार ही नहीं होगे।" इस प्रकार आजकल उपभोग एव विनियोग दोनो एक दूसरे पर आश्रित हैं, दोनो मे एक साथ वृद्धि अथवा कमी होती हैं।

केन्स के अनुसार उपभोग की सीमात प्रवृत्ति (Marginal propensity to consume) में कमी के कारण पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था मे प्रभावोत्पादक माग effective demand) बहुत कम होती हैं। ऐसे देशो मे बचत की प्रवृत्ति (propensity to save) अधिक पायी जाती है,

1. J. M. Keynes : The General Theory of Employment, Interest and Money.

अतएव अतिरिक्त आय का अधिकतर भाग लोग बचा लेते हैं। इस बचत का तात्पर्य यह हुआ कि आय के सृजन के साथ-साथ जिन वस्तुओं एवं सेवाओं का उत्पादन हुआ या उनके लिए माग कम हो जाती है। दूसरे शब्दो मे, प्रभावोत्पादक मांग कम हो जाती है जिससे अर्थ-व्यवस्था मे ये अधोगामी प्रवृत्तियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। परिणामस्वरूप बेकारी की समस्या उत्पन्न हो जाती है। अतएव केन्स ने यह बतलाया कि बेकारी की स्थिति को दूर कर पूर्ण रोजगार की स्थिति की स्थापना के लिए हमे बचत को कम करनी चाहिए तथा सार्वजनिक व्यय के द्वारा प्रभावोत्पादक माग को बढाने का प्रयास करना चाहिए। केन्स ने यह भी बतलाया कि यदि सार्वजनिक व्यय (Public Expenditure) के लिए घाटे के व्यय (Deficit Financing) का भी सहारा लेना पड़े तो भी यह कोई बुरा नही होगा। इस प्रकार केन्स ने राज्य को एक संतुलन तत्त्व (Balancing Factor) के रूप मे महत्त्व प्रदान किया।

केन्स के अनुसार रोजगार प्रभावपूर्ण माग पर निर्भर करता है और प्रभावपूर्ण माग के दो अग हैं (क) उपभोग पर व्यय, तथा (ख) विनियोग पर व्यय। दूसरे शब्दो मे, उपभोग तथा विनियोग पर किये गये कुल व्यय का ही दूसरा नाम प्रभावपूर्ण माग है। केन्स के अनुसार इस कुल व्यय अथवा प्रभावपूर्ण मांग को सरकार अपनी बजट-सम्बन्धी क्रियाओ से प्रभावित कर सकती है। इसी प्रकार यह कुल व्यय को भी साकार करो एव सरकारी व्यय मे परिवर्तन के द्वारा प्रभावित कर सकती है। कुल व्यय के दो तत्त्व होते हैं—सार्वजनिक व्यय (Public Expenditure) तथा निजी व्यय (Private Expenditure)। मदी के नियत्रण के लिए सरकार या तो अपने व्यय मे वृद्धि कर सकती है या ऐसे कदम उठा सकती है जिनसे व्यक्तिगत व्यय मे वृद्धि हो। इसी प्रकार तेजी के नियन्त्रण के लिए सरकार या तो स्वय अपने व्यय मे कमी कर सकती है या ऐसे उपायो को काम मे ला सकती है जिनसे व्यक्तिगत व्यय मे कमी हो। कुल व्यय मे किसी भी परिवर्तन का गुणक प्रभाव होता है तथा यह सम्पूर्ण मांग को प्रारम्भिक परिवर्तन से कई गुना या तो कम कर सकता है या बढा सकता है।

इस प्रकार की नीति को प्रतिचक्रीय प्रशुल्क नीति (Counter cyclical Fiscal Policy) कहते हैं क्योंकि इसका प्रयोग व्यापार-चक्र को रोकने के लिए किया जाता है। इस प्रकार की नीति मे सरकार द्वारा ऐसे निर्णय किये जाते हैं जिनका प्रधान उद्देश्य अर्थ-व्यवस्था को अस्थिरता की ओर ले जानेवाला प्रवृत्तियो को नियन्त्रित करना होता है। दूसरे शब्दो मे, प्रति चक्रीय प्रशुल्क नीति का तात्पर्य यह है कि कर एव सार्वजनिक व्यय को व्यापार-चक्र के विपरीत दशा मे होना चाहिए, यानी व्यापार-चक्र की प्रसारण अवस्था मे सरकारी व्यय मे कटौती तथा करारोपण मे वृद्धि की जानी चाहिए तथा व्यापार-चक्र की सतुलन अवस्था मे सार्वजनिक व्यय मे वृद्धि तथा करारोपण कटौती की जानी चाहिए। (Counter cyclical fiscal policy means that Taxes (T) and Government Spending (G) varied in an anticyclical direction: G being cut and T increased in the expanding phase of the cycle and G increased and T cut during the contraction phase.)

इस सम्बन्ध मे पम्प प्राईमिंग (Pump Priming) एवं क्षति-पूरक व्यय (Compensatory expenditure) मे अन्तर करना आवश्यक है। हैनसन (Hansen के अनुसार वैयक्तिक विनियोग मे कमी को पूरा करने के लिए दो उपायो को काम मे लाया जा सकता है :—(क) पहला पम्प प्राईमिंग है जिसका प्रयोग उस समय करना चाहिए जबकि अर्थ-व्यवस्था मे किसी कारणवश व्यतिक्रम आ गया हो और वह ठीक मार्ग पर नही चल रही हो। ऐसी स्थिति मे उसे ठीक मार्ग पर ले चलने के लिए सरकार को एक बार इतनी धन-राशि व्यय करनी चाहिए जिससे कि क्षति की पूर्ति हो जाय। सरकार को इससे अधिक कुछ नहीं करना पडता है। (ख) इसके विपरीत क्षति-पूरक व्यय (compensatory expenditure) सिद्धात के अन्तर्गत हम यह मानकर चलते हैं कि वैयक्तिक विनियोग किसी भी समय कम हो सकते हैं। अत: सरकार को इस कमी को पूरा करने के लिए सदा तत्पर रहना चाहिए। यहाँ पर एक बार एक निश्चित रकम व्यय कर निश्चिन्त हो जाने वाली बात नहीं है, वरन् जब-जब वैयक्तिक विनियोग की कमी के कारण अर्थ-व्यवस्था का स्थायित्व भग होने लगे, तभी-तभी सरकार को उसके लिए सार्वजनिक व्यय करना पडता है। यह चक्र निरन्तर रूप से चलते रहता है। सैम्युल्सन (Samulson) के अनुसार, "निजी अर्थ व्यवस्था एक ऐसे यन्त्र की तरह है जिसे नियन्त्रण करने का कोई साधन नहीं होता। क्षतिपूरक प्रशुल्क

नीति ही इस प्रकार के नियंत्रण का कार्य करती है।" (The private economy is often like a machine without an effective steering wheel or governor Compensatory fiscal policy tries to introduce such a g vernor or their mostatic control device) हैन्सन ने इस सिद्धात को प्रतिचक्रीय प्रशुल्क-नीति (Contra-cyclical Fiscal Policy) की संज्ञा दी क्योकि इसका प्रयोग व्यापार-चक्रो को रोकने के लिए किया जाता है।

इस प्रकार सार्वजनिक व्यय चाहे पम्प प्राइमिंग सिद्धान्त के अनुसार किया जाय अथवा क्षति-पूरक व्यय सिद्धात के अनुसार, इसका प्रभाव गुणक (multiplier) तथा त्वरण (acceleration) के सिद्धान्तो के ऊपर आधारित है। गुणक-सिद्धान्त उपभोग-व्यय के द्वारा कार्य करता है जबकि त्वरण सिद्धान्त विनियोग-व्यय के द्वारा कार्य करता है। इन दोनो सिद्धान्तो का सयुक्त प्रभाव बहुत अधिक होता है।

पूर्ण-रोजगार प्राप्त करने के लिए प्रशुल्क नीति

(Fiscal Policy for Full emploment)

पूर्ण-रोजगार की प्राप्ति के लिए अपनायी गयी प्रशुल्क नीति के निम्नांकित प्रधान अस्त्र हैं :—

1. सार्वजनिक व्यय तथा पूर्ण रोजगार (Public Expenditure and Full employment) :—पूर्ण-रोजगार को प्राप्त करने मे वित्तीय नीति के विभिन्न अस्त्रो मे सार्वजनिक व्यय अत्यधिक महत्वपूर्ण हैं। हम देख चुके हैं कि बेकारी समाज के लिए एक बहुत बडा अभिशाप है। पूँजीवादी अर्थ व्यवस्था मे मन्दी काल की शुरूआत मे वस्तुओ तथा सेवाओ के मूल्य में कमी होने लगती है जिससे व्यवसायियो को हानि होने लगती है तथा भविष्य के प्रति उनका विश्वास समाप्त होने लगता है। अतएव वे उत्पादन की मात्रा को कम कर देते हैं। इससे बेरोजगारी बढने लगती है। इसका प्रभाव उन उद्योगो अथवा फर्मों पर भी पडता है जिनसे वे कच्चे पदार्थ खरीदते हैं। इनमे भी बेरोजगारी फैलने लगती है। बेरोजगार मजदूरो द्वारा अनेक वस्तुओ की माग मे कमी होने लगती हैं। इससे समाज की कुल माग मे बहुत कमी आ जाती है और इस प्रकार मन्दी का कुचक्र प्रारम्भ हो जाता है जो धीरे-धीरे विस्तृत होने लगता है। सार्वजनिक व्यय के इस कुचक्र को तोडा जा सकता है। उदाहरण के लिए, यदि सरकार सार्वजनिक निर्माण का कार्य प्रारम्भ कर दे तो सरकार द्वारा जो धन मजदूरी के रूप मे व्यय किया जा रहा है उससे मजदूरो को रोजगार मिलेगा। इससे रोजगार न केवल उन मजदूरो को मिलेगा जो इन उद्योगो मे काम करते हैं, वरन् इससे रोजगार मे वृद्धि की एक शृंखला ही शुरू हो जायगी क्योकि मजदूर अपनी मजदूरी को अपनी आवश्यकता की पूर्ति पर व्यय करेंगे जिससे वस्तुओ की माग बढेगी। मॉग बढने से अन्य उद्योगो मे भी मजदूरो को अधिक काम मिलेगा। इस प्रकार सार्वजनिक व्यय मे वृद्धि से रोजगार मे वृद्धि होगी। इस सम्बन्ध मे ध्यान देने योग्य बात यह है कि सरकार ने मजदूरो को रोजगार देने में जो व्यय किया था, रोजगार उसकी अपेक्षा कई गुणा बढ जाता है। आर्थिक मन्दी के समय पूर्ण-रोजगार की प्राप्ति के लिए किये गये सार्वजनिक व्यय को क्षति पूरक व्यय (Compensatory expenditure) कहते है क्योकि ये प्रभावोत्पादक माग मे हुई कमी को पूरा करते हैं। इस प्रकार का व्यय केन्स के अनुसार एक प्रकार का सतुलन तत्व है जो राष्ट्रीय आय को निश्चित स्तर पर कायम रखने मे सहायक होता है। (Public expenditure becomes a balancing factor in order to maintain national income at a given level) मन्दी काल मे राजकीय व्यय के परिमाण मे बहुत वृद्धि कर दी जाती है और जब आर्थिक क्रियाओं का स्तर पुनः उठने लगता है तो इनमे कमी की जाती है। **किन्तु क्षतिपूरक व्यय की सफलता कई बातों पर निर्भर करती है जिनमें निम्नांकित विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं :—**

(1) सरकारी व्यय की मात्रा पर्याप्त होनी चाहिए। इसके लिए आवश्यकता पडने पर सरकार को घाटे के व्यय का भी सहारा लेना चाहिए।

(2) अपने व्यय की पूर्ति के लिए सरकार को व्यक्तियो से ऋण नही लेकर बैंको से ऋण लेना चाहिए।

(3) जनता को भी चाहिए कि सरकार द्वारा प्राप्त धन को व्यय करे न कि उसे अपने पास छुपाकर (Hoarding) रखे।

(4) सरकार को भी अपनी नीति प्रभावशील तरीके से कार्यान्वित करनी चाहिए।

पूर्ण रोजगार की स्थिति की प्राप्ति के उद्देश्य से **सार्वजनिक व्यय को निम्नलिखित तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है** —

(i) उपभोग को प्रभावित करनेवाले सार्वजनिक व्यय,
(ii) वैयक्तिक विनियोगो को प्रभावित करनेवाले व्यय, एव
(iii) सार्वजनिक विनियोग।

(i) उपभोग को प्रभावित करनेवाले सार्वजनिक व्यय —हम ऊपर देख चुके हैं कि प्रभावो पादक माग मे कमी का प्रमुख कारण उपभोग की मात्रा मे कमी है। यदि हम उपभोक्ताओ की उपभोग शक्ति यानी आय को बढा दें तो प्रभावोत्पादक माग की कमी को पर्याप्त रूप से पूरा किया जा सकता है। अत वे लोग जिनकी आय कम है, उनको सरकार की ओर से आर्थिक सहायता दी जानी चाहिए। टेलर (Taylor) के अनुसार अमेरिका मे 1933 39 ई० के बीच की अवधि मे इस प्रकार की सहायता की बहुत बडे पैमाने पर व्यवस्था की गयी थी। वहाँ पर 1935 ई० के सामाजिक सुरक्षा अधिनियम मे वृद्धावस्था, बेकारी, अपाहिजो की सहायता इत्यादि के रूप मे आर्थिक सहायता देकर इस बात की कोशिश की गयी थी कि उनकी उपभोग-राशि मे वृद्धि हो जिससे कि प्रभावोत्पादक माग जाग्रत हो सके।

(ii) वैयक्तिक विनियोगो को प्रभावित करना —प्रभावोत्पादक माग मे कमी का एक दूसरा महत्वपूर्ण कारण वैयक्तिक या निजी विनियोग (Private investment) में कमी है। अत यदि इन विनियोगो को प्रोत्साहन देकर बढाया जाय तो प्रभावोत्पादक माग मे वृद्धि हो जायगी तथा रोजगार का स्तर भी अधिक ऊँचा हो जायगा। देश के औद्योगीकरण के लिए भी इन विनियोगो को प्रोत्साहन देना अनिवार्य है। **वैयक्तिक विनियोगों को सार्वजनिक व्यय के द्वारा निम्न प्रकार से प्रोत्साहित किया जा सकता है** —

(क) वैयक्तिक विनियोग मुख्यत लाभ के ऊपर आधारित होते हैं। अतएव, यदि लाभ बढने की सम्भावना बढ जाय तो वैयक्तिक विनियोग मे भी वृद्धि हो सकती है। लाभ मे वृद्धि के लिए सरकार अपनी नीति द्वारा व्याज की दर को घटा सकती है।

(ख) दूसरे, वैयक्तिक विनियोगो को प्रोत्साहित करने के लिए सरकार उनपर से करो मे छट दे सकती है।

(ग) उद्योगो के नवीनीकरण के लिए सरकार को चाहिए कि वह निजी क्षेत्र को आर्थिक सहायता प्रदान करे। इससे विनियोग मे वृद्धि होगी और अन्तत प्रभावोत्पादक माग भी बढेगी।

(घ) सरकार को चाहिए कि वैयक्तिक क्षेत्र की स्पर्द्धात्मक शक्ति को बढाये जिससे उनकी उत्पादन-क्षमता बढे और वे अधिक कार्यशील हो जायें।

(च अत मे, ऐसे सीमात उद्योगो को, जो केवल किसी प्रकार जीवित रहते हैं, सरकार को शीघ्र आर्थिक सहायता प्रदान करनी चाहिए। इस सम्बन्ध मे यह उचित होगा कि यह सहायता प्रत्येक उद्योग को श्रमिको के अनुपात मे दी जाय ताकि अधिक श्रमिकवाले उद्योगो को अधिक सहायता मिलने से अधिक लोगो मे प्रभावोत्पादक माग की वृद्धि हो सके।

(iii) सार्वजनिक विनियोग —सार्वजनिक विनियोग के द्वारा सम्पूर्ण विनियोग की मात्रा को प्रभावित किया जा सकता है और इससे प्रभावोत्पादक माग की कमी को पूर्ण करके पूर्ण रोजगार की स्थिति स्थापित की जा सकती है। सार्वजनिक विनियोग भी कई प्रकार से किये जाते हैं, जैसे—

(क) सामाजिक सेवाओं के लिए विनियोग —इनमे स्कूल, अस्पताल, सडकें तथा नहर इत्यादि का निर्माण किया जाता है जिनसे सामाजिक कल्याण मे वृद्धि होती है।

(ख) निजी उपभोग के लिए विनियोग—सार्वजनिक विनियोग से वैयक्तिक उपभोग मे भी वृद्धि होती है, जैसे—सरकार स्कूलो मे बच्चो के लिए मुफ्त भोजन की व्यवस्था कर सकती है।

(ग) उत्पादक उद्योगों के लिए विनियोग —इसके अन्तर्गत सरकार सार्वजनिक क्षेत्र के अन्तर्गत स्वय उद्योगो की स्थापना करती है, जैसे— भारत सरकार द्वारा लोहा एव इस्पात के कारखाने, खाद के कारखाने, चितरजन रेल इजन का कारखाना आदि स्थापित किये गये हैं। इससे प्रभावोत्पादक माग बढती है तथा रोजगार का स्तर भी ऊँचा होता है। इन उद्योगो मे विनियोग करने से बहुत-से लोगो की आय बढती है।

(घ) निर्यात को प्रोत्साहित करने के लिए सरकार विनियोग मे भी वृद्धि कर सकती है, क्योकि आगे चलकर जब बडे पैमाने पर निर्यात होने लगेगा तो इससे देश के उद्योगो के उत्पादन मे वृद्धि होगी जिससे रोजगार, आय तथा उपभोग मे वृद्धि होगी।

(2) सार्वजनिक निर्माण कार्य सम्बन्धी नीति (Public Works Policy) - पूर्ण-रोजगार की प्राप्ति के लिए सरकार सार्वजनिक निर्माण कार्य की नीति पर जोर दे सकती है। सार्वजनिक निर्माण-कार्यो के अन्तर्गत सरकारी भवन, सडकें, अस्पताल, रेलो आदि का निर्माण किया जाता है। रेलवे जैसे सार्वजनिक उपयोगिता सम्बन्धी सेवाओ, जिनकी व्यवस्था सरकारी विभागो द्वारा की जाती है, मे इस प्रकार की नीति के साधारणतया अधिक सफल होने की आशा रहती है। ये विभाग सरकार के अधिकार मे रहते है, अत इनमे इस नीति के सफल होने की अधिक सम्भावना रहती है। सार्वजनिक कार्यों पर इस प्रकार के व्यय से उपभोग की वस्तुओ की माग मे वृद्धि होगी और व्यक्तिगत पूँजी-निर्माण को प्रोत्साहन मिलेगा, लेकिन इस बात का ध्यान रखना चाहिए की सार्वजनिक कार्यो पर इस तरह का जो व्यय किया जाय उसकी प्रतियोगिता के फलस्वरूप व्यक्तिगत पूँजी मे कमी न होने पाये अथवा व्यक्तिगत ऋणो पर भी व्याज की दर न बढने पाये। पुन, यदि सार्वजनिक व्यय किसी ऐसे उद्योग पर किया जाय जिसमे मजदूरी की दर का अनुपात कुल लागत से अधिक होता है तो बेकारी की मात्रा पर इसका प्राथमिक प्रभाव अच्छा पडता है।

सार्वजनिक निर्माण-कार्य सम्बन्धी नीति की कठिनाइयाँ एव सीमाएँ—यद्यपि इस नीति की सफलता के सम्बन्ध मे बहुत-कुछ कहा सकता है, फिर भी इस सम्बन्ध मे कुछ प्रधान कठिनाइयाँ हैं जिन्हे ध्यान मे रखना उचित है। सर्वप्रथम तो, व्यवसाय चक्र विरोधी सार्वजनिक व्यय की नीति को अपनाने के पूर्व वर्तमान एव भविष्य की परिस्थितियो का पूर्ण विश्लेषण करना तथा अच्छी तरह समझना अनिवार्य है। इस नीति को शीघ्र कार्यान्वित करने मे कुछ प्रत्यक्ष कठिनाइयाँ होती हैं। इस योजना की प्रधान विशेषता घाटे का व्यय है, अर्थात् आय की अपेक्षा व्यय का अधिक होना है। वास्तव मे, सार्वजनिक निर्माण नीति की सबसे जटिल समस्या यही है। इसका उद्देश्य यह है कि व्यावसायिक मन्दी के समय मे सरकार को ऋण लेना चाहिए तथा तेजी के समय मे बजट की बचत मे से उन्हें चुकाना चाहिए, लेकिन व्यवहार मे इस नीति में कुछ प्रत्यक्ष कठिनाइयाँ उत्पन्न हो जाती हैं जिनका परिणाम यह होता है कि जब राजकीय ऋणो की मात्रा बहुत अधिक हो जाती है तो अर्थ व्यवस्था पर इनका अनेक प्रकार से प्रतिकूल प्रभाव पडता है। राजकीय ऋण में वृद्धि से विनियोक्ताओ के मन में सरकारी नीति के प्रति अविश्वास उत्पन्न हो सकता है जिससे निजी विनियोग में कमी हो सकती है। फिर, घाटे के व्यय से मुद्रा-स्फीति (Inflation) की सम्भावना रहती है, लेकिन यदि सावधानी से काम लिया जाय, तो सरकारी ऋणो की मात्रा बढने से मुद्रा-स्फीति की आशका नही होनी चाहिए। वास्तव में यह बहुत कुछ इस बात पर निर्भर करता है कि ऋणो के खर्च की प्रकृति किस प्रकार की होगी, उनकी उत्पादन-शक्ति कितनी होगी तथा जब ऋण लिये जाते है, उस समय रोजगार की स्थिति कैसी है तथा ऋण किस दर से बढते हैं? जबतक ऋणो का उपयोग बेकारो को काम देने, रहने के लिए मकान बनवाने, स्कूल तथा सडकें बनवाने आदि के लिए किया जाता है, तबतक ये बुरे नहीं कहे जा सकते, क्योकि इनसे प्रत्येक व्यक्ति को लाभ होता है। इस सम्बन्ध मे क्लेन (Klein) का निम्नलिखित कथन विशेष रूप से उल्लेखनीय है—"The poor are better off because they have jobs instead of hunger pains and the nervous frustration of idleness. The rich are better off because they have lost nothing on the transfer

and they get longer profits out of the full employment income than would otherwise be the case."

2. करारोपण एवं पूर्ण रोजगार
(Taxation and Full Employment)

केन्स के अनुसार प्रभावोत्पादक माग मे कमी का एक प्रधान कारण उपभोग की प्रवृत्ति (Propensities to consume) का कम होना है जिसके परिणामस्वरूप रोजगार (Employment level) भी कम हो जाता है। उपभोग की प्रवृत्ति की कमी को दूर करने का एक प्रधान तरीका पुर्नवितरणात्मक करो (Redistributive Taxes) का प्रयोग है। पुर्नवितरणात्मक करो के अन्तर्गत इस कार्य के लिए समाज मे धनी व्यक्तियो पर, जिनकी उपभोग की प्रवृत्ति कम है, अधिक कर लगाना चाहिए और उसे निर्धन व्यक्तियो के हाथ हस्तातरित कर देना चाहिए जिनकी उपभोग की प्रवृत्ति बहुत अधिक है। धनी लोगो पर प्रगतिशील कर लगाना सामाजिक तथा आर्थिक दोनो दृष्टि से लाभदायक है। सामाजिक दृष्टि से इसलिए कि इससे समाज मे धनी एव निर्धन व्यक्तियों के बीच का अन्तर कम होता है तथा विभिन्न वर्गों के जीवन-स्तर मे समानता स्थापित होती है। इसी प्रकार आर्थिक दृष्टि से इससे उपभोग मे वृद्धि होती है तथा निजी बचत कम होती है।

किन्तु, प्रगतिशील एव पुर्नवितरणात्मक करो मे उसी सीमा तक वृद्धि करनी चाहिए जब तक कि विनियोग-क्षमता पर इनका कोई विषम प्रभाव नही पडे। इन करो का प्रधान दोष यह है कि ये फिजूलखर्ची एव दुरुपयोग को प्रोत्साहित करते हैं जिससे वास्तविक उद्देश्य की पूर्ति होने मे कठिनाई होती है। इस सम्बन्ध मे ध्यान देने योग्य दूसरी बात यह है कि पूर्ण रोजगार के लिए उपभोग करो या परोक्ष करो का प्रयोग ज्यादा नहीं किया जा सकता, क्योकि इनसे उपभोग मे और भी कमी होती है। साथ ही, उन करो का मजदूरो की कार्य-क्षमता तथा उत्पादन पर भी बुरा प्रभाव पडता है।

पूर्ण रोजगार पर करारोपण (Taxation) के प्रभाव के सम्बन्ध में लर्नर (Larner) के क्रियात्मक वित्त सिद्धान्त (Theory of Functional Finance) का विशेष महत्त्व है। इनके अनुसार पूर्ण-रोजगार के लिए करो का एक प्रकार से निषेधात्मक महत्त्व होता है। दूसरे शब्दो मे, पूर्ण-रोजगार के स्तर को प्राप्त करने के लिए हमे करो के स्तरो मे कमी करनी पडेगी जिससे कि उपभोग की प्रवृत्ति मे वृद्धि हो किन्तु पुरानी निष्क्रिय बचतो पर कर लगाने की सम्भावना अधिक होती है।

3. सार्वजनिक ऋण तथा पूर्ण रोजगार
(Public Debt and Full Employment)

पूर्ण रोजगार की प्राप्ति के लिए करारोपण पर बहुत अधिक निर्भर नहीं किया जा सकता है, क्योकि इसकी भी कुछ निश्चित सीमाएँ है। फिर भी, पूर्ण रोजगार के सम्बन्ध मे सार्वजनिक व्यय का बहुत अधिक महत्त्व है। अत, इसके लिए वित्त प्राप्त करना एक समस्या है जिसका समाधान भी आवश्यक है। इस उद्देश्य से करारोपण के अतिरिक्त वित्त-प्राप्ति के अन्य साधनो की आवश्यकता पडती है। 1930 ई० से इस कार्य के लिए घाटे की वित्त व्यवस्था (Deficit Financing) का प्रयोग किया जा रहा है। इसके प्रयोग से मौद्रिक आय बढती है जिसके परिणामस्वरूप प्रभावोत्पादक माग (Effective demand) मे वृद्धि होती है। इसमे कोई सन्देह नहीं कि इसके द्वारा प्रभावोत्पादक माग (Effective demand) तीव्र रूप से बढती है, परन्तु इसके प्रयोग मे पर्याप्त सावधानी की आवश्यकता है। साथ ही, पूर्ण रोजगार के स्तर की प्राप्ति के बाद घाटे की वित्त-व्यवस्था का परित्याग कर देना चाहिए अन्यथा इससे मुद्रा-स्फीति (Inflation) की प्रवृत्ति का सृजन होगा।

सार्वजनिक ऋण (Public Debt) का प्रयोग भी पूर्ण रोजगार की प्राप्ति के लिए किया जा सकता है। सरकार सूद की दर मे वृद्धि के द्वारा जनता से अधिक मात्रा मे कर्ज ले सकती है। व्याज की दर मे वृद्धि से लोग अधिक मात्रा मे ऋण देने के लिए प्रोत्साहित होगे। सरकार इस कार्य के लिए ऋण-पत्र इत्यादि जारी कर सकती है। प्रचलित व्याज की दर से व्याज मे थोडी

वृद्धि कर देने से जनता इन पत्रों को अधिकाधिक मात्रा मे खरीद सकती है। यदि इस प्रकार से इच्छित रकम नही प्राप्त हो तो सरकार जनसाधारण से कर्ज के रूप मे भी रकम प्राप्त कर सकती है, जैसे—आर्थिक सकट, युद्ध आदि के समय इस प्रकार के ऋणो का महत्त्व बहुत बढ जाता है।

किन्तु पूर्ण रोजगार के उद्देश्य की पूर्ति के लिए हम सार्वजनिक ऋण पर बहुत अधिक निर्भर नहीं कर सकते। वास्तव मे, ऋणो का महत्त्व तभी समय अधिक रहता है जबकि इन्हें निष्क्रिय कोषो से प्राप्त किया जा सकता है। यदि ऐसा न करके ऋणो को वर्तमान उपभोग में कमी के द्वारा अथवा निजी विनियोग की मात्रा को घटाकर प्राप्त किया जाय तो प्रभावोत्पादक माग पर इनका प्रभाव सतोषजनक नही पडेगा, क्योकि इस प्रकार के ऋण से प्रभावोत्पादक माग मे इच्छित परिमाण मे वृद्धि नहीं भी हो सकती। ऐसी स्थिति मे सार्वजनिक ऋणो को वापिस करके ही प्रभावोत्पादक माग मे वृद्धि की जा सकती है, किन्तु ऐसा तभी हो सकता है जबकि अदा किये ऋण का उपयोग उपभोग अथवा विनियोग को बढाने मे किया जाता हो। इस सम्बन्ध मे ध्यान देने योग्य बात यह हैं कि निम्न तथा मध्यम वर्ग का सार्वजनिक ऋण शीघ्र वापस किया जाना चाहिए, क्योकि इनकी उपभोग की प्रवृत्ति अधिक होती है। इस प्रकार बाह्य ऋण के सम्बन्ध मे भी यह कहा जा सकता है कि इनसे भी सार्वजनिक व्यय को बढाया जा सकता है।

निष्कर्ष —*अन्त मे, यह कहा जा सकता है कि वित्तीय नीति के विभिन्न अस्त्रो* के समुचित प्रयोग से हम आर्थिक स्थायित्व की दिशा मे अग्रसर हो सकते हैं और पूर्ण रोजगार के स्तर मे वृद्धि कर सकते हैं, किन्तु हमे यह न समझना चाहिए कि ये अस्त्र अमोघ अस्त्र हैं। वास्तविकता तो यह है कि इनसे हम आर्थिक स्थायित्व और रोजगार मे वृद्धि तो कर सकते हैं, किन्तु यह नहीं कहा जा सकता है कि हम पूर्ण स्थायित्व एव पूर्ण रोजगार के स्तर को प्राप्त कर ही सकते हैं। हां, इतना अवश्य है कि यदि इनका प्रयोग नहीं किया जाय तो आर्थिक अस्थिरता और शोषण हो सकती है तथा बेकारी इतनी बढ सकती है कि इससे सम्पूर्ण आर्थिक व्यवस्था ही अस्त-व्यस्त हो जाय। अत, आर्थिक स्थायित्व एव पूर्ण रोजगार दोनो ही के हित मे इसका यथासम्भव कम प्रयोग करना आवश्यक है।

विशेष अध्ययन-सूची

1. K. K Kurihara : Monetary Theory and Public Policy, Chapter 5
2. A. H. Hansen : Monetary Theory and Fiscal Policy. Chapters 11, 12 and 13
3. A. H. Hansen : Economic Policy and Full employment, Chapters 11, and 16 to 19.

———

अध्याय : 34

मुद्रा-स्फीति एवं मुद्रा-संकुचन—कारण एवं निदान

(Inflation and Deflation—Causes and Cure)

प्रावकथन—मुद्रा की एक प्रमुख विशेषता यह है कि इसका मूल्य स्थायी नही रहता, इसमे सदा परिवर्तन होते रहते हैं। मुद्रा के मूल्य मे परिवर्त्तन के परिणामस्वरूप वस्तुओ एव सेवाओ के मूल्य-तल मे भी परिवर्तन होता है। मुद्रा के मूल्य एव सामान्य मूल्य-तल (Price-Level) मे ठीक विपरीत सम्बन्ध है। जब सामान्य मूल्य-तल (General Price-Level) मे वृद्धि होती है, तो मुद्रा का मूल्य कम हो जाता है, यानी मुद्रा की प्रत्येक इकाई पहले की अपेक्षा कम ही वस्तुएँ तथा सेवाएँ खरीद सकती है। इसके विपरीत जब सामान्य मूल्य तल मे कमी होती है, तो मुद्रा का मूल्य बढ जाता है, यानी मुद्रा की प्रत्येक इकाई पहले की अपेक्षा अधिक वस्तुएँ तथा सेवाएँ खरीद सकती है। आधुनिक आर्थिक व्यवस्था मे मुद्रा के मूल्य मे एक चक्र (Cycle) की तरह सदा परिवर्तन होते रहता है। मुद्रा-स्फीति (Inflation) एव मुद्रा-सकुचन (Deflation) इस चक्र के दो पक्ष हैं।

मुद्रा-स्फीति का अर्थ (Meaning of Inflation)—मुद्रा-स्फीति (Inflation) की परिभाषा के सम्बन्ध मे आज भी विद्वानो मे पर्याप्त मतभेद है जिससे इसका ठीक-ठीक अर्थ बतलाना कुछ कठिन हो जाता है। **फिर भी, मुद्रा-स्फीति की कुछ प्रमुख परिभाषाएँ इस प्रकार हैं—**

सुप्रसिद्ध विद्वान **केमरर** (Kemmerer) के अनुसार **"यदि मुद्रा की मात्रा अधिक हो एवं वस्तुओं की मात्रा उत्पादन घटने के कारण कम हो जाय तो उस स्थिति को मुद्रा-स्फीति की स्थिति कहते हैं।"**[1] इस परिभाषा से यह स्पष्ट है कि व्यापार के परिमाण की तुलना मे मुद्रा की मात्रा जब अधिक हो जाती है तो इसे मुद्रा स्फीति कहते हैं, यानी जब वस्तुओ एव सेवाओ के परिमाण से मुद्रा की माग बढ जाती है एव मूल्य-स्तर भी बढ जाता है तो इसे मुद्रा-स्फीति की स्थिति कहते हैं, किन्तु केमरर की परिभाषा स्पष्ट रूप से मुद्रा-स्फीति की व्याख्या नही करती। आलोचको के अनुसार केवल मूल्य-तल मे वृद्धि इस बात का सही प्रमाण नही है कि देश मे मुद्रा की पूर्ति व्यवसाय की आवश्यकताओ से अधिक हो रही है जिससे देश मे मुद्रा-स्फीति की स्थिति उत्पन्न हो गयी है।

प्रो० पीगू (Pigou) ने मुद्रा-स्फीति की परिभाषा निम्न प्रकार से दी है—**"जब मौद्रिक आय** (Money Income **उपार्जन-सम्बन्धी क्रियाओं** (Income-earning activities) **से अधिक अनुपात मे बढती है तब मुद्रा-स्फीति की स्थिति उत्पन्न होती है।"** (Inflation exists when money income is expanding more than in proprotion to the income-earning activities—Pigou) पीगू के अनुसार किसी देश की मुद्रा की आपूर्ति मे वृद्धि हो जाने पर यदि उसकी माग पूववत् ही रहे तो समाज मे पूँजी का सचय बढ जाता है जिससे उत्पत्ति के कार्यों के लिए अपेक्षाकृत कम व्याज पर अधिक पूँजी उपलब्ध हो जाती है

---

1 "Inflation is too much money and deposit currency, that is, currency in relation to the physical volume of business being done."—*E W Kemmerer* : ABC of Inflation, P. 6

जिससे उत्पादन के लिए प्रोत्साहन मिलता है। साथ ही, मुद्रा की पूर्ति में वृद्धि होने से समाज की मौद्रिक आय (Money-income) भी बढ जाती है जिससे लोग उपभोग की वस्तुओं की माग अधिक करते हैं और उपभोग की वस्तुओं की मांग मे वृद्धि होने से उत्पादक इनके उत्पादन को बढ़ाने लगते हैं। इससे उत्पादन के साधनो का पूर्ण उपयोग होने लगता है। इन क्रियाओं को पीगू ने उपार्जन-सम्बन्धी क्रियाएँ (Money-earning activities) कहा है। प्रो० पीगू के अनुसार "यदि साधनो के पूर्ण उपयोग के बाद भी मुद्रा की पूर्त्ति या मौद्रिक आय मे वृद्धि जारी रहे तो इससे वस्तुओ एव सेवाओ के उत्पादन मे वृद्धि नही हो सकती। इसके परिणाम-स्वरूप वस्तुओ एव सेवाओ के उत्पादन मे मौद्रिक आय मे वृद्धि के अनुपात में वृद्धि नही होगी। इससे मूल्य-तल मे वृद्धि होने लगती है तथा मुद्रा-स्फीति उस समय होती है जबकि उत्पादन के साधनों द्वारा किये गये कार्य की तुलना मे, जिनके भुगतान के रूप मे मौद्रिक आय प्राप्त होती है, मौद्रिक आय अधिक तेजी के साथ बढ रही हो।" (Inflation is taking place when money income is expanding relatively more than the output of work done by productive agents for which payment is made —Pigou) अतएव, मूल्य मे वृद्धि मुद्रा-स्फीति का एक आवश्यक लक्षण है, किन्तु प्रत्येक स्थिति मे मूल्य-वृद्धि को मुद्रा-स्फीति नहीं कहा जा सकता।

पीगू के अनुसार मूल्य मे वृद्धि क केवल निम्नांकित दशाएँ ही मुद्रा-स्फीति को बतलाती हैं—

(क) जब मौद्रिक आय एवं उत्पादन दोनो मे वृद्धि हो रही है, किन्तु मौद्रिक आय उत्पादन की अपेक्षा अधिक तेजी के साथ बढ रही हो।

(ख) जब मौद्रिक आय मे वृद्धि हो रही हो, किन्तु उत्पादन यथास्थिर या घट रहा हो।

(ग) जब मौद्रिक आय ज्यो-की-त्यो हो, किन्तु उत्पादन घट रहा हो।

(घ) जब मौद्रिक आय एव उत्पादन दोनो घट रहे हो, किन्तु मौद्रिक आय की अपेक्षा उत्पादन अधिक तेजी के साथ घट रहा हो।

सुप्रसिद्ध विद्वान क्राउथर (Crowther) ने मुद्रा-स्फीति की परिभाषा इस प्रकार से दी है—**"मुद्रा-स्फीति (Inflation) वह स्थिति है जिसमें मुद्रा का मूल्य घटता तथा वस्तुओं का मूल्य बढ़ता है।"** (Inflation is a state in which the value of money is falling, i. e., prices are rising—Crowther) यह परिभाषा बहुत ही सरल तथा रोचक है, किन्तु यह मुद्रा-स्फीति की पूर्ण परिभाषा[1] नहीं कही जा सकती; क्योकि मूल्य मे वृद्धि के अनेक कारण हो सकते हैं। साथ ही, मूल्य-तल मे प्रत्येक प्रकार की वृद्धि को मुद्रा-स्फीति नही कहा जा सकता।

मुद्रा-स्फीति के विभिन्न रूप

(Different Types of Inflation)

कारण एव उद्देश्यो के आधार पर अर्थशास्त्रियो ने भिन्न-भिन्न प्रकार की मुद्रा-स्फीति बतलाया है। सुप्रसिद्ध अर्थशास्त्री केन्स (Keynes) के अनुसार साधारण मुद्रा-स्फीति की स्थिति, जिसमे वस्तुओ की कीमतें बढती हैं, को वस्तु-स्फीति (Commodity Inflation) कहा जा सकता है। इसी प्रकार यदि सरकार अपनी आवश्यकताओ को पूरा करने के लिए अधिक मात्रा मे नोट

1. मुद्रा-स्फीति को इस प्रकार से परिभाषित किया जा सकता है—"Paul Einzing के अनुसार "Inflation is an expansionary trend of purchasing power that tends to cause or to be the effect of an increase of the price-level."

छापनी है, जिससे मूल्य मे वृद्धि हो जानी है तो इसे चलन-स्फीति (Currency Inflation) कहा जा सकता है। इस प्रकार की चलन-स्फीति को कुछ लेखको ने 'घाटा-प्रोत्साहित स्फीति' (Deficit-induced Inflation) भी बतलाया है। केन्स के अनुसार कभी-कभी उत्पादन-व्यय तेजी से घटने लगता है जिससे कीमतो में भी ह्रास की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है। इस प्रवृत्ति को रोकने के लिए कभी-कभी सरकार कृत्रिम तरीको से मूल्यों को स्थायी बनाने का प्रयास करती है। ऐसी स्थिति मे कीमतें तो प्राय स्थायी रहती हैं किन्तु उत्पादको का मुनाफा पहले की अपेक्षा अधिक वढ जाना है। इसे केन्स ने लाभ-स्फीति (Profit Inflation) बतलाया है।

मुद्रा-स्फीति के और भी बहुत-से रूप हैं। कभी-कभी सरकार आवश्यकता पडने पर चलन की मात्रा मे वृद्धि नहीं कर साख की माना मे वृद्धि को ही प्रोत्साहित करती है। इससे साख का प्रसार हो जाता है जिससे वस्तुओ एव सेवाओ क मूल्य म वृद्धि होती है। इस प्रकार की स्फीति को साख स्फीति (Credit-Inflation) कहा जाता है। इसी प्रकार कभी कभी मुद्रा की पूर्ति ज्यो-त्यो रहती है, किन्तु उत्पादन बहुत कम हो जाता है जिससे मूल्य-तल मे वृद्धि हो जाती है। मुद्रा-स्फीति की इस स्थिति को उत्पादन स्फीति (Production Inflation) कहते हैं। जब श्रम सघो के दबाव मे आकर मालिकों को अत्यधिक मजदूरी देनी पडती है तो उसका प्रभाव भी मूल्य-तल पर पडता है। इसे 'मजदूरी-प्रोत्साहित-स्फीति' (Wage-Induced Inflation) कहा जाता है।

पूर्ण तथा आंशिक स्फीति :—प्रो० पीगू (Pigu) न पूर्ण-स्फीति (Full-Inflation) एव आशिक-स्फीति (Partial Inflation) म अन्तर बतलाया है। पीगू के अनुसार साधारणतया मूल्य मे वृद्धि से उत्पादन को प्रोत्साहन मिलता है। धनोत्पत्ति मे वृद्धि से उत्पत्ति के साधनो को पूर्ण रोजगार (Full employment) प्राप्त होता है। ऐसी स्थिति मे जब मौद्रिक आय (Mony Income) मे उत्पत्ति कार्यों (Money-earning Activities) की अपेक्षा अधिक तेजी से वृद्धि होती है जिसके परिणामस्वरूप मूल्यो म तेजी से वृद्धि होती चली जाती है, तब उसे पूर्ण स्फीति (Full Inflation) कहा जाता है परन्तु पूर्ण-रोजगार की स्थिति के पूर्व भी मौद्रिक आय मे उत्पत्ति कार्यों की अपेक्षा अधिक तेजी से वृद्धि हो सकती है। ऐसी स्थिति को आशिक स्फीति (Partial Inflation) कहा जाता है।

मूल्यों मे वृद्धि की गति के आधार पर स्फीति के निम्नांकित चार प्रकार होते हैं :—

(क) रेंगती स्फीति (Creeping Inflation) —जब मूल्यों मे धीरे-धीरे वृद्धि होती है तो इसे रेंगनी हुई स्फीति कहते हैं। उदाहरण के लिए, पृष्ठ 328 के चित्र से स्पष्ट है कि 16 वर्षों के समय मे मूल्य-तल मे केवल 10 प्रतिशत की वृद्धि हुई है। इस प्रकार की स्फीति समाज के लिए कोई घातक नहीं होती, किन्तु कुछ अर्थशास्त्रियो के अनुसार ऐसा सोचना ठीक नही है। इन लोगों के अनुसार इस प्रकार की मुद्रा-स्फीति गर्भ-धारण की तरह होती है जो एक बार स्थापित होने के बाद बच्चे के जन्म तक निरन्तर बढती चली जाती है और जिस प्रकार बच्चा थोडी दर बाद चलना-फिरना तथा दौड़ना प्रारम्भ कर देता है, उसी तरह रेंगती हुई स्फीति भी समाज मे कुछ समय बाद भयानक अधिस्फीति की स्थिति उत्पन्न कर देती है।

(ख) चलती स्फीति (Walking Inflation) —इस प्रकार की स्फीति रेंगती स्फीति की अपेक्षा कुछ अधिक तीव्र होती है। अगले पृष्ठ के चित्र मे चलती स्फीति के अन्तर्गत 10 वर्षों में मूल्य-तल में 40 प्रतिशत वृद्धि हो जाती है।

(ग) दौड़ती-स्फीति (Running Inflation) :—इस प्रकार की स्फीति मे मूल्य-तल मे अधिक तेजी के साथ वृद्धि होती है। नीचे के चित्र से स्पष्ट है कि 6 वर्षों मे इस प्रकार की स्फीति मे मूल्य-तल मे 60 प्रतिशत की वृद्धि हुई है।

(घ) अति-स्फीति (Runaway or Hyper-Inflation) :—इस प्रकार की स्फीति मे मूल्य-तल मे अत्यधिक वृद्धि होती है। इसकी कोई सीमा नही होती। प्रथम महायुद्ध के बाद 1923 ई० मे जर्मनी मे जो स्फीति आयी थी, वह इसका सबसे अच्छा उदाहरण था। इसके अन्त-र्गत मूल्य-तल मे कई लाख गुनी वृद्धि हो गयी थी।

निम्नांकित चित्र से इन चारो प्रकार की स्फीतियो के सम्बन्ध मे जानकारी प्राप्त हो जाती है :—
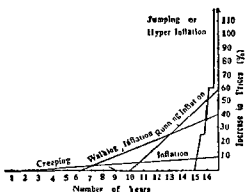
कुछ लेखको के अनुसार मुद्रा-स्फीति खुली (Open Inflation) तथा दमित मुद्रा-स्फीति (Suppressed Inflation) भी हो सकती है। जब मौद्रिक आय मे वृद्धि होने पर उसके व्यय पर कोई नियन्त्रण न लगाया जाता है जिससे वस्तुओ की माग मे अत्यधिक वृद्धि से मूल्य-तल मे वृद्धि होती है तो इसे खुली मुद्रा-स्फीति (Open Inflation) कहते हैं। इसके विपरीत जब बढी हुई मौद्रिक आय को स्वतन्त्रतापूर्वक व्यय नही किया जा सकता है जिससे मूल्य-तल मे वृद्धि नही हो पाती तब इसे दमित मुद्रा-स्फीति (Suppressed Inflation) कहा जाता है। जब खुली या स्वतत्र स्फीति (Open Inflation) पर किसी प्रकार का नियत्रण नही लगाया जाता तो कभी-कभी इस प्रकार की स्फीति प्रचण्ड रूप धारण कर लेती है तथा मूल्य-तल मे अप्रत्याशित वृद्धि होने लगती है। मूल्य बढते-बढते एक ऐसी भी स्थिति आ जाती है जब मुद्रा का मूल्य उस वस्तु से भी कम हो जाता है जिसकी वह बनी हुई होती है। इसे 'अत्यधिक स्फीति' (Hyper Inflation) कहते हैं। जर्मनी मे प्रथम महायुद्ध के बाद इसी प्रकार की स्फीति हुई थी।

इस प्रकार, कारण एव उद्देश्यो के आधार पर मुद्रा-स्फीति विभिन्न प्रकार की होती है जिसमे वस्तु-स्फीति (Commodity Inflation), चलन-स्फीति (Currency Inflation), घाटा प्रोत्साहित-स्फीति (Deficit-induced Inflation), लाभ-स्फीति (Profit Inflation), साख स्फीति (Credit Inflation), मजदूरी-प्रोत्साहित स्फीति (Wage Induced Inflation), पूर्ण स्फीति (Full Inflation), आंशिक स्फीति (Partial Inflation), खुली मुद्रा-स्फीति (Open Inflation) तथा छुपी हुई मुद्रा-स्फीति (Suppressed Inflation) आदि प्रधान हैं।

मुद्रा-स्फीति के कारण
(Causes of Inflation)

मुद्रा-स्फीति साधारणतया मौद्रिक आय के विस्तार अथवा उत्पादन की कमी के कारण होती है। इसके निम्नलिखित लक्षण बतलाये जाते हैं—सरकार के चालू ऋण में वृद्धि, मुद्रा की मात्रा मे वृद्धि, देश की मुद्रा के विनिमय-दर एव मूल्य मे ह्रास तथा सामान्य मूल्य-तल मे वृद्धि। इससे स्पष्ट है कि मुद्रा-स्फीति मौलिक रूप से मुद्रा-प्रसार से ही सम्बन्धित रहती है किन्तु मुद्रा के प्रसार से मूल्य-तल सदा प्रभावित नही होता। यदि मुद्रा के प्रसार के साथ-साथ देश मे उत्पादन एव रोजगार मे भी उसी अनुपात मे वृद्धि हो तो इसका मूल्य-तल पर प्राय कोई प्रभाव नहीं पडेगा। इस प्रकार मुद्रा-प्रसार मुद्रा-स्फीति की पूरी व्याख्या नही कर सकता।

मुद्रा-स्फीति की सृष्टि का प्रधान कारण सम्पूर्ण मौद्रिक माग का सम्पूर्ण मौद्रिक पूर्ति से अधिक होना है। यदि किसी कारणवश समाज की सम्पूर्ण मौद्रिक माग बढ जाय, किन्तु उत्पादन यथास्थित रहे तो इससे मुद्रा-स्फीति की सृष्टि होगी। इस प्रकार केन्स (Keynes) के अनुसार मौद्रिक माग एव पूर्ति मे अन्तर ही मुद्रा-स्फीति का प्रधान कारण है। मौद्रिक मांग एव पूर्ति के अन्तर को *अधिस्फीति-जनक अन्तर (Inflationary gap) कहा जाता है।* **"इस अधिस्फीति-जनक अन्तर के कारणों को निम्नांकित तीन श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है—**

(क) वित्तीय अधिस्फीति (Financial Inflation),

(ख) आय की अधिस्फीति (Income Inflation), तथा

(ग) मौद्रिक अधिस्फीति (Monetary Inflation)।

जब सरकार अपनी आय से अधिक व्यय करती है तो इससे वित्तीय अधिस्फीति की सृष्टि होती है। सरकार को आय से अधिक व्यय करने से बजट मे घाटा (Deficit) होता है जिसकी पूर्ति वह अतिरिक्त मुद्रा जारी कर अथवा जनता या बैंको से ऋण लेकर करती है। ऐसा करने से सम्पूर्ण समाज की मौद्रिक आय एव रोजगारो मे वृद्धि होगी। जब उपभोग की वस्तुओ मे इसी अनुपात मे वृद्धि नही होती है तो इससे अधिस्फीति-जनक अन्तर (Inflationary gap) की सृष्टि होती है। इस प्रकार घाटे की वित्त-व्यवस्था (Deficit financing) से मुद्रा-प्रसार होता है। आधुनिक-युग मे इस प्रकार के बहुत से उदाहरण मिलते हैं। युद्ध के समय सरकार अपने अत्यधिक व्यय को ऋण अथवा अतिरिक्त मुद्रा जारी कर ही पूरा करती है जिससे मुद्रा-स्फीति की सृष्टि होती है। भारत मे भी पचवर्षीय योजनाओ को कार्यान्वित करने के लिए सरकार ने बड़े पैमाने पर घाटे की वित्त-व्यवस्था को अपनाया था, किन्तु उपभोग की वस्तुओ मे इस परिमाण मे वृद्धि नही हुई जिसके परिणामस्वरूप मूल्य-तल मे अत्यधिक वृद्धि हो गयी है।

अधिस्फीति जनक अन्तर (Inflationary gap) की सृष्टि आय मे वृद्धि के कारण भी हो सकती है। जब उत्पादन के सभी साधनो का पारिश्रमिक बढ जाय, किन्तु उत्पादन पूर्ववत् ही रहे तो इससे भी अधिस्फीति-जनक अन्तर की सृष्टि होगी। पारिश्रमिको मे वृद्धि के कई कारण हो सकते हैं। सर्वप्रथम, उत्पादन के अधिकाधिक साधनो को रोजगार मिलने से उनकी मौद्रिक आय मे वृद्धि होगी। इसका दूसरा कारण यह भी हो सकता है कि उपभोग की वस्तुओ का अभाव होने के कारण इनकी कीमत बढ जाती है जिससे मजदूर अधिक मजदूरी की माग करने लगते हैं तथा इनकी मजदूरी बढने से उत्पादन व्यय भी बढ जायगा जिससे वस्तुओ का मूल्य बढ जाता है। इस प्रकार मुद्रा-स्फीति निरन्तर बढती ही जाती है।

मुद्रा-स्फीति के इन विभिन्न रूपों को निम्नांकित चार्ट द्वारा अधिक स्पष्ट किया जाता है—
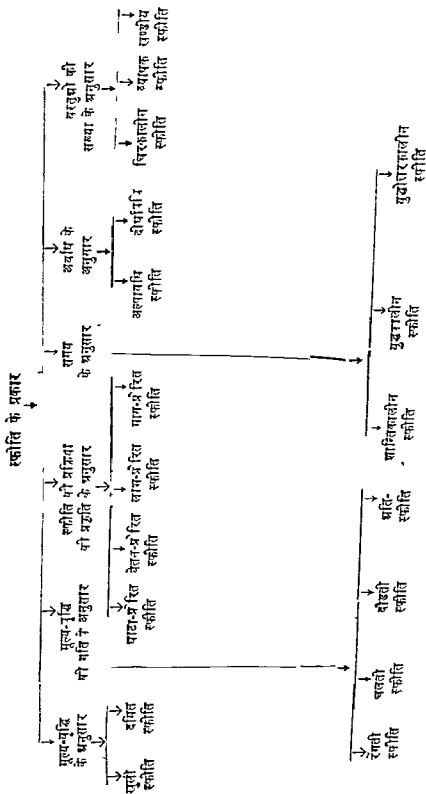
अधि-स्फीति जनक अन्तर की सृष्टि एक तीसरे कारण से भी हो सकती है। समाज म सम्पूर्ण मुद्रा की मात्रा बढ जाने से मौद्रिक माग बढ जाती है, किन्तु उत्पादन मे इस अनुपात मे वृद्धि नहीं हो या कमी हो तो इससे मुद्रा स्फीति की सृष्टि होती है। अतिरिक्त मुद्रा की सृष्टि कई कारणो से होती है, जैसे—घाटे को वित्त-व्यवस्था के कारण आर्थिक व्यवस्था की बढती हुई आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए या परिकल्पना के लिए, किन्तु जब बैंक मुद्रा की सृष्टि व्यवसायियो को ऋण देने के लिए करते हैं तो इससे मुद्रा मे वृद्धि के साथ-साथ उत्पादन मे भी वृद्धि होती है। अतएव, इससे मुद्रा-स्फीति की सम्भावना नही होती। इस प्रकार जब अतिरिक्त मुद्रा की सृष्टि अनुत्पादक कार्यों अथवा परिकल्पना के लिए की जाती है तो इससे मुद्रा-स्फीति की सृष्टि होती है।

मुद्रा-स्फीति के दोष

(Evils of Inflation)

मुद्रा स्फीति का समाज पर बडा ही घातक प्रभाव पडता है। इससे आर्थिक व्यवस्था के प्राय सभी अग प्रभावित होते है। मुद्रा-स्फीति से समाज मे धन एव आय का अन्यायपूर्ण वितरण होता है। इसीलिए प्रो० वकील (C N Vakil) ने इसकी तुलना एक ऐसे डाकू से की है जो अदृश्य रहते हुए भी एक ही समय सम्पूर्ण राष्ट्र को लूटता है। (Inflation may be compared to robbery, both deprive their victim of some possession with the difference that the robber is visible, inflation is invisible, the robber's victim may be one or few at a time, the victims of inflation are the whole nation, the robber may be dragged to a court of law, inflation is legal—C N Vakil) मुद्रा-स्फीति की कठिनाइयो का अनुभव समाज के प्राय सभी व्यक्ति तथा वर्ग के लोग करते हैं।

किन्तु, मुद्रा-स्फीति समाज के कुछ वर्गों के लिए लाभदायक तथा कुछ वर्गो के लिए हानिकारक भी सिद्ध होती है। उदाहरण के लिए स्थायी आयवाले वर्ग पर इसका सबसे बुरा प्रभाव पडता है। मुद्रा-स्फीति के कारण इस वर्ग की वास्तविक आय बहुत कम हो जाती है। मध्यम वर्ग भी इससे बहुत अधिक प्रभावित होता है। केमरर (Kemmerer) के अनुसार, 'मध्यम वर्ग जो अपने बडे परिश्रम एव बचाने की आदत द्वारा अपने बच्चो की शिक्षा एव बीमारी तथा वृद्धावस्था का सामना करने के उद्देश्य से बचत का सचय करता है मुद्रा-स्फीति के दिनो मे अपने को गम्भीर स्थिति मे पाता है। आय की तुलना मे रहन-सहन का स्तर बढ जाता है तथा इसकी सारी बचत समाप्त हो जाती है। कठिन परिश्रम, स्वतन्त्रता एव बचाने की आदत झूठे देवता के समान हो जाते है। ऐसी स्थिति में मध्यम वर्ग पर निराशा एव असफलता के झूठे बादल छा जाते हैं।" (The middle class, however, which by hard work and thrift has built up a fund of savings to its children and to provide a livelihood for times of sickness and for old age, finds itself in desperate situation in a time of serious inflation The cost of living rises disproportionately to income, savings are wiped out and hard work, independence and thrift seem to be the false God Under such conditions the middle class is overwhelmed by a sense of futility and desperation)

वास्तव मे, मुद्रा-स्फीति के सबसे बडे शिकार मध्यम वर्ग के वे लोग होते हैं जो हर समाज की आधारशिला होते हैं। मुद्रा-स्फीति के कारण ही प्रथम महायुद्ध के बादवाले समय मे जर्मनी आदि देशो में मध्यम वर्ग प्राय समाप्त ही हो गया था।

आर्थिक कठिनाइयो के अतिरिक्त मुद्रा स्फीति से व्यक्तियो का नैतिक पतन भी होता है। समाज मे धन एव आय के अन्यायपूर्ण तरीके से पुनर्वितरण के द्वारा मुद्रा-स्फीति जनता मे सरकार तथा नैतिकता के प्रति अविश्वास उत्पन्न कर देती है। समाज मे जिन लोगो की आय तथा सम्पत्ति मुद्रा-स्फीति के कारण समाप्त हो जाती है वे सरकार के कट्टर विरोधी बन जाते हैं। मुद्रा स्फीति से लोगो का नैतिक पतन भी हो जाता है। इसी के कारण प्रथम महायुद्ध के बाद जर्मनी मे गम्भीर नैतिक पतन की स्थिति उत्पन्न हो गयी थी। जर्मनी मे उन दिनो लोगो म इतना अधिक नैतिक पतन हो गया था कि पुरुष स्त्रियो के वस्त्र पहनकर बर्लिन के नाच घरो मे पुलिस

अफसरो से आँख बचाकर नाचा करते थे। बर्लिन की नवयुवतियाँ अपने दोषो की धर्म-शास्त्रीय ढग से व्याख्या करती थी। सोलह वर्ष की उम्र तक पवित्र कुमारी रहना उन दिनो बर्लिन मे लज्जाजनक समझा जाता था। अतएव, प्रत्येक लडकी अपने दूषित अनुभवो को बताने मे गर्व का अनुभव करती थी।[1]

मुद्रा स्फीति से यद्यपि ऋणी, उत्पादक तथा व्यापारी वर्ग लाभान्वित होता है, फिर भी, विनियोगी एव साहूकार वर्ग को इससे बहुत अधिक हानि होती है। मुद्रा-स्फीति के कारण इनके विनियोग का वास्तविक मूल्य कम हो जाता है। साथ ही, श्रमिक तथा नौकरी पेशेवालो को मुद्रा-स्फीति के कारण अधिक कठिनाइयो का सामना करना पडता है। इसमे सन्देह नही कि मुद्रा-स्फीति के कारण रोजगार से साधनो मे वृद्धि होती है जिससे अधिक-से अधिक मात्रा मे श्रमिको को रोजगार मिलता है, किन्तु फिर भी, मुद्रा के मूल्य मे अत्यधिक वद्धि के कारण इनकी वास्तविक आय बहुत कम हो जाती है जिससे इन्हें घोर कठिनाइयो का सामना करना पडता है।

इस प्रकार मुद्रा-स्फीति के भयानक आर्थिक एव नैतिक परिणाम होते हैं। अतएव, मुद्रा-स्फीति किसी भी प्रकार की क्यो न हो, इसके इतने गम्भीर परिणाम होते हैं कि इसके निराकरण के उपायो की तलाश मे कभी देर नही करनी चाहिए। वास्तव मे, यह एक एसी खतरनाक बीमारी है जो समय व्यतीत होने के साथ-साथ अधिक गम्भीर होती जाती है। इस सम्बन्ध मे हमारी सबसे बडी भूल यह है कि हम यह विचारने लगते हैं कि थोडी-सी मुद्रा-स्फीति अच्छी होती है। वास्तव मे, यदि एक बार रेंगते हुए मुद्रा-प्रसार को समाज स्वीकार कर लेता है तब कुछ ही समय पश्चात यह बच्चा रेंगना बन्द करके चलने, दौडने तथा कूदने लगता है।

मुद्रा-स्फीति का नियन्त्रण

(Control of Inflation)

इस प्रकार मुद्रा-स्फीति समाज के लिए आर्थिक, सामाजिक एव नैतिक दृष्टि से बहुत ही हानिकारक सिद्ध होती है, अतएव, इसका नियन्त्रण अनिवार्य है। मुद्रा स्फीति के नियन्त्रण के लिए निम्नलिखित तरीको का प्रयोग किया जा सकता है —

(1) **मौद्रिक नीति (Monetary Policy) एव साख-नियन्त्रण का प्रयोग :**—मुद्रा-स्फीति प्रधानतया मुद्रा अथवा साख की मात्रा मे वृद्धि का ही परिणाम है, अतएव मुद्रा स्फीति के नियन्त्रण मे मौद्रिक नीति एव साख-नियन्त्रण के साधनो का बडा ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। मुद्रा एव साख की मात्रा को नियन्त्रित कर मूल्य-तल मे वृद्धि की प्रवृत्ति को रोका जा सकता है, किन्तु मुद्रा स्फीति के नियन्त्रण के लिए मौद्रिक अस्त्रो का प्रयोग तभी सफल हो सकता है जब इसका प्रयोग अधिक तीव्रता के साथ किया जाय। इसके प्रयोग मे बहुत अधिक सावधानी से कार्य लेना अनिवार्य है। मुद्रा-स्फीति की स्थिति मे विनियोग एव उपभोग को कम करने के लिए सूद की दर मे बहुत अधिक वृद्धि करनी होगी, किन्तु इससे सम्पूर्ण मुद्रा-बाजार के अव्यवस्थित होने का भय बना रहता है। इससे विश्वास की भावना को भी आघात पहुँचता है। इस प्रकार मुद्रा-स्फीति के निदान के लिए केवल मौद्रिक नीति का प्रयोग प्राय बिल्कुल असफल सिद्ध होता है। कभी-कभी तो इसका परिणाम बहुत ही घातक भी होता है। इस प्रकार मुद्रा एव साख की मात्रा मे अत्यधिक कमी से मुद्रा स्फीति की प्रवृत्ति को रोका अवश्य जा सकता है, किन्तु यह तरीका बडा ही भयानक है। यह रोगी को स्वस्थ बनाने की बजाय उसकी जान ही ले लेता है।

सुप्रसिद्ध विद्वान हैनसेन (Hansen) के शब्दो मे, **'यदि 'मौद्रिक नीति का अल्प प्रयोग किया जाय तो यह असफल होती है तथा यदि इसे तीव्र गति से प्रयोग किया जाय तो महान सकट की स्थिति उत्पन्न हो सकती है।''** [Moderately used, it (monetary policy) courts the failure of ineffectiveness, pushed to the needed financial extremes, it courts disaster]

1 "Young girls bragged proudly of their perversion, to be sixteen and under, the suspicion of virginity would have been considered disgrace in any s ool of Berlin at that time Every girl wanted to tell of her adventures and the more exotic, the better."—Quoted by *S. K Muranjan*

(2) **वित्तीय नीति** (Fiscal Policy) — मुद्रा स्फीति के नियन्त्रण मे वित्तीय नीति का बडा अधिक महत्त्व है। मुद्रा स्फीति का प्रधान कारण मुद्रा की मात्रा मे वृद्धि के अनुरूप वस्तुओ तथा सेवाओ की मात्रा मे वृद्धि का अभाव है। इससे लोगो के हाथ मे क्रय शक्ति बढ जाती है जिससे मूल्य-तल मे वृद्धि होने लगती है। अतएव, यदि वित्तीय तरीको द्वारा इस अतिरिक्त क्रय शक्ति को बाजार पहुँचने के पहले ही कर अथवा बलात ऋण (Forced loan) के रूप मे सरकार ले ले तो इससे मूल्य-तल में वृद्धि नही हो पायगी। इस प्रकार वित्तीय नीति के अन्तगत सर्वप्रथम प्रयास प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष करो मे वृद्धि का होना चाहिए जिससे अतिरिक्त क्रय शक्ति को बाजार पहुँचने के पूर्व ही ले लिया जा सकता है।

वित्तीय नीति के अन्तगत मुद्रा-स्फीति के नियन्त्रण मे बचतवाले बजट (Surplus Budget) का भी बहुत अधिक महत्त्व है। बचतवाले बजट के द्वारा सम्पूर्ण मौद्रिक व्यय मे कमी लायी जा सकती है। साथ ही, सरकार अनावश्यक पूँजी-व्यय को कम कर भी समाज के मौद्रिक व्यय मे कमी ला सकती है।

इस प्रकार मुद्रा-स्फीति के नियन्त्रण मे वित्तीय नीति का महत्त्वपूर्ण स्थान है किन्तु अकेले वित्तीय नीति द्वारा भी मुद्रा-स्फीति का निदान नही किया जा सकता। वास्तव मे, मौद्रिक एव वित्तीय नीति, दोनो के सम्मिश्रण से ही इस क्षेत्र मे पर्याप्त सफलता मिलती है।

(3) **प्रत्यक्ष आर्थिक नियन्त्रण** (Direct Economic Control) मुद्रा स्फीति के नियन्त्रण मे प्रत्यक्ष आर्थिक नियन्त्रण का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। उत्पादन के जिन साधनो का अभाव है उनके वितरण पर इस प्रकार का नियत्रण लगाया जाय कि उनका उपभोग केवल आवश्यक कार्यो म ही हो। साथ ही, आवश्यक उपभोक्ता वस्तुओ, जैसे—अन्न, वस्त्र इत्यादि के वितरण पर भी मूल्य-नियन्त्रण तथा राशनिंग अनिवार्य है। इससे मूल्य-तल मे अत्यधिक वृद्धि की प्रवृत्ति उत्पन्न हो सकती है, किन्तु *मूल्य-नियन्त्रण एव राशनिंग (Price Control and Rationing)* की नीति मे अति सावधानी से काम लेना चाहिए, नही तो इससे काला बाजार जैसी असामाजिक प्रवृत्तियो को प्रश्रय मिलता है।

(4) **मजदूरी की वृद्धि पर नियन्त्रण** —मुद्रा स्फीति की सृष्टि मजदूरी मे उत्पादकता की अपेक्षा अधिक वृद्धि होने के कारण भी होती है। अतएव, मुद्रा-स्फीति को रोकने के लिए मजदूरी की दर को स्थायी बनाना (Wage freeze) भी आवश्यक है किन्तु इसके साथ ही मुनाफा पर नियन्त्रण भी लगाना चाहिए तथा अतिरिक्त मुनाफा कर (Excess Profit Tax) के द्वारा अतिरिक्त मुनाफे की रकम को वसूल लेने का प्रयत्न होना चाहिए। मुनाफे पर नियन्त्रण नही होने से मजदूर भी मजदूरी की दर मे वृद्धि की माग करेंगे।

(5) **उत्पादन को प्रोत्साहित करना** — मुद्रा स्फीति के समय प्राय कुछ आवश्यक उपभोक्ता वस्तुओ, जैसे—अन्न, कपडा आदि की कमी हो जाती है। इनके उचित वितरण के लिए नियन्त्रण तथा राशनिंग की प्रथा अपनायी जा सकती है, किन्तु इस समस्या का कोई स्थायी हल नही हो पाता। इसका सबसे उपयुक्त उपाय इन आवश्यक वस्तुओ के उत्पादन मे वृद्धि को प्रोत्साहित करना है।

(6) मुद्रा स्फीति के नियन्त्रण के लिए **उपभोक्ता साख** (Consumer's Credit) एव **सट्टेबाजी** (Speculation) पर नियन्त्रण भी अनिवार्य होना चाहिए।

उपरोक्त उपायो द्वारा मुद्रा-स्फीति का नियन्त्रण किया जा सकता है। इन उपायो मे मौद्रिक एव वित्तीय नीति का ही बहुत अधिक महत्त्व है। बहुत से विद्वानो की यह धारणा है कि मौद्रिक नीति के सफल प्रयोग द्वारा ही मुद्रा-स्फीति को नियन्त्रित किया जा सकता है, किन्तु इस प्रकार की धारणा वास्तव मे यथार्थ नही है। मुद्रा-स्फीति के नियन्त्रण मे मौद्रिक नीति का महत्त्वपूर्ण स्थान अवश्य है, किन्तु जैसा कि हैन्सन (*Hansen*) का कहना है, "**मुद्रा-स्फीति को समाप्त करने के लिए अकेले मौद्रिक नीति पर जोर देना निश्चत ही खतरनाक सिद्ध होता है। अतएव, इस समस्या के समाधान के लिए कई उपायों पर एक साथ जोर देना अनिवार्य है।**' (Exclusive reliance upon monetary policy as the means to cope with inflation is a dangerously one-sided weapon A many-sided attack on the problem is needed)

मुद्रा-संकुचन
(Deflation)

मुद्रा-संकुचन का अर्थ (Meaning of Deflation) :—मुद्रा-संकुचन मुद्रा-स्फीति के ठीक विपरीत की स्थिति है। मुद्रा संकुचन में मूल्य-तल में ह्रास होता है। मुद्रा स्फीति की तरह मुद्रा-संकुचन की भी बहुत-सी परिभाषाएँ दी जाती हैं। प्रो० पीगू के अनुसार, "जब किसी समाज की मौद्रिक आय की तुलना में वहाँ पर वस्तुओं एवं सेवाओं का उत्पादन बहुत तेजी से बढ़ता है तो मुद्रा की क्रय-शक्ति बढ़ जाती है अथवा वस्तुओं एवं सेवाओं का मूल्य गिर जाता है। मूल्य-तल में कमी की इस स्थिति को मुद्रा-संकुचन अथवा मुद्रा-अपस्फीति (Deflation) कहते हैं।" क्राउथर (Crowther) के अनुसार "मुद्रा संकुचन या अपस्फीति वह स्थिति है जिसमें मुद्रा का मूल्य बढ़ते जाता है तथा वस्तुओं का मूल्य घटता है।" (Deflation is a state in which the value of money is rising i. e , prices are falling.)

इससे स्पष्ट है कि मूल्य-तल में ह्रास की प्रवृत्ति को ही मुद्रा संकुचन कहते हैं, किन्तु मूल्य-तल में ह्रास की केवल निम्नलिखित दशाएँ ही मुद्रा-संकुचन की स्थिति को बतलाती हैं :—

(1) जब मौद्रिक आय घटती है, किन्तु उत्पादन यथास्थिर रहता है;
(2) जब मौद्रिक आय में उत्पादन की अपेक्षा अधिक कमी होती है,
(3) जब उत्पादन बढ़ता है, परन्तु मौद्रिक आय यथास्थिर रहती है,
(4) जब उत्पादन मौद्रिक आय की अपेक्षा तेजी से बढ़ता है, तथा
(5) जब उत्पादन बढ़ता है और मौद्रिक आय घटती है।

मुद्रा-संकुचन के कारण (Causes of Deflation) :—किसी देश में साधारणतया मुद्रा संकुचन की स्थिति निम्नांकित कारणों से उत्पन्न होती है :—

(1) बैंक-दर से वृद्धि :—मुद्रा-अपस्फीति की दशा न केवल चलन (Currency) की मात्रा को कम करके, वरन् साख की मात्रा को कम करके भी उत्पन्न की जा सकती है। जब केन्द्रीय बैंक बैंक-दर (Bank Rate) को बढ़ा देता है तब इसका परिणाम यह होता है कि देश की अन्य बैंकिंग संस्थाएँ भी अपनी ब्याज की दर बढ़ा देती हैं जिससे देश में साख की मात्रा में कमी हो जाती है।

(2) खुले बाजार की क्रियाएँ एवं केन्द्रीय बैंक की अन्य साख नियन्त्रण-सम्बन्धी नीतियाँ :—केन्द्रीय बैंक खुले बाजार की क्रियाओं (Open Market Operations) की नीति अपनाकर भी समाज में साख की मात्रा को कम कर देता है, जिसका विस्फीतिक प्रभाव होता है। केन्द्रीय बैंक अन्य साधनों को अपना कर, जैसे—बैंकों के रक्षित कोष की मात्रा को अधिक कर, ऋण पत्रों को बेचकर आदि भी साख की मात्रा को कम कर सकता है जिसका विस्फीतिक प्रभाव पड़ता है।

(3) करारोपण तथा ऋण लेना :—सरकार भारी करारोपण (Taxation) की नीति अपनाकर या जनता से ऐच्छिक या अनिवार्य रूप से ऋण लेकर चलन की मात्रा में कमी कर सकती है जिसका देश में विस्फीतिजनक प्रभाव पड़ सकता है।

(4) चलन की मात्रा को कम करना :—सरकार अपरिवर्तनशील पत्र-मुद्रा रद्द करके या प्रत्येक प्रकार की मुद्रा के परिमाण में कमी करके विस्फीतिक स्थिति उत्पन्न कर सकती है। कभी-कभी मुद्रा की मात्रा स्थिर रहने हुए भी वस्तुओं एवं सेवाओं की मात्रा में वृद्धि हो जाने पर विस्फीतिक प्रभाव पड़ता है, क्योंकि विनिमय के लिए वस्तुएँ अधिक हो जाने पर मुद्रा की क्रय-शक्ति बढ़ जाती है और मूल्यों में कमी हो जाती है।

(5) चलन की मात्रा के यथास्थिर रहने पर भी यदि वस्तुओं की मात्रा में वृद्धि हो जाय तो इससे भी मूल्य-तल में कमी आ सकती है।

मुद्रा-संकुचन के परिणाम :—मुद्रा-संकुचन के परिणाम ठीक मुद्रा-स्फीति के विपरीत होते हैं। मुद्रा-संकुचन मानव के लिए कितना कष्टदायक हो सकता है, यह 1930 ई० एवं बाद की भयानक आर्थिक मन्दी से स्पष्ट हो जाता है। मुद्रा-संकुचन के समय आर्थिक क्रिया-

शीलता मन्द पड जाती है और आर्थिक क्रियाशीलता मे मन्दी के कारण बहुत-से लोग बेकार पड जाते हैं। तीसा की भयानक मन्दी के निम्नतम छोर पर सयुक्त राज्य अमेरिका मे प्राय 15 करोड व्यक्ति बेकार थे। करोडो अमेरिकावासी किसी भी मजदूरी पर काम करने के लिए मारे फिरते थे जबकि प्रायः सभी व्यावसायिक भवनो मे 'No Help Wanted' का बोर्ड टगा पाते थे। ससार के सभी देशो मे प्रायः यही बात थी और जैसा कि हम जानते हैं बेकारी मानव समुदाय का सबसे बडा दुश्मन है। बेकारी के समय उत्पादन कम हो जाता है जिससे लोगो की कार्यक्षमता घट जाती है। इतना ही नही, बेकार व्यक्ति देशद्रोही बनकर देश एव समाज की शाति भग कर सकता है। इस प्रकार आर्थिक परिणाम के अतिरिक्त मुद्रा-अपस्फीति के भयानक राजनीतिक, नैतिक एव सामाजिक परिणाम भी होते हैं। इसीलिए, केन्स (Keynes) ने तो यहाँ तक कहा था कि बेकार व्यक्तियो को यदि समाज उत्पादक कार्य नही प्रदान कर सकता है तो अनुत्पादक कार्य मे लगाना भी बेकारी की अपेक्षा अधिक उत्तम होता है। इसलिए उनके विचार मे दिन भर गड्ढे खोदना तथा सायकाल उसे भर देना, यद्यपि बिलकुल अनुत्पादक कार्य है, फिर भी, बेकारी की तुलना मे कही अधिक अच्छा है।

मुद्रा-सकुचन का सबसे बुरा परिणाम व्यापारियो तथा किसानो पर पडता है। मूल्य-तल मे निरन्तर ह्रास के कारण सदा व्यापारियो को हानि की सभावना बनी रहती है। इसलिए, वे उत्पादन कम अथवा बन्द कर देते हैं। किसान तो इससे अधिक प्रभावित होते हैं। कृषि-पदार्थों के मूल्य मे सबसे अधिक एव शीघ्रता के साथ कमी होती है। इससे किसानो को सबसे अधिक हानि होती है। श्रमिको को भी उत्पादन मे कमी से बेकारी का सामना करना पडता है। इस प्रकार मुद्रा-सकुचन का समाज के विभिन्न वर्गों पर बहुत ही बुरा प्रभाव पडता है। मुद्रा-सकुचन के समय देश की राष्ट्रीय आय कम होने लगती है जिससे लोगो की आर्थिक कठिनाइयाँ बहुत बढ जाती हैं।

मुद्रा-संकुचन का नियन्त्रण

(Control of Deflation)

मुद्रा-सकुचन साधारणतया देश मे क्रय शक्ति अथवा मुद्रा की मात्रा मे कमी होने से ही उत्पन्न होता है, किन्तु कभी-कभी अति-उत्पादन (Over-production) के कारण भी मुद्रा-सकुचन की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। अतएव मुद्रा-सकुचन के नियन्त्रण के विभिन्न उपाय मुद्रा एव साख मे वृद्धि से ही सम्बन्धित हैं। इसके निम्नलिखित प्रधान उपाय हैं —

(1) सरकारी व्यय में वृद्धि :— देश मे क्रय-शक्ति के अभाव को दूर करने के लिए सरकारी व्यय मे वृद्धि भी अनिवार्य है। सरकार नयी-नयी योजनाएँ बनाकर अधिक व्यय कर सकती है जिससे रोजगार मे वृद्धि होती है और परिणामस्वरूप जनता की मौद्रिक आय मे भी वृद्धि होती है। इससे मूल्य-तल मे वृद्धि को प्रश्रय मिलता है। अमेरिका मे 1929-31 ई० की महान् आर्थिक मन्दी (Great Economic Depression) मे प्रेसिडेन्ट रूजवेल्ट ने न्यु डील (New Deal) की जो नीति अपनायी थी उसके अन्तर्गत सडक, सिंचाई के साधन आदि सार्वजनिक कार्यों के निर्माण पर सरकार द्वारा बहुत अधिक रकम व्यय की जाती थी।

(2) साख का प्रसार :—मुद्रा-सकुचन की स्थिति के नियन्त्रण के लिए साख का प्रसार भी एक प्रधान उपाय है। केन्द्रीय बैंक बैंक-दर (Bank rate) को कम करके या खुले बाजार (Open market operation) की नीति को अपनाकर या अन्य तरीको के द्वारा साख के विस्तार को प्रोत्साहित कर सकता है। साख के विस्तार से जनता के हाथ में जो अतिरिक्त क्रय-शक्ति आती है उससे मूल्य-तल मे वृद्धि की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है।

(3) कर में छूट :— सरकार विभिन्न प्रकार के करो मे छूट देकर पूँजी के सचय को प्रोत्साहित कर सकती है। इससे उत्पादन में भी वृद्धि होगी जिससे रोजगार बढेगा तथा जनता की क्रय-शक्ति में वृद्धि होगी।

(4) आर्थिक सहायता देना :—सरकार आर्थिक सहायता (Bounty) प्रदान कर भी उत्पादन में वृद्धि के लिए प्रोत्साहन प्रदान कर सकती है। उत्पादको को इस प्रकार उत्पादन में

वृद्धि के लिए प्रोत्साहित किया जा सकता है जिससे जनता के हाथ में अतिरिक्त क्रय-शक्ति का संचार होगा तथा मूल्य-तल में वृद्धि होने लगेगी।

(5) उत्पादित वस्तुओं को नष्ट करना :—कभी-कभी मुद्रा-संकुचन अति-उत्पादन (Over-production) के कारण भी होता है। ऐसी स्थिति में जिस वस्तु का अधिक उत्पादन हुआ हो उसकी अतिरिक्त मात्रा को नष्ट कर भी मूल्य-तल मे ह्रास की प्रवृत्ति को रोका जा सकता है। संयुक्त राज्य अमेरिका मे महान् आर्थिक मन्दी-काल मे इस तरीके का भी प्रयोग किया गया था। इस सम्बन्ध मे निर्यात के प्रोत्साहन का भी अधिक महत्त्व है।

मुद्रा-संस्फीति एवं मुद्रा-विस्फीति

(Reflation and Disinflation)

मुद्रा-संस्फीति (Reflation)—प्रो० जी० डी० एच० कोल (G. D. H. Cole) के अनुसार "जब मन्दी के प्रभावों को दूर करने के लिए जान बूझकर मुद्रा-प्रसार किया जाता है तब इसे संस्फीति कहते हैं।" (Reflation may be defined as inflation deliberately undertaken to relieve a depression) दूसरे शब्दों मे, नियन्त्रित मुद्रा-प्रसार को ही संस्फीति (Reflation) कहा जा सकता है। जब कभी सरकार यह अनुभव करती है कि मुद्रा-संकुचन के कारण मूल्यों मे अत्यधिक कमी हो गयी है जिससे आर्थिक क्रियाशीलता मन्द हो गयी है, तब समाज के आर्थिक जीवन की रक्षा के हेतु सरकार धीरे-धीरे मुद्रा का प्रसार करती है ताकि मूल्य-तल मे धीरे-धीरे वृद्धि हो और आर्थिक क्रियाओं को भी प्रोत्साहन मिले। इस प्रकार मन्दी को दूर करने के लिए मुद्रा की मात्रा मे की जानेवाली वृद्धि को मुद्रा-संस्फीति (Reflation) कहते हैं। ऐसे अर्थशास्त्री जो मन्दी का कारण मुद्रा का अभाव बतलाते हैं वे मन्दी को दूर करने के लिए संस्फीति को ही मुख्य उपाय मानते हैं।

मुद्रा-स्फीति एवं मुद्रा-संस्फीति में निम्नांकित प्रधान अन्तर हैं (Distinction between Inflation and Reflation)—(i) मुद्रा-स्फीति मे मूल्य-तल मे वृद्धि बहुत तेजी से होती है, परन्तु मुद्रा-संस्फीति मे मूल्य-तल मे वृद्धि बहुत धीरे-धीरे होती है। (ii) मुद्रा-स्फीति मे मूल्य-तल मे वृद्धि सामान्य मूल्य-तल से अधिक होती है, किन्तु संस्फीति मे मूल्य मे वृद्धि प्रायः सामान्य मूल्य-तल तक ही होती है। इस प्रकार मुद्रा संस्फीति तब होती है जबकि मूल्य-तल मे बहुत कमी हो जाती है और इस कमी को दूर करने के लिए मुद्रा-संकुचन मे सुधार किया जाता है। संस्फीति मे मुद्रा की मात्रा मे वृद्धि उसी सीमा तक की जाती है, जहाँ तक कि मूल्य-तल मे वृद्धि सामान्य मूल्य-स्तर तक होती है। यदि इस सीमा के पश्चात् भी मुद्रा की मात्रा मे वृद्धि की जाती है, तब इसे संस्फीति नही कह कर स्फीति कहते हैं। (iii) स्फीति के परिणाम घातक होते हैं, इसके विपरीत संस्फीति के परिणाम इतने घातक नहीं होते, वरन् यह देश को मन्दी-काल से निकाल कर आर्थिक पुनरुत्थान की ओर ले जाती है जिससे देश मे आर्थिक क्रियाशीलता बढ जाती है। इस प्रकार संस्फीति से बेरोजगारी की समस्या हल हो जाती है, उत्पत्ति के अन्य साधनो को कार्य मिल जाता है तथा समाज के आर्थिक जीवन मे एक नयी आशा का संचार हो जाता है।

मुद्रा-विस्फीति (Disinflation)—मुद्रा-विस्फीति कुछ समय से बहुत अधिक प्रचलित हो गयी है। जिस प्रकार मुद्रा-संकुचन (Deflation) के सुधार को संस्फीति (Reflation) कहते है, ठीक उसी प्रकार मुद्रा-स्फीति (Inflation) के सुधार को विस्फीति (Disinflation) कहा जाता है। युद्ध तथा युद्धोत्तर काल मे संसार के प्रत्येक देश के मूल्य-तल मे अत्यधिक वृद्धि हुई थी। इसलिए यह आवश्यक समझा गया कि प्रत्येक देश की सरकार को एक ऐसी नीति अपनानी चाहिए जिससे मूल्य-तल मे एक उचित स्तर तक कमी हो जाय। **अतः जब मुद्रा-स्फीति एक प्रचण्ड रूप धारण कर लेती है और मूल्य-तल में अत्यधिक वृद्धि हो जाती है तब वे सब उपाय, नीतियाँ तथा क्रियाएँ जिनसे मूल्य-तल की वृद्धि को घटाकर एक सामान्य स्तर तक लाया जाता है, मुद्रा-स्फीति कहलाती हैं।**

मुद्रा-विस्फीति तथा मुद्रा-संकुचन में अन्तर (Distinction between Disinflation and Deflation)—यद्यपि विस्फीति और संकुचन दोनों का उद्देश्य मूल्य-तल को कम करना होता है और इस तरह दोनो के कारण भी प्रायः एक ही हैं, तथापि इस समानता के बावजूद इन

दोनों में निम्नांकित महत्त्वपूर्ण अन्तर हैं—(i) मुद्रा-अपस्फीति या संकुचन मुद्रा-स्फीति की तरह प्राकृतिक (Natural) तथा ऐच्छिक दोनों प्रकार की हो सकती है, किन्तु विस्फीति सदा ही ऐच्छिक (Voluntary), अर्थात् बनावटी होती है। परिणामत विस्फीति में मूल्य कम किये जाते हैं। (ii) मुद्रा-विस्फीति में मूल्य-तल को सामान्य स्तर तक ही घटाया जाता है परन्तु मुद्रा-अपस्फीति में मूल्य-तल में कमी सामान्य मूल्य-स्तर से भी नीचे तक हो सकती है। (iii) मुद्रा-विस्फीति की नीति उस समय अपनायी जाती है जब कि मुद्रा-स्फीति एक प्रचण्ड रूप धारण कर लेती है परन्तु मुद्रा-संकुचन की नीति का उपयोग मुद्रा स्फीति से उत्पन्न होने वाली परिस्थितियों को ठीक करने के लिए नहीं किया जाता। (iv) मुद्रा-संकुचन में उत्पादन के घट जाने से बेकारी बढ़ जाती है, किन्तु विस्फीति में इस प्रकार के दोष नहीं पाये जाते हैं क्योंकि इसमें सरकार मूल्य तथा उत्पादन व्यय का इस प्रकार से समायोजन करती है कि देश में बेरोजगारी नहीं होने पाए।

विशेष अध्ययन-सूची

1. Crowther An Outline of Money, Chapter III.
2. Kurihara Monetary Theory and Public Policy, Chapters IV & V
3. Kremmerer : The A B C of Inflation, Chapters I & IV to XI
4. Wright : Inflation and After

अध्याय : 35

केन्स का सामान्य सिद्धान्त

(Keyne's General Theory)

"It is a matter of gudgement whether the General Theory is simply classical economics, further developed or embroide ed or whether Keynesian economics represents a genuine break."—*S. E. Harris, The New Economics, p 55*

प्राक्कथन—आधुनिक आर्थिक विचारधारा बहुत कुछ केन्स एवं उनके अनुयायियो के विचारो से प्रभावित हुई है। अतएव केन्स के सामान्य सिद्धान्त के सम्बन्ध मे थोडी-बहुत जानकारी अनिवार्य है। जॉन मेनर्ड केन्स (John Maynard Keynes) का जन्म 1883 ई० तथा देहान्त 1946 ई० मे हुआ था। वह एक अग्रेज अर्थशास्त्री था जिसने मार्शल की परम्परा मे कैम्ब्रिज मे शिक्षा प्राप्त की थी तथा वही पर अधिकांश समय तक अध्यापन का भी कार्य किया था। 1936 ई० मे उसकी सुप्रसिद्ध पुस्तक 'General Theory of Employment, Interest and Money' प्रकाशित हुई जिसे सामान्य रूप से 'General Theory' भी कहा जाता है। इस पुस्तक के प्रकाशन से आर्थिक चिंतन के क्षेत्र मे एक अभूतपूर्व हलचल की सृष्टि हुई। इसके प्रकाशन से आर्थिक विचारधारा तथा नियमों के एक नवीन युग का शुभारम्भ होता है तथा तब से लेकर आज तक केन्स की मान्यताओ के पक्ष एव विपक्ष मे अनेकों तर्क प्रस्तुत किये जाते रहे है। इसने प्रतिष्ठित सिद्धान्तो के स्थान पर एक नवीन अथवा केन्सीय अर्थशास्त्र को जन्म दिया। यह पुस्तक आर्थिक विज्ञान के क्षेत्र मे वर्त्तमान समय की प्रसिद्ध केन्सीय क्रान्ति (Keynesian Revolution) की जननी मानी जाती है। यह प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियो की अबन्ध नीति (Laissez-faire) की आधारशिला का एक बडा प्रत्याख्यान है। कुछ आलोचको ने तो इस पुस्तक के लेखक को नास्तिक तक कहा है, किन्तु वास्तविकता ठीक इसके विपरीत है। इस सम्बन्ध मे डडले डिलार्ड (Dudley Dillard) का यह विचार विशेष रूप से उल्लेखनीय है, **"अठारहवीं शताब्दी में आदम स्मिथ की पुस्तक 'Wealth of Nations' और उन्नीसवीं शताब्दी में कार्ल मार्क्स की पुस्तक 'Capital' की तरह केन्स की पुस्तक भी व्यावसायिक तथा अव्यावसायिक लेखकों के वाद-विवाद का केन्द्र बिन्दु रही है। स्मिथ की पुस्तक वाणिज्यवाद के लिए एक महान् चुनौती है, मार्क्स की पुस्तक विश्लेपणात्मक दृष्टि से पूँजीवाद की गहरी आलोचना है और केन्स की पुस्तक निर्बाधावादी सिद्धान्त का निराकरण करती है।"** (Like Adam Lmith's Wealth of Nations in the Eighteenth Century and Karl Marx's Capital in the Nineteenth Century, Keynes' General Theory has been the centre of controversy among both professional and non professional writers Smith's book is a ringing challenge to Mercantalism, Marx's is a searching criticism of Capitalism and Keynes' book is a repudiation of the foundations of laissez-faire)[1] अतः अनेक अर्थशास्त्रियो जो पहले केन्स के कट्टर आलोचक थे, धीरे धीरे केन्स का समर्थक बनते जा रहे हैं। केन्स की तुलना क्वसने, आदम स्मिथ तथा मार्क्स से करते हुए जार्ज सोल (George Soule) लिखते हैं कि "क्वैसने ने कृषको के लिए गोला बारूद प्रदान की थी, आदम स्मिथ ने औद्योगिक निर्माताओ का पक्ष लिया तथा कार्ल मार्क्स ने क्रान्तिकारी श्रम-जीवियो के पक्ष का जोरदार समर्थन किया था तो केन्स ने अर्थशास्त्र के सिद्धातवादियो की जीवन-रक्षा की है। वास्तव मे, उन्हें इस प्रकार के रक्षक की प्रबल आवश्यकता थी।" (Quensnay had supplied ammunitions for agriculturists, Adam Smith had boistered the Industrial manufacturers, Karl Marx had expoused revolutionary wage-earners, now

1. Dudley Dillard : Economics of J. M. Keynes—*P. I.*

J M Keynes had rescued the economic theorists, they desperately needed a Saviour)

आर्थिक सिद्धान्त के क्षेत्र मे केन्स की सबसे बडी देन यह है कि उसने पहले के छिट-पुट एव तारतम्य विहीन सिद्धान्तो का खण्डन कर एक सामान्य सिद्धान्त की रचना की। प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियो ने सामान्य मूल्य के निर्धारण के लिए पृथक् तथा मुद्रा के मूल्य-स्तर के निर्धारण के लिए एक पृथक् सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था। वास्तव मे, यह कुछ विचित्र-सा लगता था। केन्स ने इस विचित्रता की बडे ही रोचक ढग से व्याख्या की है –'हमलोग कभी चन्द्रमा की एक ओर तो कभी दूसरी ओर अपने को पाते हैं और हमे यह भी पता नही चलता कि इन दोनो सिरो को मिलानेवाली कोई सामान्य रेखा है या नही।" केन्स ने एक सामान्य सिद्धान्त – मुद्रा एव मूल्य-सम्बन्धी सिद्धान्त (Theory of Money and Prices) का निर्माण कर इसके दोनो सिरो को सयुक्त किया।

केन्स की पुस्तक "The General Theory of Employment, Interest and Money' मे केन्स का जोर General शब्द पर ही अधिक है। वास्तव मे, केन्स का सिद्धान्त रोजगार के प्राय सभी स्तरो का अध्ययन करता है जबकि प्रतिष्ठित अर्थशास्त्र (Classical Economics) मे रोजगार की एक विशेष परिस्थिति, अर्थात् पूर्ण रोजगार सतुलन (Full employment equilibrium) का ही अध्ययन किया जाता है। केन्स के सिद्धान्त का उद्देश्य किसी समय विशेष मे रोजगार के स्तर का निर्धारण है चाहे उस समय अर्थ-व्यवस्था पूर्ण रोजगार के स्तर पर हो, या उसमे विस्तृत रूप से बेरोजगारी वर्तमान हो या रोजगार के किसी माध्यमिक स्तर पर हो। प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियो की यह धारणा थी कि निजी सम्पत्ति पर आधारित अर्थ व्यवस्था पूर्ण रोजगार स्तर पर स्वत सतुलन स्थापित कर लेती है। किन्तु केन्स इस प्रकार की कल्पना को निराधार मानता है और यह स्पष्ट करता है कि निजी स्वामित्व पर आधारित पूँजीवादी अर्थ व्यवस्था मे आर्थिक क्रियाओ मे उच्चावचन के कारण पूर्ण रोजगार की स्थिति सामान्यत नही पायी जाती है। किन्तु आर्थिक उच्चावचनो की तीव्रता को कम किया जा सकता है तथा बेरोजगारी की स्थिति को दूर किया जा सकता है। दूसरे शब्दो मे, केन्स ने अपने सामान्य सिद्धात मे रोजगार के मूल निर्धारको का अध्ययन किया है तथा इसकी सहायता मे बेरोजगारी को कम करने के उपायो की व्याख्या की है।

केन्स के सामान्य सिद्धान्त की दूसरी महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि उसका सिद्धात समस्त अर्थ व्यवस्था मे रोजगार एव आय मे परिवर्तन से सम्बन्धित है। इसके विपरीत प्रतिष्ठित सिद्धात किसी विशेष फर्म या उद्योग से सम्बन्धित था। केन्स ने अपने सिद्धात की व्याख्या में पूर्ण रोजगार (aggregate employment) राष्ट्रीय आय, राष्ट्रीय निपज (National output), सम्पूर्ण पूर्ति aggregate supply), सम्पूर्ण माग (aggregate demand), कुल सामाजिक उपभोग कुल सामाजिक विनियोग तथा कुल सामाजिक बचत आदि धारणाओ का प्रयोग किया है।

केन्स को सुप्रसिद्ध पुस्तक 'जेनरल थियरी' में कुल 24 अध्याय हैं जो निम्नलिखित 6 खण्डों में विभाजित हैं—

(1) **प्रथम खण्ड**, जिसका शीर्षक **'परिचय** (Introduction) है, मे 36 पृष्ठो मे लिखित तीन अध्याय हैं।

(2) **द्वितीय खण्ड**, जिसका शीर्षक **'परिभाषाएँ एव विचार'** (Definitions and Ideas) हैं, मे चार अध्याय तथा एक परिशिष्ट (appendix) हैं। इन अध्यायो मे, जो लगभग 50 पृष्ठो मे है, केन्स ने बचत, विनियोग, आय इत्यादि की परिभाषाओ एवं रोजगार तथा उत्पादन पर प्रत्याशाओ (expectations) के पडने वाले प्रभावो की व्याख्या की है।

(3) **तृतीय खण्ड** जिसका शीर्षक **'उपभोग की प्रवृत्ति'** (The Propensity to Consume) है मे लगभग 45 पृष्ठो मे तीन अध्याय हैं। पहले दो अध्यायो मे उपभोग की प्रवृत्ति तथा इसको निर्धारित करनेवाले भावात्मक (objective) एव आत्मनिष्ठ (subjective) कारणो तथा तीसरे एव अन्तिम अध्याय मे सीमान्त उपभोग की प्रवृत्ति एव गुणक (multiplier) की व्याख्या की गयी है।

(4) चतुर्थ खण्ड का शीर्षक 'विनियोग की प्रेरणा' (The Inducement to Invest) है। इस खण्ड के लगभग 120 पृष्ठो मे 8 अध्याय तथा एक परिशिष्ट है। इन अध्यायो मे पूँजी की सीमान्त उत्पादकता (Marginal Efficiency of Capital), दीर्घकालीन प्रत्याशाओं की अवस्था, ब्याज की दर के सामान्य सस्यापक सिद्धान्तो, ब्याज तथा द्रव्य की आवश्यक विशेषताओ, रोजगार के सामान्य सिद्धान्त आदि विषयो की व्याख्या की गयी है। यह खण्ड अन्य पाँच खण्डो की अपेक्षा आकार मे बहुत ही बडा है।

(5) पाँचवें खण्ड का शीर्षक 'मुद्रा, मजदूरी तथा मूल्य' (Money, Wages and Price) है तथा इसमे तीन अध्याय एवं एक परिशिष्ट हैं। पृष्ठो की सख्या लगभग 60 है।

(6 छठे तथा अन्तिम खण्ड में 'वाणिज्यवाद, व्यापार-चक्र तथा पुस्तक के अन्त में सामाजिक दर्शन' आदि के सम्बन्ध मे व्याख्या की गयी है।

केन्स एवं प्रतिष्ठित अर्थशास्त्र
(Keynes and the Classical Economics)

केन्स के 'जेनरल थियरी' के अध्ययन के पूर्व प्रतिष्ठित अर्थशास्त्र के साथ केन्स के सम्बन्ध मे कुछ जानकारी प्राप्त करना लाभदायक होगा। केन्स ने प्रतिष्ठित अर्थशास्त्र की परम्परा मे ही अर्थशास्त्री के रूप मे अपना जीवन प्रारम्भ किया था। फिर भी, इस विचार को किसी भी प्रकार स्वीकार नही किया जा सकता कि केन्सियन अर्थशास्त्र केवल प्रतिष्ठित अर्थशास्त्र का ही एक विकसित एवं परिष्कृत रूप है। हैरिस (S E. Harris) के इस कथन कि "यह निर्णय की बात है कि क्या जेनरल थियरी केवल प्रतिष्ठित अर्थशास्त्र का ही विकसित रूप है अथवा इससे सर्वथा भिन्न हैं" (It is a matter of judgement whether the General Theory is simply classical economics further developed or embroidered or whether Keynesian economics represents a genuine break.)[1] मे अब सदेह की कोई भी गुंजाइश नही रह गयी है। वास्तव मे, केन्सियन अर्थशास्त्र को केवल प्रतिष्ठित अर्थशास्त्र का ही विकसित रूप मानना तथ्यो के बिल्कुल विपरीत होगा।

केन्स के अनुसार प्रतिष्ठित अर्थशास्त्री रिकार्डो (David Ricardo) के समय से पीढी-दर-पीढी चले आने वाले परम्परागत अथवा शास्त्रीय आर्थिक सिद्धान्तो का समूह है। यद्यपि बहुत सारे अर्थशास्त्रियो ने समय-समय पर इसे विस्तृत एवं सशोधित किया था तथापि प्रतिष्ठित अर्थशास्त्र का मुख्य स्वरूप ज्यों-का त्यो बना रहा। ये सिद्धान्त स्वय मे ही एक आर्थिक विचारधारा की सुस्पष्ट प्रणाली है।

रोजगार का प्रतिष्ठित सिद्धान्त (The Classical Theory of Employment) :— रोजगार का प्रतिष्ठित सिद्धान्त यह मानकर चलता है कि श्रम एवं अन्य साधन सदैव पूर्णतया कार्यरत (fully employed) रहते हैं। दूसरे शब्दो मे, प्रतिष्ठित सिद्धान्त के अनुसार अर्थ-व्यवस्था मे पूर्ण रोजगार ही सामान्य स्थिति है (Full employmen is a rule) तथा इसमे कोई भी परिवर्तन गैर-सामान्य समझा जाता था। इन अर्थशास्त्रियो के अनुसार आर्थिक शक्तियो की निर्बाध क्रियाशीलता के परिणामस्वरूप श्रम सहित सभी आर्थिक साधनो का सदैव स्वय ही पूर्ण प्रयोग होते रहता है। किन्तु यदि बाजार की शक्तियो मे थोडा भी हस्तक्षेप किया गया तो इससे पूर्ण रोजगार की स्थिति नही उत्पन्न हो सकेगी। अतएव प्रतिष्ठित अर्थशास्त्री आर्थिक क्षेत्र मे किसी भी प्रकार के सरकारी हस्तक्षेप का विरोध करते थे।

रोजगार का प्रतिष्ठित सिद्धान्त 'से' द्वारा प्रतिपादित बाजार के नियम (Say's Law of Market)[1] पर आधारित था। प्रो० 'से' के अनुसार देश मे 'सामान्य अति उत्पादन' (general overproduction) तथा 'सामान्य बेरोजगारी' (general unemployment) की स्थितियाँ

---

1. जे० बी० से (J B. Say—1767-1832) एक फ्रांसीसी अर्थशास्त्री थे। उन्होंने अपनी पुस्तक Traité d' Economie Politique' में अपने सुप्रसिद्ध नियम 'Supply always creates its own 'demand' का प्रतिपादन किया था।

कभी उत्पन्न हो ही नही सकतीं। प्रो० 'से' के अनुसार **"पूर्ति स्वतः ही सदैव अपने लिए माग उत्पन्न कर लेती है।"** (Supply always creates its own demand) इनके अनुसार उत्पादन ही वस्तु के लिए बाजार का सृजन कर लेता है। दूसरे शब्दो मे, माग का मुख्य स्रोत उत्पादन के विभिन्न साधनो को प्राप्त होने वाली आय होती है और यह आय उत्पादन की प्रक्रिया से स्वत उत्पन्न होती है। इस प्रकार प्रो० से के अनुसार, एक मोटरकार के निर्माण के परिणामस्वरूप मजदूरी, लाभ आदि के रूप मे इतनी क्रय-शक्ति प्रचलन मे आ जाती है कि अन्ततः मोटरकार खरीदी जा सकती है और इस प्रकार कभी भी किसी वस्तु का अति उत्पादन नही हो सकता। 'से' के इसी कथन के आधार पर प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियो का यह विश्वास था कि समाज अथवा देश मे सदा पूर्ण रोजगार की स्थिति बनी रहती है।

किन्तु 'से' के इस नियम की दो बातो को लेकर आलोचना की जाती है। **सर्वप्रथम** तो आलोचको के अनुसार **प्रत्येक पूर्ति अपने लिए स्वतः मांग का सृजन नहीं कर सकती।** 'से' का विचार इस मान्यता पर आधारित है कि लोग अपनी सम्पूर्ण आय की वस्तुओ की खरीद पर ही व्यय करते हैं तथा इसका कोई भी भाग बचाते नही हैं। परिणामस्वरूप सम्पूर्ण माल बाजार मे बिक जाता है। किन्तु वास्तविक्ता यह नही है। लोग अपनी सम्पूर्ण आय का एक अंश भविष्य मे उपभोग के लिए बचाते हैं। इस बचत के परिणामस्वरूप समाज की आय धारा मे से कुछ क्रय-शक्ति बाहर निकल जाती है जिससे कुल माग (aggregate demand) मे कमी आ जाती है और कुल माग मे इस कमी से ही समाज मे अति उत्पादन की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। आलोचको के अनुसार 1929-32 की भयानक आर्थिक मदी के दौरान प्रो० 'से' के नियम की असत्यता पूर्णरूप से सिद्ध हो गयी क्योकि सभी देशो मे अति उत्पादन की समस्या उपस्थित हो गयी। वास्तव मे, व्यापार-चक्र की क्रियाशीलता 'से' के नियम की असत्यता का सबसे बडा परिचायक है।

प्रो० 'से' के विरुद्ध दूसरी आलोचना का सम्बन्ध पूर्ण रोजगार की मान्यता से है। 'से' के अनुसार श्रम की पूर्ति स्वत ही श्रम की माग से समायोजित हो जाती है जिससे अनैच्छिक बेरोजगारी (Involuntary unemployment) की कोई भी सभावना नही रह जाती। दूसरे शब्दो मे, प्रो० 'से' के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति जो प्रचलित मजदूरी की दर पर (Current wage) कार्य करना चाहता है उसे निश्चय ही कार्य मिल जायगा, यानी इस अर्थ व्यवस्था मे बेरोजगारी उत्पन्न होने का कोई प्रश्न ही नही उठता। किन्तु आलोचको के अनुसार प्रो० 'से' की उक्त धारणा को स्वीकार नही किया जा सकता, क्योकि सभी पूँजीवादी देशो मे बेरोजगारी पायी जाती है जो कभी-कभी बहुत ही तीव्र एव दीर्घकालीन रूप धारण कर लेती है। ऐसी स्थिति मे मजदूरी स्तर मे कटौती से भी बेरोजगारी की समस्या का समाधान नही हो पाता, वरन् कभी कभी तो इसका प्रतिकूल प्रभाव ही पडता है। कारण स्पष्ट है। मजदूरी के स्तर मे कटौती से श्रमिको की क्रय-शक्ति घट जाती है जिसके परिणामस्वरूप समाज की कुल माग मे कमी आ जाती है।

केन्स ने प्रतिष्ठित अर्थ-शास्त्र की इस मूलभूत धारणा को स्वीकार नही किया क्योंकि प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियो की यह धारणा थी कि आर्थिक प्रणाली बिना किसी सहायता के अपने-आपको परिवर्तित परिस्थितियो के अनुकूल बना लेती है जिससे पूर्ति एव माग मे कभी असतुलन अथवा असामजस्य नही उत्पन्न होता। केन्स के अनुसार प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियो का यह कथन कि अति उत्पादन एव सामान्य बेरोजगारी की स्थिति कभी उत्पन्न ही नही हो पाती बिल्कुल अवास्तविक है। साथ ही, आर्थिक प्रणाली यथार्थत कभी स्वय समायोजित नहीं हो पाती। अतएव प्रो० केन्स के अनुसार पूर्ति एव माग मे सतुलन बनाये रखने के लिए राज्य का हस्तक्षेप आवश्यक है। प्रतिष्ठित अर्थशास्त्री पर केन्स का यह सर्वाधिक प्रबल प्रहार है।

इस प्रकार केन्स ने प्रतिष्ठित अर्थशास्त्र की विभिन्न मान्यताओ का खडन कर स्वय रोजगार के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। इस सिद्धान्त को—'न्यून माग सिद्धान्त' (Demand deficiency Theory) भी कहते हैं। केन्स के अनुसार बेरोजगारी प्रभावपूर्ण मांग मे कमी अथवा उपभोग एव विनियोग पर व्यय किये गये धन मे कमी के कारण होती है।

किन्तु केन्स के सिद्धान्त की व्याख्या के पूर्व इनके **सामान्य सिद्धान्त** (The General Theory of Employment, Interest and Money) के **कुछ प्रमुख आधारों की** व्याख्या की जायगी :—

प्रभावपूर्ण मांग का सिद्धान्त

(The Principle of Effective Demand)

प्रभावपूर्ण मांग[1] का अर्थ (Meaning of Effective Demand):—केन्स के **'जेनरल थियरी'** में प्रयुक्त धारणाओं में सर्वाधिक प्रमुख धारणा **प्रभावपूर्ण मांग की धारणा** है। वास्तव में, प्रभावपूर्ण माग का सिद्धान्त केन्स के रोजगार सिद्धान्त का प्रारम्भिक बिन्दु है। प्रभावपूर्ण माग से केन्स का तात्पर्य उस माग से है जिसके पीछे क्रय-शक्ति हो, यानी माग क्रय शक्ति से युक्त हो। रोजगार के सिद्धान्त के सम्बन्ध में केन्स ने सम्पूर्ण प्रभावपूर्ण माग (Total effective demand) शब्द का प्रयोग किया है जिसका तात्पर्य किसी राष्ट्र अथवा समुदाय की उस सम्पूर्ण माग से है जिसके पीछे क्रय-शक्ति रहती है, यानी माग क्रय-शक्ति से युक्त हो। माग के साथ प्रभावपूर्ण शब्द के प्रयोग का आशय यह है कि केन्स माग को साधारण इच्छा से पृथक् कर व्यक्त करना चाहते थे।

केन्स के अनुसार किसी अर्थ-व्यवस्था में रोजगार की कुल मात्रा सम्पूर्ण प्रभावपूर्ण माग पर निर्भर करती है और प्रभावपूर्ण माग आय-व्यय द्वारा व्यक्त होती है। बेरोजगारी प्रभावपूर्ण माग में कमी (Deficiency of Effective Demand) का परिणाम है। व्यक्ति की ही तरह यह बात समाज में भी लागू होती है कि वास्तविक आय में वृद्धि के साथ साथ उपभोग में भी वृद्धि होती है, किन्तु इसमें कुल आय से कम ही वृद्धि होती है। अतएव रोजगार में वृद्धि के लिए वास्तविक विनियोग (Real Investment) में इतनी वृद्धि अवश्य होनी चाहिए जिससे कि कुल आय एवं उपभोग के अन्तर को समाप्त किया जा सके। प्रभावोत्पादक माग के सिद्धान्त का यही सारांश है।

केन्स के सिद्धान्त की अन्य धारणाओं की तरह प्रभावपूर्ण माग की धारणा का प्रयोग भी समग्र रूप में किया गया है, यानी इससे सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था की माग का बोध होता है। यह किसी एक फर्म अथवा एक उद्योग की माग से भिन्न होता है। किसी एक फर्म अथवा उद्योग की माग को उसके द्वारा उत्पादित वस्तुओं की माग से व्यक्त किया जाता है, किन्तु चूँकि सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था के उत्पादन को इस प्रकार की किसी भौतिक इकाई, यानी क्वि० अथवा टन के रूप में नहीं व्यक्त किया जा सकता, अतएव केन्स ने नियुक्त श्रम की मात्रा (Labour Employed) को समस्त उत्पादन के मानदंड के रूप में प्रयोग किया है. केन्स के अनुसार जैसे-जैसे अधिक श्रमिक प्रयुक्त किये जाते हैं उत्पादन की मात्रा में वृद्धि होती है जिसके फलस्वरूप कुल आय (Total sale proceeds) में वृद्धि होती है। दूसरे शब्दों में, रोजगार की मात्रा में वृद्धि से कुल समर्थ माग बढ़ती तथा रोजगार में कमी से घटती है।

किसी समाज की कुल प्रभावपूर्ण माग साधारणतया दो प्रकार की मागों से बनती है। दूसरे शब्दों में, प्रभावपूर्ण माग के निम्नांकित दो अंग होते हैं :—

(क) उपयोग-सम्बन्धी वस्तुओं की माग (Demand for Consumption goods), तथा

(ख) विनियोग-सम्बन्धी वस्तुओं की माग (Demand for Investment goods)।

दूसरे शब्दों में, माग या तो उपभोग के लिए की जाती है अथवा विनियोग के लिए। उदाहरण के लिए, हम या तो रोटी, चावल अथवा कपड़े की माग करते हैं अथवा मशीन, मकान आदि की माग करते हैं। इनमें से पहले प्रकार की माग निश्चित रूप से उपभोग-सम्बन्धी माग है तथा दूसरे प्रकार की माग विनियोग-सम्बन्धी माग है। सूत्र के रूप में इसे इस प्रकार से व्यक्त किया जा सकता है –

$$ED = C + I$$

[1] प्रभावपूर्ण विशेषता का प्रयोग केवल क्रय की इच्छा एवं क्षमता के अन्तर पर जोर देने के लिए किया गया है।

जिसमें ED=प्रभावपूर्ण माग (Effective demand),
C=उपयोग-सम्बन्धी माग (Consumption Demand), तथा
I विनियोग-सम्बन्धी माग (Investment Demand) है।

इनमे से उपभोग की माग समाज की आय के आकार (size of income) तथा उपभोग की प्रवृत्ति (Propensity to consume) पर निर्भर करती है। दूसरी ओर, विनियोग ब्याज की दर (Rate of interest) तथा पूंजी की सीमात क्षमता (Marginal Efficiency of capital) पर निर्भर करती है। इस प्रकार केन्स की जेनरल थियरी मे निम्नलिखित तीन मुख्य धारणाओ का समावेश है —(1) उपभोग की प्रवृत्ति (propensity to consume), (2) पूंजी की सीमात क्षमता (Marginal Efficiency of Capital), तथा (3) ब्याज की दर (Rate of Interest)। आगे चलकर इनकी सविस्तार व्याख्या की जायगी।

प्रभावपूर्ण मांग के निर्धारक तत्त्व (Determinants of Effective Demand)—प्रभावपूर्ण माग का निर्धारण निम्नाकित दो तत्वो से होता है—

(i) कुल माग क्रिया (Aggregate Demand Function or A. D F), तथा
(ii) कुल पूर्ति क्रिया (Aggregate Supply Function or A S F.)

कुल माग किया (A. D. F) मुद्रा की उन विभिन्न राशियो की अनुसूचि है जिनको रोजगार के भिन्न-भिन्न स्तरो पर व्यवसायियो को अपने उत्पादन की बिक्री से प्राप्त करने की आशा रहती है। दूसरे शब्दो मे, कुल माग क्रिया वह प्रत्याशित (Expected) बिक्री प्राप्त आय है, जिसे उत्पादक श्रमिको द्वारा उत्पादित वस्तु के विक्रय से प्राप्त करने की आशा करता है। जितने अधिक श्रमिको को रोजगार मिलेगा उत्पादन उतना ही अधिक होगा और प्रत्याशित बिक्री से आय बढेगी। अत स्पष्ट है कि प्रत्याशित बिक्री की मात्रा रोजगार की मात्रा पर निर्भर करती है। वास्तव मे, यह क्रम निम्न प्रकार से चलता है—रोजगार मे वृद्धि, श्रमिको की सख्या मे वृद्धि, उत्पादन मे वृद्धि, प्रत्याशित बिक्री-प्राप्त आय मे वृद्धि, परन्तु व्यक्तियो को रोजगार तभी तक लाभदायक होगा जबकि उनके द्वारा बनाई गई वस्तु बिक जाने की पूरी सम्भावना हो और उससे एक निश्चित राशि मिल जाने की पूर्ण आशा हो।

इसके विपरीत कुल पूर्ति क्रिया (Aggregate Supply Function)—मुद्रा की उन भिन्न भिन्न राशियो की अनुसूची होती है (रोजगार के भिन्न-भिन्न स्तरो पर) जो उत्पादन की बिक्री से व्यवसायियो को अवश्य मिलनी चाहिए। दूसरे शब्दो मे कुल पूर्ति-मूल्य मुद्रा की वह न्यूनतम मात्रा है जो श्रमिको को दी हुई सख्या द्वारा उत्पादन करने मे व्यय होती है।" अर्थात् यह कुल उत्पादन-व्यय के बराबर होती है। जब तक उत्पादको को वस्तु बेचने से कम-से-कम उत्पादन-व्यय मिलने की आशा नही होगी, तब तक न तो कोई उत्पादन करेगा और न लोगो को रोजगार ही मिलेगा। इस प्रकार किसी अर्थ व्यवस्था मे कुल माग क्रिया (A. D F.) व्यवसायियो की कुल प्राप्तियो का तथा कुल पूर्ति क्रिया (A S F) उनकी कुल लागतो (costs) का प्रतिनिधित्व करती है। किसी भी स्थिति मे लागतो को प्राप्तियो से अधिक नही होना चाहिए। ऐसा होने से व्यवसायी उत्पादन का कार्य स्थगित कर देंगे जिससे मजदूरो को रोजगार नही मिल सकता।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि रोजगार प्रभावपूर्ण माग (E D) पर निर्भर करता है तथा स्वय प्रभावपूर्ण माग कुल माग क्रिया (A D F) एवं कुल पूर्ति क्रिया (A S F) द्वारा प्रभावित होती है। कुल माग क्रिया किसी अर्थ-व्यवस्था मे उस धनराशि को प्रदर्शित करती है जिसे उत्पादक श्रमिको द्वारा उत्पन्न वस्तुओ के विक्रय से प्राप्त करने की आशा करता है। अत रोजगार का स्तर माग क्रिया एव कुल पूर्ति क्रिया पर आधारित है। जब तक लागतें प्राप्तियो से कम रहती हैं (यानी कुल पूर्ति कुल माग से कम रहती है) उत्पादक उत्पादन बढाकर रोजगार मे वृद्धि करते चला जाता है। यह क्रम तब तक जारी रहता है जब तक कि लागतें और प्राप्तियाँ (अर्थात कुल पूर्ति एव माग) बराबर नहीं हो जाती हैं। जिस बिन्दु पर कुल माग वक्र एवं कुल पूर्ति वक्र एक दूसरे को काटते हैं, उसी बिन्दु को प्रभावपूर्ण माग कहते हैं जो एक दिये हुए समय मे रोजगार के स्तर को निर्धारित करता है। दूसरे शब्दो मे, प्रभावपूर्ण माग वह बिन्दु

है जहां पर इन दोनो (यानी A D. F. एवं A. S. F.) का पूर्ण संतुलन होता है। निम्नांकित चित्र द्वारा भी इसे स्पष्ट किया जा सकता है—
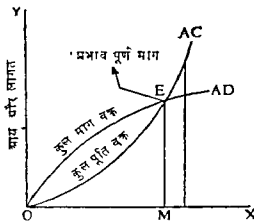
उपरोक्त चित्र मे OX रेखा पर रोजगार तथा OY रेखा पर आय एव लागत को दिखलाया गया है। AD वक्र कुल मांग वक्र तथा AC वक्र कुल पूर्ति वक्र है। ये दोनो E बिन्दु पर मिलते हैं जो प्रभावपूर्ण मांग (Effective Demand) का बिन्दु है। चित्र मे स्पष्ट है कि OM रोजगार की वह मात्रा है जहां पर A. D. F. एव A. S. F. दोनो के बीच सतुलन स्थापित होता है।

किन्तु इस सम्बन्ध मे ध्यान देने योग्य बात यह है कि कुल माग क्रिया तथा कुल पूर्ति क्रिया का सतुलन सदा पूर्ण रोजगार के स्तर पर ही नही होता, यह पूर्ण रोजगार से पहले भी हो सकता है। केन्स स्वय यह मानते हैं कि समाज मे पूर्ण रोजगार की स्थिति बहुत ही कम पायी जाती है। इनके अनुसार हो सकता है कि कुल माग वक्र एव कुल पूर्ति वक्र एक दूसरे को उस बिन्दु पर काटें जिस पर लगाये गये व्यक्तियो की सख्या रोजगार चाहने वाले व्यक्तियो की सख्या से कम हो। दूसरी बात यह है कि केन्स ने अपने सामान्य सिद्धात मे 'कुल पूर्ति क्रिया' की अपेक्षा कुल माग क्रिया को ही प्रधानता दी है। इसीलिए कुछ अर्थशास्त्री केन्स के रोजगार सिद्धात को कुल माग का सिद्धात (Theory of Aggregate Demand) भी कहते हैं। वास्तव मे, अल्पकाल मे पूर्ति क्रिया मे परिवर्तन नही होता, यानी कुल पूर्ति क्रिया अल्पकाल मे प्राय. स्थायी रहती है। इस प्रकार केन्स के (कुल पूर्ति क्रिया को स्थिर मानते हुए) सामान्य सिद्धात का सार यह है कि प्रभावपूर्ण माग अथवा रोजगार का निर्धारण कुल माग क्रिया के द्वारा किया जाता है और कुल माग क्रिया स्वय दो तथ्यो पर आधारित है—(क) उपभोग की प्रवृत्ति (Propensity to Consume), तथा (ख) विनियोग प्रेरणा (Inducement to Investment)।

उपभोग की प्रवृत्ति या उपभोग फलन

(Propensity to Consume Or Consump ion Function)

उपभोग की प्रवृत्ति या उपभोग फलन प्रभावपूर्ण माग एव रोजगार के निर्धारक तत्त्वों मे एक प्रधान तत्त्व है। किसी समुदाय मे उपभोग उसकी आय की मात्रा तथा इसके उस भाग पर जो उपभोग पर व्यय किया जाता है निर्भर करता है। यह उस आय की ओर सकेत करता है जो उपभोग से सम्बन्धित वस्तुओ पर व्यय की जाती है। सक्षेप मे, उपभोग प्रवृत्ति, कुल आय तथा कुल उपभोग मे सम्बन्ध बतलाती है। यह एक ऐसी अनुसूची है जो कुल आय के भिन्न-भिन्न स्तरो पर उपभोग की भिन्न-भिन्न मात्राओ को बतलाती है। राष्ट्रीय आय की प्रत्येक मात्रा के लिए आय का प्राय: एक स्थिर अनुपात होता है जो जन-साधारण द्वारा उपभोग पर व्यय किया जाता है। दूसरे शब्दो मे, प्रत्येक समाज मे औसत उपभोग की प्रवृत्ति प्राय. समान रहती है।

वास्तव मे, उपभोग की प्रवृत्ति तथा आय मे एक प्रकार का फलनात्मक सम्बन्ध (Functional relationship) होता है। इसका यह आशय है कि जब आय मे वृद्धि होती है

-तो उपभोग की प्रवृत्ति मे भी वृद्धि होती है और जब आय घटती है तो उपभोग की प्रवृत्ति मे भी कमी होती है।[1] जिस आय स्तर पर आय ठीक उपभोग के बराबर होती है उसे अन्तराल शून्य बिन्दु (Breakeven point) कहते हैं। ऐसी तालिका अथवा अनुसूची जिसमे विभिन्न आय-स्तरो से सम्बन्धित उपभोग व्यय व्यक्त किये जाते हैं को आय-उपभोग अनुसूची अथवा केवल उपभोग प्रवृत्ति कहते हैं। नीचे इस प्रकार की एक उपभोग प्रवृत्ति अनुसूची का उदाहरण दिया जा रहा है :—

उपभोग प्रवृत्ति अनुसूची (रुपये में)

आय	उपभोग पर व्यय	सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति
200	230	
300	320	$\frac{90}{100}$=.9
400	400	$\frac{80}{100}$= 8
500	470	$\frac{70}{100}$=.7
600	535	$\frac{65}{100}$= 6
700	595	$\frac{60}{100}$= 6
800	650	$\frac{55}{100}$= 55

उपरोक्त सारणी के प्रथम दो स्तम्भ (Column) मे आय एव उपभोग सूची दिखलायी गई है, जिससे स्पष्ट है कि जब आय 200 रुपये है, तब उपभोग व्यय आय से अधिक है। यही स्थिति आय के 300 रुपये होने पर भी रहती है। परन्तु जब आय 400 रुपये है तो उपभोग-व्यय भी उतना ही है। यह अन्तराल शून्य बिन्दु है। इसके बाद जैसे जैसे आय बढती जाती है उपभोग पर व्यय बढते जाता है। परन्तु जिस अनुपात मे आय म वृद्धि होती है, उसी अनुपात मे उपभोग पर व्यय नही बढता। दूसरे शब्दो मे, आय बढने के साथ साथ आय एव उपभोग मे अन्तर बढता जाता है।

आय मे परिवर्तन के परिणामस्वरूप उपभोग मे किस प्रकार परिवर्तन होता है इसकी जानकारी उपभोग की प्रवृत्ति स ही प्राप्त होती है। आय एव उपभोग मे सम्बन्ध किसी व्यक्ति अथवा परिवार के उपभोग की इकाई पर लागू होता है। परन्तु केन्स के सिद्धान्त मे कुल सामाजिक उपभोग (Aggregate community Consumption) तथा कुल सामाजिक आय (Aggregate community Income) का सम्बन्ध अधिक महत्त्वपूर्ण है।

औसत उपभोग प्रवृत्ति के सम्बन्ध मे केन्स की यह मान्यता कि अल्पकाल मे यह अपेक्षाकृत स्थिर रहती है एक ऐसा निष्कर्ष है जो वास्तविक अनुभव पर आधारित है। यह 'जेनरल थियरी' की व्याख्या का एक महत्त्वपूर्ण अग है। किसी एक निश्चित समय म वास्तविक उपभोग की प्रवृत्ति क्या होगी, यह प्राय समाज की प्रचलित रीतियो समाज के विभिन्न वर्गों के बीच आय के वितरण की प्रणाली, समाज मे प्रचलित कर की प्रणाली तथा अन्य इसी प्रकार के बहुत-से कारणो पर निर्भर करता है।

ऊँची उपभोग प्रवृत्ति (High Propensity to Consume) समाज मे अधिक रोजगार के लिए अनुकूल होती है क्योकि इसके ऊँचा होने के कारण रोजगार के भिन्न भिन्न स्तरो पर प्राप्त होने वाली कुल आय तथा इस आय के उस भाग मे जिसे उपभोग पर व्यय किया जाता है अन्तर कम होता है जिससे रोजगार को ऊँचे स्तर पर कायम रखने के लिए अपेक्षाकृत कम विनियोग की आवश्यकता पडती है। किन्तु यदि उपभोग की प्रवृत्ति अपेक्षाकृत निम्न होता है तो आय एव उपभोग के बीच का यह अन्तर अधिक होता है जिससे अर्थ व्यवस्था मे रोजगार को

1. 'The fundamental psychological law upon which we are entitled to depend with great confidence both a priori from our knowledge of human nature and from the detailed facts of experience, is that men are disposed as a rule and on the average to increase their consumption as their income increases but not by as much as the increase in their income "

—Keynes *The General Theory of Employment, Interest and Money* —p. 96.

ऊँचे स्तर पर बनाये रखने के लिए विनियोग की अपेक्षाकृत अधिक मात्रा की आवश्यकता होती है। यदि आय के सम्पूर्ण स्तरों पर उपभोग की प्रवृत्ति 100 प्रतिशत हो तो आय एवं उपभोग मे अन्तर का कोई समस्या ही नही रहेगी जिससे बिना किसी विनियोग के भी पूर्ण रोजगार की प्राप्ति हो सकती है। ऐसी स्थिति मे पूर्ति स्वय अपने लिए माग का निर्माण कर लेगी तथा जे० बी० से (J B Say) का सुप्रसिद्ध नियम 'Supply creates its own demand' लागू होने लगेगा। किन्तु वास्तविकता इससे बहुत ही भिन्न है तथा प्राय प्रत्येक सभ्य समाज मे उपभोग की प्रवृत्ति 100 प्रतिशत से बहुत ही कम होती है जिससे आय एवं कुल उपभोग के बीच सदा कुछ अन्तर रह जाता है जिसे विनियोग के द्वारा पूरा करना पडता है।

केन्स के अनुसार समाज मे केवल आय के पुनर्वितरण (Redistribution of income) के द्वारा ही उपभोग की प्रवृत्ति को एक निश्चित स्तर से अधिक नही बढाया जा सकता है। इसका कारण यह है कि आय के पुनर्वितरण से व्यक्तियो मे असन्तोष एव विरोध उत्पन्न होता है। इसी प्रकार केन्स के विचारानुसार एक अत्यधिक विकसित पूँजीवादी अर्थ व्यवस्था मे वस्तुओ के अत्यधिक सचय के परिणामस्वरूप व्यक्तिगत विनियोग मे बहुत अधिक वृद्धि न होने के कारण रोजगार की स्थिति मे बहुत ही कम सुधार की आशा होती है। इस सम्बन्ध मे केन्स एक निर्धन अर्थ व्यवस्था को समृद्ध अर्थ-व्यवस्था की अपेक्षा अधिक श्रेयस्कर समझते हैं, क्योकि निर्धन अर्थ-व्यवस्था मे आय की कमी से उपभोग की प्रवृत्ति ऊँची होती है जिससे उपभोग तथा आय के बीच अन्तर बहुत कम अथवा नही के बराबर होता है जिससे विनियोग की समस्या महत्त्वपूर्ण नही होती। अतएव केन्स के अनुसार 'जो समाज जितना ही अधिक समृद्ध होगा उसमें आर्थिक प्रणाली के दोष उतने ही अधिक स्पष्ट तथा प्रबल रूप मे विद्यमान होंगे।" (The richer the Community the more obvious and outrageous the defects of the economic system)

औसत उपभोग प्रवृत्ति एव सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति (Average Propensity to Consume and Marginal Propensity to Consume)—केन्स की 'जेनरल थियरी' मे औसत उपभोग प्रवृत्ति और सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति का एक विशेष महत्त्व है।

औसत उपभोग प्रवृत्ति (APC) आय का वह अनुपात है जो उपभोग पर खर्च किया जाता है। उदाहरणार्थ, यदि 1000 रुपये की आय मे से उपभोग पर 800 रुपये व्यय होता है तो

औसत उपभोग प्रवृत्ति $= \frac{800}{1000} = 8$ होगी। दूसरे शब्दो में,

$$\text{औसत उपभोग प्रवृत्ति (APC)} = \frac{\text{उपभोग की मात्रा (C)}}{\text{आय की मात्रा (Y)}}$$

औसत उपभोग प्रवृत्ति का आर्थिक महत्त्व यह है कि यह रोजगार के किसी भी स्तर पर बताती है कि कुल आय का कौन सा भाग उपभोग व्यय द्वारा पूरा होगा तथा शेष को विनियोग व्यय द्वारा पूरा करना होगा।

इसके विपरीत **सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति** (M P C) अतिरिक्त आय मे से अतिरिक्त उपभोग पर व्यय है। दूसरे शब्दो मे आय मे वृद्धि के फलस्वरूप उपभोग मे जो वृद्धि होती है उसे सीमांत उपभोग प्रवृत्ति कहते हैं। उदाहरण के लिए, यदि आय मे 1000 रुपये की वृद्धि होने से उपभोग व्यय मे 600 रुपये की वृद्धि हो तो सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति $\frac{600}{1000} = 6$ होगी। इस प्रकार -

$$\text{सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति (M P C)} = \frac{\text{उपभोग की मात्रा मे हुई वृद्धि}}{\text{आय की मात्रा मे हुई वृद्धि}} = \frac{\Delta C}{\Delta Y}$$

सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति जितनी ही अधिक होगी, प्रभावपूर्ण माग उतनी ही अधिक होगी और आय, रोजगार तथा उत्पादन भी उतना ही अधिक होगा। अतएव, विकसित अर्थ व्यवस्था मे सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति ही आय, रोजगार एव आर्थिक विकास का एक मात्र कारण है।

विनियोग प्रेरणा या विनियोग फलन

(Inducement to Invest or the Investment Function)

चूंकि विकसित देशों में औसत उपभोग प्रवृत्ति शत-प्रतिशत नहीं होती, अतएव कुल आय एवं इसके उपभोग की मात्रा में कुछ-न-कुछ मात्रा में अन्तर अवश्य ही रहता है जिसकी पूर्ति के लिए विनियोग की आवश्यकता पड़ती है। केन्स के अनुसार समाज में आय के ऊँचे स्तर को बनाये रखने के लिए आय तथा उपभोग के अन्तर को दूर करने के लिए विनियोग की मात्रा में वृद्धि अनिवार्य है। इस प्रकार केन्स के अनुसार एक धनवान अथवा औद्योगिक दृष्टि से अत्यधिक विकसित देश में उचित सामाजिक कार्यवाही द्वारा कुल विनियोग की मात्रा को सदैव इतना ऊँचा स्तर पर रखना आवश्यक है जिससे कि समाज में पूर्ण रोजगार तथा समृद्धि की स्थिति बराबर बनी रहे। केन्स के सिद्धांत के अनुसार पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था में पूर्ण रोजगार की प्राप्ति के लिए विनियोग एक आवश्यक शर्त तथा समृद्धि की कुंजी है। सभी विचारों के अर्थशास्त्री इस तथ्य को व्यापक रूप में स्वीकार करते हैं, अतएव इसे अर्थशास्त्र का मूलभूत सिद्धान्त समझा जाना चाहिए, लेकिन पूर्ण रोजगार को निरन्तर बनाये रखने के लिए शुद्ध विनियोग ही नहीं, उसकी बढ़ती हुई दर का होना भी अनिवार्य है। (Investment is an essential requirement for full employment and the key to prosperity in a capitalist economy This is so widely and generally recognised by all economic schools and sects that it may be regarded as an axiom of modern economics Not only net investment, but an increasing rate of net investment is necessary to assure continued full employment —Anatol Murad The Post-Keynesian Economics edited by Kenneth K. Kurihara p 227.)

विनियोग को प्रभावित करने वाले निम्नांकित दो तत्त्व हैं—

(1) पूंजी की सीमान्त क्षमता (Marginal Efficiency of Capital), तथा
(2) ब्याज की दर (Rate of Interest)।

पूँजी की सीमांत क्षमता

(Marginal Efficiency of Capital)

केन्स के अनुसार, विनियोग पूंजी की सीमांत क्षमता तथा ब्याज की दर पर निर्भर करता है। पूंजी की सीमांत क्षमता का तात्पर्य लाभ की उस दर से है जिसे व्यवसायी नवीन विनियोग से प्राप्त करने की आशा करता है। (The marginal efficiency of capital is, in the broad sense, the rate of profit which business men expect from new investments) दूसरे शब्दों में, पूंजी की सीमांत उत्पादकता का अभिप्राय नयी पूंजी परिसम्पत्ति द्वारा लागतों को निकालकर प्राप्त होनेवाले अधिकतम भावी आय से है। इस परिसम्पत्ति से दो तत्त्वों का अन्दाजा चलता है—*(i) हमें पूंजी परिसम्पत्ति की सीमांत इकाई पर ध्यान देना चाहिए, तथा* (ii) पूंजी परिसम्पत्ति की लागत को इसकी भावी आय में से घटा देना चाहिए। अतएव पूंजी की सीमांत उत्पादकता दो तत्त्वों पर आधारित है—(अ) पूंजी परिसम्पत्ति की भावी आय (Prospective yield from Capital asset), तथा (ब) पूंजी परिसम्पत्ति की पूर्ति कीमत (Supply price of the Capital asset)। पूंजी की सीमांत उत्पादकता इन दोनों तथ्यों के बीच का अनुपात होती है।

पूंजी परिसम्पत्ति की भावी आय का तात्पर्य है पूंजी परिसम्पत्ति की वह कुल शुद्ध आय है जिसे मशीन या सम्पत्ति अपने जीवन काल में दे सकती है। शुद्ध शब्द का प्रयोग इसलिए किया गया है कि शुद्ध आय जानने के लिए कुल उत्पादन में से पूंजी परिसम्पत्ति की वर्तमान लागतों को घटा देना पड़ता है। एक नयी मशीन या कोई अन्य परिसम्पत्ति खरीदने के समय साहसी केवल पूंजी परिसम्पत्ति से प्राप्त होनेवाली भावी आय को ही ध्यान में नहीं रखता, वरन् वह सम्पत्ति की लागत अथवा उसकी पूर्ति कीमत (Supply price) को भी ध्यान में रखता है। इसका तात्पर्य है पूंजी परिसम्पत्ति की लागत। पूर्ति कीमत को प्रतिस्थापन लागत भी कहते हैं। क्योंकि पूर्ति कीमत वह कीमत नहीं है जिसपर वह वर्तमान मशीन पहले खरीदी गयी थी, वरन्

वह है जिसपर उस प्रकार की नयी मशीन अब खरीदी जा सके अथवा पुरानी मशीन बदली जा सके।

इस प्रकार एक साहसी किसी नयी पूँजी परिसम्पत्ति मे विनियोग करते समय उसके जीवन काल मे होनेवाले भावी लाभो (expected rates of profitability) और उसकी पूर्ति कीमत से तुलना करता है और यदि प्रत्याशित आय लागत से अधिक होगी तो वह विनियोग करेगा अन्यथा नही। इस प्रकार किसी पूँजी की प्रत्याशित आय का अर्थ यह है कि उस पूँजी की परिसम्पत्ति की एक अतिरिक्त इकाई उसकी लागत की तुलना मे कितना कमा सकेगी। केन्स के शब्दो मे "पूँजी की सीमात उत्पादकता बट्टे की उस दर के बराबर होती है जो किसी मशीन के सम्पूर्ण जीवन भर के वर्ष-प्रति-वर्ष प्रत्याशित आयो के वर्त्तमान मूल्यो को उसकी पूर्ति-मूल्य के बराबर कर देती है।" (More precisely, I define the marginal efficiency of Capital as being equal to that rate of discount which would make the present value of the series of annuities given by the return expected from the capital asset during its life just equal to its supply price) दूसरे शब्दो मे, किसी विशेष प्रकार की पूँजी परिसम्पत्ति की सीमात उत्पादकता वह दर होती है जिस पर पूँजी परिसम्पत्ति की सीमात इकाई से प्रत्याशित भावी आय को पूँजी-परिसम्पत्ति की पूर्ति लागत के समान करने के लिए घटाया जाता है। एक उदाहरण द्वारा इसे अधिक स्पष्ट किया जा सकता है। मान लिया जाय एक नयी पूँजी परिसम्पत्ति मे एक लाख रुपये की लागत आती है तथा उससे प्रतिवर्ष 4000 रुपये वार्षिक शुद्ध लाभ होता है। अतएव पूँजी की सीमात उत्पादकता को जानने के लिए हमे केवल भावी वार्षिक लाभ (4000 रुपये) की वास्तविक लागत (1,00,000 रुपये) से अनुपात को मालूम करना होगा, अर्थात् $(\frac{4000}{100000} \times \frac{100}{1})$, 4% यानी पूँजी की सीमात उत्पादकता 4 प्रतिशत है।

केन्स के सिद्धान्त मे वस्तुतः रोजगार की मात्रा को प्रभावित करने वाला यह सर्वाधिक प्रधान तत्त्व है। साथ ही, चूँकि यह विनियोजको की मनोवृत्ति पर निर्भर करता है और यह मनोवृत्ति विवेकशून्य होती है, अतः केन्सीय विश्लेषण मे व्यापार-चक्र तथा आर्थिक उच्चावचनो की समस्या को समझने का भी यह एक उत्तम साधन है। केन्स के अनुसार पूँजी की सीमान्त क्षमता मे अल्पकाल मे स्थिर रहने तथा दीर्घकाल मे ह्रास की प्रवृत्ति पायी जाती है। कभी-कभी समाज मे अधिक मात्रा मे वस्तुओ के संग्रह के कारण पूँजी की सीमान्त उत्पादकता शून्य भी हो जाती है। आय की बढती हुई सारणी से इसे और भी प्रोत्साहन मिलता है। वास्तव मे, पूँजी की सीमान्त उत्पादकता की अल्पकालीन स्थिरता एव दीर्घकालीन ह्रास की प्रवृत्ति औद्योगिक एव व्यापारिक विश्व मे भयानक उथल-पुथल उत्पन्न कर देती है जिससे सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था चक्रीय परिवर्तनो का शिकार हो जाती है।

साधारणतया पूँजी की सीमान्त क्षमता एव ब्याज की दर स्वभावतः प्रतिस्पर्धात्मक होते हैं, किन्तु फिर भी पूँजी की सीमान्त उत्पादन क्षमता इतनी अधिक शक्तिशाली होती है कि यह ब्याज की दर के प्रभावो को बलहीन बना देती है। अतएव जब विनियोजको की आशावादी प्रवृत्ति के परिणामस्वरूप पूँजी की सीमान्त क्षमता तीव्र गति से बढती है तो ब्याज की बढती हुई दर भी विनियोजको को अधिक पूँजी विनयोग करने से रोक नहीं सकती। ठीक इसके विपरीत, जब विनियोजको की निराशावादी प्रवृत्ति के परिणामस्वरूप पूँजी की सीमान्त क्षमता मे तीव्र गति से ह्रास हो रहा तो ब्याज की दर को शून्य कर देने से भी लोग विनियोग के लिए तैयार नही होते है। केन्स पूँजी की सीमान्त उत्पादकता की इस प्रवृत्ति से पूर्णतया परिचित थे, इसीलिए उन्होने घटती हुई सीमान्त क्षमता की तुलना एक ऐसे बत्तख से की जो घोल की तली की ओर गहरी डुबकी लगाता है तथा जिसे सतह पर लाने के लिए कुशल एव चतुर कुत्ते की आवश्यकता होगी। अभाग्यवश ब्याज की दर इस चतुर कुत्ते का कार्य करने मे असमर्थ सिद्ध होती है। इस प्रकार केन्स ने देश मे व्यापार-चक्रो को रोकने मे ब्याज की दर की सीमाओ को स्पष्ट किया है।

ब्याज की दर

(The Rate of Interest)

ब्याज की दर 'जेनरल थियरी' से सम्बन्धित तीसरी तथा अन्तिम धारणा है। वास्तव मे,

विनियोग की दर को प्रभावित करने वाला यह दूसरा महत्त्वपूर्ण तथ्य है। केन्स ब्याज को एक पूर्णतः मौद्रिक तत्त्व मानता है। केन्स के अनुसार **"ब्याज एक निश्चित समय के लिए तरलता के परित्याग का पुरस्कार है।"** (Interest is the reward for parting with liquidity for a specified period) यह वह कीमत है जो उपलब्ध नकद मुद्रा की मात्रा एवं नकद मुद्रा के रूप में धन रखने की इच्छा के मध्य सतुलन स्थापित करती है।

अब प्रश्न यह है कि लोग अपनी आय को तरल साधन के रूप में क्यों रखना पसन्द करते हैं। केन्स के अनुसार लोग अपनी आय को तरल साधन के रूप में निम्नलिखित तीन कारणों से रखना चाहते हैं—

(1) लेन-देन के उद्देश्य से (Transaction Motive),

(2) आकस्मिक खर्चों के लिए (Precautionary Motive), तथा

(3) सट्टेबाजी से (Speculative Motive)।

इनमे से पहले दो कारण, यानी लेन-देन की प्रवृत्ति तथा आकस्मिक खर्चों की प्रवृत्ति प्राय स्थायी रहती हैं, अतएव केन्स के अनुसार सट्टेबाजी की प्रवृत्ति तथा इसे सतुष्ट करने के लिए उपलब्ध मुद्रा की मात्रा का ही मुख्य रूप से ब्याज की दर के निर्धारण पर प्रभाव पडता है। सट्टेबाजी की प्रवृत्ति मुख्यत ऋणदाताओ की मनोवृत्ति पर निर्भर करती है। केन्स ने इसे इस प्रकार से परिभाषित किया है 'Speculative motive is the desire of earning profit by knowing better than the market what the future will bring forth" इस प्रकार केन्स के अनुसार ब्याज की दर के दो प्रधान निर्धारक तत्त्व हुए—(1) सट्टेबाजी की प्रवृत्ति, तथा (2) इसे सतुष्ट करने के लिए मुद्रा की उपलब्ध मात्रा। केन्स के अनुसार, ब्याज की दर धन को नकद या तरल रूप मे रखने की इच्छा एव उपलब्ध नकद की मात्रा मे सतुलन स्थापित करती है। (The rate of interest equilibrates the desire to hold wealth in the form of cash with the available quantity of cash) इसे निम्न प्रकार से स्पष्ट किया जा सकता है—
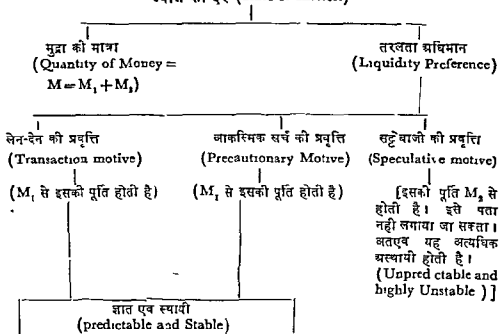
केन्स की पुस्तक 'जेनरल थियरी' की रूप-रेखा को निम्नांकित चार्ट द्वारा अधिक स्पष्ट किया जा सकता है :—
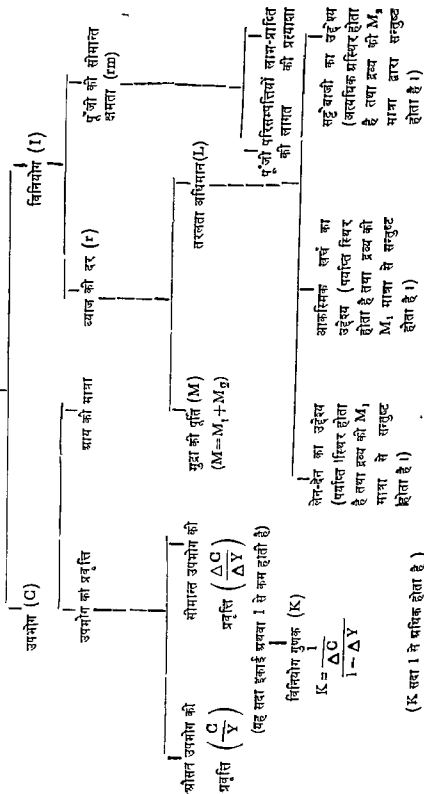
यदि तरलता अधिमान समान रहे तो मुद्रा के परिमाण मे वृद्धि से ब्याज की दर मे कमी तथा मुद्रा के परिमाण मे कमी से ब्याज की दर मे वृद्धि होगी। दूसरे शब्दो मे, तरलता अधिमान के समान रहने पर ब्याज की दर मे मुद्रा की मात्रा के विपरीत परिवर्तन होता है, किन्तु यदि तरलता अधिमान मे मुद्रा मे परिवर्तन के साथ-साथ परिवर्तन होता हो तो ब्याज की दर पर इन दोनो का एक साथ प्रभाव पडता है। इसे निम्नांकित रेखा-चित्रो द्वारा अधिक स्पष्ट किया जा सकता है—
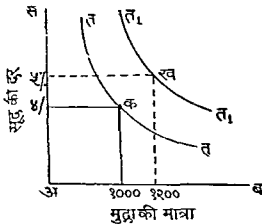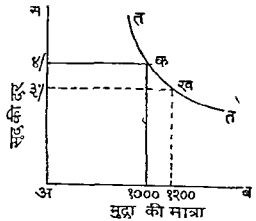
चित्र सख्या 1 चित्र सख्या 2

चित्र स० 2 मे तरलता अधिमान ज्यो-का-त्यो है। अतएव, मुद्रा की मात्रा जब 1000 से बढकर 1 00 रुपये हो जाती है तो सूद की दर 4 प्रतिशत से घटकर 3 प्रतिशत हो जाती है। इसके विपरीत चित्र सख्या 1 मे मुद्रा की मात्रा 1000 से बढकर 1200 होने के साथ साथ तरलता अधिमान वक्र भी त त से बढकर त₁ त₁ हो जाती है। तरलता अधिमान मे इस वृद्धि से मुद्रा की मात्रा मे वृद्धि का प्रभाव तो समाप्त हो ही जाता है, साथ-ही-साथ ब्याज की दर भी 4 प्रतिशत से बढकर 5 प्रतिशत हो जाती है।

विनियोग एव उपयोग में सम्बन्ध (The Relationship between Investment and Consumption)—केन्स के अनुसार सभी समय उपभोग की वस्तुओ के उत्पादन तथा विनियोग की वस्तुओं के उत्पादन मे एक निश्चित सम्बन्ध रहता है। उपभोग की प्रवृत्ति के दिया हुआ होने पर, उपभोग की वस्तुओ की माग की मात्रा आय की मात्रा पर निर्भर करती है। जैसा कि पहले देखा जा चुका है, समाज की कुल आय उपभोग तथा विनियोग की वस्तुओ के योग के बराबर होती है (Y = C + I)। विनियोग की मात्रा विनियोग के प्रोत्साहन पर निर्भर करती है जो स्वय बाजार मे दोनो—उपभोग तथा पूँजीगत वस्तुओ की कुल माग पर निर्भर करती है। यदि उपभोग की प्रवृत्ति उच्च है, तो कुल आय एव प्रभावोत्पादक माग के बीच अन्तर को पूरा करने के लिए बहुत ही कम मात्रा मे विनियोग की आवश्यकता होती है। एक उदाहरण द्वारा इसे अधिक स्पष्ट किया जा सकता है—मानलिया कि हमारे देश मे उपभोग की प्रवृत्ति $\frac{2}{3}$ है और कुल उपभोग की वस्तुओ का उत्पादन मूल्य 200 करोड रुपये है तो कुल आय (कुल माग) को 300 करोड रुपये के स्तर पर बनाये रखने के लिए 100 करोड रुपये के विनियोग की आवश्यकता पडेगी।

आय एव व्यय में सम्बन्ध (Relationship between Income and Expenditure)—मौद्रिक आय से उस आय का बोध होता है जो उत्पादन के विभिन्न साधन मजदूरी, ब्याज, लाभ एव लगान के रूप मे प्राप्त करते हैं। समाज की मौद्रिक आय का दो कार्यों के लिए प्रयोग किया जाता है—इसका एक अश उपभोग पर व्यय किया जाता है तथा दूसरा बचाया जाता है। अतएव इसे निम्न सूत्र के रूप मे व्यक्त किया जा सकता है :—

$$Y = C + S$$

जिसमे Y = कुल राष्ट्रीय आय

C = उपभोग व्यय
S = बचत

वर्तमान समय म लोगो की मौद्रिक आय पिछले समय मे व्यय की गयी रकम का परिणाम होती है। तब प्रश्न यह है कि व्यय क्या है? मौद्रिक व्यय का तात्पर्य किसी दिये हुए समय मे व्यक्ति, फर्म तथा सरकार द्वारा समाज मे उत्पन्न वस्तुओ एव सेवाओ पर खर्च की गयी रकम से है। एक उदाहरण द्वारा व्यय एव आय के सम्बन्ध को अधिक स्पष्ट किया जा सकता है। मानलिया कि कोई समुदाय वस्तुओ तथा सेवाओ पर 10 करोड रुपये व्यय करता है। अब यह व्यय समुदाय की आय के बराबर हो जायगा। साथ ही, यह रकम वस्तुओ तथा सेवाओ के मूल्य के बराबर होगी क्योकि क्रय-विक्रय के क्रम मे वस्तुओ का मूल्य निर्धारित होता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि समुदाय का व्यय, वस्तुओ तथा सेवाओ का मौद्रिक मूल्य एव समुदाय की मौद्रिक आय तीनो एक बराबर होते हैं। अब समाज का कुल मौद्रिक व्यय दो प्रकार का होता है—

(1) उपभोग की वस्तुओ पर व्यय जिसे Consumption expenditure कहते हैं, तथा
(2) पूँजीगत वस्तुओ एव भण्डार सग्रह पर व्यय जिसे Investment expenditure कहते हैं।

इसे सूत्र के रूप मे इस प्रकार से व्यक्त किया जा सकता है,

$$E = C + I$$

जिसमे E = मौद्रिक आय एव राष्ट्रीय उत्पादन
C = उपभोग व्यय
I = विनियोग

इस प्रकार आय के सम्बन्ध मे दो धारणाएँ हैं—(क) सर्वप्रथम व्यय के परिणामस्वरूप प्राप्त आय जिसे E के द्वारा व्यक्त किया जाता है, तथा (ख) व्यय के लिए प्राप्त आय जिसे Y के द्वारा व्यक्त किया जाता है। अत आय एव व्यय मे क्या सम्बन्ध है? आय (Y) एव व्यय (E) दोनो भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण से देखने पर एक ही चीज है क्योकि आय व्यय का आधार है और व्यय से ही आय उत्पन्न होती है। (Income is the basis for expenditure and expenditure necessarily generates income) किन्तु अधिक ध्यानपूर्वक विचार करने पर यह स्पष्ट होगा कि कुल मौद्रिक व्यय सदा पिछले समय मे प्राप्त कुल मौद्रिक आय के बराबर नहीं होता। यह इससे अधिक अथवा कम दोनो हो सकता है। समाज अपनी आय से अधिक व्यय अपनी पूर्व बचत से अथवा व्यावसायिक बैंको से ऋण के द्वारा कर सकता है।

अब यदि व्यय आय के बराबर है तथा कुल आय व्यय की जाती है तो

$$E = Y = E = Y$$

और प्रत्येक हालत मे $E = C + I$ एव $Y = C + S$
और यदि $E = Y$, तो

$$C + I = C + S$$

या $I = S$

बचत एवं विनियोग की समानता (Equality of Saving and Investment)—उपरोक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि यदि किसी दिये हुए समय मे प्राप्त सम्पूर्ण आय व्यय कर दी जाती है तो अगले समय मे प्राप्त आय इसी के बराबर होती है। अतएव सन्तुलन की स्थिति मे E - Y के और इनके परिणामस्वरूप I = S होता है। स्पष्ट है कि किसी एक समय मे व्यय उस समय की आय हो जाती है। आय का वह भाग जो उपभोग पर व्यय किया जाता है, स्वय आय हो जाता है। किन्तु जो बचत के रूप मे रखा जाता है वह स्वय व्यय नहीं होता, अतएव इससे अगले समय मे आय नहीं प्राप्त होती। इस प्रकार बचत (S) मौद्रिक भुगतान के प्रवाह मे एक कमी उत्पन्न कर देती है जिसे विनियोग (I) के द्वारा पूरा किया जा सकता है। अतएव यदि S = I है तो उत्पन्न आय की मात्रा (Volume of Income generated) एव खर्च के लिए प्राप्त आय (income available for disposal) दोनो बराबर होंगे। इसी प्रकार आय का चक्रीय प्रवाह (Circular flow of income) एक ही स्तर पर निर्बाध रूप से चलते रहता है तथा आर्थिक क्रियाएँ एव रोजगार भी समान स्तर पर रहते हैं।

इस सम्बन्ध में ध्यान देने योग्य बात यह है कि बचत (S) एवं विनियोग (I) परिभाषा से सदा समान रहते हैं किन्तु इनकी समानता पर और अधिक ध्यान देना अनिवार्य है क्योंकि किसी भी सगठित समुदाय मे बचत एव विनियोग का कार्य साधारणतया पृथक् पृथक् वर्ग के व्यक्तियो द्वारा किया जाता है। उत्पन्न की गयी उन वस्तुओ को, जो पीछे उपभोक्ताओ के हाथ बेची जाती हैं उपभोक्ता वस्तुएँ कहा जाता है और जिनकी बिक्री उपभोक्ताओ के साथ भण्डार भी सम्मिलित रहता है, किन्तु आय का वह भाग जिसे उपभोग पर व्यय नहीं किया जाता है को बचत कहते हैं। इससे स्पष्ट है कि जिन वस्तुओ का उपभोक्ताओ के हाथ विक्रय नही होता है (यानी I) आय के उस भाग के बराबर होता है जिसे उपभोग पर व्यय नही किया जाता है (यानी S)। इस प्रकार परिभाषा के द्वारा बचत एव विनियोग दोनों बराबर होते हैं। बचत एव विनियोग में यह समानता आय मे उचित परिवर्तन के द्वारा प्राप्त की जाती है किन्तु यहाँ पर ध्यान देने योग्य बात यह है कि बचत एव विनियोग की समानता का तात्पर्य केवल प्राप्त बचत (Realised saving) एव प्राप्त विनियोग (Realised investment) के बीच समानता से है। (इसका तात्पर्य आयोजित बचत एव आयोजित विनियोग की समानता से नही है।)

बचत एवं विनियोग सदा एक समान नहीं होते (Saving and Investment need not always be equal)—इस प्रकार यद्यपि प्राप्त बचत (Realised saving) एव प्राप्त विनियोग (Realised Investment) बराबर होते हैं, फिर भी इस आधार पर यह नही कहा जा सकता कि आयोजित बचत एव आयोजित विनियोग भी सदा एक समान होते हैं क्योंकि बचत एव विनियोग का कार्य असख्य व्यक्तियो द्वारा किया जाता है जो सदा एक नहीं होते। बचत करने वाले अपनी बचत विनियोग के लिए कर सकते हैं, जैसे—किसान कुआँ खुदवाने के लिए। किन्तु कुछ लोग बचत भविष्य की सुरक्षा के लिए अथवा अपने बाल-बच्चो के लिए विशाल साधन छोडने के उद्देश्य से भी करते हैं। इन हालतो मे आयोजित बचत का विनियोग से कोई सम्बन्ध नही होता। इसी प्रकार आयोजित विनियोग व्यापारियो तथा उत्पादको के द्वारा किया जाता है जो सम्भव है बचत करनेवाले नही हो। वास्तव म, विनियोग दो बातों पर निर्भर करता है—(क) विनियोग से प्राप्त आय की प्रत्याशा पर, तथा (ख) विनियोग के लिए रकम प्राप्त करने पर। दूसरे शब्दो मे, कोई साहसी तभी नया विनियोग करेगा जबकि इससे प्रत्याशित आय उसे उधार लेने के खर्च से अधिक हो। विनियोग से प्राप्त होनेवाली प्रत्याशित शुद्ध आय को केन्स ने पूँजी की सीमान्त क्षमता (Marginal efficiency of capital) कहा है। इस प्रकार आयोजित विनियोग पूँजी की सीमान्त क्षमता पर निर्भर करता है।

इस प्रकार आयोजित बचत एव आयोजित विनियोग मे समानता नही होने से आय एव मूल्य-तल मे परिवर्तन होता है। मानलिया कि आयोजित बचत आयोजित विनियोग से अधिक है। ऐसा दो कारणों से हो सकता है। या तो समाज अधिक बचाने अथवा कम विनियोग करने को सोच सकता है। अब मान लिया कि समाज की कुल आय 100 लाख रुपये हैं जिनमे से 80 लाख रुपये उपभोग पर खर्च किया जाता है तथा 20 लाख रुपये बचाया जाता है। मानलिया कि किसी कारणवश समाज अब अपनी आय मे से 25 लाख रुपये बचाना चाहता है। ऐसा करने के लिए उसे उपभोग को घटाकर 75 लाख रुपये करना होगा। इस प्रकार बचत मे वृद्धि का तात्कालिक प्रभाव उपभोग मे कमी है। अब यदि इस बचत के साथ-साथ विनियोग में वृद्धि हो तो कुल आय ज्यो की-त्यो रह जायगी जो निम्नलिखित से स्पष्ट है . —

C	+	I	=	Y
(75 लाख)	+	(25 लाख)	=	(100 लाख रुपये)

अब विनियोग ज्यो का त्यो रह सकता है अथवा घट भी सकता है। यदि उपभोग पर व्यय कम हो जाय और विनियोग पर व्यय ज्यो-का-त्यो रहे तो इससे आय मे कमी होगी जैसे—

C	+	I	=	Y
(75 लाख)		(20 लाख)		(95 लाख)

यदि बचत ज्यो-की-त्यो हो और किसी कारणवश विनियोग में कमी हो जाय तो इसका परिणाम भी बहुत कुछ इसी प्रकार का होगा।

विनियोग मे बचत से भी अधिक वृद्धि हो सकती है। (Investment may exceed saving) ऐसा तभी होगा जब समाज अपनी बचत से अधिक विनियोग करना चाहता है। विनियोक्ता ऐसी स्थिति मे अपनी पुरानी बचत का प्रयोग कर सकते हैं अथवा बैंक से रुपया उधार ले सकते हैं। विनियोग मे वृद्धि से पूँजीगत वस्तुओ के उत्पादन के साधनों की माँग बढेगी। साथ ही, समाज की आय मे भी वृद्धि होगी जिससे उपभोक्ता वस्तुओ की प्रभावोत्पादक माग मे वृद्धि होगी। इस प्रकार विनियोग मे वृद्धि से उपभोक्ता तथा पूँजीगत दोनो प्रकार की वस्तुओ की माग मे वृद्धि हो जाती है इससे रोजगार, माग एव मूल्य मे वृद्धि होगी।

इस प्रकार केन्स के विश्लेषण मे मूल्य-तल, आय एव प्रभावोत्पादक माग मे परिवर्तन पर आधारित है जो स्वय बचत एव विनियोग के सम्बन्धो पर निर्भर करते हैं। इस प्रकार इस सम्बन्ध मे तीन वैकल्पिक स्थिति की कल्पना की जा सकती है —

(क) यदि बचत एव विनियोग समान हैं तो आय, रोजगार एव मूल्य-तल सभी स्थायी रहेंगे,

(ख) यदि बचत विनियोग से अधिक है तो आय, उत्पादन, रोजगार एव मूल्य-तल मे ह्रास होगा,

(ग) यदि विनियोग बचत से अधिक है तो आय, उत्पादन, रोजगार तथा मूल्य-तल मे वृद्धि होगी।

इसलिए बहुत-से लेखक बचत एव विनियोग की समानता को बनाये रखने के लिए, वित्तीय नीति, कर तथा राजकीय व्यय की नीति के सम्बन्ध मे सुझाव देते हैं। इन लोगो के अनुसार यदि निजी विनियोग की कमी ह तो इसे पूरा करने के लिए सरकार को स्वय अपने व्यय मे वृद्धि करनी चाहिए। इसके विपरीत यदि पूर्ण रोजगार के बिन्दु के बाद निजी विनियोग बचत से अधिक है तो सरकार को इसे नियन्त्रित करने के लिए करो मे वृद्धि तथा राजकीय व्यय मे कमी करनी चाहिए। इस सम्बन्ध मे विशेष ध्यान देने योग्य बात यह है कि केन्स ने मूल्य-तल मे परिवर्तनो के लिए मुद्रा के परिमाण की प्राचीन धारणा का परित्याग कर दिया ह। इनके अनुसार मूल्य-तल, रोजगार तथा आर्थिक एव व्यावसायिक क्रियाओ को प्रभावित करनेवाले आधारभूत कारणो मे कुल आय एव बचत तथा विनियोग के सम्बन्ध प्रधान हैं।

गुणक
(The Multiplier)

केन्स के अर्थशास्त्र मे गुणक का महत्त्वपूर्ण स्थान है। केन्स के अनुसार **"गुणक का सिद्धान्त इस बात की व्याख्या करता है कि विनियोग मे परिवर्तन उपभोग पर किये जानेवाले व्यय को परिवर्तित कर किस प्रकार आय पर सचयी प्रभाव डालता है।"** (The multiplier theory explains the cumulative effec s of changes in investment on income viz their effects on consumption expenditure) विनियोग मे वृद्धि से आय बढती है। *आय मे वृद्धि से उपभोग बढता है और उपभोग के वृद्धि से पुन आय मे वृद्धि होती है।* दूसरे शब्दो मे, विनियोग मे परिवर्तन के कारण उपभोग मे परिवर्तन (आय द्वारा) होता है जिसके फलस्वरूप आय मे परिवर्तन होता है। अतएव गुणक का सिद्धान्त विनियोग मे प्रारम्भिक वृद्धि के परिणामस्वरूप आय मे अन्तिम वृद्धि के सम्बन्ध को बतलाता है। इसे इस प्रकार भी व्यक्त किया जा सकता है :—

विनियोग मे वृद्धि (प्रारम्भिक कारण)
↓
उपभोग मे वृद्धि
↓
कुल आय मे वृद्धि (अन्तिम परिणाम)

केन्स का यह तर्क है कि विनियोग मे प्रारम्भिक परिवर्तन के कारण उपभोग मे परिवर्तन होगा जिसके फलस्वरूप सम्पूर्ण आय मे वृद्धि हो जायगी। विनियोग मे प्रारम्भिक वृद्धि और

सम्पूर्ण आय मे कुल वृद्धि के बीच के सम्बन्ध को केन्स गुणक (Multiplier) कहता है। केन्स के गुणक को विनियोग गुणक (Investment multiplier) अथवा आय गुणक (Income multiplier) कहते हैं।

विनियोग मे प्रारम्भिक वृद्धि का गुणक प्रभाव उपभोग की सीमान्त प्रवृत्ति (Marginal propensity to consume) पर निर्भर करता है। और उपभोग की सीमान्त प्रवृत्ति कुल आय मे से उपभोग पर किये जाने वाले व्यय के अनुपात पर निर्भर करती है। साधारणतया किसी समुदाय की आय मे वृद्धि के साथ साथ उसकी उपभोग की सीमात प्रवृत्ति घटती जाती है। दूसरे शब्दो मे यदि आय मे 1 प्रतिशत वृद्धि होती है तो उपभोग की सीमान्त प्रवृत्ति मे 1 प्रतिशत से कम ही वृद्धि होगी। इसके अतिरिक्त आय के उस भाग को जो उपभोग पर व्यय किया जाता है उपभोग की सीमान्त प्रवृत्ति कहते हैं। उदाहरण के लिए, यदि आय मे वृद्धि के परिणामस्वरूप उपभोग मे अतिरिक्त वृद्धि अतिरिक्त आय का 75% है तो उपभोग की सीमान्त प्रवृत्ति $\frac{3}{4}$ होगी एव बचत की सीमान्त प्रवृत्ति $\frac{1}{4}$ होगी।

इस सम्बन्ध मे ध्यान देने योग्य बात यह है कि निर्धन देशो मे उपभोग की सीमान्त प्रवृत्ति उच्च तथा विकसित अर्थ-व्यवस्था मे निम्न होती है। इसका प्रधान कारण यह है कि निर्धन तथा अविकसित देशों मे अधिकाश व्यक्तियो की आय बहुत ही कम होती है जिससे आय मे प्रत्यक्ष वृद्धि का अधिकाश उपभोग भाग पर ही व्यय किया जाता है।

गुणक का परिमाण उपभोग की सीमान्त प्रवृति पर निर्भर करता है। उदाहरण के लिए यदि उपभोग की सीमान्त प्रवृत्ति $\frac{3}{4}$ है तो गुणक 4 होगा। इसे जानने के लिए प्रयुक्त सूत्र को इस प्रकार से व्यक्त किया जा सकता है :—

$$K = \frac{1}{1 - m\,p\,c}$$

जिसमे K = गुणक तथा
mpc = उपभोग की सीमान्त प्रवृत्ति
और चूंकि 1 — m p. c. = mps (बचत की सीमान्त प्रवृत्ति)

$$K = \frac{1}{mps}$$

दूसरे शब्दो मे, गुणक बचत की सीमान्त प्रवृत्ति का ठीक विपरीत (Reciprocal) होता है। अब विनियोग मे प्रारम्भिक वृद्धि के परिणामस्वरूप कुल आय मे परिवर्तन को निम्नाकित सूत्र से स्पष्ट किया जा सकता है :—

कुल आय मे परिवर्तन = विनियोग मे परिवर्तन × $\frac{1}{mps}$

= विनियोग मे परिवर्तन × गुणक।

अब मान लिया कि गुणक 4 है (यानी उपभोग की सीमान्त प्रवृत्ति $\frac{3}{4}$ तथा बचत की सीमान्त प्रवृत्ति $\frac{1}{4}$ है) तथा प्रारम्भिक विनियोग 50 करोड रुपये है तो कुल आय मे वृद्धि 50 × 4 = 200 करोड रुपय होगी।

गतिवर्द्धक सिद्धांत

(The Acceleration Principle)

सुप्रसिद्ध अमेरिकी अर्थशास्त्री जे० एम० क्लार्क (J M Clarke) ने गतिवर्द्धक सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था। यह केन्स के गुणक सिद्धान्त से बहुत कुछ मिलता जुलता है, फिर भी, इन दोनों मे कुछ प्रधान अन्तर हैं। पिछले पृष्ठो मे हमने देखा है कि गुणक यह स्पष्ट करता है कि विनियोग में परिवर्तन उपभोग पर किये जाने वाले व्यय के द्वारा कुल व्यय को प्रभावित करता है। किन्तु, उपभोग-सम्बन्धी व्यय मे परिवर्तन के परिणामस्वरूप विनियोग सम्बन्धो मे भी अवश्य ही परिवर्तन होता है। गतिवर्द्धक सिद्धान्त उपभोग-सम्बन्धी वस्तुओं की कुल मांग मे शुद्ध

परिवर्तन के परिणामस्वरूप पूँजीगत वस्तुओं की माग मे विस्तार की व्याख्या करता है। (The acceleration principle explains the expanded demand for capital goods derived from net changes in the demand for consumption goods), अतएव विनियोग मे प्रारम्भिक वृद्धि के कुल आय पर प्रभावो का सही तरीके से पता लगाने के लिए हमे- (क) प्रेरित उपभोग के द्वारा परिवर्तन को (Changes through induced consumption), तथा (ख) प्रेरित विनियोग के परिणामस्वरूप परिवर्तन (Changes through induced investment) को जानना होगा। इसे निम्नप्रकार से भी दिखलाया जा सकता है —

प्रारम्भिक विनियोग

↓

उपभोग पर प्रभाव—विनियोग पर प्रेरित प्रभाव

↓

कुल आय पर प्रभाव

इस प्रकार गुणक इस बात की व्याख्या करता है कि किस प्रकार विनियोग मे एक छोटा-सा परिवर्तन आय पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव डालता है, किन्तु गतिर्द्धक प्रभाव उपभोग मे परिवर्तन के कारण विनियोग पर होने वाले परिवर्तनो पर आधारित है। दूसरे शब्दों मे, गुणक विनियोग पर उपभोग की निर्भरता को स्पष्ट नही करता, परन्तु गतिवद्धक उपभोग की विनियोग पर निभरता को स्पष्ट करता है।

गतिवर्द्धक सिद्धान्त की व्याख्या इस प्रकार से की जा सकती है—यदि नये विनियोग के परिणामस्वरूप आय मे वृद्धि होती है तो व्यवसायी अत्यधिक आशावादी हो जाते हैं तथा अपने विनियोग म वृद्धि करना प्रारम्भ कर देते है। साथ ही, बढी हुई आय उपभोग में वृद्धि को प्रेरित करती है। इसके अतिरिक्त उपभोग से नये विनियोग में वृद्धि होगी। इसके विपरीत यदि आय में कमी होती है और इसके परिणामस्वरूप उपभोग पर किया जानेवाला व्यय घट जायगा तो इससे विनियोग में भी कमी होगी। इस प्रकार उपभोग म परिवर्तन एव प्ररित विनियोग में महत्वपूर्ण सम्बन्ध और उपभोग के शुद्ध परिवर्तन एव प्रेरित निवेश म शुद्ध परिवर्तन के अनुपात को गति वर्द्धक गुणाक (acceleration co-efficient) कहा जाता है। उदाहरण के लिए मान लिया कि उपभोग व्यय में शुद्ध वृद्धि 10 करोड रुपये की होती है जिससे प्रेरित विनियोग में 20 करोड रुपये शुद्ध वृद्धि होती है, तो गतिवर्द्धक गुणाक 2 हुआ।

जेनरल थियरी का व्यावहारिक महत्त्व

(Practical Importance of the General Theory)

'**जेनरल थियरी**' का वास्तविक महत्त्व इसको व्यावहारिक नीतियो के निर्देशक रूप में कार्य करने में है। यह वास्तविक विश्व की व्यावहारिक समस्याओ के समाधान के लिए प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियो की अवास्तविक व्याख्या के विरुद्ध केन्स की प्रक्रिया को स्पष्ट करती है। साथ ही, यह उन सब लोगो के लिए एक व्यापक योजना की रूप-रेखा प्रस्तुत करती है जो इसके अध्ययन के द्वारा वर्तमान आर्थिक समस्याओ का अतिरिक्त समाधान निकालना चाहते हैं।

जेनरल थियरी के प्रकाशन ने प्रतिष्ठित अर्थशास्त्र के सम्पूर्ण ढांचे पर कठोर प्रहार किया। इसका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रूप समाज के बेकारी की समस्या को युक्तिसगत एव वास्तविक तरीके से सुलझाने मे है। केन्स ने यह बिलकुल स्पष्ट कर दिया था कि स्वतन्त्र आर्थिक व्यवस्था मे पूर्ण रोजगार की प्राप्ति के लिए राज्य को स्वय कुछ धनात्मक कार्यों को करने के लिए तैयार होना पडेगा। केन्स सार्वजनिक निर्माण सम्बन्धी नीति (Public Works Policy) के सबसे बडे समर्थक थे। इनके अनुसार पत्ते तोडना अथवा गड्ढे खोदना और फिर उनको भरना जैसे व्यर्थ कार्यों से भी अर्थ-व्यवस्था पूर्ण रोजगार के स्तर पर पहुँच सकती है। केन्स का यह विश्वास उनके रोजगार गुणक (employment multiplier) की धारणा पर आधारित है।

केन्स की सुप्रसिद्ध पुस्तक 'जेनरल थियरी' मुद्रा स्फीति को रोकने तथा पूर्ण रोजगार की स्थिति को कायम करने का प्रयास करती है। इसके लिए केन्स ने मूल्य नियन्त्रण रैशनिंग, अनिवार्य बचत योजना तथा बचत के बजट आदि उपायो को प्रस्तावित किया है। केन्स के विचारो

का केवल आर्थिक सिद्धान्तो पर ही प्रभाव नही पडा, वरन् इनका व्यावहारिक अर्थशास्त्र तथा नीति-निर्धारण के क्षेत्र मे भी सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्रभाव पडा ।

आलोचनाएँ (Criticisms) :—किन्तु केन्स के सिद्धान्त की बहुत अधिक आलोचनाएँ भी की जाती हैं, विशेषत. उसके द्वारा प्रतिपादित रोजगार के सिद्धान्त की बहुत अधिक आलोचना की गयी है। साथ ही, कुछ लोगो का यह कहना है कि केन्स ने अपनी 'जेनरल थियरी' मे पूँजी-वादी अर्थ-व्यवस्था को समाप्त करने का प्रयास किया है। किन्तु वास्तव मे इस प्रकार के विचार भ्रमास्पद हैं। वास्तविकता तो यह है कि स्वतन्त्र उद्योग की प्राचीन प्रथा को बनाये रखने के लिए केन्स से दूसरा कोई भी व्यक्ति उत्सुक नही था ।

इस प्रकार विभिन्न आलोचनाओ के बावजूद केन्स की 'जेनरल थियरी' का आर्थिक विचारो एव क्रियाकलापो पर बडा ही महत्त्वपूर्ण प्रभाव पडा है।

विशेष अध्ययन-सूची

1. J. M. Keynes : The General Theory of Employment, Interest and Money
2 D. Dillard : The Economics of J. M. Keynes.
3. Hansen : A Guide to Keynes.

खण्ड : 4

"Gold standard is a device for maintaining the stability of exchange rates."

—**Crowther.**

अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक प्रणालियाँ एवं संस्थाएँ

(International Monetary Systems and Institutions)

अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक प्रणालियाँ एवं संस्थाएँ-सम्बन्धी कुछ स्मरणीय उद्धरण

1. "Gold standard is a device for maintaining the stability of exchange rates" —*Crouther.*
2. "The International Monetary Fund will be a bank of Central Banks, the capstone in the world's monetary system." —*Halm.*
3. "It (the World Bank) is intended to serve as an essential adjunct to the Monetary Fund and in particular to ensure a high level of international investment with a view to promoting the maintenance of a high level of international trade and thus of production and employment." —*I. B. R. D.*
4. "Foreign Exchange is the art and science of International M ney Exchanging." —*Hartley Withers.*
5. "The mint par is an expression of the ratio between the statutory bullion equivalents of the standard monetary units of two countries on the same metallic standard." —*Thomas*
6. "The rate of exchange between two currencies must stand essentially on the *quotient of the internal purchasing powers of these two currencies*" —*Gustav Cassel.*
7. "Exchange Control, the means of dealing with balance of payments difficulties —disregards market forces and substitutes for them the arbitrary decisions of government officials, Imports and other international payments are no longer determined by international price comparisions but by considerations of notional needs." —*P T. Ellsworth.*

अध्याय : 36

स्वर्ण-मान

(Gold Standard)

प्राक्कथन —विश्व मे धात्विक मुद्रा का सर्वाधिक प्रचलित रूप स्वर्ण-मान (Gold Standard) ही रहा है। उन्नीसवी सदी के मध्य से लेकर प्रथम महायुद्ध के पूर्व तक विश्व के अधिकाश देशो मे स्वर्ण मान का प्रचलन था। यद्यपि यह मान सर्वप्रथम इगलैंड में 1816 ई० मे अपनाया गया था, तथापि ससार के अन्य देशो म 1870 ई० के बाद ही इसे अपनाने का क्रम प्रारम्भ हुआ और उन्नीसवी शताब्दी के अन्त तक विश्व के केवल एक दो देशो, जैसे—चीन एव मेक्सिको को छोडकर शेष सभी देशो मे यह मान प्रचलित हो गया था।

स्वर्ण मान क्या है ? (What is Gold Standard ?) —स्वर्ण-मान (Gold Standard) उस मुद्रा मान को कहते हैं जिसमे देश की मुद्रा का स्वर्ण के साथ एक निश्चित सम्बन्ध रहता है। स्वर्ण-मान की व्याख्या कई प्रकार से की जा सकती है।

उदाहरण के लिए प्रो० रॉबर्टसन (Robertson) के अनुसार, **'स्वर्ण-मान उस मौद्रिक स्थिति को कहते हैं जिसमें कोई देश अपनी मुद्रा की एक इकाई के मूल्य को स्वर्ण की एक निश्चित मात्रा के मूल्य के बराबर रखता है।"** (Gold Standard is a state of affairs in which a country keeps the value of its monetary unit and the value of a defined weight of gold at an equality with one another)

इसी प्रकार बेनहम (Benham) के अनुसार भी, **"कोई देश स्वर्ण-मान पर तभी रहता है जब उस देश की मुद्रा की एक इकाई की क्रय शक्ति एक निश्चित वजन के स्वर्ण की क्रय शक्ति के बराबर रहती है।'** (A country is on the Gold standard when the purchasing power of a unit of its currency is kept equal to the purchasing power of a given weight of gold)

कोलबर्न के अनुसार 'स्वर्ण मान उस व्यवस्था को कहते हैं जिसमे देश की प्रमुख मुद्रा की इकाई एक निश्चित प्रकार के स्वर्ण की एक निश्चित मात्रा मे बदली जा सकती है।" (The gold standard is an arrangement whereby the chief price of money of a country is exchangeable with a fixed quantity of a specific quality)

इस प्रकार क्राउथर (Crowther) के अनुसार, **'स्वर्ण मान विनिमय दरों में स्थिरता प्राप्त करने की एक विधि है।"** (Gold standard is a device for maintaining the stability of exchange rates)[1]

इस प्रकार स्पष्ट है कि स्वर्ण-मान मे देश की मुद्रा का स्वर्ण के साथ एक निश्चित सम्बन्ध रहता है। इस मुद्रा मान मे स्वर्ण ही मूल्य-मापन (Measurement of value) का कार्य करता है। **स्वर्ण एवं देश की मुद्रा का यह सम्बन्ध निम्नांकित दो प्रकार का हो सकता है —**

---

1 स्वर्ण मान की और भी कई परिभाषाएँ दी गयी हैं जिनमें निम्नांकित उल्लेखनीय हैं :—

केमरर (Kemmerer) के अनुसार, 'Gold standard is a monetary system in which the unit of value in which prices and wages are customarily expressed and in which the debts are usually contracted, consists of the value of a fixed quantity of gold in an essentially free gold market" The Gold Standard—Its Nature and Future, p 5.

इसी प्रकार प्रो० **हैबरलर** (Haberler) के अनुसार, "A Gold standard in a narrow sense signifies a monetary system with gold coins of standard specifications or gold certificates with 100% gold backing forming the circulating medium"

(1) सर्वप्रथम तो देश की मुद्रा एक निश्चित वजन तथा शुद्धता के स्वर्ण की बनी हुई होती है जिससे मुद्रा की इकाई तथा स्वर्ण मे एक निश्चित सम्बन्ध रहता है।

(2) दूसरी स्थिति मे देश की मुद्रा स्वर्ण की नही बनी हुई होती है, वरन् प्रामाणिक मुद्रा किसी दूसरे पदार्थ जैसे चाँदी अथवा कागज की बनी नही होती है और यह स्वर्ण के साथ एक निश्चित दर मे परिवर्तनीय (convertible) होती है। ऐसी स्थिति मे देश की मुद्रा की राशि का आधार स्वर्ण-कोष ही होता है।

स्वर्ण-मान के विभिन्न रूप

(Different types of Gold Standard)

स्वर्ण-मान के निम्नांकित तीन रूप हैं :—

(1) स्वर्ण-चलन मान (Gold Currency Standard);
(2) स्वर्ण-धातु मान (Gold Bullion Standard); तथा
(3) स्वर्ण-विनिमय मान (Gold Exchange Standard)।

अब स्वर्ण-मान के इन तीनो रूपो की निम्न व्याख्या प्रस्तुत की जा रही है :—

1 स्वर्ण चलन मान

(Gold Currency Standard)

स्वर्ण-मान के जिस रूप का उन्नीसवी शताब्दी मे यूरोप के अधिकाश देशो मे विकास हुआ था उसे स्वर्ण-चलन मान ही कहते हैं। इसे धात्विक मुद्रा का सर्वाधिक प्रमुख रूप कहना अति उपयुक्त होगा। स्वर्ण-चलन मान (Gold Currency Standard) को स्वर्ण-टकन मान (Gold Coin Standard) या पूर्ण स्वर्ण-मान (Full Gold Standard) या स्वर्ण-प्रचलन मान (Gold Circulation Standard) भी कहा जाता है। 1914 ई० मे प्रथम विश्व-युद्ध प्रारम्भ होने के पूर्व इस प्रणाली का इगलैड, फ्रास, जर्मनी तथा अमेरिका आदि देशो मे प्रचलन था।

स्वर्ण-चलन मान की प्रमुख विशेषताएँ (Main Characteristics of the Gold Currency Standard) :—स्वर्ण-चलन मान की निम्नलिखित प्रमुख विशेषताएँ हैं :—

(क) स्वर्ण के सिक्कों का प्रचलन :—स्वर्ण-मान की इस प्रणाली मे देश की प्रामाणिक मुद्रा (Standard money) सोने की बनी हुई होती है यानी देश मे स्वर्ण के सिक्को का प्रचलन रहता है। देश की मुद्रा की प्रति इकाई एक निश्चित वजन तथा शुद्धता (a definite weight and fineness) के स्वर्ण की बनी रहती है। उदाहरण के लिए 1914 ई० के पूर्व इगलैड में जब इस प्रणाली का प्रचलन था तो वहाँ की प्रामाणिक मुद्रा 'सावरेन' (Sovereign) या 'स्वर्ण-मुहर' कही जाती थी जिसका वजन 123 17447 ग्रेन था तथा जिसका $\frac{11}{12}$ भाग शुद्ध स्वर्ण रहता था। 'सोवरेन' प्रामाणिक एव अपरिमित विधिग्राह्य सिक्का था जिसका बाह्य मूल्य (Face value) एव आतरिक मूल्य (Intrinsic value) एक समान होता था। स्वर्ण के सिक्के के साथ-साथ पत्र मुद्रा अथवा अन्य निम्न धातु के सिक्को का भी प्रचलन रहता था किन्तु इनका आधार भी स्वर्ण ही होता था तथा ये स्वर्ण के सिक्को मे परिवर्तनीय (convertible) होते थे।

(ख) स्वर्ण को मुफ्त ढलाई (Free minting of gold coins) :—स्वर्ण-चलन मान मे स्वर्ण के सिक्को की ढलाई बिना किसी मूल्य के ही की जाती है, यानी इस प्रणाली मे टकसाल जनता के लिए खुली रहती है। कोई भी व्यक्ति टकसाल से सोने के बदले सिक्के ले सकता है।

(ग) सरकार द्वारा स्वर्ण का क्रय-विक्रय :— स्वर्ण चलन मान मे सरकार एक निश्चित दर पर स्वर्ण बेचती तथा खरीदती है। उदाहरण के लिए, इगलैड मे इस प्रणाली के अन्तर्गत टकसाल सदा 3 पौं० 17 शि० 9 पें० प्रति औंस की दर से स्वर्ण खरीदने तथा 3 पौं० 17, शि० 10½ पें० प्रति औंस पर बेचने के लिए तत्पर रहता था।

(घ) स्वर्ण का स्वतन्त्र रूप से आयात-निर्यात होता है :—इस प्रणाली मे स्वर्ण के आयात एव निर्यात पर किसी भी प्रकार की रुकावट नही रहती। लोग स्वर्ण का आयात एव निर्यात अपनी इच्छानुसार कर सकते हैं।

(च) स्वर्ण-मूल्य मापन (Measurement of value) का कार्य करता है :—इस प्रणाली के अन्तर्गत भुगतान में स्वर्ण मूल्य-मापन का कार्य करता है।

स्वर्ण-चलन मान के लाभ (Advantages of Gold Currency Standard) :— स्वर्ण-चलन मान के बहुत-सारे लाभ बतलाये जाते हैं जिनमे निम्नलिखित विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं :—

(i) जनता का विश्वास :—स्वर्ण चलन मान का सबसे बडा लाभ यह है कि इस प्रणाली मे जनता का विश्वास (confidence) बना रहता है। इस मान मे मुद्रा स्वर्ण की बनी हुई होती है। इसमे स्वर्ण के सिक्को का बाह्य मूल्य (Face value) इनके आन्तरिक मूल्य (Intrinsic value) के बराबर होता है। साथ ही, इस प्रणाली मे यदि अन्य प्रकार के सिक्के प्रचलन मे रहते हैं, तो भी इन्हे स्वर्ण मे परिवर्तित किया जा सकता है। इन कारणो से स्वर्ण-चलन मान मे जनता का विश्वास बना रहता है।

(ii) स्वर्ण-चलन मान में स्वय-सचालकता पायी जाती है (Gold Currency Standard is automatic in its working) .—स्वर्ण-चलन-मान मे स्वय-सचालकता रहती है। इसे सचालित करने के लिए सरकारी हस्तक्षेप की आवश्यकता नही पडती। सरकार स्वर्ण-कोषो के सम्बन्ध मे कुछ नियम बना देती है जिनके अनुसार मुद्रा की मात्रा मे स्वर्ण-कोषो के अनुसार परिवर्तन होते रहता है। इस प्रकार केवल स्वर्ण-मान के नियमो के पालन करते रहने से ही यह प्रणाली स्वतः सचालित होती रहती है।

(iii) स्वर्ण चलन मान में देश के आन्तरिक मूल्य-तल में स्थायित्व (Stability in the internal price level) **रहता है** :—इस मुद्रा मान मे मुद्रा की राशि स्वर्ण के परिमाण से नियमित होती है और चूँकि स्वर्ण की मात्रा में बहुत कम परिवर्तन होता है, अतएव मौद्रिक अधिकारी मुद्रा की राशि मे इच्छानुसार परिवर्तन नही कर सकते। इस प्रकार स्वर्ण चलन मान मे मुद्रा के आन्तरिक मूल्य मे परिवर्तन की सम्भावना नही रहती है।

(iv) विदेशी विनिमय दर में स्थायित्व (Stability in the Foreign Exchange Rates) :—स्वर्ण चलन मान मे देश की मुद्रा स्वर्ण की बनी हुई होती है। साथ ही, स्वर्ण के आयात एव निर्यात पर किसी प्रकार की रुकावट नहीं रहती। अतएव इस पद्धति मे विनिमय-दर मे परिवर्तन केवल स्वर्ण के आयात एव निर्यात करने के खर्च तक ही सीमित रहता है। इस प्रकार स्वर्ण-चलन मान मे विदेशी विनिमय-दर प्राय स्थायी रहती है।

स्वर्ण-चलन मान के दोष (Defects of the Gold Currency Standard) — किन्तु स्वर्ण चलन मान के आलोचको के अनुसार इस प्रणाली के अधिकाश लाभ काल्पनिक हैं। व्यवहार मे इसमें बहुत से दोष नजर आने लगते हैं जिनमे निम्नलिखित विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं —

(i) यह मुद्रा-प्रणाली लोचहीन (inelastic) होती है —स्वर्ण-चलन मान देश की मुद्र-व्यवस्था को अधिक बेलोच बना देता है। इस प्रणाली मे मुद्रा की मात्रा स्वर्ण की मात्रा पर आधारित रहती है। और, चूँकि स्वर्ण की पूर्ति मे बहुत कम परिवर्तन होता है, अतएव इस प्रणाली मे आवश्यकतानुसार मुद्रा की राशि मे परिवर्तन नही किया जा सकता। यही कारण है कि युद्ध अथवा अन्य आर्थिक सकट के समय इस प्रणाली का परित्याग करना पडता है। इसलिए स्वर्ण-चलन मान को केवल अनुकूल परिस्थितियो का मान कहा जाता है। (Gold Currency Standard is only a fair weather standard)

(ii) स्वर्ण का अत्यधिक अपव्यय — इस प्रणाली मे स्वर्ण के सिक्के वास्तविक चलन मे रहते है अतएव स्वर्ण का एक बहुत बडा भाग मुद्रा के रूप मे कार्य मे ही लग जाता है जिससे दूसरे कार्य के लिए स्वर्ण उपलब्ध नही हो पाता। साथ ही, सोने के सिक्को के प्रचलन मे रहने से इनमे घिसावट आदि के फलस्वरूप बहुमूल्य धातु की हानि भी होती है। इस प्रकार इस प्रणाली का प्रमुख दोष यह है कि इसमे स्वर्ण का बहुत अधिक अपव्यय होता है। इनके अतिरिक्त इस मान के और भी बहुत से दोष बतलाये जाते हैं, जैसे—अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के अभाव मे इस प्रणाली मे स्वय-सचालकता नही रहती, मूल्य तल में भी स्थायित्व नही रहता, इत्यादि।

2. स्वर्ण-धातु मान

(Gold Bullion Standard)

प्रथम-विश्व-युद्ध के बाद, 1925 ई० मे इङ्गलैंड तथा कुछ अन्य देशो ने अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्ण-मान की प्रणाली को स्वर्ण-धातु मान (Gold Bullion Standard) के रूप मे ही अपनाया। युद्ध काल मे प्रत्येक यूरोपीय देश मे मुद्रा-प्रसार की आवश्यकता पडी, किन्तु इन देशो के पास इस कार्य के लिए पर्याप्त मात्रा मे स्वर्ण-कोष नही था, अतएव युद्ध प्रारम्भ होते ही स्वर्ण-मान को स्थगित कर दिया गया। युद्ध के बाद जब पुन: स्वर्ण-मान को अपनाने (Restoration of Gold Standard) की बात हुई, तो इङ्गलैंड एव अन्य यूरोपीय देशो मे युद्ध-काल मे प्रसारित अत्यधिक मुद्रा को आड प्रदान करने के लिए पर्याप्त मात्रा मे स्वर्ण-कोष नही था। अतएव इन देशो ने स्वर्ण-चलन मान के एक परिवर्तित रूप—स्वर्ण-धातु-मान (Gold Bullion Standard) को ही अपनाया। स्वर्ण-चलन मान एव स्वर्ण धातु मान के सचालन के आधारभूत सिद्धान्तो में समानता होते हुए भी इन दोनो मे बहुत कुछ बातो को लेकर विभिन्नता थी जो स्वर्ण-धातु मान की विशेषताओ के वर्णन से स्पष्ट हो जाती है।

स्वर्ण-धातु मान की विशेषताएँ (Characteristics of the Gold Bullion Standard) : -**इस प्रणाली की निम्नलिखित प्रधान विशेषताएँ हैं**.—

(क) स्वर्ण के सिक्कों का प्रचलन नहीं रहता :—स्वर्ण-धातु मान मे स्वर्ण ही मूल्य-मापन का कार्य करता है, किन्तु इसमे स्वर्ण के सिक्के प्रचलन मे नही रहते। देश की प्रामाणिक मुद्रा (Standard Money) स्वर्ण की बनी नहीं होकर कागज अथवा किसी अन्य निम्न धातु की बनी होती है जो एक निश्चित दर पर स्वर्ण की पिंडो (Gold bars) मे परिवर्तित रहती है। साथ ही, इस प्रणाली मे पत्र मुद्रा के पीछे 100 प्रतिशत स्वर्ण-कोष नही रख कर एक निश्चित अनुपात जैसे 30 या 40 प्रतिशत स्वर्ण ही सुरक्षित कोष मे रखा जाता है।

(ख) सीमित परिवर्त्यता (Limited Convertibility) — स्वर्ण धातु मान मे सरकार तथा मौद्रिक अधिकारी सभी प्रकार की मुद्राओ को स्वर्ण मे परिवर्तित करने का आश्वासन देते हैं किन्तु इसमे मुद्रा का स्वर्ण मे परिवर्तन एक निश्चित वजन से कम मे नही किया जाता है। उदाहरण के लिए, इगलैंड मे स्वर्ण-धातु मान के अन्तर्गत बैंक ऑफ इगलैंड 400 औंस से कम के सोने के पिंडो (Gold bars) को नही बेचता था। इस प्रकार इस मान मे स्वर्ण एव मुद्रा मे केवल सीमित परिवर्त्यता (Limited Convertibility) ही पायी जाती थी। इस प्रकार की सीमित परिवर्त्यता का प्रधान उद्देश्य स्वर्ण को केवल अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान के लिए ही उपलब्ध बनाना था।

(ग) मुफ्त ढिलाई (Free minting) **की व्यवस्था नहीं**:—स्वर्ण-धातु मान मे स्वर्ण चलन मान की तरह मुफ्त ढिलाई (Free minting) की सुविधा नही रहती है। किन्तु इस प्रणाली मे भी स्वर्ण के आयात एव निर्यात पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं रहता है।

स्वर्ण-धातु मान के लाभ (Advantages of Gold-Bullion Standard) : - स्वर्ण-धातु-मान के निम्नलिखित प्रमुख लाभ हैं —

(क) स्वर्ण के उपयोग में मितव्ययिता (Economy in the use of Gold) — स्वर्ण धातु मान मे सोने की बनी हुई मुद्रा प्रचलन मे नही होने के कारण धातु की बचत होती है। साथ ही, घिसावट आदि द्वारा भी सोना नष्ट नही होने पाता है। इस प्रकार सोने की मुद्रा का प्रयोग नहीं होने से धातु की बचत होती है एव देश की मौद्रिक व्यवस्था स्थायी रहती है।

(ख) इस प्रणाली में पर्याप्त लोच (Elasticity) **होती है** :—स्वर्ण धातु मान का एक प्रमुख लाभ यह है कि इसमे लोच की मात्रा बहुत अधिक होती है। इसमे पत्र-मुद्रा के पीछे 100 प्रतिशत स्वर्ण रखना कोई जरूरी नही। स्वर्ण-कोष की मात्रा मुद्रा की मात्रा के केवल 30 या 40 प्रतिशत ही होती है। अतएव आवश्यकतानुसार इस मात्रा मे परिवर्तन कर मुद्रा की मात्रा मे कमी या वृद्धि की जा सकती है। इस प्रकार स्वर्ण-धातु मान मे देश की औद्योगिक तथा व्यापारिक आवश्यकताओ के अनुसार मुद्रा की मात्रा मे भी परिवर्तन लाने की सुविधा पायी जाती है। अतः इस प्रणाली मे बहुत अधिक लोच होती है।

(ग) स्वर्ण का प्रयोग मुख्यत अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान के लिए ही किया जाता है.— इससे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे वृद्धि होती है तथा विदेशी विनिमय-दर म स्थायित्व भी कायम रहता है। इस प्रकार स्वर्ण-धातु मान के अन्तर्गत भी स्वर्ण मान के प्राय सभी लाभ पाये जाते हैं। इसलिए प्रो० बेन्हम (Benham) ने इसे 'स्वर्ण के सिक्को के प्रचलन के बगैर स्वर्ण-मान' (Gold Standard without Gold coins) की सज्ञा दी है।

स्वर्ण-धातु मान के दोष (Disadvantages of Gold Bullion Standard) — प्रथम विश्व-युद्ध के बाद युद्धकालीन मुद्रा के प्रसार को बनाये रखने के लिए स्वर्ण-धातु मान को ही आदर्श मान समझा गया था। किन्तु चन्द दोषो के कारण यह मान अधिक दिनो तक नही चल सका। इसके निम्नलिखित प्रमुख दोष थे.—

(i) स्वर्ण धातु मान मे स्वर्ण-चलन मान की अपेक्षा जनता का विश्वास (Confidence) कम रहता है—इस मान मे देश की प्रामाणिक मुद्रा सोने की बनी न होकर कागज की बनी होती है। इसमे कोई सन्देह नही कि कागज के नोटो को स्वर्ण मे परिवर्तित किया जा सकता है, किन्तु इस परिवर्तनशीलता के गुण के बावजूद इस मुद्रा प्रणाली मे जनता का विश्वास दृढ नही होने पाता।

(ii) स्वर्ण-चलन मान की तरह स्वर्ण धातु मान भी अनुकूल परिस्थितियो का ही मान (Fair weather Standard) है—आर्थिक सकट के समय इसे भी बनाये रखने मे कठिनाई होती है।

(iii) स्वर्ण-धातु मान में सरकारी नियन्त्रण एव हस्तक्षेप की अधिक आवश्यकता पड़ती है—इसका कारण यह है कि इस मान मे स्वर्ण चलन मान की अपेक्षा स्वय सचालकता (Automatic working) की मात्रा कम पायी जाती है। अतएव इसे बनाये रखने के लिए बहुत अधिक मात्रा मे सरकारी नियन्त्रण आवश्यक होता है।

1925 ई० मे इगलैड ने स्वर्ण धातु मान (Gold Bullion Standard) को ही अपनाया था, किन्तु यह बहुत अधिक दिनो तक नही चल सका, क्योकि स्वर्ण एव पौंड० की दर 1914 ई० के पूर्व की दर के आधार पर ही तय की गयी थी, किन्तु, 1914 ई० की अपेक्षा युद्ध के बाद मूल्य तल- मे बहुत अधिक वृद्धि हो गयी थी, अत उक्त दर के फलस्वरूप पौंड का अधिमूल्यन (overvaluation) हो गया था। इसके विपरीत दूसरे देशो ने कम ही दर पर अपनी मुद्रा को स्वर्ण से सम्बन्धित किया था। इससे इगलैड की वस्तुओ का मूल्य विश्व के बाजार म अन्य देशों की अपेक्षा बहुत अधिक हो गया था। अतएव इगलैड को 1931 ई० मे बाध्य होकर स्वर्ण मान का परित्याग करना पडा।

3 स्वर्ण-विनिमय मान

(Gold Exchange Standard)

स्वर्ण-विनिमय मान मे देश की मुद्रा प्रत्यक्ष रूप से स्वर्ण से सम्बन्धित नही की जाती है, वरन् एक ऐसे देश की मुद्रा से सम्बन्धित की जाती है जो स्वर्ण मे परिवर्तित (Convertible) रहती है। इस मान मे सरकार देश की मुद्रा को स्वर्ण मे नही परिवर्तित कर एक ऐसे देश की मुद्रा मे परिवर्तित करती है जिसके बदले मे स्वर्ण प्राप्त किया जा सकता है। इस प्रकार इस प्रणाली मे देश की मुद्रा परोक्ष रूप से स्वर्ण मे परिवर्तित होती है। इसके परिणामस्वरूप देश के स्वर्ण-कोष का एक महत्त्वपूर्ण भाग दूसरे देश के केन्द्रीय बैक के साथ जमा रहता है। भारत मे 1898 ई० से 1914 ई० तक तथा पुन 1927 ई० से 1931 ई० तक स्वर्ण विनिमय मान का ही प्रचलन था। इस मान के अनुसार भारतीय रुपया इगलैड के पौंड मे (पहले 1 शि० 4 पें की दर से और बाद मे 1 शि० 6 पें की दर से) और पौंड एक निश्चित दर पर स्वर्ण मे परिवर्तित किया जाता था। भारत सरकार भारत मे रुपये के बदले इगलैड के पौंड पर Reverse Council Bills के माध्यम से अधिकार देती थी तथा लदन मे पौंड के बदले भारतीय रुपये पर Council Buills के माध्यम से अधिकार दिया जाता था। इस प्रकार स्वर्ण विनिमय मान मे देश की मुद्रा का स्वर्ण के साथ प्रत्यक्ष सम्बन्ध नही होकर परोक्ष सम्बन्ध रहता था।

स्वर्ण विनिमय मान की विशेषताएँ (Main Characteristics of Gold Exchange Standard) :- स्वर्ण-विनिमय मान की निम्नलिखित प्रमुख विशेषताएँ हैं :—

(क) स्वर्ण-विनिमय मान (Gold Exchange Standard) में पत्र-मुद्रा देश की प्रामाणिक मुद्रा होती है: स्वर्ण-विनिमय मान मे देश मे स्वर्ण-मुद्रा प्रचलन मे नही रहती है। देश की प्रामाणिक मुद्रा पत्र-मुद्रा होती है जो एक निश्चित दर पर किसी दूसरे की मुद्रा मे परिवर्तनीय होती है जो स्वर्ण से सम्बन्धित रहता है।

(ख) देश की मुद्रा का स्वर्ण के साथ प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं रहता है:—इस प्रणाली मे देश की मुद्रा को सीधे स्वर्ण से नही सम्बन्धित कर एक ऐसे देश की मुद्रा से सम्बन्धित कर दिया जाता है जहाँ स्वर्ण-चलन मान या स्वर्ण-धातु मान का प्रचलन रहता है।

(ग) विदेशों में स्वर्ण-कोष रखना पड़ता है :—इस प्रणाली मे सरकार या केन्द्रीय बैंक को विदेशो मे स्वर्ण-कोष रखना पडता है जिसके आधार पर यह प्रणाली प्रचलित रहती है। साथ ही, देश मे उस विदेशी मुद्रा का कोष रखना पडता है जिसमे देश की मुद्रा परिवर्तित होती है।

(घ) स्वर्ण का आयात एवं निर्यात मुक्त नहीं रहता :—इस प्रणाली मे सरकार अपनी सुविधा के अनुसार स्वर्ण के आयात एव निर्यात को व्यवस्थित करती है, यानी इसमे स्वर्ण के आयात एव निर्यात पर प्रतिबन्ध रहता है।

स्वर्ण-विनिमय मान के गुण (Advantages of Gold Exchange Standard) :— स्वर्ण-विनिमय मान के समर्थको के अनुसार इस मान के निम्नांकित प्रधान गुण हैं :—

(1) स्वर्ण के मौद्रिक उपयोग में बचत :—स्वर्ण-विनिमय मान का सर्वप्रधान लाभ यह था कि इसके अन्तर्गत स्वर्ण के मौद्रिक व्यवहार मे बचत (Economy in the use of Gold) होती है। यदि ऐसा नही होता तो स्वर्ण की माग मे वृद्धि होने तथा उसकी पूर्ति मे इस अनुपात में वृद्धि नही होने से बराबर मुद्रा-स्फीति का भय बना रहता जिसका समाज लिए बड़ा ही भयावह परिणाम होता।

(2) देश की मौद्रिक व्यवस्था पर मौद्रिक कोष का कोई प्रभाव नहीं पड़ता :— स्वर्ण-विनिमय में मान देश की मौद्रिक व्यवस्था पर मौद्रिक कोष का बहुत कम प्रभाव पडता है, क्योकि अतर्राष्ट्रीय भुगतान अन्तर्राष्ट्रीय कोष से किया जाता है। इस कारण इस प्रणाली में स्वर्ण के आयात निर्यात की भी कोई आवश्यकता नही पडती। साथ ही, विदेशो मे रखे गये स्वर्ण-कोष पर सरकार को ब्याज भी मिलता है जिससे लाभ होता है।

(3) स्वर्ण-विनिमय मान बहुत ही लोचदार (Elastic) होता है—इस मान मे मुद्रा का-ऽसार स्वर्ण की मात्रा पर निर्भर नही करता, अतएव इसमे सरकार या मौद्रिक अधिकारी सकट काल मे आवश्यकतानुसार मुद्रा जारी कर सकते हैं। इस प्रकार स्वर्ण-विनिमय मान बहुत ही लोचदार (Elastic) होता है।

(4) स्वर्ण-विनिमय मान को निर्धन एवं अविकसित राष्ट्र जिनके पास स्वर्ण बहुत कम मात्रा मे उपलब्ध हैं, भी अपना सकते हैं .—इस मान मे स्वर्ण के सिक्के चलाये बगैर ही स्वर्ण-मान के प्राय सभी लाभ उठाये जा सकते है। अतएव भारत जैसे निर्धन एवं अविकसित राष्ट्र के लिए भी यह पद्धति बहुत ही उपयोगी होती है।

स्वर्ण-विनिमय मान के दोष (Defects of the Gold Exchange Standard) :— स्वर्ण-विनिमय मान के बहुत-से दोष भी बतलाये जाते हैं। इनमे निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं :—

(1) स्वर्ण-विनिमय मान का प्रमुख दोष यह है कि एक ही स्वर्ण-कोष के आधार पर दो या दो से अधिक देशों की मुद्राएँ आधारित रहती हैं : – इससे यह मान मितव्ययितापूर्ण तो अवश्य होता है किन्तु इसमे इस बात की भी आशका बराबर बनी रहती है कि स्वर्ण की यह सीमित मात्रा स्वर्ण-विनिमय मान के सभी कार्यों को सम्पन्न करने मे कहीं अपर्याप्त न सिद्ध हो। यह इस मान का सर्वाधिक प्रमुख दोष है।

(2) देश की मौद्रिक व्यवस्था विदेशी मौद्रिक व्यवस्था पर आधारित हो जाती है :—इस मान में मौद्रिक व्यवस्था के सम्बन्ध में स्वतन्त्रता नही रह जाती है। देश की मौद्रिक

नीति केन्द्रीय देश (Planet Country) की मौद्रिक नीति पर अवलम्बित हो जाती है। यदि किसी कारणवश केन्द्रीय देश स्वर्ण-प्रमाप का परित्याग कर दे तो स्वर्ण-विनिमय मानवाले देश को भी स्वर्ण-विनिमय-मान का परित्याग करना ही पडेगा। इससे इस मान को अपनानेवाले देश की प्रतिष्ठा अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे बहुत घट जाती है।

(3) **स्वर्ण-विनिमय मान स्वयं संचालक (automatic) मान नहीं है**.—इसका सचालन बहुत कुछ मौद्रिक अधिकारियो की इच्छा पर ही निमर करता है। साथ ही, इसमे पर्याप्त मात्रा मे लोच भी नही पायी जाती है। देश मे मुद्रा-प्रसार मे कोई कठिनाई नही होती, किन्तु मुद्रा के सकुचन मे बहुत कठिनाई होती है।

किन्तु इन सब दोषो के बावजूद यदि कोई निर्धन देश, जिसके पास स्वर्ण-कोष का अभाव है, अपनी विदेशी विनिमय दर को स्थायी रखना चाहता है, तो उसके लिए स्वर्ण-विनिमय मान के अतिरिक्त दूसरा कोई उपाय नही है।

इसके अतिरिक्त स्वर्ण-मान के और भी दो रूप बतलाये जाते हैं:—

(1) **स्वर्ण-निधि मान** (Gold Reserve Standard), तथा

(2) **स्वर्ण-समता मान** (Gold Parity Standard)।

(4) **स्वर्ण निधि मान** (Gold Reserve Standard) :—स्वर्ण-निधि मान के अन्तर्गत अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर भी विनिमय कोषो की स्थापना की जाती है। 1936 से 1939 के बीच इस पद्धति को बेल्जियम, फ्रास, स्विटजरलैण्ड और अमेरिका आदि देशो ने अपनाया था। इन देशो ने अपनी विनिमय-दरो की स्थिरता के लिए आपस मे एक समझौता किया था जिसके आधार पर एक नवीन मुद्रा-प्रणाली अपनायी गयी थी। इसे स्वर्ण-निधि मान (Gold Reserve Standard) कहते हैं।

स्वर्ण-निधि मान की विशेषताएँ :—स्वर्ण-निधि मान की निम्नांकित प्रमुख विशेषताएँ हैं :—(1) **स्वर्ण के व्यापार पर नियन्त्रण** :—इस प्रणाली के अन्तर्गत स्वर्ण के आयात-निर्यात पर नियन्त्रण होता है अर्थात् स्वर्ण का व्यापार केवल देश की सरकार द्वारा ही किया जा सकता था। (2) **विनिमय समकारी कोषों की स्थापना** :—जो देश अपनी विनिमय-दरो की स्थिरता के लिए समझौता करते हैं उन्हे एक कोष रखना होता था। इसे विनिमय-समकारी कोष (Exchange Equalisation Fund) कहते हैं। इन कोषो की सन्तुलन सम्बन्धी विशेषता के कारण इन्हें विनिमय सन्तुलन खाता (Exchange Equalisation Account) भी कहा जाता है। (3) **कार्य प्रणाली की गुप्तता** :—विनिमय-समकारी कोषो की कार्य प्रणाली गुप्त रखी जाती थी। इसमे मुद्रा की मात्रा, उसकी खरीद अथवा बिक्री के सम्बन्ध मे जनता अनभिज्ञ रहती थी। (4) **स्वर्ण की कीमतों पर नियन्त्रण की आवश्यकता** :—इसके अन्तर्गत संचित किये जाने-वाले स्वर्ण की कीमत पर नियन्त्रण रखने की आवश्यकता सरकार को नहीं होती थी क्योकि स्वर्ण की कीमतो का नियन्त्रण अप्रत्यक्ष रूप से स्वत हो जाता था (5) **कोष में दो प्रकार की मुद्राओं का सचय**. विनिमय समकारी कोष मे दो प्रकार की मुद्राओ का सचय किया जाता था एक तो अपने देश की मुद्रा होती थी (अर्थात् देशी मुद्रा) एव दूसरी विदेशी मुद्रा होती थी। (6) **कोष का संचालन केन्द्रीय बैंकों द्वारा** :—जो भी कोष इस पद्धति के अन्दर रखे जाते थे उनका सचालन प्रत्येक देश के केन्द्रीय बैंक के हाथो मे रहता था।

(5) **स्वर्ण-समता मान** (Gold Parity Standard) :—इस प्रकार का स्वर्ण-मान सबसे पहले सन् 1946 मे प्रचलन मे आया जब इसको कार्यान्वित करने के लिए "अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष" की स्थापना की गयी। दूसरे शब्दो मे, अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष के तत्वावधान मे यह मान अपनाया गया है। इसमे सदस्य-राष्ट्र अपनी आन्तरिक मौद्रिक व्यवस्था मे पूर्ण रूप से स्वतन्त्र होते हैं, अर्थात् देश की आन्तरिक व्यवस्था मे किसी प्रकार का भी हस्तक्षेप नहीं पाया जाता है। इसमें स्वर्ण को अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय के माध्यम तथा मूल्य मापन की ईकाई के रूप मे प्रयोग किया जाता है।

स्वर्ण-मान के कार्य अथवा उद्देश्य

(Functions or Objectives of the Gold Standard)

आधुनिक स्वर्ण मान के निम्नलिखित दो प्रधान कार्य अथवा उद्देश्य हैं—

(1) सर्वप्रथम तो यह देश की मुद्रा के परिमाण को नियन्त्रित करने का एक तरीका है (It is a method of controlling the volume of the currency) :– स्वर्ण-मान के अन्तर्गत देश की मुद्रा की राशि स्वर्ण पर आधारित रहती है। जब देश में स्वर्ण के बने हुए सिक्कों का प्रचलन नहीं होकर पत्र-मुद्रा का प्रचलन रहता है, तो साधारणतया पत्र-मुद्रा को जारी करने के लिए स्वर्ण की आड (Gold Backing) की आवश्यकता पड़ती है। प्रत्येक देश में मुद्रा-सम्बन्धी अधिनियम (Currency Laws) में इस प्रकार की व्यवस्था पायी जाती है जिसके अनुसार पत्र-मुद्रा जारी करने के लिए एक निश्चित मात्रा में स्वर्ण को आड के रूप में रखना अनिवार्य होता है। उदाहरण के लिए, प्रथम युद्ध के पूर्व ग्रेट-ब्रिटेन में बैंक ऑफ इंगलैंड बिना स्वर्ण-आड के 40 करोड़ पौण्ड तक का नोट जारी (Fiduciary issue) कर सकता था। इससे अधिक नोट जारी करने के लिए बैंक को शत-प्रतिशत स्वर्ण की आड की आवश्यकता पड़ती थी। संयुक्त राज्य अमेरिका में फेडरल रिजर्व बैंक (Federal Reserve Bank) के द्वारा जारी किये गये कुल नोटों के मूल्य के 40 प्रतिशत के बराबर स्वर्ण-प्रतिभूतियों को आड के रूप में रखना अनिवार्य है। अन्य देशों में भी प्रायः इसी प्रकार की व्यवस्था की गयी थी। इस प्रकार इससे इन देशों में केन्द्रीय बैंकों की नोट जारी करने की शक्ति सीमित हो जाती है। केन्द्रीय बैंक इन नियमों का उल्लंघन किये बगैर अपने स्वर्ण-कोष से अधिक मात्रा में नोट नहीं जारी कर सकते। इसे **स्वर्ण मान का आन्तरिक पक्ष या राष्ट्रीय स्वर्ण-मान** (Domestic Gold Standard) या स्वर्ण-मान का आन्तरिक कार्य कहा जाता है। इनका प्रधान उद्देश्य देश में मुद्रा की मात्रा को नियमित कर मुद्रा के आन्तरिक मूल्य को स्थायी बनाना (Stabilising the internal value of the currency) है।

(2) स्वर्ण-मान विनिमय दर को स्थायी बनाने का एक साधन है (Gold standard is a device for maintaining the stability of exchange rates) —स्वर्ण-मान का दूसरा प्रधान कार्य अथवा उद्देश्य विनिमय दर को स्थायी बनाना (To Preserve the Stability of exchange rates) है। विनिमय दर का स्थायित्व विदेशी व्यापार को प्रोत्साहित करने के लिए नितान्त आवश्यक समझा जाता है। अस्थायी विनिमय-दर से सदा विदेशी व्यापार में लाभ अथवा हानि की आशंका बनी रहती है। इस अनिश्चितता का अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान तथा व्यापार पर बहुत ही बुरा प्रभाव पड़ता है। स्वर्ण-मान का प्रधान उद्देश्य विनिमय दर को स्थायी बनाना है। स्वर्ण-मान के इस पक्ष को अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्ण-मान (International Gold Standard) कहते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्ण-मान में विभिन्न देशों की मुद्राएँ स्वर्ण की बनी हुई होती हैं या स्वर्ण में परिवर्त्य (Convertible) होती हैं। अतएव ऐसी स्थिति में दो देशों की मुद्राओं की विनिमय दर उनमें निहित स्वर्ण की मात्रा (Gold Contents) के अनुसार तय होती हैं। उदाहरण के लिए, यदि 1 डॉलर=1 ग्रॉम स्वर्ण

और 1 रुपया=$\frac{1}{4}$ ग्रॉम स्वर्ण

तो रुपये एवं डॉलर की विनिमय-दर 4 रुपये = 1 डॉलर होगी। अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्ण-मान के अन्तर्गत रुपये एवं डॉलर की यही विनिमय दर होगी। यह दर लगभग स्थायी होगी। अब किसी कारणवश यदि भारत में डॉलर की माँग बढ़ जाती है जिससे भारतीय व्यापारियों को एक डॉलर के बदले में पाँच रुपये चुकाने पड़ते हैं तो अमेरिका में भुगतान डॉलर के रूप में नहीं करके यहाँ से स्वर्ण खरीद कर उसे अमेरिका भेज देंगे। इससे डॉलर की माँग स्वयं कम हो जायगी और विनिमय दर पुनः 4 रुपये बराबर 1 डॉलर की हो जायगी। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्ण-मान में विनिमय-दर में यदि परिवर्तन भी होता था तो वह स्वर्ण आयात (Gold import) और स्वर्ण-निर्यात (Gold export) के खर्च तक ही सीमित रहता था। इस प्रकार देश की मुद्रा को विनिमय दर में स्वर्ण-प्रमाप के अन्तर्गत इन्हीं स्वर्ण-बिन्दुओं (Gold points) के बीच परिवर्तन हो सकता है। इस प्रकार प्राविधिक दृष्टि से स्वर्ण-प्रमाप एक ऐसा तरीका है जो इस बात को निश्चित करता है कि विदेशी विनिमय बाजार में किसी मुद्रा की माँग एवं पूर्ति सदा

बराबर होगी, या इन दोनो मे इतनी अधिक घट-बढ नही होगी जिससे विनिमय की दर मे 1 प्रतिशत से अधिक का परिवर्तन हो सके। (Thus from the technical points of view, the gold standard is a device for ensuring that the demand for and supply of a currency in the exchange market shall always be equal to each other—or more accurately shall not diverge to such an extent as to cause the exchange rates to move by more than about one percent.)

इस प्रकार स्वर्ण मान के ये दो प्रमुख कार्य या उद्देश्य है। स्वर्ण-मान के ये दोनो उद्देश्य अथवा कार्य एक दूसरे से पूर्णत. पृथक् हैं। पहले कार्य का सम्बन्ध देश मे मुद्रा की मात्रा को नियमित करने से है, यानी इसका सम्बन्ध मुद्रा के आन्तरिक मूल्य से है। अतएव इसे आन्तरिक या घरेलू स्वर्ण-मान (Domestic Gold Standard) कहा जाता है। दूसरे कार्य का प्रधान उद्देश्य मुद्रा के बाह्य मूल्यो को स्थायी बनाना है, अतएव इसे अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्ण-मान (International Gold Standard) कहा जाता है। क्राउथर के शब्दो मे **"आन्तरिक स्वर्ण-मान की महत्वपूर्ण बात स्वर्ण एव मुद्रा के बीच का अनुपात है जो कानून द्वारा निश्चित रहता है। दूसरी ओर अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्ण मान का सारांश मुद्रा की स्वर्ण में परिवर्तनीयता (Convertibility) है, यानी मुद्रा की एक इकाई का स्वर्ण के एक निश्चत परिमाण के साथ सम्बन्ध स्थापित करना है।"**[1] कोई देश इन दोनो कार्यों मे से किसी एक कार्य को छोडकर भी केवल दूसरे को अपना सकता है। उदाहरण के लिए, इगलैंड ने जब 1931 ई० मे स्वर्ण-मान का परित्याग किया तो परिवर्तनीयता (convertibility) तो समाप्त हो गयी, किन्तु पत्र-मुद्रा जारी करने के सम्बन्ध मे जो वैधानिक व्यवस्था थी, वह चलती रही। स्वर्ण-मान के ये दोनो कार्य केवल पृथक्-पृथक् ही नही हैं, वरन कभी-कभी इनमे आपस मे सघर्ष भी हो जाता है। किन्तु इन दोनो स्वर्ण-मानो मे अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्ण-मान ही अधिक महत्वपूर्ण है। अतएव हम यहां अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्ण-मान की ही मुख्य रूप से विवेचना करेंगे।

स्वर्ण-मा के लाभ
(Advantages of Gold Standard)

विश्व मे धात्विक मुद्रा मान का सर्वाधिक प्रधान रूप स्वर्ण-मान ही रहा है। **स्वर्ण-मान के बहुत से लाभ हैं जिनमें निम्नलिखित विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं :—**

(1) विनिमय दरों का स्थायित bility of Exchange Rates) :—अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार एव पूंजी के उन्मुक्त प्रवाह के लिए वि दरो का स्थायित्व अति अनिवार्य है। विनिमय दरो के अनिश्चित हाने से विदेशी व्यापार मे अनिश्चितता का समावेश हो जाता है जिससे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की प्रगति अवरुद्ध हो जाती है। अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान का सर्वाधिक प्रमुख लाभ यह है कि इसमे विनिमय-दर प्राय. स्थायी रहती है। स्वर्णमान के अन्तर्गत स्वर्ण को अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान की इकाई (International unit of account) के रूप मे प्रयोग किया जाता है जिससे इस प्रभाव मे विनिमय दरो मे परिवर्तन केवल स्वर्ण बिन्दुओ (Gold points) के बीच ही सीमित रहता है। इस प्रकार विनिमय-दरो के स्थायी रहने से अन्तर्राष्ट्रीय विश्वास की सृष्टि होती है, वाणिज्य मे वृद्धि होती है जिससे प्रत्येक देश के आर्थिक विकास मे सहायता मिलती है। इसके फलस्वरूप जीवन-स्तर मे भी सुधार होता है।

(2) मूल्य-स्तर में स्थायित्व (Stability in the price-level) :—स्वर्ण-मान के समर्थकों के अनुसार स्वर्ण-मान केवल विनिमय-दर को ही स्थायी नही बनाता, वरन् मूल्य-तल को भी स्थायी बनाता है। मूल्य-स्तर मे समानता रहने से प्रत्येक देश को समान आधार पर अन्त-

1. "The cardinal point in the Domestic Gold Standard is clearly the proportion of value enforced by the law between the Gold reserves and the currency The essence of the International Gold Standard is the convertibility of the currency into Gold i. e, the fixed proportion of value between a unit of Gold and a unit of currency."—Crowther: An Outline of Money, p. 283.

राष्ट्रीय व्यापार में हिस्सा लेने का अवसर मिलता है जिससे अन्ततः विदेशी व्यापार भी प्रोत्साहित होता है। वास्तव में, 1914 के पूर्व स्वर्ण का मूल्य लगभग स्थायी था। इसका कारण यह था कि स्वर्ण का वार्षिक उत्पादन उसके कुल स्टॉक का एक अत्यन्त छोटा भाग था, अतएव स्वर्ण के मूल्य पर वार्षिक उत्पत्ति का प्रायः कोई प्रभाव नहीं पड़ता था और चूँकि इस प्रणाली में देश की मौद्रिक व्यवस्था स्वर्ण पर पूर्णतया आधारित थी, अतएव इसके परिमाण में अधिक वृद्धि नहीं होने से है। मूल्य तल भी प्रायः स्थायी ही रहता था। किन्तु ऐसा कहना कि सोने की पूर्ति के स्थायी रहने से देश की आर्थिक व्यवस्था स्थायी रहती है, युक्तिसगत नहीं जान पड़ता। वास्तव में '**सोने की मात्रा देश की मौद्रिक व्यवस्था के आधार को निश्चित करती है किन्तु इस आधार पर अन्य तरह के मुद्रा की सृष्टि प्रामाणिक मुद्रा तथा सांकेतिक मुद्रा एवं जमा के अनुपात पर निर्भर करती है।**" (Gold determines only the base of the monetary pyramid, the actual reserve ratios which connect standard money with token money and deposit money account for the rest) अतएव इस प्रणाली में मूल्य-तल का स्थायित्व केवल स्वर्ण के स्थायित्व से नहीं, वरन मौद्रिक प्रबन्ध की सहायता से सम्भव होता है।

(3) **स्वर्ण-प्रमाप में मुद्रा-स्फीति (Inflation) की सृष्टि नहीं होती।**—ऐसा कहा जाता है कि स्वर्ण प्रमाप मौद्रिक अधिकारियों पर एक प्रकार के स्वर्णिम नियन्त्रण (Golden Brake) का काम करता है। स्वर्ण-प्रमाप में मुद्रा-स्फीति नहीं हो सकती क्योंकि यदि कोई देश अधिक नोट छापेगा तो वहाँ से स्वर्ण का निर्यात होने लगेगा। इस प्रणाली में सरकार अपनी आवश्यकता की पूर्ति के अनुसार मुद्रा-प्रसार एवं घाटे की वित्त-व्यवस्था (deficit financing) की नीति नहीं अपना सकती। इस प्रकार स्वर्ण-प्रमाप गैर-जिम्मेवार या केन्द्रीय बैंक की स्वेच्छा पर एक प्रकार से लगाम या रुकावट का कार्य करता है। यह मुद्रा-स्फीति तथा अपस्फीति के विस्तार को रोकता है। किन्तु यदि स्वर्ण मुद्रा-स्फीति तथा अपस्फीति के प्रसार को रोकता है तो यह इन्हें विश्वव्यापी भी बनाता है। साथ ही, जब कभी भी किसी देश की सरकार को आवश्यकता पड़ती है तो इस प्रणाली को स्थगित कर अपना काम चला लेती है। प्रथम महायुद्ध के समय में ऐसा ही हुआ था।

(4) **स्वर्ण का आन्तरिक मूल्य** (Intrinsic value of Gold)—स्वर्ण प्रमाप के पक्ष में यदा-कदा यह तर्क भी दिया जाता है कि इसमें मौद्रिक व्यवस्था का आधार ऐसी वस्तु (स्वर्ण) से निर्मित होता है जिसे अपना आन्तरिक मूल्य (Intrinsic value) प्राप्त है। इस प्रणाली में स्वर्ण का महत्त्व केवल मुद्रा के रूप में ही नहीं, वरन् वस्तु के रूप में भी बहुत अधिक है। स्वर्ण के प्रति प्रारम्भ से ही लोगों का अधिक आकर्षण रहा है, अतएव स्वर्ण पर आधारित मौद्रिक व्यवस्था में लोगों का विश्वास अधिक रहता है। इसके विपरीत पत्र-मुद्रा का अपना कोई गुण नहीं होता। इसका महत्त्व केवल मुद्रा के रूप में ही रहता है। किन्तु केवल मुद्रा-पदार्थ के आन्तरिक गुण से ही कोई मौद्रिक प्रणाली सुन्दर होती है इस प्रकार का तर्क युक्तिसगत नहीं जान पड़ता। वास्तव में, समुचित प्रबन्ध के द्वारा भी किसी मौद्रिक प्रणाली को अधिक सुव्यवस्थित बनाया जा सकता है।

(5) **प्रत्येक देश की साख नीति को अन्य देशों के औसत व्यवहार के साथ चलना पड़ता है** (The internal credit policy of a country is kept in line with the average behaviour of the participating countries).—इस प्रणाली में प्रत्येक देश को अपनी साख नीति के सम्बन्ध में अन्य देशों के औसत व्यवहार के साथ साथ चलना पड़ता है। यदि कोई एक देश या कुछ देशों का समूह स्वतन्त्र रूप से स्फीति का अनुसरण करना चाहे तो वे ऐसा नहीं कर सकते क्योंकि इससे स्वर्ण के अन्तर्राष्ट्रीय प्रवाह की सृष्टि होगी जिसमें उस देश को बाध्य होकर अन्य देशों के साथ चलना पड़ेगा। अतएव इस प्रणाली का एक लाभ यह भी है कि इसमें प्रत्येक देश की मौद्रिक व्यवस्था पर नियन्त्रण रहता है तथा सभी देशों की मौद्रिक एवं साख-नीति को अन्य देशों के औसत व्यवहार के अनुसार चलना पड़ता है।

(6) **स्वतः संचालित एवं सहज प्रणाली** (Automatic and simplicity)—स्वर्ण-मान की प्रणाली स्वतः संचालित (Automatic) होती है, इसके संचालन के तरीके सहज होते हैं जिसमें सभी राष्ट्र इन तरीकों का सुगमता से अनुकरण कर सकते हैं। इसलिए अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सम्बन्ध अत्यन्त ही व्यवस्थित हो जाता है। किन्तु ऐसा कहना कि यह प्रणाली स्वतः

संचालित है, सत्य नहीं है। इनके संचालन के लिए भुगतान संतुलन (Balance of Payments) की आवश्यकताओं के अनुसार मूल्य एवं लागत में परिवर्तन करना पड़ता है। अतः अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्ण-प्रमाप स्वतः संचालित नहीं है क्योंकि इसमें मौद्रिक नीति के जटिल प्रभाव की देख-रेख आवश्यक हो जाती है।

(7) **स्वर्ण-उत्पादक देशों को लाभ** (Advantages to gold producing countries)—स्वर्ण-उत्पादक देश इस प्रणाली को कायम रखने के लिए बहुत ही उत्सुक रहते हैं। इसके कायम रहने से सोने की माग उच्च स्तर पर कायम रहती है और इसका मूल्य भी ऊँचा रहता है किन्तु इसके परित्याग से स्वर्ण उद्योग को हानि होती है। यही कारण है कि अभी भी अमेरिका में कुछ ऐसे लोग हैं जो स्वर्ण-मान को पुनः अपनाने के पक्ष में हैं और वे वहाँ की सरकार के ऊपर इस बात का प्रभाव डालकर सोने के मूल्य में वृद्धि करना चाहते हैं। दक्षिणी अफ्रिका भी इसी विचार का समर्थन करता है।

(8) **अन्तर्राष्ट्रीय प्रमाप** (International standard).—स्वर्ण-प्रमाप के पक्ष में बहुधा यह भी तर्क दिया जाता है कि यह एक अन्तर्राष्ट्रीय प्रमाप है। स्वर्ण अन्तर्राष्ट्रीय संचिती एवं विनिमय दोनों के माध्यम का कार्य करता है। किन्तु क्या अन्तर्राष्ट्रीय प्रमाप आदर्श प्रमाप है? अन्तर्राष्ट्रीय प्रमाप तभी आदर्श होता जब सम्पूर्ण विश्व एक होता। किन्तु आज यह बात नहीं पायी जाती है, अतएव ऐसी स्थिति में स्वर्ण-प्रमाप केवल भावुक अन्तर्राष्ट्रीयता का ही प्रतीक होगा।

स्वर्ण-प्रमाप के दोष
(Defects of Gold Standard)

किन्तु स्वर्ण-प्रमाप के उपरोक्त लाभों के साथ-साथ इसके बहुत-सारे दोष भी हैं जिनमें निम्नलिखित विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं—

(1) **स्वर्ण-प्रमाप केवल अच्छे समय का ही मान** (A fair weather standard) है—इस प्रणाली के सफल संचालन के लिए यह आवश्यक है कि विश्व की अर्थ व्यवस्था लोचपूर्ण हो एवं इसमें स्थायित्व हो, किन्तु लोचपूर्ण व्यवस्था कायम रखना कठिन है और लोचहीन व्यवस्था में इसके संचालन में सफलता नहीं मिल सकती। अतएव हॉम (Halm) के शब्दों में, 'यह प्रणाली **एक ऐसी नाव की तरह है जो तूफानी स्थिति में आश्रय देने की क्षमता नहीं रखती।**" (It is a fair-weather craft of doubtful sea-worthiness in stormy waters) प्रथम महायुद्ध के बाद विभिन्न देशों ने अन्तर्राष्ट्रीय वाणिज्य पर नियन्त्रण स्थापित कर स्वावलम्बी आर्थिक व्यवस्था (Self sufficient economy) के निर्माण का प्रयत्न किया जिससे इस प्रणाली का परित्याग करना आवश्यक हो गया। उन्नीसवीं शताब्दी में इस प्रणाली की सफलता का कारण यह था कि उस समय विश्व की अर्थ व्यवस्था में उत्तरोत्तर प्रगति एवं प्रसार हो रहा था तथा जनसंख्या में वृद्धि हो रही थी। स्वर्ण-मान का सर्वाधिक प्रमुख दोष यह है कि इसकी प्रवृत्ति सदैव आर्थिक व्यवस्था में अपस्फीति की सृष्टि करने की ओर होती है क्योंकि सम्पूर्ण मुद्रा राशि सोने के आधार पर निर्मित होने के कारण मौद्रिक आवश्यकताओं के अनुसार वृद्धिशील नहीं रहती, किन्तु, उन्नीसवीं शताब्दी में बैंक-मुद्रा के प्रसार ने इस प्रवृत्ति का निराकरण कर दिया था।

(2) **देश की मौद्रिक एवं साख-नीति की अन्य देशों पर निर्भरता** :—स्वर्ण-मान में राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था विश्व की आर्थिक व्यवस्था के हित से अनुशासित होती है। इस प्रणाली के अन्तर्गत किसी देश की आन्तरिक अर्थ व्यवस्था स्वतन्त्र रूप से संचालित नहीं हो सकती, अतः देश के आर्थिक कल्याण की प्राप्ति का उद्देश्य गौण पड़ जाता है और मौद्रिक व्यवस्था के प्रसार का क्षेत्र सीमित हो जाता है। इस पर अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक शक्तियों का उन्मुक्त रूप से प्रभाव पड़ने लगता है। यदि किसी भी देश में मन्दी अथवा तेजी का प्रादुर्भाव हो जाय तो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के माध्यम से ये अन्य देशों में फैल जायेंगी और जो कोई देश इनसे अपने को सुरक्षित रखने का प्रयत्न करेगा वह इस प्रणाली के नियमों का उल्लंघन करेगा। इसके अतिरिक्त यदि किसी देश का भुगतान संतुलन प्रतिकूल हो जाय तो उसे सुधारने के लिए उस देश की मूल्य एवं लागत में कमी लाने के लिए अपस्फीति तथा अनुकूल होने पर स्फीति की सृष्टि करनी होगी,

किन्तु दोनो ही स्थिति मे सतुलन की प्राप्ति काफी देर बाद होगी और इस बीच आर्थिक व्यवस्था पर बहुत दबाव पड़ने से यह अस्त-व्यस्त हो जायगी। इस दोष को स्पष्ट करते हुए प्रो० विलियम्स (Williams) ने ठीक ही कहा है कि "The Go'd Standard has frequently not been the efficient instrument of two-sided compensatory internatiooal adjustment it was meant to be. It was a means of spreading depressions and sometimes booms from one country to another."

(3) पूर्ण रोजगार की प्राप्ति में कठिनाई (Anachronism in times of full-employment policies)—स्वर्ण-प्रमाप मे पूर्ण रोजगार (full employment) की प्राप्ति कठिन होती है। पूर्ण-रोजगार के उद्देश्य की प्राप्ति के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि प्रत्येक देश स्वतन्त्र रूप से अपनी आर्थिक व्यवस्था का निर्माण करे जिसके लिए स्वतन्त्र आर्थिक नीति का अनुकरण कठिन हो जाता है। प्रथम महायुद्ध के बाद विश्व के अधिकाश देशो मे मौद्रिक एव वित्तीय नीति का प्रधान उद्देश्य पूर्ण-रोजगार की प्राप्ति करना हो गया, किन्तु स्वर्ण प्रमाप का प्रधान उद्देश्य विनिमय-दर का स्थायित्व है जिससे पूर्ण रोजगारी का उद्देश्य प्रायः असम्भव-सा हो जाता है। यह स्वर्ण-प्रमाप का सर्वाधिक प्रमुख दोष है।

(4) विश्व में मौद्रिक एव साख-प्रबन्ध के क्षेत्र में अराजकता (Anarchy in world credit control)—स्वर्ण-प्रमाप से विश्व मे मौद्रिक प्रबन्ध के क्षेत्र मे अराजकता की सृष्टि होती है। यदि कुछ देश अपस्फीति एव मुद्रा-प्रसार की नीति का अनुकरण करेंगे तो इसके फलस्वरूप अन्य देशो मे भी ये प्रवृत्तियाँ उत्पन्न हो जायँगी। इसका तात्पर्य यह है कि विश्व के अन्य देश मौद्रिक प्रबन्ध के मामले मे असफल एव असहाय हो जायँगे। रॉबर्टसन (Robertson) का इस सम्बन्ध मे निम्नाकित कथन विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण जान पड़ता है—"The value of yellow metal, originally chosen as money, because it tickled the fancy of savages is clearly a ehance and irrelevant thing on which to base the value of our money and the stability of our industrial system,"

(5) स्वर्ण-मान में भी मौद्रिक प्रबन्ध से छुटकारा नहीं है (No escape from managed currencies)—स्वर्ण-प्रमाप सरल तथा स्वतः प्रचालित (Simple and automatic) मान नही है। इसमे भी मौद्रिक अधिकारियो को सदा व्यवस्थापन के लिए तैयार रहना पड़ता है। वास्तव मे, आज की दुनिया मे प्रश्न यह नही है कि मुद्रा का प्रबन्ध हो या नही हो, वरन् प्रश्न यह है कि प्रबन्ध की मात्रा कम हो या अधिक, अच्छी हो या बुरी। (We cannot chose between purely automatic aud managed standard but only between managed standards of different degrees) केन्स (Keynes) ने भी इस सम्बन्ध मे ठीक ही कहा है कि **"आज के पत्र-मुद्रा एव बैंक जमा के युग में व्यवस्थित मुद्रा से छुटकारा नहीं हो सकता। स्वर्ण में परिवर्तनीयता से इस बात को अस्वीकार नहीं किया जा** ***सकता कि स्वर्ण का मूल्य भी केन्द्रीय बैंक की नीति पर ही निर्भर करता है।"*** (In the modern world of paper currency and bank credit, there is no escape from a managed currency whether we wish it or not. Convertibility into go'd will not alter this fact that value of gold itself depends on the policy of the Central Banks.)[1]

(6) बेकारी का कारण (Cause of unemployment)—स्वर्ण-प्रमाप के अन्तर्गत प्रत्येक देश का पारिश्रमिक एव मूल्य-तल अन्तर्राष्ट्रीय तत्त्वो पर अवलम्बित होता है। कोई भी राष्ट्र अपने देश मे स्वतन्त्र आर्थिक-नीति का अनुसरण नही कर सकता। अतः ऐसी स्थिति मे यदि श्रमिक सघ (Trade Unions) के प्रयत्नो के परिणामस्वरूप पारिश्रमिक के स्तर मे वृद्धि हो जाय तो मूल्य-तल मे वृद्धि अवश्य होगी, किन्तु यदि यह स्तर अन्तर्राष्ट्रीय मूल्य एव पारिश्रमिक स्तर से ऊँचा होगा तो उस देश मे बेकारी की सृष्टि होगी क्योकि अन्य देशो मे इन वस्तुओ की माग कम हो जायगी। इसके विपरीत यदि पारिश्रमिक मे वृद्धि के फलस्वरूप मूल्य तल मे वृद्धि न हो तो

1. Lord Keynes—"The Objective of International Price Stability." Economic Journal—June-September. 1948; pp. 185-87.

सीमात फर्मों (marginal firms) को घाटा होगा जिससे वे उत्पादन बन्द कर देंगी तथा उत्पादन के बहुत-से साधन बेकार हो जायेंगे। इस प्रकार स्वर्ण प्रमाप के अन्तर्गत अन्य देशों की तुलना में पारिश्रमिक एवं मूल्य-तल में वृद्धि होने से बेकारी की सृष्टि होती है, जैसा कि केन्स (Keynes) ने कहा है—'The Gold-standard confines the natural tendency of wages to rise beyond the limits set by the volume of money, but can only do so by the weapon of deliberately creating unemployment"

(7) स्वर्ण-मान में मुद्रा प्रणाली महँगी एवं बेलोचदार होती है —स्वर्ण-प्रमाप में देश की मुद्रा-प्रणाली स्वर्ण की मात्रा पर आधारित रहती है जिससे यह महँगी पड़ती है तथा साथ ही, इसमें लोच के गुण का भी अभाव पाया जाता है।

(8) स्वर्ण-कोष की बर्बादी (Wastage of gold reserves) —स्वर्ण प्रमाप में बहुत-सा सोना यों ही स्वर्ण-कोष के रूप में बेकार पड़ा रहता है। स्वर्ण कोष केवल उसी स्थिति में अनिवार्य है जब देश की मौद्रिक व्यवस्था बिल्कुल स्वतः प्रचालित हो। जब मौद्रिक तथा साख-नीति को मौद्रिक अधिकारियों की मर्जी पर छोड़ देना है तो ऐसी प्रणाली में स्वर्ण कोष की कोई आवश्यकता ही नहीं रहती। केन्स Keynes) का इस सम्बन्ध में यह कथन बड़ा ही उचित जान पड़ता है "If money and credit could be left to the discretion of the monetary authority, we could do without gold backing requirements whose effect is merely to take away a large part and sometimes the major part of gold reserves so that it can never be used"

इस प्रकार स्वर्ण प्रमाप के लाभ एवं दोषों की विवेचना से यह स्पष्ट है कि इस प्रणाली में लाभ की अपेक्षा दोष ही अधिक हैं। (Gold standard has more disadvantages than advantages) यही कारण है कि आज सभी देशों में पत्र-मुद्रा मान का ही प्रचलन है।

अंतर्राष्ट्रीय स्वर्ण-मान की संचालन-विधि

(Working of the International Gold Standard)

आंतरिक स्वर्ण-मान (Domestic Gold Standard) का सम्बन्ध मुद्रा की मात्रा एवं आन्तरिक मूल्य-तल पर इसके प्रभाव से है जबकि अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्ण मान (International Gold Standard) का सम्बन्ध मुद्रा के बाह्य मूल्य एवं विदेशी विनिमय के स्थायित्व से है। जब विभिन्न देशों में एक निश्चित वजन एवं शुद्धता के स्वर्ण की बनी हुई मुद्रा का प्रचलन था तो दो देशों की मुद्रा की विनिमय-दर में केवल नाम मात्र (स्वर्ण बिन्दुओं के बीच) से अधिक परिवर्तन की गुंजाइश नहीं रहती थी। धीरे-धीरे जब पत्र-मुद्रा का प्रचलन हुआ तो स्वर्ण में इनकी परिवर्तनीयता (Convertibility) तथा इनकी छोटी रकम के कारण विनिमय दर का स्थायित्व ज्यों-का-त्यों रह गया। आगे चलकर बैंक जमा के अत्यधिक प्रसार से स्थिति में कुछ परिवर्तन हो गया। पत्र-मुद्रा एवं बैंक-जमा के अत्यधिक प्रसार के बाद स्वर्ण मान की तरह विनिमय-दर का स्थायित्व अब पूर्णरूपेण स्वतः प्रचालित (entirely automatic) नहीं रह गया क्योंकि इसमें अपरिवर्तनीयता का समावेश हो गया है। जब किसी देश की मुद्रा स्वयं स्वर्ण की बनी होती है तो परिवर्तनीयता का कोई प्रश्न ही नहीं उठता, किन्तु जब मुद्रा कागज अथवा बैंक-जमा की होती है तो स्वर्ण में इसकी परिवर्तनीयता स्वतः सचालित (automatic) नहीं रह जाती। स्वर्ण में इस प्रकार की मुद्रा की परिवर्तनीयता को बनाये रखने के लिए बहुत अधिक प्रयत्नों की आवश्यकता पड़ती है।

अब यहाँ इस बात की व्याख्या की जायगी कि स्वर्ण मान में किस प्रकार से विनिमय-दर के स्थायित्व को कायम रखा जाता था। विदेशी मुद्रा की जो माग विदेशी विनिमय-बाजार में प्रत्यक्ष विनिमय की प्रक्रिया द्वारा टकसाली समता (mint parity) की दर से $\frac{1}{2}$ प्रतिशत के प्रभेद तक सुगमतापूर्वक पूरी नहीं हो सकती थी, उसे विदेशी विनिमय-बाजार से निकाल कर स्वर्ण बाजार में भेज दिया जाता था। इस प्रकार विदेशी विनिमय-बाजार में किसी मुद्रा की माग एवं पूर्ति को सदा बराबर रखने का प्रयास किया जाता था। किन्तु यह विधि इस बात पर निर्भर करती है कि विदेशी मुद्रा की माग जो स्वर्ण-बाजार में भेज दी जाती है, उसकी असीमित मात्रा

मे पूर्ति अनिवार्य है। जब तक इस बात का विश्वास नही रहेगा, तब तक कोई भी अपनी मांग को विदेशी विनिमय-बाजार से हटाकर स्वर्ण-बाजार से नहीं ले जायगा। साथ ही, उन्हें जब तक इस बात का विश्वास नही होगा कि जो सोना एक पौंड के बदले मे लदन-बाजार मे मिलेगा उसको बेचकर वे अमेरिका मे 4 85 डॉलर पा सकेंगे (पौंड तथा डॉलर की विनिमय-दर 1 पौंड=4 85 डॉलर के) तब तक वे विनिमय-बाजार मे ही अपना ध्यान केन्द्रित रखेंगे। इससे स्पष्ट है कि जब तक मुद्रा का स्वर्ण मे परिवर्तनीयता की गारटी नही रह जायगी, तब तक स्वर्ण-मान मे विनिमय-दर के स्थायित्व को नही बनाये रखा जा सकता है। इस प्रकार **'स्वर्ण-मान की प्रमुख समस्या वास्तव में मुद्रा की स्वर्ण में परिवर्तन होने की क्षमता मे बदल जाती है।'** (The problem of the Gold Standard consequently boils down to the problem of maintaining the convertibility of currencies into Gold)

किन्तु मुद्रा की स्वर्ण मे परिवर्तनीयता (Convertibility) को तभी तक कायम रखा जा सकता है जब तक कि असतुलित व्यवसाय का दायरा, जिसके फलस्वरूप स्वर्ण के आवागमन की आवश्यकता पडती है, अधिक एव लगातार न हो। इस प्रकार साधारण समय मे किसी भी दिन 4 84 से 4 86 डॉलर प्रति पौंड की दर से यदि डॉलर की माग उसी दिन के डॉलर के बदले मे पौंड की माग से अधिक हो, तो बैंक ऑफ इगलैंड इस प्रकार के असतुलन के कारण एक दिन या कुछ दिनो तक स्वर्ण की पूर्ति अवश्य कर सकता है, किन्तु बैंक लगातार ऐसा नही कर सकता क्योंकि बैंक का स्वर्ण-कोष भी तो सीमित ही रहता है। इसी प्रकार कोई देश या केन्द्रीय बैंक लगातार स्वर्ण खरीदने के लिए भी तत्पर नही हो सकता, क्योकि ऐसा करने से उनका बहुत बडा साधन यो ही बेकार रह जायगा। इस प्रकार स्वाभाविक है कि स्वर्ण के अधिक अन्तर्प्रवाह (Inflow of gold) को भी कोई देश बहुत दिनो तक चालू नही रहने दे सकता है। इसमे सन्देह नहीं कि स्वर्ण का बहिर्प्रवाह (Outflow) इनके अन्तर्प्रवाह (Inflow) की अपेक्षा अधिक पेचीदा है, किन्तु सिद्धाततः दोनो के साथ एक ही बात लागू होती है। किसी भी स्थिति मे स्वर्ण एव मुद्रा की निर्मुक्त परस्पर परिवर्तनीयता (Free interconvertibility) को बनाये रखने का एक ही तरीका है कि विदेशी विनिमय-बाजार मे किसी मुद्रा की माग एव वहाँ पर उसकी पूर्ति स्थायी रूप से असतुलित नही होने पावे। साराश यह है कि स्वर्ण का प्रवाह (Movement of Gold) माग अथवा पूर्ति के अस्थायी असंतुलन को ठीक कर सकता है, स्थायी असतुलन को नही।

अतएव अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्ण-मान मे ऐसी युक्तियो को काम मे लाना पडता है जिससे माग एव पूर्ति के बीच यदि असतुलन आ जाय तो उसे शीघ्रतापूर्वक ठीक किया जा सके। अब किसी देश की मुद्रा की माग एव पूर्ति का सतुलन उस देश मे प्रचलित मूल्य-तल एवं उत्पादन-व्यय तथा विश्व मे प्रचलित मूल्य तल एव उत्पादन व्यय के पारस्परिक सम्बन्ध पर निर्भर करता है। यदि किसी देश का मूल्य-तल अपेक्षाकृत ऊँचा हो, तो उसकी मुद्रा की माग कम होगी एव पूर्ति बढ जायगी। स्वर्ण-मान के अन्तर्गत इसका परिणाम स्वर्ण का बहिर्प्रवाह (Outflow of Gold) होगा जो आकस्मिक नही होकर लगातार एव दिन-दिन बढते हुए परिमाण मे होगा। इसके विपरीत यदि विदेशो की अपेक्षा देश मे मूल्य-तल निम्न है तो इसके परिणामस्वरूप स्वर्ण का लगातार अन्तर्प्रवाह (Continuous inflow of Gold) होगा। अतएव परिवर्तनीयता की समस्या इस बात से सम्बन्धित है कि जब स्वर्ण बाहर जा रहा है तो मूल्य-तल मे कमी की जाय और जब स्वर्ण भीतर आ रहा है तो मूल्य-तल मे वृद्धि की जाय। (The problem of maintaining convertibility was therefore one of taking steps to secure a fall of prices when gold was flowing out, and a rise of prices when gold was flowing in) किन्तु मूल्य-तल को प्रभावित करनेवाली युक्तियो मे कुछ समय लगता है अतएव इस बीच स्वर्ण के प्रवाह को रोकने के लिए अन्य प्रयत्नो, जैसे अन्तर्राष्ट्रीय पूँजी के प्रवाह (International flow of Capital) को प्रोत्साहन आदि की भी आवश्यकता होती है।

इस प्रकार जब स्वर्ण बडी मात्रा मे देश से बाहर जाने (Outflow of Gold) लगता है तब केन्द्रीय बैंक ऐसे तत्त्वो अथवा उपायो को अपनाता है जिनसे मूल्य-तल मे कमी हो तथा पूँजी का अन्तर्प्रवाह (Inward Capital Movement) प्रोत्साहित हो अथवा कम-से-कम बहिर्प्रवाह (Outward Capital Movement) रुक जाय। ये दोनो कार्य बैंक-दर मे वृद्धि तथा साख के सकुचन द्वारा ही किये जा सकते हैं। बैंक-दर मे वृद्धि से मूल्य-तल मे ह्रास की प्रवृत्ति आने

लगेगी। साथ ही, बैंक दर बढ जाने से बाजार की ब्याज-दरो मे भी वृद्धि होगी जिससे अधिक सूद कमाने के लोभ से विदेशो से पूँजी का देश मे आगमन प्रारम्भ हो जायगा। साथ ही, इससे देश से पूँजी का बाहर जाना भी बन्द हो जायगा। इस प्रकार बैंक-दर मे वृद्धि एव साख-सकुचन के तीन प्रभाव होगे—(1) अल्पकालीन पूँजी का देश मे आगमन; (ii) विदेशियों को दिये जाने वाले ऋण मे ह्रास; तथा (iii) मूल्य तल मे कमी इसके सम्मिलित प्रभाव के परिणामस्वरूप विनिमय बाजार मे मुद्रा की माग बढेगी तथा पूर्ति कम हो जायगी जिससे स्वर्ण का बाहर जाना (Outflow of Gold) रुक जायगा। इसके विपरीत जब देश मे स्वर्ण बाहर से भीतर आने (Inflow of Gold) लगता है तो बैंक-दर मे कमी एव ऋण लेने की सुविधाओ मे विस्तार आवश्यक है। इनके परिणामस्वरूप अल्पकालीन पूँजी देश से बाहर जाने लगेगी, विदेशियो को दिये जानेवाले ऋणों मे वृद्धि होगी तथा मूल्य-स्तर ऊँचा उठेगा। इन सबके सम्मिलित प्रभाव के फलस्वरूप विनिमय बाजार मे मुद्रा की पूर्ति की अपेक्षा इसकी माग कम हो जायगी जिससे स्वर्ण का भीतर आना (Inflow of Gold) रुक जायगा। प्रथम विश्व युद्ध के पूर्व स्वर्ण-प्रमाप की कार्यविधि इसी प्रकार थी। प्रथम विश्वयुद्ध के पूर्व स्वर्ण-प्रमाप इस प्रकार से केवल इगलैंड मे ही नही, परन्तु अन्य देशो मे भी काम करता रहा। इसमे कोई सन्देह नहीं कि समय-समय पर स्वर्ण-मान की सचालन-विधि मे अन्य कारणो से कुछ कठिनाई उत्पन्न हो जाती थी जिसके परिणामस्वरूप बैंक दर मे परिवर्तन का अपेक्षित परिणाम नहीं होता था, किन्तु साधारण समय मे स्वर्ण-प्रमाप इसी तरीके से सफलतापूर्वक कार्य करता था। वास्तव मे, **"स्वर्ण-मान को साधारण समय का समझना ही अधिक उपयुक्त है।"** (Gold standard must be regarded as one for normal times)

स्वर्ण-मान का सुनहला नियम (Golden Rule of the Gold Standard) :— अतएव स्वर्ण-मान के अन्तर्गत स्वर्ण के अन्तर्प्रवाह तथा बहिर्प्रवाह (inflow and outflow) को रोकने के लिए क्रमश. बैंक दर मे कमी एव साख के प्रसार तथा बैंक-दर मे वृद्धि एव साख के संकुचन के नियम का अनुसरण करना पडता था। स्वर्ण-मान की सचालन-विधि मे इसका इतना अधिक महत्त्व है कि इसे **'स्वर्ण-मान का सुनहला नियम'** (Golden Rule of the Gold Standard) कहा जाता है। इस प्रकार **"स्वर्ण-मान का सुनहला नियम यह है कि जब स्वर्ण देश में आ रहा हो तो साख का प्रसार कीजिए तथा जब स्वर्ण देश से बाहर जा रहा हो तो साख का संकुचन कीजिए।"** (The Golden rule of the Gold Standard is to expand credit when gold is coming in and contract credit when gold is going out) इसके सफल सचालन के लिए केन्द्रीय बैंक को सदा इन सुनहले नियम का अनुसरण करने के लिए तत्पर रहना पडता था।

प्रथम विश्व-युद्ध के पूर्व विश्व की आर्थिक स्थिति ऐसी थी कि इसमे स्वर्ण-मान बहुत अच्छी तरह चला। उस समय विनिमय-दर मे स्थायित्व को कायम रखने के लिए थोडे प्रयत्न की भी आवश्यकता नहीं पडती थी. फलत. ऐसा जान पडता था कि स्वर्ण-मान एक स्वत. सचालित मान (Automatic Standard) है। उन दिनो भी विश्व के विभिन्न देशो की आर्थिक व्यवस्था एक समान नही थी, किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्ण-मान की युक्ति से ये विभिन्न आर्थिक व्यवस्थाएँ एक सूत्र मे इस प्रकार से बँध गयी थी कि ये अन्तर्राष्ट्रीयता का आभास दे रही थी। प्रत्येक देश की मुद्रा एक अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा, यानी स्वर्ण का ही एक रूप जान पडती थी।

दोनों युद्धों के बीच का स्वर्ण-मान

(The Inter-war Gold Standard)

किन्तु प्रथम विश्व-युद्ध के समय प्राय. सभी राष्ट्रो ने स्वर्ण मान का परित्याग कर दिया क्योंकि स्वर्ण-मान के आधार पर युद्धकाल के लिए उपयुक्त आर्थिक व्यवस्था का निर्माण नही किया जा सकता था। युद्ध प्रारम्भ होने के पहले ही सप्ताह मे इगलैंड ने स्वर्ण-मान को छोड दिया तथा अन्य देशो ने भी शीघ्र ही स्वर्ण मे परिवर्तन की सुविधा को समाप्त कर दिया। इस प्रकार युद्ध-काल मे स्वर्ण-मान का प्रायः सभी देशो ने परित्याग कर दिया तथा परिवर्तनीयता (Convertibility), स्वर्ण का आयात-निर्यात एव स्वर्ण की मुक्त ढलाई आदि को स्थगित कर दिया।

किन्तु, युद्ध तथा युद्धोत्तरकाल मे जो तेजी एवं मन्दी आयी उसके फलस्वरूप विनिमय-दरो मे महान् परिवर्तन होने लगे। इससे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को बहुत क्षति पहुँची। अतएव ऐसी स्थिति मे इस प्रकार की धारणा काम करने लगी कि मौद्रिक अव्यवस्था को दूर करने का एकमात्र उपाय स्वर्ण-मान का पुनर्स्थापन (Restoration of the Gold Standard) ही था। इंगलैंड मे इस सम्बन्ध मे कनलिफ समिति (Cunliff Committee) ने युद्ध के पूर्व मे स्वर्ण के सचालन के तरीको की जाँच की। 1921 ई० मे जेनेवा के आर्थिक सम्मेलन में भी स्वर्ण-मान को पुन: अपनाने की सिफारिश की, किन्तु, स्वर्ण की बचत के लिए इस सम्मेलन में स्वर्ण-विनिमयमान (Gold Exchange Standard) को अपनाने पर ही पूरा जोर दिया गया। युद्ध के बाद 1925 ई० में इगलैंड ने स्वर्ण-धातु मान (Gold Bullion Standard) को पुनः अपनाया। अन्य देशो ने भी इगलैंड का अनुसरण किया। बहुत देशो ने तो स्वर्ण-विनिमय-मान को ही अपनाया। युद्ध के बाद अधिकाश देशो ने स्वर्ण-मान के इन्ही दो रूपो में से किसी एक को अपनाया। परिणाम यह हुआ कि युद्ध के बाद स्वर्ण के सिक्के पुनः चालू नही किये गये।

इस प्रकार युद्ध के बाद इगलैंड में स्वर्ण-धातु मान (Gold Bullion Standard) को अपनाया गया जिसके अनुसार पत्र-मुद्रा देश की प्रामाणिक मुद्रा हो गयी। किन्तु ये नोट स्वर्ण में परिवर्तित किये जा सकते थे। बैंक ऑफ इगलैंड इन नोटो के बदले 400 औंस के सोने के पिंड एक बार में बेचता था। स्वर्ण-धातु मान में स्वर्ण-कोष का महत्त्व देश की मौद्रिक प्रणाली के आधार के रूप मे नही रहकर अन्तर्राष्ट्रीय कोष के रूप में हो गया जिसकी सहायता से अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान किये जाते थे। किन्तु युद्धोत्तर काल में स्वर्ण-मान की पुनर्स्थापना में इगलैंड ने स्वर्ण एव पौंड के बीच वही दर कायम की जो 1914 ई० के पूर्व प्रचलित थी, यानी 1 औंस स्वर्ण = 3 पौंड 17 शि० 10½ पेंस (4.66⅔ डॉलर = 1 पौंड) किन्तु युद्ध के बाद इगलैंड अन्य देशो के मूल्य-तल मे 1914 ई० की अपेक्षा बहुत अधिक वृद्धि हो गयी थी, अतएव ऐसी स्थिति मे पौंड एव स्वर्ण के बीच पुरानी दर स्थापित करना बिल्कुल अयुक्तिसगत था। इससे एक प्रकार से पौंड का अधिमूल्यन (overvaluation) हो गया, किन्तु इगलैंड की सरकार ने उस समय पौण्ड की इज्जत को बनाये रखने के लिए स्वर्ण-मान का पुनर्स्थापन उस पुरानी दर पर ही किया। पौंड के इस प्रकार अधिमूल्यन के फलस्वरूप इंगलैंड के निर्यात व्यापार को बहुत धक्का लगा जिसके फलस्वरूप बाध्य होकर उसे थोड़े ही दिनो मे (सितम्बर, 1931 मे) सदा के लिए स्वर्ण-मान का परित्याग करना पडा।

स्वर्ण-मान का पुनर्स्थापन, जो 1924 ई० मे जर्मनी तथा 1925 ई० मे इंगलैंड से आरम्भ हुआ, 1928 ई० मे जाकर रुका। कई बातो को लेकर दोनो महायुद्धो के बीच का स्वर्ण-मान (Inter-war Gold standard) युद्ध के पूर्व के स्वर्ण-मान से बहुत आगे बढ गया। उदाहरण के लिए, कितने नये देशो ने भी इस मान को अपनाया। 1929 ई० के अंत तक विश्व मे केवल तीन देश-चीन, स्पेन एवं मैक्सिको ही ऐसे रह गये थे जिनमे स्वर्ण-मान का प्रचलन नही था। इस अवधि मे विभिन्न देशो ने पूर्ण स्वर्ण-मान को नही अपनाकर या तो स्वर्ण-धातु मान को या स्वर्ण-विनिमय मान को ही अपनाया।

स्वर्ण-मान के सफल संचालन के लिए आवश्यक शर्तें

(Conditions Essential for the Successful Functioning of the Gold Standard)

उपरोक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि **स्वर्ण-मान के सफल सचालन के लिए निम्नलिखित बातें अनिवार्य हैं—**

(1) सभी राष्ट्र स्वर्ण-मान के सुनहले नियम (Golden Rule of the Gold Standard) का अनुसरण करें :—स्वर्ण-मान के सफल संचालन के लिए यह अनिवार्य है कि **स्वर्ण-मान के अन्तर्गत सभी देश इसके सुनहले नियमों का अनुसरण करें**। स्वर्ण-मान के सुनहले नियम के अनुसार जब देश मे बाहर से स्वर्ण आता हो तो साख का प्रसार एवं जब देश से

1. उस समय के मूल्य-तल एवं उत्पादन व्यय के आधार पर डॉलर एवं पौंड की वास्तविक विनिमय-दर 4·38 डॉलर = 1 पौंड थी।

स्वर्ण बाहर जाता हो तो साख का सकुचन अनिवार्य है। प्रत्येक देश को इस प्रकार की नीति के अनुसरण के लिए सदा तत्पर रहना चाहिए। इसका तात्पर्य यह है कि स्वर्ण-मान के अन्तगत किसी भी राष्ट्र को स्वतन्त्र आर्थिक नीति के अनुसरण की गु जाइश नही रहती, वरन उसे अन्तर्राष्ट्रीय अवस्थाओ के अनुसार ही अपनी आर्थिक व्यवस्था मे भी सुधार लाना अनिवार्य होता है। इस सम्बन्ध मे लार्ड केन्स (Keynes) का निम्नांकित कथन अत्यधिक महत्त्वपूर्ण जान पडता है, "The main criterion of banking policy of each country should be the average behaviour of all other members, its own voluntary and independent contribution being a modest one" दूसरे शब्दो मे, किसी भी राष्ट्र को अपने यहाँ स्वर्ण जमा नही होने देना चाहिए। यदि इस आधारभूत सिद्धान्त का परित्याग कर विभिन्न राष्ट्र मौद्रिक नीति के अन्य उद्देश्यो की प्राप्ति का प्रयत्न करने लगेंगे तो स्वर्ण-मान सफलतापूर्वक कार्य नही कर सकता।

(2) अन्तर्राष्ट्रीय पूंजी का प्रवाह मुक्त होना चाहिए (Free flow of international capital)—स्वर्ण-मान की सफलता के लिए दूसरी आवश्यक शर्त यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय पूंजी, विशेषत. अल्पकालीन पूंजी के आगमन पर किसी प्रकार का कृत्रिम नियत्रण नही होना चाहिए। स्वर्ण मान के अन्तर्गत सतुलन की स्थापना मे अल्पकालीन पूंजी का प्रवाह बहुत सहायक होता है। अतएव इस प्रकार की पूंजी के अन्तर्राष्ट्रीय प्रवाह पर किसी भी प्रकार का प्रतिबन्ध नही होना चाहिए। यदि पूंजी परिकल्पना या आशका की प्रवृत्ति से प्रभावित होकर एक देश से दूसरे देश मे प्रवाहित होती है तो केन्द्रीय बैंक के नियन्त्रण के तरीको से प्रभावित करना कठिन हो जाता है। ऐसी स्थिति मे, बैंक दर नीति भी असफल होती है, अतएव स्वर्ण-मान की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि अन्तर्राष्ट्रीय पूंजी का आवागमन अस्त व्यस्तता न उत्पन्न करे। (Absence of disturbing capital movement is essential)

(3) देश का आर्थिक संगठन पूर्ण रूप से लोचदार होना चाहिए (Economic structure of the country should be sufficiently elastic) —स्वर्ण मान के सफल सचालन के लिए देश की आर्थिक व्यवस्था का पूर्णतया लोचदार होना अनिवार्य है। आर्थिक सगठन के लोचपूर्ण होने के लिए देश का मूल्य-तल एव पारिश्रमिक स्तर परिवर्तनशील होना चाहिए क्योंकि स्वर्ण-मान मे सतुलन स्थापित करने के लिए इनमे परिवर्तन लाना अनिवार्य हो जाता है। स्वर्ण के आयात एव निर्यात को ठीक करने के लिए मूल्य-तल मे आवश्यक परिवर्तन लाना पडता है। उन्नीसवी शताब्दी मे विभिन्न देशो की आर्थिक व्यवस्था पूर्णरूप से लोचदार थी जिससे स्वर्ण-मान सफलतापूर्वक सचालित होता था, किन्तु बीसवी शताब्दी मे, विशेषत, प्रथम महायुद्ध के बाद से, श्रमिक-सघो के प्रभाव एव अन्य कारणो से पारिश्रमिक स्तर एव मूल्य तल बिल्कुल लोचहीन हो गये। इससे स्वर्ण मान के सफल सचालन के लिए यह एक अनिवार्य शर्त नही रह गयी।

(4) स्वतत्र विदेशी व्यापार (Free foreign trade) —स्वर्ण मान के सफल सचालन के लिए विदेशी व्यापार पर किसी भी प्रकार की रुकावट या प्रतिबन्ध नही होना चाहिए। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के क्षेत्र मे सरक्षण (Protection), आयात-निर्यात-नियन्त्रण तथा लाइसेंस वगैरह की नीति के परिणामस्वरूप स्वर्ण-मान के अन्तर्गत आवश्यक समायोजन नही हो पाता। अत भुगतान सतुलन की अव्यवस्था तथा स्वर्ण के वितरण की विषमता को दूर करने के लिए यह अनिवार्य है कि विदेशी व्यापार पर किसी भी प्रकार का प्रतिबन्ध नही रहना चाहिए।

(5) स्वर्ण मान के सफल संचालन के लिए यह आवश्यक है कि प्रत्येक देश अपनी मुद्रा का उचित स्वर्ण-साम्य (gold parity) निश्चित करे —यदि कोई देश अपनी मुद्रा का वास्तविक स्वर्ण-साम्य निश्चित नही कर अवमूल्यन या अधिमूल्यन करता है तो इससे अन्तर्राष्ट्रीय सतुलन नही हो पाता है। इससे अधिमूल्यन करनेवाले देश मे अपस्फीति तथा अवमूल्यन करनेवाले देश मे अधिस्फीति उत्पन्न होती है। अतएव स्वर्ण मान के सफल सचालन के लिए यह आवश्यक है कि प्रत्येक देश वही दर चुने जो मूल्य-व्यय सम्बन्ध को साम्य मे रखे, जिससे न तो अपस्फीति हो, न अधिस्फीति, अन्तर्राष्ट्रीय लेखा मे न बचत हो न कमी और न स्वर्ण का निर्यात हो न आयात।

स्वर्ण-मान के सफल सचालन के लिए उपर्युक्त शर्तों का होना अनिवार्य है।

स्वर्ण-मान के पतन के कारण

(Causes of the Break-down of the Gold Standard)

ग्रेट-ब्रिटेन में स्वर्ण मान प्रथम युद्ध के बाद पुनः अप्रैल, 1925 ई० में अपनाया गया था किन्तु यह बहुत दिनों तक नहीं चल सका। सितम्बर, 1931 ई० में ग्रेट-ब्रिटेन ने इसे स्थगित कर दिया। ग्रेट ब्रिटेन का अनुसरण धीरे-धीरे विश्व के अन्य देशों ने भी किया। अप्रैल, 1933 ई० में क्षमताशाली-डॉलर ने भी अपनी परिवर्तनीयता त्याग दी और अवमूल्यन किया। फ्रांस ने 1936 ई० में स्वर्ण-मान का परित्याग कर दिया। इस प्रकार युद्धोत्तर काल में स्वर्ण के पुनर्स्थापन के शीघ्र बाद ही संसार के सभी देशों ने स्वर्ण-मान का परित्याग कर दिया। स्वर्ण-मान के इस पतन के बहुत-से कारण थे जिनमें निम्नलिखित विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं.—

(1) केन्द्रीय बैंकों द्वारा स्वर्ण-मान के सुनहले नियम का परित्याग (Violation of golden rule of the Gold Standard game by the Central Bank :—स्वर्ण-मान के पतन का सर्वाधिक प्रमुख कारण यह था कि युद्ध के बाद केन्द्रीय बैंकों ने स्वर्ण-मान के सुनहले नियमों का परित्याग कर दिया। स्वर्ण-मान के सफल संचालन के लिए इन नियमों का अनुसरण बिल्कुल अनिवार्य था, किन्तु युद्ध के बाद विभिन्न देशों के केन्द्रीय बैंक ने यह सुनहला मार्ग छोड़ दिया। स्वर्ण-मान का सुनहला नियम यह है कि **"जब देश में स्वर्ण का बाहर से आगमन हो रहा हो, तो साख का विस्तार एवं जब स्वर्ण देश से बाहर जा रहा हो तो साख का संकुचन किया जाय।"** किन्तु जब देश मे स्वर्ण का आगमन हो रहा था तो उन्होंने उसे लेकर अपने तहखानों मे ढेर कर दिया और साख का प्रसार नहीं किया। इसके विपरीत जब स्वर्ण देश से बाहर जा रहा था तो उन्होंने अपना खजाना खाली होने दिया और साख का संकुचन नहीं किया इस सम्बन्ध में आलोचक अमेरिका तथा फ्रांस दोनों देशों को समान रूप से दोषी ठहराते हैं। युद्ध के बाद जब स्वर्ण-मान पुन अपनाया गया तो इन देशों मे बहुत-सा स्वर्ण विदेशों से अन्दर आया, किन्तु उसे रोकने के लिए इन्होंने साख का प्रसार नहीं किया।

(2) स्वर्ण के उत्पादन में वृद्धि का इसकी मौद्रिक माग की अपेक्षा कम होना—स्वर्ण-मान के पतन का दूसरा प्रधान कारण इसकी मौद्रिक माग की अपेक्षा उत्पादन मे कम वृद्धि का होना है। भिन्न भिन्न अर्थशास्त्रियों ने स्वर्ण की मौद्रिक माग की वृद्धि के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न मत प्रकट किये हैं। कैसेल (Cassel) के अनुसार यह वृद्धि 6 प्रतिशत तथा केन्स (Keynes) के अनुसार 3 प्रतिशत थी, किन्तु स्वर्ण के वार्षिक उत्पादन में सम्भवत. 4 प्रतिशत ही वृद्धि होती थी। इसके परिणामस्वरूप स्वर्ण की पूर्ति इसकी माग की अपेक्षा कम होने लगी। स्वर्ण की माग में वृद्धि के बहुत से कारण थे, जैसे औद्योगिक उपयोग के लिए, व्यक्तिगत सचय के लिए तथा मौद्रिक कोष के लिए। सोने का उत्पादन इन सभी उपयोगों मे बढती हुई मांग को पूरा करने के लिए पर्याप्त नहीं था। स्वर्ण की पूर्ति के उसकी माँग की अपेक्षा कम होने के फलस्वरूप इसका प्रभाव सदा अपस्फीति-जनक (deflationary) रहा। 1929-30 ई० की भयानक आर्थिक मंदी के बाद सभी राष्ट्रों ने यह अनुभव किया कि स्वर्ण-मान के सकुचित दायरे के अन्तर्गत वे अपनी आर्थिक व्यवस्था का प्रसार नहीं कर सकते।

(3) राष्ट्रों के बीच स्वर्ण का असमान वितरण (Mal-distribution of Gold between different nations) :—युद्धोत्तर काल मे विभिन्न राष्ट्रों के बीच स्वर्ण का असमान रूप से वितरण हो गया। एक ओर तो अमेरिका एवं फ्रांस जैसे देशों मे बहुत अधिक मात्रा मे स्वर्ण जमा हो गया तो दूसरी ओर जर्मनी एव पूर्वी यूरोप के अन्य देशों के पास इसकी विशेष रूप से कमी हो गयी। 1931 ई० एव बाद मे स्वर्ण-मान के पतन के बाद अमेरिका मे स्वर्ण का आगमन जारी रहा और 1938 ई० तक अमेरिका के पास 2300 करोड़ डॉलर का स्वर्ण एकत्र हो गया। ऐसी स्थिति मे अन्य देशों के लिए स्वर्ण मान पर चलना कठिन हो गया तथा इसके फलस्वरूप इन्हें स्वर्ण-मान का परित्याग करना पड़ा।

(4) दोनों विश्व-युद्धों के बीच विश्व की आर्थिक व्यवस्था में महान परिवर्तन

हुए जिनके परिणामस्वरूप स्वर्ण-मान के संचालन के लिए अनुकूल परिस्थितियाँ नहीं रह गयीं। युद्ध के बाद विदेशी व्यापार पर सभी देशों ने तरह-तरह के नियन्त्रण लगाने प्रारम्भ किये। विदेशी व्यापार पर नियन्त्रण के फलस्वरूप विभिन्न देशों के मूल्य-तल एवं उत्पादन व्यय के स्तर में सामंजस्य नहीं रहा। साथ ही, युद्ध के बाद आर्थिक राष्ट्रीयतावाद (Economic nationalism) का विकास हुआ जिसके फलस्वरूप आर्थिक क्षेत्र में सभी राष्ट्रों की नीति का उद्देश्य आर्थिक आत्म निर्भरता (Economic self-sufficiency or national autarchy) हो गयी। इस नीति को प्राप्त करने के लिए आर्थिक नियन्त्रण के विभिन्न तरीकों को अपनाया जाने लगा जिनमें मूल्य लागत एवं पारिश्रमिक आदि का नियन्त्रण प्रधान था। आर्थिक राष्ट्रीयता की भावना अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्ण-मान की कार्यवाही में बाधक सिद्ध होती है। **प्रो० कोल** (G D H Cole) ने इस सम्बन्ध में ठीक ही कहा है कि **'स्वर्ण-मान आवश्यक रूप से एक स्वतन्त्र मान है। इसमें आर्थिक प्रबन्ध की उन विधियों का, जिनका उद्देश्य विदेशी विनिमय के सम्बन्धों पर नियन्त्रण है कोई स्थान नहीं रहता।"** (The Gold Standard is essentially a laissez faire standard It rules out such methods of economic management involves restriction on exchange transactions) आर्थिक नियन्त्रण श्रमिक संघों की प्रबलता एवं औद्योगिक एकाधिकार की प्रधानता के कारण विश्व की आर्थिक व्यवस्था अत्यधिक लोचहीन हो गयी थी। ऐसी स्थिति में मूल्य एवं लागत में परिवर्तन द्वारा भुगतान संतुलन स्थापित करना प्रायः असम्भव सा हो गया था। इन सब आर्थिक नियन्त्रणों का भी स्वर्ण-मान के संचालन पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा।

(5) प्रथम महायुद्ध की क्षति पूर्ति का भुगतान (Payment of reparation of the First World War).— प्रथम महायुद्ध के बाद विजयी तथा शक्तिशाली देशों को युद्ध की क्षति-पूर्ति के लिए जर्मनी को बहुत अधिक धन देना पड़ा। जर्मनी को यह क्षति-पूर्ति को सोने के रूप में देने के लिए बाध्य किया जाने लगा। युद्ध के बाद अन्य देशों को भी बहुत-सा युद्धकालीन ऋण लौटाना पड़ा। इसके परिणामस्वरूप इन देशों से क्षति-पूर्ति, धन एवं युद्धकालीन ऋण के रूप में स्वर्ण बाहर जाने लगा जिसका व्यापार से कोई सम्बन्ध नहीं था। इससे इन देशों में स्वर्ण-निधि इतनी कम हो गयी कि यह स्वर्ण-मान को सफलतापूर्वक चलाने के लिए बहुत ही अपर्याप्त थी। अतएव ऐसे राष्ट्रों को परिस्थितिवश स्वर्ण-मान का परित्याग करना पड़ा।

(6) 1929 ई० की भयानक आर्थिक मन्दी (The great economic depression of 1929) —स्वर्ण-मान के पतन में 1929 ई० की महान् व्यावसायिक मन्दी जो अमेरिका के वाल स्ट्रीट संकट (Wall Street crash) से आरम्भ हुई थी, का प्रधान स्थान था। स्वर्ण-मान के प्रचलन के कारण वह आर्थिक संकट शीघ्र ही विश्व-व्यापी हो गया। मन्दी के फलस्वरूप सभी देशों की आय कम हो गयी, उत्पादन के बहुत-से साधन बेकार हो गये। मूल्य-तल अत्यधिक गिर गया एवं अन्तर्राष्ट्रीय वाणिज्य का परिमाण भी बहुत कम हो गया। स्वर्ण प्रमाप के अन्तर्गत राष्ट्रीय आय एवं रोजगारी को उच्च स्तर पर कायम रखना बहुत ही कठिन हो गया क्योंकि स्वर्ण-मान पर रहकर कोई देश मन्दी के निराकरण के लिए स्वतन्त्र रूप से मौद्रिक नीति का अनुसरण नहीं कर सकता था, अतएव धीरे-धीरे राष्ट्रों ने स्वर्ण मान का परित्याग कर दिया।

(7) अल्पकालीन पूँजी का आतंक (Havoc caused by short period capital movement):—प्रथम विश्व युद्ध के पूर्व बहुत-से देश विदेशों में अधिक लाभ की लालच से अल्पकालीन पूँजी का विनियोग करते थे। इस प्रकार की अल्पकालीन पूँजी स्वर्ण-प्रमाप के अन्तर्गत भुगतान संतुलन के अस्थायी असंतुलन को ठीक करने में महत्त्वपूर्ण सहयोग प्रदान करती थी, किन्तु युद्ध के बाद प्रायः सभी देशों ने विदेशी पूँजी के आवागमन पर तरह-तरह के नियन्त्रण लगाना आरम्भ कर दिये जिससे अब सुरक्षा की दृष्टि से इस प्रकार की पूँजी एक देश से दूसरे देश में आने-जाने लगी। इस प्रकार सुरक्षा के दृष्टिकोण से इस प्रकार की पूँजी का आवागमन बहुत शीघ्र होता था, अतएव इसे शरणार्थी पूँजी (Refugee capital) कहा जाने लगा। इस प्रकार की शरणार्थी पूँजी ने अपने शीघ्र आवागमन से एक प्रकार का आतंक मचा दिया। इसका कारण यह था कि पूँजी के हस्तांतरण के अनुसार राष्ट्र अपने मूल्य-तल में परिवर्तन नहीं ला सकते थे, या पूँजी की माँग होने पर आवश्यक मात्रा में स्वर्ण नहीं प्रदान कर सकते थे। साथ ही, ऐसी पूँजी की मात्रा को नियन्त्रित करने में बैंक-दर भी बहुधा सिद्ध असफल होने लगी।

(8) **पौंड का अधिमूल्यन** :— स्वर्ण-मान के पतन का एक कारण यह भी था कि जब 1925 ई० मे इगलैड ने स्वर्ण-मान को अपनाया तो उसने स्वर्ण एव स्टर्लिंग के बीच युद्ध के पूर्व-वाले सम्बन्ध को ही स्थापित किया जिसके अनुसार 1 औंस स्वर्ण = 3 पौंड 17 शि० 10½ पें० का था। पौंड तथा डॉलर के बीच यह दर S 1 = L 4 8665 थी। किन्तु इस दर पर पौंड का अधिमूल्यन (Ov r-valuation) हो गया था जबकि अन्य देशो ने अपनी मुद्रा का स्वर्ण के साथ अवमूल्यन (devalua ion) कर स्वर्ण-मान को पुन: अपनाया था। इसके परिणामस्वरूप इगलैड का मूल्य-तल अन्य देशो की अपेक्षा अधिक ऊँचा हो गया जिससे इसके निर्यात मे कमी तथा आयात मे वृद्धि होने लगी। इससे इगलैड का स्वर्ण-कोष घटने लगा। इस अप्राकृतिक दर पर इगलैड बहुत दिनो तक नही चल सका और फलस्वरूप दिसम्बर, 1931 ई० मे इसने स्वर्ण-मान का परित्याग कर दिया।

इस प्रकार स्वर्ण-मान के पतन के उक्त सारे कारण हैं। वास्तव मे, प्रथम महायुद्ध तथा 1929 ई० की महान् व्यावसायिक मन्दी ने विभिन्न राष्ट्रो के आर्थिक जीवन को इतना अधिक जटिल एव लोचहीन बना दिया कि वह स्वर्ण-प्रमाप अधिक बहुत दिनो तक सफलतापूर्वक कार्य नही कर सका, फलत: इसका पतन हो गया।

स्वर्ण का भविष्य

(Future of the Gold)

सन् 1931 ई० मे ग्रेट-ब्रिटेन ने स्वर्ण-मान का परित्याग किया। धीरे-धीरे अन्य देशो ने भी स्वर्ण मान का परित्याग कर दिया। फलत: स्वर्ण-मान, की बिलकुल समाप्ति हो गयी। अब कभी-कभी यह प्रश्न उठता है कि क्या परम्परागत स्वर्ण-प्रमाप की प्रणाली को पुन अपनाया जा सकता है ? इस सम्बन्ध मे यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि **परम्परागत स्वर्ण-मान की प्रणाली अब विश्व में निम्नांकित कारणों से नहीं अपनायी जा सकती है** :—

(1) स्वर्ण का उत्पादन इसकी माग मे वृद्धि के अनुपात मे नही बढता। इसके फलस्वरूप स्वर्ण-प्रमाप अपनाने पर अप-स्फीतिजनक (deflationary) प्रवृत्ति का सृजन होगा।

(2) परम्परागत स्वर्ण-मान को अपनाने पर विनिमय दर का स्थायित्व मौद्रिक नीति का एक-मात्र उद्देश्य हो जाता है, किन्तु आजकल प्रत्येक देश की मौद्रिक नीति का प्रधान उद्देश्य उच्चतम आय एव पूर्ण रोजगारी की प्राप्ति हो गया है। स्वर्ण-प्रमाप के अन्तर्गत कोई भी देश अपने आर्थिक कल्याण के उद्देश्य से इस प्रकार की नीति का अनुसरण नही कर सकता।

(3) परम्परागत स्वर्ण-मान के सचालन मे संतुलित बजट (Balanced budget) आवश्यक हो जाता है, किन्तु आर्थिक स्थायित्व एव पूर्ण रोजगारी के उद्देश्य की प्राप्ति के लिए इन तरीको का परित्याग करना पडता है।

इस प्रकार कोई भी देश आज अपने को स्वर्ण-मान के सकुचित दायरे (Strait Jacket) मे नही रखना चाहता। दूसरे शब्दो मे, परम्परागत स्वर्ण-मान एव आधुनिक मौद्रिक नीति के उद्देश्य में सामजस्य नही स्थापित किया जा सकता। अतएव परम्परागत स्वर्ण-मान का पुनर्स्थापन अब सम्भव नही है।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष में स्वर्ण का स्थान

(Role of Gold in the International Monetary Fund)

किन्तु यद्यपि भविष्य मे परम्परागत स्वर्ण-प्रमाप की पद्धति को नही अपनाया जा सकता, फिर भी वर्तमान समय मे भी स्वर्ण का स्थान बडा ही महत्त्वपूर्ण है। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष (International Monetary Fund) **की कार्यवाही मे स्वर्ण का प्रधान स्थान है**।[1] मुद्रा-कोष के सभी सदस्य राष्ट्रो को अपने कुल हिस्से की पूंजी का एक भाग स्वर्ण अथवा डॉलर के रूप मे कोष के साथ जमा करना पडता है। सभी मुद्राओ की कीमत स्वर्ण के रूप मे निश्चित की जाती है और सदस्य-राष्ट्र कोष (I. M. F) की अनुमति के बगैर इसमे कोई भी परिवर्तन नहीं कर

1. अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष (The International Monetary Fund) में स्वर्ण के स्थान को सविस्तार विवेचना अगले अध्याय में की गयी है।

सक्ते। इस प्रकार वर्तमान समय मे भी विभिन्न मुद्राओ की विनिमय-दर स्वर्ण द्वारा निश्चित की जाती है, यानी आज भी स्वर्ण अन्तर्राष्ट्रीय लेखे की इकाई (In'ernational Unit of Account) के रूप मे काय करता है। साथ ही, वर्तमान समय मे भी स्वर्ण सबसे महत्त्वपूर्ण तरल साधन (In'ernation l Liqu d Asset) है जिसकी सहायता से विदेशी भुगतान का काय किया जा सकता है। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष मे स्वर्ण का बडा ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसीलिए कुछ विद्वान अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष की स्थापना को स्वर्ण-मान के पुनर्स्थापन का प्रयास मानते हैं। यद्यपि इस प्रकार की धारणा भ्रामक है, फिर भी इतना अवश्य है कि कोष की कार्यवाही मे स्वर्ण का बडा ही प्रमुख स्थान है। वास्तव मे, मुद्रा-कोष की योजना मे स्वर्ण का स्थान एक वफादार सेवक की तरह ह न कि प्रथम युद्ध के पूर्व के अनाचारी शासक की तरह।

निष्कर्ष —इस प्रकार भविष्य मे स्वर्ण-प्रमाप की परम्परागत प्रणाली के पुनर्स्थापन की सम्भावना नही है। क्राउथर (Crow her) ने इस सम्बन्ध मे ठीक ही कहा है कि, **इस तीव्र एव उग्र रूप से राष्ट्रीय व्यावसायिक पद्धति के अन्तर्गत किसी अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय व्यवस्था की स्थापना निश्चय ही असम्भव है।"** (It is impossible to have an international financial system al ng side a commercial system that is fiercely and j alously national.) किन्तु फिर भी, जैसा कि उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है, स्वर्ण का महत्त्व कई रूपो मे वर्तमान रहेगा, जैसे (i) सबसे अधिक अन्तर्राष्ट्रीय तरल साधन (International Liquid asset) के रूप में, (ii) विभिन्न देशो की मुद्राओ की विनिमय-दर तथा इनके परिवर्तनो को व्यक्त करने की सामान्य इकाई के रूप मे एव (iii) उन्मुक्त अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे मौद्रिक आधार के रूप में।

विशेष अध्ययन सूची

1 Crowther : An Outline of Money, Chapter IX
2. Hawtrey : The Gold Standard in The ry and Practice
3 *Gregory* · *The Gold Standard a d its Future.*
4 Cole · Money : Its Present and Future, Chapter XII
5, Halm : Monetary Theory, Chapter XII

———

अध्याय : 37

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष

(The International Monetary Fund)

प्राक्कथन :—दोनो महायुद्धो के बीच विश्व के प्राय सभी देशो को मौद्रिक एव विनिमय अस्थायित्व (Monetary and Exchange Instability) का बडा ही कटु अनुभव हुआ। 1931 ई० मे अन्तर्राष्ट्रीय स्वण-मान के पतन ने मौद्रिक सहयोग के स्थान पर मौद्रिक राष्ट्रीयता (Monetary Nationalism) की भावना को जन्म दिया। अपने-अपने निर्यात को बढाने के उद्देश्य से सभी देशो ने अपनी मुद्रा का अवमूल्यन (Devaluation) प्रारम्भ कर दिया जिससे विश्व म एक प्रकार के प्रतिस्पर्धात्मक विनिमय अवमूल्यन (Competitive Exchange depreciation) की व्यापक व्यवस्था ने स्वतन्त्र-व्यापार के स्थान को ग्रहण कर लिया। अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा (Inconvertible paper currency) के प्रचलन से आन्तरिक मूल्य-तल मे भी उथल-पुथल होने लगी। इस प्रकार की पारस्परिक प्रतिस्पर्धा, विनिमय दर की अनिश्चितता एव आन्तरिक आर्थिक अस्थायित्व का अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार, लेन-देन एव पूँजी के आवागमन पर बहुत ही बुरा प्रभाव पडा। ऐसी स्थिति मे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का गला घुटते जा रहा था तथा आन्तरिक आर्थिक व्यवस्था अस्थायित्व के थपेडो से व्याकुल हो रही थी।

अतएव द्वितीय महायुद्ध के अन्तिम समय मे अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सहयोग (International Monetary Co-operation), विदेशी व्यापार के विस्तार तथा अन्तर्राष्ट्रीय ऋणो के समुचित प्रवाह के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सगठन की आवश्यकता महसूस की जाने लगी। किन्तु कोई भी देश स्वर्ण मान के पुनर्स्थापन के पक्ष मे नही था। सभी अपनी मौद्रिक स्वतत्रता को सुरक्षित रखते हुए अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सहयोग की कामना करते थे। इस उद्देश्य से अमेरिका तथा ब्रिटेन के विशेषज्ञो द्वारा 943 ई० मे दो पृथक्-पृथक् योजनाएँ प्रस्तुत की गयी। ब्रिटेन की योजना केन्स योजना (Keynes' Plan) थी जो ब्रिटेन के सुप्रसिद्ध अर्थशास्त्री लार्ड केन्ज द्वारा तैयार की गयी थी तथा अमेरिका की योजना ह्वाइट योजना (White Plan)[1] थी जो अमेरिका के डा० ह्वाइट के द्वारा तैयार की गयी थी। केन्स योजना मे अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान-सघ (International Clearing House) नामक एक केन्द्रीय सस्था के निर्माण का आयोजन था। केन्स के अनुसार इस सस्था की एक पृथक् मुद्रा होगी जिसका नाम बैंकोर (Bancour) होगा। इस मुद्रा का अस्तित्व केवल इसी सस्था की पुस्तको मे होगा। केन्स योजना को अमेरिका मे स्वर्ण-मान के पुनर्स्थापन की योजना भी कहा जाता है। ह्वाइट योजना के अन्तगत एक अन्तर्राष्ट्रीय स्थायित्व कोष International Stabilization Fund) की स्थापना का आयोजन था। कनाडा के विशेषज्ञों ने एक तीसरी योजना प्रस्तुत की थी जिसमे केन्स एवं ह्वाइट योजना मे समन्वय स्थापित करने का प्रयास किया गया था।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष की स्थापना —उक्त योजनाओ पर विशेषज्ञो द्वारा विचार-विमर्श के पश्चात् विशेषज्ञो का एक सयुक्त वक्तव्य (Joint Statement of Technical Experts) प्रकाशित हुआ। तत्पश्चात् जुलाई 1944 ई० मे ब्रिटेन उड्स (Brettenwoods) नामक स्थान मे 44 राष्ट्रो के प्रतिनिधियो का एक सम्मेलन हुआ। इस सम्मेलन मे जो योजना स्वीकृत हुई उसे ब्रिटेन उडस समझौता (Brettenwoods Agreement) कहा जाता है। **इस समझौते के परिणामस्वरूप निम्नलिखित दो अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सस्थाओं की स्थापना हुई —**

(1) अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष (International Monetary Fund), तथा

(2) अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण एव विकास बैंक (International Bank for Reconstruction and Development), जिसे विश्व बैंक भी कहा जाता है।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष ने 1 मार्च, 1947 ई० को कार्य करना प्रारम्भ किया। प्रारम्भ मे कोष के कुल 44 राष्ट्र सदस्य थे, किन्तु 1971 ई० के अन्त मे कोष के सदस्यो की सख्या 125 हो गयी।[2] अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष का प्रमुख उद्देश्य राष्ट्रो को उनके भुगतान सतुलन (Bala-

1. अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष मुख्यत ह्वाइट योजना (White Plan) पर ही आधारित है।
2. रूस, पोलैण्ड, चेकोस्लोवाकिया, हगरी, रूमानिया, स्विट्जरलैंड तथा पुर्तगाल आदि कुछ देश कोष तथा विश्व बैंक के सदस्य नहीं है।

nce of Payments) के अस्थायी घाटे (Temporary deficits) को पूरा करने के लिए अल्पकालीन ऋण के रूप मे विदेशी मुद्रा प्रदान करना है। युद्ध के बाद राष्ट्रो को दो प्रकार की पूँजी की आवश्यकता का अनुमान लगाया गया था—(क) सर्वप्रथम तो भुगतान-सतुलन के अस्थायी घाटे को पूरा करने के लिए अल्पकालीन ऋण की आवश्यकता। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की स्थापना इसी प्रकार के ऋण की पूर्ति के लिए की गयी थी। (ख) द्वितीयत युद्धोत्तर काल मे राष्ट्रो के पुनर्निर्माण तथा आर्थिक विकास के लिए दीर्घकालीन ऋण की आवश्यकता। युद्ध का कई राष्ट्रो पर बडा बुरा प्रभाव पडा था तथा उनकी आर्थिक व्यवस्था बिल्कुल अस्त व्यस्त हो गयी थी। अतएव आर्थिक व्यवस्था के पुनर्निर्माण के लिए इन राष्ट्रो को दीर्घकालीन ऋण की आवश्यकता थी। साथ ही अविकसित अथवा अर्द्ध-विकसित राष्ट्रो के आर्थिक विकास के लिए दीर्घकालीन पूँजी की आवश्यकता थी। मुद्रा कोष का प्रधान उद्देश्य सदस्य राष्ट्रो के बीच अन्तर्राष्ट्रीय सतुलन की सृष्टि करना है जिसके लिए अल्पकालीन ऋण के साथ-साथ दीर्घकालीन ऋण की व्यवस्था भी अनिवार्य है। सदस्य राष्ट्रो की दीर्घकालीन पूँजी की आवश्यकता की पूर्ति अन्तर्राष्ट्रीय बैंक करता है। इस प्रकार इन दोनो सस्थाओ को एक दूसरे का पूरक समझना चाहिए।

मुद्रा कोष एव केन्द्रीय बैंक (Monetary Fund and Central Bank) अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष का निर्माण केन्द्रीय बैंक की धारणा के आधार पर ही हुआ है। अत प्रो० हॉम (Halm) के शब्दो मे **'कोष केन्द्रीय बैंको का बैंक, यानी विश्व की मौद्रिक व्यवस्था का प्रधान होगा।** (The International Monetary Fund will be a bank of Central Banks, the capstone in the world's monetary system) अत, यदा कदा यह प्रश्न होता है कि क्या मुद्रा-कोष केन्द्रीय बैंको का बैंक है? वास्तव मे, केन्द्रीय बैंक एव मुद्रा कोष मे कई बातो को लेकर समता है। जिस प्रकार केन्द्रीय बैंक अपने देश के व्यावसायिक बैंको के नकद कोष (Cash Reserve) का एकत्रीकरण करता है, ठीक उसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष सदस्य राष्ट्रो के साधनो का केन्द्रीयकरण कर अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक आवश्यकताओ की पूर्ति करता है। पुन जिस प्रकार केन्द्रीय बैंक सदस्य बैंको की साख नीति म सामजस्य स्थापित करने का प्रयास करता है, उसी प्रकार मुद्रा-कोष भी सदस्य राष्ट्रो की मौद्रिक एव आर्थिक नीति म सामञ्जस्य स्थापित करता है। यहाँ तक तो मुद्रा कोष ठीक एक अन्तर्राष्ट्रीय केन्द्रीय बैंक (International Central Bank) की तरह है, किन्तु इनके कार्यों मे अन्तर भी है। केन्द्रीय बैंक अपने देश के सदस्य बैंको पर नियन्त्रण रखता है, किन्तु मुद्रा-कोष सदस्य राष्ट्रो की आर्थिक नीति पर किसी भी प्रकार का नियन्त्रण नही रख सकता। साथ ही, केन्द्रीय बैंक केवल अपने देश की मुद्रा का ही एकत्रीकरण करता है किन्तु मुद्रा-कोष के पास सभी सदस्य राष्ट्रो की मुद्रा का भण्डार रहता है। पुन., केन्द्रीय बैंको की तरह मुद्रा-कोष अतिरिक्त मुद्रा का सृजन नही कर सकता। इस प्रकार मौद्रिक क्षेत्र मे अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष पूर्ण राष्ट्रीय स्वतन्त्रता एव पूर्ण अन्तर्राष्ट्रीयता के बीच एक समझौते की तरह है। (The International Monetary Fund thus represents a compromise between complete national sovereignty and complete Internationalism in the monetary sphere) इसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय बैंक की स्थापना विनियोग बैंक (Investment Bank) की धारणा के आधार पर हुई है।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष के उद्देश्य

(Objectives of the International Monetary Fund)

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष की स्थापना के निम्नाकित प्रधान उद्देश्य हैं[1]—

(1) एक स्थायी संस्था के द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सहयोग (International monetary co-operation) **को प्रोत्साहित करना**—कोष का प्रधान उद्देश्य सदस्य देशो के बीच मौद्रिक सहयोग मे अभिवृद्धि करना है। इसके लिए कोष के पास विशेषज्ञो का एक दल होता है जो विभिन्न प्रकार की अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक समस्याओ के लिए समय-समय पर सुझाव देता है। मौद्रिक सहयोग की अभिवृद्धि के लिए मुद्रा कोष यह प्रयास करता है कि सदस्य राष्ट्र एक ही प्रकार की मौद्रिक नीति अपनाएँ।

1 कोष सम्बन्धी समझौते की धारा I (Article I) के अनुसार।

(2) **अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के प्रसार एवं सन्तुलित विकास** (Expansion and balanced growth of international trade) के लिए सुविधा प्रदान करना तथा इसकी सहायता से सभी सदस्य-राष्ट्रों में **रोजगार के उच्च स्तर को स्थापित करना एवं बनाये रखना** (Promotion and maintenance of high level of employment)—अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष का दूसरा प्रधान उद्देश्य विभिन्न देशों के बीच होनेवाले अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को विभिन्न प्रकार के नियन्त्रणों से मुक्त करना है। इस उद्देश्य से यह व्यवस्था की गयी है कि कोई भी सदस्य राष्ट्र कोष की अनुमति के बगैर अन्तर्राष्ट्रीय लेन-देन या भुगतान पर किसी भी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं लगा सकता।

(3) **विनिमय स्थायित्व** (Exchange stability) **को प्रोत्साहित करना, सदस्य-राष्ट्रों के बीच नियमित विनिमय व्यवस्था** (Orderly exchange arrangements) **को कायम रखना एवं प्रतिस्पर्धात्मक विनिमय-अवमूल्यन** (Competitive exchange depreciation) **को रोकना** :—मुद्रा-कोष का तीसरा प्रधान उद्देश्य विनिमय स्थायित्व को प्रोत्साहित करना है। सदस्य बनने के समय प्रत्येक देश की विनिमय दर स्वर्ण तथा डॉलर के रूप में निर्धारित की जाती है। प्रत्येक सदस्य-राष्ट्र इस दर को बनाये रखने का प्रयास करता है। यदि किसी देश में किसी अस्थायी दुर्बलता के कारण विनिमय-दर में ह्रास होने लगता है तो उसमें सुधार के लिए कोष सदस्य-राष्ट्र को सहायता तथा आवश्यक सुझाव आदि देता है। इस प्रकार विनिमय स्थायित्व में अभिवृद्धि से सदस्य देशों में आपस में सहयोग की अभिवृद्धि होती है।

(4) सदस्य-राष्ट्रों के बीच चालू व्यवसायों (current transactions) के लिए **बहुपक्षी भुगतान** (Multilateral system of payments) **की व्यवस्था की स्थापना करना एवं विदेशी विनिमय-सम्बन्धी प्रतिबन्धों** (Foreign exchange restrictions) **को समाप्त करना** :—आजकल विभिन्न देशों की मुद्राएँ एक दूसरे में परिवर्तनशील नहीं हैं जिसमें भुगतान में कठिनाई होती है। मुद्रा-कोष का चौथा प्रधान उद्देश्य बहुपक्षी भुगतान की सुविधा प्रदान करना है। इस उद्देश्य से यह विनिमय-नियन्त्रणों को हटाकर एक ऐसी अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान-व्यवस्था की स्थापना करना चाहता है जिसमें कि प्रत्येक देश अल्पकाल में एक-दूसरे की मुद्रा के रूप में भुगतान स्वीकार करने को तैयार तो हो जायँ। साथ ही, कोष की व्यवस्था के अनुसार प्रत्येक सदस्य राष्ट्र कुछ निश्चित नियमों के अनुसार ही विनिमय का सौदा करेगा तथा विनिमय-नियन्त्रण को दूर करने का प्रयास करेगा।

(5) समुचित संरक्षणों के अन्तर्गत सदस्य राष्ट्रों के लिए कोष के साधनों को उपलब्ध बनाकर उनमें विश्वास उत्पन्न करना एवं इस प्रकार उन्हें **उनके भुगतान संतुलन के असंतुलन** (Maladjustments in the Balance of payments) **को सुधारने का अवसर प्रदान करना जिससे वे राष्ट्रीय अथवा** अन्तर्राष्ट्रीय समृद्धि के नष्ट करनेवाले उपायों को अपना सकें। किन्तु कोष की सहायता भुगतान सतुलन के केवल अस्थायी घाटे को दूर करने के लिए ही दी जाती है। इससे सदस्यों का आर्थिक विकास होता है।

(6) उपर्युक्त प्रबन्धों के अनुसार **सदस्य राष्ट्रों के अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान सतुलन के असतुलन** (Disequilibrium in the international Balance of payments) **को अवधि एवं इसकी मात्रा को कम करना** .–मुद्रा-कोष का अन्तिम उद्देश्य विभिन्न प्रयत्नों द्वारा सदस्य राष्ट्रों के भुगतान सतुलन के असतुलन की अवधि तथा परिमाण को कम करना है। इससे सदस्यों के आर्थिक विकास में सहायता होगी।[1]

---

1. उपरोक्त उद्देश्यों को ध्यान में रखते हुए कोष के प्रति इसके सभी सदस्यों के निम्नांकित दायित्व निश्चित किये गये हैं :—

(i) अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानों तथा पूँजी के अन्तरण पर सभी प्रकार के प्रतिबन्धों को समाप्त करना,
(ii) विभेदक मौद्रिक कार्यवाहियों को समाप्त करना,
(iii) विदेशी कोषों की परिवर्तनीयता को बनाये रखना; तथा
(iv) देश एवं विदेश में स्वर्ण एवं विदेशी विनिमय के कोष, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार तथा भुगतान सतुलन, राष्ट्रीय आय, मूल्य-सूचनांक, विनिमय नियन्त्रण एवं मुद्रा के क्रय-विक्रय की दरों के सम्बन्ध में सूचना प्रदान करना।

अन्तर्राष्ट्रीय-मुद्रा कोष के साधन एवं पूँजी

(Capital and Resources of the I M F)

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के साधन के दो प्रधान निर्णायक तत्त्व हैं :—

(क) सदस्य राष्ट्रों की मुद्रा (Currencies of member countries), एव
(ख) स्वर्ण (Gold)।

प्रारम्भ मे मुद्रा कोष का कुल साधन 880 करोड डॉलर निश्चित किया गया था।[1] इसम से सभी सदस्य राष्ट्रों का एक अलग अलग कोटा या अभ्यश (Quota) निर्धारित किया गया था। किन्तु अक्टूबर 1958 ई० मे मुद्रा कोष एव विश्व बैंक के गवर्नर्स की एक बैठक नयी दिल्ली म हुई जिसमे कोष एव बैंक के साधनो म वृद्धि का प्रस्ताव स्वीकृत किया गया। कोष क साधनो मे वृद्धि करने तथा सदस्य राष्ट्रो के अभ्यश को पुन निर्धारित करने का काय कोष के Executive Directors को सौंपा गया। उन्होंने कोष के साधनो म 50 प्रतिशत की वृद्धि की। साथ ही, कैनाडा, पश्चिमी जमनी, जापान तथा अन्य राष्ट्रो के अत्यधिक आर्थिक विकास होने के कारण इनके कोटे म बहुत अधिक वृद्धि की गयी जिसके फलस्वरूप कोष की कुल पूँजी 1600 करोड डॉलर हो गयी। पुन सितम्बर, 1963 ई० मे टोकियो की एक बैठक मे कोष की पूँजी म वृद्धि का एक प्रस्ताव स्वीकृत किया गया जिसके अनुसार 1965 ई० मे कोष के गवनरो ने यह निर्णय किया कि सभी सदस्यो के अभ्यश मे 25 प्रतिशत की वृद्धि की जाय। साथ ही, 16 राष्ट्रो के अभ्यश मे इनसे भी अधिक वृद्धि का निर्णय किया गया। इसके परिणामस्वरूप कोष की कुल पूँजी बढकर 2130 करोड डॉलर हो गयी। पुन 1970 ई० के प्रारम्भ म कोष के सचालको ने इसकी पूँजी को 2130 करोड डॉलर से बढाकर 2843 करोड डॉलर कर दिया, यानी कोष की पूँजी म लगभग 35 प्रतिशत की वृद्धि की गयी। परिणामस्वरूप, सभी सदस्य राष्ट्रो के अभ्यश मे भी वृद्धि की गई। किन्तु सर्वाधिक वृद्धि लगभग 65 प्रतिशत जापान के अभ्यश मे हुई। नये अभ्यश 30 अक्टूबर 1970 से लागू हो गये।

सदस्य राष्ट्रों के अभ्यंशो के निर्धारण मे साधारणतया निम्नलिखित बातो पर जोर दिया गया है –

(क) प्रत्येक राष्ट्र का राजनीतिक एव अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व,
(ख) सदस्य राष्ट्रो की राष्ट्रीय आय (National Income),
(ग) उनके स्वर्ण एव विदेशी विनिमय कोष (Gold and Foreign Exchange Reserves), तथा
(घ) भुगतान सतुलन (Balance of Payments) की स्थिति।

उपरोक्त बातो को ध्यान म रखते हुए प्रमुख राष्ट्रो के अभ्यश कोष के साधन मे वृद्धि के पूर्व तथा बाद मे निम्न प्रकार से हैं –

सदस्य राष्ट्रो के अभ्यश (Quota) (करोड़ डालर में)

सदस्य राष्ट्र	प्रारम्भिक	1958 ई० मे वृद्धि क बाद	1965 ई० मे वृद्धि के बाद	1970 ई० मे वृद्धि के बाद
सयुक्त राज्य अमेरिका	275	412 5	516 0	670 0
ब्रिटेन	130	195 0	244 0	280 0
पश्चिमी जमनी		78 75	120 0	160 0
भारत	30	60 0	75 0	94 0
कनाडा	40	55 0	74 0	110 0
जापान		50 0	72 [illegible]	120 0

1 प्रारम्भ में मुद्रा कोष का साधन वास्तव में 1000 करोड डालर निश्चित किया गया था। किन्तु रूस जिसका अभ्यश 120 करोड डालर था, ने इसकी सदस्यता स्वीकार नहीं की जिससे कोष का प्रारम्भिक साधन 880 करोड डालर हो रहा।

इस तालिका से स्पष्ट है कि 1970 ई० मे मुद्रा कोष के अभ्यश मे वृद्धि के पूर्व भारत पाँच सर्वाधिक अभ्यश वाले देशो मे से एक था, किन्तु 1970 ई० मे वृद्धि के बाद कैनाडा तथा जापान के अभ्यश भारत से अधिक हो गये जिससे भारत का स्थान अब इनसे नीचे हो गया।

सदस्य राष्ट्रो को अपने अभ्यश का एक भाग स्वर्ण मे तथा शेष अपनी मुद्रा के रूप में जमा करना पडता है। किसी भी सदस्य राष्ट्र को अपने कुल अभ्यश का 25 प्रतिशत भाग अथवा उसके कुल स्वर्ण एव अमेरिकन डॉलर निधि (Net official holdings of gold and U S A dollars) का 10 प्रतिशत भाग, जो भी कम हो, स्वर्ण के रूप मे तथा शेष अपनी मुद्रा के रूप मे चुकाना पडता है।

सदस्य राष्ट्रो का अभ्यश इनके **विशेष-प्राप्ति अधिकार** (Special Drawing Rights) को भी निर्धारित करता है। इस प्रकार के विशेष प्राप्ति अधिकार का विनिर्माण पहले पहल 1 जनवरी, 1970 को किया गया। इस योजना के अन्तर्गत कोष द्वारा पहले-पहल 104 सदस्यो के बीच 204 करोड डॉलर का विनिर्माण किया गया। द्वितीय विनिर्माण 1 जनवरी, 1971 को 109 सदस्यो के बीच 295 करोड डॉलर का हुआ।

कोष की व्यवस्था एव सगठन (Organisation and Management of the Fund) – कोष की व्यवस्था के लिए एक बोर्ड ऑफ गवर्नर्स (Board of Governors), सचालक मण्डल (Executive Directors) तथा एक मैनेजिंग डायरेक्टर (Managing Director) हैं। सभी सदस्य देश एक गवर्नर तथा एक यथाक्रम (Alternate) गवर्नर की नियुक्ति करते हैं। बोर्ड ऑफ गवर्नर्स की बैठक साल मे एक बार अवश्य होती है। बोर्ड को कोष की कार्यवाही के सम्बन्ध मे पूरा-पूरा अधिकार प्राप्त है। यह नये सदस्यो को रख सकता है, उनका अभ्यश घटा बढा सकता है। रोज-रोज के कार्यों की देख-भाल के लिए 20 सदस्यो का एक सचालक मण्डल (Executive Directors) है जिनमें से पाँच सदस्य उन देशो के हैं जिनका कोटा सबसे अधिक है तथा 15 सदस्य अन्य राष्ट्रो द्वारा चुने जाते हैं। स्थायी सदस्यो मे आजकल अमेरिका, इगलैंड फ्रास, पश्चिमी जर्मनी तथा जापान है। इस समय कोष के सचालक मण्डल मे सयुक्त राज्य अमेरिका, ब्रिटेन तथा कैनाडा के एक-एक सदस्य के अतिरिक्त 3 सदस्य सुदूर पूर्व तथा प्रशात देशो, 2 लैटिन अमेरिका के देशो तथा 6 यूरोप महाद्वीप के देशो से चुने जाते हैं। सचालक मण्डल द्वारा एक प्रबन्ध सचालक (Managing Director) का चुनाव होता है जो कोष के साधारण कार्यो के लिए उत्तरदायी होता है।

मुद्रा-कोष के प्रत्येक सदस्य राष्ट्र को उसके अभ्यश के अनुसार मत देने का अधिकार है। प्रत्येक सदस्य-राष्ट्र को प्रति एक लाख डॉलर अभ्यश पर 250 + 1 मत देने का अधिकार है। उदाहरण के लिए 1970 के पूर्व भारत का अभ्यंश 7500 लाख डॉलर था, अत इसे 250+7500 मत, यानी 7750 मत देने का अधिकार था।

मुद्रा कोष एवं विनिमय स्थायित्व

(Monetary Fund and Exchange Stability)

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष का सर्वाधिक प्रधान उद्देश्य विनिमय स्थायित्व (exchange stability) को प्रोत्साहित करना तथा सदस्य राष्ट्रो के बीच नियमित विनिमय-व्यवस्था (orderly exchange arrangements among members) को बनाये रखना है। किन्तु विनिमय-स्थायित्व के लिए सर्वप्रथम विभिन्न देशो की मुद्राओ के लिए एक सामान्य आधार (common basis of currencies) की आवश्यकता होती है। अतएव कोष योजना के अनुसार प्रारम्भ मे प्रत्येक सदस्य-राष्ट्र को अपनी मुद्रा की समता दर (par-value) को स्वर्ण अथवा डॉलर के रूप मे व्यक्त करना पडता है। प्रत्येक देश की मुद्रा की समता दर को स्वर्ण अथवा डॉलर के रूप में व्यक्त करने के पश्चात् विनिमय दरो के निर्धारण मे कोई कठिनाई नही रह जाती। इससे प्रत्येक मुद्रा की विनिमय-दर इस समता मूल्य की एक सीमा के अन्तर्गत ही रहती है, किन्तु कोष अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान की तरह विनिमय-दर को बिल्कुल स्थायी नही बनाता, वरन् इसके अन्तर्गत आवश्यकतानुसार विनिमय-दर मे एक निश्चित सीमा के अन्तर्गत परिवर्तन की भी व्यवस्था करता है।

प्रारम्भ मे, भारतीय रुपये का स्वर्ण-मूल्य 0 269601 ग्राम विशुद्ध स्वर्ण तथा डॉलर के रूप मे इसका मूल्य 30 25 सेंट[1] निश्चित किया गया था, किन्तु सितम्बर, 949 ई० मे रुपये के अवमूल्यन (Devaluation of the Rupee) हो जाने पर रुपये का स्वर्ण मूल्य घटकर 0 186621 ग्राम विशुद्ध स्वर्ण तथा डॉलर-मूल्य घटकर 21 सेंट हो गया। पुन., जून 1966 म भारतीय रुपये के अवमूल्यन के बाद रुपये का स्वर्ण-मूल्य घटकर 0·118489 ग्राम विशुद्ध स्वर्ण तथा डॉलर के रूप मे 13 33 सेंट हो गया।

समता-दर में परिवर्तन (Changes in the par value of currencies)—अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष का उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्ण-मान की तरह विनिमय-दर की बिल्कुल स्थायी (rig d fixity of rates) बनाना नहीं है। इसके अन्तर्गत सदस्य राष्ट्रों को एक सीमा के अन्तर्गत विनिमय-दर मे परिवर्तन की सुविधा भी उपलब्ध है, किन्तु इस प्रकार का परिवर्तन भी केवल मौलिक असतुलन (Fundamental disequilibrium) को सुधारने के लिए ही किया जा सकता है।[2] कोई भी सदस्य-राष्ट्र अपनी मुद्रा की प्रारम्भिक समता दर (Initial par-value) मे 10 प्रतिशत तक का परिवर्तन (कम या अधिक) केवल कोष के परामर्श से ही कर सकता है। कोष ऐसा करने मे कोई एतराज नही करेगा। इसके अतिरिक्त भी कोई सदस्य-राष्ट्र अपनी मुद्रा की समता-दर मे कोष की स्वीकृति से 10 प्रतिशत तक का परिवर्तन और कर सकता है, किन्तु ऐसा करने के लिए उसे कोष की स्वीकृति लेनी पड़ेगी। कोष ऐसा करने से सदस्य राष्ट्र को मना भी कर सकता है, किन्तु इस सम्बन्ध मे उसे अपना निर्णय 72 घण्टे के अन्दर ही देना पड़ता है। इससे भी अधिक परिवर्तन (यानी प्रारम्भिक समता दर मे 20 प्रतिशत से अधिक परिवर्तन के लिए कोई सदस्य-राष्ट्र कोष से प्रार्थना कर सकता है, किन्तु इसके लिए सदस्यो के दो-तिहाई बहुमत की आवश्यकता पड़ती है।

किन्तु मुद्रा-कोष किसी मुद्रा की विनिमय-दर मे परिवर्तन की स्वीकृति केवल उसी स्थिति मे देगा जबकि उसे यह पूर्ण विश्वास हो जायँ कि इस प्रकार का परिवर्तन किसी मौलिक असतुलन (Fundamental disequilibrium) को सुधारने के लिए आवश्यक है। इसका उद्देश्य यह है कि विनिमय-दर मे परिवर्तन केवल सदस्य राष्ट्रों के आन्तरिक मूल्य एव आय स्तर मे परिवर्तन के अनुसार ही हो, किन्तु मौलिक असतुलन के सम्बन्ध मे निर्णय बहुत ही कठिन है। साथ ही, कोष स्पर्धात्मक विनिमय-अवमूल्यन (Competitive exchange depreciation) को स्वीकृति कभी नही देता।

इस प्रकार कोष की अनुमति के बगैर कोई भी सदस्य राष्ट्र अपनी मुद्रा की विनिमय-दर मे 10 प्रतिशत से अधिक का परिवर्तन नहीं कर सकता। मौलिक असतुलन मे सुधार के लिए कोष सदस्य राष्ट्रों को इससे अधिक परिवर्तन की भी अनुमति प्रदान करता है। उदाहरणार्थ सितम्बर, 1949 ई० मे इगलैंड, भारत तथा स्टर्लिंग क्षेत्र के कुछ अन्य देशो ने कोष की अनुमति से अपनी मुद्रा के स्वर्ण एव डॉलर मूल्य मे 30 प्रतिशत का अवमूल्यन किया था। अतएव कोष सदस्य-राष्ट्रों को उनकी आर्थिक, सामाजिक एव अन्य घरेलू समस्याओं के समाधान के लिए समय-समय पर उनकी विनिमय-दरो मे परिवर्तन की स्वतन्त्रता भी प्रदान करता है। दूसरे शब्दो मे, कोष किसी भी देश की आन्तरिक आर्थिक नीति मे हस्तक्षेप नही कर सकता। इसमे प्रत्येक सदस्य-राष्ट्र को स्वतन्त्र मौद्रिक एव आर्थिक नीति के अनुकरण की स्वतन्त्रता रहती है। इस प्रकार की स्वतन्त्रता स्वर्ण-मान के अन्तर्गत नहीं थी। **अतएव मुद्रा कोष स्वर्ण-मान के स्थायी विनिमय-दर के बदले सदस्य राष्ट्रों को विनिमय दर मे व्यवस्थित-परिवर्तन की सुविधा प्रदान करता है।** (The Fund substitutes for the gold standard's exchange rigidity, the principle of managed flexibility in the adjustment of exchange values of member currencies) कोष ने इस सम्बन्ध म पूर्ण हस्तक्षेप तथा पूर्ण स्वच्छन्दता के बीच का मार्ग का अनुसरण किया है। इस प्रकार की व्यवस्था कई कारणों से महत्वपूर्ण है। केवल व्यवस्थित परिवर्तनशीलता (Managed flexibility) के अन्तर्गत ही सदस्य-राष्ट्रों को आतरिक नीति के

1 एक डॉलर=100 सेंट।

2 A member shall not propose a change in the par value of its currency except to correct a fundamental disequilibrium.

निर्धारण की स्वतन्त्रता रहती है। वास्तव मे, इस प्रकार की स्वतन्त्रता राष्ट्रों को बहुपक्षीय भुगतान समझौते के अन्तर्गत लाने के लिए अनिवार्य है क्योकि आजकल सभी राष्ट्रो की मौद्रिक एवं आर्थिक नीति का उद्देश्य पूर्ण रोजगारी हो गया है।

मुद्रा-कोष एवं विनिमय-नियन्त्रण

(Monetary Fund and Exchange Control)

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष का प्रधान उद्देश्य विनिमय-नियन्त्रण (Exchange Control) को समाप्त करना है। विनिमय-नियन्त्रण से विदेशी व्यापार का परिमाण कम हो जाता है जिससे अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-विभाजन का पूरा-पूरा लाभ नहीं उठाया जा सकता। अतएव कोष का एक प्रमुख उद्देश्य विनिमय-नियन्त्रण को समाप्त करना है, किन्तु निम्नांकित हालतो मे यह विनिमय-नियन्त्रण को स्वीकार भी करता है :—

(क) पूँजी के अत्यधिक एवं अनवरत प्रवाह (Large and excessive flow of Capital) को रोकने के लिए;

(ख) किसी देश की मुद्रा के दुर्लभ होने पर; तथा

(ख) सक्रमण काल (transitional period) मे सदस्य राष्ट्र विनिमय-नियन्त्रण भी अपना सकते हैं।

किन्तु सदस्यो के लिए यह आवश्यक होगा कि वे धीरे-धीरे विनिमय-नियन्त्रण को समाप्त करने का प्रयत्न करेंगे।

मुद्रा-कोष के लेन-देन (Transactions of the Monetary Fund) :—मुद्रा-कोष का एक प्रमुख कार्य सदस्य-राष्ट्रो के भुगतान-सतुलन के अस्थायी घाटे (temporary deficits) को पूरा करना है। दूसरे शब्दो मे, कोष का उद्देश्य उन देशो को विदेशी मुद्रा देना है जिनके पास इसका अभाव हो। हम पहले ही देख चुके हैं कि प्रत्येक सदस्य राष्ट्र को अपने अभ्यश का एक भाग अपनी मुद्रा के रूप मे चुकाना पडता है, अतएव कोष के पास सभी सदस्य राष्ट्रो की मुद्राओ की निधि रहती है। इससे कोई भी सदस्य-राष्ट्र अपनी मुद्रा देकर किसी दूसरे राष्ट्र की मुद्रा का क्रय कर सकता है। किन्तु कोई देश अपनी मुद्रा देकर अपरिमित परिमाण मे दूसरी मुद्रा नही खरीद सकता। इसकी भी एक निश्चित सीमा होती है। कोई भी सदस्य राष्ट्र एक वर्ष मे अपने अभ्यश (Quota) के 25 प्रतिशत के बराबर ही विदेशी मुद्रा कोष से खरीद सकता है। यह सहायता अधिक से-अधिक पांच वर्ष के अल्पकाल के लिए ही दी जाती है। इस प्रकार किसी देश को कुल मिलाकर अधिक-से-अधिक अपने अभ्यश का 125 प्रतिशत भाग तक विदेशी मुद्रा खरीदने का अधिकार है। किन्तु किसी भी समय कोष के पास किसी सदस्य राष्ट्र की मुद्रा उसके अभ्यश के 200 प्रतिशत से अधिक नही हो सकती। सकट अथवा अधिक आवश्यकता के समय कोष इन शर्तों को ढीला भी कर सकता है।

ब्याज तथा ऋण शुल्क :– जब मुद्रा-कोष किसी सदस्य-राष्ट्र को इस प्रकार की साख की सुविधा प्रदान करता है तो वह साख की रकम पर $\frac{3}{4}$ प्रतिशत सेवा व्यय (Service Charge) तथा एक निश्चित दर से ब्याज भी लेता है। इस दृष्टिकोण से कि कोई सदस्य बिना आवश्यकता के बार-बार कोष से विदेशी मुद्रा नही खरीदे, इस प्रकार की व्यवस्था की गयी है कि जैसे-जैसे मुद्रा-कोष का ऋण बढता जाता है वैसे-वैसे ऋणी सदस्य को निरन्तर बढती हुई दरो पर ब्याज देना पडता है। ब्याज की दर $\frac{1}{2}$ प्रतिशत से $2\frac{1}{2}$ प्रतिशत के बीच रहती है तथा ऋण के शीघ्र भुगतान होने पर इसमे कमी भी की जाती है।

अल्प मुद्राएँ (Scarce Currencies)—जब किसी राष्ट्र को विदेशी व्यापार मे घाटा होता है तो वह मुद्रा-कोष से दूसरे देश की मुद्रा खरीद कर अपने घाटे की पूर्ति करता है, किन्तु इसके फलस्वरूप कोष के पास घाटे वाले देश की मुद्रा (Deficit Currency) बढती जाती है तथा बचत वाले देश की मुद्रा (Surplus Currency) घटती जाती है। जब किसी देश की मुद्रा का कोष के पास अभाव हो जाता है तो ऐसी स्थिति मे मुद्रा-कोष निम्नांकित तरीको को अपना सकता है :—

(क) उस देश से स्वर्ण के बदले मुद्रा बेचने की सिफारिश कर सकता है,

(ख) उस देश से ऋण की सिफारिश कर सकता है, किन्तु किसी सदस्य-राष्ट्र को ऋण देने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता,

(ग) उस देश की मुद्रा को दुर्लभ (Scarce) घोषित कर सकता है एव उसका वितरण अन्य राष्ट्रो मे उनकी सापेक्षिक आवश्यकता के अनुसार कर सकता है, तथा

(घ) कोष की अनुमति से किसी भी राष्ट्र को यह अधिकार दिया जा सकता है कि वह दुर्लभ मुद्रा वाले देश के साथ होनेवाले विनिमय पर नियत्रण लगा सकता है।

इसके साथ ही बचत वाले देशो (Surplus countries) का भी कोष के प्रति निम्नलिखित उत्तरदायित्व है—(क) जब कोष किसी बचत वाली मुद्रा को दूसरे देश के हाथ बेचता है, तो बचत वाले देश का यह उत्तरदायित्व हो जाता है कि वह उन देशो के साथ अपनी वस्तुएँ तथा सेवाएँ बेचे, (ख) कोष से वह स्वर्ण खरीदने के लिए तैयार रहे, तथा (ग) उस देश की मुद्रा दुर्लभ हो जाने पर कोष तथा अन्य सदस्य-राष्ट्रो द्वारा अपनाये गये विनिमय-नियन्त्रण से उसे सहमत होना पड़ेगा।

कोष के साधनो की तरलता (Liquidity of the Fund's Resources)—मुद्रा-कोष सदा अपने साधनो को तरल बनाये रखने का प्रयत्न करता है। अतएव इस उद्देश्य से सदस्य-राष्ट्रो के हाथ दूसरी मुद्रा बेचने के समय कोष निम्नाकित बातो पर ध्यान देता है—

(1) सदस्य राष्ट्र अपने विदेशी व्यापार के घाटे की पूर्ति के लिए ही विदेशी मुद्रा खरीदता है।

(2) परिकल्पना (Speculation) के लिए कोष विदेशी मुद्रा नही बेचता, तथा

(3) किसी देश के भुगतान-सन्तुलन मे मौलिक असन्तुलन होने पर भी उसके हाथ कोष विदेशी मुद्रा नही बेचता है क्योकि ऐसा करने से उस स्थिति के स्थायी हो जाने की आशका रहती है। साथ ही, जब घाटेवाले देश की मुद्रा (Deficit currency) कोष के पास अधिक हो जाती है तो उस देश को स्वर्ण अथवा परिवर्तनीय मुद्रा (Convertible Currency) देकर अपनी मुद्रा पुन खरीदनी (Re purchase) पडती है। कोष के समझौते के अनुसार सदस्य राष्ट्र को प्रति वित्तीय वर्ष के अन्त मे कोष के पास उस देश की मुद्रा मे जो वृद्धि होती है, उसका आधा भाग स्वर्ण अथवा परिवर्तनीय मुद्रा के द्वारा पुन खरीदना पडता है। इस प्रकार पुन खरीदने की व्यवस्था से कोष अपने साधनो की तरलता को बनाये रखता है।

मुद्रा-कोष के कार्य

(Functions of the International Monetary Fund)

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष अपने विभिन्न उद्देश्यो की पूर्ति के लिए निम्नाकित कार्यों का सम्पादन करता है :—

1 **आर्थिक सहायता**—मुद्रा-कोष का मुख्य उद्देश्य सदस्य देशो के भुगतान सन्तुलन की अस्थायी अव्यवस्था को दूर करना है। जब किसी देश का भुगतान सन्तुलन उसके विपक्ष मे होता है तो मुद्रा-कोष द्वारा कुछ समय के लिए आवश्यक मुद्रा की व्यवस्था कर दी जाती है। मुद्रा कोष सदस्य देश को उसके केन्द्रीय बैंक के माध्यम से ही ऋण देता है। मुद्रा कोष किसी निजी व्यक्ति से लेन देन नही करता। एक उदाहरण द्वारा इसे अधिक स्पष्ट किया जा सकता है।

मान लीजिए, भारत को कैनाडा म 10 लाख डॉलर चुकाने है और मुद्रा कोष यह राशि भारत सरकार को उधार देता है। अब बैक ऑफ कैनाडा (कैनाडा के केन्द्रीय बैंक) म मुद्रा कोष के खाते मे मानलिया कि 55 करोड डॉलर जमा है तो मुद्रा कोष भारत के रिजर्व बैंक को बैंक ऑफ कैनाडा पर 10 लाख डॉलर तक चेक जारी करने का अधिकार दे देगा। रिजर्व बैंक इस चैक द्वारा कैनाडा मे सम्बन्धित व्यक्तियो को भुगतान कर देगा। इस चेक का भुगतान होने पर मुद्रा-कोष के खाते मे कैनाडा का 10 लाख डॉलर कम जायगा और भारत के रिजर्व बैंक स्थित खाते मे 10 लाख डॉलर के बराबर रकम जमा हो जायगी।

मुद्रा कोष साधारणत एक वर्ष मे किसी देश के अभ्यश के 25 प्रतिशत से अधिक का ऋण नही देता, परन्तु अब अभ्यश के 50 प्रतिशत तक ऋण भी एक वर्ष मे दिये जाते हैं और अत्यन्त गम्भीर आवश्यकता की स्थिति मे इससे भी अधिक (अभ्यश के शत प्रतिशत तक) ऋण देने की व्यवस्था की जा सकती है, किन्तु मुद्रा कोष केवल अस्थायी असन्तुलन को ठीक करने के लिए ही ऋण देता है, अत इसके ऋण अल्पकालीन होते है तथा इनकी अवधि अधिक से-अधिक 3 से 5 वर्ष तक की होती है। वास्तव मे, जब किसी देश के विनिमय-कोष समाप्त हो जायँ या किसी अस्थायी कठिनाई के कारण वह विदेशी भुगतान करने म असमर्थ हो तब उसे मुद्रा-कोष से सहायता मागनी चाहिए और इस ऋण का भुगतान शीघ्रातिशीघ्र करना चाहिए, क्योंकि **मुद्रा कोष एक गतिशील कोष है** (The I M F is a revolving fund), और इसकी पूँजी एक जगह अधिक दिनो तक जमा करके नही रखी जा सकती। मुद्रा-कोष की सहायता वास्तव मे ऐसा अवसर प्रदान करने क लिए है जिसकी सहायता से सदस्य देशो को अपनी व्यापारिक स्थिति सुधारने का समय मिल जाता है। दूसरे शब्दो मे, **"मुद्रा-कोष आग बुझानेवाले इंजन की तरह है जिसका प्रयोग केवल सकटकाल मे किया जाना चाहिए।"** (The Fund may be likened to a firebrigade the use of which is required only in an emergency)

इस प्रकार मुद्रा-कोष सामान्यतः अल्पकालीन ऋण प्रदान करता है। साथ ही, यह **निम्नांकित परिस्थितियों मे ही ऋण प्रदान करता है :—**

(क) आर्थिक संकट की स्थिति मे :— यदि किसी क्षेत्र मे आकस्मिक आर्थिक अथवा राजनीतिक सकट की स्थिति उत्पन्न हो जाय जिससे दूसरे देशो को भी हानि पहुँचने की आशका हो तो मुद्रा-कोष तत्परता से ऋण की व्यवस्था कर देता है परन्तु सहायता देने से पहले इस बात का आश्वसन चाहता है कि सकटग्रस्त देश अपनी आर्थिक स्थिति मे सुधार करने के लिए अथक प्रयत्न कर रहा है। इस प्रकार का उदाहरण स्वेज नहर से उत्पन्न आर्थिक सकट के कारण ब्रिटेन को दिया गया ऋण था। दिसम्बर, 1956 मे जब ब्रिटिश सरकार ने 130 करोड डॉलर (अपने अभ्यश के बराबर) ऋण की माँग की तो मुद्रा-कोष ने 56 1 करोड डॉलर का ऋण तत्काल प्रयोग करने तथा 73 9 करोड डॉलर आवश्यकता पडने पर देने (Stand by agreement) की स्वीकृति दी। यदि ऋण नही दिया गया होता तो स्टर्लिंग के मूल्य गिरने की सम्भावना थी जिससे ब्रिटेन के साथ साथ अन्य देशो को भी हानि उठानी पडती। साथ ही, ऋण की स्वीकृति से पहले ब्रिटिश सरकार ने अपनी ससद् तथा मुद्रा-कोष को भेजे गये स्मरण पत्रो मे यह स्पष्ट कर दिया था कि देश की मुद्रा तथा साख-व्यवस्था को सुदृढ बनाये रखने के लिए कुछ भी नही उठा रखा जायगा और आयात आदि पर कोई नियन्त्रण नही लगाय जायेंगे। इस सहायता का बहुत अच्छा प्रभाव पडा और ब्रिटेन को व्यापार अथवा भुगतान सन्तुलन म किसी विशेष कठिनाई का सामना नहीं करना पडा। इस प्रकार की सहायता अन्य सदस्य राष्ट्रो को भी प्रदान की जाती है।

(ख) विनिमय-सम्बन्धी मौसमी कठिनाई (Sea onal exchange difficulties) — मुद्रा-कोष विनिमय-सम्बन्धी मौसमी या सामयिक कठिनाइयो को दूर करने के लिए भी सहायता प्रदान करता है। वास्तव मे, ससार मे कुछ देश ऐसे भी हैं जिनका निर्यात व्यापार मौसमी अथवा सामयिक होता है। ये देश प्राय एक फसल पर निर्भर करते हैं और नयी फसल तैयार होने तक अथवा उसका भुगतान विदेशो से प्राप्त होने तक उन्हे भुगतान की कठिनाइयो का सामना करना पडता है। मुद्रा-कोष ऐसे देशो को नियमित रूप मे 6 से 12 माह के लिए ऋण देता और इसका भुगतान नियमित रूप मे होते रहता है। कोष से इस प्रकार की सहायता पाने वाले देशो मे यूरुग्वा एलसैल्वेडोर आदि प्रमुख है। इस प्रकार **मुद्रा-कोष आर्थिक तथा आकस्मिक या मौसमी सकट से छुटकारा दिलाने के लिए आर्थिक सहायता प्रदान करता है। अतः इसकी तुलना फायर ब्रिगेड या आग बुझाने वाले दमकल से की गयी है।**

(ग) चालू भुगतान में असतुलन — चालू भुगतान मे असतुलन की स्थिति को दूर करने के लिए भी मुद्रा-कोष सदस्य राष्ट्रो को सहायता प्रदान करता है। इस प्रकार का असतुलन उपभोग अथवा विकास की योजनाओ आदि मे अधिक पूँजी व्यय करने के कारण उत्पन्न हो जाता

है। इन देशो की समस्या तो दीर्घकालीन होती है, परन्तु दीर्घकालीन ऋण मिलने मे कभी-कभी देर हो जाती है, अत. इस अवधि मे विकास की योजनाओ का क्रम न रुके इसलिए मुद्रा-कोष से अस्थायी सहायता लेने की आवश्यकता पडती है। ऐसी स्थिति मे **कोष की सहायता सूखती हुई कृषि के लिए अमृत के समान कार्य करती है**। मुद्रा-कोप द्वारा इस प्रकार की सहायता अर्जेण्टाइना, डेनमार्क, फ्रांस, भारत, जापान, हॉलैंड तथा कनाडा आदि देशो को दी गयी है।

(घ) स्थायित्व ऋण :—कभी-कभी कुछ देशो की आर्थिक स्थिति मे विपन्नता आने के कारण वे बहुत-सी विनिमय-दरें अपना लेते हैं। ऐसा भुगतान सतुलन की स्थिति ठीक रखने के लिए किया जाता है परन्तु इससे इन देशो को व्यापार तथा भुगतान मे बहुत कठिनाई का सामना करना पडता है। अतः जब उन देशो की आर्थिक स्थिति मे कुछ सुधार होने लगता है तो वे मुद्रा-कोष से अस्थायी ऋण लेकर तत्काल एक समता दर अपनाने की चेष्टा करते हैं। मुद्रा-कोष का एक महत्त्वपूर्ण उद्देश्य सब देशो के भुगतान के लिए प्रत्येक देश की समता दर स्थापित करना है। अतः कोष इस नीति का पालन करने के लिए सम्बन्धित देशो को तत्काल ऋण देता है। गत वर्षों मे इजरायल, कोस्टारिका आदि देशो ने मुद्रा कोप की सहायता से विभिन्न प्रकार की विनिमय दरो का परित्याग कर एक समता दर अपना ली है।

2. प्राविधिक सहायता (Technical Assistance) :—अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष का दूसरा प्रधान कार्य सदस्य-राष्ट्रो को प्राविधिक सहायता प्रदान करना है। कोप वाशिंगटन स्थित अपने प्रधान कार्यालय तथा अन्य देशो से अपने प्रतिनिधि को भेजकर आर्थिक नीतियो के सम्बन्ध मे सहायता देने की व्यवस्था भी करता है। यह सहायता सामान्य भुगतान सतुलन की समस्या से लेकर आर्थिक एव वित्तीय क्षेत्र की किसी भी विशेष समस्या के विषय मे हो सकती है। कुछ देशो मे केन्द्रीय बैंको की स्थापना तथा उनके विभिन्न विभागो की व्यवस्था मुद्रा-कोष के सहयोग से ही की जा सकी है। इन कार्यो के लिए मुद्रा-कोष के विशेषज्ञो को एक सप्ताह से लेकर एक वर्ष तक सम्बन्धित देशो मे रहना पडा है।

3. शिक्षण-सम्बन्धी सुविधाएँ (Training facilities) :—1951 ई० से मुद्रा-कोष सदस्य देशों के प्रतिनिधियों के प्रशिक्षण की व्यवस्था भी कर रहा है। प्रशिक्षण कार्यक्रमो मे **अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान, आर्थिक विकास और वित्तीय व्यवस्था तथा सांख्यिकी और उसके विश्लेषण** से सम्बन्धित प्रशिक्षण प्राय. केन्द्रीय बैंको तथा सरकार के वित्त विभाग के उच्च पदाधिकारियों के लिए होते हैं। कोप के प्रशिक्षण-सम्बन्धी कार्यो के विस्तार एव विकास के लिए मई, 1964 मे एक प्रशिक्षणालय स्थापित किया गया था। यह विभिन्न भाषाओ मे वित्तीय नीति के विश्लेषण से सम्बन्धित प्रशिक्षण का कार्यक्रम सचालित करता है।

4. विदेशी विनिमय नियन्त्रण सम्बन्धी परामर्श (Advice pertaining to Exchange Control)—मुद्रा-कोष के अधिकारियो द्वारा विकासशील देश को विदेशी विनिमय सम्बन्धी मामलो मे उचित सलाह देने की व्यवस्था है। विदेशी विनिमय-सम्बन्धी सलाह देते समय प्राय. मुद्रा तथा वित्तीय नीतियो के सम्बन्ध मे विचार-विमर्श होता है और उनमे सुधार करने का अवसर मिलता है।

5. मुद्रा-कोष के प्रकाशन[1]—अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष समय-समय पर विभिन्न प्रकार के विवरण प्रकाशित करता है। इनमे वार्षिक रिपोर्ट, विदेशी विनिमय-नियत्रण सम्बन्धी वार्षिक रिपोर्ट भुगतान सतुलन वार्षिक, अन्तर्राष्ट्रीय वित्त समक (मासिक), व्यापार की दिशा (मासिक), वित्त एव विकास (त्रैमासिक), तथा अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय समाचार सर्वेक्षण (साप्ताहिक) आदि उल्लेखनीय हैं जिनमे विद्यार्थियो, अध्यापको तथा शोधकर्ताओ एव सरकारी कार्यालयो के लिए अत्यन्त मूल्यवान सामग्रियाँ मिलती हैं। मुद्रा-कोप के स्टाफ पेपर्स मे अत्यन्त उच्चस्तरीय लेख प्रकाशित होते हैं।

---

1. मुद्रा-कोष के निम्नांकित प्रकाशन उल्लेखनीय हैं—Annual Report, Annual Report on Exchange Restriction, Balance of Payment, Year Book, International Financial News Survey (weekly), International Financial Statistics (monthly), Direction of Trade (monthly), Finance and Development (Quarterly) and Staff Papers (Thrice a Year.)

मुद्रा कोष के वास्तविक कार्य —कोष ने 1 मार्च, 1947 से अपनी कार्यवाही प्रारम्भ की। विगत प्राय. 28 वर्षों में अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष ने भिन्न-भिन्न सदस्य राष्ट्रों को आवश्यकतानुसार अल्पकालीन ऋण प्रदान कर उनके भुगतान शेषों के अस्थायी सतुलन को ठीक करके अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सहयोग तथा विदेशी व्यापार के सतुलित विकास को प्रोत्साहित किया है। 1965-66 तक कोष ने विभिन्न राष्ट्रों को कुल 1223 करोड डॉलर ऋण के रूप में दिया था। इसके अतिरिक्त ऋण सहायता समझौते (Stand-by agreements) के अन्तर्गत कोष सदस्य-राष्ट्रों को आवश्यकता पडने पर निश्चित मात्रा मे रकम निकालने की सुविधा प्रदान करता है। 1964 मे कोष ने सदस्य राष्ट्रों से 2159 करोड डॉलर का ऋण सहायता समझौता किया था। कोष के प्रयत्नों के परिणामस्वरूप द्विपक्षीय समझौते की मात्रा मे भारी कमी हो गयी है। कोष ने विनिमय-नियन्त्रण की प्रथा को भी हतोत्साहित किया है। साथ ही, मुद्रा-कोष के प्रयत्नों के परिणामस्वरूप आधे से अधिक सदस्य-देशों की मुद्राएँ एक-दूसरे मे परिवर्तनीय हो गयी हैं। इसने विदेशी विनिमय मे व्याप्त अस्त व्यस्तता को भी समाप्त किया है। 1964 65 ई० में सदस्य-राष्ट्रों ने अपने विदेशी भुगतान-सम्बन्धी उत्तरदायित्वों को पूरा करने के लिए मुद्रा-कोष से कुल केवल 189 7 करोड डॉलर की मुद्रा खरीदी थी, जब कि 1962 63 ई० मे 224 3 करोड डॉलर की मुद्रा खरीदनी पडी थी। इससे स्पष्ट है कि अब सदस्य-देशों के भुगतान शेषों के असन्तुलन की समस्या धीरे-धीरे समाप्त हो रही है। इस प्रकार निष्कर्ष के तौर पर यह कहा जा सकता है कि मुद्रा-कोष ने सदस्य देशों मे मौद्रिक अनुशासन की भावना, जो अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सहयोग के लिए परमावश्यक है, को उत्पन्न करने मे मे महत्त्वपूर्ण सहयोग प्रदान किया है।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष की आलोचनात्मक समीक्षा

(A Critical Appraisal of the International Monetary Fund)

इस प्रकार मुद्रा-कोष अन्तर्राष्ट्रीय प्रमाप स्थापित करने का प्रयास है। यह पूर्ण स्वतन्त्र विनिमय-दर एव अत्यधिक विनिमय नियन्त्रण दोनों के बीच का मार्ग है। दूसरे शब्दों मे "कोष एक मिश्रित प्रमाप (Mixed standard) है जिसमें स्वर्ण-माप एव पत्र मुद्रा मान दोनों की विशेषताएँ वर्तमान हैं।' (In other words, the Fund is a mixed standard embodying within itself some features of both the gold standard and the paper standard) लार्ड केन्स (Keynes) के शब्दों मे ही यह एक अच्छी अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा स्थापित करने का प्रयास है। अपने जीवन काल के 28 वर्षों मे कोष की कार्यवाही पर्याप्त मात्रा मे सतोषजनक भी रही है।

किन्तु इससे यह नही कहा जा सकता कि मुद्रा-कोष पूर्णत दोष मुक्त है। मिश्रित प्रमाप होने का अर्थ ही है कि यह दो परस्पर-विरोधी धारणाओं के बीच एक प्रकार का समझौता है, अतएव यह दोनों मे से किसी को भी पूर्णत. सतुष्ट नहीं कर सकता। मुद्रा-कोष को अपने इस छोटे से कार्य-काल मे विभिन्न प्रकार की कठिनाइयों का सामना करना पडा है तथा यह विभिन्न आलोचनाओं का शिकार भी हुआ है।

हम देख चुके हैं कि कोष का प्रधान उद्देश्य विनिमय-स्थायित्व को प्रोत्साहित करना तथा सदस्य राष्ट्रों के बीच नियमित विनिमय-व्यवस्था को कायम रखना है। इस उद्देश्य की पूर्ति मे कोष को प्रारम्भ मे दो कठिनाइयों का सामना करना पडा है —(क) सदस्य-राष्ट्रों की मुद्राओं की प्रारम्भिक समता दर को निश्चित करना, तथा (ख) अन्तर्राष्ट्रीय सतुलन को कायम करने के लिए उनकी मुद्राओं की विनिमय दर मे समय-समय पर परिवर्तन करना। प्रारम्भिक विनिमय की जो दर तय की गयी थी वह अधिकाश देशों के लिए वही थी जो 1939 ई० मे प्रचलित थी। किन्तु युद्ध काल से मूल्य-तल मे बहुत अधिक वृद्धि हुई थी, अतएव अधिकाश देशों की प्रारम्भिक विनिमय दर दीर्घकालीन सतुलन दर से भिन्न होने के कारण असतोषजनक थी। किन्तु मुद्रा-कोष इस बात से पूर्णत परिचित था कि युद्धोत्तर काल मे किसी देश का निर्यात व्यापार सामान्य मूल्य तल से नही, वरन् उसकी उत्पादन शक्ति से निर्धारित होगा। अतएव कोष द्वारा निर्धारित प्रारम्भिक विनिमय-दर व्यावहारिक थी न कि सैद्धान्तिक। साथ ही, विनिमय दरों में आवश्यकतानुसार परिवर्तन की भी व्यवस्था थी। किसी देश की वर्तमान विनिमय-दर से अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार

में कोई कठिनाई उपस्थित होने पर उसमे परिवर्तन किया जा सकता था। वास्तव मे, प्रारम्भिक विनिमय दर शीघ्र ही असन्तोषजनक सिद्ध होने लगी, अतः सितम्बर 1949 ई० मे कोष की अनुमति से ब्रिटेन एव स्टर्लिंग क्षेत्र के कई अन्य देशो ने अपनी मुद्राओ का अवमूल्यन किया। किन्तु इन सारी कठिनाइयो के बावजूद उक्त उद्देश्यो की पूर्ति मे कोष बहुत हद तक सफल रहा है।

मुद्रा-कोष ने सदस्य राष्ट्रो को उनके भुगतान-सन्तुलन के अस्थायी घाटे सुधारने में भी पर्याप्त सहायता प्रदान की है। युद्ध से अव्यवस्थित अधिकाश यूरोपीय देशो ने आर्थिक पुनर्निर्माण मे यूरोपीय रिकवरी प्लान के अन्तगत उनके डॉलर की कमी को पूरा करने मे कोष ने भी बहुत अधिक सहायता की। भारत तथा अन्य एशियाई देशो को भी कोष से पर्याप्त सहायता प्राप्त हुई। 21 अक्टूबर, 1964 ई० तक कोष ने प्राय. 789 करोड डॉलर विदेशी मुद्रा का विक्रय किया था है। यह डॉलर की माग को देखते हुए निश्चय ही अपर्याप्त है, किन्तु मुद्रा कोष की सफलता को केवल इसी आधार पर नही देखा जा सकता। मुद्रा-कोष की वास्तविक सफलता इस बात मे है कि इसने युद्धोत्तर काल मे अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सहयोग स्थापित करने मे बहुत अधिक योगदान दिया है।

कोष का एक प्रमुख उद्देश्य विनिमय नियन्त्रण को समाप्त कर बहुपक्षी भुगतान की व्यवस्था (Multilateral System of Payment) कायम करना है। विदेशी व्यापार के विस्तार के लिए विनिमय-नियन्त्रण को समाप्त करना अनिवार्य है, फिर भी कुछ-विशष-परिस्थितियो एव सक्रमण काल (Transitional period) मे किसी राष्ट्र को विनिमय-नियन्त्रण की अनुमति दी जा सकती है। किन्तु कोष अपने इस उद्देश्य की पूर्ति मे पूर्णतः सफल नही रहा है। इसके बहुत से कारण हैं जिनमे डॉलर का अभाव, शीत युद्ध (cold war) तथा योजनाबद्ध तरीके से आर्थिक विकास की नीति आदि की प्रधानता है।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की और भी कई बातों को लेकर आलोचना की जाती है जिनमें कुछ प्रमुख निम्न प्रकार से हैं :—

(1) कोष का कार्य-क्षेत्र सीमित है (Scope of the functions of the Fund is limited) —कोष की योजना के अनुसार कोष केवल चालू लेन-देन (Current transactions) से सम्बन्धित विदेशी विनिमय की समस्याओ के समाधान का ही प्रयत्न करेगा। इसके फलस्वरूप युद्ध सम्बन्धी ऋण (war-debts) तथा पूँजी के आयात एव निर्यात आदि से सम्बन्धित भुगतान के लिए राष्ट्रो को कोष से कोई सहायता नही प्राप्त होगी। इससे कोष की उपयोगिता निस्सदेह कम हो जाती है। किन्तु यह आलोचना उचित नही जान पडती क्योकि कोष की स्थापना युद्ध जैसी असामान्य परिस्थितियो के लिए नही की गयी थी। यदि कोष से इस प्रकार की आशा की जाती तो वह प्रारम्भ मे ही समाप्त हो गया रहता।

(2) विभिन्न राष्ट्रों के अभ्यश किसी उचित एव वैज्ञानिक आधार पर निश्चित नहीं किये गये हैं :—अभ्यश के आधार पर ही कोष से प्राप्त होनेवाले लाभ की अधिकतम सीमा निर्धारित होती है तथा सदस्यो का मत तय किया जाता है, अतः इसके निर्धारण मे किसी सर्वमान्य सिद्धात से कार्य लेना चाहिए था, किन्तु ऐसा नही किया गया।

(3) डॉलर के अभाव से कोष को सुचारु रूप में कार्य करने मे कठिनाई होती है .—प्रो० विलियम्स के अनुसार डॉलर के अभाव के फलस्वरूप सम्पूर्ण कोष की योजना समाप्त हो जायगी। इनके अनुसार अमेरिका मे निर्यात के लिए तो लोगो को कोष से डॉलर प्राप्त हो जायगा, किन्तु अमेरिका के आयात करनेवालो द्वारा दिया गया डॉलर कोष के पास न पहुँचकर निर्यातक देशो के पास जमा होता जायगा। इससे डॉलर की कमी में वृद्धि होगी। किन्तु यह आलोचना भी उचित नही है क्योकि डॉलर अथवा किसी अन्य देश की मुद्रा को रोकने के लिए कोष की योजना मे पुनः क्रय (Repurchase) एव राशनिंग आदि की व्यवस्था भी की गयी है।

(4) विभिन्न मुद्राओं की विनिमय-दर के निर्धारण को लेकर भी कोष की आलोचना की जाती है। इस सम्बन्ध मे प्रो० सैम्युलसन (Samuelson) का यह कहना है कि प्रारम्भ में

अधिकाश राष्ट्रो की मुद्राओ की जो विनिमय-दर निश्चित की गयी थी उनमे आधे राष्ट्रों की दर वही थी जो 1939 ई० मे प्रचलित थी। किन्तु इस बीच युद्ध काल मे मूल्य-तल मे 400% से 800% तक की वृद्धि हुई थी। मेत्झलर (Metzler) के अनुसार भी बहुत-सी मुद्राओ की विनिमय दर सभावित दीर्घकालीन सतुलन दर (Long period equilibrium rate) से अधिक थी।

(5) विनिमय-नियन्त्रणो को हटाने मे असमर्थता —अतर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष का प्रमुख उद्देश्य विदेशी व्यापार पर लगाये गये प्रतिब धो तथा विनिमय-नियन्त्रणो को हटाना था, परन्तु दुर्भाग्यवश उसे इस उद्देश्य मे सफलता नहीं मिली है तथा आज भी अमेरिका जैसे देश सरक्षण की नीति को अपनाये हुए है।

(6) कोष के नियम कम विकसित देशो के लिए प्रतिकूल हैं :—अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष मुक्त व्यापार, बहुपक्षीय भुगतान प्रणाली एव स्वतन्त्र मुद्रा विनिमय आदि उद्देश्यो पर अधिक जोर देता है जो विकसित देशो के लिए अधिक लाभपूर्ण हैं, परन्तु कम विकसित देशो के लिये ये सामान्यत. अहितकर भी हो सकते हैं।

(7) विनिमय दरों मे अस्थिरता —अतर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष की स्थापना का मुख्य उद्देश्य विनिमय दरो मे स्थिरता लाना था, परन्तु कोष को विभिन्न देशो की मुद्राओ के बीच समता दर (विनिमय दरें) बनाये रखने मे पर्याप्त सफलता नहीं मिली है। वास्तव में, कोष द्वारा निर्धारित समता-दरें वास्तविक आधार पर निर्धारित नही की गयी हैं। यही कारण है कि जब कि 7 50 रु० का एक डॉलर या 21 रुपये का एक पौण्ड मिलना चाहिए बाजार मे एक डॉलर के लिए 10 से 15 रुपये और एक पौण्ड के लिए 25 रुपये से 30 रुपये तक देना पडता है। **यदि समता दरें वास्तविक आधार पर एव स्पष्ट नियमों के अनुरूप निश्चित की गयी होती तो इस प्रकार की अनियमितता समाप्त हो जाती और पिछड़े तथा अर्द्ध विकसित राष्ट्रो को भी पर्याप्त राहत मिलती।**

(8) अर्द्ध-विकसित देशों को कम सहायता :—मुद्रा-कोष से अर्द्ध-विकसित देशो के आर्थिक विकास के लिए पर्याप्त मात्रा मे सहायता नही मिल पाई है। फलत. इन देशो का भुगतान सन्तुलन इनके विपरीत रहा है और गरीब तथा अमीर राष्ट्रो के बीच की खाई बढती ही जा रही है। **इस खाई को पाटने के लिये विकासोन्मुख राष्ट्रों को पर्याप्त सहायता दी जानी चाहिए। यह सहायता समय-समय पर कम ब्याज पर अधिक ऋण तथा प्राविधिक सहायता के रूप में उपलब्ध करायी जा सकती है।**

इस प्रकार अतर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष की बहुत सारी आलोचनाएँ की जाती हैं किन्तु इन आलोचनाओ के बावजूद यह मानना पडेगा कि "**मुद्रा कोष अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान में सहायता देने और विनिमय दरों में स्थिरता कायम रखने तथा मौद्रिक एव व्यापारिक क्षेत्रों में अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग एवं अनुशासन पैदा करने में महत्त्वपूर्ण योगदान कर रहा है, और मुद्रा-कोष का विश्व के देशों के लिए वही महत्त्व है जो एक केन्द्रीय बैंक का किसी देश की बैंकिंग एव मौद्रिक व्यवस्था के लिये होता है।**'

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष में स्वर्ण का स्थान

(Position of Gold in the I M F)

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की योजना मे स्वर्ण को बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। प्रो० हॉम (George N Halm) के अनुसार, '**स्वर्ण मुद्रा-कोष के अत्यधिक तरल साधन तथा सदस्य देशों की मुद्राओ की सामान्य इकाई के रूप मे महत्त्वपूर्ण कार्य करता है।**'[1] (Gold plays an important part in its role as the Funds' most liquid asset and as a common anchorage for the member currencies)

मुद्रा-कोष की कार्यवाही मे स्वर्ण का महत्त्व निम्नांकित विवरण से स्पष्ट होता है :—

1 George N Halm · Economics of Money and Banking, P. 532

(1) सदस्य-राष्ट्रों की मुद्राओं की प्रारम्भिक विनिमय-दर (Initial par value) स्वर्ण के रूप मे ही निश्चित की जाती है। इस प्रकार स्वर्ण एक सामान्य इकाई (Common denominator) का कार्य करता है। प्रत्येक सदस्य राष्ट्र को कोष द्वारा निर्धारित दर पर ही स्वर्ण खरीदना अथवा बेचना पडता है।

(2) सदस्य राष्ट्रों को अपने अभ्यंश (Quota) का एक निश्चित भाग स्वर्ण के रूप मे जमा करना पडता है। कोष की योजना के अनुसार प्रत्येक सदस्य-राष्ट्र को अपने अभ्यंश का 25 प्रतिशत अथवा अपने कुल स्वर्ण एव अमेरिकी डॉलर निधि का 10 प्रतिशत भाग, जो भी कम हो, स्वर्ण क रूप में जमा करना पडता है।

(3) मुद्रा-कोष की योजना के अनुसार घाटे वाले देश (deficit countries) स्वर्ण देकर विदेशी मुद्रा खरीद सकते हैं तथा कोष स्वर्ण देकर बचत वाले देश (surplus countries) से उनकी मुद्रा खरीद सकता है।

इस प्रकार मुद्रा कोष मे स्वर्ण को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। वास्तव मे, स्वर्ण मुद्रा-कोष का सबसे अधिक तरल साधन है। **अतएव कुछ अर्थशास्त्रियों ने अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष को स्वर्ण-मान का पुनर्स्थापन बतलाया है।** उदाहरण के लिए, प्रो० विलियम्स के अनुसार मुद्रा कोष एव स्वर्ण मान मे अन्तर नही है। इनकी राय मे मुद्रा-कोष की योजना मे घाटे वाले देश (deficit country) की स्थिति स्वर्ण खोने वाले देश (gold losing country) की तरह होती है तथा बचत वाले देश (surplus country) की स्थिति स्वर्ण प्राप्त करनेवाले देश (gold receiving country) की तरह होती है। प्रो० विलियम्स के अनुसार कोष के साथ लेन देन का प्रभाव किसी देश पर ठीक उसी प्रकार से पडता है जिस तरह स्वर्ण प्रमाप मे स्वर्ण गमनागमन (gold movements) का प्रभाव पडता था। किन्तु ऐसा कहना युक्तिसगत नही जान पडता क्योंकि स्वर्ण प्रमाप के अन्तर्गत स्वर्ण प्राप्ति वाले देश को साख का विस्तार एव स्वर्ण खोने वाले देश को साख का सकुचन अनिवार्य रूप से करना पडता था। किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष किसी सदस्य को ऐसा करने के लिए बाध्य नही कर सकता।

स्वर्ण प्रमाप एव मुद्रा कोष मे अन्तर (Distinction between Gold Standard & I M F) —अतएव मुद्रा-कोष एव स्वर्ण प्रमाप की कार्य प्रणाली मे कुछ आमूल अन्तर भी हैं। सभवत इसीलिए सुप्रसिद्ध अर्थशास्त्री लार्ड केन्स ने **"मुद्रा-कोष को स्वर्ण मान के ठीक विपरीत कहा है।"** (The fund proposals are exactly opposite of the gold standard) इस सम्बन्ध मे 23 मई, 1944 ई० को House of Lords में अपने व्याख्यान के सिलसिले मे लार्ड केन्स (Keynes) ने कहा था कि स्वर्ण मान प्रणाली मे देश की मुद्रा का बाह्य मूल्य (external value) पूर्णतया स्वर्ण की एक निश्चित मात्रा से बँधा होता है। इस मूल्य मे केवल प्रधानशक्ति की अनुमति से ही परिवर्तन किया जा सकता है। स्वर्ण मान मे देश को एक ऐसी कठोर वित्तीय नीति का सामना करना पडता है जिसके अन्तर्गत देश की मुद्रा के आन्तरिक मूल्य को इसके बाह्य मूल्य के समकक्ष रखना पडता है। इसके विपरीत स्वर्ण को केवल एक ऐसे सामान्य मापक के रूप मे उपयोग करना जिसके द्वारा भिन्न-भिन्न देशो की राष्ट्रीय मुद्राओं का सापेक्ष मूल्य, जिसमे बिना किसी प्रकार की कठिनाई के समय-समय मे परिवर्तन किया जा सकता है, निश्चित नियत्रण हैं स्वर्ण मान से बिलकुल भिन्न हैं। कोष की योजना मे देश की मुद्रा के आन्तरिक मूल्य मे इसके बाह्य मूल्य के अनुसार परिवर्तन होने के स्थान पर इसके बाह्य मूल्य मे इसके आन्तरिक मूल्य के अनुसार परिवर्तन किये जाते हैं। वास्तव मे, कोष का यह कर्त्तव्य है कि यह सदस्य राष्ट्रों की मुद्राओं के बाह्य मूल्यो (समता मूल्यो) मे किये जानेवाले इस प्रकार के परिवर्तनो को स्वीकार करे। स्वर्ण मान मे देश की आन्तरिक अर्थ-व्यवस्था को स्वर्ण मान की अविश्वसनीय दशा पर आश्रित होना पडता था। परन्तु कोष योजना मे प्रत्येक सदस्य देश की सरकार को उचित प्रकार की मौद्रिक तथा आर्थिक नीतियो द्वारा देश की अर्थ व्यवस्था मे सुधार करने का पूर्ण अधिकार प्राप्त है। इस प्रकार, कोष की योजना मे अन्तर्राष्ट्रीय समझौते के

आधार पर एक ऐसी नयी प्रणाली का निर्माण किया गया है जो स्वर्ण मान की पुरानी दूषित प्रणाली से कोसों दूर है।'[1]

वास्तव में, स्वर्ण-प्रमाप एवं मुद्रा कोष में निम्नांकित प्रधान अन्तर हैं—

(क) अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्ण मान का प्रधान उद्देश्य विनिमय दर को स्थायी बनाना है जो स्वर्ण के आयात एवं निर्यात के द्वारा कायम किया जाता है। मुद्रा कोष का प्रधान उद्देश्य भी विनिमय दर का स्थायित्व है, किन्तु इसके अन्तर्गत किसी सदस्य राष्ट्र के भुगतान सतुलन मे किसी प्रकार के मौलिक असतुलन का सुधारने के लिए विनिमय दर मे व्यवस्थित तरीके से परिवर्तन भी किया जाता है किन्तु स्वर्ण मान मे ऐसा सम्भव नही था।

(ख) अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्ण मान मे कोई भी देश स्वतन्त्र आन्तरिक आर्थिक नीति का अनुसरण नही कर सकता था। इसमे विनिमय दर को स्थायी बनाने के लिए प्रत्येक राष्ट्र को अपनी आर्थिक स्थिति एव मूल्य तल को अन्य देशो के समान रखना पडता था। किन्तु मुद्रा कोष के अन्तर्गत प्रत्येक देश अपनी आतरिक आर्थिक नीति के सम्बन्ध मे स्वतन्त्र रहता है। इस प्रकार यह विनिमय स्थायित्व के साथ साथ आर्थिक स्थायित्व का सामजस्य करता है।

(ग अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्ण मान मे प्रत्येक देश की विनिमय दर बिल्कुल स्थायी होती थी, किन्तु मुद्रा कोष म कोई राष्ट्र कोष की अनुमति से अपनी मुद्रा की विनिमय दर मे एक सीमा के अन्तगत परिवर्तन भी कर सकता है। इस प्रकार कोष की योजना म व्यवस्थित लोचपूर्णता का समावेश है जिसका स्वर्ण प्रमाप मे बिल्कुल अभाव था।

अतएव अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष मे स्वण का स्थान महत्त्वपूर्ण होते हुए भी यह नही कहा जा सकता कि यह स्वर्ण के पुनर्स्थापन का प्रयास है। वास्तव मे, मुद्रा-कोष की व्यवस्था मे स्वर्ण का स्थान वफादार सेवक की तरह है न कि युद्ध के पूर्व के अनाचारी स्वामी की तरह।

भारत एवं मुद्रा-कोष
(India and the I M F)

भारत अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (I M F.) का प्रारम्भ से ही एक सदस्य है। रुपये की प्रारम्भिक समता दर प्रारम्भ म 0 268601 ग्राम या 30 225 सेंट निश्चित की गयी थी। सितम्बर 1949 मे भारतीय रुपये के अवमूल्यन के बाद यह दर 0 186621 ग्राम स्वर्ण अथवा 21 सट हो गयी। पुन जून, 1966 मे अवमूल्यन के पश्चात् यह दर 0 118489 ग्राम शुद्ध स्वर्ण अथवा 13.33 सेंट हो गयी।

कोष की सदस्यता से भारत विशेष रूप से लाभान्वित हुआ है। सितम्बर, 949 ई० मे भारतीय रुपये के अवमूल्यन (devaluation) के पूर्व तक भारत को इससे 90 मिलियन डालर

1. 'The gold standard as I understand it, means a system under which the external value of a national currency is rigidly tied to a fixed quantity of gold which can only honourably be broken under *force majeure* and it involves a financial policy which compels the internal value of the domestic currency to conform to this external value as fixed in terms of gold On the other hand, the use of gold merely as a convenient common denominator by means of which the relative value of national currencies—these being free to change—are expressed from time to time is obviously quite another matter instead of maintaining the principle that the internal value of a national currency should conform to a prescribed *de jure* external value, it provides that the external value should be altered if necessary so as to conform to whatever *de facto* internal value results from domestic policies which themselves shall be immune from criticism by the fund Indeed, it is the duty of the fund to approve changes which will have this effect That is why it is said that these proposals are the exact opposite of the gold standard They lay down by international agreement the essence of the new doctrine far remove from the old orthodoxy Reproduced from the New Economic edited by S E Harris, p 376

की सहायता इसके भुगतान-संतुलन की कठिनाइयो को दूर करने के लिए प्राप्त हुई थी। जब 1952 ई० मे भुगतान सतुलन की विपक्षता बहुत बढ गयी तो पुन कोष से भारत को सहायता प्राप्त हुई। पुन द्वितीय पचवर्षीय योजना के प्रथम वर्ष से ही भारत को विदेशी विनिमय की कठिनाइयो का सामना करना पडा जिसके चलते द्वितीय योजना के लक्ष्यो एव कार्य-क्रमो को दुहराने की आवश्यकता पडी। इस कठिनाई को दूर करने के लिए भी भारत ने मुद्रा-कोष से पुन. सहायता की माग की जिसके परिणामस्वरूप 200 मिलियन डालर, यानी लगभग 9 52 करोड क्या रुपये की सहायता कोष से प्राप्त हुई। अब प्रश्न यह है कि कोष से और अधिक सहायता पाने की सम्भावना है? कोष के अनुसार कोई भी सदस्य राष्ट्र एक वर्ष मे अपने अभ्यश (quota) के 25 प्रतिशत के बराबर विदेशी मुद्रा का क्रय कर सकता है। किन्तु किसी भी समय कोष के पास किसी सदस्य राष्ट्र की मुद्रा के 200 प्रतिशत से अधिक नही जमा होना चाहिए। इसका तात्पर्य यह है कि कोई देश अपने कोटा तथा स्वर्ण के हिस्से (Gold contributions) से अधिक अल्प-कालीन ऋण कोष से नही प्राप्त कर सकता है। इस प्रकार भारत के लिए कोष से अधिकतम सहायता की सीमा इसका हिस्सा 400 मिलियन डॉलर तथा स्वर्ण का जमा 27 मिलियन डॉलर, यानी 427 मिलियन डॉलर से अधिक नही हो सकती। (प्राचीन कोटे के आधार पर) इसमे से भारत के पहले ही 1957 ई० तक 200 मिलियन डॉलर की विदेशी मुद्रा का क्रय किया था। इसका अर्थ यह है कि भारत को अब केवल 227 मिलियन डॉलर, यानी प्राय 108 करोड रुपये की विदेशी सहायता प्राप्त हो सकती है। किन्तु 1958 ई० मे दिल्ली मे कोष एव बैंक की जो बैठक हुई थी उसके अनुसार कोष के साधनो मे 50 प्रतिशत और अधिक वृद्धि की गयी जिसका 25 प्रतिशत भाग सदस्य-राष्ट्रो को स्वर्ण मे चुकाना है। इस प्रकार भारत ने अपने हिस्से मे 200 मिलियन डॉलर और चुकाया है जिसका एक-चौथाई भाग स्वर्ण के रूप मे चुकाया गया है। कोष के साधनो मे इस वृद्धि के फलस्वरूप भारत कोष से और अधिक मात्रा मे ऋण प्राप्त कर सकता है। तृतीय योजना काल मे कोष के साथ एक समझौता हुआ जिसके अनुसार जुलाई 1962 ई० से जून, 1?6 ई० के बीच कोष ने भारत को 100 करोड डॉलर विदेशी मुद्रा के रूप मे चुकाने का वादा किया था। पुन 1970 ई० के बाद कोष के साधनो मे और वृद्धि से भारत को कोष से प्राप्त सहायता मे भी पर्याप्त वृद्धि हुई है।

1970 मे भारत को SDR के रूप मे 12·6 करोड डॉलर प्राप्त हुआ था जिसमे 8 4 करोड डॉलर का प्रयोग अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के पुराने ऋण आदि के भुगतान मे किया गया तथा शेष 4 2 करोड डॉलर को इसके सुरक्षित कोष मे जमा कर दिया गया।

इतना ही नही, समय-समय पर कोष से भारत को मौद्रिक एव आर्थिक मामलो मे उचित परामर्श भी प्राप्त हुआ है। उदाहरण के लिए, प्रथम योजना काल मे Bernstein Mission ने भारत का दौरा किया था तथा इस बात की जाँच की कि किस तरह घाटे की वित्त व्यवस्था की नीति के साथ-साथ मौद्रिक स्थायित्व कायम किया जा सकता है। इसी प्रकार द्वितीय योजना काल मे कोष के कुछ विशेषज्ञो ने भारत की मौद्रिक स्थिति की जाँच कर उचित परामर्श दिया था।

इस प्रकार भारत मुद्रा-कोष की सदस्यता से बहुत ही लाभान्वित हुआ है तथा भविष्य मे इससे और अधिक लाभान्वित होने की आशा की जाती है।

मुद्रा-कोष एव अन्तर्राष्ट्रीय तरलता (I. M. F and the International Liquidity) —अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष तरलता की व्यवस्था करने वाली सस्था है। वास्तव मे, मुद्रा कोष की स्थापना का प्रधान उद्देश्य स्वर्ण तथा सदस्य राष्ट्रो की मुद्रा को एक स्थान मे एकत्र करना है जिसका प्रयोग सदस्य राष्ट्रो द्वारा आवश्यकता पडने पर किया जा सकता है। कोष के साधन वर्त्तमान समय मे 2813 करोड डॉलर है। इसके अतिरिक्त कोष आवश्यकता पडने पर समय-समय पर विभिन्न सदस्य राष्ट्रो से कर्ज भी लेता है। इस बडे पैमाने पर साधनो के कारण मुद्रा-कोष विश्व मे अन्तर्राष्ट्रीय तरलता का सर्वाधिक प्रधान साधन है। मुद्रा-कोष दो प्रकार की तरलता प्रदान करता है—प्रथम प्रकार की तरलता का सम्बन्ध उस मात्रा से है जिसका प्रयोग सदस्य राष्ट्र अपनी आवश्यकतानुसार कर सकते हैं। इसे 'unconditional liquidity'

1. International liquidity की सविस्तार व्याख्या अगले अध्याय में की गयी है।

कहते हैं ।। द्वितीय प्रकार की तरलता का सम्बन्ध उस रकम से है जिसका प्रयोग सदस्य देश कुछ शर्तों के अन्तर्गत ही कर सकते हैं। इसे शर्त की तरलता (condit onal liquidity) कहते हैं। वर्तमान समय मे मुद्रा-कोष के द्वारा प्रदान की गयी unconditional liquidity की मात्रा 600 करोड डॉलर तथा conditional liquidity की मात्रा लगभग 1600 करोड डॉलर है।

विशेष अध्ययन-सूची

1. Halm : Monetary Theory, Chapter, 13
2. Williams : Post-war Monetary Plans and Other Essays.
3. Halm : Economics of Money and Banking,
4. I. M. F. : Annual Reports and Staff Papers

अध्याय : 38

अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण एवं विकासार्थ बैंक

(The International Bank For Reconstruction And Development)

प्राक्कथन—अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण एव विकासार्थ बैंक, जिसे साधारणतया विश्व-बैंक (World Bank) भी कहा जाता है, की स्थापना ब्रेटनवुड्स सम्मेलन (Brettonwoods Conference) के परिणामस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष की एक पूरक सस्था के रूप मे हुई थी। इसका प्रधान उद्देश्य दीर्घकालीन अन्तर्राष्ट्रीय पूंजी के विनियोग को प्रोत्साहित करना है। मुद्रा-कोष इस कार्य को नही कर सकता क्योकि दीर्घकालीन विनियोग से इसके साधन तरल नही रह सकेंगे। सम्मेलन मे यह अनुभव किया गया था कि युद्ध के बाद आर्थिक पुनर्निर्माण एव विकास के लिए दीर्घकालीन पूंजी के विनियोग की बहुत बडी आवश्यकता होगी। यदि सदस्य राष्ट्रो को दीर्घकालीन पूंजी की सुविधा प्रदान नहीं की जायगी तो वे सम्भवत कोष द्वारा दी गयी आर्थिक सहायता का दीर्घकालीन कार्यों मे दुरुपयोग करने लगेंगे। निजी पूंजी पर भी इस कार्य के लिए बहुत अधिक निर्भर नही किया जा सकता। सबसे बडी बात तो यह है कि मुद्रा-कोष का उद्देश्य अल्पकालीन आर्थिक सतुलन की प्राप्ति मे सहायता देना है, किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था के लिए राष्ट्रो के बीच दीर्घकालीन सतुलन अनिवार्य है जो दीर्घकालीन विनियोग से ही सम्भव हो सकेगा। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए मुद्रा-कोष के साथ साथ अन्तर्राष्ट्रीय बैंक नामक एक पूरक सस्था की भी स्थापना की गयी। इसकी स्थापना विनियोग बैंक (Investment Bank) की धारणा के आधार पर हुई। ऐसी आशा की गयी है कि **"विश्व-बैंक मुद्रा कोष के एक पूरक संस्था के रूप में कार्य करेगा तथा इसका प्रधान उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के प्रसार एवं आय तथा रोजगार के उच्च स्तर को कायम रखने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय विनियोग को प्रोत्साहित करना है।"** (It is intended to serve as an essential adjunct to the Monetary Fund, and in particular to ensure a high and stable level of international investment with a view to promoting the maintenance of a high level of international trade and thus of production and employment.)

अन्तर्राष्ट्रीय बैंक के उद्देश्य

(Objectives of the World Bank)

अन्तर्राष्ट्रीय बैंक के निम्नांकित प्रधान उद्देश्य अथवा कार्य है—

(1) सदस्य राष्ट्रों का पुनर्निर्माण एव आर्थिक विकास—अन्तर्राष्ट्रीय बैंक का पहला प्रधान उद्देश्य युद्ध विनष्ट देशो का पुनर्निर्माण (Reconstruction of the war-devastated countries) तथा अविकसित (un developed) एव अर्द्ध विकसित (under developed) राष्ट्रो का आर्थिक विकास है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए बैंक दीर्घकालीन विदेशी विनियोग को प्रोत्साहित करता है।

(2) पूंजी के अन्तर्राष्ट्रीय विनियोग के लिए समुचित सुविधा प्रदान करना—अन्तर्राष्ट्रीय बैंक का दूसरा प्रधान उद्देश्य दीर्घकालीन पूंजी के अन्तर्राष्ट्रीय विनियोग के लिए समुचित वातावरण तैयार करना है। इस उद्देश्य स बैंक वैयक्तिक विनियोजको (Private Investors) को उनकी पूंजी की गारन्टी देकर या उनके विनियोग मे हाथ बँटा कर उन्हें पिछडे देशो मे उत्पादक कार्यों म पूंजी विनियोग के लिए प्रोत्साहित करता है। यदि किसी कारणवश वैयक्तिक विनियोग पर्याप्त मात्रा मे तथा सस्ती दर पर उपलब्ध नही हो पाता है तो इसके द्वारा प्राप्त कोषो मे से या अन्य तरीको से प्राप्त रकमो द्वारा इस प्रकार के देशो मे उत्पादक-कार्यों के लिए ऋण देता है। इससे स्पष्ट है कि अन्तर्राष्ट्रीय बैंक का प्रधान उद्देश्य वैयक्तिक अन्तर्राष्ट्रीय

पूँजी के विनियोग को समाप्त करना नहीं, वरन् इसे प्रोत्साहित करने के उद्देश्य से गारन्टी प्रदान करना है। (The Bank has the purpose to promote private foreign investment by means of guarantees of participations in loans and other investment made by private investors, and when private capital is not available on reasonable terms, to supplement private investment by providing on suitable conditions finance for productive purposes out of its own capital, funds raised by it and its other resources.)

(3) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को बढ़ाना एवं प्रोत्साहित करना—बैंक का तीसरा प्रमुख उद्देश्य अविकसित देशों को उनकी विकास-सम्बन्धी योजनाओं को कार्यान्वित करने में सहायता देकर उनके अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को बढ़ाना एवं सन्तुलित बनाना है। ऋण का उपयोग केवल उत्पादक कार्यों के लिए ही हो ऐसा करने के उद्देश्य से बैंक विभिन्न देशों की योजनाओं की जाँच करता है। उत्पादक कार्यों के लिए ऋण का उपयोग करने से सदस्य-राष्ट्रों का आर्थिक विकास होता है जिससे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को प्रोत्साहन मिलता है तथा जनता के जीवन-स्तर एवं श्रमिकों के कार्य करने की दशाओं आदि में भी सुधार होता है।

(4) शान्तिकालीन अर्थ व्यवस्था की स्थापना—बैंक का चौथा प्रधान उद्देश्य सदस्य राष्ट्रों में शान्तिकालीन अर्थ व्यवस्था की स्थापना के लिए समुचित दशाएँ उत्पन्न करना है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि विश्व बैंक का प्रधान उद्देश्य उन सभी कार्यों को करना है जिससे सदस्य देशों के आर्थिक विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया जा सके। दूसरे शब्दों में, बैंक के ऋणों का प्रयोग मुख्यतः सदस्य राष्ट्रों की आर्थिक स्थिति को सुदृढ़ बनाने में किया जाता है। कोष के कुल ऋणों का एक तिहाई भाग विद्युत् के विकास, एक तिहाई भाग यातायात के विकास तथा शेष का प्रयोग कृषि, उद्योग एवं शिक्षा आदि के प्रसार में किया गया है।

विश्व का कोई भी देश जो बैंक के नियमों को पूरा करता है एवं जो अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष का सदस्य है विश्व बैंक का सदस्य बन सकता है। जून, 1972 के अन्त तक बैंक के सदस्यों की संख्या 125 हो गयी थी।

विश्व बैंक की पूँजी एवं साधन

(Capital Resources of the World Bank)

प्रारम्भ में अन्तर्राष्ट्रीय बैंक की अधिकृत पूँजी (Authorised Capital) 1,000 करोड़ डॉलर थी जो 1 लाख डॉलर के 1 लाख हिस्सों में विभाजित थी। 30 जून, 1955 ई० को बैंक की प्रार्थित पूँजी (Subscribed Capital) 9028 मिलियन डॉलर थी तथा उस समय कुल 5? देश इसके सदस्य थे। इसमें प्रत्येक सदस्य राष्ट्र का हिस्सा निश्चित कर दिया गया था जैसे—अमेरिका 3150 मिलियन डॉलर, इंगलैंड 1300 मिलियन डॉलर, रूस 1200 मिलियन डॉलर, चीन 600 मिलियन डॉलर, फ्रांस 450 मिलियन डॉलर तथा भारत 450 मिलियन डॉलर। रूस ने बैंक की सदस्यता को स्वीकार नहीं किया। प्रत्येक सदस्य राष्ट्र अपने हिस्से की पूँजी का केवल 20 प्रतिशत भाग अदा करते हैं और शेष 80 प्रतिशत भाग बैंक द्वारा माँगे जाने पर (when called up) बैंक के आदेशानुसार देना पड़ता है। प्रत्येक सदस्य को अपने कुल चन्दे का 2 प्रतिशत भाग स्वर्ण या स्वर्ण में परिवर्तित (gold or gold convertible currencies) में तथा शेष 18 प्रतिशत भाग अपनी मुद्रा के रूप में चुकाना पड़ता है।

बैंक की पूँजी में वृद्धि—किन्तु आगे चलकर बैंक के कार्यों के विस्तार तथा सदस्य राष्ट्रों की ऋण सम्बन्धी आवश्यकताओं को देखते हुए बैंक की पूँजी में वृद्धि आवश्यक हो गयी थी। अतएव अक्टूबर, 1958 ई० में बैंक के गवर्नरों की बैठक में बैंक की पूँजी में वृद्धि के प्रश्न पर विचार किया गया तथा बैंक की पूँजी में वृद्धि के सम्बन्ध में निश्चय किया गया। इसके परिणामस्वरूप जून, 1969 ई० तक बैंक की पूँजी 23 0364 मिलियन डॉलर हो गयी। बैंक के अधिकांश सदस्यों ने अपने चन्दे की धन-राशि को दुगुना कर दिया। कुछ देशों ने अपनी धनराशि में दुगुना से भी अधिक वृद्धि की है। वर्तमान समय में सदस्यों के चन्दे की राशि निम्नांकित है—संयुक्त राज्य अमेरिका ने 6350 मिलियन डॉलर, इंगलैंड ने 2600 मिलियन डॉलर,

जर्मनी 1280 मिलियन डॉलर, फ्रांस 1050 मिलियन डॉलर तथा भारत ने 800 मिलियन डॉलर। बैंक के साधनों में पुनः अक्टूबर 1970 ई० में वृद्धि की गयी।

इस प्रकार बैंक उक्त तरीकों से पूँजी प्राप्त करता है। इसके अतिरिक्त बैंक किसी सदस्य-राष्ट्र के मुद्रा बाजार में उसकी अनुमति से अपनी प्रतिभूतियों को बेचकर भी कोष प्राप्त कर सकता है जिसके आधार पर वह अविकसित राष्ट्रों को ऋण दे सकता है। 30 जून, 1955 ई० तक बैंक ने विभिन्न सदस्य राष्ट्रों के बाजार में 850 मिलियन डॉलर की प्रतिभूतियों को बेचा था। इस प्रकार जून, 1955 तक आंशिक पूँजी के प्राप्त भाग एवं अन्य साधनों से प्राप्त रकम आदि मिलकर बैंक के पास कुल 2 26 मिलियन डालर का साधन था जिसमें से 168 मिलियन डॉलर इसने ऋण के रूप में वितरित किया था।

किन्तु बैंक अपने साधनों में एक सीमा से अधिक वृद्धि नहीं कर सकता है। बैंक के समझौते के अनुसार किसी भी समय कुल गारन्टी, ऋण में हाथ बँटाना एवं प्रत्यक्ष ऋण आदि मिलकर बैंक की आंशिक पूँजी का उपलब्ध भाग, इसके सुरक्षित कोष एवं बचत आदि के प्रतिशत से अधिक नहीं हो सकता। (The total amount of outstanding guarantees, participations in loans and direct loans made by the bank shall not be increased at any time, if by such an increase, the total would exceed 100 p c of the unimpared subscribed capital reserves and surplus of the bank) इस प्रकार इससे स्पष्ट है कि बैंक के साधन सीमित है तथा बैंक अपनी इच्छानुसार इनमें वृद्धि नहीं कर सकता। किन्तु बैंक आवश्यकता पड़ने पर गारन्टी प्रदान करने के बजाय ऋणी एवं ऋणदाता के बीच बिचवैये का काय भी कर सकता है।

मुद्रा कोष की तरह बैंक भी सदस्य राष्ट्रों से उनके केन्द्रीय बैंक, ट्रेजरी अथवा अन्य आर्थिक समस्याओं के माध्यमों से ही काय करता है। किन्तु यह सदस्य राष्ट्र की सीमा के अन्तर्गत किसी भी औद्योगिक कृषि या व्यावसायिक संस्था को ऋण प्रदान कर सकता है।

बैंक की व्यवस्था

(Management of the Bank)

बैंक की व्यवस्था भी वस्तुतः ठीक मुद्रा-कोष की ही तरह है। बैंक की व्यवस्था का कार्य एक बोर्ड ऑफ गवर्नर, एक संचालक मण्डल, एक सलाहकार समिति तथा एक ऋण समिति द्वारा किया जाता है। (क) **बोर्ड ऑफ गवर्नर्स**—इसमें प्रत्येक सदस्य राष्ट्र द्वारा नियुक्त एक गवर्नर तथा एक यथाक्रम गवर्नर (Alternate Governor) होते हैं जिनकी नियुक्ति 5 वर्षों के लिए की जाती है। सदस्य राष्ट्र इन गवर्नरों की पुनः नियुक्ति भी कर सकते हैं। इस बोर्ड की बैठक वर्ष में कम से कम एक बार अवश्य होती है जिसमें बैंक के वर्ष भर की प्रगति पर सोच विचार किया जाता है। अतः बैंक के लिए बोर्ड एक विधान सभा की तरह है। (ख) **संचालक मंडल** (Board of Executive Directors)—कोष की तरह बैंक के संचालक मण्डल में आजकल भी 20 सदस्य हैं जिनमें से 5 सदस्य बड़े बड़े अंशधारी देशों—संयुक्त राज्य अमेरिका, ब्रिटेन, जर्मनी, फ्रांस तथा भारत द्वारा नियुक्त किये जाते हैं और शेष 15 संचालक अन्य सदस्य राष्ट्रों द्वारा चुने जाते हैं। इनकी अवधि 1 वर्ष की होती है। ये संचालक एक अध्यक्ष का चुनाव करते हैं जो बोर्ड (Board) के अध्यक्ष के पद पर काय करता है। (ग) **सलाहकार समिति** (Advisory Council)—संचालक मण्डल द्वारा एक सलाहकार समिति भी निर्वाचित की जाती है जिसमें कम-से कम 7 सदस्य होते हैं जो बैंकिंग वाणिज्य, उद्योग या ये कृषि और श्रम आदि के विशेषज्ञ होते हैं। इनका निर्वाचन इस प्रकार से किया जाता है कि अधिक से अधिक राष्ट्रों का प्रतिनिधित्व हो सके। इस सलाहकार समिति की वर्ष में कम-से-कम एक बार बैठक अवश्य होती है और यह बैंक को उसकी सामान्य नीति (General Policy) के सम्बन्ध में सलाह देती है। (घ) **ऋण समिति** (Loan Committee)—इनके अतिरिक्त बैंक की एक ऋण समिति Loan Committee) भी होती है। यह समिति सदस्य के ऋण-सम्बन्धी प्रार्थना-पत्रों की जाँच पड़ताल तथा निरीक्षण

करती है। इस समिति मे विशेषज्ञ होते हैं एव एक प्रतिनिधि प्रार्थना करने वाले सदस्य-राष्ट्र का भी होता है।

बैंक का कार्यक्रम

(Working of the Bank)

अन्तर्राष्ट्रीय बैंक का प्रधान कार्य सदस्य राष्ट्रो को उनके पुनर्वास एव आर्थिक विकास[1] (Reconstruction and Economic development) से लिए ऋण प्रदान करना है। साथ ही, बैंक वैयक्तिक अन्तर्राष्ट्रीय विनियोग को भी प्रमाणित करता या उसमे हाथ बँटाता है। किन्तु बैंक द्वारा दिये गये अथवा प्रमाणित किये गये ऋण के सम्बन्ध मे निम्नांकित शर्तें हैं :—

(i) जिन सदस्य-राष्ट्रो मे कोई योजना स्थित हो और जिनके लिए अन्तर्राष्ट्रीय बैंक ऋण देता है, उस देश के केन्द्रीय बैंक अथवा उसकी सरकार को उस ऋण के मूल एव सूद के भुगतान के लिए प्रमाण देना होगा।

(ii) अन्तर्राष्ट्रीय बैंक तभी ऋण देता है जब उसे इस बात का विश्वास हो जाय कि बाजार की वर्त्तमान स्थिति मे किसी सदस्य-राष्ट्र को उचित दर पर पूँजी उपलब्ध नहीं हो रही है।

(iii) अन्तर्राष्ट्रीय बैंक किसी विशिष्ट योजना के लिए ही सदस्य राष्ट्रो को ऋण देगा; किन्तु ऋण देने के पहले बैंक की एक विशेषज्ञ कमिटी उस योजना की जाँच कर उसके सम्बन्ध मे यह रिपोर्ट देगी कि ऐसी योजना को प्रोत्साहन देना चाहिए अथवा नही।

(iv) किसी ऋण को प्रमाणित करने के पहले अन्तर्राष्ट्रीय बैंक इस बात की पूरी जानकारी प्राप्त कर लेगा कि उस ऋण के सूद की दर तथा अन्य खर्च उचित हैं एव इसके भुगतान के सम्बन्ध में ऐसी बातें उपलब्ध हैं जो उस विशिष्ट योजना के अनुकूल हैं। यदि उस योजना के लिए आवश्यक ऋण से अधिक ऋण कोई देना चाहे तो बैंक उस पर अपना प्रमाण नहीं देगा।

(v) ऋण देने अथवा ऋण को प्रमाणित करने मे बैंक इस बात का ध्यान रखेगा कि उस देश की सरकार या केन्द्रीय बैंक, जो ऋण के भुगतान का प्रमाण दे रहे हैं, ऐसी अवस्था मे हो कि वे इसका भुगतान उचित समय पर कर सकें। इसे ऋण लेने वाले देश एव अन्य सभी देशो के हितो का ख्याल करना पडता है।

(vi) व्यक्तिगत ऋणो के सम्बन्ध मे जिन पर यह अपना प्रमाण देता है उसे खतरा उठाने के लिए उचित मुआवजा मिलता है।

---

1. बैंक अपने कार्यों के सम्पादन मे निम्नांकित बातों को ध्यान में रखता है :—

(a) The Bank is not intended "to provide the external financing required for all meritorious projects of reconstruction and development (but) to provide a catalyst by which production may be generally stimulated and private investment encouraged'

(b) " It should encourage necessary action by its member governments to assure that the Bank's loans will actually prove productive The promotion of sound financial programmes, the removal of unnecessary barriers and the regional integration of production plans where appropriate are some of the fields in which the Bank may be able to exert helpful influence' and

(c) "·· the Bank must play an active rather than a passive role (and take advantave of its international co operative character), initiate and develop plans to the end that the Bank's resources are used not only prudently from the standpoint of its investors but wisely from the standpoint of the world."

Source—I. B. R. D. *Second Annual Report 1946—47, P. 8,*

(vii) ऋण देने या प्रमाणित करने मे अन्तर्राष्ट्रीय बैंक को इस बात पर ध्यान देना होगा कि वह ऋण किसी विशिष्ट योजना के लिए है जिसका उद्देश्य आर्थिक पुनर्निर्माण (economic reconstruction) अथवा विकास (development) है।

अन्तर्राष्ट्रीय बैंक द्वारा दिये गये अथवा प्रमाणित किये गये ऋणो के सूद की दर या अन्य खर्च स्वय बैंक निश्चित करता है। प्रमाणित किये जानेवाले ऋणो पर बैंक साधारणतया 1 से $1\frac{1}{2}$ प्रतिशत कमीशन लेता है। कमीशन की रकम एक विशेष कोष में जमा कर दी जाती है जिसका उपयोग किसी राष्ट्र द्वारा ऋणो का भुगतान नही करने पर किया किया जायगा। इसके अतिरिक्त बैंक द्वारा दिया गया ऋण साधारणतया बगैर किसी शर्त के दिया जाता है, यानी बैंक ऋण देने में ऐसा नही कह सकता है कि ऋण की रकम किसी खास देश की मुद्रा मे ही व्यय की जाय।

इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय बैंक का प्रधान कार्य युद्धरत देशो के आर्थिक पुनर्निर्माण तथा अविकसित एव अर्द्ध विकसित राष्ट्रो के आर्थिक विकास के लिए ऋण देना या ऋण को प्रमाणित करना है। ऐसा करने में बैंक को बहुत अधिक जोखिम उठानी पड़ती है। किन्तु बैंक ऋण देने या प्रमाणित करते समय इस बात को ध्यान मे रखता है कि इसके साधनों से सदस्य राष्ट्रो की उत्पादन क्षमता मे अधिक से अधिक वृद्धि होनी चाहिए तथा इसके साधनो का उपयोग ऐसी मद में नहीं होना चाहिए जिन्हें ऋणी देश स्वय कर सकते हो। ("It had to use its funds so as to result in the greatest possible increase in productivity in shortest possible time and that the Bank's resources must not simply by used to relieve the borrowing nation of tasks which that country could justifiably be required to perform itself)

अन्तर्राष्ट्रीय बैंक के कार्यों की समीक्षा

अन्तर्राष्ट्रीय बैंक ने 1946 ई० मे पुनर्निर्माण ऋणों के साथ अपना कार्य आरम्भ किया। किन्तु पुनर्निर्माण का कार्य बैंक के लिए बहुत गम्भीर सिद्ध हुआ। पुनर्निर्माण के उद्देश्य से सम्पूर्ण यूरोप की आर्थिक व्यवस्था मे आमूल परिवर्तन लाने की आवश्यकता थी। अतएव धीरे-धीरे बैंक ने अविकसित एव अर्द्ध-विकसित राष्ट्रो के आर्थिक विकास पर ही अधिक जोर देना आरम्भ किया।

आर्थिक विकास के क्षेत्र मे गत 24 वर्षो मे विश्व बैंक ने बड़ा ही महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। विश्व बैंक ने सदस्य राष्ट्रो को पुनर्निर्माण एव विकास कार्य के लिए प्रत्यक्ष ऋण अथवा सहायता एव परोक्ष रूप से तकनीकी सहयोग देकर तथा सदस्य राष्ट्रो के आपसी झगडों मे मध्यस्थता (mediator) का कार्य करके विश्व मे स्थायी शान्ति की स्थापना म महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। जून, 1972 मे बैंक के सदस्यो की सख्या प्राय 117 है। जून, 1972 ई० तक बैंक ने कुल 18,833 करोड डॉलर ऋण दिया था जिसमे से एशिया तथा मध्य पूर्वी देशो का हिस्सा 6628 करोड डॉलर था। इससे स्पष्ट है कि बैंक के अधिकाश ऋण विकासशील देशो को ही प्रदान किये जाते हैं। जून, 1972 मे समाप्त होने वाले वित्तीय वर्ष मे विश्व बैंक के 38 देशो को 1965 मिलियन डॉलर के 72 ऋण दिये थे। इनमे से एशिया व मध्य-पूर्व के 10 देशो को 506 4 मिलियन डॉलर, अफ्रिका के 16 देशो को 267 7 मिलियन डॉलर, यूरोप के देशो को 167 5 मिलियन डॉलर तथा पश्चिमी गोलार्द्ध के 13 देशो को 457 7 मिलियन डॉलर का ऋण दिया गया था। बैंक के इस ऋण मे से कुल 453 मिलियन डॉलर के ऋण यातायात, 464 के ऋण विद्युत् शक्ति 342 मिलियन ऋण उद्योग तथा 723 मिलियन डॉलर ऋण कृषि के लिए तथा शिक्षा के लिए 134 मिलियन डॉलर के ऋण दिये गये थे।

निम्न तालिका से 30 जून, 1970 तक बैंक द्वारा स्वीकृत कुल ऋणो का भिन्न-भिन्न क्षेत्रो के बीच वितरण स्पष्ट हो जाता है—

विश्व बैंक द्वारा स्वीकृत ऋण की रकम 30 जून, 1970 तक मिलियन डॉलरों में

क्षेत्र	ऋण की राशि	कुल का प्रतिशत
1. एशिया व मध्य पूर्वी देश	4628	32 9,
2. अफ्रिका	2014	18 1,
3. लैटिन अमेरिका	4352	30 9
4. यूरोप	2565	14·4
5. आस्ट्रेलिया	515	3·7
कुल योग	14,074	100 0

उपरोक्त तालिका से यह स्पष्ट है कि गत वर्षों में बैंक का ध्यान अविकसित देशो के आर्थिक विकास की ओर विशेष रूप से आकर्षित हुआ है। बैंक की ऋण नीति मे अविकसित देशो मे मौलिक सेवाओ (Basic Services) के विकास पर ही अधिक महत्त्व दिया जा रहा है। कार्यों के अनुसार बैंक ने ऋणी देशो को यातायात (Tran port), विद्युत्-शक्ति (Electric Power), उद्योग (Industry) तथा कृषि (Agriculture) के विकास के लिए ही ऋण दिये हैं जो निम्नांकित तालिका से भली प्रकार स्पष्ट हो जाता है—

30 जून, 1972 तक विश्व बैंक द्वारा दिये ऋणो का वितरण

कार्य जिसके लिए ऋण दिये गये हैं	ऋण की रकम (मिलियन डॉलर मे)	कुल का प्रतिशत
1. यातायात	55 9	30 9
2 विद्युत्-शक्ति	5574	32 5
3. उद्योग	2 95	14 2
4. कृषि, वन एव मत्स्य-पालन	1563	9 6
5. संवादवाहन	415	1·7
6 पुनर्निर्माण	1428	3 4
7. अन्य	830	6 7
कुल योग	18285	100 0

बैंक के ऋण देने की क्रियाओ मे पिछले कुछ वर्षों म जो वृद्धि हुई है वह बैंक के साधनो मे वृद्धि का ही परिणाम है। लगभग 24 वर्षों में बैंक की चुकती पूँजी दुगुना से भी अधिक हो गयी है। इसके अतिरिक्त बैंक ने अतर्राष्ट्रीय वित्तीय केन्द्रो मे अपने ऋण-पत्रो को जारी कर भी पर्याप्त मात्रा मे ऋण प्राप्त किया है। बैंक के ऋण-पत्रो के खरीददार 50 देशो से भी अधिक के विनियोजक हैं तथा बैंक केवल अमेरिका से ही उक्त ऋण नही प्राप्त करता, वरन बेलजियम, कैनाडा, इटली, स्विट्जरलैंड तथा जापान आदि देशो के मुद्रा बाजारो मे भी अपने ऋण पत्रो को बेचता है।

विश्व बैंक तथा अविकसित एवं अर्द्ध-विकसित देश

(World Bank and Un developed or Under-developed Countries)

ऋण तथा वित्तीय सहायता (Loan and other Financial help) — विश्व बैंक एशिया, मध्य-पूर्व तथा अफ्रिका के अविकसित एव अर्द्ध-विकसित देशो के आर्थिक विकास के क्षेत्र मे भी महत्त्वपूर्ण सहयोग प्रदान कर रहा है। ब्राजील, बर्मा, पेरू, चिली, भारत पाकिस्तान लंका इराक, मलाया तथा मेक्सिको आदि सभी देश बैंक के ऋण एव अनुदान के आभारी हैं। इन देशो मे बैंक ने रेलो, सडकों, बन्दरगाहो, विद्युत्-शक्ति एव कृषि आदि के विकास के लिए बहुत अधिक सहायता प्रदान की है।

स्वय प्रत्यक्ष रूप से ऋण देने के अतिरिक्त विश्व बैंक ने व्यक्तिगत एव सस्थागत विनियोजको को भी ऋणी देशो की आर्थिक व्यवस्था के सम्बन्ध मे आश्वासन देकर इन देशो के विकास की योजनाओ मे सहायता देने के लिए प्रोत्साहित किया है। उदाहरण के लिए, भारत

की पचवर्षीय योजनाओ को सफल बनाने के लिए स्वय भारी माना मे ऋण देने के अतिरिक्त बैंक ने कुछ प्रमुख देशो का एक सघ स्थापित किया है जिसे Aid India Club कहते हैं। इसमे सयुक्त राज्य अमेरिका, इगलैड, पश्चिमी जर्मनी, जापान, फ्रास, कैनाडा, इटली, स्वीडेन, आस्ट्रिया, बेलजियम, निदरलैंड, हॉलैंड आदि देश सम्मिलित हैं। ये देश भारत को सहायता देने के लिए समय-समय पर बैंक के तत्वावधान मे विचार करते हैं। इनके अतिरिक्त अन्य देशो के लिए भी इस प्रकार की व्यवस्था बैंक द्वारा की गयी है। "Help Pakistan Club" इसका ज्वलत उदाहरण है। इतना ही नही, विश्व-बैंक ने अतिरिक्त देशो को आर्थिक सहायता प्रदान करने के उद्देश्य से 1956 ई० मे एक अन्तर्राष्ट्रीय वित्त परिषद् (International Financial Corporation) तथा अन्तर्राष्ट्रीय विकास परिषद (International Development Association) जैसी सस्थाओ की स्थापना मे सहयोग प्रदान किया है।

तकनीकी सहायता (Technical and Advisory Assistance)—बैंक सदस्य देशो को तकनीकी सहायता भी प्रदान करता है। समय समय पर आर्थिक सर्वेक्षण के अतिरिक्त बैंक अपने विशेषज्ञो को विभिन्न प्रायोजन से सम्बन्धित कार्यो मे सहायता के लिए सदस्य देशो मे भेजता है। ये विशेषज्ञ आर्थिक वैज्ञानिक प्राविधिक अथवा अन्य कार्यो मे सहायता देते हैं। अब तक विश्व-बैंक के तत्वावधान मे जिन परियोजनाओ का अध्ययन हुआ है उनमे निम्नलिखित महत्वपूर्ण हैं :—(i) अर्जेन्टाइना की विद्युत-शक्ति तथा विकास की योजनाएँ, (ii) नाइजर नदी पर बाँध परियोजना, (iii) ग्वाटेमाला की शक्ति एव सिचाई विकास योजना, (iv) भारतवर्ष का परिवहन विकास, (v) अफगानिस्तान मे नदी बाँध परियोजना, (vi) ईरान मे बन्दरगाह योजना; तथा (vii) पाकिस्तान मे बाँध एव शक्ति विकास की परियोजना।

प्रशिक्षण—विश्व बैंक ने 1 जनवरी, 1949 से सदस्य देशो के वरिष्ठ अधिकारियो के लिए एक-वर्षीय प्रशिक्षण का एक कार्यक्रम प्रारम्भ किया है जिससे योजनाओ के सचालन मे प्रशिक्षित अधिकारियो की कमी न हो। प्रशिक्षण कार्यक्रम के अन्तर्गत प्रशासनिक तथा अन्य अधिकारियो को भाषण-मालाओ तथा व्यावहारिक अध्ययन द्वारा कुछ महीने का प्रशिक्षण दिया जाता है। जून, 1970 तक इस कार्यक्रम के अन्तर्गत लगभग 166 कर्मचारियों ने प्रशिक्षण प्राप्त किया था।

इसके अतिरिक्त रॉकफेलर तथा फोर्ड फाउन्डेशन की वित्तीय सहायता से बैंक ने वाशिंगटन मे एक प्रशिक्षण सस्थान 'The Economic Development Institute' की भी स्थापना की है जिसमे सदस्य-देशो के कर्मचारियो को आर्थिक विकास के कार्यों से सम्बन्धित क्षेत्र मे विस्तृत प्रशिक्षण दिया जा सके।

राष्ट्रों के पारस्परिक विवादों में मध्यस्थता—एक अन्तर्राष्ट्रीय एव निष्पक्ष सगठन होने के नाते विश्व-बैंक ने कई सदस्य-राष्ट्रो के पारस्परिक झगड़े मे मध्यस्थ करके उन्हें निपटाने का प्रयत्न किया है। उदाहरण के लिए, भारत-पाकिस्तान के बीच नहर के पानी के लिए जो समझौता हुआ था उसका श्रेय विश्व बैंक को ही है।

अन्तर्राष्ट्रीय विकास-परिषद्—यह परिषद विश्व बैंक मे ही सम्बन्धित एक ऐसी सस्था है जिसके माध्यम से औद्योगिक दृष्टि से अधिक विकसित देश अर्द्ध-विकसित देशो को विकास कार्य के लिए आर्थिक सहायता प्रदान करते हैं।

ऋणदाता देशों की बैठक—विकासशील देशो की सहायता के लिए विश्व-बैंक समय-समय पर ऋणदाता देशो की बैठक बुलाते रहता है जिससे ऋणी देशो को सुगमता से ऋण प्राप्त हो सके।

इस प्रकार विश्व बैंक के कार्य अब तक निश्चय ही अत्यधिक प्रशसनीय रहे हैं। बैंक की लोकप्रियता धीरे-धीरे बढ रही है तथा इसके सदस्यो की सख्या मे भी वृद्धि हो रही है। बैंक विश्व को विकासशील देशो के आर्थिक विकास मे महत्वपूर्ण सहयोग प्रदान कर रहा है तथा आशा की जाती है कि निकट भविष्य में बैंक इस कार्य को और प्रभावपूर्ण तरीके से सम्पन्न करने मे समर्थ होगा।

विश्व बैंक के कार्यों की आलोचनात्मक समीक्षा
(A Critical Appraisal of the working of the World Bank)

किन्तु कई कारणों से बैंक के कार्यों की आलोचना भी की जाती है। सर्वप्रथम तो इसके ऋण कुछ विशेष कार्यों (Specific projects) के लिए ही दिये जाते हैं तथा इसकी मात्रा विकास के कार्य के लिए उनकी विदेशी मुद्रा की आवश्यकता तक ही सीमित रहती हैं। बैंक के अनुसार विशिष्ट विकास के कार्य के लिए ऋण देने की व्यवस्था इस उद्देश्य से रखी गयी है कि बैंक के ऋण का प्रयोग केवल उत्पादक कार्यों के लिए ही किया जाय। किन्तु संयुक्त राष्ट्र-संघ की Expert Committee on Economic Development ने बैंक के ऋण किसी योजना की विदेशी मुद्रा सम्बन्धी आवश्यता तक सीमित रखने की आलोचना की है जो उक्त समिति के निम्न बयान से स्पष्ट है —"The Bank has not adequately realised that it is an agency charged by the U N with the duty of promoting economic development and the Bank cannot be said to be meeting the challenge of circumstanes. What is important is to build up the capacity of under-developed countries to produce goods and services The Bank should start from this point rather than from measurement of foreign currency needs, and if dovelopment succeeds the transfer problem of meeting the debt charges should take care of itself. At present, the Bank puts the cart of foreign exchange difficulties before the horse of economic development."

अन्तर्राष्ट्रीय बैंक का प्रधान उद्देश्य अविकसित राष्ट्रों के सामान्य आर्थिक ढाँचे को सुदृढ बनाना तथा आर्थिक विकास के लिए उत्पादन के साधनों को क्रियाशील बनाना है जिससे इन देशों के जीवन-स्तर मे सुधार हो सके। वास्तव मे, निम्नांकित कारणों से **बैंक अपने वर्त्तमान रूप में विकासात्मक वित्त का महत्वपूर्ण स्रोत नहीं बन सकता :—**

सीमित साधन—सर्वप्रथम तो बैंक के साधन सीमित हैं। विकासशील देशों के विकास की समस्या बहुत ही गम्भीर है। अतएव, इसके लिए बहुत बडे पैमाने पर साधनों की आवश्यकता पड़ती है।

ब्याज की ऊँची दर :—साथ ही, बैंक अत्यधिक दर से सूद भी वसूल करता है। बैंक अपने ऋणों पर 5⅛ प्रतिशत ब्याज की दर तथा 1 प्रतिशत कमीशन वसूल करता है। विकासशील देशों के लिए निश्चय ही अधिक है। अपने वर्तमान विधान के अनुसार बैंक Equity financing का कार्य भी नहीं कर सकता है। बैंक को अपने ब्याज की दर मे कमी करनी चाहिए, तभी इससे विकासशील देशों को वास्तविक लाभ हो सकता है।

वैयक्तिक विनियोग के मुक्त प्रवाह में कठिनाई—बैंक अभी तक वैयक्तिक ऋणदाता एवं ऋणी के बीच प्रत्यक्ष रूप से अन्तर्राष्ट्रीय पूंजी प्रवाह को प्रभावित करने में सफलीभूत नहीं हो पाया है। बैंक की स्थापना के समय यह भी इसका एक आवश्यक उद्देश्य समझा गया था। वास्तवमें, वयक्तिक विनियोग के मुक्त प्रवाह के क्षेत्र में बहुत सारी कठिनाइयाँ हैं जिनके फलस्वरूप बैंक इस कार्य मे बहुत हद तक सफलीभूत नहीं हो पाया है। इसी प्रकार बैंक पिछड़े देशों मे आर्थिक विकास के लिए विकासात्मक वित्त का प्रधान स्रोत नहीं बन सकता। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए बैंक के वर्तमान विधान मे आवश्यक सशोधन अनिवार्य है।

बैंक के विरुद्ध एक आलोचना यह भी दी जाती है कि बैंक अपने ऋण प्रदान करने में पक्षपात का सहारा लेता है। बैंक, वास्तव मे, एक गैर-राजनीतिक सस्था है। अतएव ऋण केवल सदस्य-देशों की आवश्यकताओं तथा योजना के अनुरूप होना चाहिए। किन्तु व्यवहार में बैंक ने इस आदर्श का पालन नहीं किया है तथा ऋण प्रदान करने मे आर्थिक विचारो पर ध्यान नहीं किया गया है। इस आलोचना के विरुद्ध बैंक के व्यवस्थापकों का कहना है कि 1954-55 से 1970-71 तक बैंक ने ऋण देने में एशिया तथा अफ्रिका के देशों को ही प्राथमिकता दी है जिससे बैंक के कुल ऋण का प्रतिशत 23 से बढ़कर 75 हो गया है। किन्तु एशिया तथा अफ्रिका, की जनसंख्या बहुत

आवक है तथा इस क्षेत्र के देश यूरोप एव पश्चिमी क्षेत्र के अन्य देशो की तुलना मे अधिक निर्धन तथा साधनो से युक्त हैं। अतएव ऋण देने मे इन्हें और अधिक महत्त्व की आवश्यकता है।

निष्कर्ष—इस प्रकार विश्व-बैंक के कार्यों की बहुत सारी आलोचनाएँ की जाती हैं। किन्तु विश्व बैंक के कार्यों का सही मूल्यांकन मि० ब्लैक के निम्नांकित कथन से होता है: "विश्व के अल्प-विकसित देशों के लिए विश्व बैंक एक अपूर्व सहारा है। इसका मूल्यांकन केवल कुछ पत्थर की इमारतो तथा सीमेंट के मकानो से ही नही करना चाहिए। इसका लक्ष्य वास्तव मे अधिक गहन है। इसका कार्य विश्व की धन-राशि मे वृद्धि करके मानवता को प्रकाश एवं उष्मा प्रदान करना है एवं उन्हें थकान तथा उदासी से मुक्त करना है। वास्तव मे बैंक का उद्देश्य इस प्रकार की विचारधारा एव व्यवस्था का निर्माण करना है जिससे प्रचुरता केवल स्वप्न अथवा कल्पना न रहकर एक साकार सत्य बन जाय।"

विश्व-बैंक का भविष्य (Future of the World Bank):—इस प्रकार विश्व बैंक विश्व के विकासशील देशो के लिए बडा ही महत्त्वपूर्ण कार्य कर रहा है। अतएव, इसका एक निश्चित भविष्य है। 3 सितम्बर, 1968 को वाशिंगटन मे विश्व बैंक के नये अध्यक्ष **मि० राबर्ट मैकनामारा** (Robert McNamara) ने जो प्रमुख नीति-सम्बन्धी घोषणा की उससे बैंक के भविष्य की गतिविधियो का सकेत मिलता है—

(i) अगले पाच वर्षों मे विश्व-बैंक विकासशील देशो को दी जाने वाली अपनी सहायता की राशि दुगुनी कर देगा।

(ii) भविष्य मे विश्व-बैंक जनसख्या तथा कृषि की समस्या पर विशेष रूप से ध्यान देगा। दूसरे शब्दो मे जनसख्या की वृद्धि पर रोक लगाने के साथ-साथ बैंक कृषि-उत्पादन मे द्रुतगति से वृद्धि उद्देश्य पर विशेष जोर देगा।

इस प्रकार स्पष्ट है कि विश्व-बैंक भविष्य मे विकासशील देशो की समस्याओं के समाधान पर विशेष जोर देगा। वास्तव मे, धनी तथा निर्धन देशो के राष्ट्रीय उत्पादनो के बीच की खाई को पाटने लिए कुछ व्यापक स्तर पर प्रयास की प्रबल आवश्यकता है।

भारत एवं अन्तर्राष्ट्रीय बैंक

(India and the World Bank)

मुद्रा-कोष की तरह भारत विश्व बैंक का भी प्रारम्भ से ही एक सदस्य रहा है। साथ ही, हाल तक यह बैंक के सचालन-मडल का एक स्थायी सदस्य भी था। बैंक ने भारत के आर्थिक विकास मे अब तक बडा ही महत्त्वपूर्ण सहयोग प्रदान किया है। बैंक ने भारत के विकास की *योजनाओं तथा वित्तीय आवश्यकताओ के अध्ययन के लिए समय-समय पर विभिन्न अध्ययन-दलों* को भेजा है। उदाहरण के लिए, नवम्बर, 1951 मे बैंक का एक अध्ययन-दल भारत आया। 1952 में बैंक के अध्यक्ष तथा अन्य पदाधिकारी आये। इसी प्रकार, फरवरी, 1954, अप्रैल-जून, 1956 तथा फरवरी 1960 में बैंक के अध्ययन-दलो ने भारत के आर्थिक विकास की विभिन्न योजनाओं का अध्ययन किया। इसके बाद भी समय-समय पर विभिन्न अध्ययन-दल विशिष्ट योजनाओं की आवश्यकताओ का अध्ययन करने के लिए भारत आये।

विश्व-बैंक पहले पुनर्निर्माण के कार्य के लिए ऋण पर अधिक जोर देता था, किन्तु आजकल यह विकास के कार्यों पर ही अधिक जोर दे रहा है। भारत बैंक का विश्व मे सबसे बडा ऋणी देश है। प्रथम योजना के अन्त तक भारत विश्व-बैंक से 145 मिलियन डॉलर सहायता के रूप मे प्राप्त कर चुका था। द्वितीय पचवर्षीय योजना के प्रथम दो वर्षों मे वित्तीय सकट को दूर करने के लिए भारत ने विश्व बैंक से अधिक सहायता की माग की और फलस्वरूप इसे 227 मिलियन डॉलर की सहायता प्राप्त हुई। विश्व बैंक के आँकडो के अनुसार भारत को विकास के लिए विश्व-बैंक से अन्य सभी देशों की अपेक्षा अधिक ऋण प्राप्त हुआ है। नवम्बर 1970 तक भारत को विश्व बैंक से कुल प्रायः 1059 मिलियन डॉलर का कर्ज प्राप्त हुआ था। इसमें से अधिकांश ऋण सार्वजनिक क्षेत्र के कार्यों के लिए तथा कुछ निजी क्षेत्र के लिए भी लिये गये हैं। बैंक द्वारा भारत को निम्नांकित कार्य-क्रमों के लिए ऋण दिये गये हैं—रेलवे के

पुनर्निर्माण (Railway rehabiliation) कृषि के विकास, शक्ति का विकास, बन्दरगाहों के विकास तथा दामोदर घाटी योजना एवं निजी क्षेत्र में टाटा आयरन एवं स्टील कम्पनी तथा इण्डियन आयरन एण्ड स्टील कम्पनी के विस्तार, टाटा कम्पनियों की जल-शक्ति के विकास तथा औद्योगिक साख एवं विनियोग निगम इत्यादि ।[1]

निम्नांकित तालिका से नवम्बर, 1970 तक विश्व बैंक से भारत को प्राप्त ऋण का विभिन्न मदों में वितरण स्पष्ट हो जाता है—

नवम्बर, 1970 तक भारत को प्राप्त ऋण का विभिन्न मदों में वितरण

उद्देश्य	ऋणों की संख्या	ऋण की राशि	कुल का प्रतिशत
1 परिवहन			
(अ) रेलवे	9	378	35·7
(ब) बन्दरगाह	3	58	5 6
(स) एयर-क्रॉफ्ट	1	6	0·6
2. बिजली शक्ति	7	156	13 9
3 उद्योग	14	377	35 8
4 कृषि	3	27	2 7
5 सामान्य विकास	1	29	2 9
6. संवादवाहन	1	28	2 8
कुल योग	39	1059	100 0

उक्त विवरण से स्पष्ट है कि विश्व-बैंक ने भारत के आर्थिक विकास की योजनाओं में महत्वपूर्ण सहयोग प्रदान किया है। कुछ ही वर्ष पूर्व बैंक की पूँजी में वृद्धि की गयी है। पूँजी में इस वृद्धि के परिणामस्वरूप भारत जैसे अविकसित राष्ट्रों को बैंक से अधिक ऋण मिलने की आशा की जाती है। हाल में ही बैंक के नये अध्यक्ष रॉबर्ट मैकनामारा (Robert McNamara) ने भारत-सहित अन्य विकासशील देशों को और अधिक कर्ज देने का एलान किया है।

विशेष अध्ययन-सूची

1 Halm : Monetary
2. World Bank Annual Reports.

---

1. निजी संस्थाओं को विश्व बैंक द्वारा ऋण भारत सरकार की गारण्टी पर ही दिये जाते हैं।

अध्याय : 39

अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम एवं विकास परिषद्

(International Finance Corporation & Development Association)

प्राक्कथन—विश्व बैंक की दो महत्वपूर्ण सहायक संस्थाएँ हैं –

(1) अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम (International Finance Corporation), तथा

(2) अन्तर्राष्ट्रीय विकास परिषद (International Development Association)।

अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम—20 जुलाई 1956 ई० को अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम की स्थापना हुई जो विश्व बैंक के सहयोग मे कार्य करती है। अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम विश्व बैंक से एक अलग संस्था है, किन्तु दोनो की कार्यवाही मे बहुत ही घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसकी स्थापना दो कारणो से हुई थी –

सर्वप्रथम तो विश्व-बैंक किसी देश की निजी संस्थाओ को देश की सरकार तथा केन्द्रीय बैंक की गारण्टी के बगैर ऋण नही सकता है। जिससे निजी संस्थाओं को बैंक से ऋण मिलने मे असुविधा होती है किन्तु निगम अविकसित राष्ट्रो मे केवल निजी औद्योगिक योजनाओ को प्रत्यक्ष रूप से सरकारी प्रमाण के बगैर कर्ज देती है। (The I F C promotes economic development through investment in the private sector of the less developed areas without any government guarantee of repayments.)

द्वितीयत, विश्व बैंक जोखिमपूर्ण कार्यों के लिए ऋण नही देता जबकि निजी संस्थाओ को इसी प्रकार के ऋण की अधिक आवश्यकता पडती है। निगम अल्प विकसित देशो मे स्थानीय पूँजी बाजार के विकास मे सहायता देता है तथा इस प्रकार निजी पूँजी के अन्तर्राष्ट्रीय प्रवाह को प्रोत्साहित करता है।

अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम के उद्देश्य (Objectives of the International Finance Corporation)—अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम के निम्नलिखित मुख्य उद्देश्य हैं—

(i) **निजी साहस को प्रोत्साहन देना**—इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए निगम द्वारा निजी उद्योगो को बिना सरकार की गारण्टी के ही ऋण दिये जाते हैं और निगम उन्हें अन्य स्रोतो से भी पूँजी प्राप्त करने मे सहायता करता है।

(ii) **पूँजी एवं प्रबन्ध में समन्वय**—निजी क्षेत्र मे जहाँ पूँजी पर्याप्त है परन्तु कुशल प्रबन्धको की कमी है वहाँ वित्त निगम प्रबन्धकों की व्यवस्था करता है और जहाँ कुशल प्रबन्ध तो उपलब्ध है, किन्तु पूँजी का अभाव है वहाँ पूँजी की व्यवस्था करता है।

(iii) **निजी पूँजी के विनियोग को प्रोत्साहित करता है**—निगम अतिरिक्त पूँजी वाले अभावग्रस्त देशो मे पूँजी लगाने के लिए प्रोत्साहित करता है और इस सम्बन्ध मे आनेवाली कठिनाइयो को दूर करने का विशेष प्रयत्न करता है।

निगम के विनियोग की तीन शर्तें हैं—प्रथमत, सूद पर पूँजी देना जो साधारणत 8 से 10 वर्षों तक के लिए दिया जाता है, द्वितीयत, उद्योगों के लाभ म हिस्सा (Participation in the profit of enterprises), एवं तृतीयत, विनियोग की रकम के बदले हिस्से खरीदने का छूट। अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम की स्थापना से भारत जैसे अविकसित राष्ट्रो के निजी उद्योगपतियो को विशेष रूप से लाभ हुआ है। अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम की अधिकृत पूँजी 100 मिलियन डॉलर है जो 1000 डॉलर मूल्य के 1 लाख हिस्सो मे विभाजित है। यह रकम सदस्यो के बीच उसी अनुपात मे बँटी है जिसमे उनके अशो एव बैंक की पूँजी का सम्बन्ध है। 30 जून, 1970 तक निगम के सदस्यो की संख्या 94 थी तथा इसकी कुल जारी की गयी पूँजी 107 मिलियन डॉलर थी।

निगम के सदस्य वे ही देश हो सकते हैं जो विश्व-बैंक के भी सदस्य हैं। इसकी व्यवस्था भी विश्व-बैंक की ही तरह की जाती है। दूसरे शब्दो मे, निगम का एक बोर्ड ऑफ गवर्नर्स होता है जो इसकी नीति निर्धारित करता है। इसके अतिरिक्त दिन-प्रतिदिन के कार्यों की देखरेख के लिए निगम का एक सचालक मण्डल भी होता है।

निगम के कार्य की समीक्षा—3 जून, 1970 तक निगम ने 94 देशो मे 47·6 करोड डॉलर का ऋण निजी व्यवसायियो का प्रदान किया था। इसमे भारत को 4·23 करोड़ डॉलर की सहायता प्राप्त हुई थी।

किन्तु निगम के कार्यों की कई बातो को लेकर आलोचना भी की जाती है। इसमें साधनो की कमी, ऋण देने मे भेदपूर्ण व्यवहार, ब्याज की ऊँची दरें तथा ऋण की कठोर शर्तें आदि उल्लेखनीय हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय विकास-परिषद्

(International Development Association)

26 सितम्बर, 1960 ई० को अन्तर्राष्ट्रीय विकास-परिषद् नामक एक दूसरी सस्था की स्थापना की गयी। इसका प्रधान उद्देश्य आसान शर्तों पर अविकसित तथा अल्प-विकसित देशो को आर्थिक सहायता प्रदान करना है। 1950 वाले दशक के अन्तिम वर्ष मे यह अनुभव किया जाने लगा कि कई अल्प-विकसित देशो के लिए बडे पैमाने पर पूँजी की प्राप्ति मे कठिनाइयाँ हो रही हैं। इस कठिनाई का दूर करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय विकास परिषद् नामक एक सस्था की स्थापना की गयी।

अन्तर्राष्ट्रीय विकास परिषद् के उद्देश्य (Main objectives of the International Development Association) —इसका उद्देश्य बैंक की पूरक सस्था के रूप मे कार्य करते हुए अविकसित सदस्य देशो को आर्थिक विकास के लिए सस्ते एवं दीर्घकालीन ऋण की व्यवस्था करना है। दूसरे शब्दो मे इसका प्रधान उद्देश्य –(अ) आर्थिक विकास को प्रोत्साहित करना तथा (ब) उत्पादकता बढाना एवं अर्द्ध-विकसित देशो मे जीवन-स्तर को ऊँचा उठाना है। इसे 'Shoft loan Window of the Bank' भी कहा जाता है। यह 50 वर्षों मे चुकाये जाने वाले ऋण प्रदान करता है तथा ब्याज के रूप में बहुत ही छोटी रकम वसूल करता है। विकास परिषद् की कुल पूँजी 100 करोड डॉलर है। विश्व-बैंक के सदस्य राष्ट्र अपने हिस्से के अनुपात मे ही सघ में भी अपना चन्दा प्रदान करते हैं। सघ के सदस्यो को दो वर्गों मे विभाजित किया गया है—प्रथम वर्ग मे 18 विकसित राष्ट्र हैं जिन्हें अपना चन्दा स्वर्ण तथा परिवर्तनीय मुद्रा के रूप मे देना पडता है तथा द्वितीय वर्ग मे 87 अविकसित राष्ट्र हैं जिन्हे अपने चन्दे का 10 प्रतिशत स्वर्ण तथा शेष 90 प्रतिशत अपनी मुद्रा मे देना पडता है। 30 जून, 1970 ई० को विकास सघ मे 105 सदस्य थे।

30 जून, 1970 तक इसने 54 देशों को 2773 मिलियन डॉलर का ऋण स्वीकृत किया था जिसमें से 1741 मिलियन डॉलर ऋण वास्तव मे वितरित की गयी थी। इससे भारत को कुल 1269 मिलियन डॉलर के 29 ऋण प्राप्त हुए हैं।

विशेष अध्ययन-सूची

1. Halm : Monetary Theory,
2. World Bank : Annual Reports.
3. Cairncross : The International Bank for Reconstruction & Development.

अध्याय : 40

अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की समस्या एवं विशेष आहरण अधिकार

(The Problem of International Liquidity & Special Drawing Rights)

प्राक्कथन—पिछले दशक मे अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक क्षेत्र की प्रधान समस्या अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की समस्या थी जो समय बीतने के साथ-साथ गम्भीर रूप धारण करती गयी। किन्तु ध्यानपूर्वक विचार करने पर स्पष्ट होगा कि तरलता की समस्या अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक क्षेत्र म कोई नयी नही थी, वरन् प्रथम महायुद्ध के पूर्व से ही इस प्रकार की समस्या न्यूनाधिक रूप म वर्त्तमान रही है। वास्तव मे, स्वर्ण प्रमाप की समाप्ति का एक प्रधान कारण स्वर्ण प्रमाप के प्रमुख देशो की अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की समस्या के समाधान करने मे विफलता थी। उस समय के ऋणी देशो के पास स्वर्ण कोष की कमी थी जबकि ऋणदाता देश अपने अतिरिक्त कोष का परित्याग करना नही चाहते थे। किन्तु वर्त्तमान समय मे अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की समस्या का आकार बहुत बढ गया है। वास्तव मे, वर्त्तमान समय मे प्राय सभी अर्द्ध विकसित देशो के भुगतान-सतुलन मे स्थायी रूप से विपन्नता के कारण यह समस्या लगभग स्थायी-सी हो गयी है।

अन्तर्राष्ट्रीय तरलता का अर्थ (Meaning of International Liquidity)—अब प्रश्न यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय तरलता किसे कहते हैं ? फ्रिज मैकलप (Fritz Machlup) के अनुसार "तरलता का अर्थ है भुगतान क्षमता की तत्परता।" (Capacity to pay promptly) दूसरे शब्दो मे, "अन्तर्राष्ट्रीय तरलता के अन्तर्गत उन सभी वित्तीय साधनो एव सुविधाओ को सम्मिलित किया जाता है जो किसी देश को उसके भुगतान सतुलन के घाटे की पूर्ति के लिए उपलब्ध रहते हैं। इन सुविधाओ अथवा साधनो का प्रयोग उस स्थिति मे किया जाता है जबकि विदेशी कोष के सभी साधन अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान को सतुलित करने मे असमर्थ सिद्ध हो जाते हैं।" (The term International liquidity comprises all the financial resources and facilities available to the monetary authorities of individual countries forfinancing the deficits in the rinternational Balance of Payments-used to make the residual payments in foreign currencies when all other sources of supply of foreign funds prove inadequate to bring the international funds into balance.) इसी प्रकार, अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (International Monetary Fund) के अनुसार, "अन्तर्राष्ट्रीय तरलता के अन्तर्गत उन सभी वित्तीय साधनो एव सुविधाओ को सम्मिलित किया जाता है जो किसी देश के मौद्रिक अधिकारियो को अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान सतुलन के घाटे की पूर्ति के लिए उपलब्ध रहते हैं।" (International liquidity consists of all the resources that are available to the monetary authorities of a country for the purpose of meeting the balance of payments deficits.) इसके अन्तर्गत उन सभी साधनों को रखा जाता है जो किसी देश को भुगतान सतुलन के घाटे की पूर्ति के लिए शीघ्र उपलब्ध रहते हैं तथा साथ ही, उन साधनों को भी सम्मिलित किया जाता है जो अन्य देशों अथवा अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक संस्थाओं से पर्याप्त मात्रा मे बातचीत के बाद प्राप्त होते हैं। इस प्रकार अधिक स्पष्ट शब्दो मे यह कहा जा सकता है कि एक निर्धारित अवधि मे उपलब्ध एव वाछित कोषो के अनुपात को तरलता कहते हैं। (It can be expressed as a ratio of funds disposable to funds needed over a certain period of time) 1964 ई० मे अखिल भारतीय आर्थिक परिषद् में अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की व्याख्या इस प्रकार से की गयी थी, "अन्तर्राष्ट्रीय तरलता मे वे सभी साधन आते हैं जो कि भुगतान सतुलन के घाटे की पूर्ति के लिए विभिन्न देशो के मौद्रिक अधिकारियों के पास उपलब्ध रहते हैं।" इसी प्रकार कीथ होर्सफील्ड के अनुसार, "अन्तर्राष्ट्रीय तरलता का तात्पर्य स्वर्ण तथा डॉलर एव स्टर्लिंग जैसी विदेशी मुद्राओं के भण्डार से है जिनका अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान में मुक्त रूप से प्रयोग किया जाता है। इसके अन्तर्गत किसी राष्ट्र से उधार लेने की क्षमता भी सम्मिलित रहती है।" (International liquidity is the term given to the world supply of resources of gold or of currencies which are freely us-

able internationally, such as dollars or sterling plus facilities of borrowing them.)

इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय तरलता के अन्तर्गत निम्नाकित को सम्मिलित किया जाता है :—

(i) स्वर्ण (Go'd),

(ii) विदेशी मुद्राओ का कोष (Foreign Exchange Reserves) जिन्हें सभी देश भुगतान के रूप मे स्वीकार करने के लिए तैयार हैं, तथा

(iii) किसी देश के उधार लेने की क्षमता (Borrowing Capacity of a nation)।

(i) स्वर्ण (Gold) :—आज भी स्वर्ण एक ऐसा पदार्थ है जिसे सभी देश व्यापारिक भुगतान मे सदा लेने को तैयार रहते हैं। इसका कारण यह है कि आज भी अधिकाश राष्ट्रो मे स्वर्ण का प्रयोग मौद्रिक आधार के रूप मे किया जाता है। अतएव, स्वर्ण-कोषो की मात्रा को अन्तर्राष्ट्रीय तरलता का सर्वाधिक महत्वपूर्ण साधन माना जाता है।

(ii) विदेशी मुद्राओं का कोष (Reserves of Foreign Currencies) :—वर्तमान समय मे विभिन्न देश स्वर्ण के साथ साथ कुछ विदेशी मुद्राओ का कोष भी रखते हैं जिन्हें भुगतान के रूप मे प्रत्येक देश लेने के लिए सदा तैयार रहते हैं। इस प्रकार की मुद्राओ मे अमरीकी डॉलर सर्वाधिक प्रधान है। इसके अतिरिक्त पौंड स्टर्लिंग, जापानी येन तथा जर्मन मार्क भी ऐसी विदेशी मुद्राएँ हैं जिनकी आर्थिक जगत मे बहुत ऊँची साख है। कई देश स्वर्ण के साथ-साथ इन विदेशी मुद्राओ का प्रयोग भी पत्र मुद्रा जारी करने के आधार के रूप मे करते हैं।

(iii) उधार लेने की क्षमता (The capacity to borrow) —अन्तर्राष्ट्रीय तरलता का एक महत्वपूर्ण साधन ऋण अथवा उधार लेने की योग्यता (The ability or capacity to borrow) है। जो देश अन्य देशो से उधार लेकर अपने आयातो का भुगतान कर सकते हैं उनका विदेशी व्यापार निरन्तर चलता रहता है। इस प्रकार का उधार विदेशी सरकारो, विदेशो मे स्थित बैको (जैसे अमेरिका तथा जापान के आयात-निर्यात बैंक) अथवा अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, विश्व बैंक तथा इनकी सहायक सस्थाओ या एशियन विकास बैंक जैसी अतर्राष्ट्रीय सस्थाओ से लिया जा सकता है।

इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय तरलता=स्वर्ण-कोष+विदेशी मुद्राओ का कोष+अन्तर्राष्ट्रीय सस्थाओ के कोषो का योग। हाल मे ही स्वर्ण के मौद्रिक उपयोग को समाप्त करने की एक योजना तैयार की गयी है। मौद्रिक उपयोग से स्वर्ण को हटाने के बाद अन्तर्राष्ट्रीय तरलता का समस्या का रूप ही बदल जायगा।

अन्तर्राष्ट्रीय तरलता का महत्त्व (Importance of the International Liquidity) :—आधुनिक विश्व मे सभी देशो मे अपरिवर्तनीय पत्र मुद्रा के कारण अन्तर्राष्ट्रीय लेन-देन का कार्य एक महत्त्वपूर्ण समस्या बन गया है। यदि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सम्बन्धी भुगतान तत्परतापूर्वक नहीं हो तो व्यापार मे बाधा उत्पन्न होती है तथा इससे विदेशी व्यापार की मात्रा मे कमी आ जाती है। इसके विपरीत पर्याप्त मात्रा मे अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की उपलब्धि से विदेशी व्यापार मे निरन्तर वृद्धि होती रहेगी।

द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति के समय विश्व के कुल औपचारिक स्वर्ण-कोषो का प्राय 70 प्रतिशत भाग केवल सयुक्त राज्य अमेरिका के पास जमा हो गया, अत अन्य देशो के समक्ष नियमित रूप से विदेशी भुगतान करने की जटिल समस्या उत्पन्न हो गयी। अमेरिकी ... स्वर्ण का अधिक न्यायपूर्ण वितरण करने की एकमात्र रीति यह थी कि अमेरिका का ... व्यापार सतुलन (Balance

3. C... The Inter...onal Bank ... & Develo...

of Trade) इसके प्रतिकूल हो जिसे स्वर्ण के निर्यात द्वारा पूरा किया जा सके। किन्तु स्थिति इसके ठीक विपरीत थी तथा अमेरिकी व्यापार सतुलन निरन्तर इसके अनुकूल रहा और डॉलर की मांग उसकी पूर्ति से अधिक रही। इसी कारण डॉलर के अभाव की स्थिति बनी रही और प्राय 1957 तक डॉलर की दुर्लभता का निरन्तर अनुभव किया जाता रहा। किन्तु, 1958 से अमरीकी चालू खाते मे भुगतान सतुलन विशेष रूप से प्रतिकूल रहने लगा जिसके फलस्वरूप अमेरिका से स्वर्ण का निर्यात होने लगा। परिणामस्वरूप अमरीकी स्वर्ण-कोष जो 1949 ई० मे 24·6 अरब डॉलर मूल्य का था, 1958 ई० मे घटकर 20·58 अरब डॉलर तथा जुलाई, 1969 मे 10·37 अरब डॉलर हो गया। अमेरिका के स्वर्ण-कोष मे इस प्रकार की जो कमी हुई उसका अधिकाश

भाग यूरोपीय देशों को प्राप्त हुआ। इसके अतिरिक्त मुद्रा-कोष तथा विश्व बैंक जैसी संस्थाओं के प्रयत्नों के परिणामस्वरूप भी अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की वृद्धि में पर्याप्त सहायता मिली।

पिछले कुछ वर्षों में अन्तर्राष्ट्रीय तरलता के महत्व में निम्नांकित कारणों से बहुत अधिक वृद्धि हुई है :—

(1) विदेशी व्यापार में वृद्धि (Increase in Foreign Trade) :—पिछले लगभग बीस वर्षों में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की मात्रा बढ़कर चौगुनी हो गयी है। 1948 ई० में विश्व के कुल आयातों की कीमत 59 अरब डॉलर थी जो बढ़कर 1968 में 225 अरब डॉलर हो गयी। विदेशी व्यापार के परिमाण में इस अत्यधिक वृद्धि का विश्व के तरल कोषों पर अत्यधिक भार पड़ा है तथा इससे अन्तर्राष्ट्रीय तरल कोषों की मात्रा में वृद्धि की समस्या सदा बढ़ती जा रही है।

(2) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की तुलना में स्वर्ण के उत्पादन में बहुत कम वृद्धि :— पिछले वर्षों में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की मात्रा में तो बहुत अधिक वृद्धि हुई है किन्तु स्वर्ण के उत्पादन में वृद्धि इसकी तुलना में प्रायः नगण्य ही रही है। इसके साथ ही, व्यावसायिक कार्यों तथा निजी संग्रह के लिए स्वर्ण की मांग में वृद्धि के कारण स्वर्ण-कोषों में पिछले कुछ वर्षों में कमी ही हुई है। इससे भी अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की समस्या गम्भीर रूप धारण करते जा रही है।

(3) डॉलर सहायता में कमी :— अन्तर्राष्ट्रीय तरल कोषों के महत्त्व में वृद्धि का एक और कारण है। 1968 ई० तक विश्व के प्रायः सभी जरूरतमन्द राष्ट्रों को डॉलर की सहायता अति उदारतापूर्वक प्राप्त होती रही थी जिससे अन्तर्राष्ट्रीय तरल कोषों का अभाव कभी भी अनुभव नहीं किया जाता था किन्तु 1968 ई० के बाद इस सहायता को सीमित कर दिया गया तथा भविष्य में संयुक्त राज्य अमेरिका में भीषण मौद्रिक संकट के कारण इसमें और अधिक कमी की आशा की जाती है।

(4) नवीन योजनाएँ :— पिछले कुछ वर्षों में एशिया, अफ्रिका तथा दक्षिणी अमेरिका के विकासोन्मुख देशों ने द्रुतगति से आर्थिक विकास के लिए आयोजित तरीके को अपनाया है जिससे इन्हें डॉलर तथा पौंड-स्टलिंग जैसी मुख्य मुद्राओं की अधिक आवश्यकता पड़ने लगी। इससे भी अन्तर्राष्ट्रीय तरलता का अभाव अनुभव होने लगा है।

तरल कोषों की पर्याप्तता (Adequacy of Liquid Reserve)— अब प्रश्न है कि किसी देश के लिए कितना तरल कोष पर्याप्त होगा? वास्तव में यह कहना बहुत सरल नहीं है क्योंकि अलग-अलग देशों के लिए तरल कोष की मात्रा उनकी आर्थिक नीतियों में अन्तर के अनुसार अलग-अलग होती है। जो कोष एक विशेष आर्थिक नीति के संदर्भ में पर्याप्त है, दूसरे प्रकार की आर्थिक नीति के संदर्भ में अपर्याप्त सिद्ध हो सकता है। उदाहरण के लिए, जब किसी देश में घाटे की वित्त-व्यवस्था तथा साख के प्रसार की नीति अपनायी गयी है तब अधिक तरल कोषों की आवश्यकता पड़ती है और जब बचत के बजट तथा साख संकुचन की नीति अपनायी जाती है तो अपेक्षाकृत कम तरल कोषों की आवश्यकता पड़ती है।

वास्तव में, किसी देश के लिए तरल कोष की पर्याप्तता के सम्बन्ध में निर्णय के लिए उनके उद्देश्यों को ध्यान में रखना होगा। ये उद्देश्य दो प्रकार के होते हैं—(1) राष्ट्रीय, तथा (2) अन्तर्राष्ट्रीय।

राष्ट्रीय दृष्टिकोण से देखने पर यह पता चलेगा कि अधिकांश देशों के मौद्रिक कानूनों में यह व्यवस्था है कि पत्र-मुद्रा के पीछे कुछ स्वर्ण तथा विदेशी विनिमय कोष निधि के रूप में रखे जायें। इस दृष्टि से पत्र-मुद्रा की वैधानिक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए निर्धारित मात्रा में स्वर्ण तथा विदेशी विनिमय के तरल-कोष रखने पड़ते हैं। व्यवहार में, प्रायः यह देखा गया है कि पत्र-मुद्रा व्यवस्था में यथोचित लोच बनाये रखने के लिए केन्द्रीय बैंक निर्धारित मात्रा से कुछ अधिक तरल कोष रखते हैं। अतिरिक्त तरल कोष रखने का प्रधान उद्देश्य यही होता है कि देश में मुद्रा चलन में आवश्यकता से अधिक नहीं बढ़ने पाये और साथ ही मुद्रा के प्रति अविश्वास की भावना का भी अनुभव न हो।

अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से विचार करने पर यह स्पष्ट होगा कि स्वर्ण तथा विदेशी विनिमय के तरल कोषों की मुख्य आवश्यकता विदेशी भुगतान के लिए होती है। जिन देशों का भुगतान सतुलन प्रतिकूल होता है वे स्वर्ण अथवा विदेशी विनिमय के कोषों मे रकम चुका कर उसे सतुलित करते है। इस विभिन्न देशों के कुल आयात-निर्यात की मात्रा भी तरल कोषों की आवश्यकता को प्रभावित करती है। अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण से तरल कोष रखने का एक महत्त्वपूर्ण उद्देश्य यह भी होता है कि अपनी मुद्रा की विनिमय दर को उचित स्तर पर बनाये रखा जा सके। अन्तर्राष्ट्रीय तरल कोषों की पर्याप्तता का प्रमुख मापदड यह है कि उनकी सहायता से अन्तर्राष्ट्रीय लेन देन आकस्मिक उतार-चढाव के बगैर चलता रहे। इस दृष्टि से अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार एव पूँजी सम्बन्धी लेन-देन के अनुसार ही तरल कोषों मे भी परिवर्तन आवश्यक है। (The test of adequacy is that the international system works smoothly without abrupt charges, and it is possible to say that other things being equal, the larger the volume of international trade and other international transactions may be, the more international liquidity will be needed.)

अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की पर्याप्तता का निर्णय करते समय इस बात को भी ध्यान रखना चाहिए कि कोषों का विभिन्न देशों मे वितरण यथोचित हो। यदि कुल अन्तर्राष्ट्रीय कोष एक या कुछ ही देशों मे केन्द्रित हो तो यह पर्याप्त नही माना जा सकता। द्वितीय युद्ध के पश्चात् ऐसी ही स्थिति थी जबकि अधिकाश स्वर्ण अमेरिका मे सकेन्द्रित हो गया था।

इस प्रकार पिछले कुछ वर्षों मे विदेशी व्यापार के परिमाण मे वृद्धि तथा उसके तदनुरूप अन्तर्राष्ट्रीय तरल साधनो मे विस्तार के अभाव के कारण अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की समस्या विकराल रूप धारण करती गयी। निम्नांकित तालिका से इसे अधिक स्पष्ट किया जा सकता है—

अन्तर्राष्ट्रीय आयात एवं तरलता

वर्ष	स्वर्ण कोष	विदेशी विनिमय का कोष	कुल योग	आयात	तरल कोष आयातों के प्रतिशत मे
1948	34.5	13.4	47.9	59.1	81
1951	35.6	13.7	49.3	80.1	61
1956	38.1	18 1	56.2	97.2	58
1961	41.1	21.2	62·3	124 6	50
1968	41.2	35.3	76 5	224 5	34

उपरोक्त तालिका से स्पष्ट है कि आयात की तुलना मे अन्तर्राष्ट्रीय तरल कोष के अनुपात मे निरतर गिरावट होती जा रही है। यदि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे विकास की दर 5 से 10 प्रतिशत है एव अन्तर्राष्ट्रीय तरलता मे वृद्धि की दर केवल 3 प्रतिशत है तो तरलता अभाव (Liquidity gap) का उदय होना बिल्कुल ही स्वाभाविक है। आज तो प्राय· सभी देशो मे मौद्रिक अधिकारियो का यह विश्वास है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की आवश्यकताओ को देखते हुए अन्तर्राष्ट्रीय तरलता पर्याप्त नही है और यदि शीघ्र ही इस सम्बन्ध मे उचित कदम न उठाये गये तो सम्पूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक यन्त्र ही ध्वस हो जायगा।

इस सम्बन्ध मे एक तथ्य और उल्लेखनीय है और वह यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय तरल कोषो का वितरण अत्यन्त विषम अथवा असमान है। उदाहरण के लिए, विश्व के कुल अधिकृत स्वर्ण-कोष का लगभग 75 प्रतिशत भाग केवल 9 देशो के पास है तथा शेष 25 प्रतिशत भाग अन्तर्राष्ट्रीय सस्थाओ तथा अन्य देशो मे विभाजित है। विदेशी विनिमय कोष के सम्बन्ध मे भी लगभग यही स्थिति है क्योंकि कुल विदेशी विनिमय कोष का प्राय. 50 प्रतिशत भाग केवल सात देशो के अधिकार मे है। अन्तर्राष्ट्रीय तरल साधनो के इस विषम वितरण के कारण अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान मे कठिनाई का होना बिल्कुल ही स्वाभाविक है।

अन्तर्राष्ट्रीय तरलता में किस प्रकार वृद्धि की जाय ?

अब प्रश्न यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय तरलता मे किस प्रकार से वृद्धि की जाय ? अतर्राष्ट्रीय तरलता की समस्या के अध्ययन के लिए अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष द्वारा समय समय पर विभिन्न समितियाँ सगठित की गयी हैं जिन्होने इस सम्बन्ध मे विभिन्न सुझाव प्रस्तुत किया है। इनके आधार पर अतर्राष्ट्रीय तरलता मे वृद्धि के निम्नाकित उपाय बतलाये जा सकते हैं—

(i) **स्वर्ण के उत्पादन में वृद्धि** (Increase in the production of gold) .— इस सम्बन्ध मे सर्वप्रधान उपाय स्वर्ण के उत्पादन मे वृद्धि करना है जिससे स्वर्ण का पूर्ति बढे तथा तरल कोषो का विस्तार हो। स्वर्ण के उत्पादन मे वृद्धि नयी खानो के विकास तथा पुरानी खानो के विस्तार पर निर्भर करता है, किन्तु यह तभी सभव है जबकि स्वर्ण निकालने की लागत मे कोई वृद्धि नहीं हो, किन्तु पिछले कुछ वर्षो से यह देखा जाता है कि स्वर्ण के उत्पादन-व्यय मे निरतर रूप से वृद्धि हो रही है जिसस दक्षिणी अफ्रिका के अतिरिक्त विश्व के अन्य सभी स्वर्ण-उत्पादक राष्ट्रो के उत्पादन मे निरतर कमी हो रही है। साथ ही, जो स्वर्ण उत्पन्न होता है उसका एक बहुत ही छोटा भाग अधिकृत कोषो मे सम्मिलित होता है तथा अधिकाश भाग निजी कार्यों एव सग्रह के लिए प्रयोग किया जाता है। साथ ही, मार्च 1 ६8 से स्वर्ण के दो अतर्राष्ट्रीय बाजार स्थापित हो गये हैं। एक मे प्रशासनिक इकाइयो द्वारा 35 डॉलर प्रति औंस की दर पर स्वर्ण खरीदा जाता है तथा दूसरे में निजी व्यक्तियो को किसी भी मूल्य पर स्वर्ण बेचा जाता है। इससे भी अधिकृत कोषो की वृद्धि मे बहुत अधिक कठिनाई हो रही है।

(ii) **स्वर्ण के मूल्य में वृद्धि** (Increase in the price of gold) :— अतर्राष्ट्रीय तरलता मे वृद्धि के लिए एक उपाय यह भी सुझाया जाता है कि स्वर्ण के अतर्राष्ट्रीय मूल्य को 35 डॉलर प्रति औंस से बढाकर 70 डॉलर या इससे भी अधिक कर देना चाहिए। राय हैरोड ने इस प्रकार का सुझाव रखा है। इससे विश्व के स्वर्ण-कोषो का मौद्रिक मूल्य बढ जायगा जिससे अतर्राष्ट्रीय व्यापार मे लेन-देन सरल एव सुविधाजनक हो जायगा। उदाहरण के लिए, स्वर्ण का मूल्य 100 डॉलर प्रति औंस करने पर तरल कोषो की राशि लगभग 116 अरब डॉलर हो जायगी। स्वर्ण के मूल्य मे वृद्धि का प्रस्ताव विभिन्न राष्ट्रो द्वारा भिन्न-भिन्न कारणो से किया गया है—जैसे दक्षिणी अफ्रिका तथा आस्ट्रेलिया अधिक लाभ कमाने के लाभ से, एव सोवियत सघ पूँजीवादी देशो से खरीदे जानेवाले उपभोक्ता पदार्थों के बदले मे कम ही स्वर्ण देने के लिए स्वर्ण के मूल्य में वृद्धि चाहते हैं। किन्तु ध्यानपूर्वक विचार करने से यह स्पष्ट होगा कि स्वर्ण के मूल्य मे वृद्धि से अनेक नयी समस्याएँ उत्पन्न हो जायँगी जिनमे निम्नाकित मुख्य हैं—

(क) **मुद्रा स्फीति**—स्वर्ण के मूल्य मे वृद्धि से सभी राष्ट्रो के स्वर्ण-कोषो की कीमत बढ जायगी और पत्र मुद्रा के पीछे रखे स्वर्ण कोष के मूल्य मे वृद्धि से अधिक पत्र मुद्रा निकालने के लिए लोभो को प्रोत्साहन मिलेगा। परिणामस्वरूप इससे मुद्रा स्फीति की शक्तियो को अनुचित बल मिलेगा।

(ख) **डॉलर का अवमूल्यन**— स्वर्ण के मूल्य मे वृद्धि से डॉलर का एक प्रकार से अवमूल्यन ही होगा। अतएव, बहुत सारे देश जिन्होंने पौंड तथा डॉलर को स्वर्ण के स्थान पर अपनी पत्र-मुद्रा का आधार बनाया है उन्हें कठिनाइयो का सामना करना पडगा।

(iii) **ट्रिफिन योजना (Triffin Plan)** :—केन्स ने International Clearing Union के लिए जो प्रस्ताव रखा था उसी के आधार पर ट्रिफिन योजना भी तैयार की गयी थी। इस योजना के अनुसार राष्ट्रीय मुद्राओ के कोषो का अतर्राष्ट्रीयकरण करके अतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष को एक अतर्राष्ट्रीय केन्द्रीय बैंक का रूप देना चाहिए। इस नवीन मुद्रा-कोष को एक ऐसी दर पर साख के सृजन का अधिकार होगा जिस पर विश्व की अर्थ व्यवस्थाएँ विकसित हो रही है, किन्तु इसकी अधिकतम दर इससे 5% वार्षिक होगी। भविष्य मे उस नये मुद्रा-कोष की मुद्रा रिजर्व करेंसी के रूप मे चलेगी। किन्तु ट्रिफिन योजना को कई कारणो से व्यापक रूप मे मान्यता नहीं प्राप्त हो सकी, क्योकि (i) इस प्रकार की योजना से मुद्रा-प्रसार के प्रोत्साहन की आशका है, (ii) इससे राष्ट्रो को अपनी आर्थिक प्रभुसत्ता का एक भाग एक अतर्राष्ट्रीय सस्था को सुपुर्द करना पड़ेगा जो सर्वथा उचित नहीं जान पड़ता।

(iv) **बर्नस्टीन योजना** (Bernstein Plan) :—बर्नस्टीन ने मुद्रा-कोष की संरचना के अन्तर्गत ही अतर्राष्ट्रीय तरलता के विस्तार के लिए एक योजना तैयार की है। इनके प्रस्ताव के अनुसार वे सभी देश जिनके पास अधिक कोष है, वे उस मुद्रा कोष को ऋण के रूप में दे दें तथा उसके बदले में ब्याजवाले ऋण पत्र बनवा लें जिनके पीछे, स्वर्ण की गारंटी हो। इन ऋण-पत्रों की परिपक्वता की अवधि 4 वर्ष की होगी।

इस योजना को कार्यरूप देने के लिए उन्होंने मुद्रा-कोष के तत्वावधान में ही एक 'Reserve Settlement Account' बनाने का सुझाव दिया था जिसके द्वारा यह योजना कार्यान्वित की जायगी।

(v) **जैकोब्सन योजना** (Jacobson Plan) :—बर्नस्टीन योजना से ही मिलती-जुलती एक योजना जैकोब्सन ने प्रस्तुत की है। इनका सुझाव है कि आधिक्य भुगतान वाले देशों (Surplus Payment countries) के साथ ऋण बचत अनुबंधों (Stand-by credits) की व्यवस्था की जानी चाहिए। इससे साधन की जो वृद्धि होगी वह Second line of resources के रूप में कार्य करेगी। जब मुद्रा-कोष यह अनुभव करे कि तरलता की माग बढ़ रही है तो वह उक्त अनुबंधों के अतर्गत प्रमुख मुद्राएँ प्राप्त कर सकता है और इस प्रकार से प्राप्त करेंसियों को जरूरतमंद देशों को उधार देकर उनकी कठिनाइयों को दूर कर सकता है।

जैकोब्सन योजना को सिद्धात रूप में स्वीकार किया गया है तथा इसके अतर्गत प्रमुख करेंसियों का एक पूल (Pool) बनाया गया है जिसकी राशि 6 मिलियन डॉलर है। इस पूल को शरणदाता क्लब (Lender Club) भी कहते है,जिसकी स्थापना 12 प्रमुख देशों के समर्थन से हुई है। इसमें आवश्यकतामंद लोगों को ऋण प्रदान किया जायगा।

(vi) **लोचपूर्ण दरें** (Flexible or Floating Rates) —अतर्राष्ट्रीय तरलता की समस्या के स्थायी समाधान के लिए एक यह भी सुझाव दिया जाता है कि ससार के सभी देश निश्चित विनिमय दर की नीति का परित्याग कर लोचपूर्ण विनिमय दरों की नीति अपना लें। किन्तु इस सुझाव की भी कई व्यावहारिक कठिनाइयाँ है जिससे यह अधिकाश देशों को मान्य नहीं है।

विशेष आहरण अधिकार या कागजी स्वर्ण

(*The Special Drawing Rights or Paper Gold*)

प्राक्कथन :—अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में पिछले कुछ वर्षों में इतनी तेजी के साथ वृद्धि हो रही है कि भुगतान के साधन जैसे स्वर्ण तथा रिजर्व मुद्रा इस बढ़ी हुई आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर पाते। दूसरे शब्दों में, स्वर्ण, डॉलर तथा पौंड-स्टर्लिंग आदि से अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की समस्या का समाधान अब सम्भव नहीं रह गया। इसी बीच 1967 तथा 1968 में विश्व के आर्थिक रंगमंच पर कुछ ऐसी घटनाएँ घटीं जिन्होंने विश्व की मौद्रिक प्रणाली को बिल्कुल झकझोर दिया। सक्षेप में ये घटनाएँ निम्नांकित थीं—(क) नवम्बर, 1967 में ब्रिटिश पौंड का अवमूल्यन, (ख) स्वर्ण पूल वाले देशों द्वारा लदन स्वर्ण-बाजार में स्वर्ण की बिक्री को बन्द कर देना,(ग) स्वर्ण के मूल्य में अत्यधिक वृद्धि तथा (घ) स्वर्ण की द्वि-मूल्य प्रणाली की स्थापना। इन गम्भीर घटनाओं का परिणाम यह हुआ कि 30-31 मार्च 1968 को दस देशों के समूह (The Group of Ten)[1] ने एक नयी योजना की रूप-रेखा दी जिसे विशेष आहरण अधिकार अथवा कागजी स्वर्ण (Paper Gold) भी कहते हैं। इस नयी योजना को अधिकृत रूप देने के लिए मुद्रा-कोष के कुल मताधिकार का 85 प्रतिशत भाग इसके पक्ष में आना आवश्यक था जो इसे अक्टूबर, 1969 को प्राप्त हो गया।

विशेष आहरण अधिकार क्या है ? (What is Special Drawing Rights ?) :—विशेष आहरण अधिकार अतर्राष्ट्रीय भुगतान करने के लिए निश्चित रकम तक विदेशी मुद्रा प्राप्त करने का एक नया साधन है। विदेशी भुगतान में जिस प्रकार सोना समर्थ है, उसी प्रकार एस० डी० आर० से प्राप्त अधिकार भी समर्थ है, इसीलिए इस कागजी-स्वर्ण (Paper Gold) भी कहा जाता है। इस प्रकार **विशेष आहरण अधिकार एक नयी अन्तर्राष्ट्रीय सम्पत्ति**

1 ये दस देश है—बेलजियम, कैनाडा, फ्रास, इटली, जर्मनी, जापान, निदरलैंड, स्वीडेन, ब्रिटेन तथा सयुक्त राज्य अमेरिका।

है जो अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष ने वर्तमान कोषों स्वर्ण तथा विदेशी मुद्राओं के प्रभावपूर्ण पूरक का काम करेगी और अन्तर्राष्ट्रीय कोषों में स्थायी रूप से वृद्धि करेगी।" (The S D R 's are a new international asset which will be an effective supplement to existing reserve assets gold, reserve currencies, and reserve claims on the Fund, one that will be a permanent addition to world reserve)

पहली जनवरी, 1970 से आरम्भ हुए इस कोष का संचालक अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष है। मुद्रा-कोष के खाते में इसे पृथक् रूप से निर्मित की गयी है तथा मुद्रा कोष से इनका हिसाब किताब बिल्कुल पृथक् रहेगा। इन कोषों का आबटन मुद्रा कोष के सदस्यों में उनके वर्तमान अभ्यंशों के अनुपात में किया जाता है। (Special Drawing rights are account entries on the books of the I M F quite separate and distinct from the other accounts of the I M F which will be divided among the Fund participating members in accordance with their present I M F's quotas) विशेष आहरण अधिकार योजना में यह प्रस्ताव है कि मुद्रा कोष प्रतिवर्ष अपनी लेखा बहियों में एक निश्चित राशि के नये रिजर्व (कोष) दर्ज कर लिया करेगा। इस रिजर्व में प्रत्येक सदस्य को आनुपातिक हिस्सा मिलेगा जो कोष में उस देश के वर्तमान चन्दा (Subscription) पर निर्भर करेगा।

एस० डी० आर० योजना के अन्तर्गत 1970 जनवरी से प्रारम्भ होकर अब तक पाँच आवटन (allocation) किये गये हैं। इनमें से 1970 में S D R 341 4 करोड, 1971 में S D R 294 9 करोड तथा 1972 में S D R 292 5 करोड जारी किया गया, यानी तीन वर्षों में कुल राशि S D R 931 5 करोड है। कोष का कोई भी सदस्य S D R में भाग ले सकता है। 31 दिसम्बर, 1972 तक कोष के कुल 125 सदस्यों में से इसमें 116 सदस्यों ने हिस्सा लिया था। एस० डी० आर० योजना में कुछ देशों का हिस्सा निम्न प्रकार से है —

एस० डी० आर० में प्रमुख देशों का हिस्सा

देश	मिलियन डॉलर
संयुक्त राज्य अमेरिका	866 88
इंगलैंड	409 92
भारत	126 00
पाकिस्तान	31 60

1973 के प्रथम अर्द्ध-भाग के अंत तक सभी देशों का अन्तर्राष्ट्रीय कोष (International Reserve) 150 1 बिलियन तक पहुँच गया था।

एस० डी० आर० योजना की प्रधान विशेषताएँ

(Main features of the S D R)

विशेष आहरण अधिकार की भी कई प्रधान विशेषताएँ हैं। इनमें से कुछ प्रमुख विशेषताएँ इस प्रकार से हैं

(1) **पूरक के रूप में काम** —सर्वप्रथम तो एस० डी० आर० अन्तर्राष्ट्रीय तरलता के लिए वर्तमान रिजर्व सम्पत्ति के प्रभावशाली पूरक के रूप में कार्य करता है।

(2) **पुस्तक प्रविष्टि मात्र**—मुद्रा कोष का 'विशेष आहरण' केवल पुस्तक प्रविष्टि के आधार पर निर्मित करता है, अर्थात् इन अधिकारों के पीछे किसी प्रकार की जमानत आदि रखने की व्यवस्था नहीं है। इसे मुद्रा कोष के एक अलग खाते में दर्ज कर लिया जाता है।

(3) **वितरण** —प्रत्येक सदस्य का विशेष आहरण अधिकार मुद्रा कोष में उसके कोटा के अनुपात में निर्धारित किया जायगा। उदाहरण के लिए, यदि मुद्रा-कोष में किसी सदस्य का

अभ्यंश 10 प्रतिशत है तो आहरण अधिकार में भी उसका हिस्सा 10 प्रतिशत ही होगा। आहरण अधिकारों का निर्धारण सामान्यतया 5 वर्षों के लिए किया जायगा।

(4) **प्रयोग**—विशेष आहरण अधिकारों का प्रयोग केवल दो उद्देश्यों के लिए किया जा सकता है—(अ) भुगतान सतुलन की प्रतिकूलता को दूर करने के लिए, तथा (ब) अपने कोषों को सामान्य स्तर पर लाने के लिए।

वर्तमान समय में कोई भी सदस्य राष्ट्र अपने विशेष-प्राप्ति अधिकार का तीन तरीके से प्रयोग कर सकता है—सर्वप्रथम तो यह इससे अमेरिकी डॉलर या फ्रेंच फ्रैंक या ब्रिटिश पौंड खरीद सकता है। द्वितीयत, यह अपने विशेष-प्राप्ति-अधिकार का प्रयोग दूसरे सदस्यों के साथ अपनी मुद्रा के जमा को प्राप्त करने में कर सकता है। तृतीयत, कोई सदस्य-राष्ट्र अपने विशेष-प्राप्ति अधिकार का प्रयोग मुद्रा-कोष से अपनी मुद्रा के पुन क्रय के लिए भी कर सकता है। वास्तव में, सदस्य राष्ट्र इस अधिकार का प्रयोग केवल भुगतान सतुलन के घाटे की पूर्ति अथवा अपने स्वर्ण एवं विदेशी-विनिमय के कोष में वृद्धि की आवश्यकताओं के अनुरूप परिवर्तन के लिए कर सकते हैं।

(5) **वैकल्पिक हिस्सेदारी**—विशेष आहरण अधिकार योजना में मुद्रा-कोष का कोई भी सदस्य हिस्सेदार हो सकता है, किन्तु यह हिस्सेदारी अनिवार्य नहीं है तथा एक बार इस योजना के भागीदार हो जाने पर भी कोई देश अपने इच्छानुसार किसी भी समय इससे अलग हो सकता है। इस दृष्टि से विशेष आहरण अधिकार योजना बिल्कुल उदार है।

(6) **विशेष आहरण अधिकारों की सीमा**—विशेष आहरण अधिकारों के लिए भी एक सीमा निर्धारित कर दी गयी है। कारण यह है कि जिन देशों के खाते में विशेष आहरण अधिकार जमा होते हैं उनकी स्थिति ठीक उन देशों की तरह होती है जो अन्य देशों को उधार देते रहते हैं। परन्तु कोई भी देश असीमित मात्रा में उधार नहीं दे सकता क्योंकि असीमित मात्रा में जमा करने का अर्थ असीमित मात्रा में उधार देना है, जो बिल्कुल अव्यावहारिक एवं अनुचित है। अतएव, इसका ऋणदाता देश पर अनुचित भार पड़ने का भय रहता है। अत विशेष आहरण अधिकारों के लिए भी एक सीमा निर्धारित कर दी गयी है कि **किसी भी देश के लिए अपने विशेष अधिकार कोटा के तिगुने से अधिक विशेष आहरण अधिकार कोष रखना आवश्यक नहीं है।**

(7) **ब्याज**—जिस देश के खाते में अपने निर्धारित अभ्यंश से अधिक आहरण अधिकार कोष जमा हो जाय तो उसे अभ्यंश से अधिक कोष पर ब्याज देने की व्यवस्था है जो मुद्रा कोष द्वारा निश्चित की जायगी। वर्तमान समय में यह 1 5 प्रतिशत है।

(8) **दैनिक शेष**—इस योजना में भागीदार देशों के लिए अपने खाते में अपने लिए निर्धारित भाग के कम-से-कम 30 प्रतिशत विशेष आहरण अधिकारों का दैनिक शेष रखना पड़ेगा। यदि किसी समय किसी देश के आहरण अधिकार का शेष 30% से कम भी हो जाय तो निर्धारित अवधि (जो सामान्यत पाँच वर्ष होती है) के अन्त तक यह बाकी 30% तक आ जानी चाहिए। इस कोटा को पूरा करने के लिए मुद्रा कोष को स्वर्ण या कोई भी परिवर्तनशील मुद्रा देनी पड़ेगी जिसके बदले आहरण अधिकारों की आवश्यक इकाइयाँ मिल जायेंगी।

(9) **विदेशी विनिमय सचय में एक स्थायी वृद्धि** इस योजना की सर्वाधिक प्रधान विशेषता यह है कि विशेष आहरण अधिकार का 70% बिना शर्त अधिकार है, इसे कभी वापिस लौटाने की आवश्यकता नहीं है और इस प्रकार यह देश के विदेशी विनिमय में एक स्थायी वृद्धि है।

(10) **प्रादिष्ट मुद्रा**—कुछ लोगों के अनुसार मुद्रा-कोष का विशेष आहरण अधिकार वास्तव में एक प्रकार की अन्तर्राष्ट्रीय प्रादिष्ट मुद्रा की तरह है क्योंकि (अ) इन अधिकारों के पीछे किसी प्रकार का कोष नहीं रखा जाता केवल मुद्रा-कोष की प्रतिष्ठा ही निधि का कार्य करती है, (ब) ये इकाइयाँ स्वर्ण में परिवर्तनीय नहीं होतीं तथा (स) इनका सृजन आर्थिक संकट से छुटकारा पाने के लिए किया गया है।

(11) **अधिकार से वंचित** जब भी कोई देश विशेष आहरण अधिकार का उपयोग अनुचित रूप मे करता है तो मुद्रा-कोष उस देश को चेतावनी दे सकता है और यदि सम्बद्ध देश चेतावनी की अवहेलना करता है तो, उसको विशेष आहरण अधिकारो से वंचित किया जा सकता है।

(12) **मुद्रा-कोष द्वारा मनोनयन**—जब किसी देश को भुगतान करने के लिए रकम की आवश्यकता पडती है तो मुद्रा-कोष यह निर्धारित करता है कि यह राशि किस देश द्वारा दी जाय। सामान्यतया जिन देशो के तरल कोष अधिक होते हैं या जिन देशो के खाते मे सामान्य स्तर से कम विशेष आहरण अधिकार जमा होते हैं, मुद्रा-कोष उन देशों को विशेष आहरण खरीद कर प्रार्थी देश को आवश्यक राशि देने का आदेश दे देता है।

विकासशील देश एवं विशेष आहरण अधिकार (S D R and Developing Countries) .—विशेष आहरण अधिकार योजना विकासशील देशो के लिए विशेष रूप से उपयोगी बतलाई जाती है। इसके निम्नांकित कारण हैं :—

(i) **विकासशील देशों को अधिक रकम** :—इस योजना के फलस्वरूप जितनी राशि के विशेष आहरण अधिकार निर्मित किए जायेंगे उनका लगभग 27% विकासशील देशो को प्राप्त होगा।

(ii) **तीव्र आर्थिक विकास**—इसके अन्तर्गत इन देशो मे अधिकाधिक पूँजी का आगमन होगा जिससे उनके आर्थिक विकास की गति में तीव्रता आयगी।

(iii) **मुद्रा कोष का अधिक सहयोग**—नयी व्यवस्था में मुद्रा-कोष के निर्णय अधिकारो मे पर्याप्त वृद्धि हो जायगी, अत विकासशील देशो को पहले से अधिक विस्तृत सुविधाएं उपलब्ध हो सकेगी।

विशेष आहरण अधिकारों की आलोचनात्मक समीक्षा (A Critical Appraisal of the Special Drawing Rights)—किन्तु उपरोक्त गुणो के साथ-ही-साथ एस० डी० आर० योजना की बहुत अधिक आलोचना भी की जाती है जिनमे निम्नांकित उल्लेखनीय हैं —

(i) यह योजना केवल विश्वास पर आधारित है क्योकि 'अधिकारो के पीछे किसी प्रकार का बहुमूल्य कोष नही रखा जाता है अत. यदि लोगो का एस० डी० आर० पर से विश्वास समाप्त हो जाय तो यह योजना भी असफल सिद्ध हो जायगी।'

(ii) इस योजना मे सदस्यो को योजना से किसी भी समय हटने की स्वतन्त्रता दी गयी है। इस नयी व्यवस्था से धनी देशो पर अधिक भार पडने की सम्भावना है और सम्भवत कुछ को इससे कोई लाभ भी न हो। इस प्रकार के देश यदि इस नयी व्यवस्था से मुक्त भी हो जाय तो उन्हें कोई हानि नही होगी। अत एस० डी० आर० योजना की सफलता भी धनी देशो के योगदान की इच्छा पर ही निभर करती है।

(iii) एस० डी० आर० योजना इस दृष्टिकोण से निकृष्ट है कि इसमे 'अधिकारों' का उपयोग न तो सुरक्षा-सम्बन्धी आवश्यकताओं और न निजी क्षेत्र से वस्तुएँ खरीदने के लिए ही किया जा सकता है जबकि स्वर्ण तथा विदेशी मुद्रा के रूप मे जो तरल कोष रखा जाता है, उसका उपयोग किसी भी आवश्यक कार्य के लिये किया जा सकता है।

(iv) नयी योजना से विकासशील देशो को कुछ लाभ तो अवश्य होगा किन्तु उन्हें इस प्रकार सरलता से ऋण मिलने पर उनमे मुद्रा-प्रसार के वातावरण को और अधिक प्रोत्साहन मिलेगा।

वर्नर योजना (Werner Plan) .—यूरोपीय साझा बाजार मे सम्मिलित देशो के विशेषज्ञो ने एक आर्थिक एवं मौद्रिक संघ (Economic and Monetary union) की योजना तैयार की है जिसे **वर्नर योजना** (Werner Plan) कहते हैं। इस योजना को साझा बाजार मे पूर्व सम्मिलित 6 देशो की सरकारो के पास भेजा गया जिन्हें इसे 1970 के अन्त तक स्वीकार करना था। इसे तीन स्तरो मे कार्यान्वित करने का निश्चय किया गया है। इसे 1 जनवरी, 1971 ई० से लागू करने की व्यवस्था थी। इस योजना के अन्तर्गत एक सामान्य यूरोपीय मुद्रा

चालू करने की व्यवस्था है जो यूरोपीय संघीय सुरक्षा व्यवस्था (European Federal Reserve System) पर आधारित होगी। इसके आधारस्वरूप एक 'Community Stabilisation Fund' की स्थापना प्रथम स्तर के पूर्व ही हो जायगी। किन्तु इगलैंड के साझा बाजार मे सम्मिलित होने के कारण इस योजना को लागू होने मे देर हो रही है।

विशेष अध्ययन-सूची

1. The Eastern Economist : Annual Number 1972
2. Papers read at the Indian Economic Association.

अध्याय : 41
विदेशी विनिमय
(Foreign Exchange)

विदेशी विनिमय का अर्थ (Meaning of Foreign Exchange):—विश्व के विभिन्न देश अपनी विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति में यदि आत्म-निर्भर रहते तो अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सम्बन्ध की कोई समस्या ही नही उठती। किन्तु आज विश्व का कोई भी देश आत्म-निर्भर नही है। प्रत्येक देश अपने देश की चीजें अन्य देशों के हाथ बेचता है एवं उन देशों से अपनी आवश्यकता की वस्तुएँ खरीदता है। उदाहरण के लिए, भारत अमेरिका के हाथ अपना अभ्रक एव मैंगनीज बेचता है, और अमेरिका से दवाएं तथा विभिन्न प्रकार के यन्त्र आदि खरीदता है। इस प्रकार प्रत्येक देश उन्ही वस्तुओ के उत्पादन मे विशिष्टता प्राप्त करता है जिनके उत्पादन में उसकी सापेक्षिक कुशलता अधिक रहती है। दूसरे शब्दो मे, आज विश्व की आर्थिक व्यवस्था अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-विभाजन अथवा विशिष्टीकरण पर आधारित है। इसी से अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार (International Trade) का जन्म होता है।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के परिणामस्वरूप ही अन्तर्राष्ट्रीय लेन-देन की समस्या उत्पन्न होती है। यहाँ पर यह कहना आवश्यक है कि विश्व में ऐसा कोई पदार्थ या भुगतान का साधन नही है जो सर्वत्र स्वीकार किया जाता हो, यानी अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा नाम की कोई चीज नही है। स्वर्ण इस सम्बन्ध में एक अपवाद अवश्य था, जिसके विभिन्न रूपों एवं कार्य-प्रणाली की व्याख्या पिछले अध्याय मे की जा चुकी है। किन्तु आधुनिक विश्व मे तो स्वर्ण भी अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा नही रह गया है। प्रत्येक देश की अपनी-अपनी पृथक् एव स्वतन्त्र मौद्रिक प्रणाली है। उसकी अपनी स्वतन्त्र मुद्रा है जो उस राष्ट्र की सीमा के अंदर बगैर किसी प्रतिबन्ध के चलती है, किन्तु राष्ट्र की सीमा के बाहर जिसे कोई भी व्यक्ति भुगतान के रूप मे स्वीकार नही करता। उदाहरण के लिए भारत की मुद्रा रुपया है, इगलैंड की मुद्रा पौंड-स्टर्लिंग है अमेरिका की मुद्रा डॉलर है इत्यादि। देश के आन्तरिक भुगतान में इन मुद्राओं को सभी स्वीकार करते हैं। उदाहरण के लिए, यदि बम्बई का कोई व्यापारी कलकत्ता के किसी व्यापारी के हाथ कपडा बेचता है तो वह भारत की मुद्रा, यानी रुपया या भारत के किसी बैंक के नाम चेक सहर्ष स्वीकार कर लेगा। किन्तु यदि वही व्यापारी अपना कपडा न्यूयार्क के किसी व्यापारी के हाथ बेचता है तो कपडे के मूल्य का भुगतान किस रूप मे होगा, यह एक समस्या हो जाती है। न्यूयार्क के खरीददार के पास डॉलर के नोट हैं, किन्तु ये डॉलर के नोट बम्बई के व्यापारी के लिए प्राय बेकार होंगे। क्योंकि उसे भारत मे कोई स्वीकार नही करेगा। बम्बई के व्यापारी को तो रुपयो के नोट चाहिए, किन्तु इस प्रकार का नोट न्यूयार्क के व्यापारी के पास नही हैं। इस प्रकार विदेशी व्यापार के कारण भुगतान की समस्या उठ खडी होती है।

किन्तु कार्यरूप मे इस प्रकार की विभिन्नता के कारण कोई कठिनाई नही होती। बम्बई का व्यापारी न्यूयार्क के किसी बैंक के ऊपर डॉलर चेक पाकर उसे अपने शहर के किसी बैंक के पास जमा कर देगा और उसके बदले मे वहाँ से रुपये-पैसे के रूप मे जमा की रसीद प्राप्त कर लेगा। किन्तु यह भुगतान का कार्य अभी इसीसे समाप्त नही होता। अब प्रश्न यह है कि बम्बई का बैंक इस डॉलर के चेक को क्या करेगा? उसे तो डॉलर या सेंट की कोई आवश्यकता नही है। अतएव बैंक उन बेकार डॉलरों को जमा करके क्या करेगा? बैंक डॉलर के चेक को भुना कर इसके बदले मे रुपया तभी दे सकता है जब वह उस डॉलर चेक को पुन भुना कर रुपया प्राप्त कर सके, अतएव बम्बई वाला बैंक उस डॉलर के चेक को किसी न्यूयार्क के बैंक के हाथ बेचेगा। किन्तु विनिमय का यह कार्य यहाँ भी समाप्त नहीं होता। यह विनिमय-प्रवाह इसी प्रकार आगे चलता जायगा और तभी समाप्त होगा जब चेक किसी ऐसे हाथ मे चला जाय जो रुपये देकर डॉलर लेना चाहता हो। डॉलर चाहने वाले व्यक्ति वे ही हो सकते हैं जो अमेरिका के निवासी हो या जिन्हे किसी अमेरिका निवासी को भुगतान करना हो। इस प्रकार विदेशी व्यापार—यानी विदेशो मे वस्तुओं एव सेवाओं के क्रय-विक्रय के भुगतान के लिए विदेशी मुद्राओं के विनिमय की आवश्यकता पडती है।

यही विदेशी विनिमय का एक उदाहरण है। विदेशी विनिमय का प्रथम आवश्यक सिद्धांत यह है कि हर देश की अपनी अलग अलग मुद्रा होती है जो यद्यपि उस देश की सीमा के अंदर चलती है किन्तु उस देश के बाहर नहीं चलती। इस प्रकार इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि हर अदायगी जो देश की सीमा के बाहर होती है, उसमें एक से दूसरी मुद्रा में विनिमय का प्रसंग होता है।

इस प्रकार विदेशी विनिमय की विभिन्न तरीके से परिभाषा दी जाती है। उदाहरण के लिए—**"विदेशी विनिमय वह प्रणाली है जिसके द्वारा व्यावसायिक राष्ट्र अपने अन्तर्राष्ट्रीय ऋणों का भुगतान करते हैं।"** (Foreign exchange is the system by which commercial nations discharge their debts to each other.) हार्टले विदर्स (Hartley Withers) ने विदेशी विनिमय की परिभाषा इस प्रकार से दी है, **"विदेशी विनिमय अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक विनिमय का विज्ञान एवं कला है।"** (Foreign Exchange is the art and science of International Money Exchanging.) कला के रूप में इसका सम्बन्ध उन सब संस्थाओं से है जो विदेशी भुगतान में सहायता पहुँचाती है तथा विज्ञान के रूप में इसका सम्बन्ध केवल उस दर से ही नहीं जिस पर विनिमय होता है वरन् उन उपायों एवं रीतियों से भी है जिनके द्वारा विदेशी विनिमय की समस्याओं का समाधान किया जाता है। इस प्रकार विस्तृत रूप में विदेशी विनिमय उस पद्धति का द्योतक है जिसके द्वारा व्यापारिक राष्ट्र अपने अन्तर्राष्ट्रीय दायित्वों का भुगतान करते हैं।

हम जानते हैं कि किसी विनिमय में दो पक्षों का होना आवश्यक है। डॉलर को तब तक रुपये में नहीं बदला जा सकता जब तक कि उसी समय रुपये का भी डॉलर में विनिमय नहीं हो और चूँकि प्रत्येक नकद भुगतान के दो पक्ष होते हैं—एक देनेवाला और दूसरा लेनेवाला अतएव इससे स्पष्ट होता है कि अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक विनिमय में चार व्यक्तियों अथवा पक्षों की आवश्यकता होती है—दो लेनेवाले और दो देनेवाले। विनिमय की इस क्रिया को कभी कभी साधारण बोलचाल की भाषा में तबादला (Conversion) भी कह दिया जाता है—उदाहरण के लिए रुपये का डॉलर में तबादला (Conversion of Rupees into Dollars)। किन्तु इस शब्द से कभी कभी भारी गलतफहमी भी हो सकती है। वास्तव में, विनिमय मुद्राओं का होता है। अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक समस्याओं को समझने के लिए यह आवश्यक है कि प्रत्येक अन्तर्राष्ट्रीय लेन-देन में मुद्रा के विनिमय की आवश्यकता होती है और प्रत्येक मुद्रा के विनिमय में कम-से-कम दो पक्षों का होना आवश्यक है। इस प्रकार इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि किसी देश से संसार के अन्य देशों को जो भुगतान होता है वह आवश्यक रूप से इन देशों से भी आकर उस देश में होनेवाले भुगतान के बराबर होता है (Every flow of payments from one country to the rest of the world must be exactly balanced by an equal flow of payments into that country from the rest of the world) क्योंकि एक पक्ष द्वारा जितने भी रुपये विनिमय में दूसरे पक्ष को दिये जाते हैं, वे वही रुपये हैं जो पहले पक्ष ने भी विनिमय में अन्य लोगों से प्राप्त किया है। यह विदेशी विनिमय का पहला और सर्वाधिक प्रमुख सिद्धांत है।

विदेशी विनिमय-बाजार
(The Foreign Exchange Market)

अन्य वस्तुओं की तरह विदेशी मुद्रा की खरीद-बिक्री का भी एक विशिष्ट बाजार होना है जिसे विदेशी विनिमय बाजार (foreign exchange market) कहते हैं। इसमें सभी मुद्राओं के क्रेता एवं विक्रेता होते हैं। दूसरे शब्दों में, विदेशी विनिमय बाजार प्रधानतः वह संगठन है जिसके द्वारा राष्ट्र की मुद्राओं का विनिमय किया जाता है। (The Foreign Exchange Market is primarily the mechanism by which the exchange of national currencies is carried through) यदि यह बाजार बिल्कुल ही पूर्ण प्रतियोगिता के आधार पर निर्मित हो एवं इसमें सरकार का कोई भी हस्तक्षेप न हो तो विदेशी मुद्राओं की खरीद बिक्री का कार्य अनिश्चित ढंग से होगा और इस कारण प्रत्येक मुद्रा की विनिमय दर माँग एवं पूर्ति के नियम के आधार पर उन्मुक्त रूप से उसकी माँग एवं पूर्ति के अनुसार निश्चित होगी। जिस तरह से किसी वस्तु की कीमत पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति में उसकी माँग एवं पूर्ति के द्वारा निश्चित होती है ठीक उसी तरह ऐसी स्थिति

मे मुद्रा की विनिमय-दर भी उसकी माग एव पूर्ति द्वारा निश्चित होती है। इस प्रकार स्पष्ट है कि पूर्ण प्रतियोगिता वाले विनिमय बाजार मे किसी भी मुद्रा की विनिमय दर अधिक और दूसरे बाजार मे कम हो तो इसे खरीद कर व्यापार करने वालो को पर्याप्त लाभ होगा। ये कम दर की जगह मे उसे खरीद कर ज्यादा विनिमय-दर के बाजार म बेचना प्रारम्भ कर देंगे। इसका परिणाम यह होगा कि जहाँ मुद्रा की विनिमय दर कम होगी वहाँ लोग उसे अधिक परिमाण मे खरीदेंगे एव जहाँ उसकी विनिमय-दर अधिक होगी वहाँ उसे बेचेंगे। इसके फलस्वरूप सभी बाजारो मे किसी मुद्रा की विनिमय-दर के समान होने की प्रवृत्ति होगी। किन्तु आजकल ससार मे किसी भी देश मे उन्मुक्त विनिमय बाजार नहीं है। विदेशी विनिमय के सम्बन्ध मे आज प्रत्येक देश मे सरकार द्वारा तरह-तरह के नियन्त्रण एवं प्रतिबन्ध लगाये गये हैं। अत्यधिक सरकारी हस्तक्षेप के कारण आज विदेशी विनिमय-बाजार मे पूर्ण-प्रतियोगिता नही रह गयी है जिससे विनिमय की दर के निर्धारण मे माग एव पूर्ति की शक्तियाँ प्रभावपूर्ण नही रह गयी हैं।

उदाहरण के लिए, यदि भारतवर्ष का कोई व्यापारी अमेरिका के किसी व्यापारी से वस्तुएँ खरीदता है तो उसकी कीमत वह रुपये मे नही चुका सकता, इसके लिए अन्तर्राष्ट्रीय बाजार मे उसे डॉलर खरीद कर अमेरिका के व्यापारी को उसकी वस्तुओ की कीमत चुकानी पडेगी। आज प्रत्येक देश में स्वतन्त्र पत्र-मुद्रा प्रणाली (Independent paper currency system) का प्रचलन है। सभी देशो मे कागज के नोटो की प्रधानता है और धातु की मुद्रा सिर्फ सहायक मुद्रा के रूप मे कार्य करती है। ऐसी स्थिति मे दो देशो के पारस्परिक मूल्य-स्तर को प्रत्यक्ष रूप मे एक समान नही किया जा सकता। स्वर्ण-मान मे यह सम्भव था, किन्तु आजकल सभी राष्ट्रो की अपनी स्वतन्त्र मुद्रा के कारण सबो के मूल्य-स्तर मे सम्बन्ध विनिमय दर द्वारा नहीं स्थापित होता है।

विदेशी विनिमय-बाजार मे पहले **विनिमय-बिलों** (Bills of Exchange) की प्रधानता थी। अतएव इसे साधारणतया विदेशी विनिमय-बाजार नहीं कह कर विदेशी विनिमय बिलो का बाजार कहा जाता था। विनिमय बिल विदेशी भुगतान के साधन नहीं हैं किन्तु ये ऐसे पत्र हैं जो विदेशी भुगतान को अनावश्यक बना देते हैं। (Bills of Exchange are not so much a means of making international payments as of rendering international payments unnecessary) विनिमय बिल ठीक चेक की तरह ही साख का एक साधन है। यह एक प्रकार का लिखित पत्र है जिस पर इसके लिखने वाले का हस्ताक्षर रहता है और जिसमे ग्राहर्यी (Drawee or Acceptor) को एक लिखित रकम लिखने वाले व्यक्ति या उसके आदेश-प्राप्त व्यक्ति या वाहक को देने की आज्ञा रहती है। (A Bill of Exchange is an instrument in writing containing an unconditional order, signed by the maker, directing a certain person to pay a certain sum of money only to or to the order of a certain person or to the bearer of the instrument) इस प्रकार विनिमय बिल ठीक चेक की तरह होता है, फिर भी चेक एव विनिमय बिल मे निम्नलिखित तीन प्रमुख अन्तर हैं :— (1) चेक किसी बैंक के ऊपर लिखा जाता है किन्तु विनिमय बिल किसी देनदार के नाम होता है। (2) चेक का भुगतान चेक उपस्थित करने के साथ ही होना चाहिए, किन्तु विनिमय बिल का भुगतान एक निश्चित अवधि (साधारणत: तीन महीने) के बाद ही होता है। (3 विनिमय बिल जब तक देनदार द्वारा स्वीकृत (accepted) नहीं होता तब तक यह पूर्ण नहीं समझा जाता है, किन्तु चेक के साथ ऐसी कोई बात नहीं पायी जाती है।

पहले विदेशी व्यापार के भुगतान मे विदेशी बिलो का बहुत बडे पैमाने पर प्रयोग किया जाता था। विनिमय बिल द्वारा भुगतान किस प्रकार होता था एक उदाहरण मे इसे अधिक स्पष्ट किया जा सकता है। मानलिया की बम्बई के कपडे का कोई व्यापारी श्री राम न्यूयार्क के व्यापारी ब्राउन को 100 रुपये का कपडा बेचना है। अब बम्बई का व्यापारी श्री राम 100 रुपये का एक विनिमय बिल ब्राउन के नाम लिखता है जिसमे यह आदेश रहता है कि बिल की उपस्थिति के दिन या 90 दिनो के अन्दर खुद श्री राम को या उसके आदेश-प्राप्त किसी व्यक्ति को या बिल के वाहक को 100 रुपये चुकता कर दें। यह बिल लिख कर ब्राउन के पास भेज दिया जायगा जो इसे स्वीकार कर लौटा देगा। अब कल्पना कीजिए कि दूसरी ओर न्यूयार्क का एक दूसरा व्यापारी बम्बई के एक व्यापारी के हाथ 100 रुपये की एक कलम बेचता है जिसके बदले

मे बम्बई के उस व्यापारी को न्यूयार्क मे 100 रुपये भेजता है। ऐसी स्थिति मे सबसे सुगम काम यह होगा कि बम्बई का व्यापारी ग्रो राम उस बिल को वहाँ के कलम के व्यापारी के हाथ बेच दे जो इसे न्यूयार्क के व्यापारी को भेज कर कलम की कीमत चुकता कर दे। न्यूयार्क का व्यापारी समय आने पर ब्राउन के पास वह बिल भेज कर अपना रुपया प्राप्त कर लेगा।

विनिमय बिल के द्वारा भुगतान का कार्य इसी प्रकार से होता था। विदेशी व्यापार मे पहले विनिमय बिलो का ही अधिक उपयोग किया जाता था। अतएव विदेशी विनिमय-बाजार पहले विदेशी विनिमय बिल-बाजार ही होता था। यह वह स्थान था जहाँ पर ऐसे विनिमय बिल खरीदे या बेचे जा सकते थे जिनका भुगतान लन्दन, न्यूयार्क, शघाई तथा अन्य विभिन्न केन्द्रो मे किया जाता था। बहुत दिनो तक विदेशी भुगतान का यही तरीका प्रचलित था। आज भी विदेशी विनिमय-बाजार मे विनिमय बिलो का क्रय-विक्रय हो सकता है। किन्तु आजकल विदेशी विनिमय की समस्या एक मुद्रा का दूसरी मुद्रा के साथ प्रत्यक्ष विनिमय की समस्या है, अतएव इस बाजार का नाम विदेशी विनिमय बाजार है। फिर भी, इस बाजार को तो विदेशी विनिमय-बाजार का नाम यो ही दिया गया है क्योकि अन्य वस्तुओ के क्रेता एव विक्रेता की तरह विदेशी मुद्रा के क्रेता-विक्रेता एक निश्चित स्थान पर बठकर कारोबार नही करते हैं। साथ ही, विदेशी विनिमय-बाजार किसी देश की सीमा के अन्दर भी सीमित नही रहता है। विदेशी विनिमय का कारोबार करनेवाला टेलीफोन पर या तार के द्वारा ही घर बैठे अपना व्यापार कर लेता है।

विनिमय की दर
(The Rate of Exchange)

विनिमय की दर का अर्थ (Meaning of the term the Rate of Exchange) — किसी देश की मुद्रा का मूल्य क्या है? इस प्रश्न का उत्तर एक दूसरे प्रश्न के द्वारा दिया जा सकता है। एक किलोग्राम चावल का मूल्य क्या है? इसका उत्तर स्पष्ट है। एक किलोग्राम चावल की कीमत उतनी मुद्राएँ हैं जिनका मूल्य एक किलोग्राम चावल के बराबर है। यदि 1 किलोग्राम चावल की कीमत 50 पैसे है तो चावल एव मुद्रा के मूल्य का अनुपात हुआ 50 पैसे=1 किलो-ग्राम चावल। इस प्रकार चावल का मूल्य वह अनुपात है जिस पर चावल एव मुद्रा का विनिमय होता है, यानी चावल एव मुद्रा के बीच यही विनिमय की दर हुई। दो मुद्राओ के बीच की विनिमय-दर भी इसी प्रकार से निश्चित होती है।

इस प्रकार विनिमय-दर (Rate of Exchange) की परिभाषा निम्नलिखित तरीके से दी जा सकती है '**विनिमय दर किसी मुद्रा का वह मूल्य है जो किसी दूसरी मुद्रा के रूप में व्यक्त किया जाता है।**" (The value of a currency expressed in terms of another currency is called its Rate of Exchange) दूसरे शब्दो मे, "किसी एक देश की मुद्रा के बदले दूसरे देश की जितनी मुद्रा मिले, वह उनके विदेशी विनिमय की दर कहलाती है।' विनिमय दर की दूसरी परिभाषा इस प्रकार से भी दी जा सकती है—"विनिमय दर वह दर है जिस पर एक देश की प्रचलित मुद्रा का दूसरे देश की प्रचलित मुद्रा मे विनिमय हो सके। प्रो० सेयर्स (R S Sayers) के अनुसार, "The prices of currencies in terms of each other are called foreign exchange rates"

उक्त परिभाषा से यह स्पष्ट है कि '**विनिमय दर केवल दो देशो की मुद्राओं के विनिमय के अनुपात को सूचित करती है।**" मान लिया कि अमेरिका मे एक रुपये के बदले मे 20 सेन्ट प्राप्त होते हैं, तब हम कहेंगे कि रुपये एव डॉलर की विनिमय-दर 1 रुपया=20 सेन्ट या 1 डॉलर = 5 रुपये है।

विनिमय-दर का निर्धारण
(Determination of the Rate of Exchange)

दो मुद्राओ की विनिमय दर की व्याख्या कर लेने के बाद अब हम इस सम्बन्ध मे अधिक महत्त्वपूर्ण प्रश्न पर विचार करेंगे। विनिमय दर किस प्रकार से निर्धारित होती है? समय-समय पर इसमे क्यो परिवर्तन होता है? यहाँ सर्वप्रथम यह बतला देना आवश्यक है कि अन्य मूल्यो की

तरह विनिमय-दर मे परिवर्तन भी बिलकुल स्वाभाविक है। इसमे कोई सन्देह नही कि कुछ खास समय मे ऐसा नही होता है। उदाहरण के लिए, जब दो देशो की मुद्राए बिल्कुल स्वर्ण की बनी हुई होती हैं तो इनकी विनिमय-दर मे केवल नाम मात्र का ही परिवर्तन होता है। ऐसी स्थिति मे दो मुद्राओ की विनिमय-दर उनमे निहित स्वर्ण की मात्रा पर निर्भर करती है। प्रथम विश्व-युद्ध के पूर्व पौंड एव फ्रांक (फ्रास की मुद्रा) तथा डॉलर आदि की विनिमय-दर इसी प्रकार से निश्चित होती थी। किन्तु युद्ध के बाद स्थिति पूर्णतया बदल गयी। जब दो देशो मे ऐसी पत्र-मुद्रा चलन मे रहती है, जो स्वर्ण म परिवर्तित रहती है तो भी विनिमय दर मे परिवर्तन बिल्कुल सीमित रहता है। किन्तु ऐसी स्थिति मे विनिमय दर का स्थायित्व स्वाभाविक नही होकर मानवीय प्रयत्न द्वारा ही प्राप्त होता है, इस प्रकार आज के विश्व म, जब कि स्वर्ण की मुद्राओं का प्रचलन नहीं है उनकी कीमत की स्थिरता तभी सुनिश्चित रह सकती है जब उसके लिए खास युक्तियाँ की जायें।

जिस प्रकार से किसी वस्तु का मूल्य उसकी माग एव पूर्ति के द्वारा निर्धारित होता है, विदेशी विनिमय बाजार मे मुद्रा का मूल्य भी ठीक उसी प्रकार उसकी मांग एव पूर्ति की सापेक्षिक शक्तियों द्वारा तय होता है। इस कथन को ठीक-ठीक समझने मे थोडी बहुत कठिनाई हो सकती है। भारत के लोगो को अमेरिका म मुद्रा भेजने की हजारो प्रकार की जरूरत हो सकती है। वे अमेरिका से प्राप्त वस्तुओ तथा सेवाओ की कीमत को चुकाना चाहते होगे, अमेरिका से लिये गये ऋण के मूल-धन एव ब्याज का चुकता करना चाहते होंगे अथवा अमेरिका से कोई प्रतिभूति या हिस्सा वगैरह खरीदना चाहते होगे। इस प्रकार अनेक कारणो से भारतीय अमेरिका मे मुद्रा भेजना चाहते होगे। यदि कोई भी व्यक्ति जिसके पास रुपये हैं और जो रुपये के बदले मे किसी भी कारण से डॉलर लेना चाहता है तो वह रुपये के बदले मे डॉलर की माग उत्पन्न करता है। इसके विपरीत यदि कोई व्यक्ति जिसके पास डॉलर हो, और उसके बदले मे रुपया चाहता हो, वह रुपये के बदले डॉलर की पूर्ति करता है। डॉलर की माग रुपये की पूर्ति है और डॉलर की पूर्ति रुपये की माग है। The demand for Dollars is of course the supply of Rupee and the supply of Dollars is the demand for Rupees) जब हम रुपये के बदले मे डॉलर की पूर्ति की चर्चा करते हैं तो हम यह कहना चाहते हैं कि रुपये को डॉलर म बदलने के लिए जितने डॉलर की माग की जाती है उसमे और जितनी डॉलर की पूर्ति की जाती है इसमे क्या पारस्परिक सम्बन्ध है?

इस प्रकार रुपये एव डॉलर की विनिमय-दर विनिमय बाजार मे इनकी सापेक्षिक माग एव पूर्ति की शक्तियो पर निर्भर करती है। किन्तु विदेशी विनिमय-बाजार म किसी विदेशी मुद्रा की माग एव पूर्ति के कारण इतने विभिन्न प्रकार के होते हैं कि शायद ही किसी दिन दैव संयोग से डॉलर की जो माग होगी यह उसकी पूर्ति के बराबर होगी। फिर भी, यह एक स्वय सिद्ध बात है कि हरेक खरीदे गये डॉलरो की सख्या बेचे गये डॉलरो की सख्या के बराबर अवश्य होगी क्योंकि जितना डॉलर कोई खरीदता है उतना ही दूसरा कोई बेचता भी है। किन्तु यदि माग एव पूर्ति मे प्रारम्भ से ही विषमता हो तो इस सौदे की समानता, अर्थात् खरीद बिक्री की समानता सरकारी नियन्त्रण अथवा हस्तक्षेप के अभाव म केवल मूल्य में कमी-बेशी, अर्थात विनिमय दर मे परिवर्तन द्वारा ही लायी जा सकती है। एक उदाहरण द्वारा इसे अधिक स्पष्ट किया जा सकता है। मानलिया कि सोमवार को कारोबार समाप्त होने के बाद विनिमय की दर 5 डॉलर=1 पौंड थी। अब किसी कारणवश मगलवार के सुबह मे अधिक व्यक्ति पौंड देकर डॉलर लेना चाहते हैं, किन्तु पांच डॉलर=1 पौंड की दर पर डॉलर देकर पौंड माग करनेवाले लोगो की सख्या इससे कम है। अब चूँकि डॉलर की पूर्ति इसकी माग से अधिक है, अतएव पौंड के रूप मे डॉलर की कीमत बढ जायगी और विनिमय दर म हेर-फेर होकर यह पुन 4 50 डॉलर हो जायगी। अब डॉलर रखनेवाले जो 5 डॉलर देकर पौंड नही खरीद रहे थे इस दर पर यानी 4 50 डॉलर=1 पौंड की दर पर पौंड खरीदना चाहेगे। इसके विपरीत पौंड रखनेवाले जिन्हे पहले 1 पौंड के बदले मे पांच डॉलर मिलता था, 4 50 डॉलर=1 पौंड पर इसे बेचने के लिए तैयार नहीं होंगे। इसका परिणाम यह होगा कि पौंड मे बदले जानेवाले डॉलरो की सख्या बढ जायगी और पौंड के बदले मे डॉलर चाहने वालो की भी सख्या बढ जायगी। इस प्रकार मोल-जोल के द्वारा विनिमय की दर आकर उस विन्दु पर स्थिर हो जायगी जिस पर डॉलर की माग एव पूर्ति आपस मे बराबर हो जायेंगे।

किन्तु यह बात केवल दो मुद्राओं तक ही सीमित नहीं है। हर समय जब न्यूयार्क एव लन्दन म कारोबार चल रहा हो तो डॉलर एव पौंड के बीच की विनिमय-दर दोनो केन्द्रों म एक ही होनी चाहिए। यदि डॉलर एव पौंड की दर 4 50 डॉलर लन्दन मे तथा 4 40 डॉलर न्यूयार्क मे हो तो कोई व्यक्ति लन्दन मे 100 पौंड के बदले 450 डॉलर खरीदकर न्यूयार्क मे भेजकर उससे 100 से अधिक पौंड प्राप्त कर सकता है। इस प्रकार की बात बहुत-से लोग करना प्रारम्भ कर देंगे। इसका परिणाम यह होगा कि न्यूयार्क मे पौंड की माग तथा इगलैंड मे डॉलर की माग बढ जायगी जिससे न्यूयार्क मे विनिमय-दर बढेगी और लन्दन मे घटेगी और ऐसा तबतक होगा जब तक कि दोनो की दरें बराबर नहीं हो जाती हैं। इस प्रकार के व्यापार को आर्बिट्रेज (Arbitrage) कहा जाता है और इस कार्य के लिए दलाल हरेक केन्द्र मे सदा वर्तमान रहते हैं जो ऐसा कार्य करते हैं। परन्तु ये मुद्रा-दलाल केवल पौंड एव डॉलर का ही कार्य नहीं करते वरन् ये एक ही समय विभिन्न देशो की मुद्राओं के सा । कारोबार करते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि विश्व के प्रायः सभी केन्द्रो मे विभिन्न मुद्राओ की विनिमय-दर एक ही होती है।

विदेशी मुद्रा की माग के कारण (Factors governing the demand for fore gn currencies) :—कोई व्यक्ति विभिन्न कारणो से किसी दूसरी देश की मुद्रा, यानी विदेशी विनिमय की माग करता है। इन कारणो को मुख्य रूप से निम्नलिखित तीन समूहो मे विभाजित किया जा सकता है :—

(क) व्यापार (Trade) के भुगतान के लिए : विदेशी विनिमय की माग का सर्वाधिक प्रमुख कारण साधारण व्यवसाय के लिए भुगतान या देन है। इस अर्थ मे व्यवसाय का तात्पर्य केवल दृश्य वस्तुओ (Visible commodities) के क्रय-विक्रय से नहीं है। वरन् इसमे अदृश्य वस्तुएँ (Invisible commodities) यानी विभिन्न प्रकार की सेवाओ का क्रय विक्रय भी सम्मिलित किया जाता है। उदाहरण के लिए, जहाज का भाडा, कम्पनियो का शुल्क, भ्रमणकारियो की सेवाओ के लिए शुल्क तथा इसी प्रकार की अन्य सेवाएँ। इस प्रकार के व्यवसाय के अन्तर्गत दृश्य (Visible) एव अदृश्य (Invisible) दोनो प्रकार के व्यवसाय सम्मिलित रहते हैं।

(ख) अन्तर्राष्ट्रीय पूँजी एव सूद का गमनागमन (Movements of international capital and interest on capital) .—विश्व मे बहुत-सारे देशो की पूँजी अन्य देशो मे विनियोग की जाती है। उदाहरण के लिए, इगलैंड ने उन्नीसवीं तथा बीसवीं शताब्दी के प्रथम भाग मे विश्व के दूसरे देशो मे सम्पत्ति अथवा जायदाद खरीदकर, विदेशी कम्पनियो के हिस्से खरीद कर या विदेशी सरकारी तथा औद्योगिक सस्थाओं को ऋण के रूप अपनी बहुत अधिक पूँजी का विनियोग किया था। जब कभी भी इगलैंड द्वारा इस प्रकार विनियोग की गयी पूँजी पर ब्याज अथवा लाभ देना हो या पूँजी ही लौटानी होती है तो विदेशी इस कार्य के लिए पौंड की माग करते हैं। इसी प्रकार जब कोई विदेशी इगलैंड अथवा किसी अन्य देश मे अपनी पूँजी का विनियोग करना चाहता है तो उस देश की मुद्रा की माग करता है। इसी प्रकार बहुत-सी विदेशी पूँजी केवल लाभ कमाने के उद्देश्य से सदा एक देश से दूसरे देश मे घूमती-फिरती है। व्यावसायिक मन्दी अथवा राजनीतिक क्रान्ति के समय धनी व्यक्ति सुरक्षा के लिए अन्य देशो मे अपनी पूँजी लगाते हैं। दोनो विश्व-युद्धो के बीच इस प्रकार की बहुत-सी अन्तर्राष्ट्रीय अल्पावधि पूँजी (international short-term capital) या गर्म मुद्रा (hot money) सदा सुरक्षा एव लाभ की खोज मे एक देश से दूसरे देश मे आती-जाती थी। इस प्रकार विदेशी पूँजी तथा इस पर सूद के आदान-प्रदान के लिए भी विदेशी मुद्रा की माग होती है।

(ग) परिकल्पना के उद्देश्य (Speculative motive) से भी विदेशी मुद्रा की माग होती है :—कभी-कभी परिकल्पना के उद्देश्य से भी विदेशी मुद्रा की माग होती है। बहुत से लोग विदेशी मुद्रा के मूल्य मे परिवर्त्तन से लाभ कमाने के लिए सदा इस ताक मे रहते हैं कि किस मुद्रा के विदेशी मूल्य मे थोडा परिवर्त्तन हो जिससे कि वे लोग लाभ कमा सकें। कभी-कभी लोगो के मन मे अकारण ही यह आशका उत्पन्न हो सकती है कि अन्य मुद्राओ के मुकाबले रुपये का विनिमय मूल्य अधिक होने जा रहा है, तो ऐसी स्थिति मे विदेशी विनिमय-बाजार मे रुपये की माग बढ जायगी। इसी प्रकार किसी कारणवश यदि यह आशका उत्पन्न हो जाय कि रुपये का

विनिमय मूल्य अन्य मुद्राओं के रूप में गिर रहा है तो लोग इसे बदलना प्रारम्भ कर देते हैं। इस प्रकार विनिमय मूल्य में परिवर्तन से लाभ कमाने के उद्देश्य से भी विदेशी मुद्रा की माग होती है।

प्रत्येक विदेशी विनिमय को इन तीनों में से किसी एक श्रेणी में रखा जा सकता है यानी विदेशी विनिमय-सम्बन्धी लेन-देन या तो वस्तुओं अथवा सेवाओं के मूल्यों को चुकाने के लिए या विदेशों में विनिमय करने अथवा विदेशी प्रतिभूतियों को खरीदने के लिए या विनियोग-दर में परिवर्तन से लाभ कमाने के लिए परिकल्पना के उद्देश्य से की जाती है। इन तीनों प्रकार के लेन देन में से पहले की अपेक्षा दूसरे और तीसरे की प्रकृति कुछ भिन्न है। जब रुपया डॉलर में पूँजी के विनियोग के लिए बदला जाता है तो पूँजी पर ब्याज तो देना ही पड़ता है। साथ ही, पूँजी की रकम को भी एक दिन वापस करना ही पड़ता है। दूसरे शब्दों में, विदेशों में विनिमय किया गया रुपया कई सूरतों में देश के भीतर आता है, यानी पूँजी का विनियोग प्रत्यावर्तक (self-reversing होता है। इसके परिणामस्वरूप सदा विपरीत दिशा में भुगतान होता है। अतएव, मुद्रा के विदेशी मूल्य पर इनका प्रभाव स्थायी नहीं होकर सदा अस्थायी होता है। इसी प्रकार परिकल्पना सम्बन्धी लेन-देन भी प्रत्यावर्तक होते हैं। जब कोई फाटकेबाज (peculator) परिकल्पना के उद्देश्य से किसी विदेशी मुद्रा को खरीदता है तो वह उसे बेचकर ही लाभ कमाता है। इस प्रकार परिकल्पना के काम में भी दुहरे कारोबार की प्रवृत्ति पायी जाती है। अतएव उपरोक्त तीन श्रेणियों में से केवल व्यवसाय की श्रेणी ही प्रत्यावर्तक नहीं होती है।

विदेशी मुद्रा-सम्बन्धी लेन-देन की इन विभिन्न श्रेणियों में इस अन्तर का विनिमय दर के निर्धारण में बहुत महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। जहाँ तक विनिमय-दर में दैनिक परिवर्तन का सम्बन्ध है इस पर इन तीनों प्रकार के लेन-देन का प्रभाव पड़ता है, किन्तु पूँजी एवं परिकल्पना-सम्बन्धी लेन-देन प्रत्यावर्तन होते हैं। अतएव मुद्रा के दीर्घकालीन एवं स्थायी मूल्य के निर्धारण में इनका प्रभाव नहीं पड़ता। इसी प्रकार मुद्रा के मूल्य में दीर्घकालीन एवं स्थायी परिवर्तनों के कारणों की विवेचना में हमें केवल व्यवसाय (Trade) यानी वस्तुओं तथा सेवाओं के लिए लेन-देन पर ही विचार करना होगा। यदि हम इस बात का पता लगा सकें कि कोई देश अपनी वस्तुओं तथा सेवाओं के लिए जो मूल्य पाता है तथा वस्तुओं एवं सेवाओं से आयात के लिए जो विदेशों को मूल्य चुकाता है उन अदायगियों का आकार किस प्रकार से निश्चित होता है तो विभिन्न मुद्राओं के मूल्य के स्रोत के सम्बन्ध में पता लगा सकते हैं। वास्तव में, इन अदायगियों के आधार पर टैरिफ एवं चुंगी कर (Tariff and Custom duties) वस्तुओं एवं सेवाओं के मूल्य, यातायात व्यय तथा अन्य बहुत-सी बातों का प्रभाव पड़ता है जिनकी व्याख्या हम विनिमय दर के निर्धारण के अन्तर्गत करेंगे।

विनिमय की समता

(Par of Exchange)

अभी-अभी हमने यह देखा है कि विनिमय की दर विदेशी मुद्रा की माग एवं इसकी पूर्ति की पारस्परिक शक्तियों द्वारा निर्धारित होती है। जब कभी विदेशी मुद्रा की माग इसकी पूर्ति के बराबर होती है तब विनिमय की दर साम्य (Parity) पर होती है और विनिमय की दर को विनिमय की समता (Par of Exchange) कहते हैं। परन्तु यदि विदेशी मुद्रा की पूर्ति इसकी माग से अधिक है या देशी मुद्रा की माग इसकी पूर्ति से अधिक है तब विदेशी मुद्रा का मूल्य साम्य दर (Parity) से कम हो जायगा या देशी मुद्रा का मूल्य साम्य दर से ऊँचा हो जायगा। दूसरे शब्दों में, यदि विदेशी मुद्रा की पूर्ति अधिक और माग कम है, तब विनिमय की दर गिरेगी अर्थात् विदेशी मुद्रा का मूल्य विनिमय-दर की समता (Par of Exchange) से कम हो जायगा और इस स्थिति में विदेशी मुद्रा को खरीदने के लिए हमको पहले की अपेक्षा उतनी मुद्राएँ कम देनी पड़ेगी। इसके विपरीत, यदि विदेशी मुद्रा की माग इसकी पूर्ति से अधिक है, तब विदेशी मुद्रा का मूल्य विनिमय-दर के साम्य (Par of Exchange) से ऊँचा हो जायगा अथवा विनिमय की दर ऊँची हो जायगी। इस स्थिति में विदेशी मुद्रा खरीदने के लिए हमको पहले की अपेक्षा अधिक मात्रा में अपनी मुद्रा देनी पड़ेगी।

अब हमें यहाँ पर यह देखना है कि विदेशी विनिमय की दर (Rate of Exchange) किस

सीमा तक साम्य (Parity) से ऊपर उठ सकती है या किस सीमा तक नीचे गिर सकती है। विनिमय की दर मे साम्य दर के नीचे या ऊपर क्रमश. घट-बढ की कुछ सीमाएँ (Limits) अवश्य होती हैं, परन्तु ये सीमाएँ (Limitations) विभिन्न परिस्थितियो मे भिन्न-भिन्न होती हैं। किन्तु विनिमय की साम्य-दर (Par of Exchange) स्वय भी विभिन्न परिस्थितियो मे भिन्न-भिन्न प्रकार से निश्चित होती है अर्थात् देश मे प्रचलित मुद्रा-मान के अनुसार ही विनिमय की साम्य दर भी भिन्न भिन्न प्रकार से निश्चित की जाती है। अतः हम विनिमय की दर के निर्धारण की समस्या का अध्ययन दो भिन्न-भिन्न परिस्थितियो के अन्तर्गत करते हैं —

(i) जब दो देशो मे स्वर्ण-मान (Gold Standard) का प्रचलन रहता है, एव
(ii) जब दोनो देशो मे अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा (Inconvertible Paper Currency) का प्रचलन रहता है।

स्वर्ण-मान वाले देशो मे विनिमय दर

(Rate of Exchange in the Gold Standard Countries)

या

टकसाली समता सिद्धान्त

(Mint Par Parity Theory)

जब दो देशो मे स्वर्ण मान का प्रचलन रहता है, तब इन देशो मे या तो सोने के सिक्के (Gold coins) का प्रचलन रहता है या देश की मुद्रा की एक इकाई (Currency Unit) एक निश्चित दर पर स्वर्ण मे परिवर्तनीय होती है या देश की मुद्रा को एक ऐसे देश की मुद्रा मे परिवर्तन कर दिया जाता है जो स्वर्ण मे परिवर्तनीय होती है। स्वर्ण-मान वाले देशो मे स्वर्ण के आयात-निर्यात पर भी कोई प्रतिबन्ध अथवा रुकावट नही रहती है। इससे स्वर्ण-मान वाले देशो मे विनिमय दर का निर्धारण बहुत ही सरल होता है।

जब दो देश की मुद्राएँ स्वर्ण पर आधारित होती हैं, तब इन दोनो देशो की मुद्राओ का स्वर्ण के साथ एक निश्चित दर पर सम्बन्ध रहता है। अतएव इन दोनो स्वर्ण मान वाले देशो के विनिमय की दर इनकी मुद्रा मे निहित स्वर्ण की मात्रा (Gold Contents) के द्वारा निश्चित होती है। दूसरे शब्दो मे स्वर्ण-मान वाले देशो की मुद्राओ की विनिमय-दर स्वर्ण के रूप म उनकी मुद्रा की क्रय शक्ति पर निर्भर करती है। उदाहरण के लिए, यदि 1 डॉलर मे 1 ग्रेन शुद्ध स्वर्ण है और एक रुपये मे 1/ ग्रेन शुद्ध स्वर्ण है तो डॉलर एव रुपये की विनिमय दर होगी 1 डॉलर=5 रुपये। इस प्रकार दो देशो की मुद्राओ मे स्वर्ण की मात्रा के आधार पर जो विनिमय दर तय होती है, उसे "**विनिमय की टकसाली दर**' या '**टंक समता दर**" (Mint par of Exchange) या "**स्वर्ण मूल्य-दर**" (Gold par of Exchange) कहते हैं। सुप्रसिद्ध विद्वान **टॉमस** (Thomas) के शब्दो मे, "**टक समता वह अनुपात है जो एक ही धात्विक मुद्रा-मान पर आधारित दो राष्ट्रों की प्रामाणिक मौद्रिक इकाइयो के वैधानिक धातु साम्य से व्यक्त होती है।**" (Mint par is an expression of the ratio between the statutory bullion equivalents of the standard monetary units of two countries on the same metallic standard) उक्त वाक्य मे वैधानिक (Statutory) शब्द को भली प्रकार से समझ लेना चाहिए। स्वर्ण-मान पर आधारित राष्ट्रो की मुद्रा के 'वैधानिक विशुद्ध स्वर्ण-मूल्य" से ही टक समता निश्चित की जाती है न कि उनके ',वास्तविक-मूल्य" से। जब तक विधान मे परिवर्तन नही होता, टक समता मे भी परिवर्तन नही होता है। इसलिए **क्लेयर और कैम्प** ने भी कहा है —The Mint Par depends, in short, not on the coin itself, but on the legal definition of it, not on the sovereign de facto but on the sovereign dejure, unless and until the law is altered, the mint par cannot alter" अत टक समता का अभिप्राय है —विशुद्ध स्वर्ण-मान वाले देशो मे एक देश की स्वर्ण-मुद्रा का दूसरे देश की मुद्रा के विशुद्ध स्वर्ण के रूप मे मूल्य। विनिमय दर की दीर्घकालीन प्रवृत्ति इस टक समता के बराबर होने की होती है, यद्यपि समय-समय पर वास्तविक विनिमय-दर इस टक से कुछ कम या कुछ अधिक भी हो सकती है।

टंक-समता का निर्धारण (Determination of the Mint Par of Exchange) .— स्वर्ण मान के अन्तर्गत देश की प्रामाणिक मुद्रा का स्वर्ण मूल्य कानून द्वारा निश्चित किया जाता है। इस स्वर्ण-मूल्य से ही हम विशुद्ध स्वर्ण का मूल्य मालूम करते हैं और इसके आधार पर टक समता (Mint Par of Exchange) मालूम करते हैं।

मानलिया कि हमे अमेरिका एव इगलैड के बीच विनिमय की दर मालूम करनी है। इन दोनो देशो मे स्वर्ण मान प्रचलित है तो सर्वप्रथम हम इन मुद्राओ के स्वर्ण-मूल्य को मालूम करेंगे। अब मानलिया कि 1 अग्रेजी पौंड (सॉवरन) मे 123·274 ग्रेन स्वर्ण $\frac{11}{12}$ भार शुद्धता (Fineness) का होता है। इसलिए 1 पौंड मे $\frac{123\ 274 \times 11}{12}$ अर्थात् 113 00016 ग्रेन विशुद्ध स्वर्ण होगा।

दूसरी ओर अमेरिका का सिक्का ईगल (Eagle) है जिसमे 10 डॉलर होते हैं। 1 ईगल मे 258 ग्रेन स्वर्ण $\frac{9}{10}$ भाग शुद्धता (Fineness) का होता है, इस प्रकार 10 डॉलर मे 258 ग्रेन $\frac{9}{10}$ भाग शुद्धता का स्वर्ण रहता है, यानी 10 डॉलर मे $\frac{258 \times 9}{10} = 232\ 2$ ग्रेन विशुद्ध स्वर्ण होता है। अतएव 1 डॉलर मे $\frac{232\ 2}{10} = 23\ 22$ ग्रेन विशुद्ध स्वर्ण रहता है। पुन जबकि 23 22 ग्रेन विशुद्ध स्वर्ण 1 डॉलर के बराबर होता है तथा 113 0016 ग्रेन विशुद्ध स्वर्ण एक पौंड के बराबर होता है, अतएव एक पौंड = $\frac{113\ 006 \times 1}{2322}$ डॉलर अर्थात् एक पौंड = 4 8665 डॉलर के बराबर होगा। इस प्रकार पौंड एव डॉलर मे टक-समता (Sterling-Dollar Mint Par of Exchange) *1 पौंड = 4 8665 डॉलर होगी।*[1]

इसका अर्थ यह हुआ कि इगलैंड और अमेरिका के बीच जब तक विनिमय सम-भाव (Exchange at Par) हैं तब तक न्यूयार्क के आयातकर्त्ता को न्यूयार्क मे 4 8665 डॉलर देने पर लन्दन में 1 पौंड मिल सकेगा। इसी तरह इगलैंड का एक व्यापारी लन्दन मे 1 पौंड देकर अमेरिका मे 4 8665 डॉलर का भुगतान कर सकेगा।

टंक-समता मे परिवर्तन और स्वर्ण-बिन्दु (Variations from the Parity and the Specie Points) :—स्वर्ण-मान वाले देशो मे विनिमय दर की दीर्घकालीन प्रवृत्ति टक-समता (Mint Par of Exchange) के बराबर होने की होती है, किन्तु व्यवहार मे विनिमय की दर टक-समता (Mint Par) से कभी ऊपर तो कभी नीचे रहती है। किन्तु ऐसा क्यो होता है? इसका कारण स्पष्ट है। हम जानते हैं कि किसी भी समय विशेष मे विनिमय की दर विदेशी मुद्रा की माग एव पूर्ति की *सापेक्षिक शक्तियो द्वारा निर्धारित होती है।* अत इनकी माग एव पूर्ति के परिवर्तन से इनका मूल्य टक समता से कभी ऊपर तथा कभी नीचे होते रहना है। दूसरे शब्दो मे, स्वर्ण मान के अन्तर्गत की विनिमय की दर म व्यापार की प्रगति एव इसके फलस्वरूप मुद्रा की माग एव पूर्ति मे परिवर्तन के अनुसार सदैव परिवर्तन (Variation) होते रहता है। किन्तु विनिमय-दर का यह उतार चढाव उच्चतम स्वर्ण-बिन्दु (Upper Gold Point) एव निम्नतम स्वर्ण-बिन्दु (Lower Gold Point) के बीच सीमित रहता है।

जब दो देश स्वर्ण मान पर आधारित होते हैं और स्वर्ण एक स्थान से दूसरे स्थान को बिना किसी रोक टोक के भेजा जा सकता है, तब विनिमय की दर मे उतार-चढाव की सीमा स्वर्ण के भेजने में जो व्यय होता है (पैकिंग, काटिंग, जहाज का व्यय, बीमा का व्यय तथा अन्य छोटे-छोटे व्यय आदि) उससे निश्चित होती है। किसी समय टक समता की दर में स्वर्ण भेजने के लिए जो व्यय

[1] पौंड डॉलर की यह टक समता 1 पौंड = 4 8665 डॉलर तबतक ही है जबकि विधान के अनुसार एक पौंड में 123·0016 ग्रेन विशुद्ध स्वर्ण और एक डॉलर में 23·22 ग्रेन विशुद्ध स्वर्ण हैं। यदि कानून द्वारा पौंड और डॉलर में विशुद्ध स्वर्ण की मात्रा बदल दी जाय, तब इस टक समता में भी परिवर्तन हो जायगा।

(cost of transmitting Gold) होता है, उसे जोड़ देने पर हम विनिमय दर की उच्चतम सीमा (Upper Limit) प्राप्त करते हैं और, इसी तरह टंक-समता की दर में स्वर्ण भेजने के व्यय को घटा देने से विनिमय की दर की निम्नतम सीमा (Lower Limit) प्राप्त होती है। एक उदाहरण द्वारा इसे स्पष्ट किया जा सकता है। मानलिया, इंगलैंड एवं भारत के बीच व्यापार हो रहा है और भुगतान संतुलन भारत के प्रतिकूल है। अर्थात भारत में पौंड की माँग उसकी पूर्ति से अधिक है। ऐसी स्थिति में भारत की मुद्रा का मूल्य कम हो जायगा और इंगलैंड की मुद्रा का मूल्य बढ़ जायगा। मानलिया, भारत एवं इंगलैंड के बीच टंक समता दर (Mint Par of Exchange) 1 पौंड=15 रुपये है तथा भारत से इंगलैंड को 15 रुपये का स्वर्ण भेजने या मगाने का व्यय 0·4 रुपये है। अब प्रतिकूल भुगतान संतुलन के समय भारतीय व्यापारियों को इंगलैंड के व्यापारियों की रकम का भुगतान करने के लिए 1 पौंड के बदले में 15 रुपये से अधिक देना पड़ेगा। परन्तु भारत का कोई भी व्यापारी इंगलैंड में 1 पौंड का भुगतान करने के लिए अधिक-से-अधिक कितना रुपया देने के लिए तैयार होगा? इंगलैंड में 1 पौंड का भुगतान करने के लिए भारत का कोई व्यापारी भारत में अधिक-से-अधिक टंक-समता की दर+सोना भेजने का व्यय, यानी (15+0·4=15·4) रुपये तक ही देने के लिए तैयार होगा। अब यदि भारत में उसे 1 पौंड खरीदने के लिए 15·4 रुपये से अधिक देना पड़ेगा तो वह पौंड नहीं खरीद कर स्वयं स्वर्ण खरीद कर इंगलैंड भेज देगा क्योंकि उसकी दृष्टि में अब इंगलैंड में स्वर्ण भेजना लाभदायक है। इससे स्पष्ट है कि भारत से सोना का निर्यात तब आरम्भ होता है जबकि इंगलैंड में 1 पौंड का भुगतान करने के लिए किसी व्यापारी को 15·4 रुपये से अधिक रकम देनी पड़ती है। दूसरे शब्दों में 1 पौंड=15·4 रुपये की सीमा वह सीमा है जिससे अधिक वास्तविक विनिमय-दर होने पर स्वर्ण भारत से इंगलैंड की ओर जाने लगेगा। भारत की दृष्टि से यह सीमा स्वर्ण निर्यात बिन्दु या उच्चतम स्वर्ण-बिन्दु (Gold export Point or Upper Gold Point) और इंगलैंड की दृष्टि से स्वर्ण आयात-बिन्दु या न्यूनतम स्वर्ण-बिन्दु (Gold Import Point or Lower Gold point हुई। अतएव, विनिमय की उच्चतम सीमा या उच्चतम स्वर्ण बिन्दु के (Upper Specie Point) के बराबर है टंक समता की दर+स्वर्ण-परिवहन व्यय (Cost of Transmitting Gold)। यह वह दर है जिससे अधिक विनिमय-दर होने पर एक देश (भारत) से दूसरे देश (इंगलैंड) में स्वर्ण का निर्यात होने लगेगा।

इसी प्रकार स्वर्ण-मान के अन्तर्गत विनिमय दर की एक न्यूनतम सीमा (Lower Limit) भी होती है। यह सीमा टंक-समता की दर में से स्वर्ण के मँगाने के लिए जो कुछ व्यय होता है उसे घटा देने से मालूम होती है। एक उदाहरण द्वारा इसे अधिक स्पष्ट किया जा सकता है। उक्त उदाहरण के आधार पर हम यह मान लेते हैं कि भुगतान का संतुलन भारत के अनुकूल एवं इंगलैंड के प्रतिकूल है। इसका अर्थ यह हुआ कि इंगलैंड में इंगलैंड के व्यापारी के रुपये की माग इसकी पूर्ति से अधिक है। ऐसी स्थिति में इंगलैंड की मुद्रा का मूल्य कम हो जायगा और भारत की मुद्रा का मूल्य अधिक हो जायगा। दूसरे शब्दों में, इंगलैंड के व्यापारी को भारत में 15 रुपये का भुगतान करने के लिए पहले अधिक पौंड खर्च करने पड़ेंगे, यानी इंगलैंड में इंगलैंड के व्यापारी को प्रति पौंड पहले से कम रुपया प्राप्त होगा क्योंकि अब पौंड का मूल्य कम और रुपये का मूल्य अधिक हो गया है। पहले की ही तरह हम यहाँ पर भी यह मान लेते हैं कि इंगलैंड और भारत के बीच टंक-समता की दर (Mint Par of Exchange) है 1 पौंड=15 रुपये और इंगलैंड और भारत को 1 पौंड का स्वर्ण भेजने या मंगाने का व्यय 1 शिलिंग है। (यह बात मान ली गयी है कि 1 शिलिंग=0·4 रुपये के) चूंकि भारत में इस समय अनुकूल भुगतान संतुलन है, इसलिए इंगलैंड के व्यापारियों को भारत के व्यापारियों को भुगतान करना है। इंगलैंड में प्रतिकूल भुगतान संतुलन होने के कारण पौंड का रुपये के रूप में मूल्य कम हो गया है जिससे इंगलैंड के व्यापारी को भारत में 15 रुपये का भुगतान करने के लिए अब 1 पौंड से अधिक रकम व्यय करनी पड़ेगी। किन्तु भारत में, 15 रुपये का भुगतान करने के लिये इंगलैंड का कोई भी व्यापारी अधिक से-अधिक टंक-समता की दर+सोना भेजने का व्यय अर्थात 1 पौंड+1 शिलिंग देने के लिए तैयार होगा। परन्तु यदि उसे इंगलैंड में 15 रुपये प्राप्त करने के लिए 21 शिलिंग से अधिक की रकम देनी पड़ती है तब वह बजाय रुपया खरीद कर भुगतान करने के,

स्वय सोना खरीद कर भारत को भेज देगा क्योकि यह कार्य उसके लिए अपेक्षाकृत अधिक लाभदायक रहेगा।

इससे स्पष्ट है कि इगलैंड से स्वर्ण का निर्यात तब ही आरम्भ होगा जबकि भारत मे 15 रुपये भुगतान के लिए इगलैंड के व्यापारी को 21 शिलिंग से अधिक की रकम व्यय करनी पडती है और, चूंकि यह मान लिया गया है कि 1 शिलिंग बराबर है 0 4 रुपये के, अतएव 1 पौंड = 14 96 रुपये के वह सीमा है जिससे कम विनिमय दर हो जाने पर स्वर्ण का इगलैंड से भारत को निर्यात होने लगेगा। इस सीमा (या विन्दु) या निम्नतम स्वर्ण विन्दु को हम निम्नतम स्वर्णांक (Lower Gold Point or Lower Specie Point) कहते हैं। अत किसी समय पर विनिमय दर की निम्नतम सीमा या निम्नतम स्वर्णांक = टक-समता की दर—स्वर्ण परिवहन व्यय और यह वह दर है जिससे कम विनिमय की दर होने पर स्वर्ण एक देश (इगलैंड से दूसरे देश (भारत) को जाने लगता है।

अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा वाले देशों में विनिमय की दर

(Rate of Exchange in the case of Inconvertible Paper Currencies)

जब दो देशो मे अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा (Inconvertible Paper Currencies) का प्रचलन रहता है तो इनकी विनिमय-दर के निर्धारण मे कुछ कठिनाई होती है। पत्र-मुद्रा वाले देशो की मुद्राओ की विनिमय-दर स्वर्ण बिन्दुओ (Gold points) द्वारा मर्यादित नही होती है, क्योकि आजकल पत्र-मुद्राओ का धातुओ से प्राय. कोई सम्बन्ध नही रहता। अतएव इन देशो की मुद्राओ की विनिमय-दर इनकी माग एव पूर्ति द्वारा निश्चित होती है। किन्तु इनकी विनिमय-दर पर इन देशो की मुद्राओ की क्रय-शक्ति (Purchasing Power) का भी प्रभाव पडता है। अतएव जब दो देशो मे अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा का प्रचलन रहता है तो ऐसी स्थिति मे किसी एक देश की मुद्रा के मूल्य की तुलना किसी दूसरे देश की मुद्रा से करने के लिए हम दोनो मुद्राओ की क्रय शक्ति का उपयोग करते हैं। दूसरे शब्दो मे, अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा (Inconvertible Paper Currency) वाले देशो की विनिमय-दर उनकी क्रय शक्ति साम्य (Purchasing Power Parity) पर निर्भर करती है। अतएव इस प्रकार के मुद्रावाले देशो की विनिमय-दर के निर्धारण मे इनकी सापेक्षिक क्रय-शक्ति का बहुत अधिक महत्त्व रहता है।

क्रय-शक्ति-साम्य सिद्धान्त

(Purchasing Power Parity Theory)

परिभाषा :— क्रय-शक्ति-साम्य सिद्धात का उल्लेख उन्नीसवी शताब्दी मे भी कुछ विद्वानो ने किया था, किन्तु प्रथम महायुद्ध के बाद जब यूरोप मे अधिस्फीति की समस्या गम्भीर हो गयी थी, तो स्वीडेन के सुप्रसिद्ध अर्थशास्त्री गुस्तव कैसल (Gustav Cassel) एव केन्स (Keynes),[1] आदि अर्थशास्त्रियो ने मुद्राओ की विनिमय-दर एव राष्ट्रीय मूल्य-तल के परिवर्तन के पारस्परिक सम्बन्धो की व्याख्या के लिए क्रय-शक्ति समता सिद्धात का प्रयोग किया। प्रथम विश्व युद्ध के बाद स्वर्ण मान के पुनर्स्थापित हो जाने से यह सिद्धात बहुत अधिक लोकप्रिय हो गया था।

क्रय-शक्ति साम्य सिद्धान्त के अनुसार दो अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा वाले देशो मे विनिमय की दर इन देशो के मूल्य-स्तर (Price Level) के पारस्परिक सम्बन्धो द्वारा निश्चित होती है। मूल्य स्तरो के पारस्परिक सम्बन्धो के आधार पर निश्चित होनेवाली विनिमय की दर को क्रय-शक्ति साम्य (Purchasing Power Parity) कहते हैं। **इस सिद्धांत की व्याख्या भिन्न-भिन्न लेखकों ने इस प्रकार की है :—**

गुस्तव कैसेल (Gustav Cassel) के अनुसार, **"दो मुद्राओं की विनिमय की दर इनकी आन्तरिक क्रय-शक्ति के भागफल (Quotient) पर निर्भर करती है।"** (The Rate of Exchange between two currencies must stand essentially on the quotient of the internal purchasing powers of the currencies.)

1. केन्स के अनुसार 'Purchasing Power Parity' शब्द का प्रयोग पहले पहल 1918 ई० में गुस्तव कैसेल द्वारा Economic Journal में प्रकाशित एक निबन्ध में किया गया था।

प्रो० जी० डी० एच० कोल (G D H Cole) के अनुसार, 'राष्ट्रीय मुद्राओं का पारस्परिक मूल्य, जो स्वर्ण मान को नहीं अपनाये हुए हैं, दीघकाल में विशेषत वस्तुओं एव सेवाओं के रूप में उनको क्रय शक्ति द्वारा निश्चित होता है।" (The relative values of national currencies epecially when they are off the Gold Standard in the long run, are determined by their relative purchasing powers in terms of goods and services)

इसी प्रकार टॉमस (Thomas) ने इस सिद्धात की व्याख्या इन शब्दो मे की है—"एक देश की मुद्रा का मूल्य दूसरे देश की मुद्रा के रूप मे किसी विशेष समय पर बाजार की माग एव पूर्ति की दशाओ द्वारा निर्धारित होता है। दीर्घकाल मे यह मूल्य उन देशो की मुद्राओ के सापेक्षिक मूल्य (Relative values) द्वारा निश्चित होता है, जबकि उन देशो की मुद्रा की क्रय-शक्ति अपने-अपने देश की वस्तुओ एव सेवाओ के रूप में होती है। दूसरे शब्दो मे, विनिमय दर मे उसी बिन्दु पर स्थिर होने की प्रवृत्ति पायी जाती है जहां दोनो देशो की मुद्राओ की क्रय-शक्ति समान होती है। इस बिन्दु को ही क्रय-शक्ति-साम्य कहते है।' (While the value of the unit of one currency in term of another currency is determined at any particular time by the market conditions of demand and supply, in the long run, the value is determined by the relative value of the two currencies as indicated by their relative purchasing power over goods and services in their respective countries In other words, the Rate of Exchange tends to rest at that point which expresses equality between the respective purchasing powers of the two currencies This point is called the Purchasing Power Parity)

क्रय-शक्ति साम्य सिद्धान्त की व्याख्या —क्रय शक्ति-साम्य सिद्धान्त के अनुसार अपरिवर्तनीय पत्र मुद्रा (Inconvertible paper currency) के अन्तर्गत किसी देश की मुद्रा का बाह्य-मूल्य निश्चित रूप से अन्य देशो की मुद्राओ की क्रय-शक्ति की तुलना मे उस देश की मुद्रा की आन्तरिक क्रय शक्ति पर निर्भर करता है। दूसरे शब्दो मे, इस प्रकार की मौद्रिक व्यवस्था वाले देशो मे विनिमय की दर विभिन्न देशो की मुद्राओ की सापेक्षिक क्रय-शक्ति पर निर्भर करती है।

उदाहरण के लिए, रुपये एव डॉलर की विनिमय-दर निम्न प्रकार से व्यक्त की जा सकती है:—

(क) यदि भारत मे 1 रुपया मे 1 कि० ग्राम चीनी खरीदता है, और

(ख) अमेरिका मे 1 डॉलर में 5 कि० ग्राम चीनी खरीदता है,

तो इससे स्पष्ट है कि डॉलर की क्रय-शक्ति रुपये से पांच-गुनी अधिक है अतएव, रुपये एव डॉलर की विनिमय-दर होगी 1 डॉलर=5 रुपये।

गुस्तव कैसेल (Gustav Cassel) के अनुसार विनिमय दर ठीक उसी अनुपात मे बढेगी जिस अनुपात में अन्य देशो की अपेक्षा मूल्य स्तर कम होगा अथवा विनिमय दर ठीक उसी अनुपात मे कम होगी जिस अनुपात में अन्य देशो की अपेक्षा मूल्य-तल बढेगा। उदाहरण के लिए यदि ब्रिटेन का मूल्य तल दुगुना हो जाय और अन्य देशो के मूल्य-तल मे कोई परिवर्तन नही हो तो पौंड की नयी सतुलन बाह्य कीमत अपनी कीमत की अपेक्षा आधी हो जायगी। कैसेल ने यह कहा कि मूल्य-तल के परिवर्तन का प्रभाव विनिमय दर पर पडता है, किन्तु विनिमय दर का स्थायी रूप से मूल्य तल पर कोई प्रभाव नही पडता।

एक उदाहरण द्वारा इसे अधिक स्पष्ट किया जा सकता है—मानलिया कि डॉलर एवं पौंड की विनिमय दर 4 डॉलर = 1 पौंड की है। अब मान लीजिये कि सयुक्त राज्य अमेरिका मे मूल्य-तल दुगुना हो जाता है तथा ब्रिटेन का मूल्य तल तिगुना हो जाता है। इस प्रकार अमेरिका का मूल्य सूचनाक 200 तथा ब्रिटेन का मूल्य सूचनांक 300 हो गया है, इसके परिणामस्वरूप डॉलर की क्रय-शक्ति आधी तथा पौंड की क्रय शक्ति एक-तिहाई ही गयी। ऐसी स्थिति मे क्रय शक्ति-समता सिद्धात के अनुसार डॉलर एव पौंड की विनिमय-दर 2 66 डॉलर = 1 पौंड हो जायगी।

ऐसा नहीं होने से दोनों देशों के बीच व्यापार का संतुलन अस्त-व्यस्त हो जायगा। इसे इस प्रकार से भी व्यक्त किया जा सकता है :—

$$\text{विदेशी विनिमय-दर} = \text{आधार वर्ष मे विदेशी मुद्रा का देशी मुद्रा के रूप मे मूल्य} \times \frac{\text{आंतरिक मूल्य-सूचनांक}}{\text{विदेशी मूल्य सूचनांक}}$$

हमलोगो के उदाहरण मे विदेशी मुद्रा (इंगलैंड के पौंड) का आतरिक मुद्रा के रूप मे मूल्य 4 डालर है तथा आतरिक मूल्य-सूचनाक 200 एव विदेशी मूल्य सूचनाक 300 है;

$$\text{अतएव विदेशी विनिमय-दर} = 1 \text{ पौंड} = 4 \text{ डॉलर} \times \frac{200}{300}$$

$$= 2\text{.}66 \text{ डॉलर}$$

इस प्रकार पौंड एवं डॉलर का विनिमय-दर 1 पौंड = 2.66 डॉलर होगी।

क्रय-शक्ति साम्य सिद्धात उन्हीं देशो के साथ लागू होता है जिनमे अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा (Inconvertible paper currencies) का प्रचलन रहता है। स्वर्ण-मान अथवा रजत मान-वाले देशो मे विनिमय की दर इनकी टकसाली समता के आधार पर निश्चित होती है। टकसाली समता तथा क्रय शक्ति समता के बीच अतर यह है कि जब कि टकसाली समता पूर्व निश्चित होती है, क्रय शक्ति समता के अनुसार सम्बन्धित देशो मे मूल्य-तल मे परिवर्तन के अनुसार परिवर्तन होते रहता है। दूसरे शब्दो मे रोज-ब-रोज की विनिमय-दर मे देश की मुद्रा की मांग तथा पूर्ति के अनुसार परिवर्तन होते रहता है और इस प्रकार के परिवर्तन की सीमाएं वस्तुओ के परिवहन व्यय, निर्यात एव आयात कर, बीमा तथा बैंकिंग सेवाओ का व्यय, इत्यादि के द्वारा निर्धारित होती है। विनिमय-दर के परिवर्तनों की इन सीमाओं को निर्यात विन्दु (Commodity Export Point) तथा आयात विन्दु (Commodity Import Point) कहते है, किन्तु ये सीमाएं टकसाली समता सिद्धात के अन्तर्गत के स्वर्ण-विन्दुओं की तरह निश्चित नहीं होती हैं। निम्न चित्र द्वारा क्रय-शक्ति समता सिद्धांत के अन्तगत सामान्य विनिमय-दर तथा इसमे परिवर्तन की सीमाओं को दिखलाया गया है—
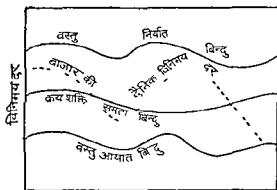
विदेशी विनिमय बाजार मे माग एव पूर्ति

युद्ध के बाद गुस्तव कैसेल तथा केन्स आदि अर्थशास्त्रियो ने क्रय-शक्ति साम्य सिद्धात का प्रयोग यह दिखलाने के लिए किया था कि यूरोप के अधिकाश देशो की मुद्राओ की विदेशी विनिमय-दर में कमी का प्रधान कारण युद्धोत्तर कालीन मुद्रा स्फिति थी। यह सिद्धात आतरिक एव विदेशी मूल्य मे असतुलन तथा उसके प्रभाव को बतलाने मे भी बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण है। मुद्रा का अधिमूल्यन (Over-valuation) एव अवमूल्यन (Under-valuation) क्रय-शक्ति साम्य पर निर्भर करता है। अधिमूल्यन का अर्थ यह है कि मुद्रा का बाह्य मूल्य इसकी क्रय शक्ति से

अधिक रखा गया है और अवमूल्यन (Under-valuation) का अर्थ यह है कि मुद्रा का बाह्य मूल्य इसकी क्रय-शक्ति से कम रखा गया है। क्रय-शक्ति-साम्य सिद्धात (Purchasing Power Parity Theory) का उस समय यूरोपीय राष्ट्रों की नीति पर बड़ा ही महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ा। उन दिनों केन्द्रीय यूरोप के प्रायः प्रत्येक देश का बजट असतुलित होता था, इनकी पत्र-मुद्रा की मात्रा बढती जा रही थी तथा मूल्य-स्तर निरन्तर बढते जा रहा था। ऐसी स्थिति मे इन देशो की सरकारो ने यह दलील देना प्रारम्भ किया कि जब तक विनिमय-दर के ह्रास को नही रोका जायगा तब तक बजट को सतुलित करना एव पत्र-मुद्रा के विस्तार को रोकना असम्भव है, किन्तु कैसेल के अनुसार इनके लिए पहली आवश्यकता इस बात की थी कि इनके बजट को सतुलित किया जाय क्योकि इसी उपाय से पत्र-मुद्रा के विस्तार को रोका जा सकता था।

क्रय-शक्ति-साम्य सिद्धांत की आलोचनाएँ

(Criticisms of the Purchasing Power-Parity Theory)

कैसेल (Cassel) के क्रय-शक्ति-साम्य सिद्धात को उस समय के अर्थशास्त्रियो ने स्वीकार कर लिया। वास्तव मे, उस समय की घटनाओ ने भी कैसेल के कथन को प्रमाणित कर दिया था, किन्तु इस सिद्धात की बहुत-सारी आलोचनाएँ भी दी जाती हैं। इनमे निम्नलिखित आलोचनाए उल्लेखनीय हैं—

(1) तट-कर नीति का प्रभाव (Effects of Tariff Policy)— तट-कर नीति के कारण इस सिद्धात मे आवश्यक सशोधन की आवश्यकता पडती है। यदि विदेशी विनिमय-बाजार मे किसी देश की स्थिति अच्छी है, जैसे—अमेरिका, तो यह तट-कर (Tariff) के द्वारा अपनी मुद्रा के विनिमय-मूल्य को ऊँचा रख सकता है। इसका दो मे से कोई एक का अर्थ हो सकता है। जब कोई देश अपने तट-कर लगाता है जो दूसरे देशो के तट-कर से प्रभावित नही हो सकता तो उसकी मुद्रा की विनिमय-दर मे आतरिक मूल्य-तल मे वृद्धि हुए वगैर ही वृद्धि हो जायगी या वही प्रभाव तब भी पैदा होगा जबकि विनिमय-दर वही रह जाय और मूल्य-तल बढ जाय। दोनो हालतो मे मुद्रा का विदेशी विनिमय-मूल्य उसकी क्रय-शक्ति अथवा आतरिक मूल्य से भिन्न होगा।

(2) मूल्य-तल में किन-किन वस्तुओं के मूल्य को सम्मिलित किया जाय:—क्रय-शक्ति साम्य सिद्धान्त को समझने के लिए यह जानना अनिवार्य होगा कि मूल्य-तल का क्या अर्थ है क्योकि विदेशी व्यापार करने वालो के लिए सभी प्रकार की कीमतो की जानकारी आवश्यक नही है। उदाहरण के लिए, भारत की अपेक्षा इगलैंड मे मकानो की कीमत सस्ती हो सकती है, किन्तु इस सस्तेपन के कारण क्या लोग भारत मे इगलैंड से मकानो का आयात करेंगे। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि मूल्य-तल के अन्तर्गत केवल उन्ही वस्तुओं के मूल्य पर विचार किया जाय जो वास्तव मे विदेशी व्यापार मे प्रयोग की जाती हैं, क्योकि बहुत-सारी वस्तुएँ ऐसी भी हैं जिनमे विदेशी व्यापार नही होता, किन्तु जिनका मूल्य कम होने पर इनमे विदेशी व्यापार हो सकता है। उदाहरण के लिए, कोयला न तो भारत से ब्रिटेन जाता है और न ब्रिटेन से भारत ही आता है। किन्तु, यदि इगलैंड की अपेक्षा भारत मे कोयला इतना सस्ता हो जाय कि इसे भारत से इगलैंड ले जाने का व्यय देने के बाद भी सस्ता पडे, तो इसमे विदेशी व्यापार प्रारम्भ हो जायगा। अतएव जब हम इस बात की चर्चा करते हैं कि विदेशी विनिमय की दर सापेक्षिक आन्तरिक मूल्य-तल पर निर्भर करता है, तो हमे वैसी वस्तुओ के मूल्य पर भी विचार करना होगा जिनमे वर्तमान समय मे व्यापार नही होता, किन्तु व्यापार हो सकता है।

(3) मूल्य-तल की धारणा स्पष्ट नहीं है:—किन्तु इसीसे कठिनाई समाप्त नहीं हो जाती। पहले हम इस बात की चर्चा कर चुके हैं कि सामान्य मूल्य-तल मे परिवर्तनो को सही-सही मापना बहुत ही कठिन है। सामान्य मूल्य-तल मे परिवर्तन को निर्देशाक के द्वारा मापा जाता है। विभिन्न प्रकार के निर्देशाको मे सबसे उत्तम थोक मूल्यो का निर्देशाक ही है। किन्तु यदि इस आधार पर क्रय-शक्ति की गणना की जाय तो इसमे सेवाएँ तथा अदृश्य व्यापार की अन्य मदो को हम छोड देते हैं। दूसरी ओर, यदि जीवन-स्तर निर्देशाक (Cost of living index) को मानकर चलें तो इसमे भी कई प्रकार के व्यय शामिल होगे—मकान का भाडा जिसका विदेशी व्यापार से प्राय: कोई सम्बन्ध नहीं होता। इस प्रकार मूल्य-तल के इस गोरख-धन्धे से बचने का कोई उपाय

नहीं जान पड़ता। कुछ हद तक वेतन-दर सूचनाक इस कार्य के लिए अच्छा होगा, किन्तु इसमे भी विभिन्न देशो के मजदूर वर्ग की कार्य-क्षमता मे अन्तर होने से इस कार्य मे कई कठिनाई होगी।

(4) अन्तर्राष्ट्रीय पूँजी के प्रवाह का प्रभाव (Influence of International capital movement) :— केन्स (Keynes) ने आगे चलकर इस सिद्धान्त की आलोचना की थी जिसमे उन्होने यह बतलाया था कि यह अन्तर्राष्ट्रीय पूँजी के प्रवाह की उपेक्षा करता है। विनिमय-दर अन्तर्राष्ट्रीय पूँजी के प्रवाह से भी प्रभावित होती है, अतएव इसके कारण भी क्रय-शक्ति समता सिद्धान्त का प्रयोग श्रेयस्कर नहीं है।

(5) विनिमय की दर मे परिवर्तन का मूल्य-तल पर भी प्रभाव पड़ता है .— कैसेल (Cassel) के अनुसार मूल्य-तल मे परिवर्तन का विनिमय-दर पर प्रभाव पड़ता है। किन्तु विनिमय-दर मे परिवर्तन का मूल्य-तल पर प्राय. कोई प्रभाव नहीं पड़ता। परन्तु आलोचकों के अनुसार ऐसा सदा नहीं होता। ऐसा अनुभव हुआ है कि जिस प्रकार मूल्य-तल मे परिवर्तन से विनिमय-दर प्रभावित होती है, ठीक उसी प्रकार विनिमय-दर मे परिवर्तन से मूल्य-स्तर भी अवश्य-मेव प्रभावित होता है। इसे एक उदाहरण से अधिक स्पष्ट किया जा सकता है—मानलिया किन्ही कारणो से इगलैड से बहुत-सी पूँजी फ्रास जा रही है। इस स्थिति मे पौंड का मूल्य फ्रैंक के रूप मे कम हो जायगा तथा फ्रास की वस्तुएँ इगलैड मे महँगी हो जायँगी। मानलिया, यदि इगलैड मे फ्रास से कच्ची सामग्रियो का आयात हो रहा है तो इगलैड मे इन कच्ची सामग्रियो से बननेवाली वस्तुओं की लागत अधिक हो जायगी। चूँकि पौण्ड का मूल्य फ्रैंक के रूप मे कम हो गया है, इसका यह भी अर्थ हुआ कि फ्रैंक का मूल्य पौंड के रूप मे अधिक हो गया है। इसका परिणाम यह होगा कि इगलैड की वस्तुएँ फ्रास मे जाकर सस्ती बिकने लगेंगी जिससे इगलैड का निर्यात फ्रास मे प्रोत्साहित होगा। इस स्थिति मे इगलैड के व्यापारी अधिक लाभ कमाने के लोभ से अपनी वस्तुओ का मूल्य ऊँचा कर देंगे, परन्तु यह मूल्य-वृद्धि उससे कम होगी जितना कि पौंड के मूल्य मे हुई है क्योकि तब ही ब्रिटिश माल फ्रास मे जाकर सस्ता बिक सकेगा। इस उदाहरण से यह स्पष्ट है कि पौंड का फ्रैंक के रूप मे मूल्य कम हो जाने, अर्थात् विनिमय की दर मे परिवर्तन हो जाने के कारण इगलैड की वस्तुओ के मूल्य, यानी मूल्य-तल मे परिवर्तन हुआ है। अत. अलोचको का मत है कि चूँकि क्रय शक्ति-साम्य सिद्धान्त ने इस तथ्य पर ध्यान नहीं दिया है कि विनिमय की दर मे परिवर्तन से आन्तरिक मूल्य-तल मे परिवर्तन होता है, अतएव इनके मतानुसार यह सिद्धान्त अधूरा है।

विनिमय दर मे परिवर्तन का मूल्य-तल पर जो प्रभाव पड़ता है वह विभिन्न देशो मे भिन्न-भिन्न होता है। विनिमय-दर मे परिवर्तन का प्रभाव उस देश के मूल्य-तल पर सबसे अधिक एव शीघ्र पड़ता है जो अपने उपभोग का बहुत बड़ा भाग बाहर से मँगाता है और अपने साधनो का प्रयोग मुख्यत निर्यात पदार्थों के निर्माण मे करता है। इसका कारण यह है कि विनिमय-दर का प्रभाव ऐसे देशो के आयात एव निर्यात दोनो पर पड़ता है। अतएव मूल्य-तल पर इसका प्रभाव बहुत अधिक पड़ता है। इस प्रकार विनिमय-दर मे परिवर्तन का प्रभाव फ्रास की अपेक्षा हालैंड पर अधिक पड़ता है क्योकि हालैंड की आर्थिक व्यवस्था मे आयात एव निर्यात दोनो की प्रधानता है। परन्तु यद्यपि मूल्य तल मे परिवर्तन का प्रभाव सभी देशो पर एक समान नहीं पड़ता, फिर भी सदा इसका कुछ-न-कुछ प्रभाव अवश्य ही पड़ता है।

(6) मूल्य स्तर के पूर्ववत् रहने पर भी दो देशों की मुद्राओं की विनिमय-दर में निम्न कारणो से परिवर्तन हो सकता है :—

(क) यदि कोई देश मन्दी की स्थिति से गुजर रहा है, तो वहाँ उत्पादन के बहुत-से साधन बेकार होंगे। अतएव यदि इनके अन्तर्राष्ट्रीय वाणिज्य मे वृद्धि हो एव राष्ट्र अपनी विनिमय-दर को बढा दे, तो दोनो मे आय एव रोजगारी की वृद्धि होगी, किन्तु मूल्य स्तर पूर्ववत् ही रहेगा। आय और रोजगारी मे वृद्धि होने से इन देशो की अन्तर्राष्ट्रीय माग मे भी वृद्धि होगी, इसका परिणाम यह होगा कि विदेशी विनिमय-बाजार मे मुद्राओ की माग एव पूर्ति मे परिवर्तन होने से उनकी विनिमय दरें भी प्रभावित होगी, यद्यपि उन देशो के मूल्य स्तर पूर्ववत् ही बने रहेंगे। इस प्रकार आलोचको के अनुसार यह सिद्धान्त राष्ट्रो की आय एव रोजगारी के महत्त्वपूर्ण तत्त्वो की उपेक्षा कर सिर्फ मूल्य-स्तर के परिवर्तन को ही सबसे महत्त्वपूर्ण तत्त्व मानता है। किन्तु वास्तव

मे, विनिमय-दर के निर्धारण मे राष्ट्रो की आय एव रोजगारी ही अधिक महत्वपूर्ण तत्व है। साथ ही, व्यापार-चक्र का अन्तर्राष्ट्रीय वाणिज्य पर जो प्रभाव पड़ता है यह सिद्धान्त उसकी भी अवहेलना करता है।

(ख) विनिमय-दर पर मुद्राओ की माग एव पूर्ति की लोच का भी प्रभाव पड़ता है। मूल्य-स्तर के पूर्ववत् होने पर भी मुद्राओं की माग एव पूर्ति की लोच की विभिन्नताओ के कारण विनिमय-दर प्रभावित होती है। इसका उल्लेख हम पहले ही कर चुके हैं।

इस प्रकार क्रय-शक्ति-साम्य सिद्धान्त (Purchasing Power Parity Theory) की बहुत-सारी आलोचनाएँ दी जाती हैं। किन्तु इन आलोचनाओ के बावजूद इस सिद्धान्त की यह मान्यता कि मूल्य-तल एवं विनिमय-दर के बीच एक निश्चित सम्बन्ध है, मौद्रिक नीति के लिए व्यावहारिक महत्त्व की बात है। इससे राष्ट्रो को कभी-कभी इस बात के सम्बन्ध मे एक प्रकार की चेतावनी भी मिलती है। उदाहरण के लिए 1925 ई० मे ग्रेट ब्रिटेन ने स्वर्ण-मान को पुनः अपनाया तो उसने अपनी आन्तरिक मजदूरी एव मूल्य-तल तथा जीवन-स्तर की अपेक्षा मूल्य-तल को बहुत ऊँचा रखा। इस सिद्धान्त के अनुसार पौंड-स्टर्लिंग का यह मूल्य-तल तब सुरक्षित रहता जब यह आन्तरिक मूल्य-तल एव मजदूरी के अनुरूप रखा जाता। अतएव बहुत युक्तियो के बाद भी यह विनिमय-दर केवल 6 वर्षों तक ही कायम रह सकी और आखिर 1931 ई० में पौंड का विनिमय मूल्य घटाना पड़ा।

इसके विपरीत बहुत समय तब कुछ सरकारो ने अपने निर्यात को बढाने के लिए अपनी मुद्रा की कीमत को निम्न स्तर पर रखा। यह युक्ति भी उक्त युक्ति की तरह कुछ दिनों तक ही सफल हो सकती है। इसकी भी एक निश्चित सीमा है जिसके बाद यह काम नही कर सकती और अन्त मे आर्थिक सिद्धान्त अपनी यथार्थता प्रकट करेंगे और तब विनिमय दर सन्तुलित स्थिति से न तो अधिक रह पायगी और न कम ही। इस प्रकार क्रय-शक्ति समता सिद्धान्त की बहुत-सारी आलोचनाएँ दी जाती हैं।

भुगतान संतुलन का सिद्धांत
(Balance of Payment Theory)

विदेशी विनिमय-दर के निर्धारण का भुगतान-सन्तुलन सिद्धान्त आन्तरिक व्यापार के सिद्धान्त के आधार पर आधारित है। इस सिद्धान्त के अनुसार हम विदेशियो को न तो उससे कम और न उससे अधिक ही दे सकते हैं जो हमको उनसे प्राप्त होता है। दूसरे शब्दो मे, यह सिद्धान्त इस मौलिक सत्य पर आधारित है कि आयात स्वय निर्यातो का भुगतान करते हैं। (Imports pay for the exports) इसे ही भुगतान-सन्तुलन का सिद्धात (Balance of Payment Theory) कहते हैं। सम्भव है कि अल्पकाल मे किसी देश के आयातो का मूल्य उसके निर्यातो से अधिक हो, किन्तु अन्त मे किसी देश के कुल आयातो तथा निर्यातो का मूल्य निश्चय ही समान होगा। ऐसा भुगतान सन्तुलन का स्थापना के लिए आवश्यक है। यदि अल्पकाल मे आयात तथा निर्यात के मूल्य बराबर नही हैं तो इसे असन्तुलन की स्थिति (State of disequilibrium) कहा जाता है। ऐसी स्थिति मे देश अपने आयात तथा निर्यात मे इस प्रकार का परिवर्तन करते हैं जिससे कि अन्ततः आयात का मूल्य निर्यात के मूल्य के बराबर हो जाते हैं।

अतः दीर्घकाल मे विनिमय की दर उसी स्थान पर निश्चित होती है जहाँ पर किसी देश के आयात का मूल्य उसके निर्यात के मूल्य के बराबर होता है। इसी कारण यह कहा जाता है कि आयात स्वय निर्यातो का भुगतान करते हैं और इसलिए इसे विदेशी विनिमय का भुगतान-सन्तुलन सिद्धांत (The Balance of Payment Theory of Foreign Exchange) भी कहा जाता है।

विदेशी विनिमय-दर-निर्धारण के भुगतान सन्तुलन सिद्धान्त की कुछ अपनी विशेषताएँ हैं। इसका सर्वप्रथम गुण तो यह है कि यह विनिमय दर के निर्धारण मे भुगतान-सतुलन, यानी विदेशी विनिमय की माग एवं पूर्ति पर ध्यान केन्द्रित कर इस मौलिक सत्य को स्पष्ट करता है कि विदेशी विनियय-दर का निर्धारण भी किसी वस्तु के मूल्य की ही तरह विदेशी विनिमय की कुल माग एव पूर्ति के द्वारा होता है। इस प्रकार विनिमय दर के निर्धारण की समस्या को यह सामान्य सन्तुलन विश्लेषण का एक अग बना देता है। द्वितीयतः, वस्तुओ के आयात-निर्यात के अतिरिक्त भुगतान

सन्तुलन सेवाओं के आयात-निर्यात, पूँजी का हस्तांतरण तथा युद्ध आदि मे हरजाना के द्वारा भी प्रभावित होता है।

किन्तु इस सिद्धान्त की कुछ प्रधान त्रुटियाँ भी हैं। सर्वप्रथम तो यह सिद्धांत भुगतान संतुलन को स्थायी मानता है, किन्तु वास्तविक रूप में मूल्य-तल आदि मे परिवर्तन के कारण इसमे सदा परिवर्तन होते रहते हैं। द्वितीयतः यह सिद्धान्त आयात की जानेवाली कई वस्तुओं की मांग को बेलोचदार, यानी मूल्य तथा विनिमय-दर से स्वतन्त्र मानता है। किन्तु इस प्रकार की बात वास्तविक जीवन में नहीं पायी जाती है। कोई वस्तु कितनी भी आवश्यक क्यों न हो, इसमें कुछ-न-कुछ मात्रा में प्रतिस्थापन की लोच अवश्य ही पायी जाती है।

विशेष अध्ययन-सूची

1. Elsworth : International Economy, Chapters 15 & 16.
2. Crowther : An Outline of Money, Chapter, VII.
3. Halm : Economics of Money & Banking, Chapters 40 & 41.
4. Haberler : Theory of International Trade, Chapter IV.

अध्याय : 42

विनिमय-नियंत्रण

(Exchange Control)

विनिमय-नियन्त्रण का अर्थ (Meaning of Exchange Control)—आज की प्रायोजित आर्थिक व्यवस्था के युग मे प्राय. प्रत्येक देश मे विदेशी विनिमय-बाजार पर सरकार का कुछ-न-कुछ नियन्त्रण अवश्य ही पाया जाता है। उन्मुक्त विनिमय-बाजार (Free Exchange Market) मे मुद्रा की मांग एवं पूर्ति के द्वारा ही विनिमय की दर निश्चित होती है। ऐसी स्थिति में सरकार विनिमय के कार्यों में कोई हस्तक्षेप नहीं करती। इसके विपरीत जब देश की सरकार कुछ निश्चित उद्देश्यो की पूर्ति के लिए विदेशी विनिमय के क्रय-विक्रय एवं वितरण मे हस्तक्षेप करती है तब इसे नियन्त्रित विनिमय की व्यवस्था अथवा विनिमय-नियन्त्रण (Exchange Control) कहते हैं। इस प्रकार विनिमय नियन्त्रण का अभिप्राय ऐसे तरीकों से है जो विदेशी विनिमय-बाजार को नियन्त्रित करने के उद्देश्य से अपनाये जाते हैं और जिनके फलस्वरूप विनिमय की दर प्रभावित होती है। (By Exchange control, we mean measures which replace the free foreign exchange market by discriminatory regulations.) हेबरलर (Haberler) के अनुसार **"विदेशी विनिमय बाजार में आर्थिक शक्तियों के स्वतन्त्रतापूर्वक कार्य के राजकीय नियमन को विनिमय-नियन्त्रण कहते हैं।"** (Exchange control is the regulation excluding the free play of economic forces from foreign exchange market) विनिमय-नियन्त्रण की व्यवस्था के अन्तर्गत क्रेता एवं विक्रेता को असीमित मात्रा मे विदेशी विनिमय के क्रय एवं विक्रय की छूट नहीं रहती है। इसमें या तो क्रय की मात्रा या जिस दर पर विदेशी मुद्रा क्रय की जा सकती है या दोनो पर सरकार का प्रत्यक्ष नियन्त्रण रहता है। इस प्रकार के नियन्त्रण के तरीके विभिन्न प्रकार के होते हैं जिनकी व्याख्या आगे की जायगी।

इस प्रकार विनिमय-नियन्त्रण देश के मुद्रा अधिकारियों द्वारा विदेशी विनिमय-बाजार में उस हस्तक्षेप को कहते हैं जिसका उद्देश्य विनिमय दर को एक निश्चित-दर पर बनाये रखना होता है। दूसरे शब्दो मे, विनिमय-नियन्त्रण का अभिप्राय ऐसे किसी भी कार्य से है जो विदेशी विनिमय-बाजार मे रुकावट उत्पन्न करे और जिससे विनिमय की दर प्रभावित हो। विनिमय-दर को नियन्त्रित करने के लिए सरकार विनिमय-बाजार पर सामान्य रूप से देख-भाल रखती है। आजकल विश्व मे शायद ही कोई ऐसा देश है जहाँ विदेशी मुद्राओ के विनिमय पर किसी-न-किसी प्रकार का प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष प्रभावपूर्ण अथवा प्रभावहीन नियन्त्रण न हो।

विनिम-यनियंत्रण के उद्देश्य

(Objectives of Exchange Control)

किसी देश की सरकार विनिमय-नियन्त्रण की प्रणाली को कई उद्देश्यों से अपनाती है। विनियय-नियन्त्रण का सर्वाधिक प्रमुख उद्देश्य विनिमय-दर को उन्मुक्त बाजार दर से भिन्न बनाना है। विदेशी विनिमय-बाजार मे माग एवं पूर्ति की उन्मुक्त शक्तियो के द्वारा जो विनिमय-दर स्थापित होती है यदि वह सरकार के मनोनुकूल है तो विनिमय-नियन्त्रण की कोई आवश्यकता नही होती, किन्तु यदि यह दर अपेक्षित दर से भिन्न है तो सरकार विदेशी विनिमय बाजार में विनिमय-नियन्त्रण के उद्देश्य से हस्तक्षेप करती है। सरकार स्वतन्त्र आन्तरिक आर्थिक नीति के अनुसरण के लिए विदेशी विनिमय-बाजार में हस्तक्षेप करती है। रेगनर नर्क्स (Ragnar Nurkse) के अनुसार, **"विनिमय-नियन्त्रण स्वतन्त्र आर्थिक नीति का एक साधन है जो मन्दी की सृष्टि को रोकता है अथवा आर्थिक व्यवस्था को मन्दी के प्रभावों से मुक्त करता है।** विनिमय-नियन्त्रण राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय कीमतों के बीच एक प्रकार के अन्तर की सृष्टि कर स्वतन्त्र मौद्रिक एवं आर्थिक नीति के अनुसरण में सहायक

होता है।" (We may consider exchange control as means of enabling an individual country to pursue an independent policy of preventing or providing recovery from depression Exchange control places a barrier between world and domestic prices so that monetary and general economic policies could be chosen and executed without regard to their effects on the balance of payments. —Ragnar Nurkse. International Currency Experiences.)

किसी देश की सरकार विनिमय-नियन्त्रण की नीति का अनुसरण कई कारणों अथवा उद्देश्यों से करती है जिनमें निम्नांकित प्रमुख हैं—

(i) पूँजी के बहिर्गमाव को रोकने के लिए (To check flight of capital)—विनिमय-नियन्त्रण का प्रारम्भ पूँजी के बहिर्गमाव पर नियन्त्रण स्थापित करने के रूप में हुआ था। यदि पूँजी के बहिर्गमाव को नहीं रोका जाय, तो इसका देश की आर्थिक व्यवस्था पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ेगा। इससे देश का स्वर्ण एवं अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष कम होने लगता है। मन्दी के समय पूँजी के बाहर जाने से अवस्फीति और भी तीव्र हो जाती है जिससे आय एवं रोजगारी में कमी आती है तथा मूल्य-स्तर और नीचे की ओर चला जाता है। अतः पूँजी के बहिर्गमाव को रोकने के लिए सरकार विनिमय-नियंत्रण करती है।

(ii) संरक्षण की नीति को सफल बनाना—विनिमय-नियन्त्रण का प्रयोग कभी-कभी देशी उद्योगों को विदेशी प्रतियोगिता से मुक्त करने के लिए भी किया जाता है। विनिमय-नियत्रण के द्वारा संरक्षण की नीति को प्रभावपूर्ण बनाया जा सकता है क्योंकि इसके द्वारा कुछ देशों के आयातों को बिलकुल रोका अथवा कम किया जा सकता है।

(iii) आयोजित अर्थ-नीति को सफल बनाना – आजकल विश्व के अधिकांश देशों ने आर्थिक विकास के उद्देश्य से आयोजित अर्थ-नीति को अपनाया है। आयोजित अर्थ नीति के लिए देश के सम्पूर्ण आर्थिक जीवन को नियन्त्रित करना पड़ता है। ऐसी स्थिति में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार यदि बिलकुल अनियन्त्रित रहे तो योजना की सफलता में कठिनाई होगी। अतएव आयोजित अर्थ-नीति को सफल बनाने के उद्देश्य से भी विनिमय-नियन्त्रण की नीति आवश्यक हो जाती है।

(iv) भुगतान-संतुलन के असंतुलन को ठीक करना (To correct a Disequilibrium in the Balance of Payments) —जब किसी देश का आयात उसके निर्यात की अपेक्षा बहुत अधिक बढ़ जाता है तो इसके परिणामस्वरूप उस देश के वाणिज्य की दर (Terms of Trade) उसके विपरीत हो जाती है। साथ ही, व्यापार के भुगतान में भी असंतुलन हो जाता है। ऐसी स्थिति में व्यापार की दर की विषमता एवं असंतुलन को विनिमय-नियन्त्रण की नीति के द्वारा ही ठीक किया जा सकता है।

(v) व्यापार-सम्बन्धी भेद-भाव (Trade discrimination) **की नीति को सफल बनाना** :—विनिमय-नियन्त्रण के द्वारा विभिन्न देशों के बीच व्यापारिक सम्बन्ध को अनुकूल बनाया जाता है। व्यापारिक भेद-भाव की नीति को सफल बनाने के लिए सरकार एक ऐसी नीति का अनुसरण करती है जिसमें कुछ देशों के आयात-निर्यात पर विशेष कर लगाये जाते हैं और कुछ देशों के आयात-निर्यात को विशेष रूप से रियायतें दी जाती हैं।

(vi) पूर्ण रोजगारी (Full-employment) **की नीति को सफल बनाने के लिए**:—पूर्ण रोजगारी की नीति को सफल बनाने के लिए भी विनिमय-नियन्त्रण की नीति का प्रयोग किया जाता है। जो देश पूर्ण-रोजगारी (Full-employment) की नीति का अनुसरण कर रहे हों उनके लिए यह आवश्यक हो जाता है कि अन्तर्राष्ट्रीय तत्वों का बुरा प्रभाव देश की अर्थ-नीति पर न पड़ने दें। इसके लिए उन्हें आर्थिक क्षेत्र में स्वतन्त्रता प्राप्त होनी चाहिए। अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्ण-मान की स्थिति में पूर्ण रोजगारी प्राप्त करना कठिन था क्योंकि उसके अन्तर्गत किसी भी देश के लिए स्वतन्त्र आर्थिक नीति का अनुसरण प्रायः असम्भव था। अतः आर्थिक नीति के इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए भी विनिमय-नियन्त्रण आवश्यक हो जाता है।

इस प्रकार सरकार विनिमय-नियन्त्रण की नीति का अनुसरण उक्त कारणों अथवा उद्देश्यों

से करती है। किन्तु विनिमय-नियन्त्रण की नीति अपनाने का इनमे से कोई भी कारण क्यों न हो, हरएक स्थिति मे सरकार विनियय दर को उन्मुक्त बाजार की दर से भिन्न बनाती है।

अब यदि सरकार विनिमय की दर को उन्मुक्त बाजार की दर से भिन्न बनाना चाहती है, तो उसके निम्नलिखित तीन सम्भावित उद्देश्य हो सकते हैं —

(i) देश की मुद्रा की विनिमय-दर को सतुलन-दर से अधिक रखना, यानी अधिमूल्यन (Over-valuation),

(ii) देश की मुद्रा की विनिमय दर को सतुलन-दर से कम रखना, यानी अवमूल्यन (Devalution), तथा

(iii) मुद्रा की विनिमय-दर को सतुलन की दर पर स्थायी बनाना एव इस उद्देश्य से इनमे होनेवाले परिवर्तनो को दूर करना (Avoidance of fluctuations)।

अब इन उद्देश्यो की निम्नाकित व्याख्या प्रस्तुत की जाती है .—

अधिमूल्यन

(Over valuation)

विनिमय-नियन्त्रण अथवा प्रबन्ध का सर्वाधिक प्रमुख उद्देश्य अधिमूल्यन है। कोई देश अपनी मुद्रा का अधिमूल्यन, यानी इसकी विनिमय दर को उन्मुक्त बाजार की दर से अधिक कई कारणो से रखना चाहता है किन्तु ये सभी कारण प्राय एक ही स्थिति से उत्पन्न होते हैं। सर्वप्रथम तो यदि किसी कारणवश देश का व्यावसायिक सम्बन्ध असतुलित हो रहा हो और यदि ऐसी स्थिति मे विनिमय बाजार को अनियन्त्रित छोड दिया जाय तो विदेशी विनिमय-बाजार मे देश की राष्ट्रीय मुद्रा की पूर्ति माग की अपेक्षा बहुत बढ जायगी। युद्ध वगैरह के समय साधारणत इस प्रकार की स्थिति उत्पन्न होती है जब कि युद्ध मे लीन होने के कारण किसी देश को निर्यात के लिए वस्तुएँ उत्पन्न करने का समय नहीं रहता। ऐसी स्थिति मे अनियन्त्रित छोड देने से मुद्रा की विनिमय-दर मे बहुत अधिक कमी होगी। युद्ध के बाद पुनर्निर्माण के समय भी प्राय इसी प्रकार की स्थिति पायी जाती है। ऐसी स्थिति मे सरकार विदेशी विनिमय बाजार में हस्तक्षेप कर विनिमय दर को कम होने से रोकती है। इस प्रकार अधिमूल्यन का पहला कारण युद्ध आदि के समय देश की मुद्रा का अधिमूल्यन की आवश्यकता है। दूसरे शब्दो मे, उस देश को जिसे अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए विदेशो से बहुत अधिक मात्रा में सामान खरीदना पडता है अपनी मुद्रा के सम्बन्ध मे अधिमूल्यन की नीति का अनुसरण करना आवश्यक हो जाता है।

अधिमूल्यन का एक दूसरा कारण भी ठीक इसी तरह का है। जब किसी देश को बहुत अधिक मात्रा मे विदेशी मुद्रा मे कर्ज चुकाना रहता है तो उसके लिए भी अपनी मुद्रा के अधिमूल्यन की नीति युक्तिसगत होती है। युद्ध के बाद मध्य यूरोपीय देशो ने बाहर से बहुत अधिक ऋण लिया था जिसका भुगतान उन्हें या तो ब्रिटेन के पौंड के रूप मे या अमेरिकी डॉलर के रूप मे करना था। युद्ध वाले देशो की तरह, इन देशो को भी, विदेशो को बहुत अधिक मात्रा में मुद्रा भुगतान करने की आवश्यकता रहती है। अतएव यदि ऐसे देश अपनी मुद्रा का अधिमूल्यन करेंगे तो इन्हें ऋण के रूप मे कम ही मुद्रा चुकानी पड़ेगी।

अधिमूल्यन का एक तीसरा उद्देश्य भी है। जब किसी ऐसे देश मे जिसकी आर्थिक व्यवस्था मे आयात निर्यात की प्रधानता रहती है विशुद्ध आन्तरिक कारणो से मुद्रा-स्फीति उत्पन्न होने की आशका रहती है, तो ऐसे देश के लिए भी अपनी मुद्रा का अधिमूल्यन अधिक न्याय-सगत होता है। यदि ऐसी स्थिति मे देश की मुद्रा का बाह्य मूल्य कम हो जाने दिया जाय, तो इसका परिणाम यह होगा कि आयात की कीमत महँगी हो जायगी और निर्यात से देश को कोई लाभ नहीं होगा, और यदि मजदूरी एव मूल्य तल मे वृद्धि होगी तो इसके परिणामस्वरूप मुद्रा की क्रय-शक्ति साम्य की स्थिति हो जायगी जिससे मुद्रा का आन्तरिक एव बाह्य मूल्य दोनो एक साथ कम होने लगेंगे। ऐसी स्थिति मे भी अधिमूल्यन द्वारा राष्ट्र अपनी मुद्रा के विनिमय-मूल्य को अधिक रखने का प्रयत्न करते हैं।

अधिमूल्यन के उक्त तीन उद्देश्य हैं। किन्तु अधिमूल्यन (Over valuation) के कई बहुत

गम्भीर परिणाम भी हो सकते हैं। जब किसी देश की मुद्रा का अधिमूल्यन होता है, यानी मुद्रा की विनिमय-दर उसके संतुलन-दर से अधिक रखी जाती है, तो इसका अर्थ यह होता है कि देश में अन्य देशो को अपेक्षा मूल्य-तल ऊँचा है। इसका परिणाम यह होता है कि अधिमूल्यन से निर्यात-व्यापार हतोत्साहित तथा आगात-व्यापार प्रोत्साहित होता है। कभी-कभी तो अधिमूल्यन का परिणाम इतना बुरा होता है कि सम्पूर्ण आर्थिक व्यवस्था करीब-करीब तहस-नहस हो जाती है।

इस प्रकार खास-खास परिस्थितियो मे अधिमूल्यन लाभदायक तथा कुछ खास परिस्थितियो मे हानिकारक भी होता है। जब किसी देश को दूसरे देश के ऋण वगैरह के रूप मे बहुत अधिक भुगतान करना होता है तो ऐसी स्थिति मे अधिमूल्यन लाभदायक सिद्ध होता है। किन्तु अधिमूल्यन से निर्यात-व्यापार हतोत्साहित होता है। फिर भी व्यापक स्फीति के समय इसका निर्यात पर प्रतिकूल प्रभाव नहीं पडता। इसके विपरीत मन्दी के समय, जब सभी चीजो की अधिकता रहती है तथा मुख्य समस्या वस्तुओ के विक्रय की होती है, अधिमूल्यन (Over-valuation) उपयुक्त नहीं होता। इस प्रकार इस सम्बन्ध मे निष्कर्ष के तौर पर यह कहा जा सकता है कि 'युद्ध एवं अभाव के समय मुद्रा का अधिमूल्यन किया जाय तथा मन्दी एवं अधिकता के समय अवमूल्यन यानी मुद्रा का मूल्य कम रखा जाय।" (In times of war and scarcity, over-value your currency; in times of slump and surfeit, undervalue your currency.)

अवमूल्यन

(Under-valuation)

अवमूल्यन, यानी मुद्रा की विनिमय-दर को कम रखने की नीति मन्दी के समय के लिए अधिक उपयुक्त होती है। अवमूल्यन (Under-valuation) का परिणाम अधिमूल्यन (Over-valuation) के ठीक विपरीत होता है। इससे निर्यात प्रोत्साहित होता है तथा आयात हतोत्साहित होता है एव मूल्य-तल को सहारा मिलता है। किन्तु इसकी भी सीमाएँ हैं। इसमे कोई सन्देह नहीं कि अवमूल्यन से देश का मूल्य-तल अन्य देशो की अपेक्षा अधिक बढ जाता है, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि मूल्य-तल मे सदा वृद्धि ही होगा। वास्तव में, अवमूल्यन से विदेशो के मूल्य-तल में कमी भी हो सकती है। यदि अवमूल्यन वाला देश बडा एव विदेशी बाजार का प्रधान अंग है तो अवमूल्यन के कारण इसके मूल्य मे वृद्धि के बजाय विदेशो के मूल्य-तल मे ही कमी हो जायगी। इसके विपरीत यदि अवमूल्यन वाला देश छोटा है तो अवमूल्यन के कारण यह अपने मूल्य-तल को बढाने मे सफलीभूत हो सकता है। अवमूल्यन से छोटे देशो को एक और व्यावहारिक लाभ होता है। अवमूल्यन से बडे देशो के निर्यात में जब वृद्धि होने लगती है तो इसका प्रभाव अन्य देशो पर भी पडता है जो इनके निर्यात को कम करने के लिए अपने-अपने देश मे तरह-तरह के नियन्त्रण लगाते हैं, किन्तु छोटे देशों के निर्यात मे वृद्धि का विश्व के अन्य देशो पर कोई स्पष्ट प्रभाव नही पडता।

अवमूल्यन के सम्बन्ध मे एक और महत्त्वपूर्ण बात है। अवमूल्यन देश के मूल्य-तल को आयात एवं निर्यात के माध्यम से ही प्रभावित करता है। अतएव जिस देश का विदेशी व्यापार अधिक महत्त्वपूर्ण है, उस देश मे अवमूल्यन का प्रभाव अतिशीघ्र तथा अधिक परिमाण में पड़ता है। अतएव उक्त आधार पर यह कहा जा सकता है कि अवमूल्यन न्यूजीलैंड जैसे छोटे देश के लिए अधिक लाभदायक है क्योंकि इसका विदेशी व्यापार उसके लिए महत्त्वपूर्ण होते हुए भी विश्व के लिए उतना महत्त्वपूर्ण नही है। इसके विपरीत अमेरिका जैसे विशाल देश के लिए यह लाभदायक नही हो सकता क्योकि इसका विदेशी व्यापार विश्व के लिए बहुत ही अधिक महत्त्वपूर्ण है। साथ ही, ऐसे देश को, जिसके आयात मे कृषि-पदार्थ एव कच्चे मालो की प्रधानता रहती है, अवमूल्यन से अधिक लाभ होगा क्योकि मन्दी के समय औद्योगिक वस्तुओ की अपेक्षा इन वस्तुओ के मूल्य मे अधिक ह्रास होता है।

किन्तु मुद्रा का अवमूल्यन, विशेषत: जान-बूझकर अवमूल्यन (deliberate under-valuation) एक अनैतिक कार्य है। एक पूर्णत नतिक युग मे इसके लिए इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि अवमूल्यन एक स्थायी नीति नहीं है। इसके परिणामस्वरूप कोई भी लाभ जो एक राष्ट्र

को प्राप्त होता है वह निश्चय ही दूसरे राष्ट्रों की हानि पर आधारित होता है। इस प्रकार इसे लाभ नहीं समझना चाहिए क्योंकि विस्तृत अर्थ में प्रत्येक राष्ट्र सम्पूर्ण विश्व-रूपी परिवार का एक सदस्य है। किन्तु, आज के विश्व में नीति के ऊपर व्यावहारिकता भी एक चीज है। फिर भी, अवमूल्यन एक ऐसे खेल की तरह है जिसे कोई भी खेल सकता है, किन्तु यदि सभी राष्ट्र इसे खेलना प्रारम्भ कर दें और विश्व की मुद्राओं में एक होड़-सी लग जाय कि किसका मूल्य कम-से-कम रखा जा सकता है तो इसका परिणाम यह होगा कि विश्व की मुद्राएँ मूल्य-हीन हो जायेंगी। (Under-valuation is a game that any one can play, but if every one plays it and currencies enter upon a competition to see which can be pushed furtherest below its real values, it quickly develops into a race to render all currencies worthless.)

विनिमय-दर में होनेवाले परिवर्तनों को रोकना
(Avoidance of Fluctuations)

विनिमय-नियन्त्रण का तीसरा सम्भावित उद्देश्य विनिमय-दर में होनेवाले परिवर्तनों यानी ह्रास एवं वृद्धि को रोकना है। सिद्धान्तत, यह माननीय है क्योंकि इससे बाजार को स्थायित्व एवं अस्थायित्व दोनों के लाभ प्राप्त होते हैं। किन्तु व्यवहार में इस नीति को कार्यरूप में परिणत करना कठिन है। इस सम्बन्ध में हमारा उद्देश्य केवल बाजार दर की सामयिक एवं अस्थायी प्रवृत्तियों को रोकना ही होना चाहिए। विभिन्न विदेशों की मुद्राओं की तुलना में जो देश की मुद्रा की दर तय हो उसमें किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। किन्तु, अस्थायी ह्रास-वृद्धि के सम्बन्ध में पता लगाना बहुत ही कठिन हो जाता है, अतएव इस नीति को कार्यरूप में परिणत करने में वास्तविक कठिनाइयाँ हैं। इसका सबसे अच्छा उदाहरण इंगलैंड का विनिमय समकारी कोष (Exchange Equalization Account) है जिसने इस उद्देश्य से 1932 ई० से लेकर 1939 ई० तक कार्य किया था। इस कोष का उद्देश्य न तो पौंड का अधिमूल्यन और न अवमूल्यन ही था, वरन् इसका उद्देश्य विनिमय मूल्य में होने वाले अस्थायी परिवर्तनों को समाप्त करना था। इसी प्रकार जनवरी, 1934 में संयुक्त राज्य अमेरिका में डॉलर के मूल्य को सुस्थिर बनाये रखने के लिए स्थापित (Exchange Stabilization Fund) का भी यही उद्देश्य था। यह कोष अमेरिका में स्वर्ण के अत्यधिक अन्तर्प्रवाह की स्थिति में बाजार से स्वर्ण खरीदता तथा बहिर्प्रवाह की स्थिति में अपने कोष से स्वर्ण का विक्रय करता था। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष (International Monetary Fund) का भी बहुत कुछ यही उद्देश्य है।

इस प्रकार विनिमय-नियन्त्रण के उक्त सारे उद्देश्य हैं।

विनिमय नियन्त्रण के तरीके
(Methods of Exchange Control)

विनिमय-नियन्त्रण के उद्देश्यों के सम्बन्ध में व्याख्या करने के बाद अब इसके विभिन्न तरीकों पर विचार करना आवश्यक है। साधारणतया, विनिमय-नियन्त्रण के निम्नलिखित दो तरीके हैं।—

(1) हस्तक्षेप (Intervention), तथा
(2) विनिमय-प्रतिबन्ध (Restriction)।

विनिमय-नियन्त्रण एवं प्रबन्ध को प्रभावपूर्ण बनाने का केवल एक ही तरीका है और वह है विदेशी विनिमय-बाजार में विदेशी मुद्राओं की माग एवं पूर्ति को प्रभावित करना। यह एक स्वय-सिद्ध बात है कि बाजार पर चाहे कितना भी नियन्त्रण क्यों न रखा जाय, किसी भी समय जितने रुपये की खरीद होती है उस दिन विनिमय-बाजार में उतने ही रुपये की बिक्री भी होती है। अतएव विनिमय-दर पर नियन्त्रण के लिए सरकार साधारणत दो तरीकों का प्रयोग करती है—या तो वह स्वयं बाजार में प्रवेश कर किसी मुद्रा विशेष, जिसमें कि उसे दिलचस्पी रहती है, की माग एवं पूर्ति को प्रभावित करती है या वह इसकी माग एवं पूर्ति में से कुछ को बाजार-तक जाने से रोक देती है। उदाहरण के लिए, यदि भारत सरकार रुपये के मूल्य को अधिक रखना चाहती

है तो या तो वह स्वय विदेशी विनिमय-बाजार मे जाकर रुपये की माग मे वृद्धि करने का प्रयत्न करेगी या कुछ रुपये की पूर्ति के विनिमय-बाजार मे पहुँचन के पहले ही रोक लगा देगी। इन दोनो प्रकार के कार्यों का परिणाम यह होगा कि रुपये की पूर्ति की अपेक्षा मांग मे वृद्धि होगी जिससे इसकी विनिमय दर बढ जायगी। इसके विपरीत यदि भारत सरकार रुपये के विनिमय मूल्य को कम करना चाहती है तो इस उद्देश्य से वह या तो स्वय विनिमय-बाजार मे जाकर रुपये की पूर्ति को बढा सकती है अथवा रुपये की मांग करने वाले कुछ व्यक्तियो को ऐसा करने से रोक सकती है। दोनों कार्यों का परिणाम यह होगा कि विदेशी विनिमय बाजार मे रुपये की पूर्ति इसकी माग की अपेक्षा बढ जायगी जिससे इसकी विनिमय-दर भी घट जायगी।

इस प्रकार इन दोनो तरीकों से सरकार विनिमय-नियन्त्रण करती है। विनिमय नियन्त्रण के इन दोनों तरीको में प्रधान अन्तर यह है कि एक मे मुद्रा की लेन-देन मे वृद्धि हो जाती है तो दूसरे में कमी हो जाती है। एक मे बाजार सभी के लिए खुला रहता है, किन्तु इसमे कृत्रिम तत्त्व रख दिया जाता है और दूसरे मे बाजार मे मुक्त प्रवेश पर नियन्त्रण रहता है। (One increases and the other restricts the number of transactions in the market The one leaves the market open to all comers but adds an artificial element to it, the other interferes with the free access of the public to the market) अब यहाँ पर विनिमय-नियन्त्रण के इन तरीकों की पृथक्-पृथक् व्याख्या की जायगी।

हस्तक्षेप

(Intervention)

कोई भी सरकार विदेशी विनिमय बाजार मे अपनी मुद्रा के मूल्य को अधिक (अधिमूल्यन) या कम (अवमूल्यन) रखने के उद्देश्य से हस्तक्षेप कर सकती है। इन दोनो उद्देश्यों मे से मूल्य को अधिक रखने का उद्देश्य ही अधिक प्रचलित है। जब मुद्रा की विनिमय दर को अधिक रखने के उद्देश्य से हस्तक्षेप किया जाता है तो कहा जाता है कि एक निश्चित मूल्य पर मुद्रा को बल दिया जा रहा है। (The currency is said to be pagged) पेगिंग (pagging) ही आजकल हस्तक्षेप का सर्वाधिक प्रधान रूप है। साधारणत., पेगिंग का अर्थ सदा मूल्य को अधिक रखने से यानी 'पेगिंग अप' से ही होना है, किन्तु अवमूल्यन के उद्देश्य से किये गये हस्तक्षेप को पेगिंग डाउन (Pegging down) भी कहा जाता है।

यदि किसी देश की सरकार अपनी मुद्रा की विनिमय-दर को उसके उन्मुक्त दर से अधिक रखना चाहती है, यानी 'पेगिंग अप' करना चाहती है तो इसका आशय यह है कि उस विनिमय-दर पर उस मुद्रा की पूर्ति की अपेक्षा उसकी माग कम होगी। अतएव सरकार को स्वय अपने प्रयत्नो द्वारा उस पर मुद्रा की माग मे इतनी वृद्धि करनी पडेगी जिससे कि उसकी सम्पूर्ण पूर्ति समाप्त हो जाय। उदाहरण के लिए, प्रथम विश्व-युद्ध से समय ब्रिटेन की सरकार ने अपने पौंड को बाजार-दर से ऊँचा दर पर 'पेग अप' करने का प्रयास किया था। इसके लिए उसे सदा इस बात के लिए तत्पर रहना पडता था कि बाजार मे जो पौंड आ जाय और जिस बाजार के अन्य लेने वाले न ले सकें उसे वह स्वय लेकर बदले मे विदेशी मुद्रा प्रदान करेंगे। इसके विपरीत नीची दर पर 'पेग डाउन' करने के लिए सरकार को सदा बाजार में एक निश्चित दर पर अपनी मुद्रा की पूर्ति को बनाये रखने के लिए तैयार रहना पडता है। दूसरे शब्दो में, जो सरकार अपनी मुद्रा को 'पेग डाउन' करने का प्रयास करती है। उसे अपनी मुद्रा को देकर विदेशी मुद्रा लेने के लिए सदा तैयार रहना पडता है।

इस प्रकार हस्तक्षेप के द्वारा सरकार की विनिमय-नियन्त्रण की शक्ति उसके साधनो पर निर्भर करती है। 'पेगिंग अप' यानी विनिमय-दर को ऊँचा रखने के लिए सरकारी क्रिया की सीमा कुछ अधिक सकुचित होती है क्योंकि इसमे उसे विदेशी मुद्रा प्रदान करनी पडती है। इसके लिए सरकार को बहुधा विदेशो से ऋण लेना पडता है, किन्तु कोई भी सरकार ऐसा बहुत लम्बे समय तक नहीं कर सकती। आर्थिक सकट के समय अल्पकाल के लिए सरकार ऋण लेकर इस प्रकार की नीति का अनुसरण कर सकती है किन्तु इसकी भी एक निश्चित सीमा होती है जिससे यह कार्य बहुत समय तक नही किया जा सकता है। दूसरी ओर अग-मूल्य कीलन (Pegging down) मे यह

सीमा पहले बहुत-बडी नजर नही आती क्योंकि इसमें देश के साधनो पर ही कार्य करना पडता है। अल्प-मूल्य कीलन (Pegging down) मे कोई देश विदेशी मुद्रा प्राप्त करता है उसे खोता नही है। किन्तु इसकी भी एक निश्चित सीमा है। निस्सन्देह कोई भी सरकार अपने देश की मुद्रा को विदेशी मुद्रा की अपेक्षा सुगमतापूर्वक प्राप्त कर सकती है। ऐसा कई तरीको से किया जा सकता है, जैसे—कर (Taxation) से, जनता से ऋण प्राप्त कर (Borrowing) तथा अतिरिक्त मुद्रा का सृजन कर। इनमे से अतिरिक्त कर प्राप्त करने की सम्भावना भी सीमित होती है क्योकि किसी भी देश की जनता लगातार ऊँची दर पर कर देना नहीं चाहेगी। जनता से ऋण लेना कुछ अधिक सम्भवपूर्ण युक्ति है। सिद्धान्त कोई भी सरकार अपने देश की जनता मे ऋण ले सकती है एव उसका प्रयोग अल्प मूल्य-कीलन (Pegging down) के लिए कर सकती है। किन्तु जनता से ऋण लेने का कार्य भी बहुत दिनो तक नहीं चल सकता क्योंकि इससे अतिरिक्त ऋण का बोझ बढ जायगा और सरकार को उसके लिए अधिक सूद देना पड़ेगा। तीसरा तरीका, अतिरिक्त मुद्रा के सृजन की भी व्यावहारिक रूप मे बहुत-सी सीमाएँ हैं। अतिरिक्त मुद्रा के सृजन से मुद्रा *स्फीति का दबाव बढेगा। इसमे कोई सन्देह नही कि मुद्रा-स्फीति से अल्प-मूल्य-कीलन को बल* मिलेगा क्योंकि मूल्य-तल मे वृद्धि से मुद्रा का सन्तुलन मूल्य कम हो जायगा और इस प्रकार अल्प मूल्य कीलन की आवश्यकता नहीं पड़ेगी। इस प्रकार यदि सरकार का उद्देश्य केवल अस्थायी तौर पर अवमूल्यन करना है यानी केवल मुद्रा के सन्तुलन मूल्य को कम करना है तो इसके लिए यही तरीका सर्वोत्तम है। किन्तु सन्तुलन दर को स्थायी रूप से कम करने की नीति से भयानक मुद्रा स्फीति के सृजन की आशका उत्पन्न हो जाती है। इस प्रकार अल्प मूल्य-कीलन (Pegging down) मे अधि-मूल्य कीलन (Pegging up) की तरह उतनी अधिक पाबन्दी नहीं है। फिर भी यह विशेष रूप से खर्चीला कार्य है, विशेषत उस देश के लिए जो इसे कुछ स्थायी तौर पर लागू करना चाहता है। अतएव इस सम्बन्ध मे हमारा निष्कर्ष यह हुआ कि हस्तक्षेप अस्थायी रूप से सम्भव हो सकता है, स्थायी रूप मे नहीं। (Intervention is temporarily, rathar than permanently possible)

जब हस्तक्षेप का प्रयोग विनिमय-दर के परिवर्तन को समाप्त करने के लिए किया जाता है तो इसमे कभी अधिमूल्यन एव कभी अवमूल्यन की आवश्यकता पडती है। अतएव ऐसी स्थिति मे इनके प्रयोग के लिए सरकार को कभी विदेशी मुद्रा की आवश्यकता पडती है तो कभी देशी मुद्रा का। इस प्रकार की नीति का सबसे सुन्दर उदाहरण ब्रिटेन का विनिमय-सरकारी कोष (Exchange Equalisation Account) है। इसमे न तो स्थायी रूप से अधिमूल्यन की आवश्यकता पड़ती है, न अवमूल्यन की ही। किन्तु विनिमय दर के परिवर्तन को रोकने के लिए हस्तक्षेप की नीति भी सतुलन दर के मौलिक अन्तर को विनिमय दर मे परिलक्षित होने से नहीं रोक सकती है। यह केवल रोज-ब-रोज के अस्थायी कारण एव परिकल्पना के परिणामस्वरूप होनेवाले परिवर्तनो को ही रोक सकती है। इस प्रकार हस्तक्षेप की सम्भावनाएँ सीमित हैं। इस सम्बन्ध मे स्थायी रूप से केवल उसी नीति का अनुसरण किया जा सकता है जो साधारण ह्रास एव वृद्धि को रोकने के उद्देश्य से काम में लायी गयी हो।

विनिमय-प्रतिबन्ध
(Exchange Restriction)

द्वितीय महायुद्ध के समय से कई देशो ने इस बात का अनुभव करना प्रारम्भ किया कि हस्तक्षेप की नीति विनिमय नियन्त्रण के साधन के रूप मे बहुत ही कमजोर युक्ति है, अतएव उन्होंने इस सम्बन्ध मे एक अधिक प्रबल युक्ति विनिमय-प्रतिबन्ध का प्रयोग प्रारम्भ किया। विनिमय-नियन्त्रण की इन दोनो युक्तियो मे मौलिक विभेद यह है कि जो सरकार हस्तक्षेप की नीति का अनुसरण करना चाहती है उसे विदेशी मुद्रा-बाजार मे क्रय-विक्रय के द्वारा बाजार के परिमाण मे कमी या वृद्धि करनी पडती है जिसके लिए उसे अपने पास विदेशी मुद्रा का भडार रखना आवश्यक होता है। किन्तु विनिमय प्रतिबन्ध (Exchange Restrictions) के अन्तर्गत मुद्रा-बाजार मे मुद्रा की माग एव पूर्ति मे अनिवार्य रूप से कमी की जाती है। इस प्रकार इसमें मुद्रा की पूर्ति अथवा माग को कम कर इसके द्वारा अपेक्षित दर को कायम रखा जाता है।

इस प्रकार विनिमय प्रतिबन्ध (Exchange Restriction) की परिभाषा इस प्रकार से दी जाती है : "विदेशी विनिमय बाजार में कारोबार को घटाने की युक्ति को विनिमय-प्रतिबन्ध कहा जाता है।" (Anything that diminishes the turnover of the foreign exchange market constitutes exchange restriction.) संक्षेप में, विनिमय प्रतिबन्ध की रीति की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं :—

(क) सर्वप्रथम तो इस नीति के अन्तर्गत सरकार विदेशी-विनिमय के व्यापार का स्वयं अपने पास केन्द्रीयकरण कर लेती है जिससे विदेशी विनिमय का क्रय-विक्रय सरकार अथवा केन्द्रीय बैंक के अतिरिक्त कोई अन्य व्यक्ति अथवा संस्था नहीं कर सकती है।

(ख) विदेशी-विनिमय प्राप्त करने से पूर्व लोगों को सरकार की आज्ञा प्राप्त करनी पड़ती है।

(ग) सरकारी आज्ञा के बगैर कोई भी व्यक्ति विदेशी-विनिमय का व्यापार नहीं कर सकता।

विनिमय-प्रतिबन्ध की नीति के अन्तर्गत निम्नलिखित दो प्रकार के कार्यक्रमो की आवश्यकता होती है :—

(1) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का नियमन (Regulation of International Trade); तथा

(2) अन्तर्राष्ट्रीय पूँजी एवं स्वर्ण के आवागमन पर नियन्त्रण।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के नियमन के कार्य के भी दो पक्ष हैं :—(क) देश के निर्यात (export) से प्राप्त विदेशी मुद्रा को अधिकारियो के हाथ मे उपलब्ध करना, एवं (ख) इस मुद्रा का वितरण आयातको के बीच राष्ट्र की आवश्यकताओ को ध्यान में रखते हुए करना।

देश के निर्यातक यदि अपनी वस्तुएँ बाजार मे बेचने के लिए स्वतन्त्र रहें तो इससे विदेशी मुद्रा प्राप्त कर अपने इच्छानुसार उससे क्रय करेंगे। वे इसका विनियोग बाहर भी कर सकते हैं, इससे देश की पूँजी बाहर चली जाती है। अतः, देश की पूँजी को बाहर जाने से रोकने के लिए निर्यात पर भी नियन्त्रण अनिवार्य हो जाता है। निर्यात पर नियन्त्रण कर इसके द्वारा प्राप्त विदेशी मुद्रा को सरकार या मौद्रिक अधिकारी के हाथ मे कर लिया जाता है। इसकी सहायता से सरकार अथवा मौद्रिक अधिकारी आवश्यकतानुसार आयात का भी नियन्त्रण करते हैं।

रैगनर नर्क्स (Ragnar Nurkse) के अनुसार विदेशी विनिमय के वितरण के सम्बन्ध मे अधिकारियो को प्रायः चार प्रकार के निर्णय करने पड़ते हैं :—

(1) इसका कौन-सा हिस्सा भिन्न-भिन्न उद्देश्यो के लिए दिया जाय। उदाहरण के लिए कौन-सा हिस्सा वस्तुओ के आयात पर, कौन-सा हिस्सा अन्तर्राष्ट्रीय ऋण पर सूद चुकाने के लिए तथा कौन-सा हिस्सा यात्रियो के खर्च के रूप मे व्यय किया जाय इत्यादि।

(2) विदेशी विनिमय का भिन्न-भिन्न वस्तुओ पर किस परिमाण मे वितरण किया जाय;

(3) देश मे भिन्न-भिन्न फर्मों के बीच किस परिमाण मे विदेशी मुद्रा का वितरण किया जाय; एवं

(4) सम्पूर्ण विदेशी विनिमय का भिन्न-भिन्न देशो के बीच किस परिमाण मे वितरण किया जाय।

इस प्रकार के निर्णय के बहुत ही गम्भीर परिणाम होते हैं। विदेशी मुद्रा के भिन्न-भिन्न मदो मे वितरण से देश के उत्पादन का संगठन बहुत ही प्रभावित होती है। भिन्न-भिन्न फर्मों के बीच वितरण का नियन्त्रण करने से सरकार को आर्थिक नियन्त्रण का पर्याप्त अवसर मिलता है, इससे कुछ कुरीतियाँ भी पैदा हो सकती हैं एवं पक्षपात भी हो सकते हैं। विदेशी मुद्रा को भिन्न-भिन्न देशों के बीच वितरित करने से अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक एवं मौद्रिक सम्बन्ध प्रभावित होते हैं

जिससे इनके बीच समानता का व्यवहार न होकर पक्षपातपूर्ण व्यवहार (Preferential treatment) होता है।

विदेशी व्यापार के नियमन के निम्नलिखित स्तर हैं :—

(1) प्रारम्भ मे, सरकार सभी अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक कार्यों को अपने नियन्त्रण मे कर लेती है। देश के आयातको एव निर्यातको को आयात-निर्यात के लिए सरकार से अनुमति (licence) लेनी पडती है जिसके फलस्वरूप आयात एव निर्यात की प्रकृति, परिमाण एव दिशा आदि सभी बातो पर पूर्ण रूप से सरकारी नियन्त्रण हो जाता है।

(2) द्वितीय स्तर मे देश के निर्यातको को निर्यात की वस्तुओ से प्राप्त विदेशी मुद्रा को मौद्रिक अधिकारी अथवा सरकार के हाथो समर्पित करना पडता है। इसी प्रकार देश मे आयातकों द्वारा प्राप्त देशी मुद्रा के उपयोग पर भी नियन्त्रण किया जाता है। कभी-कभी तो इसे बिल्कुल रोक (block account) लिया जाता है और इसके बदले मे देश की सरकार अपने मनोनुकूल वस्तुएं देती है।

(3) विदेशी मुद्रा का वितरण विभिन्न मदो एव उद्योगो के बीच सरकार द्वारा किया जाता है। इसके सिद्धान्तो और उद्देश्यो की व्याख्या पहले ही की जा चुकी है।

विनिमय-नियन्त्रण का वाणिज्य पर प्रभाव :—विनिमय-नियन्त्रण की नीति को सफल बनाने के लिए इसका प्रयोग सभी अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक कार्यों मे आवश्यक होता है। अन्तर्राष्ट्रीय वाणिज्य के नियन्त्रण के फलस्वरूप यह बहुपक्षीय (Multilateral) नही रहकर द्विपक्षीय (*bilateral*) हो जाता है। द्विपक्षीय होने से अन्तर्राष्ट्रीय वाणिज्य के परिमाण मे बहुत कमी आ जाती है।

1929-30 की महान् आर्थिक मन्दी के बाद स्वर्ण-मान का पतन हुआ जिसके बाद कई देशो मे अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा के कोष की कमी हो गयी, कई देशो से पूँजी दूसरे देशो मे चली गयी। इससे बहुत-से देशो के पास अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक कोष कुछ नही बचा। जिस तरह मुद्रा के अभाव मे वस्तु-विनिमय आवश्यक हो जाता है उसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक कोष के अभाव मे अन्तर्राष्ट्रीय वाणिज्य भी अनिवार्य रूप से द्विपक्षीय (bilateral) विनिमय का रूप ले लेता है तथा इसके लिए विनिमय नियन्त्रण की आवश्यकता पडती है।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार जब द्विपक्षीय वाणिज्य (bilateral trade) का रूप लेता है तो इसके निम्नलिखित तीन स्वरूप होते हैं —

(i) अभ्यश प्रणाली (Quota System),

(ii) अवरुद्ध खाते (Blocked Accounts); तथा

(iii) विनिमय-समाशोधन-समझौते (Exchange Clearing Agreements)।

(i) **अभ्यश प्रणाली** (Quota System) :—इस प्रणाली मे भिन्न-भिन्न देशो से आयात के परिमाण को निश्चित कर दिया जाता है। इस नीति का प्रयोग महान् आर्थिक मन्दी के बाद फ्रास तथा स्टर्लिंग-समुदाय के अन्य देशो ने किया था। इसका उद्देश्य उन देशो के आयात को कम करना था जिन देशो से फ्रास की अन्तर्राष्ट्रीय प्राप्ति देन से कम थी। इस प्रकार अभ्यश प्रणाली द्वारा आयात को कम कर विनिमय दर को विशिष्ट स्तर पर बनाये रखने का प्रयास किया जाता है। वास्तव मे यह प्रणाली आयात एव निर्यात को सन्तुलित करने की बडी ही सुन्दर प्रणाली है।

(ii) **अवरुद्ध खाते** (Blocked Accounts) :—इस प्रकार की प्रणाली का प्रथम युद्ध के बाद जर्मनी मे बहुत बडे पैमाने पर प्रयोग किया गया था। युद्धकाल या अन्य संकट के समय विनिमय की दरो मे परिवर्तन (Fluctuations) पर रोक लगाने के लिए सरकार या तो इस प्रकार के खातो को बन्द कर देती है या वह इस प्रकार की पूँजी अथवा विदेशी सम्पत्ति को देश से बाहर जाने पर रोक (Restriction) लगा देती है जिससे विदेशी इस देश से अपनी पूँजी का हस्तान्तरण नही करने पाते। इस प्रकार की सारी सम्पत्ति "अवरुद्ध खाते" (Blocked Accounts) नामक एक अलग कोष मे जमा कर दी जाती है। इस प्रकार की रकम को व्यय

करने की अनुमति साधारणतः विदेशियों को नहीं दी जाती है, परन्तु कभी-कभी सरकार विदेशियों को इन खातो मे जमा की रकम को कुछ विशेष कार्यों मे उपयोग करने के लिए अनुमति दे देती है। ये विदेशी अपनी मुद्रा को दो प्रकार से वापस पा सकते थे—या तो प्रचलित विनिमय की दर से कम दर पर या देशी वस्तुओ के रूप में। इस प्रकार इस प्रथा मे विवश होकर सरकार की अनुमति से, विदेशी व्यापारी इस देश मे ही माल खरीद कर अपना भुगतान ले लेते हैं या अपनी मुद्रा को कम मूल्य पर बेच देते हैं। इस तरह इससे देश को प्रत्येक अवस्था मे लाभ होता है। किन्तु, अवरुद्ध खाते में रकम जमा करने से विदेशी मुद्रा मे 'चोर बाजारी' उत्पन्न हो जाती है जिसे अर्थशास्त्र मे "ब्लैक बोर्स" (Black Bours) कहते हैं। अत जब कभी सरकार विदेशियो के खातो को स्वदेश मे बन्द कर देती है तब चूंकि मुद्रा विदेशो को नहीं जाने पाती, इसलिए इस रीति से विनिमय की दर के परिवर्तन (Fluctuations) को रोका जा सकता है।

(iii) **विनिमय-समाशोधन या निकासी समझौते** (Exchange Clearing Agreements) :—इस प्रकार के समझौतो की मुख्य बातें इस प्रकार हैं :—(i) ये समझौते दो राष्ट्रो के बीच एक-दूसरे के ऋणो का भुगतान समझौते की शर्त के अनुसार करने के लिए किये जाते हैं। (ii) इन समझौतो के अनुसार दोनो देशो मे आयातकर्त्ता माल का भुगतान अपने देश की मुद्रा मे अधिकृत बैंकों मे करते हैं। इसी प्रकार ये अधिकृत बैंक ही अपने देश के निर्यातकर्त्ताओं को इनके माल का भुगतान देशी मुद्रा मे कर देते हैं। अत इस रीति मे मुद्राओ का एक देश से दूसरे देश को हस्तान्तरण नही होते हुए भी दोनो देशो मे भुगतान हो जाता है। (iii) सरकार द्वारा विनिमय की दर निश्चित की जाती है। (iv) व्यापार का असतुलन सरकारी हस्तक्षेप द्वारा ठीक कर दिया जाता है। अत इस पद्धति मे सरकार व्यापार का नियमन (Regulation) करती है और विनिमय की दर के उच्चावचनो को इस हस्तक्षेप से दूर करने का प्रयत्न करती है। (v) इस पद्धति से दोनो देशो मे आयात-निर्यात मे जो अन्तर होता है उसी का भुगतान एक देश दूसरे देश को करता है और यह भुगतान भी विदेशी मुद्रा का उपयोग किये बगैर ही किया जाता है। (vi) प्रायः, निकासी समझौते ऐसे देशो मे होते है जहां पर विनिमय-नियन्त्रण की स्थिति पहले से होती है। (vii) निकासी समझौतें करते समय सरकार यह भी तय कर देती है कि भुगतान की क्या प्राथमिकता होगी अर्थात् सरकार यह स्पष्ट कर देती है कि पहले किन-किन मदो का भुगतान होगा और बाद मे किन-किन का। पूंजी के आवागमन पर नियन्त्रण लगाकर भी विनिमय का नियन्त्रण किया जाता है।

इनके अतिरिक्त विनिमय प्रतिबन्ध के और भी बहुत-से तरीके हैं जिनमे निम्नांकित प्रमुख हैं :—

(क) **विलम्ब-काल हस्तांतरण** (Transfer Moratorium) — इस नीति के अन्तर्गत विदेशियो के माल अथवा पूंजी का हस्तातरण तत्काल न करके कुछ समय बाद किया जाता है। दूसरे शब्दो मे, इसमे विदेशी भुगतानो को कुछ समय के लिए स्थगित कर दिया जाता है। देश के आयातकर्त्ताओ को अपने ऋणो का भुगतान देशी मुद्रा मे केन्द्रीय बैंक मे जमा करने का आदेश दिया जाता है। इस जमा की गयी राशि को सुरक्षित रखा जाता है तथा निश्चित अवधि के पश्चात् इसका भुगतान विदेशियो को कर दिया जाता है। विलम्ब काल (Moratorium) की समाप्ति पर यह राशि विदेशियो को भेज दी जाती है। इस विलम्ब-काल की अवधि मे इस देश की सरकार को विदेशी विनिमय-सम्बन्धी आवश्यक समायोजन करने का अवसर प्राप्त हो जाता है।

यथास्थिर अथवा निश्चित समझौते (Standstill Agreements) —इस रीति का उपयोग 1931 ई० के महान आर्थिक सकट के शीघ्र पश्चात् ही जर्मनी मे किया गया था। इस रीति के अन्तर्गत समझौते पक्ष वाले देशो के बीच पूंजी के हस्तातरण पर रोक लगा दी जाती है और विदेशी ऋणो का भुगतान एक ही बार न करके धीरे-धीरे किस्तो मे किया जाता है। साधारणतया, पूंजी के हस्तातरण पर प्रतिबन्ध लगाकर अल्पकालीन ऋणो मे परिवर्तित कर दिया जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि ऋणी देश को अपनी आन्तरिक अर्थ व्यवस्था को सुधारने का पर्याप्त अवसर प्राप्त हो जाता है।

इस प्रकार विभिन्न प्रकार से विनिमय-प्रतिबन्ध की नीति अपनायी जाती है किन्तु विनिमय प्रतिबन्ध (Exchange Restriction) का तरीका जो भी हो, इसका उद्देश्य सदा

विनिमय-बाजार में देश की मुद्रा की पूर्ति को कम करना होता है और ऐसा विनिमय-बाजार में आने वाले लेन-देन को रोक कर ही किया जाता है। इस प्रकार की रोक-छेंक पहले-पहल 1931 ई० में केन्द्रीय यूरोप मे विदेशियो को अपनी पूँजी हटाने से रोकने के लिए लगायी गयी थी। विनिमय-प्रतिबन्ध के फलस्वरूप विदेशी मुद्रा मे चोर बाजार की प्रवृत्ति उत्पन्न होने लगती है, किन्तु इस प्रकार के लेन-देन-कानून के विरुद्ध होते हैं।

विनिमय-समकारी कोष

(The Exchange Equalization Account)

यह कोष ब्रिटेन मे सन् 1932 ई० में स्थापित किया गया था। हस्तक्षेप की रीति को स्पष्ट करने के लिए ब्रिटिश विनिमय-समकारी कोष की विस्तृत कार्यवाही का अध्ययन अनिवार्य है।

स्वर्ण-मान के परित्याग के बाद इगलैंड ने ऐसा अनुभव किया कि स्टर्लिंग की विनिमय दरो मे बड़ी तेजी के साथ उतार-चढ़ाव हो रहा था। इन उच्चावचनो को रोकने के लिए इगलैंड ने सन् 1932 ई० मे विनिमय-समकारी-कोष नामक एक कोष स्थापित किया। इस कोष पर सरकारी कोषागार का प्रत्यक्ष नियन्त्रण था, यद्यपि यह कार्य एजेण्ट के रूप मे बैंक ऑफ इगलैंड द्वारा सम्पन्न किया जाता था। इसके साधनो मे सरकार द्वारा प्रचालित कोषागार-विपत्र (*Treasury* Bills) तथा खुले बाजार और अन्य देशो के केन्द्रीय बैंको से खरीदा हुआ सोना सम्मिलित था। आरम्भ मे कोष की कोई पूँजी विदेशी मुद्रा मे नही थी। सरकार ने इस कोष का लगभग 17 5 करोड पौंड के कोषागार-विपत्र दिये थे। यह कोषागार-विपत्रो को प्रत्येक 6 महीने मे नया करा लेता था। कोष का प्रधान उद्देश्य स्टर्लिंग के बदले मे विदेशी मुद्राओ को खरीदकर अथवा बेचकर विनिमय-दरो को स्थायी बनाना था। यदि विदेशी विनिमय-बाजार मे स्टर्लिंगकर की मांग बढ़ती या घटती थी तो कोष उसे यथेष्ट मात्रा मे बेचकर या खरीद कर विनिमय-दर को बढ़ने-घटने से रोकता था।

सरकार इस कोष का उपयोग इस रीति से नहीं करती थी कि विनिमय-बाजार की स्थायी और दीर्घकालीन प्रवृत्तियो मे हस्तक्षेप करे, परन्तु यह प्रयत्न अवश्य किया जाता था कि पूँजी लगानेवालो की घबडाहट और सट्टेबाजो की कार्यवाहियो का विदेशी विनिमय दर पर कोई हानिकारक प्रभाव न पड सके। इसका उद्देश्य बैंकिंग व्यवस्था को विदेशी विनिमय-बाजार से *पृथक रखना और साथ ही दीर्घकालीन प्रवृत्तियो को ध्यान मे रखकर विनिमय दरो को सुदृढ* बनाना था। इस कोष की कार्य-प्रणाली को गुप्त रखा गया था। यह बहुत जटिल भी थी। संक्षेप मे, केवल इतना कहा जा सकता है कि विदेशी विनिमय-बाजार पर नियन्त्रण रखने के लिए यह एक सन्तोषजनक पद्धति थी। इस प्रणाली से विनिमय-दरो के अल्पकालीन परिवर्तनो को भली-भाँति रोक दिया गया था, परन्तु यह प्रणाली विभिन्न देशो के बीच कीमतो और आय के *समायोजन मे सफल नहीं हो सकी।*

आरम्भ मे, विनिमय समकारी कोष स्टर्लिंग के बदले डॉलर खरीदता था क्योंकि डॉलर सन् 1933 ई० तक स्वर्ण मे परिवर्तनशील था, इसलिए इसके द्वारा ही विनिमय-दरो पर नियन्त्रण रखा जाता था। सन् 1933 ई० मे अमेरिका द्वारा स्वर्ण-मान के परित्याग के बाद कोष ने फ्रैंक खरीदना प्रारम्भ कर दिया था, परन्तु सन् 1936 ई० मे फ्रास द्वारा स्वर्ण-मान छोड देने के पश्चात् इसे कठिनाई होने लगी। इस कठिनाई को दूर करने के लिए इगलैंड अमेरिका और फ्रास के बीच एक आपसी समझौता किया गया जिसके अनुसार प्रत्येक देश को यह अधिकार मिला कि वह दूसरे देश की मुद्रा को 24 घण्टे के भीतर उस देश के केन्द्रीय बैंक से स्वर्ण मे परिवर्तित कर दे।

जर्मनी का विनिमय प्रतिबन्ध (Exchange Restrictions in Germany) —विनिमय-प्रतिबन्ध का आशय "मुद्रा अधिकारियो की उन क्रियाओ से है जिनके द्वारा विनिमय बाजार मे मांग एव पूर्ति को प्रभावित करने के उद्देश्य से विनिमय दरो का परिवर्तन प्रतिबन्धित किया जाता है।" इस प्रणाली का आरम्भ हस्तक्षेप से पूर्ण सफलता न मिलने के कारण हुआ। *यह एक अधिक कठोर, प्रत्यक्ष एव सार्थक रीति है। सबसे पहले सन् 1931 ई० मे जर्मनी ने* इस प्रणाली को अपनाया था और बाद मे अर्जेन्टाइना तथा मध्य यूरोप के अन्य देशो ने भी इसे

अपनाया। सन् 1939 ई० के पश्चात् भारत तथा बहुत-से देशों ने युद्ध कालीन अर्थ-व्यवस्था की सफलता के लिए इसका काफी उपयोग किया है। विनिमय-प्रतिबन्ध की प्रणाली की कार्यविधि को समझने के लिए जर्मनी की प्रणाली का संक्षिप्त विवरण नीचे दिया जाता है :—

जर्मनी में यह प्रणाली इस कारण अपनायी गयी थी कि सन् 1931 ई० में जर्मनी की मुद्रा का अवमूल्यन होने के कारण वहाँ पर महान् आर्थिक संकट उत्पन्न हो गया था। अपनी युद्ध-कालीन अर्थ-व्यवस्था को सुधारने के लिए जर्मनी ने बहुत अधिक मात्रा में ऋण लिया था। इन ऋणों को लौटाने के लिए जर्मन मार्क की पूर्ति बहुत बढ़ायी गयी थी परन्तु जर्मनी का निर्यात-व्यापार शून्य के बराबर था जिससे मार्क की माँग बहुत ही कम थी। ऋणदाताओं को यह आशंका थी कि जर्मनी की अर्थ-व्यवस्था टूट जायगी, इसलिए उन्होंने मार्क में भुगतान लेने से इन्कार कर दिया था। स्थिति इतनी खराब हो गयी थी कि मार्क की वाह्य कीमत के शून्य तक गिर जाने का भय था। इस कठिनाई को दूर करने के लिए जर्मनी ने कृत्रिम अधिमूल्यन की नीति को अपनाया और जर्मन मार्क की पूर्ति को इस प्रकार नियन्त्रित करने का प्रयत्न किया गया कि यह इसकी माँग के बराबर हो जाय।

इसके लिए जर्मनी ने बहुत ही कठोर तरीकों को अपनाया—सर्वप्रथम तो सारा विदेशी विनिमय एक केन्द्रीय सत्ता द्वारा रोक दिया गया और विदेशी विनिमय के लिए अनुज्ञापन प्रणाली को प्रारम्भ किया गया। दूसरा कार्य यह किया गया कि सभी नागरिकों को सभी विदेशी मुद्राएँ, विदेशी प्रतिभूतियाँ तथा बोंड सरकार को सौंपने का आदेश दे दिया गया और इस प्रकार एक निश्चित दर पर सरकार ने सारी विदेशी विनिमय सम्पत्ति प्राप्त कर ली। इस सम्पत्ति का एक भाग तो सरकार ने स्वयं रख लिया और शेष को खरीदने की दर से ऊँची कीमत पर उन नागरिकों के हाथ बेच दिया गया जिन्हें विदेशी-विनिमय की आवश्यकता थी। विदेशी यात्रियों के लिए बहुत ही कम मात्रा में विदेशी मुद्रा दी जाती थी। आयात के लिए एक प्राथमिकता निश्चित कर दी गयी थी और कुछ अनावश्यक वस्तुओं के आयात को पूर्णतया बन्द कर दिया गया था। अन्त में जर्मनी ने "अवरुद्ध-खाता" (Blocked Accounts) की नीति को भी अपनाया था। इसके अनुसार विदेशियों को अपनी सम्पत्ति, प्रतिभूतियाँ तथा मुद्राएँ जर्मनी से बाहर ले जाने का अधिकार नहीं दिया गया था। यह सब सम्पत्ति सरकार के 'अवरुद्ध खाता' नामक पृथक् कोष में जमा कर दी जाती थी। प्रत्येक जर्मन ऋणी अपना विदेशी ऋण सरकार को चुकाता था और सरकार इस राशि को सम्बद्ध विदेशी के नाम पर अवरुद्ध खाते में जमा कर देती थी। परन्तु यह राशि विदेशी मुद्राओं में परिवर्तनशील नहीं थी। विदेशियों को इस प्रकार अपनी मुद्राओं में भुगतान नहीं मिलता था और वे विवश हो या तो जर्मनी से माल खरीद कर अपना भुगतान लेते थे या इस राशि को कम दाम पर बेच देते थे। इसका परिणाम जर्मनी के लिए बहुत ही अच्छा हुआ। किन्तु, इसने विनिमय-बाजार में चोर-बाजारी (Block-Bourse) को जन्म दिया।

जर्मनी की नीति महान् आर्थिक जादूगर डॉ० शाट (Schacht) के मस्तिष्क की उपज थी और इसे 'नयी योजना' कहा जाता था। इन उपायों के परिणामस्वरूप जर्मनी का तेजी के साथ आर्थिक विकास हुआ। क्राउथर (Crowther) के अनुसार "जर्मनी के उद्योग बाहर से खरीद कर मंगाये गये कच्चे पदार्थ पर निर्भर करते और नाजी सरकार को जर्मन उद्योग-धन्धों पर आवश्यक सामानों के राशनिंग करने के बड़े विनिमय नियन्त्रण के कारण जो अपरिमित शासन-शक्ति मिल गयी थी, वह उनके हाथ में साधारण औद्योगिक नियन्त्रण का एक महत्वपूर्ण अस्त्र थी, परन्तु इसके अतिरिक्त जर्मनी की चेष्टा इस दिशा में लगी हुई थी कि आयातकृत कच्चे पदार्थों की अधिक पूर्ति देश से ही की जा सके।"

परोक्ष तरीके
(Indirect Methods)

उपरोक्त अनेक प्रत्यक्ष तरीकों के अतिरिक्त विनिमय-नियन्त्रण के कुछ परोक्ष तरीके भी हैं। परोक्ष तरीके प्रत्यक्ष तरीकों की तुलना में कम कठोर होते हैं। इनमें आयात कर, आयात

कोटा (Import Quotas), ब्याज की दर तथा निर्यात पारितोषिक (Export bounty) आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय है। यदि देश की विदेशी विनिमय सम्बन्धी स्थिति चिन्ताजनक है तो आयात करो के द्वारा आयात की मात्रा को कम करके इसमें सुधार किया जा सकता है। आवश्यक वस्तुओं के आयात को कर से मुक्त करके तथा अनावश्यक वस्तुओं पर अधिक मात्रा मे आयात कर लगाकर देश के आयात को परिमाणात्मक (Quantitatively) तथा गुणात्मक (Qualitatively) दोनों दृष्टि से सीमित कर दिया जाता है। इसी प्रकार विभिन्न आयातो की मात्रा या Quota निश्चित करके भी इस उद्देश्य को प्राप्त किया जा सकता है। इस प्रणाली में विभिन्न वस्तुओं के आयातो की मात्रा निश्चित कर दी जा सकती है। साथ ही, कभी-कभी आयातो की मात्रा के साथ-साथ उन देशो के नाम भी निश्चित कर दिये जाते हैं जहाँ से वस्तुओं का आयात किया जा सकता है। विदेशी विनिमय की स्थिति को सुधारने के लिए कभी-कभी निर्यात पर छूट देकर (Export bounty) निर्यातों को प्रोत्साहित किया जाता है और इस प्रकार अधिक विदेशी विनिमय प्राप्त करने की स्थिति मे सुधार किया जाता है। अन्त मे ब्याज की दरो मे अनुकूल परिवर्तन करके देश के अन्दर विदेशी पूँजी को आकर्षित किया जा सकता है। ब्याज की दरो मे वृद्धि करके विदेशियों को अपनी पूँजी देश मे विनियोग करने के लिए प्रोत्साहित किया जाता है। साथ ही, देशी पूँजी को विदेशो मे जाने से रोका जा सकता है, इससे विदेशी विनिमय की स्थिति मे भी सुधार हो सकता है।

इस प्रकार विनिमय-नियन्त्रण के विभिन्न परोक्ष तरीको के द्वारा भी विनिमय-नियन्त्रण के उद्देश्यो को प्राप्त किया जा सकता है।

भारत मे विनिमय-नियंत्रण

(Exchange Control in India)

भारत में सर्वप्रथम विनिमय-नियन्त्रण द्वितीय महायुद्ध के प्रारम्भ होने के साथ-साथ सितम्बर, 1939 ई० मे अपनाया गया। यहाँ विनिमय-नियन्त्रण का कार्य 'रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया' द्वारा किया जाता है जो इस कार्य का सचालन अपने एक पृथक् विभाग—विनिमय-नियन्त्रण विभाग द्वारा करता है। युद्ध काल मे भारतीय सुरक्षा विधान के अनुसार रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया की आज्ञा के बगैर विदेशी विनिमय का उपयोग नही किया जा सकता था। बैंक कुछ स्वीकृत कार्यों के लिए ही विदेशी विनिमय की सुविधाएँ दिया करता था। विदेशी विनिमय-व्यापार का कार्य वास्तव में विनिमय बैंको द्वारा किया जाता था। युद्ध काल मे विनिमय-नियन्त्रण के निम्नांकित उद्देश्य थे :—(i) 1943 ई० मे विधान सभा द्वारा एक विधान पारित हुआ जिसे विनिमय-नियन्त्रण विधान (Foreign Exchange Regulation) कहते हैं जिसे मार्च, 1943 ई० से लागू किया गया। जिस दिन से इस नियम को लागू किया गया उसी दिन से भारतीय सुरक्षा विधान के अन्तर्गत बने नियमों का भी अन्त कर दिया गया। (ii) इस विधान के अनुसार विदेशी विनिमय के सभी लेन-देन रिजर्व बैंक द्वारा स्वीकृति-प्राप्त विनिमय बैंको द्वारा ही किया जाता है। रिजर्व बैंक का परमिट दिखला कर ही इन बैंको से विदेशी मुद्रा खरीदी जा सकती है, परन्तु स्टर्लिंग क्षेत्र (Sterling Area) वाले व्यक्तियों को रिजर्व बैंक से आज्ञा-पत्र नही लेने पडते। ऐसे व्यक्ति अपनी आमदनी मे से 150 पौंड प्रति माह अपने कुटुम्ब के व्यय के लिए भेज सकते थे। (iii) इस विधान का मुख्य उद्देश्य भारतीय स्वर्ण के निर्या०, विदेशो से भारत मे आनेवाली पूँजी एव इसके भुगतान तथा विदेशी मुद्रा के क्रय-विक्रय आदि को नियन्त्रित करना है। (iv) भारत मे रहने वाले विदेशी एक निश्चित मात्रा तक ही मुद्रा अपने देश को भेज सकते हैं (जैसे बीमा की प्रीमियम, बच्चो की शिक्षा, कुटुम्ब का खर्च आदि के लिए)। जब विदेशी अपने देश मे मुद्रा भेजता है तब यह देखा जाता है कि यह रकम उसकी आमदनी मे से रहन-सहन का व्यय घटा कर उससे ज्यादा तो नही है। इसलिए यदि कोई भारतीय फर्म किसी विदेशी व्यक्ति की सेवाएँ प्राप्त करना चाहती है तब उसे पहले रिजर्व बैंक से पूर्व अनुमति लेनी पडती है (v) हिस्सो एव प्रतिभूतियो का लाभ, जमा एव ऋणो का ब्याज, विदेशी मुद्रा मे दी जानेवाली बीमा की प्रीमियम आदि को स्वतन्त्रतापूर्वक भेजा जा सकता है, परन्तु भेजने वाले व्यक्ति को इन हिस्सो प्रतिभूतियो एव जमा का स्वामी होना चाहिए। (vi) जब कोई विदेशी अपने देश को लौटता है तब अपने वेतन की बचत (प्रोविडेण्ड फण्ड इत्यादि), अपने स्वय की सम्पत्ति की बिक्री की रकम आदि

अपनी मुद्रा में ले जा सकता है, परन्तु यह रकम ज्यादा-से-ज्यादा 590 पौंड तक ही हो सकती है। (vii) आयातकर्त्ता विदेशों से मगायी गयी वस्तुओं का भुगतान स्वतन्त्रतापूर्वक कर सकते है, परन्तु इसके लिए आयात लाइसेंस (Import License) होना चाहिए। (viii) इस विधान के अनुसार पूँजी स्टर्लिंग क्षेत्र से बाहर नही भेजी जा सकती परन्तु कुछ विशेष परिस्थितियों मे इसकी भी इजाजत दी जाती है।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष तथा विनिमय स्थायित्व (International Monetary Fund and Exchange Stability) :—सन् 1947 ई० से मुद्रा-कोष ने कार्य करना प्रारम्भ किया। (इस सम्बन्ध में विस्तृत विवरण अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष नामक अध्याय मे पहले ही किया गया है।) इसके अनेक उद्देश्य हैं परन्तु इनमे से एक महत्त्वपूर्ण उद्देश्य सदस्य-राष्ट्रों की मुद्राओं की विदेशी विनिमय-दरों को स्थायी बनाने का प्रयत्न करना भी है। इसके अतिरिक्त इस कोष का उद्देश्य सदस्य-राष्ट्रों द्वारा लगाये गये विनिमय-सम्बन्धी नियन्त्रणों को दूर करना है जिससे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे कोई रुकावट न हो सके। इस कोष का मुख्य कार्य अपने सदस्य-राष्ट्रों की मुद्राओं का निश्चित दर पर क्रय-विक्रय करना भी है। इसने सदस्य-राष्ट्रों की मुद्राओं का स्वर्ण अथवा डॉलर से सम्बन्ध स्थापित कर सभी मुद्राओं की अपनी विनिमय-दर भी निर्धारित कर दी है। इन दरों मे कोई भारी उतार-चढ़ाव बिना कोष की अनुमति से नही हो सकेंगे। यद्यपि कोष किसी भी सदस्य-राष्ट्र की आन्तरिक अर्थ-व्यवस्था में हस्तक्षेप नही करेगा, परन्तु कोई देश अपनी मुद्रा का अवमूल्यन बिना कोष की अनुमति के नहीं कर सकता है। कोष की स्थापना के समय यह आशा की गयी थी कि विभिन्न राष्ट्रों ने जितने भी विनिमय नियन्त्रण लगा रखे हैं वे सब सक्रमण काल तक ही रहेंगे और इन्हें शीघ्र ही समाप्त कर दिया जायगा। किन्तु अभी तक यह आशा पूरी नहीं हो सकी है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के विकास के विनिमय-नियन्त्रण की नीति का परित्याग कर एक स्वतन्त्र नीति को अपनाना बहुत आवश्यक है जो मुद्रा को का एक प्रधान उद्देश्य है।

विशेष अध्ययन-सूची

1. Crowther : *An Outline of Money*, Chapter VIII.
2. League of Nations : International Currency Experiences (1944), Chapter, XIII.
3. Cole : *Money, its Present and Future*, Chapter, XIII.
4. Paul Enzing : Exchange Control.

—:o:—

कुछ स्मरणीय उद्धरण

1. "A country will gain by specialising in the production of those commodities in which its comparative cost advantage is greater, exporting these commodities in exchange for commodities in which its comparative advantage is less" —*Benham*

2. "Balance of trade of a country is the relation over a period, between the value of her exports and the value of her imports" —*Benham*

3. "Balance of payments of a country is a record of its monetary transactions over a period with the rest of the world"—*Benham*

4. "Free Trade is a system of commercial policy which draws no distinction between domestic and foreign commodities and, therefore, neither imposes additional burden on the latter, nor grants any special favour to the former" —*Adam Smith*

5. 'Nurse the baby, protect the child and free the adult'

अध्याय : 42 (क)

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की शर्तें एवं लाभ

(Terms of International Trade)

प्राक्कथन (Introduction) —लाभ प्राप्त करने के उद्देश्य से व्यक्तियों तथा व्यक्ति-समूहों के बीच वस्तुओं एवं सेवाओं के विनिमय को व्यापार कहते हैं। व्यापार को व्यापक रूप से निम्नांकित दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है —(1) देशी, आन्तरिक अथवा घरेलू व्यापार (Internal Trade), एवं (2) अन्तर्राष्ट्रीय अथवा विदेशी व्यापार (International Trade)। देशी अथवा आन्तरिक व्यापार से हमारा तात्पर्य उस व्यापार से है जो किसी देश की सीमा के अन्तर्गत ही विभिन्न स्थानों अथवा क्षेत्रों के बीच होता है। इसके विपरीत दो या दो से अधिक पृथक् राष्ट्रों के बीच के व्यापार को विदेशी व्यापार अथवा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार (International Trade) कहते हैं। उदाहरण के लिए, यदि बम्बई के बने हुए कपडे आरा, पटना अथवा कलकत्ता जाते हैं तो यह आन्तरिक व्यापार हुआ। किन्तु यदि ये ही कपडे अमेरिका, ब्रिटेन अथवा जापान के बाजारों में जाते हैं तो यह अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार हुआ। दूसरे शब्दों में, जबकि आंतरिक व्यापार देश की सीमाओं के अन्दर ही होता है अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार देश की सीमाओं को पार कर विदेशों तक चला जाता है। इस प्रकार "अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार अथवा अर्थशास्त्र का सम्बन्ध उन सभी आर्थिक आदान प्रदान से है जिनमे राष्ट्रीय सीमा की समस्या उत्पन्न होती है—जैसे प्रवास (Emigration), एक देश के व्यक्तियों द्वारा दूसरे देश के व्यक्तियों को ऋण देना, अथवा वस्तुओं का क्रय विक्रय।"[1]

आन्तरिक एवं विदेशी व्यापार मे समानता (Similarities between Internal and International Trade) —आंतरिक एवं अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार अथवा विदेशी व्यापार में बहुत कुछ समानता पायी जाती है। दोनों दशाओं में मूल सिद्धान्त एक ही है। दोनों ही प्रकार के व्यापार का आधार श्रम विभाजन (Division of Labour) एवं कार्यों का विशिष्टीकरण (Specialisation) होता है। दोनों ही प्रकार के व्यापार के अन्तर्गत लाभ की प्रवृत्ति की प्रधानता रहती है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में भी निर्यातकर्त्ता का प्रधान उद्देश्य अभावग्रस्त देशों में माल भेजकर उनसे लाभ कमाना होता है। दोनों ही दशाओं में वस्तुओं अथवा सेवाओं का विनिमय विभिन्न व्यक्तियों के बीच होता है, किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में दोनों पक्ष पृथक पृथक देशों में निवास करते हैं। किन्तु, आंतरिक व्यापार में कोई एक व्यापारी ऐसी वस्तुएँ अथवा सेवाएँ, जो किसी स्थान विशेष में प्रचुर मात्रा में उपलब्ध रहती है, के बदले किसी दूसरे व्यापारी से ऐसी वस्तुएँ अथवा सेवाएँ प्राप्त करता है जो उस स्थान में या तो दुर्लभ है या उपलब्ध ही नहीं हैं। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के साथ भी यही बात पायी जाती है। जिस प्रकार विभिन्न व्यक्तियों में भिन्न भिन्न कार्य करने की योग्यता अलग अलग होती है, ठीक उसी प्रकार प्राकृतिक तथा अन्य सुविधाओं के कारण, विभिन्न राष्ट्र अलग-अलग वस्तुओं तथा सेवाओं के उत्पादन के लिए उपयुक्त होते हैं। अतएव प्रत्येक देश साधारणतया उन्हीं वस्तुओं अथवा सेवाओं के उत्पादन में अपना समय लगाता है जिनकी उत्पत्ति के लिए वहाँ अत्यधिक मात्रा में प्राकृतिक सुविधाएँ उपलब्ध रहती हैं तथा अन्य वस्तुओं का उत्पादन दूसरे देशों पर छोड देता है। और, इस प्रकार सभी देश अपनी अपनी वस्तुओं तथा सेवाओं का दूसरे देश की वस्तुओं एवं सेवाओं से विनिमय कर अपनी आवश्यकताओं की पूर्त्ति करते हैं। इससे सभी देशों को लाभ प्राप्त होता है। इस प्रकार स्वभावतः आंतरिक एवं अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में कोई विशेष अन्तर नहीं है। किन्तु, इन दोनों मे इतनी समानता होते हुए भी इनमें कुछ ऐसे

---

1 "International Economics is concerned with all economic transactions involving passage across a national frontier Examples are emigration the loan of capital by nationals of one country to those of another, the purchase of goods by the nationals of one country from those of another"—*R F. Harrold*

महत्त्वपूर्ण अन्तर हैं जिनके फलस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिए एक पृथक् सिद्धात की आवश्यकता पड़ती है।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिए एक पृथक् सिद्धान्त की आवश्यकता
(Need for a Separate Theory of International Trade)

यद्यपि आन्तरिक एव अान्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे कोई मौलिक विभेद नही है, फिर भी कई व्यावहारिक कारणो से अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का पृथक् अध्ययन अधिक सुविधाजनक होता है। दूसरे शब्दो मे, **निम्नांकित कारणों से अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार** (International Trade) के लिए **एक पृथक् सिद्धान्त की आवश्यकता पडती है** —

(१) श्रम एव पूंजी की गतिशीलता (Mobility of Labour and Capital) — प्राय यह देखा जाता है कि किसी देश की सीमा के अन्दर श्रम एव पूंजी के साधनो की गतिशीलता विभिन्न देशो के बीच की अपेक्षा अधिक होती है (Labour and Capital are much more mobile within a State than between different States)। देश के भीतर पूंजी एव श्रम बहुत अधिक गतिशील रहते हैं जिसके फलस्वरूप सम्पूर्ण देश मे समान व्यवसायो मे मजदूरी एव व्याज की दरो मे समानता पायी जाती है। इससे सम्पूर्ण देश मे वस्तुओ का उत्पादन व्यय भी लगभग एक समान रहता है। परन्तु, विभिन्न देशो के बीच श्रम एव पूंजी में गतिशीलता का अभाव रहता है। इसके कई कारण हैं। विभिन्न देशो के बीच भाषा, धर्म, रीति-रिवाज तथा सामाजिक एव राजनीतिक परिस्थितियो में विभिन्नता और देश प्रेम, यात्रा-व्यय तथा विदेशियो के प्रति स्वाभाविक सन्देह के कारण श्रम एव पूंजी एक देश से दूसरे देश मे उतनी सुगमतापूर्वक नहीं प्रवाहित होते हैं जितना कि एक देश के अन्दर। राष्ट्रीय सरकारो द्वारा भी श्रम एव पूंजी के बाहर जाने पर तरह तरह के प्रतिबन्ध लगाये जाते हैं। श्रम पूंजी की तुलना मे और भी कम गतिशील होता है। आदम स्मिथ ने इस सम्बन्ध मे ठीक ही कहा है कि "सभी वस्तुओ मे मनुष्य का एक स्थान से दूसरे स्थान मे भेजना अत्यन्त कठिन है।" पूंजी श्रम से अधिक गतिशील अवश्य होती है, किन्तु इसे भी लोग कई कारणो से अपने ही देश मे विनियोग करना अधिक पसन्द करते है। उत्पादन के इन साधनो मे गतिशीलता के अभाव के परिणामस्वरूप विभिन्न देशो मे मजदूरो की मजदूरी एव व्याज की दरो मे भी विभिन्नता पायी जाती है। इससे विभिन्न देशो के बीच समान वस्तुओ तथा सेवाओ के उत्पादन व्यय मे विभिन्नता होने लगती है जिसका अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की प्रकृति पर बहुत गहरा प्रभाव पडता है। दूसरे शब्दो मे, विभिन्न देशो को अलग अलग वस्तुओं के उत्पादन में तुलनात्मक लाभ प्राप्त होने लगता है। इससे विशिष्टीकरण (Specialisation) को प्रोत्साहन मिलता है तथा विभिन्न देशो के बीच प्रतियोगिता नहीं रह जाती। गतिशीलता के अभाव का एक और प्रभाव पडता है। देश के अन्दर दीर्घकाल में सभी वस्तुओ के मूल्य मे उत्पादन व्यय के बराबर होने की प्रवृत्ति पायी जाती है, क्योंकि श्रम एव पूंजी एक उद्योग से दूसरे उद्योग में गतिशील हो सकते हैं। किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में ऐसी सम्भावना नही पायी जाती है जिससे विभिन्न देशो के मूल्य एव उत्पादन लागत मे अन्तर पाया जाता है।

किन्तु, इस सम्बन्ध में ध्यान देने योग्य बात यह है कि किसी देश के अन्दर भी पूंजी एव श्रम पूर्णतया गतिशील (Perfectly mobile) नही होते। इसी प्रकार विभिन्न देशो के बीच भी वे पूर्णतया अगतिशील (Perfectly immobile) नही होते। इसका कारण यह है कि तीव्र आवागमन के साधनों तथा अन्तर्राष्टीय सहयोग के परिणामस्वरूप आर्थिक एव राजनीतिक क्षेत्रो में आजकल दूरी का महत्त्व नही रह गया है। अतएव पूंजी तथा श्रम की आन्तरिक एव अन्तर्राष्ट्रीय गतिशीलता (Internal and international mobility) में अब केवल मात्रा का (difference of degree) है प्रकार (kinds) का नहीं।

(२) विभिन्न देशों की मुद्रा प्रणाली एव राजस्व व्यवस्था मे अन्तर (Difference in the Monetary Standards and the Financial systems of different countries)— प्रत्येक देश की मुद्रा प्रणाली एव राजस्व व्यवस्था पृथक् पृथक होती है जिसका अन्तर्राष्ट्रीय

व्यापार पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। किसी देश के भीतर एक ही प्रकार की मुद्रा का प्रचलन रहता है जिससे लेन-देन के काम में कोई कठिनाई नहीं होती। किन्तु, अभी तक कोई एक ऐसी सार्वभौमिक मुद्रा नहीं हो पायी है जो सभी देशों के निवासियों के लिए एक समान विधि ग्राह्य हो। अतएव अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में विभिन्न मुद्राओं के कारण विनिमय में कठिनाई होने लगती है। कभी-कभी विदेशी विनिमय-सम्बन्धी कठिनाइयाँ इतनी जटिल हो जाती हैं कि इससे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में भी रुकावटें उत्पन्न होने लगती है। साथ ही, प्रत्येक देश स्वतन्त्र रूप से अपनी मौद्रिक नीति का कार्यान्वयन करता है जिससे विभिन्न देशों के मूल्य-तल में भी समानता नहीं रहती। विभिन्न देशों की राजस्व-व्यवस्था में भी विभिन्नता पायी जाती है। एक देश के अन्दर वस्तुओं के विनिमय पर साधारणतया कोई प्रतिबन्ध नहीं होता, किन्तु, एक देश से दूसरे देश में वस्तुओं को भेजने पर आयात निर्यात कर देना पड़ता है। इस प्रकार विभिन्न देशों की मुद्रा प्रणाली में विभिन्नता, स्वतन्त्र मौद्रिक नीति का अनुसरण, मूल्य-तल में अन्तर तथा राजस्व-व्यवस्था में विभिन्नताओं के परिणामस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिए एक पृथक् सिद्धान्त की आवश्यकता पड़ती है।

(3) **प्राकृतिक साधन एवं भौगोलिक स्थिति में विभिन्नता** (Differences in Natural Resources and Geographical conditions) —विभिन्न देशों में प्राकृतिक साधनों तथा भौगोलिक स्थिति, जैसे—जलवायु, वर्षा आदि को लेकर भी विभिन्नता पायी जाती है जिससे प्रादेशिक श्रम-विभाजन (Territorial Division of Labour) तथा उद्योगों के स्थानीयकरण (Localization of industries) को प्रोत्साहन मिलता है। उदाहरणार्थ, किसी खास देश में कुछ खास खनिज-पदार्थ विशेष मात्रा में पाये जाते हैं, जैसे—भारत में अभ्रक तथा ईरान एवं इराक में पेट्रोल। इसी प्रकार कोई विशेष क्षेत्र किसी विशेष कृषि पदार्थ के उत्पादन के लिए अधिक योग्य होता है—जैसे बंगाल में जूट तथा मिस्र में कपास। इस प्रकार प्राकृतिक एवं भौगोलिक परिस्थितियों में विभिन्नता के फलस्वरूप भी वस्तुओं के उत्पादन व्यय में अन्तर होता है जिससे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिए एक पृथक् सिद्धान्त की आवश्यकता पड़ती है।

(4) **विभिन्न देशों की औद्योगिक एवं व्यावसायिक नीति में विभिन्नता** (Differences in the Industrial and Commercial policies of different States) —अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार दो या दो से अधिक स्वतन्त्र राष्ट्रों के बीच होता है जो औद्योगिक एवं व्यावसायिक मामलों में बिलकुल स्वतन्त्र नीति का अनुसरण करते हैं। वस्तुओं के आयात निर्यात एवं विनिमय आदि के सम्बन्ध में सभी राष्ट्र अपनी पृथक् पृथक् नीति के अनुसार ही कार्य करते हैं। आयात निर्यात एवं विनिमय पर तरह तरह के नियंत्रण पाये जाते हैं। इन सबका अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ता है। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का राजनीति के साथ इतना गहरा सम्बन्ध है कि इसके अध्ययन के लिए एक पृथक् सिद्धान्त की आवश्यकता पड़ती है।

(5) **वस्तुओं के आयात एवं निर्यात में बाधाएँ** (Obstacles in the import and export of commodities) —विभिन्न राष्ट्रों की व्यापारिक एवं औद्योगिक नीति में विभिन्नता के कारण भी आयात एवं निर्यात में बहुत अधिक कठिनाई होती है। कभी-कभी सामाजिक कारणों से भी वस्तुओं के आयात निर्यात में बाधा उत्पन्न होती है। इसके विपरीत एक ही देश के भिन्न-भिन्न भागों में इस प्रकार की बाधाएँ नहीं हुआ करती हैं। अतएव, चूँकि विभिन्न देशों के बीच आयात एवं निर्यात स्वतन्त्र रूप से नहीं होते, इसलिए भी वस्तुओं का उत्पादन व्यय एक देश से दूसरे देश में भिन्न होता है।

(6) **उत्पादन-सम्बन्धी परिस्थितियों में विभिन्नता** (Dfferences in the conditions of production)—किसी देश के विभिन्न भागों में उत्पादन सम्बन्धी परिस्थितियाँ प्राय एक समान रहती हैं, किन्तु, विभिन्न देशों में उत्पादन सम्बन्धी परिस्थितियों में भी विभिन्नता पायी जाती है। किसी देश के सभी भागों में उत्पादक तथा मजदूर के लिए एक समान कारखाना कानून (Factory Legislations), श्रम विधान (Labour Legislations), सामाजिक सुरक्षा की व्यवस्था (Social Security Provisions) आदि होंगे।

किन्तु, विभिन्न देशों में ये व्यवस्थाएँ एक समान नहीं होती। दो देशों की सरकार की आर्थिक नीतियाँ भी अलग-अलग हो सकती हैं। उदाहरणार्थ, एक देश की सरकार किसी वस्तु के उत्पादन के लिए उद्योगपतियों को आर्थिक सहायता प्रदान कर सकती है, जबकि उसी वस्तु

के उत्पादन पर दूमरे देश की सरकार प्रतिबन्ध लगा मकती है। इससे दोनो दशो मे उत्पनि लागतो (Cost of Production) मे निश्चित रूप से अन्तर उत्पन्न हो जायगा। इस मम्बन्ध मे यदि विभिन्न देशों के बीच श्रम और पूंजी की गतिशीलता पूर्ण तया स्वतत्र भी होती, जिसके कारण मजदूरी, सूद की दर, लाभ आदि सभी देशो मे समान होते, तब भी विभिन्न सरकारों द्वारा दी जाने वाली सुविधाओ मे अन्तर के कारण वस्तुओ की वास्तविक लागत (Real Costs) मे अन्तर होता। इस अन्तर के कारण ही उन देशो के बीच अन्तराष्ट्रीय व्यापार प्रारम्भ हो जायगा।

(7) **पृथक बाजार** (Separate Markets)—बाजारों के बीच भी सास्कृतिक अन्तर (Cultural Distinctions) पाया जाता है। बहुधा राष्ट्रीय बाजार भी एक दूसरे स पृथक होने हैं। उदाहरणार्थं, ब्रिटिश लोग दाएं चालित मोटर गाडी (Right Hand Drive Cars) का इस्तेमाल करते है जबकि फ्रेंच बाम चालित (Left Hand Drive) का। इस प्रकार मोटरगाडी का बाजार पृथक पृथक हो जाता है। परन्तु, बाजार अन्य बातो के चलते भी पृथक हो जाता है जैसे— भाषा, रीति रिवाज, आदत, रुचि, पसन्द आदि। इससे जीवन स्तर मे अन्तर आ जाता है। वस्तुओ डिजाइन आदि मे भी अन्तर होता है। किन्डलबरजर (C P Kindlebergar) के अनुसार "Export and Import trade must get outside of the culture of the domestic market to become acquainted with different goods, described in different words, using different measurements bought and sold on different terms, for different currency units"

(8) **आर्थिक राष्ट्रीयतावाद** (Economic Nationalism) —विभिन्न देशों के अपने-अपने पृथक राष्ट्रीय आर्थिक-जीवन (National Economic life) होते हैं। राजनैतिक स्वतन्त्रता के साथ ही आर्थिक आत्म निर्भरता की माग मे भी उत्तरोत्तर वृद्धि हुई है। (Along with the political independence, has grown a demand for economic self-reliance self-esteem expressed largely in plans and *hopes for economic development*) वर्त्तमान समय मे सभी राष्ट्र उपभोग, उत्पादन, पूंजी निर्माण आदि की वृद्धि के लिये अथक प्रयास कर रहे हैं। इस प्रकार राजनैतिक और आर्थिक राष्टीयतावाद का उदय हो रहा है। फलस्वरूप आन्तरिक और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे भी अन्तर बढत जा रहा है।

उपरोक्त कारणो के आधार पर यह कहा जा सकता है कि आन्तरिक व्यापार तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की समस्याएं पूर्णतया भिन्न भिन्न होती हैं जिससे आन्तरिक व्यापार-सम्बन्धी नियम अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिए उपयुक्त नही रह जाते। अतएव, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिए एक पृथक् सिद्धान्त की आवश्यकता पडती है।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार अन्तरप्रदेशीय व्यापार की एक विशिष्ट दशा है (International Trade is a special case of inter regional trade)—किन्तु उक्त विचारधारा के विपरीत एक दूसरी विचारधारा है जिसके अनुसार ध्यानपूर्वक देखने से यह जान पडेगा कि आन्तरिक एव अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के उपर्युक्त अन्तर मौलिक एव आधारभूत नही हैं। इस विचारधारा के अनुसार इनमे केवल मात्रा (degree) का अन्तर है, जाति अथवा प्रकार (Kinds) का नही। यद्यपि यह ठीक है कि विभिन्न देशो के बीच श्रम एव पूंजी मे गतिशीलता का अभाव पाया जाता है, परन्तु इससे यह नही समझना चाहिए कि देश के अन्दर श्रम एव पूंजी पूर्णत गतिशील होते हैं। वास्तव मे, एक देश के भीतर भी भाषा, धर्म एव रीति रिवाज आदि मे अन्तर पाया जाता है जिससे श्रम की गतिशीलता मे बाधा उत्पन्न होती है। अतएव, देश के भीतर भी पूंजी का प्रवाह पूर्णतया मुक्त नही होता। इसी प्रकार देश के विभिन्न भागों मे भी प्राकृतिक साधन एव भौगोलिक परिस्थितियो मे विभिन्नता पायी जाती है। अत, इन सब कारणो से आन्तरिक एव अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे कोई मौलिक विभेद नही रह जाता। ओहलिन (Ohlin) ने इस सम्बन्ध मे ठीक ही कहा है कि 'अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार अन्तरप्रदेशीय व्यापार की ही एक विशिष्ट दशा है।' (International trade is only a special case of the Inter-regional trade) वास्तव में अतर्राष्ट्रीय तथा अतरप्रदेशीय व्यापार मे केवल मात्रा का अन्तर है, प्रकार का नहीं। (The differences between Inter regional and International trade

is one of degree and not of Kind) फिर भी, कुछ महत्त्वपूर्ण बातें ऐसी अवश्य हैं जो आन्तरिक व्यापार की अपेक्षा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे अधिकता से पायी जाती हैं। इनसे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे कुछ विशिष्टता अवश्य आ जाती है।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे उत्पादन-व्यय का अन्तर

(Differences of Costs in International Trade)

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के क्षेत्र मे सर्वप्रथम प्रश्न यह उठता है कि कोई देश किसी वस्तु का आयात अथवा निर्यात क्यो करता है ? इसका कारण बिल्कुल स्पष्ट है। स्वदेशी व्यापार की ही तरह विदेशी व्यापार का आधार भी श्रम विभाजन (Division of Labour) होता है। यदि एक ही व्यक्ति सभी वस्तुओ का स्वय उत्पादन करे तो वह कोई भी वस्तु ठीक से नहीं बना सकता। इसी प्रकार यदि सभी देश सभी वस्तुओ का उत्पादन करें तो उनका उत्पादन अधिकतम नही हो सकता। जलवायु, भौगोलिक स्थिति, खनिज पदार्थो की उपलब्धि, कार्य करने की दशा तथा श्रम की उत्पादकता में अन्तर के कारण यदि एक राष्ट्र किसी एक वस्तु को कम लागत पर बना सकता है तो दूसरा राष्ट्र किसी दूसरी वस्तु को। अतएव, प्रत्येक देश उन्ही वस्तुओ के उत्पादन मे विशिष्टता (Specialisation) प्राप्त कर लेता है जिनके उत्पादन के लिए उसे अपेक्षाकृत अधिक सुविधाएँ उपलब्ध रहती हैं और अपनी वस्तुओ का निर्यात कर वह अपनी आवश्यकता की अन्य वस्तुओ का आयात करता है। विशिष्टीकरण की स्थिति मे प्रत्येक देश के साधनो का प्रयोग अधिकतम उपयोगी कार्यो मे होता है जिससे सभी देशो को अधिकतम लाभ प्राप्त होता है। अतएव, जब विभिन्न देश भिन्न भिन्न वस्तुओ के उत्पादन मे विशिष्टीकरण प्राप्त कर लेते हैं, यानी जब अन्तर्राष्ट्रीय आधार पर श्रम विभाजन होने लगता है तब अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार उत्पन्न होता है। As exchange in general is necessitated by division of labour, so foreign trade appears when the division of fabour is pushed beyond national frontiers)

इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का तात्कालिक कारण विभिन्न देशो मे वस्तुओ के उत्पादन व्यय मे अन्तर है। वस्तुओं के उत्पादन-व्यय में अन्तर तीन प्रकार का हो सकता है —

(१) उत्पादन-व्यय मे पूर्ण अन्तर (Absolute differences in costs),
(२) उत्पादन-व्यय में समान अन्तर (Equal differences is costs) तथा
(३) उत्पादन व्यय मे तुलनात्मक अन्तर (Comparative differences in costs)।

(१) उत्पादन व्यय मे पूर्ण अन्तर

(Absolute Differenees in costs)

जब दो या दो से अधिक वस्तुओ के उत्पादन मे कोई एक देश किसी एक वस्तु का उत्पादन कम लागत पर तथा दूसरा देश दूसरी वस्तु का उत्पादन कम लागत पर करता है तो दोनों वस्तुओं के उत्पादन व्यय मे इस अन्तर को पूर्ण अन्तर (Absolute differences in costs) कहा जाता है। इसमे प्रत्येक देश किसी एक वस्तु का उत्पादन कम व्यय पर करता है। निम्नांकित उदाहरण द्वारा इसे अधिक स्पष्ट किया जा सकता है। यदि हम सुविधा के लिए केवल दो देशो तथा दो वस्तुओं का उदाहरण लें और व्यय को सिर्फ श्रम के रूप म प्रकट करें तो—

देश	कुल-व्यय	वस्तु	
		गेहू	चाय
भारत	10 दिन	10	20
पाकिस्तान	10 दिन	20	10

उपरोक्त उदाहरण में भारत को चाय तथा पाकिस्तान को गेहूँ उत्पन्न करने में खर्च कम

पड़ता है। यदि इन दोनो देशो मे व्यापारिक सम्बन्ध नहीं होता तो दोनो ही देश दोनो वस्तुओ का उत्पादन करेंगे और भारत मे 10 गेहूँ 20 चाय के लिए तथा पाकिस्तान मे 20 गेहूँ 10 चाय के लिए बदला जायगा। किन्तु, दोनो देशो के बीच व्यापार होने पर भारत को चाय तथा पाकिस्तान को गेहूँ के उत्पादन मे विशिष्टता प्राप्त करना आवश्यक होगा। यदि भारत 20 चाय के बदले 10 से अधिक गेहूँ प्राप्त कर सके तथा पाकिस्तान 20 गेहूँ के बदले 10 से अधिक चाय प्राप्त कर सके तो इसमे दोनो देशो को लाभ होगा। ऐसी स्थिति मे दोनो देशो के बीच विनिमय की दर की सीमा 10 गेहूँ : 6 चाय से लेकर 10 गेहूँ . 19 चाय के अन्तर्गत कही पर भी निश्चित हो सकती है।

दोनो देशो के बीच वास्तविक विनिमय की दर क्या होगी, यह अभी निश्चित रूप से नही कहा जा सकता। (वास्तविक विनिमय की दर दोनो देशो की परस्परानुवर्ती मांग पर निर्भर करेगी।) किन्तु, इतना कहा जा सकता है कि उत्पादन-व्यय मे पूर्ण अन्तर से विदेशी व्यापार दोनो देशो के लिए लाभदायक होता है। प्रत्येक देश उसी वस्तु के उत्पादन में विशिष्टता प्राप्त करता है जिसके उत्पादन में उसका उत्पादन व्यय कम रहता है।

इस प्रकार व्यय में पूर्ण अन्तर विदेशी व्यापार का प्रमुख कारण है। प्रो० टॉसिग (Taussing) ने इस सम्बन्ध में ठीक ही कहा है कि व्यय मे पूर्ण अन्तर के कारण ही उष्ण तथा समशीतोष्ण देशो के बीच व्यापार होता है। उष्ण तथा समशीतोष्ण क्षेत्रो में उत्पादन की दशा, जलवायु एव खनिज-पदार्थों में इतना अधिक अन्तर होता है कि कुछ वस्तुएँ उष्ण तथा कुछ समशीतोष्ण क्षेत्रों में कम लागत पर उत्पन्न की जाती हैं। इसी प्रकार के व्यापार का उदाहरण ब्राजिल एव सयुक्त राज्य अमेरिका के बीच कहवा एव गेहूँ के व्यापार का है।

(२) उत्पादन व्यय में समान अन्तर
(Equal Differences in Costs)

जब कोई एक देश दोनों वस्तुओ को दूसरे देश की अपेक्षा कम लागत पर तैयार करता हो, किन्तु उनके व्यय में अन्तर का अनुपात एक समान होता है तो इसे उत्पादन-व्यय में समान अन्तर (Equal Differences in Costs) कहते हैं। उदाहरण के लिए :—

देश	कुल-व्यय	वस्तु	
		गेहूँ	चाय
भारत	10 दिन	20	40
पाकिस्तान	10 दिन	10	20

उपरोक्त उदाहरण में भारत पाकिस्तान की अपेक्षा दोनो ही वस्तुओ को कम लागत पर तैयार करता है, किन्तु दोनों वस्तुओ के उत्पादन में पाकिस्तान की अपेक्षा भारत की कुशलता दुगुनी अधिक है। अतएव, दोनों देशो में 10 गेहूँ के बदले 20 चाय की दर से विनिमय होगा। उत्पादन-व्यय मे इस प्रकार के समान अन्तर से दोनो देशो के बीच व्यापार सम्भव नहीं है, क्योंकि कोई भी देश 10 गेहूँ के बदले 20 चाय से अधिक देने के लिए तैयार नही होगा। अतएव इन्हे परस्पर व्यापार से कोई लाभ नही होगा।

(३) उत्पादन व्यय में तुलनात्मक अन्तर
(Comparative Differences in Costs)

जब कोई एक देश दोनो वस्तुओ को दूसरे देश की अपेक्षा कम लागत पर बनावे, किन्तु

उनके व्यय मे अन्तर का अनुपात एक-सा नहीं हो तो इसे उत्पादन-व्यय मे तुलनात्मक अन्तर (Comparative Differences in Costs) कहते हैं। इसे निम्नांकित उदाहरण द्वारा अधिक स्पष्ट किया जा सकता है :—

देश	कुल-व्यय	वस्तुएँ	
		गेहूँ	चाय
भारत	10 दिन	20	40
पाकिस्तान	10 दिन	10	30

उपरोक्त उदाहरण मे भारत पाकिस्तान की अपेक्षा दोनो ही वस्तुएँ कम लागत पर उत्पन्न करता है, किन्तु गेहूँ का उत्पादन व्यय भारत मे पाकिस्तान की अपेक्षा आधा तथा चाय का तीन-चौथाई है। यदि दोनो देशो के बीच कोई व्यापार नही होगा तो भारत मे 10 गेहूँ के बदले 20 चाय तथा पाकिस्तान मे 10 गेहूँ के बदले 30 चाय मिलेगी। इससे स्पष्ट है कि यदि भारत को 10 गेहूँ के बदले 20 से अधिक चाय तथा पाकिस्तान को 20 से कम चाय के लिए 10 गेहूँ प्राप्त हो तो दोनो देशों को इस प्रकार के व्यापार से लाभ होगा। ऐसी स्थिति मे भारत गेहूँ तथा पाकिस्तान चाय का उत्पादन करेगा।

अधिकांश विदेशी व्यापार का आधार उत्पादन-व्यय मे तुलनात्मक अन्तर ही होता है। इसमें कोई सन्देह नही कि कुछ विदेशी व्यापार उत्पादन-व्यय मे पूर्ण अन्तर के कारण भी होता है, किन्तु पूर्ण अन्तर को भी तुलनात्मक अन्तर का ही चरम उदाहरण समझना चाहिए। अतएव, व्यावसायिक जीवन में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लाभ प्रायः इसी प्रकार उत्पन्न होते हैं तथा यही विदेशी व्यापार की सामान्य दशा भी होती है। इसी प्रकार के अन्तर पर अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के तुलनात्मक लागत का सिद्धान्त भी आधारित है।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से लाभ

(The Gains from International Trade)

देशी व्यापार की तरह अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से भी दोनो पक्षो को लाभ होता है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से प्रादेशिक श्रम विभाजन (Territorial Division of Labour) एवं विशिष्टीकरण के लाभ प्राप्त होते हैं। विदेशी-व्यापार के कारण ही प्रत्येक देश उसी वस्तु के निर्माण मे विशिष्टीकरण प्राप्त करता है जिसके उत्पादन मे उसकी सापेक्षिक योग्यता अधिक रहती है। इससे प्रति-व्यक्ति उत्पादन अधिक होता है। दूसरे शब्दो में, विदेशी व्यापार के कारण प्रत्येक देश केवल उसी वस्तु का उत्पादन करता है जिसे वह न्यूनतम लागत मे बना सके। इससे अधिकतम उत्पादन (Maximum Production) होता है। साथ ही, विशिष्टीकरण से आर्थिक साधनो का अधिकतम प्रयोग भी सम्भव होता है तथा राष्ट्रीय आय भी अधिकतम होती है। इस प्रकार अन्तर्राष्टीय व्यापार से सभी देशो को लाभ होता है एवं प्रति-व्यक्ति वास्तविक आय पहले से अधिक होती है।

यदि विदेशी व्यापार लागतो मे पूर्ण अन्तर (Absolute differences in costs) पर आधारित है तो इसका तात्पर्य यह होगा कि हमलोग दूसरे देशवालो को उन वस्तुओं का उत्पादन करने देते हैं जिनके उत्पादन मे उनकी सापेक्षिक कुशलता अधिक होती है और उन वस्तुओ को जिनमे इनकी सापेक्षिक कुशलता कम रहती है को अपनी अधिक कुशलता वाली वस्तुओ से खरीदते हैं। लागत मे पूर्ण अन्तर से प्राप्त लाभ को एक उदाहरण द्वारा अधिक स्पष्ट किया जाता है।

10 दिन श्रम व्यय से भारत 10 इकाई गेहूँ अथवा 20 इकाई चाय उत्पन्न कर सकता है तथा 10 दिन श्रम-व्यय से पाकिस्तान 20 इकाई गेहूँ अथवा 10 इकाई चाय उत्पादन कर सकता है। यदि विदेशी व्यापार के अभाव में दोनों देश इन दोनों वस्तुओं का स्वयं उत्पादन करें तो 10 दिन के श्रम से उत्पादन निम्न प्रकार से होगा :—

10 दिन के श्रम से वास्तविक आय

	भारत	पाकिस्तान
गेहूँ	5	10
चाय	10	5

यदि दोनों देशों में व्यापार हो और 10 चाय के बदले 10 गेहूँ प्राप्त हो तो दोनों देशों की आय निम्न प्रकार होगी—

10 दिन के श्रम से वास्तविक आय

	भारत	पाकिस्तान
गेहूँ	10	10
चाय	10	10

इस प्रकार विदेशी व्यापार से भारत को पाँच इकाई गेहूँ एवं पाकिस्तान को पाँच इकाई चाय का अतिरिक्त लाभ होता है।

लागत में तुलनात्मक अन्तर (Comparative differences in cost) के आधार पर विदेशी व्यापार होने से भी प्रायः इसी प्रकार का लाभ होता है। यदि पिछला उदाहरण लिया जाय तो व्यापार नहीं होने की स्थिति मे 10 दिन के श्रम से दोनों देशों की वास्तविक आय निम्न प्रकार से होगी—

10 दिन के श्रम से वास्तविक आय

	भारत	पाकिस्तान
गेहूँ	10	5
चाय	20	15

किन्तु यदि दोनो देशो मे व्यापार आरम्भ हो जाय और विनिमय की दर 10 इकाई गेहूँ बराबर 25 इकाई चाय के हो तो दोनों देशों की वास्तविक आय बढ जायगी जो निम्नांकित तालिका से स्पष्ट है—

10 दिन श्रम व्यय से वास्तविक आय

	भारत	पाकिस्तान
गेहूँ	10	6
चाय	25	15

इस प्रकार भारत को अंतर्राष्ट्रीय व्यापार से पाँच इकाई चाय तथा पाकिस्तान को 1 इकाई अतिरिक्त गेहूँ का लाभ हो रहा है। यदि व्यापार की शर्त भारत के पक्ष में होगी तो इसे और अधिक चाय का लाभ होगा, तथा जब पाकिस्तान के पक्ष मे होगी तो उसे और अधिक गेहूँ का लाभ होगा।

इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से दोनो देशों को लाभ होता है। किन्तु, यद्यपि इस प्रकार के व्यापार से प्रत्येक देश को लाभ पहुँचता है, तथापि उस लाभ का वितरण उनके बीच समान अनुपात में नहीं होता। विदेशी व्यापार का लाभ उस देश को अधिक होता है जिसके श्रम की कुशलता अपेक्षाकृत अधिक होती है और जिस देश की वस्तुओं के लिए विदेशी मांग प्रबल एवं अधिक व्यापक होती है तथा जिसकी मांग विदेशी वस्तु के लिए अबल और कम होती है तथा इसी प्रकार लाभ उस देश को कम होता है जिसके श्रम की कुशलता अपेक्षाकृत कम होती है जिसकी विदेशी वस्तु के लिए मांग अधिक प्रबल होती है। अधिक लाभ वाला देश इस अधिक लाभ का उपयोग अधिक मजदूरी एवं उच्च मूल्य तल के रूप मे करता है। दूसरे शब्दो, में अधिक लाभ वाले देश में मूल्य-तल एवं आय का स्तर ऊँचा होता है तथा जिस देश को लाभ कम होता है उसका मूल्य-तल एवं आय-स्तर निम्न होता है।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में लाभ की मात्रा के निर्धारक तत्व

(Factors governing the determination of the extent of gains from International Trade) इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से वस्तुओं के विनिमय करनेवाले दोनो देशों को लाभ होता है। **अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से प्राप्त लाभ की मात्रा निम्नांकित बातो पर निर्भर करती है**।—

(क) लागतो के अनुपात मे अन्तर (Differences in costs ratios),
(ख) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की शर्तें (Terms of international Trade),
(ग) व्यापार की जाने वाली वस्तु का महत्त्व (Importance of the commodity trade)
(घ) देश का आकार (Size of Country)

(क) लागतो के अनुपात मे अन्तर (Differences in Costs Ratios) :—अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में लाभ की मात्रा (extent of grain) दोनो देशो के उत्पादन-व्यय के अनुपातों के अन्तर पर निर्भर करती है। उत्पादन व्यय के अनुपात मे अन्तर जितना ही अधिक होगा, लाभ का क्षेत्र भी उतना ही अधिक विस्तृत होगा। प्रो० हैरोड (Harrod) के अनुसार **"किसी देश को विदेशी व्यापार से लाभ तब होता है जबकि उस देश के व्यावसायियों को यह मालूम हो जाय कि उनके देश में वस्तुओं के मूल्य का जो प्रचलित अनुपात है उससे कहीं अधिक भिन्न विदेशो मे मूल्य के अनुपात में है। ये उन वस्तुओ को जो इन्हें सस्ती प्रतीत होती हैं, खरीदते हैं और जो वस्तुएँ महँगी होती हैं, उन्हें बेचते हैं, उनकी दृष्टि से इन ऊँचे और नीचे बिन्दुओ मे जितना अधिक अन्तर होगा और जितनी ही अधिक महत्वपूर्ण वस्तुएँ होगी, उतना ही अधिक लाभ व्यापार से होगा।"** (A country grains by foreign trade, if and when the traders find that there exists a broad ratio of prices very different from that to which they are accustomed at home. They buy what to them seems cheap aud sell what to them seems dear. The bigger the gap between what to them seems low point and high point and more important the nrticles affected, the greater will be the gain from trade.) उदाहरण के लिए 'अ' देश 'ब' देश से कुछ वस्तुओ का आयात करता है और साथ-ही-साथ कुछ देशो को निर्यात भी करता है। यदि 'अ' देश के निर्यात की वस्तुओं की उत्पादन-क्षमता (Productive efficiency) बढती है, तब 'ब' देश को इन वस्तुओ से प्राप्त होने वाले लाभ की मात्रा बढेगी, परन्तु स्वय 'ब' देश को इन वस्तुओ से प्राप्त होनेवाले लाभ की मात्रा घटेगी। इसी प्रकार यदि 'ब' देश के निर्यात की वस्तुओं की उत्पादन क्षमता बढती है, तब 'अ' देश को इन वस्तुओं से प्राप्त होने वाले लाभ की मात्रा भी बढेगी, परन्तु स्वय 'देश' को इन वस्तुओं से प्राप्त होने वाले लाभ की मात्रा घटेगी। अत. अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे दो देशों को प्राप्त होने वाले लाभ की मात्रा, इन दोनो देशो मे वस्तुओ की लागत के अनुपात के अन्तर पर निर्भर करती है।

व्यापार की शर्तें
(Terms of the Trade)

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लाभ की मात्रा पर व्यापार की शर्तों का भी बहुत अधिक प्रभाव पडता है। व्यापार की शर्तों का तात्पर्य उन शर्तों से होता है जिन पर दो देश आपस मे व्यापार करते हैं। (By terms of trade, we mean the terms at which two countries trade with each other.) दूसरे शब्दो मे, **व्यापार की शर्तों का अभिप्राय किसी देश की एक वस्तु के उस अनुपात से है जिसके बदले दूसरे देश की कोई वस्तु खरीदी जा सकती है।** (Terms of the trade refers to the ratio at which one commodity from one country, e. g. cotton from India exchanges for another commodity from other country, e. g. Jute from Bangla Desh) ये शर्तें यह बतलाती हैं कि कोई देश जितनी वस्तुओ का आयात करता है उसके लिए कितनी वस्तुओ का निर्यात करे। इस प्रकार उससे उस दर का पता चलता है जिस पर कोई देश अपनी वस्तुओं का दूसरे देश की वस्तुओ के साथ विनिमय करता है। व्यापार की शर्तें सर्वदा एक समान नही रहती हैं। इन्हें एक समीकरण (Equation) के द्वारा भी निम्न प्रकार से स्पष्ट किया जाता है :—

$$\text{व्यापार की शर्तें} = \frac{\text{आयातों का समस्त मूल्य}}{\text{निर्यातों का समस्त मूल्य}} \text{ or,}$$

$$\frac{\text{Value of import}}{\text{Value of Export}} = \text{Terms of Trade}$$

यदि एक विशेष समय मे आयात एवं निर्यात की मात्राओं मे कोई परिवर्त्तन नही हो तो

$$\text{व्यापार की शर्तें (Terms of Trade)} = \frac{\text{Price of import}}{\text{Price of Export}} \text{ होगी ।}$$

व्यापार की शर्तें प्रधानत दो बातो पर निर्भर करती है :—

(क) वस्तुओ की प्रकृति (Nature of Goods); तथा

(ख) वस्तुओ अथवा सेवाओ के लिए विभिन्न देशो की पारस्परिक माग की तीव्रता (Intensity of the Reciprocal Demand for Goods by Different countries)।

यदि दो देशों के बीच व्यापार इस प्रकार का है कि एक कृषि-उत्पादन में विशिष्टता प्राप्त कर लेता है और दूसरा देश औद्योगिक उत्पादन मे विशिष्टता (Specialision) प्राप्त करता है तो व्यापार कृषि-उत्पादन में विशिष्टता प्राप्त करने वाले देश के लिए लाभदायक नही होगा। ऐसी स्थिति में कहा जा सकता है कि व्यापार की शर्तें उस देश के प्रतिकूल हैं।

इसी प्रकार यदि कोई देश कच्चे खनिज-पदार्थों (Minerals in raw state) अथवा अन्य कच्चे मालो का निर्यात कर रहा है तो व्यापार की शर्तें उस देश के प्रतिकूल होगी। किसी देश के लिए व्यापार की शर्ते तभी अनुकूल हो सकती हैं जब उस देश की उत्पादित वस्तुओ के लिए विदेशो में माँग बहुत अधिक है।

व्यापार की शर्तो को प्रभावित करने वाले तत्वो में माँग की मात्रा (Volume of Demand) तथा माँग की लोच (Elasticity of Demand) का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। यदि माँग पूर्ववत् रहे तो व्यापार की शर्तें देश के अनुकूल होगी।

इस प्रकार तुलनात्मक लागतो के अनुपातो (Ratios of Comparative Costs) द्वारा निर्धारित सीमाओ के अन्दर विदेशी वस्तुओ के लिए देशी वस्तुओ के विनिमय की वास्तविक दर पारस्परिक माग की सापेक्ष तीव्रताओ पर अर्थात् A देश की वस्तुओ के लिए B देश की माग और B देश की वस्तुओ के लिए A देश की माग की तीव्रताओ पर निर्भर करेगी। (Within the limits set by the ratios of comparative costs the actual rate of exchange of domestic goods for foreign goods will depend upon relative intensities of receprocal demand, i.e country A's demand for B goods and B's demand for A's goods)

एक देश दूसरे देश से वस्तुओं का आयात-निर्यात जिन शर्तों (Terms) पर करता है, उन पर एक देश से दूसरे देश की वस्तुओ के लिए माँग की लोच (Elasticity of demand) या दोनो देशो की एक दूसरे की वस्तुओ की सापेक्षिक माग का प्रभाव पडता है। उदाहरण के लिए, 'अ' देश में गेहूँ और 'ब' देश में कपास की उत्पत्ति होती है। यदि 'अ' देश की कपास की माग अधिक बेलोचदार है तो यह देश कपास की एक निश्चित मात्रा के बदले गेहूँ की अधिक मात्रा देने को तैयार होगा। इसी प्रकार यदि 'ब' देश की गेहूँ की माग बेलोचदार है तो यह गेहूँ की एक निश्चित मात्रा के बदले कपास की अधिक मात्रा देने के लिए तैयार होगा। परन्तु यदि 'ब' देश की गेहूँ की माग लोचदार (Elastic) है, तो यह देश गेहूँ की एक निश्चित मात्रा के लिए कपास की अधिक मात्रा देने को तैयार नही होगा। अत, किसी देश की दूसरे देश की वस्तुओ के लिए माग जितनी ही बेलोचदार होगी, उसी प्रकार इसकी व्यवसाय की शर्तें भी इसके प्रतिकूल या अनुकूल होगी। दूसरे शब्दों मे, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से सबसे अधिक लाभ उस देश को होगा या व्यवसाय की शर्तें उस देश के पक्ष मे होगी जिसकी वस्तुओ की माग विदेशों मे अधिक होती हैं या जिसकी वस्तुओ की माग विदेशो मे बेलोचदार होती है, परन्तु

जिसका स्वय को विदेशी वस्तुओ के लिए मांग लोचदार होती है। इसके विपरीत सबसे कम लाभ उस देश का होता है जिसकी मांग विदेशी वस्तुओ के लिए अधिक प्रबल होती है। (The country gains most from international trade whose exports are most in demand and which has little demand for the things it imports, i. e. for the exports of other countries. That country gains least which has the most insistent demand for the Products of other countries.)

(ग) व्यापार की जाने वाली वस्तु का महत्त्व (Importance of the Commodity trade) :—जे० एम० मिल (J. S. Mill) तथा प्रो० हैरोड (Prof. Harrod) ने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से होने वाले लाभ का महत्त्वपूर्ण तत्त्व 'व्यापार की जाने वाली वस्तु का महत्त्व' बतलाया है। जे० एम० मिल के अनुसार उस देश को अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से सर्वाधिक लाभ (Maximum Gain) प्राप्त होगा जो केवल एक वस्तु का निर्यात कर ही अपने सभी आयातो की पूर्ति करने की क्षमता रखता है। उदाहरणार्थ, कृत्रिम रबर (Synthetic Rubber) के अन्वेषण के पहले मलाया की यही स्थिति थी।

(घ) देश का आकार (Size of the Country).— अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से प्राप्त होने वाले लाभों की सीमा देश के आकार पर भी निर्भर करती है। प्रो० हैरोड (Prof Harrod) के अनुसार, किसी देश का आकार जितना ही छोटा होगा और बाह्य जगत का आकार जितना ही विशाल होगा, छोटे देश को विदेशी व्यापार से उतना ही अधिक लाभ होगा। कारण यह है कि छोटे देश मे उपभोग की क्षमता कम होने के कारण विदेशी वस्तुओ की माग को प्रभावित नही कर सकती और न उन वस्तुओ के मूल्यो को ही प्रभावित कर सकती है। परन्तु दूसरी ओर छोटे देश की निर्यात की वस्तुओ के मूल्य विश्व-माग की स्थिति पर निर्भर करता है। फलस्वरूप, छोटे देश की वस्तुओ के मूल्यो मे तो वृद्धि हो जायगी किन्तु, वह विश्व के अन्य देशो की वस्तुओ के मूल्यो को बढा नही सकेगा। अतः छोटे देश को अधिक सस्ती चीजें प्राप्त होगी।

अतएव, किसी देश मे विदेशी व्यापार से प्राप्त होने वाले लाभ की मात्रा दो बातो पर निर्भर करती है —(क) लागतो के अनुपात मे अन्तर, यानी निर्यात की वस्तुएँ उत्पन्न करने मे देश की उत्पादन क्षमता, (ख) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की शर्तें (Terms of Trade), (ग) व्यापार की जानेवाली वस्तु का महत्त्व तथा (घ) देश का आकार।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के गुण एवं दोष

(Advantages and Disadvantages of International Trade)

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के गुण (Advantages of International Trade): - देशी व्यापार की तरह विदेशी व्यापार भी इसलिए किया जाता है कि इससे लाभ होता है। सक्षेप मे, विदेशी अथवा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के निम्नलिखित प्रमुख लाभ हैं —

(1) प्रादेशिक श्रम-विभाजन (Territorial Division of Labour).—इसके द्वारा विभिन्न देशो के बीच प्रादेशिक श्रम-विभाजन सम्भव होता है। अलग-अलग देश केवल ऐसी वस्तुओ के उत्पादन मे विशिष्टीकरण प्राप्त कर सकते हैं जिनके उत्पादन मे उन्हे अधिकतम योग्यता अथवा अधिकतम कुशलता प्राप्त रहती है। दूसरे शब्दों मे, प्रत्येक देश ऐसी वस्तुओ का उत्पादन करता है जिन्हें वह न्यूनतम लागत पर तैयार कर सकता है। इसके फलस्वरूप ससार भर मे उत्पत्ति सबसे अधिक अनुकूल परिस्थितियों के अन्तर्गत होती है। इससे मानव-कल्याण मे वृद्धि होती है।

(2) उपभोक्ताओं को सस्ती वस्तुएँ प्राप्त होती हैं (Availability of cheap goods to the consumers) --विदेशी व्यापार का दूसरा लाभ यह है कि इसमे उपभोक्ताओ को यह सुविधा रहती है कि वे उन बाजारों से अपनी आवश्यकता की वस्तुएँ खरीदें जहाँ वे सबसे कम कीमत पर मिलती हो। इससे संसार भर मे मानव समाज का उपभोग-स्तर ऊँचा उठता है। साधारणतया, विदेशो से इसलिए माल मँगाया जाता है कि वह देश मे तैयार होने वाले वैसे ही माल की तुलना मे सस्ता पडता है। इसके अतिरिक्त विदेशी व्यापार से बहुत सी ऐसी वस्तुएँ भी प्राप्त होती हैं जो अपने देश मे उत्पन्न ही नहीं की जा सकती।

(3) आर्थिक सकट का निवारण :—संकटकालीन स्थिति, जैसे अकाल (Famine) आदि के समय विदेशी व्यापार से बहुत अधिक सहायता मिलती है। कहा जाता है कि आधुनिक समय

मे अकाल अन्न या अन्य खाद्य की वस्तुओ की कमी से उत्पन्न नहीं होते वरन् क्रय-शक्ति के अभाव के कारण उत्पन्न होते हैं। ऐसे सकट के समय दूसरे क्षेत्रो से अन्न तथा दूसरी आवश्यक वस्तुएँ मँगाकर इन्हें सुगमतापूर्वक दूर किया जा सकता है।

(4) **विदेशी व्यापार से उत्पादन की विधि मे सुधार को प्रोत्साहन मिलता है :**—विदेशी प्रतियोगिता का भय देशी उत्पादको को सदा उत्पादन की विधि मे सुधार की ओर कार्यशील रखता है। वे उत्पादन की विधियो मे इस प्रकार के सुधार करते रहते हैं जिससे कि उत्पादन व्यय कम-से-कम रहे। इसके अतिरिक्त इससे प्रबन्ध की कुशलता मे भी वृद्धि होती है। परिणामस्वरूप उपभोक्ताओ को कम-से-कम कीमत पर वस्तुएँ और सेवाएँ प्राप्त हो जाती हैं।

(5) **कच्चे माल तथा मशीनरी आदि की उपलब्धि (Availability of raw-materials and machinery etc) :**—विदेशी व्यापार की सहायता से ही आवश्यक कच्चे माल, मशीनरी तथा दवाएँ आदि विदेशो से मगाकर देश के औद्योगीकरण को आगे बढाया जा सकता है। इससे देश के साधनो का सर्वोत्तम तरीके से उपभोग होता है तथा जीवन-स्तर मे भी सुधार होता है।

(6) **अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग एव सद्भावना मे अभिवृद्धि** —विदेशी व्यापार ससार के विभिन्न देशो के बीच सम्पर्क स्थापित करके इनके बीच अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग एव सद्भावना का भी विस्तार करता है।

(7) **वस्तुओं एव सेवाओं के मूल्य में समानता की प्रवृत्ति पायी जाती है** —विदेशी व्यापार के कारण वस्तुओं एव सेवाओ के मूल्य मे सर्वत्र एक समान रहने की प्रवृत्ति पायी जाती है। इससे विभिन्न देशो के आर्थिक विकास एव उपभोग के स्तर मे समानता आ जाती है।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की हानियाँ (Disadvantages of International trade) :—उपरोक्त लाभो के साथ साथ विदेशी व्यापार के कुछ दोष भी हैं। वास्तव मे, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के अधिकाश लाभ तभी प्राप्त होते हैं जबकि विभिन्न देशो के बीच पारस्परिक सद्भावना का वातावरण हो और व्यापार पर किसी भी प्रकार के प्रतिबन्ध न हो। किन्तु वर्तमान समय मे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के क्षेत्र मे इनका अभाव पाया जाता है। अतएव विदेशी व्यापार से प्राय निम्नलिखित हानियाँ होती हैं :—

(1) **कच्चे माल की समाप्ति (Exhaustion of raw materials)** :—विदेशी व्यापार द्वारा देश के बहुत-से खनिज-पदार्थ या अन्य प्राकृतिक साधन समाप्त हो जाते हैं जिनका प्रति-स्थापन भी सम्भव नही होता। उदाहरण के लिए, बहुत से देशो मे कोयला, पेट्रोल तथा अन्य पदार्थ इसी प्रकार समाप्त होते जा रहे हैं। विदेशी व्यापार के कारण ही भारत की मैंगनीज और अबरख की खानें बराबर खाली होती जा रही हैं तथा देश को इन आवश्यक पदार्थों की समुचित कीमत भी नही मिल पा रही है। यदि इनका उपयोग देश के अन्दर ही औद्योगिक माल के तैयार करने में किया जाता तो एक ओर तो इससे इनके उपयोग मे बचत की जा सकती और दूसरी ओर इनका अधिक लाभपूर्ण उपयोग भी हो सकता था।

(2) **विदेशी व्यापार से देश के उद्योग धन्धो को विदेशी प्रतियोगिता का सामना करना पड़ता है (Home industries have to face competition)** —विदेशी व्यापार से देश के उद्योगो को विदेशी प्रतियोगिता का सामना करना भी पडता है। इससे विकसित देशो को तो लाभ होता ही है किन्तु अविकसित देशो मे उद्योग धन्धे या तो स्थापित ही नहीं हो सकते हैं या स्थापित होने के पश्चात् पनप नही पाते हैं।

(3) **विदेशी व्यापार से देश का एकाकी विकास (Lop sided development) होता है** —विदेशी व्यापार देश के आर्थिक विकास को एकाकी बनाकर देश के लिए भारी समस्याएँ उत्पन्न कर देता है। सकट काल मे इसका बडा ही बुरा परिणाम होता है। दोनो महायुद्धो के काल का अनुभव यह बतलाता है कि जो देश खाद्य पदार्थों अथवा अन्य आवश्यक वस्तुओ के लिए विदेशी व्यापार पर निर्भर रहते हैं, युद्धकाल मे उनके कष्ट की कोई सीमा नही रहती। विदेशी व्यापार के इसी दोष ने बीसवीं शताब्दी मे आर्थिक राष्ट्रीयतावाद (Economic nationalism) को जन्म दिया। उत्पत्ति के विशिष्टीकरण के कारण देश के कितने ही मानव बेकार पडे रहते हैं, रोजगार का समुचित विकास नही होने पाता और देश का आर्थिक जीवन भी सकट मे पड जाता है।

(4) विदेशी व्यापार से आर्थिक निर्भरता (Economic dependence) बढ़ जाता है :— विदेशी व्यापार विभिन्न देशो की अर्थ-व्यवस्था को एक दूसरे पर अवलम्बित बना देता है। इसका परिणाम अच्छा नही होता। इससे एक देश में आने वाले आर्थिक संकट का प्रभाव शीघ्र ही संसार भर मे फैलकर विश्व-व्यापी-संकट के रूप मे परिणत हो जाता है।

(5) उपभोक्ताओं के उपभोग की आदत पर भी इसका बुरा प्रभाव पड़ता है —विदेशी व्यापार देश की उपभोग-सम्बन्धी आदतो मे भी परिवर्तन ला देता है। इसका भी देश के आर्थिक जीवन पर बुरा प्रभाव पडा है।

(6) अन्तर्राष्ट्रीय द्वेष :—विदेशी व्यापार के कारण विश्व के विभिन्न देशों में द्वेष उत्पन्न हो जाता है जिससे युद्ध आदि की सम्भावना उत्पन्न हो जाती है। 18 वी शताब्दी मे विदेशी बाजार एवं उपनिवेश के कारण ही यूरोप के विभिन्न देशो मे बड़े-बड़े युद्ध हुए थे।

विशेष अध्ययन सूची

1. Taussing : International Trade, Chapter 10
2. Ohlin : Inter-regional and International Trade, Chapters 1-12
3. Ellsworth : The International Economy, Chapters IV to VI.
4. Haberler : The Theory of International Trade, Chapters X to XII

अध्याय 42 (ख)

तुलनात्मक लागत का सिद्धान्त

(The Theory of Comparative Cost)

तुलनात्मक लागत का प्रतिष्ठित सिद्धान्त (The Classical Theory of Comparative Cost) —अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के क्षेत्र मे तुलनात्मक लागत के सिद्धान्त का प्रयोग सर्वप्रथम रिकार्डो (Ricardo) ने किया था। रिकार्डो के अनुसार किसी देश के अदर पूंजी तथा श्रम पूर्णत गतिशील (Completely mobile) होते हैं। श्रम एव पूंजी की इस गतिशीलता के परिणामस्वरूप देश के अन्दर विभिन्न व्यवसायो मे लाभ के समान होने की प्रवृत्ति पायी जाती है, अतएव देश के उसी भाग मे किसी वस्तु का उत्पादन होता है जहाँ उसका उत्पादन व्यय श्रम के रूप मे सबसे कम रहता है। उदाहरण के लिए, एक निश्चित मात्रा मे चीनी एव कपडा उत्पन्न करने का व्यय श्रम के रूप मे दिल्ली एव पटना म निम्नलिखित पडता है —

स्थान	कपडा	चीनी
दिल्ली	90 दिन	80 दिन
पटना	100 ,,	120 ,,

उपरोक्त उदाहरण मे यदि श्रम एवं पूंजी की गतिशीलता में कोई रुकावट नही हो तो दोनो वस्तुओ का उत्पादन दिल्ली मे ही होगा तथा इनके बीच विनिमय की दर 1 इकाई कपडा $= \frac{8}{9}$ इकाई चीनी होगी। ऐसी स्थिति मे पटने को किसी अन्य वस्तु के उत्पादन मे विशिष्टीकरण प्राप्त करना होगा जिसके उत्पादन मे उसका उत्पादन व्यय निरपेक्ष रूप स कम हो।

किन्तु, दो देशो के बीच व्यापार मे ऐसी बात नही पायी जाती है। दो देशों के बीच श्रम एवं पूंजी प्राय अगतिशील (immobile) होते हैं। विभिन्न देशो मे मजदूरी एव लाभ की दर मे भी विभिन्नता पायी जाती है। रिकार्डो के अनुसार एक देश के अन्दर तो समान योग्यता एव क्षमता वाले श्रमिकों को एक समान मजदूरी मिलती है, किन्तु विभिन्न देशों मे उनकी मजदूरी एक समान नही होती, क्योकि विभिन्न देशो मे श्रमिक अगतिशील होते हैं। **अतएव यद्यपि कोई देश किसी दूसरे देश की अपेक्षा सभी वस्तुओ को कम श्रम व्यय मे बना सकता है फिर भी उसी वस्तु के उत्पादन मे विशिष्टता प्राप्त करने से लाभ होगा जिसके उत्पादन मे दूसरे देश की अपेक्षा उसका तुलनात्मक लाभ (Comparative advantage) सबसे अधिक हो, यानी तुलनात्मक हानि (Comparative disadvantage) सबसे कम हो।** इसी को तुलनात्मक लागत का सिद्धात कहते हैं। रिकार्डो ने निम्नलिखित तरीके से व्यावहारिक जीवन के एक उदाहरण द्वारा इस सिद्धात को अधिक स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है —

देश	कपडा	चीनी
भारत	90 दिन	80 दिन
इगलैड	100 दिन	120 दिन

उपरोक्त उदाहरण मे यद्यपि भारत इगलैड की अपेक्षा कपडा एव चीनी दोनों ही को कम श्रम व्यय पर उत्पन्न कर सकता है, फिर भी, इन दोनो देशो के लिए यही लाभदायक होगा कि भारत चीनी एव इगलैड कपडे के उत्पादन मे विशिष्टीकरण प्राप्त करे क्योकि ऐसा करने स भारत चीनी, जिसका उत्पादन व्यय 80 दिन है, का इगलैड के कपडे से विनिमय कर सकता है जिसके लिए भारत का उत्पादन व्यय 90 दिन श्रम होता है। इसी प्रकार इगलैड भी अपने 100 दिन के श्रम से इतनी चीनी प्राप्त कर सकता है जिसके उत्पादन के लिए उसे 120 दिन का श्रम व्यय करना पडता है। यही रिकार्डो का तुलनात्मक लागत का सिद्धान्त है। रिकार्डो ने इस सम्बन्ध मे यह भी बतलाया था कि विदेशी विनिमय दरों की सीमाएं भी तुलनात्मक लागत द्वारा ही निर्धारित होती हैं।

अतएव तुलनात्मक लागत के सिद्धान्त की व्याख्या इस प्रकार से की जा सकती है —"जब कभी दो देशों में किन्हीं दो वस्तुओं के उत्पादन-व्यय में (श्रम के रूप में) सापेक्षिक अन्तर हो तो प्रत्येक देश के लिए उसी वस्तु के उत्पादन में विशिष्टीकरण प्राप्त करना लाभदायक होगा जिसके उत्पादन में उसका सापेक्षिक व्यय कम हो।" दूसरे शब्दों में, "यदि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मुक्त हो, तो प्रत्येक देश उस वस्तु का निमाण तथा निर्यात करेगा जिसमें उसके श्रम की सापेक्षिक कुशलता सबसे अधिक है या सापेक्षिक अकुशलता सबसे कम है और उस वस्तु का आयात करेगा जिसमें उसके श्रम की सापेक्षिक अकुशलता सबसे अधिक है या सापेक्षिक कुशलता सबसे कम है।" [This principle states that a country will gain by specialising in the production of those commodities in which its comparative cost advantage is greater (or in which its comparative cost disadvantage is less), exporting those commodities in exchange for commodities in wh ch its comparative cost advantage is less or its comparative cost disadvantage is greater —Benham]

बेस्टेबिल (Bastable) ने तुलनात्मक लागत के सिद्धान्त की व्याख्या एक उदाहरण द्वारा इस प्रकार से की है "एक डाक्टर अपने माली से बगीचे के काम में भी अधिक निपुण हो सकता है, परन्तु डाक्टरी में वह बगीचे के काम से अधिक निपुण है। अतएव यदि वह अपना सम्पूर्ण समय डाक्टरी में, जिसमें वह अधिक निपुण है नहीं देगा तो उसे हानि होगी। ऐसी स्थिति में उसको सबसे अधिक लाभ तभी होगा जबकि सारे दिन वह माली के बदले डाक्टरी का काम करता रहे। इसी प्रकार यदि एक देश दूसरे देश की अपेक्षा प्रत्येक वस्तु अधिक सस्ती दर से बना सकता हो, पर उसके लिए सबसे लाभदायक यही होगा कि वह केवल उसी वस्तु के उत्पादन में लगा रहे जिसके उत्पादन में दूसरे देश की अपेक्षा उसे तुलनात्मक लाभ अधिक है। दूसरी ओर, कम योग्यता वाले देश के लिए भी यही लाभदायक होगा कि यह केवल उसी वस्तु के उत्पादन में अपना समय लगाए जिसमें उसे तुलनात्मक हानि सबसे कम हो।"[1]

रिकार्डो के सिद्धान्त में मिल द्वारा संशोधन —रिकार्डो के इस सिद्धान्त में मिल (J S Mill) ने *कुछ आवश्यक संशोधन किया था। रिकार्डो ने यद्यपि यह बतलाया था कि किस सीमा* तक विदेशी व्यापार लाभदायक सम्भव है तथापि उसने यह नहीं बतलाया था कि उसी सीमा के अन्दर दोनों देशों की दोनों वस्तुओं के बीच वास्तविक विनिमय की दर क्या होगी। मिल ने इस कमी को दूर किया है। मिल ने यह मान लिया था कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का आधार व्यय में तुलनात्मक अन्तर है तथा उससे लाभ भी इसी कारण उत्पन्न होते हैं, किन्तु उसने विनिमय की दर एवं लाभ की मात्रा के निर्धारण का अधिक स्पष्टीकरण किया। मिल के अनुसार वस्तुओं के व्यापार की वास्तविक विनिमय दर तुलनात्मक लागत अनुपात की सीमा के अन्तर्गत एक देश की वस्तुओं की माग के परिमाण और लोच पर निर्भर करती है।" (Within the limits set by comparative cost conditions the actual ratio at which goods are traded will depend upon the strength and elasticity of each country s demands for the other country's product) दूसरे शब्दों में, दो देशों के बीच वस्तु विनिमय की दर उनकी परस्परानुवर्त्ती माग की मात्रा एवं लोच पर निर्भर करती है।[2] उपरोक्त उदाहरण में, वस्तु विनिमय की दर इंगलैंड के अनुकूल होगी, यदि इंगलैंड की बनी हुई वस्तु की माग भारत में अधिक और प्रबल

---

1 "A doctor may be a better gardener whom he employs but he may be still a better doctor and he would lose, if he did not restrict himself to the highest type of work which he could do His advantage over the gardener is the greatest, not when he is acting as a gardener, but when he exercises his function as a doctor So a country may be able to produce everything better than any other country, but it will pay it best to concentrate on those articles at which its comparative advantage is greatest while the inferior country must restrict *itself to those procucts at which its comparative disadvantage is least*
—Bastable

2 Mill के अनुसार "The actual terms of trade will depend upon the nature of reciprocal demand, i e, the relative instensity of Portugal s demand for British cloths and the relativs intenstiy of British demand for Purtga's wine"

हो तथा भारत की बनी हुई वस्तु को माग इंगलैड मे कम और अबल हो। मिल के इस सिद्धान्त को अन्तर्राष्ट्रीय माग के समीकरण (Equation of International Demand) अथवा परस्परानुवर्ती माग का सिद्धान्त (Theory of Reciprocal Demand) भी कहते हैं।

तुलनात्मक लागत के प्रतिष्ठित सिद्धान्त में आधुनिक सुधार

(Recent Modifications in the Classical Theory of Comparative Cost)

तुलनात्मक लागत के शास्त्रीय सिद्धात (Classical Theory of Comparative Cost) को वर्तमान अर्थशास्त्रियो ने स्वीकार किया है, किन्तु इन्होने इस सिद्धान्त मे निम्नांकित आवश्यक संशोधन किया है :—

(1) वस्तुओ के उत्पादन-व्यय की माप श्रम के रुप में नही करके मुद्रा के रूप में की गयी है :—प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियो (Classical Economists) ने वस्तुओ के उत्पादन व्यय की माप श्रम के रूप मे की थी, *किन्तु आधुनिक अर्थशास्त्री मूल्य के श्रम-सिद्धात (Labour Theory of Value)* को नही मानते क्योकि वस्तुओ के उत्पादन-व्यय मे श्रम के अतिरिक्त अन्य प्रकार के व्यय भी सम्मिलित रहते हैं। अतएव, केवल श्रम व्यय के ऊपर आधारित सिद्धान्त को वैज्ञानिक नही कहा जा सकता। वर्तमान अर्थशास्त्री मूल्य-सिद्धान्त (Theory of Value) को सिद्धात लागत (Marginal Cost) के रूप मे ही व्यक्त करते हैं, अतएव तुलनात्मक लागत के सिद्धात को भी सीमान्त लागत के रूप मे ही व्यक्त किया जाता है। आधुनिक अर्थशास्त्रियो के अनुसार कोई देश उन वस्तुओ का निर्यात करता है जिनका सीमात उत्पादन-व्यय कम होता है तथा उन वस्तुओ का आयात करता है जिनका सीमात उत्पादन-व्यय अपेक्षाकृत अधिक होता है। अतएव आधुनिक अर्थशास्त्रियो ने वस्तुओ के उत्पादन व्यय की माप श्रम के रूप में नही करके मुद्रा के रूप मे की है।

(२) व्यापार की शर्त्ते (Terms of Trade) पर वस्तुओं की तुलनात्मक मांग की लोच का भी प्रभाव पड़ता है :—रिकार्डो तथा उनके अनुयायियो ने यह बतलाया था कि तुलनात्मक लागत के सिद्धात के आधार पर किन किन वस्तुओ मे व्यापार लाभदायक होता है; किन्तु वे यह नही निश्चित कर पाये थे कि लाभ की मात्रा किन-किन बातो पर निर्भर करती है। प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियो के अनुसार विनिमय-दर बजार मे वस्तुओ के मोल-जोल द्वारा ही तय होती थी। किन्तु, आधुनिक *अर्थशास्त्रियो ने इसमे सुधार करते हुए कहा है कि व्यापार की शर्त्तें (Terms of Trade)* मोल-जोल द्वारा नही, वरन् एक देश मे दूसरे देश की माग की सापेक्षिक लोच पर निर्भर करती है। जिस देश को वस्तु की माग को लोच जितनी ही अधिक होगी, उसे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से उतना ही अधिक लाभ होगा।

(३) उत्पादन के क्षेत्र में केवल क्रमागत उत्पादन-समता-नियम (Law of Constant Returns) ही लागू नही होता वरन् क्रमागत उत्पत्ति-ह्रास एवं वृद्धि नियम भी लागू होते हैं —तुलनात्मक लागत के प्रतिष्ठित सिद्धात की एक प्रमुख आलोचना इस बात को लेकर भी की जाती है कि यह क्रमागत उत्पत्ति-समता नियम (Law of Constant Returns) की मान्यता पर आधारित है। रिकार्डो तथा अन्य प्राचीन अर्थशास्त्रियो ने तुलनात्मक लागत के सिद्धान्त का प्रतिपादन इस मान्यता के आधार पर किया था कि उत्पादन सदा क्रमागत-उत्पत्ति-समता नियम (Law of Constant Returns) के आधार पर ही होती है परन्तु वास्तविक जीवन में ऐसी *बात नही पायी जाती है। उत्पादन मे उत्पत्ति ह्रास नियम (Law of Diminishing Returns)* एव उत्पत्ति-वृद्धि नियम (Law of Increasing Returns) भी लागू होते हैं। बैस्टेबल ने क्रमागत उत्पत्ति-वृद्धि एव ह्रास-नियम की सम्भावनाओ की व्याख्या कर इस सिद्धान्त को पूरा बना दिया। (Bastable by introducing the possibilities of increasing and diminishing returns rounded out and made more complete this aspect of the theory अब हमे यह देखना है कि उत्पत्ति वृद्धि नियम एव ह्रास नियम का अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार एव विशिष्टीकरण पर क्या प्रभाव पडता है ? यदि किसी वस्तु के उत्पादन मे उत्पादन-वृद्धि नियम लागू

होता है तो उत्पत्ति की मात्रा मे वृद्धि से प्रति इकाई उत्पादन-व्यय कम होते जाता है। इस प्रकार उत्पत्ति वृद्धि नियम के कारण लाभदायक अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय की सीमा अधिक व्यापक होती है। इसी प्रकार यदि किसी वस्तु के उत्पादन मे उत्पत्ति ह्रास नियम लागू होता है, तब इससे उत्पादन मे वृद्धि होने पर प्रति-इकाई उत्पादन-व्यय बढने लगता है। इससे लाभदायक अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय की सीमा सकुचित हो जाती है। इसमे एक ऐसी स्थिति आती है जिसमे अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय लाभदायक नही रह जाता। आधुनिक अर्थशास्त्रियो ने उत्पादन के तीनो नियमो की क्रियाशीलता पर विचार करके तुलनात्मक लागत के सिद्धान्त को अधिक व्यावहारिक बना दिया है।

(४) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर यातायात-व्यय (Cost of Transport) का भी प्रभाव पड़ता है :—तुलनात्मक लागत के सिद्धान्त का एक प्रमुख दोष यह भी है कि इसमे यातायात-व्यय (Transport cost) को शून्य माना गया है। किन्तु वास्तविक जीवन में वस्तुओ के आयात अथवा निर्यात मे यातायात-सम्बन्धी खर्च भी पडता है। यातायात-व्यय का अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय एव विशिष्टीकरण पर प्रमुख प्रभाव पडता है। किसी वस्तु का आयात अथवा निर्यात तब तक नही होगा जब तक कि विभिन्न देशो के उत्पादन-व्यय मे अन्तर उस वस्तु को एक देश से दूसरे देश मे भेजने के व्यय से अधिक न हो। इस प्रकार यातायात-व्यय अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लाभ एवं क्षेत्र को सीमित बना देता है। वर्त्तमान अर्थशास्त्रियो ने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे यातायात-व्यय (Cost of transport) के प्रभाव का विचार कर तुलनात्मक लागत के सिद्धान्त को अधिक पूर्ण बना दिया है।

(५) अनेक वस्तुएँ एवं अनेक देश (Numerous countrics and numerous commoditeis) —शास्त्रीय सिद्धात मे केवल दो देशो के बीच एवं दो वस्तुओ के विनिमय को ही लिया गया है, किन्तु वास्तविक जीवन में कई देश आपस में कई वस्तुओ का विनिमय करत हैं। कई वस्तुओं एव कई देशो को लेने पर भी तुलनात्मक लागत के सिद्धात मे सुधार की आवश्यकता पड़ती है।

(६) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर मजदूरी का प्रभाव (Effects of wages on internatinoal Trade)—भिन्न-भिन्न देशो में मजदूरी की दर में विभिन्ता पायी जाती है। अब यह हमे देखना है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार दर मजदूरी की दर मे विभिन्नता का क्या प्रभाव पडता है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के सिद्धात के अध्ययनन से यह जान पडता है कि निम्न मजदूरी-स्तर वाले देश मे वस्तुओ का उत्पादन-व्यय ऊँची मजदूरी वाले देशो की अपेक्षा कम पडता है। अतएव कम मजदूरी वाला देश अधिक मजदूरी वाले देश मे सदा वस्तुओ का निर्यात करता है। किन्तु इस प्रकार का विचार वास्तव मे सही नहीं है। प्राय ऐसा देखा जाता है कि ऊँची मजदूरी वाले देश मे मजदूरों की उत्पादन-क्षमता अधिक होती है, इसलिए उन देशो मे निम्न मजदरी वाले देश की अपेक्षा अच्छी तथा अधिक मात्रा मे वस्तुओ का उत्पादन होता है। अतएव उत्पादन-व्यय भी अपेक्षाकृत कम पडता है; अतः यह कहा जाता है कि **"अधिक मजदूरी सस्ती मजदूरी होती है और सस्ती मजदूरी अधिक मजदूरी होती है।"** (High wages are low wages and low wages are high wages.) दूसरे शब्दो मे, अधिक मजदूरी का अर्थ अधिक उत्पादन व्यय नही होता है। उदाहरण के लिए, सयुक्त राज्य अमेरिका तथा इंगलैंड मे भारत की अपेक्षा मजदूरी की दर अधिक है, किन्तु फिर भी इगलैंड तथा अमेरिका भारत मे अपनी वस्तुओं का निर्यात करते हैं। इसका प्रधान कारण यह है कि अमेरिका की अपेक्षा भारत मे श्रमिको की उत्पादन क्षमता कम है। अतएव यह आवश्यक नही कि कम मजदूरी वाला देश सदैव अधिक मजदूरी वाले देश मे वस्तुओं का निर्यात करेगा। वास्तव मे, जैसा कि ऊपर के उदाहरण से स्पष्ट है, अनुभव ठीक इसके विपरीत है। ऊँची मजदूरी मे मजदूरो की कार्यक्षमता अधिक होती है, अतएव ऊँची मजदूरी निर्यात-व्यापार मे बाधक होने के बजाय इसको प्रोत्साहित करती है। इस प्रकार मजदूरी का भी अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से बहुत ही घनिष्ठ सम्बन्ध है।

(7) उत्पादन के साधन एक देश के अन्दर पूर्णत. गतिशील (Mobile) पर दो देशो के बीच अगतिशील की मान्यता भी गलत है :—उत्पादन के साधन न तो देश के अन्दर पूर्णत गतिशील होते हैं और न विभिन्न देशो के बीच पूर्णतया अगतिशील ही।

निष्कर्ष :—इस प्रकार तुलनात्मक-लागत-सिद्धान्त के विरुद्ध अनेक दोषारोपण किए गए हैं। वास्तव मे यह सिद्धान्त भी अन्य आर्थिक नियमों की भाँति मात्र एक प्रवृत्ति को ही व्यक्त करता है। व्यावहारिक जीवन मे इस सिद्धान्त की क्रियाशीलता के लिए रीति-रिवाज, रूढियाँ, धर्म और विशुद्ध आर्थिक विचारो से उद्धत होकर कार्य करने के प्रति श्रम और पूँजी की अनिच्छा आदि अनेक तत्वों के कारण बाधाएँ उपस्थित होती हैं। राजनीतिक विचार तथा उद्देश्य, वाणिज्यिक व्यवहार, आत्मनिर्भरता और सुरक्षा की भावनाएँ आदि भी इसपर अपना प्रभाव डालती हैं। इनके अतिरिक्त परिवहन व्यय एवं उत्पादन के नियम इस सिद्धान्त के लिए अन्य सीमाएँ प्रस्तुत करते हैं। विशिष्टीकरण उत्पादन के पैमाने को निःसन्देह बढाकर विश्व के आर्थिक लाभों को बढाते है किन्तु यदि व्यवसाय मे लागत वृद्धि नियम (Law of Increasing Cost) हो जाय तो तुलनात्मक लागत सिद्धान्त की क्रियाशीलता समाप्त हो जायगी। [Like other economic laws, the principle of comparative cost is also statement of a tendency. In actual practice, the operation of the theory is hindered by frictional influences such as differences in languages, custom, religion and above all the unwillingness of labour and capital to be guided by purely economic considerations. They are also influenced by political motives, commercial practices and general security. The cost of transport and the behaviour of the cost of production are the other limiting factors. Specialisation tends to increase the scale of production, but if the industry is subject to the law of increasing cost, the principle of comparative cost will cease to function.]

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का आधुनिक सिद्धान्त

(Modern Theory of International Trade)

अथवा

मूल्य का सामान्य सन्तुलन सिद्धान्त

(General Equilibrium Theory of Value)

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का आधुनिक सिद्धान्त सामान्य सन्तुलन सिद्धान्त (General Equilibrium Theory) है। इस सिद्धान्त के प्रतिपादन का श्रेय कार्ल मेंन्जर (Carl Menger) विक्स्टीड (Wickstead), बॉम-बेवर्क (Bohm-Bawerk), पैरिटो (Pareto), कैसल (Cassel), वालरस (Walras), तथा शम्पीटर (Schumpeter) जैसे अर्थशास्त्रियों को है। सुप्रसिद्ध अर्थशास्त्री ओहलिन (Ohlin) के अपनी पुस्तक "Inter Regional and International Trade" मे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के क्षेत्र मे मूल्य के सामान्य सिद्धान्त (The General Equilibrium Theory of Value) का प्रयोग किया है।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का आधुनिक सिद्धान्त सामान्य आर्थिक सिद्धान्त (General Economic Theory) का ही एक विशिष्ट प्रयोग है। किसी वस्तु का बाजार-मूल्य (Market Value) उस वस्तु की माग एवं पूर्ति की सापेक्षिक शक्तियों के द्वारा निर्धारित होता है। किसी वस्तु की माग उस वस्तु के मूल्य, उपभोक्ताओं की इच्छाओं (Desires), उनकी अभिरुचियों, उनकी आय, उस वस्तु के भावी मूल्य एवं अन्य वस्तुओं के मूल्यों पर निर्भर करती है। दूसरी ओर, वस्तु की पूर्ति उत्पत्ति साधनों की उपलब्धता (Availability) तथा उत्पादन की सुविधाओं आदि बातों पर निर्भर करती है। सन्तुलन की स्थिति (Equilibrium) मे वस्तु की माँग और पूर्ति दोनों एक दूसरे के बराबर होते हैं। इस स्थिति मे वस्तु की उत्पत्ति लागत (Cost of Production) के बराबर होता है। उत्पत्ति-लागत के अन्तर्गत उत्पत्ति के समस्त साधनों का मूल्य सम्मिलित रहता है जिसके द्वारा उत्पादन का कार्य सम्पादित किया जाता है। उत्पत्ति के साधनों का मूल्य (Factor Pricing) उन साधनों की माग और पूर्ति के द्वारा निर्धारित किए जाते हैं। उत्पत्ति के साधनों की माग उत्पादित वस्तुओं की माग द्वारा प्रभावित होती है। यदि उत्पादित वस्तुओं की माग अधिक है तब उन वस्तुओं के उत्पादन मे सहयोग देने वाले समस्त उत्पत्ति के साधनों की माग में वृद्धि हो जायगी। दूसरे शब्दों मे, उत्पादन के किसी साधन की सम्पूर्ण माग, विभिन्न उद्योगों मे उस साधन की होने वाली माग द्वारा निर्धारित की जायगी।

इसी प्रकार उत्पत्ति के साधनो की पूर्ति उन साधनो के लिए दिए जाने वाले मूल्यो पर निर्भर करेगी। उत्पत्ति के साधनों का मूल्य जितना ही अधिक होगा, उनकी पूर्ति में उतनी ही अधिक वृद्धि होगी। जैसा कि स्पष्ट है, उत्पत्ति के साधनो को दिए जाने वाला मूल्य देश के अन्दर उनके द्वारा उत्पादित वस्तुओं की माग पर निर्भर करेगा। इस प्रकार स्पष्ट है कि अर्थ व्यवस्था में वस्तुओं की माग, पूर्ति और उनके मूल्य तथा उत्पत्ति के साधनों की माग, पूर्ति और उनके मूल्यो में अन्योन्याश्रित सम्बन्ध (Inter-related) है।

इस प्रकार ओहलिन (Ohlin) का अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का सिद्धान्त मूल्य के सन्तुलन सिद्धान्त (General Equilibrium Theory of Value) का ही विशद् रूप है। इनके अनुसार अन्तर्देशीय व्यापार (Inter-regional Trade) के सिद्धान्त को ही अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार (International Trade) के क्षेत्र में भी लागू किया जा सकता है। अपने सिद्धान्त की व्याख्या में ओहलिन निम्नांकित मान्यताओं (Assumptions) को ध्यान में रखा है :—

(i) मात्र दो क्षेत्रों को ही अध्ययन के लिए नहीं लेना चाहिए;

(ii) उत्पत्ति-साधनो के गुणात्मक अन्तरो (Qualitative Differences in Factors of Production) पर विचार नही किया जाय;

(iii) उत्पत्ति के साधन अन्तर्देशीय क्षेत्र मे तो पूर्णत गतिशील (Mobile) हैं परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे अगतिशील (Immobile) हैं;

(iv) अन्य वस्तुएँ पूर्णत. गतिशील हैं,

(v) केवल वस्तुओं के रूप में लेन-देन की व्याख्या की जायगी, तथा

(vi) प्रत्येक क्षेत्र मे पत्र-मुद्रा (Paper Money) का प्रचलन है जो सभी प्रकार के बाह्य प्रभावो से वंचित है।

ओहलिन के मतानुसार व्यक्तिगत श्रम विभाजन अथवा विशिष्टीकरण (Specialisation) तथा अन्तर्क्षेत्रीय श्रम-विभाजन अथवा विशिष्टीकरण में समानता है। व्यक्तिगत श्रम-विभाजन के अन्तर्गत कोई व्यक्ति उसी कार्य को सम्पादित करता है जिसके करने योग्य वह है अर्थात् जिसे वह उत्तम से उत्तम ढग से कर सकता है। ऐसा करने से समय एवं शक्ति का सदुपयोग होता है तथा व्यक्ति एवं समाज को अधिकतम लाभ होता है। इसी प्रकार विभिन्न क्षेत्रों के बीच भी श्रम का विभाजन हो जाता है। सभी क्षेत्रो के प्रति प्रकृति समान रूप से उदार नहीं होती। किसी क्षेत्र की भूमि अधिक उपजाऊ है तो किसी क्षेत्र मे श्रम की बहुलता है, किसी क्षेत्र मे खनिज-पदार्थों की प्रचुरता है तो किसी क्षेत्र में पूँजी की अधिकता है। अतएव प्रत्येक क्षेत्र का हित इसी मे है कि वह उन वस्तुओं का ही उत्पादन करे जिसके लिए उसके पास उत्पत्ति के साधनों की प्रचुरता है। ऐसा करने से न केवल उस क्षेत्र-विशेष को ही लाभ होगा, वरन् सम्पूर्ण राष्ट्र उससे लाभान्वित होगा। इस प्रकार चाहे व्यक्ति हो या राष्ट्र, वह किसी विशेष काम को करने में या विशेष वस्तु के उत्पादन मे अन्य व्यक्तियो या राष्ट्रों की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठता प्राप्त करता है।

दूसरी बात यह है कि जिस प्रकार कि व्यक्तियो की रुचियो और प्रवृत्तियो मे भिन्नता के

कारण विभिन्न व्यक्तियों के बीच वस्तुओं एवं सेवाओं का पारस्परिक विनिमय (Mutual Exchange) होता है उसी प्रकार विभिन्न क्षेत्रों के बीच व्यापार और विशिष्टीकरण का कारण भी विभिन्न क्षेत्रों के बीच उत्पत्ति के साधनों का अन्तर ही है।

उक्त कारणों से ही अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार आरम्भ होता है। ओहिलिन के शब्दों मे—"अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का तात्कालिक कारण सदा यह होता है कि वस्तुओं को देश मे उत्पन्न करने की अपेक्षा मुद्रा द्वारा बाहर से ही सस्ती दर पर खरीदा जा सकता है" (The immediate cause of international trade is always that goods can be bought cheaper from outside in terms of money than they can be produced at home) दूसरे शब्दों मे, ओहिलिन के अनुसार "दो देशों के बीच अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार लागतों मे भिन्नता के कारण नही वरन् मूल्यो मे भिन्नता के कारण उत्पन्न होता है।" (International Trade between two countries or more takes place due to differences in prices rather than differences in costs.)

अब महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि विभिन्न क्षेत्रों के बीच मूल्यों मे तुलनात्मक भिन्नता (Comparative Differences in prices) क्यों रहती है ? ध्यानपूर्वक विचार करने से यह स्पष्ट होगा कि मूल्यो मे तुलनात्मक भिन्नता उस वस्तु की माग एव पूर्ति पर निर्भर करती है।

किसी वस्तु की माग निम्नलिखत बातो पर निर्भर करती है:—

(i) उपभोक्ता की इच्छाएँ एव माग, तथा

(ii) उत्पत्ति के साधनो का स्वामित्व जिससे व्यक्ति की आय प्रभावित होती है।

दूसरी ओर, वस्तु की पूर्ति निम्नलिखित बातो पर निर्भर करती है:—

(i) उत्पत्ति के साधनों की पूर्ति; तथा

(ii) उत्पादन की भौतिक दशाएँ (Physical Conditions)।

प्रो० ओहिलिन का मत है कि उत्पादन की भौतिक अवस्थाएँ (Physical Conditions) हर जगह एक समान होती हैं। अत उनको ध्यान मे नही रखना चाहिए। विभिन्न क्षेत्रों के बीच वस्तुओं के मूल्यों मे विभिन्नता माग एव पूर्ति को प्रभावित करने वाले तत्वो पर निर्भर करती है। दूसरे शब्दो मे वस्तुओं के मूल्य तभी समान हो सकते हैं जबकि— (i) उपभोक्ताओं की इच्छ एँ और रुचियाँ एक समान हो, (ii) प्रत्येक उपभोक्ता की आय समान हो, (iii) दोनो ही क्षेत्रों मे समान अनुपात मे उत्पत्ति के साधन उपलब्ध हो, तथा (iv) उत्पत्ति के साधनो की पूर्ति मे अन्तर (Differences in the Supply of Factors) ठीक उनकी ही माग के द्वारा पूरा हो। किन्तु उक्त बातें व्यावहारिक जीवन मे पूरी नही हो पाती। ऐसा सम्भव है कि विभिन्न देशो मे उत्पत्ति के साधनो की माग एवं पूर्ति मे अन्तर रह जाय। यदि दोनो देशो के बीच अन्तर रहेगा तो निश्चय ही वस्तुओं के मूल्यो मे भी विभिन्नता आ जायगी। अतएव दो क्षेत्रों के बीच व्यापार होने का मुख्य

कारण उत्पत्ति के साधनों की दुर्लभता (Scarcity of productive Factors) ही है। इस दुर्लभता या कमी को पूरा करने के लिए ही व्यापार किया जाता है। निष्कर्ष यह है कि—(1) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार दो क्षेत्रों के बीच मूल्यों में भिन्नता (Differences in prices) के कारण उत्पन्न होता है, तथा (II) मूल्यो मे भिन्नता का कारण दोनों क्षेत्रो में उत्पत्ति के साधनों की पूर्ति की असमानता है।

ओहिलिन ने एक उदाहरण द्वारा उक्त कथन का स्पष्टीकरण किया है। आस्ट्रेलिया मे भूमि पर्याप्त है परन्तु श्रम एवं पूंजी का अभाव है। अतएव वहाँ भूमि तो सस्ती होगी परन्तु उत्पत्ति के अन्य साधन महँगे होंगे। ऐसी स्थिति मे आस्ट्रेलिया के लिए उन वस्तुओ का उत्पादन करना लाभप्रद होगा जिनके उत्पादन मे अधिक भूमि की जरूरत पडती हो और श्रम तथा पूंजी की कम। यही कारण है कि आस्ट्रेलिया मे गेहूँ, ऊन, मांस आदि वस्तुओ के उत्पादन मे लागत (Cost) कम पडता है। दूसरी ओर, इगलैण्ड मे पूंजी तो पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध है परन्तु भूमि की ही कमी है। अतएव इगलैण्ड को ऐसी वस्तुओ के उत्पादन मे अधिक लाभ होगा जिनके लिए कम भूमि की आवश्यकता है परन्तु पूंजी की अधिक। इसी कारण इगलैण्ड निर्मित वस्तुओ (Manufactured goods) का उत्पादन अधिक करता है। उक्त उदाहरण से स्पष्ट है कि आस्ट्रेलिया एव इगलैण्ड भिन्न भिन्न वस्तुओ का उत्पादन करेंगे और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार द्वारा एक दूसरे की वस्तुओ का आयात निर्यात करेंगे। ओहलिन (Ohlin) के अनुसार "साधारणत प्रत्येक क्षेत्र में प्रचुर औद्योगिक साधन अपेक्षाकृत सस्ते और अभावग्रस्त साधन से अपेक्षाकृत महगे होते हैं। जिन वस्तुओ के उत्पादन के लिए पहले प्रकार के साधनो की अधिक और दूसरे प्रकार के साधनो की कम जरूरत पड़ती है उनका उन वस्तुओ के बदले मे निर्यात किया जाता है जिसके लिए विपरीत अनुपात में साधनों की आवश्यकता पड़ती है। अतएव परोक्ष रूप से प्रचुर पूर्ति वाले साधनो का निर्यात होता है और अभावग्रस्त साधनों का आयात होता है।" (Roughly speaking, abundant indusrital agents are relatively cheap, scanty agents relatively dear In each region Commodities requiring for their production much of the former and little of the latter are exported in exchange for goods that all for factors in opposite proportions Thus indirectly, factors in abundant supply are exported and factors in scanty supply are imported)

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि मूल्यो मे भिन्नता और उत्पत्ति के साधनो की दुर्लभता के कारण ही अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार होता है। परन्तु इससे यह भली भांति मालूम नही होता कि किन वस्तुओ का व्यापार होगा। इसके लिए यह आवश्यक है कि प्रत्येक क्षेत्र के क्रेता अपने क्षेत्र म उत्पादित वस्तुओं के मूल्यो को दूसरे क्षेत्रो मे उत्पादित वस्तुओ के मूल्यो के साथ तुलना कर सकने के योग्य हो। तभी मूल्य मे होने वाली भिन्नता का ज्ञान हो सकेगा। इस प्रकार की तुलना के लिए एक ऐसी मुद्रा की आवश्यकता होगी जो दोनो ही क्षेत्रो मे प्रचलित हो अथवा दोनो क्षेत्रो की मुद्राएँ विनिमय दर (Exchange Rate) के द्वारा एक दूसरे से सम्बन्धित हो।

मान लें कि A एव B दो क्षेत्र हैं जिनमे एक ही मौद्रिक प्रणाली है। जब तक इन दोनो देशों के बीच व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित नही होता तब तक दोनो देशो मे विभिन्न वस्तुओ का मूल्य आन्तरिक माग के आधार पर ही निश्चित होगा। परन्तु जब व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित हो जाता है तब एक देश की माग प्रत्यक्ष रूप से दूसरे देश के मूल्य के सम्पर्क मे आ जाती है। अब वस्तु तथा सस्ते साधनो की आन्तरिक माग के साथ विदेशी माग भी जोड दी जायगी। इसके साथ ही महगे साधनो की आन्तरिक मांग दूसरे क्षेत्र की ओर भी परिवर्तित हो जायगी। दोनो क्षेत्रों

को पारस्परिक मांगो (Reciprocal Demands) के प्रभाव द्वारा मूल्यो मे अन्तर होगा। जब दोनो क्षेत्रो मे वस्तुओ के मूल्य बराबर हो जाते हैं तब सन्तुलन (Equilibrium) की स्थापना हो जाती है।

परन्तु यदि दो क्षेत्रो मे भिन्न भिन्न मौद्रिक प्रणालियाँ (Monetary Systems) हैं तब इन क्षेत्रो के बीच व्यापार करने के लिए दोनो क्षेत्रो की मुद्राओ की विनिमय दर (Exchange Rates of Two Currencies) को ध्यान मे रखना होगा। इस तथ्य का स्पष्टीकरण नीचे दिए गए उदाहरण से हो जाता है—

(1) उत्पत्ति के साधन	(2) 'B' देश मे उत्पत्ति साधनो का मूल्य (डॉलर मे)	(3) 'A' देश मे उत्पत्ति साधनो का मूल्य (पौण्ड मे)	(4) 'A' देश मे उत्पत्ति साधनो का मूल्य जब विनिमय दर £1=$2	(5) 'A' देश मे उत्पत्ति साधनो का मूल्य जब विनिमय दर £1=$3
M	$1	O 20	$ O 40	$ O 60
N	$1	O 30	$ O 60	$ O 90
O	$1	O 40	$ O 80	$ 1 20
P	$1	O 60	$ 1 20	$ 1 80
S	$1	O 80	$ 1 60	$ 2 40

उक्त उदाहरण मे 'B' और 'A' दो देश हैं। दोनो देशो की मुद्रा प्रणालियाँ अलग-अलग हैं। M, N, O, P, तथा S उत्पादन के साधन हैं। 'A' देश की मुद्रा पौण्ड (£) तथा 'B' देश की मुद्रा डॉलर ($) है। 'B' देश मे सभी उत्पत्ति के साधनो (Factors of production) का मूल्य एक समान ($ 1) है किन्तु 'A' देश मे भिन्न-भिन्न है। 'A' देश मे M सबसे सस्ता तथा S सबस महगा साधन है। व्यापारिक दृष्टिकोण से उत्पत्ति के साधनो का अपेक्षाकृत सस्ता होना नही वरन् मौद्रिक इकाइयो के रूप मे निरपेक्षत सस्ता होना महत्त्वपूर्ण है। दूसरे शब्दो में, व्यापार के लिए मूल्य के पूर्ण अन्तर (Absolute Difference) का महत्त्व है। यह अन्तर दो देशो की मुद्राओ की विनिमय दर से भी प्रभावित होगा।

उक्त उदाहरण से स्पष्ट है कि यदि दो मुद्राओ की विनिमय-दर £1=$2 है तो 'A' देश मे B' देश की तुलना मे M, N तथा O साधन सस्ते हैं और P तथा S साधन महगे हैं (डॉलर के रूप मे)। यदि विनिमय दर £1 – $ 3 है तब 'A' देश मे M और N साधन सस्ते होगे तथा 'B' देश मे O, P, तथा S साधन सस्ते होगे। जब विनिमय-दर £1 = $ 2 हैं तब 'A' देश उन वस्तुओ के उत्पादन पर विशेष ध्यान देगा जिनके उत्पादन के लिए M, G और O साधनो की अधिक मात्रा मे आवश्यकता होगी। परन्तु जब विनिमय-दर £1 = $ 3 है तब वह उन वस्तुओं के

उत्पादन पर ध्यान देगा जिनके उत्पादन के लिए M और N साधनों की आवश्यकता होगी। 'B' देश भी इसी प्रकार वैसी वस्तुओं का उत्पादन करेगा जिनके उत्पादन के लिए वहाँ सस्ते साधन उपलब्ध है।

प्रत्येक देश 'सस्ते साधनों वाले उत्पादन' (Cheap Factor products) का निर्यात करेगा तथा 'महँगे साधनों वाले उत्पादन' (Dear Factor products) का आयात करेगा। इस प्रकार विनिमय-दर यह व्याख्या करती है कि किसी देश मे कौन से उत्पत्ति के साधन सस्ते होंगे और कौन से महँगे। किन्तु स्मरणीय है कि केवल विनिमय दर ही किसी साधन को सस्ता या महंगा नही बनाती है। जिस प्रकार उत्पत्ति के साधनो का मूल्य 'पारस्परिकमाग' (Reciprocal Demand) द्वारा निर्धारित होता है उसी प्रकार विनिमय-दर भी पारस्परिक माग द्वारा निर्धारित होती है। विनिमय-दर (Rate of Exchange) ऐसी होनी चाहिए जिससे आयात-निर्यात दोनो बराबर हो जायें।

सक्षेप मे, ओहलिन के सिद्धान्त की मुख्य बातें निम्नलिखित हैं :—

(i) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का प्रधान कारण दो देशो मे वस्तुओ के मूल्यों मे अन्तर है;

(ii) उत्पत्ति-साधनों के सापेक्ष अभाव के कारण वस्तुओं के मूल्यो मे विभिन्नता हो जाती है;

(iii) विनिमय-दर निर्धारित हो जाने पर तुलनात्मक अन्तर पूर्ण अन्तर (Absolute Difference) मे बदल जाते हैं। इसी पूर्ण अन्तर के आधार पर विभिन्न क्षेत्र विभिन्न वस्तुओ के उत्पादन पर विशेष ध्यान देता है, तथा

(iv) विनिमय-दर तथा वस्तुओ के मूल्य का निर्धारण 'पारस्परिक माग' द्वारा होता है।

ओहलिन (Ohlin) का सिद्धान्त एक सुधरा हुआ सिद्धान्त है। इसकी कई अच्छाइयां हैं—उदाहरण के लिए, (1) यह सिद्धान्त दो से अधिक देशो के साथ भी लागू किया जा सकता है। यद्यपि कि ओहलिन की मान्यता थी कि उसके सिद्धान्त के अध्ययन के लिए दो क्षेत्रों को लेना चाहिए किन्तु सिद्धान्त का विश्लेषण कर लेने के पश्चात् उन्होने अपने सिद्धान्त को अधिक वास्तविक रूप देने के लिए निश्चित मान्यताओं को हटा दिए। (2) इस सिद्धान्त मे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे 'उत्पादन के वृहत् पैमाने' (Large Scale Production) के महत्त्व पर विशेष जोर दिया गया है। (3) यह सिद्धान्त उत्पत्ति के साधनो के गुणात्मक पक्ष (Qualitative Aspect) का भी अध्ययन करता है। (4) यह सिद्धान्त परिवहन-व्यय (Transport Cost) की उपेक्षा नही करता। (5) यह सिद्धान्त उत्पत्ति-साधनो की गतिशीलता की बाधाओं पर प्रकाश डालता है।

शास्त्रीय सिद्धान्त से श्रेष्ठ (Superior to Classical Theory) :—अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का आधुनिक सिद्धान्त शास्त्रीय सिद्धान्त (Classical Theory) से श्रेष्ठ है। ओहलिन ने अपने सिद्धान्त की व्याख्या के लिए मूल्य के सन्तुलन-सिद्धान्त (Equilibrium Theory of Value) की सहायता ली है। वह केवल श्रम व्यय (Labour Cost) को ही व्यापार का आधार नही मानता। प्रो० ओहलिन ने यह सिद्ध कर दिया है कि अन्तर्क्षेत्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे कोई गुणात्मक अन्तर (Qualitative Difference) नही वरन् केवल परिमाणात्मक अन्तर (Quantitative Difference) ही है।

फिर भी शास्त्रीय सिद्धान्त की अपेक्षा ओहलिन का सिद्धान्त अधिक जटिल है क्योंकि इसका (ओहलिन) सिद्धान्त मूल्य-सिद्धान्त पर आधारित है और मूल्य-सिद्धान्त स्वयं ही कठिन और जटिल (Complex) है। किन्तु इन कठिनाइयों एवं जटिलताओं के बावजूद ओहलिन का सिद्धान्त शास्त्रीय सिद्धान्त की अपेक्षा अधिक 'वास्तविक' (Realistic), 'लोचदार' (Elastic), 'पूर्ण' (perfect) तथा 'न्यायुक्त' (Justifiable) है।

विशेष अध्ययन सूचि

1 P. T. Ellsworth : The International Economy.
2. Bertil Ohlin : Inter-regional and International Trade
3. Jacob viner : International Trade.
4. G. V. Heberler : The Theory of Internationel Trade

अध्याय : 42 (ग)

भुगतान-सतुलन

(Balance of Payment)

व्यापार सतुलन एव भुगतान सतुलन में अन्तर (Distinction between Balance of Trade and Balance of Payment) —विदेशी व्यापार मे प्रत्येक देश कुछ वस्तुओं का आयात (Import) तथा कुछ वस्तुओ का निर्यात (Export) करता है। साधारणतया, यह देखा जाता है कि किसी भी देश के निर्यात एव आयात सदा बराबर नहा होते। कभी आयात नियात की अपेक्षा अधिक होता है तो कभी निर्यात आयात से अधिक होता है। **आयात एव निर्यात के इस अन्तर को व्यापार सतुलन** (Balance of Trade) **कहा जाता है।**

प्रो० बेन्हम (Benham) के अनुसार **"किसी देश का व्यापार सतुलन, एक दिए हुए समय में, उसके आयात तथा निर्यात के मूल्यों का सम्बन्ध है।"** (Balance of Trade of a country is the relation, over a period, between the value of her exports and the value of her imports) जब एक वष या किसी खास अवधि मे किसी देश के आयात का मूल्य निर्यात के मूल्य की अपेक्षा अधिक होता है तो उस देश के व्यापार सतुलन को विपरीत, अभावसूचक, निष्क्रिय या देश के लिए प्रतिकूल कहा जाता है। (When the value of a country's imports exceeds value of its exports over some arbitrary period, say one year, the Balance of Trade of that country is said to have been adverse or unfavourable or passive) इसके विपरीत जब निर्यात का मूल्य आयात के मूल्य की अपेक्षा अधिक रहता है तो व्यापार-सतुलन को अनुकूल (favourable) अथवा धनात्मक (positive) कहा जाता है। यह आवश्यक नही कि किसी देश के लिए अनुकूल व्यापार सतुलन सदा अच्छा हो। वास्तव, मे अनुकूल व्यापार-सतुलन की धारणा वाणिज्यवादी (Mercantilist School) की देन है। वे लोग आयात से निर्यात की अधिकता को सदा हितकर इसीलिए समझने थे कि इसके कारण देश मे बहुत अधिक मात्रा मे स्वर्ण आता था। वास्तव मे, कभी कभी बहुत बढता हुआ प्रतिकूल व्यापार सतुलन भी देश की समृद्धि का सूचक माना जाता है। उदाहरण के लिए, इ गलैंड और अमरिका जैसे देश यदि निर्यात की अपेक्षा आयात अधिक करते हैं तो इसका अथ यह है कि इन देशो मे अत्यधिक क्रियाशीलता के परिणामस्वरूप अधिक मात्रा मे आयात किया जाता है और भविष्य मे इन देशो की वस्तुओ की माग मे बहुत अधिक वृद्धि होगी जिससे इनके निर्यात मे वृद्धि भी होगी। किन्तु निरन्तर प्रतिकूल व्यापार सतुलन (persistently adverse balance of Trade) का तात्पर्य यह है कि देश दिवालिया होने जा रहा है।

किन्तु, विभिन्न देशो के बीच वस्तुओ एव निधि (treasures) के आयात निर्यात के अतिरिक्त सदा कुछ सेवाओ तथा अन्य कितने हो प्रकार के लेन देन भी होते रहते हैं। उदाहरण के लिए, बामा, जहाजी किराया, बैंकों का शुल्क पूंजी हस्तातरण सम्बन्धी भुगतान, ब्याज, लाभ, राजनैतिक शुल्क तथा अन्य सेवाओ के बदले पुरस्कार आदि। ये सब अदृश्य व्यापार (Invisible Trade) के अन्तर्गत आते हैं। व्यापार सतुलन के अतिरिक्त भुगतान सतुलन (Balance of Payments) के अन्तर्गत ये सारी चीजें भी सम्मिलित रहती हैं। दूसरे शब्दो मे, भुगतान सतुलन मे दृश्य व्यापार (Visible Trade) तथा अदृश्य व्यापार (Invisible Trade) दोनो के चलते जो लेन देन होता है उसका लेखा जोखा सम्मिलित रहता है। यहाँ दृश्य एव अदृश्य आयात तथा निर्यात मे अन्तर समझ लेना अनिवार्य है। जब वस्तुएँ जिनमे निधि (Treasures) भी सम्मिलित रहते हैं, देश मे बाहर से लायी जाती है या देश के बाहर भेजी जाती हैं तो बन्दरगाहो पर इनका लेखा कर लिया जाता है। (Entered in the records at ports) ऐसे मदो को हम विदेशी व्यापार की दृश्य मदे (Visible items of foregin trade) कहते हैं। किन्तु जब विभिन्न प्रकार की सेवाओं (जैसे ब्याज, जहाज का किराया, बैंक शुल्क, इत्यादि का आयात निर्यात किया जाता

है तो इनका बन्दरगाहों पर कोई लेखा नहीं होता, अतएव इन्हें विदेशी व्यापार की अदृश्य मदें (Invisible items of foreign trade) कहते हैं। व्यापार सतुलन (Balance of Trade) का सम्बन्ध केवल दृश्य व्यापार (Visible trade), यानी वस्तुओं तथा निधि के आयात निर्यात से रहता है। किन्तु भुगतान सतुलन (Balance of payments) का सम्बन्ध दृश्य तथा अदृश्य दोनों ही प्रकार की मदों से होता है। दूसरे शब्दों में, जबकि व्यापार सतुलन में केवल विदेशी व्यापार के दृश्य मदों की गणना होती है भुगतान सतुलन में दृश्य तथा अदृश्य दोनों ही प्रकार की मदों की गणना की जाती है। बेन्हम (Benham) का इस सम्बन्ध में निम्नांकित कथन इसे पूर्णतया स्पष्ट बना देता है 'The Balance of payment of a country, complete and accurate would include all payments made during the period by foreigners to residents all such payments are called 'credits' and all payments known as "debits made during the period by residents to foreigers' दूसरे शब्दों में, जैसा कि बेन्हम (Benhm) का कहना है, 'किसी देश का भुगतान सतुलन किसी दिये हुए समय में, सम्पूर्ण विश्व के साथ उसके लेन देन का लेखा जोखा रहता है।' (Balance of payments of a country is a record of its monetary transaction, over a period, with the rest of the world)

इस प्रकार भुगतान-सतुलन (Balance of payment) व्यापार सतुलन (Balance of Trade) की अपेक्षा अधिक व्यापक होता है। भुगतान सतुलन के अन्तर्गत व्यापार सतुलन भी सम्मिलित रहता है। दूसरे शब्दों में, भुगतान सतुलन के अन्तर्गत सभी प्रकार के विकलन (debits) तथा समस्त समाकलन (credit) सम्मिलित किये जाते हैं। व्यापार संतुलन की तरह भुगतान सतुलन भी अनुकूल (Favourable Balance of Payment) तथा प्रतिकूल (Adverse Balance of Payment) हो सकता है।

भुगतान-सतुलन का महत्त्व (Significance of the Balance of Payments) — किसी देश की आर्थिक व्यवस्था में व्यापार सतुलन की अपेक्षा भुगतान सतुलन का विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण स्थान रहता है। प्रतिकूल भुगतान-सतुलन का तात्पर्य यह है कि देश की आर्थिक स्थिति अत्यन्त शोचनीय है। हम देख चुके हैं कि व्यापार सतुलन भुगतान सतुलन का ही एक अंग है। किन्तु केवल व्यापार सतुलन का प्रतिकूल होना देश की आर्थिक व्यवस्था की दुर्बलता का परिचायक नहीं है। इसी प्रकार अनुकूल व्यापारिक सतुलन भी सदा इस बात का परिचायक नहीं है कि देश उन्नति कर रहा है क्योंकि अदृश्य मदों (Invisible Items) के आयात एवं निर्यात का भी देश की आर्थिक व्यवस्था पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। अतएव किसी देश की आर्थिक व्यवस्था में भुगतान सतुलन का ही विशेष महत्त्व होता है। भुगतान सतुलन के अध्ययन से ही किसी देश की वास्तविक स्थिति के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त की जा सकती है। दूसरे शब्दों में, 'The balance of payments is an economic barrowmeter which when propertly handled by economic analyst can be used to appraise a nations short term international economic prospects to evaluate the degree of its international solvency and to determine the appropriateness of the foreign exchange rate of the money unit)

भुगतान-सतुलन की मदें

(Items enterning into the Balance of Payments)

उपरोक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि भुगतान सतुलन (Balance of Payments) के अन्तर्गत समस्त विकलन (Debits) एवं समस्त समाकलन (Credits) सम्मिलित किये जाते हैं। प्रत्येक देश का भुगतान सतुलन एक विवरण (Statement) की तरह होता है जिसमें समस्त विकलन (Debits) एवं समस्त समाकलन (Credits) दोनों पृथक पृथक रूप से दिखलाये जाते हैं। इस प्रकार के विवरण का एक नमूना अगले पृष्ठ पर दिया गया है —

भुगतान-संतुलन का एक विवरण

(Statement showing Balance of Payments)

निर्यात तथा अन्य मदो (दृश्य एव अदृश्य) से प्राप्त रकम (Credits)	रु० पै०	आयात तथा अन्य मदो (दृश्य एव अदृश्य) मे विदेशियो को दी गयी रकम (Debits)	रु० पै०
(1) वस्तुओं का निर्यात	..	(1) वस्तुओ का आयात	..
(2) सेवाओं के निर्यात से प्राप्त आय—	..	(2) सेवाओ के आयात के लिए किया गया भुगतान	..
(क) व्यापारिक कम्पनियो द्वारा की गयी सेवाएं	..	(क) व्यापारिक कम्पनियों द्वारा की गयी सेवाएं	..
(ख) विशेषज्ञों की सेवाएँ	..	(ख) विशेषज्ञो की सेवाएं	...
(ग) शिक्षा एवं यात्रियो की सेवाएं	..	(ग) शिक्षा एव यात्रियों की सेवाएं	....
(3) विदेशी ऋण एव पूंजी से प्राप्त आय-मूल धन, व्याज तथा लाभ	..	(3) विदशी ऋण एवं पूंजी का भुगतान मूल घन, ब्याज एव लाभ	....
(4) विदेशी सरकारो द्वारा देश में किये व्यय	..	(4) सरकार द्वारा विदेशो मे किये गये व्यय	..
(5) जनसंख्या के आवास से प्राप्त होने वाला धन	..	(5) जनसंख्या के प्रवास के कारण विदेशो को जाने वाला धन	....
(6) विदेशियो से प्राप्त दण्ड, दान, मुआवजा एवं युद्ध-सम्बन्धी व्यय इत्यादि	..	(6) विदेशो को दिया गया दण्ड, दान, मुआवजा एव युद्ध सम्बन्धी व्यय इत्यादि	....
कुल योग	..	कुल योग	....

अब उक्त भुगतान सतुलन के विवरण मे सम्मिलित सभी मदो का निम्न विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है —

(1) **वस्तुओं का आयात एव निर्यात** (Export and import of goods)—किसी देश के विदेशी व्यापार मे वस्तुओ के आयात-निर्यात का प्रधान स्थान रहता है। वस्तुओ के आयात-निर्यात को दृश्य व्यापार (visible trade) के अन्तर्गत रखा जाता है और इनके अन्तर को व्यापार-सतुलन (Balance of Trade) के द्वारा व्यक्त किया जाता है। भुगतान सतुलन पर भी इस प्रकार की वस्तुओ के आयात एव निर्यात का प्रभाव पड़ता है। वास्तव मे, वस्तुओ का आयात निर्यात भुगतान-सतुलन मे सम्मिलित होने वाला सबसे प्रमुख मद है।

(2) **स्वर्ण एव चाँदी का आयात-निर्यात** (Export and import of Gold and Silver)—दृश्य व्यापार (Visible Trade) के अन्तर्गत स्वर्ण एव चाँदी अथवा निधि (Treasures) के आयात निर्यात को भी सम्मिलित किया जाता है। भुगतान-सतुलन (Balance of Payments) पर इसका भी प्रभाव पडता है।

(3) **सेवाएँ** (Services)—विभिन्न देशो के बीच भिन्न-भिन्न प्रकार की सेवाओ (Services) का भी सदा आदान-प्रदान होते रहता है जिनके बदले इन्हें मूल्य लेना या देना पडता है। इस प्रकार भुगतान-सतुलन के अन्तर्गत विभिन्न प्रकार की सेवाएं सम्मिलित की जाती हैं जिनमे निम्नलिखित प्रमुख हैं—

(क) व्यापारिक कम्पनियों द्वारा का गयी सेवाएँ—जब किसी एक देश की व्यापारिक कम्पनियां अन्य देशो मे कुछ सेवाएं करती है, तब इनकी सेवाओं के बदले इन्हें जो शुल्क मिलता है वह भी भुगतान संतुलन मे सम्मिलित किया जाता है। उदाहरण के लिए, पोस्टल-सम्बन्धी सेवाएं, वित्तीय सेवाएँ—जैसे पूँजी बाजार मे दलाली वगैरह, इत्यादि। जो देश इस प्रकार की सेवाओ को दूसरे देश के लिए करता है, उसके लिए यह अदृश्य निर्यात (Invisible export) तथा जो देश इन सेवाओ को प्राप्त करता है उसके लिए यह अदृश्य आयात (Invisible import) होता है। **(ख) विशेषज्ञो की सेवाएं**—कभी-कभी कोई देश विदेशो से विशेषज्ञो की सेवाओ जैसे अध्यापको, इंजीनियरो, चिकित्सको, आदि को भी प्राप्त करने का आयोजन करता है। उदाहरण के लिए, भारत मे बहुत अधिक विदेशी डाक्टर, प्रोफेसर तथा इंजीनियर आदि कार्य करते हैं। ये सब अपने वेतन तथा आय को अपने देश मे भी भेजते हैं। जो देश इस प्रकार के विशेषज्ञो की सेवाओ को प्राप्त करता है, उसके लिए यह अदृश्य आयात (Invisible import) हुआ और जिस देश के विशेषज्ञ कार्य करते हैं उसके लिए यह अदृश्य निर्यात (invisible export) की तरह हुआ। भुगतान संतुलन मे यह भी सम्मिलित रहता है। **(ग) शिक्षा एवं यात्रियों की सेवाएँ**—इंगलैंड, रूस तथा अमेरिका जैसे देशो मे विभिन्न देशो से लोग बड़ी मात्रा मे शिक्षा प्राप्त करने तथा यात्रा के लिए जाते हैं। इस मद मे भी इन देशो को कुछ रकम प्राप्त होती है। जिस देश के विद्यार्थी या यात्री जाते है उनके लिए यह खर्च अदृश्य आयात (Invisible import) हुआ और जिस देश मे ये जाते हैं उसके लिए यह अदृश्य निर्यात (Invisible export) की तरह हुआ। **(घ) जहाजी कम्पनियों का भाड़ा**—प्रत्येक वर्ष कई देश दूसरे देश के जहाजो का प्रयोग आने-जाने के लिए तथा माल ढोने के लिए करते हैं जिनके लिए जहाजी कम्पनियो को भाडा चुकाना पडता है। जो देश विदेशी जहाजो का प्रयोग करते हैं उनके लिए यह अदृश्य आयात (Invisible Import) की तरह हुआ और जिस देश की जहाजो का प्रयोग किया जाता है उसके लिए यह अदृश्य निर्यात (Invisible export) की तरह हुआ। **(च) बीमा एवं बैंकिंग शुल्क इत्यादि**—बहुत-से देश विदेशो की बीमा तथा बैंकिंग कम्पनियो की सेवाओं का भी उपयोग करते हैं जिनके बदले उन्हें कुछ शुल्क या मूल्य चुकाना पड़ता है। जो देश बीमा तथा बैंकिंग कम्पनियों का प्रयोग करता है उसके लिए यह अदृश्य आयात (Invisible imports) की तरह हुआ और जिन देशो की बीमा तथा बैंकिंग कम्पनियो का प्रयोग किया जाता है, उनके लिए यह अदृश्य निर्यात (Invisible exports) का कार्य करता है। भुगतान-संतुलन मे इन विभिन्न प्रकार की सेवाओं के आयात एव निर्यात का भी प्रधान स्थान है।

(3) विदेशी ऋण, पूँजी एव सूद का लेन-देन (Debts, capital and interest charges)—कभी-कभी एक देश किसी दूसरे देश को ऋण भी देता है। ऋण दीर्घकालीन और अल्पकालीन दोनों ही प्रकार के होते है। जब इस प्रकार के ऋण की रकम एक देश से दूसरे देश को भेजी जाती है, तब ऋणदाता (Creditor) देश के लिए यह अदृश्य आयात (Invisible import) और ऋणी (Debtor) देश के लिए यह अदृश्य निर्यात (Invisible export) के समान होता है। इसके बाद जब ऋण या इसके सूद के भुगतान का समय आता है तब इसका प्रभाव ठीक इसके विपरीत होता है, यानी मूलधन या सूद की रकम देने वाले देश के लिए यह आयात तथा इसे प्राप्त करने वाले देश के लिए यह निर्यात के समान हो जाता है। कभी कभी विदेशो की पूँजी (Capital) देश मे सूद की ऊँची दर या प्रतिभूतियो में अच्छा लाभ कमाने की आशा से भी आती है। यह पूँजी प्राय विदेशो मे हिस्से (Shares) खरीदने या बैंको मे रकम जमा करने या इन्हें उधार देने या इसे अन्य किसी व्यापार या धन्धो मे लगाने के लिए भेजी जाती है। यह विनियोग (investment) भी दीर्घ या अल्पकालीन हो सकता है। यहाँ पर भी जिस देश से विदेशो को पूँजी जाती है, वह ऋणदाता (Creditor) देश और जिस देश मे इस पूँजी का विनियोग होता है, वह ऋणी (Debtor) देश के समान हो जाता है। विनियोग के समय ऋणदाता देश के लिए इस प्रकार की पूँजी का भेजना अदृश्य आयात (Invisible import) और ऋणी देशों के लिए यह अदृश्य निर्यात (Invisible export) की तरह होता है और वापस करने के समय इसका ठीक विपरीत प्रभाव पड़ता है। इसका भी भुगतान सन्तुलन पर प्रभाव पडता है। अत विभिन्न राष्ट्रो के बीच ऋण, पूँजी एव सूद के भुगतान से उनकी भुगतान-संतुलन की स्थिति प्रभावित होती है जिससे ये भी भुगतान सन्तुलन के महत्त्वपूर्ण अंग है।

(5) **सरकारी का आय व्यय**—प्राय प्रत्येक देश की सरकार दूसरे देश मे अपने दूतावास (Embassy) आदि पर भी कुछ व्यय करती है। इस प्रकार के सरकारी आय व्यय का भी भुगतान-सन्तुलनपरप्रभाव पडता है। जो देश अपनी रकम दूसरे देश में व्यय करता है उसके लिए यह अदृश्य आयात (Invisible imports) तथा जिसमे यह व्यय किया जाता है उसके लिए यह अदृश्य निर्यात (Invisible exports) की तरह होता है। इसके अतिरिक्त दूसरी मदो मे भी एक देश की सरकार दूसरे देश मे व्यय करती है। इस प्रकार दूसरे देश मे सरकार द्वारा किये जाने वाले व्यय से भी भुगतान सन्तुलन प्रभावित होता है, अत. यह भुगतान-सन्तुलन की एक प्रमुख मद है।

विदेशियों से प्राप्त या दिया गया दण्ड, दान, मुआवजा अथवा युद्ध-व्यय इत्यादि—कभी-कभी एक देश को दूसरे देश से दण्ड, मुआवजा, दान तथा युद्ध व्यय इत्यादि के रूप मे भी कुछ रकम प्राप्त होती है जिससे इन देशों का भुगतान सतुलन प्रभावित होता है। दण्ड, मुआवजा, दान या युद्ध-व्यय देने वाले देश के लिए यह अदृश्य आयात (Invisible import) की तरह तथा इन्हें प्राप्त करने वाले देश के लिए यह अदृश्यनिर्यात (Invisible export) की तरह होता है। इस प्रकार ये सारी चीजें भी भुगतान-सन्तुलन की मद मे सम्मिलित होती हैं।

भुगतान-संतुलन का साम्य
(Equilibrium of the Balance of Payment)

जब किसी देश का भुगतान-सन्तुलन साम्य की स्थिति (equilibrium) मे रहता है तो उस स्थिति मे देश की माग उसकी पूर्ति के बराबर होती है। उस समय माग एव पूर्ति की स्थिति न तो अनुकूल ही रहती है और न प्रतिकूल। जब भुगतान सन्तुलन (Balance of Payments) किसी देश के विपक्ष मे हो जाता है तो इसे प्रतिकूल भुगतान सन्तुलन (Adverse Balance of of Payments) कहते हैं। इसके विपरीत जब भुगतान सन्तुलन किसी देश के पक्ष मे रहता है तो इसे अनुकूल भुगतान सतुलन (Favourable Balance of Payments) कहते हैं। किसी देश का व्यापार-सतुलन (Balance of Trade) सदा अनुकूल स्थिति में रह सकता है, किन्तु कोई देश सदैव प्रतिकूल भुगतान-सन्तुलन (Adverse Balance of Payments) की स्थित मे नहीं रह सकता। अल्पकाल मे कोई देश प्रतिकूल भुगतान सन्तुलन की स्थिति मे भले ही हो, किन्तु दीर्घकाल मे व्यक्तियो की तरह राष्ट्रो के समस्त दायित्व (Total liabilities) का उनके समग्र आदेयो (Total assets) के बराबर अवश्य ही होना चाहिए।

इस प्रकार भुगतान सतुलन का साम्य (Equilibrium of the Balance of payments) किसी देश की आर्थिक व्यवस्था की दृढता का प्रतीक है। असमानता (Disequilibrium) थोडे या दीर्घकाल के लिए उत्पन्न हो सकती है। किन्तु लगातार असमानता (Continued disequilibrium) इस बात का सूचक है कि देश की आर्थिक एव वित्तीय व्यवस्था दिवालियेपन की ओर अग्रसर हो रही है। अतएव प्रत्येक देश अपने भुगतान-सतुलन को साम्य की स्थिति मे बनाये रखने का प्रयास करता है।

वास्तव मे, एक विशेष अर्थ मे भुगतान सतुलन सदा सन्तुलित रहता है। (The Balance of Payments always necessarily balances) किसी भी विनिमय के दो पक्ष होते हैं। विदेशी मुद्रा की प्रत्येक इकाई जिसकी खरीद हुई है उसका कोई विक्रेता भी अवश्य ही होता है। इस अर्थ मे दिय

हुए समय में कितना भी छोटा वह क्यों न हो, विदेशी विनिमय-बाजार में बिक्री की गयी रुपये व रकम रुपये की खरीद की रकम के बराबर होती है। इस अर्थ में भुगतान-सन्तुलन सदा तुलित रहत है। इसे इस प्रकार से अधिक स्पष्ट किया जा सकता है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के अन्तर्गत एक देश दूसरे देश को माल भेजता है अर्थात् निर्यात (Export) करता है तथा दूसरे देश से माल मंगाता है अर्थात् आयात (Import) करता है। यदि हम आयातों एवं निर्यातों को विस्तृत रूप में लें अर्थात सभी दृश्य एवं अदृश्य मदों को जो देश के बाहर जाती और विदेशों से आती हैं सामने रखें, तो हम देखेंगे कि "निर्यात आयातों का भुगतान करते हैं"। (Exports pay for Imports, i.e., the value of exports and imports, both visible and invisible, must ultimately balance)

देश के कुल निर्यातों और कुल आयातों के बीच आधारभूत सम्बन्ध बहुत ही सामान्य है। देश के कुल आयातों को इसके कुल निर्यातों के बराबर अवश्य होना चाहिए। दूसरे शब्दों में, आयात एवं निर्यात में समानता की प्रवृत्ति पायी जाती है।" (Imports and Exports tend to be equal) यानी "भुगतान-सन्तुलन आवश्यक रूप से सतुलित होते है।" (Balance of Payments necessarily balances.) कारण यह है कि दीर्घकाल में कोई भी देश अपने निर्यातों से अधिक आयात नहीं कर सकता और न आयात से अधिक निर्यात ही कर सकता है। अल्पकाल में, आयात निर्यातों से अवश्य ही अधिक हो सकते हैं या इसके विपरीत निर्यात आयातों से अधिक हो सकते हैं। वस्तुतः यह प्राय कम या अधिक होते ही रहते हैं। पर दीर्घ काल तक यदि ऐसी ही स्थिति बनी रहती है तो ऐसी अवस्था में ऋणों का समीकरण (Equation of Indebtedness) या भुगतान सतुलन (Balance of Payments) करने के लिए एक देश से दूसरे देश को सोना-चाँदी का आना-जाना अनिवार्य हो जाता है। फलस्वरूप सोना चाँदी पानेवाले देश का जीवन-स्तर ऊँचा हो जाता है। दूसरे शब्दों मे, इस देश मे मूल्य मे वद्धि हो जाती है। दूसरी ओर सोना-चाँदी देने वाले देश का सामान्य मूल्य स्तर (General Price level) नीचा होने लगता है। और अन्तत आयात-निर्यात के बराबर होने की प्रवृत्ति देखने मे आती है।

मान लें कि A और B दो देशों के बीच अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार होता है। A देश के निर्यात B देश के साथ आयात की अपेक्षा अधिक हैं। ऐसी दशा मे स्वर्ण का प्रवाह B देश की ओर होगा जिसके फलस्वरूप A देश मे मूल्य-स्तर ऊँचा हो जायगा जिससे उसे अब B देश में बेचने में अधिक लाभ प्राप्त होगा। दूसरी ओर B देश मे स्वर्ण की मात्रा कम हो जाने से मूल्य-स्तर गिरेगा। ऐसी स्थिति मे A देश को B देश से माल खरीदने मे लाभ रहेगा। परिणामस्वरूप A देश के आयात (Import) बढ़ जायँगे और निर्यात (Export) घट जायगा। दूसरी ओर, B देश के आयात घट जायँगे और निर्यात बढ़ जायगा। ऐसी स्थिति मे स्वर्ण का प्रवाह A देश से B देश की ओर होगा। B देश मे स्वर्ण के आने से मूल्य-स्तर में वृद्धि हो जायगी तथा A देश से स्वर्ण चले जाने से मूल्य-स्तर कम हो जायगा। पुनः A का निर्यात बढ़ेगे और B का निर्यात घटेगा। इस प्रकार आयात-निर्यात मे लगातार एकपक्षीय प्रवाह (One-sided Movement) असम्भव है।

टॉसिग (Taussing) के अनुसार "किसी देश के व्यापार का प्रवाह ज्वार-भाटे की तरह है। वह बहुत काल तक एक ही दिशा मे नही रह सकता। शीघ्रता से या विलम्ब से उसे बदलना ही है। कारण, कि एक देश से धात्विक मुद्रा दूसरे देश को चली जायेगी तो आर्थिक शक्तियाँ इस तरह काम करने लगेंगी कि व्यापार पुनः पूर्वस्थिति को वापस होने लगेगा।" (The current of trade

cannot forever continue in one direction any more than the tide of the sea : sooner or later it must change, and after metallic money has been taken out of a country, there are natural forces which tend to bring it back again"

किन्तु, विदेशी विनिमय-बाजार मे विभिन्न प्रकार के लेन देन एक साथ होते रहते हैं। अब यह कोई आवश्यक नहीं कि किसी देश का भुगतान संतुलन प्रत्येक दूसरे के साथ, जिससे कि उसका व्यापारिक सम्बन्ध है, पृथक् रूप से साम्य की स्थिति मे रहे। यह आवश्यक नही है और वास्तविक जीवन मे ऐसा होता भी नही है। वास्तविक जीवन मे व्यापारिक सम्बन्ध अनेक प्रकार के होते हैं, उदाहरण के लिए, भारत का भुगतान-सन्तुलन इंगलैंड के साथ अनुकूल (Favourable) और अमेरिका के साथ प्रतिकूल (unfavourable) हो सकता है। भुगतान त्रिकोण मे भी किये जा सकते हैं जैसे भारत इंगलैंड को जूट भेजे और उसका भुगतान अमेरिका से आनेवाले गेहूँ के रूप मे हो। किन्तु दीर्घकालीन मे कोई भी देश, जितना उसने सभी देशो को निर्यात किया है, उससे अधिक मूल्य नही प्राप्त कर सकता।

भुगतान-सन्तुलन मे असमानता के कारण

(Causes of Disequilibrium in the Balance of Payments)

अब प्रश्न यह है कि किसी देश के भुगतान सन्तुलन (Balance of Payments) मे क्यो असमानता होती है ? भुगतान-सन्तुलन की विभिन्न मदो की हमने अभी व्याख्या की है। कोई भी कारण जिसके फलस्वरूप इनमे से कोई एक या अधिक मदो में एक ही ओर जाने की प्रवृत्ति हो जाय, भुगतान संतुलन मे असमानता उत्पन्न कर सकता है। उदाहरण के लिए, किसी कारणवश व्यापारिक वस्तुओ के निर्यात मे कमी हो सकती है या आयात मे वृद्धि हो सकती है जिससे भुगतान सतुलन मे असमानता उत्पन्न हो जायगी। किसी देश से व्यापारिक वस्तुओ के निर्यात मे कई कारणो से कमी हो सकती है—जैसे, अन्तर्राष्ट्रीय बाजार मे इनकी वस्तुओ की मांग कम हो जाने से, देश मे इनका उत्पादन घट जाने से या मुद्रा का मूल्य बढ जाने से इत्यादि। इसी प्रकार आयात मे भी कई कारणो से वृद्धि हो सकती है —जैसे, देश मे अकाल वगैरह हो जाने से तथा विकास की योजनाओ को कार्यान्वित करने के लिए इत्यादि। इसी प्रकार सेवाओ अथवा पूंजी वगैरह के अत्यधिक आयात तथा निर्यात से भी भुगतान सतुलन मे असमानता उत्पन्न हो सकती है।

भुगतान सतुलन की असमानता को सुधारने के तरीके (Methods for correcting the disequilibrium in the Balance of Payments) —अब हम भुगतान-सतुलन की असमानता को सुधारने के विभिन्न तरीको की व्याख्या करेंगे। स्वर्ण मान (Gold Standard) के अन्तर्गत किसी देश के भुगतान-सन्तुलन की असमानता स्वर्ण के आयात एव निर्यात के द्वारा स्वय ही ठीक हो जाती थी। किन्तु, वर्तमान आर्थिक स्थिति मे यह असमानता स्वत ठीक नही होता, इसके लिए विभिन्न प्रकार के उपायो को अपनाना पडता है। जब किसी देश के भुगतान-सन्तुलन मे बहुत समय तक तथा बहुत बडी मात्रा मे असमानता रहती है तब वह देश अपनी आर्थिक स्थिति को सुदृढ बनाने के लिए विभिन्न प्रकार के उपायो को अपनाता है। नीचे हम भुगतान-सतुलन की विपक्षता (Adverse Balance of Payments) को ठीक करने के कुछ तरीको की व्याख्या करते हैं।

भुगतान-संतुलन की विपक्षता को दूर करने के उपाय

(Methods for Correcting the Adverse Balance of Payments)

कोई भी देश अपने भुगतान सन्तुलन की विपक्षता को दूर करने के लिए निम्नांकित उपायों में से किसी एक या अधिक उपायों को अपनाता है—

(1) **निर्यात को प्रोत्साहित एवं आयात को हतोत्साहित करना** (Stimulating Exports and restricting Imports)—भुगतान-सतुलन की प्रतिकूलता (Adverse Balance of Payments) को दूर करने का सर्वाधिक प्रमुख तरीका निर्यात को प्रोत्साहित तथा आयात को हतोत्साहित करना है।

निर्यात प्रोत्साहन (Export promotion) के कई तरीके है जैसे (क) **निर्यात करो मे कमी या छूट** (Reduction or remission of Export Duties) —सरकार वस्तुओं के निर्यात करो में पूर्ण छूट देकर या इन करो में कमी करके निर्यात को प्रोत्साहन दे सकती है। (ख) **आर्थिक सहायता देना** (Subsidies and Bounties) —सरकार देश के उत्पादको को आर्थिक सहायता प्रदान कर भी निर्यात को प्रोत्साहित करती है। आर्थिक सहायता देने से वस्तुओं का उत्पादन-व्यय उत्पादको के लिए कम हो जाता है जिससे वे अधिक मात्रा मे वस्तुओं का निर्यात करने लगते है। (ग) **प्रचार** (Publicity)—प्रचार तथा विज्ञापन के द्वारा भी देश वस्तुओं के लिए विदेशों मे माँग उत्पन्न की जा सकती है जिससे निर्यात को प्रोत्साहन मिलेगा।

इसी प्रकार आयात को हतोत्साहित करने के भी बहुत से तरीके हैं—

(2) **आयात कर लगाना या इनमे वृद्धि करना** (Imposition or increase of Import Duties)—(i) आयात कर लगाने या इनमें वृद्धि करने से विदेशी वस्तुएँ देश मे महँगी हो जाती है जिससे इनकी माँग कम हो जाती है और फलस्वरूप आयात भी घट जाता है। (ii) **आयात पर लाइसेंस लगाना या कोटा निर्धारित करना** (Licensing of imports or Quota Policy)—आयात कम करने के लिए सरकार विभिन्न वस्तुओं के आयात के लिए लाइसेंस या कोटा की नीति के द्वारा आयात की अधिकतम मात्रा को निश्चित कर सकती है। उदाहरण के लिए, भारत मे ही आजकल विभिन्न उपभोक्ता वस्तुओं, जैसे—घड़ा, कलम, साइकिल, मोटरकार इत्यादि के आयात के लिए लाइसेंस लेना अनिवार्य बना दिया गया है। साथ ही, इन वस्तुओं के आयात की अधिकतम मात्रा भी सरकार द्वारा निश्चित कर दी जाती है जिससे अधिक मात्रा मे आयात नही किया जा सकता।

इस प्रकार इन विभिन्न उपायों द्वारा सरकार निर्यात को प्रोत्साहित एवं आयात को हतोत्साहित कर प्रतिकूल भुगतान सतुलन को कम कर सकती है।

(2) **अवमूल्यन** (Devaluation) —देश की मुद्रा का अवमूल्यन निर्यात को प्रोत्साहित एवं आयात को हतोत्साहित करने का एक प्रधान उपाय है। अवमूल्यन का अर्थ है देश की मुद्रा की विदेशी विनिमय क्रय शक्ति को कम करना यानी विदेशी मुद्रा के रूप मे देश की मुद्रा के मूल्य को कम करना। इससे देश का निर्यात विदेशो मे सस्ता हो जाता है तथा आयात महँगे हो जाते हैं। अवमूल्यन के फलस्वरूप विदेशो मे वस्तुएँ खरीदने के लिए पहले अधिक मात्रा मे मुद्रा का व्यय करना पड़ता है। अतः जब कोई देश अपनी मुद्रा का अवमूल्यन करता है तब इससे देश के

निर्यात को प्रोत्साहन मिलता है तथा इसका आयात हतोत्साहित हो जाते है, जिससे भुगतान का प्रतिकूल सतुलन शीघ्र ही साम्य की स्थिति मे आ जाता है।

(3) मुद्रा-सकुचन (Deflation) —कभी कभी कोई राष्ट्र अपनी मुद्रा का बाह्य मूल्य कम करना (अवमूल्यन करना) उचित नही समझता। इस अवस्था मे वह मुद्रा-सकुचन की रीति को अपना कर भुगतान सन्तुलन की प्रतिकूलता को ठीक कर सकता है मुद्रा सकुचन (Deflation) के परिणामस्वरूप देश मे वस्तुओ एव सेवाओ का मूल्य कम हो जाता है। इससे सामान्य मूल्य-स्तर कम हो जाता है और विदशो से आयी हुई वस्तुएँ महँगी हो जाती हैं। परिणामत निर्यात को प्रोत्साहन मिलता है और आयात हतोत्साहित होता है जिससे भुगतान-सतुलन की विपक्षता ठीक हो जाती है। परन्तु मुद्रा-सकुचन की रीति एक अच्छी रीति नही है क्योकि देश के मूल्यो को जान बूझकर कम करने से आर्थिक सकट आ जाने का भय बना रहता है। इससे देश मे बेरोजगारी एव मन्दी की स्थिति फैल जाती है। अतएव भुगतान सतुलन की विपक्षता को ठीक करने के लिए मुद्रा-सकुचन की रीति को बडी सावधानीपूर्वक प्रयोग मे लाना चाहिए।

(4) विनिमय नियन्त्रण (Exchange Control) —किन्तु भुगतान-सतुलन की विपक्षता को दूर करने के उक्त तरीको की भारी सीमाएँ है। अवमूल्यन (Devaluation) से देश के सम्मान को धक्का पहुँचता है, दूसरी ओर मुद्रा सकुचन (Deflation) के प्रभाव बडे ही घातक सिद्ध हो सकते हैं तथा देश की अर्थ व्यवस्था अस्त व्यस्त हो सकती है, कोटा प्रणाली प्रतिकार (Reaction) को जन्म देती है, इत्यादि। अत इन रीतियो को अपनाने मे अत्यत सावधानी से काम लेना पडता है। परन्तु कभी-कभी इन रीतियो के दोषो से बचने के लिए विनिमय-नियन्त्रण की रीति को अपनाना पडता है। इस रीति म देश क सम्पूर्ण विदेशी विनिमय को केन्द्रीय बैंक के जिम्मे सुपुर्द कर दिया जाता है जो इसे देश की आवश्यकताओ को ध्यान मे रखते हुए प्रयोग मे लाता है। सरकार प्रत्येक निर्यातकर्त्ता को यह आदेश देती है कि वे अपने विदेशी विनिमय के तमाम सौदे (Foreign Exchange Transactions) केवल केन्द्रीय बैंक द्वारा ही करें अर्थात् उन्हे यह आदेश दिया जाता है कि वे जो कुछ भी विदेशी विनिमय प्राप्त करते हैं उस केन्द्रीय बैंक को सौंप दें। इस प्रकार केन्द्रीय बैंक को जो कुछ भी विदेशी विनिमय प्राप्त होता है, वह इसे आयात कर्त्ताओ मे विभाजित कर देता है। सरकार आयात करने के लिए लाइसस (Licence) भी देती है। लाइसेंस प्राप्त व्यक्ति के अतिरिक्त अन्य कोई भी वस्तुओं का आयात नहीं कर सकता है। इस प्रकार इस प्रणाली मे आयात पर रोक एव नियन्त्रण लगाकर भुगतान-सतुलन की विपक्षता को ठीक किया जाता है।

(5) विदेशों से ऋण (External Debt) —भुगतान-सतुलन की प्रतिकूलता को विदेशो से ऋण लेकर भी दूर अथवा कम किया जा सकता है। इस प्रकार के ऋण विदेशी बैंको एव व्यक्तियो, विदेशो की सरकारो तथा विश्व-बैंक एव अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष जैसी संस्थाओ से प्राप्त किये जा सकते हैं। चूँकि इन ऋणो का भुगतान दोर्घकाल मे करना होता है, अतएव वर्तमान मे इनके द्वारा भुगतान सतुलन की प्रतिकूलता को कम किया जा सकता है और सरकार देश की आर्थिक स्थिति को सुधारने के लिए उचित कदम उठाकर उचित समय पर ऋणो का भुगतान कर सकती है।

(6) **विदेशी विनियोग को प्रोत्साहन (Encouragement to Foreign investment) :—** भुगतान-सतुलन की विपक्षता को कम करने के लिए देश की सरकार विदेशी पूँजीपतियों को आवश्यक रियायतें देकर उन्हें अपने देश में पूँजी विनियोग के लिए प्रोत्साहित कर सकती है। किन्तु इस विधि को अपनाते समय सरकार को इस बात को ध्यान में रखना होता है कि विदेशी पूँजी का प्रयोग देश के आर्थिक हित में ही होना चाहिए।

साराश यह है कि भुगतान सतुलन की विपक्षता को उपरोक्त उपायों द्वारा कम अथवा दूर किया जा सकता है।

विशेष अध्ययन-सूची

1. Ellsworth : The International Economy
2. Viner : Studies in the Theory of International Trade.

अध्याय : 42 (घ)

स्वतन्त्र व्यापार बनाम संरक्षण

(Free Trade versus Protection)

स्वतन्त्र व्यापार एव सरक्षण मे अन्तर (Distinction between Free Trade and Protection) —स्वतन्त्र व्यापार बनाम सरक्षण-सम्बन्धी वाद विवाद बहुत प्राचीन है। विभिन्न देशो के बीच वस्तुओ के अनियन्त्रित आयात निर्यात को स्वतन्त्र व्यापार कहते हैं। आदम स्मिथ (Adam Smith) के अनुसार "स्वतन्त्र व्यापार व्यावसायिक नीति की उस प्रणाली को कहते हैं जिसमे देशी एव विदेशी वस्तुओ मे कोई भेद भाव नही किया जाता है और इसलिए न तो विदेशी वस्तुओं पर कर लगाये जाते हैं और न स्वदेशी उद्योगों को कोई विशेष सुविधाएँ ही प्रदान की जाती हैं।" (The term free trade has been used to denote that system of Commercial Policy which draws no distinction between domestic and foreign commodities and therefore neither imposes additional burdens on the latter nor grants any special favour to the former) इस प्रकार स्वतन्त्र व्यापार मे वस्तुओ के आयात एव निर्यात पर कोई नियन्त्रण नही रहता और विदेशी व्यापार स्वतन्त्रतापूर्वक चलते रहता है। दूसरे शब्दो मे, जब विभिन्न देशो के विदेशी व्यापार पर किसी प्रकार की अस्वाभाविक रुकावट नही डाली जाती है तो इसी प्रकार के व्यवसाय को स्वतन्त्र व्यापार कहते हैं। किन्तु इसका अर्थ यह नही कि स्वतन्त्र व्यापार के अन्तर्गत वस्तुओ के आयात निर्यात पर किसी प्रकार का कर नहीं लगाया जाता है, वरन् जो भी कर लगाये जाते हैं वे केवल आय (Revenue) के दृष्टिकोण से न कि सरक्षण के लिए।

इसके विपरीत सरक्षण का आशय सरकार की उस व्यावसायिक नीति से है जिसमे घरेलू उद्योगो की रक्षा के लिए विदेशी व्यापार पर नियन्त्रण लगाया जाता है। दूसरे शब्दों मे, सरक्षण के अन्तर्गत व्यापार की स्वाभाविक गति पर पूरी पूरी प्रतिबन्ध लगाया जाता है। सरक्षण का उद्देश्य साधारणतया स्वदेशी उद्योगो की उन्नति करना होता है। सरक्षण की नीति न केवल आर्थिक, वरन् कभी कभी राजनीतिक उद्देश्यो से भी अपनायी जाती है। सरक्षण की नीति के विकास का सर्वाधिक प्रधान कारण राष्ट्रीयता की भावना का विकास है। देश भक्त नागरिको के लिए स्वदेशी उद्योग उतना ही महत्त्व रखता है जितना कि विदेशी आक्रमण से अपने देश की रक्षा करना। (To the loyal citizen, the promotion of native industry and economic interest seems a duty nearly as imperative as the defence of the national territory against foreign invasion) इस प्रकार सरक्षण की नीति का आधार आर्थिक एव राजनीतिक दोनो ही होता है। साधारणत, सरक्षण का उद्देश्य विदेशी प्रतियोगिता से स्वदेशी उद्योगो की रक्षा करना होता है। किन्तु सरकार की प्रत्येक ऐसी नीति, जिसके कारण विदेशी व्यापार की स्वाभाविक गति मे रुकावट उत्पन्न होती है, चाहे इस नीति का उद्देश्य आर्थिक हो अथवा राजनैतिक, सरक्षण की नीति कहलाती है।

स्वतन्त्र व्यापार के सिद्धान्त का विकास

(Development of the Theory of Free Trade)

विभिन्न देशों के बीच वस्तुओं के स्वतन्त्र आदान प्रदान को स्वतन्त्र व्यापार कहते हैं। व्यावहारिक रूप में स्वतन्त्र व्यापार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के तुलनात्मक लागत के सिद्धान्त पर आधारित है। केयरनस (Cairnes) के अनुसार ' यदि किसी विशेष लाभ के उद्देश्य से कुछ राष्ट्र परस्पर व्यापार करना प्रारम्भ कर दें तो उनके स्वतन्त्र व्यापारिक आदान-प्रदान में किसी प्रकार का हस्तक्षेप उनको इस लाभ से वंचित कर देगा।" (If nations only engage in trade when an advantage arises from doing so, any interference with their free action in trading can only have the effect of debarring them from an advantage.) स्वतन्त्र व्यापार के सिद्धान्त को अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में श्रम विभाजन के सिद्धांत का विस्तार मात्र समझना चाहिए। आदम स्मिथ (Adam Smith) के शब्दों में "व्यक्ति विशेष अपने उद्योगों का इस प्रकार उपयोग करते हैं जिससे उन्हें अपने पड़ोसियों से कुछ अधिक सुविधाएँ प्राप्त हो जायें। इसके अनुसार जो बात किसी घर के लिए बुद्धिमानी की हो सकती है, किसी बड़े राष्ट्र के लिए बेवकूफी की नहीं हो सकता।" (Individuals find it to their interest to employ their industry in a way in which they have some advantages over their neighbours. And what is prudence in the conduct of every private family, can scarcely be folly in that of a great kingdom.) इस प्रकार स्वतन्त्र व्यापार के सिद्धांत का सारांश यह है कि स्वतन्त्र व्यापार की रीति से हर देश अपने उन उद्योगों को समुन्नत कर सकता है जो अपेक्षाकृत उनके लिए अधिक अनुकूल हो।

इंगलैंड—स्वतन्त्र व्यापार का नेता (England—the Champion of Free Trade).—*विश्व में स्वतन्त्र व्यापार के नेता के रूप में इंगलैंड का स्थान है।* नेपोलियन युद्ध के पश्चात 19 वीं शताब्दी में इंगलैंड में स्वतन्त्र व्यापार बनाम संरक्षण के संघर्ष प्रारम्भ हुआ एवं उस समय की विशेष परिस्थितियों के कारण स्वतन्त्र व्यापार के पक्षपातियों की ही विजय हुई। उस समय इंगलैंड में स्वतन्त्र व्यापार की नीति की प्रधानता के लिए निम्नांकित परिस्थितियाँ मुख्य रूप से उत्तरदायी थी —(क) औद्योगिक क्रांति सर्वप्रथम इंगलैंड में प्रारम्भ हुई। इस औद्योगिक क्रांति (Industrial Revolution) के फलस्वरूप इंगलैंड में जिस नवीन औद्योगिक वर्ग का जन्म हुआ वह अपने कारखाना के लिए सस्ता कच्चा माल एवं उत्पादित वस्तुओं के लिए विस्तृत बाजार चाहता था। *साथ ही, औद्योगिक श्रमिकों का वर्ग सस्ता खाना* चाहता था। (ख) 1832 ई० के सुधार अधिनियम (Reforms Act of 1832) से औद्योगिक वर्ग को राजनीतिक शक्ति प्राप्त हुई। इस प्रकार इंगलैंड में 19 वीं शताब्दी में स्वतन्त्र व्यापार का बोलबाला था। वहाँ उस समय विदेशी व्यापार से नियन्त्रण हटाने के लिए बहुत से नियम बनाये गये। (ख) 1838-39 ई० में एक अन्न कानून विरोधी दल (Anti corn Law (League) की स्थापना हुई। इस दल द्वारा तथा अन्य प्रयत्नों के परिणामस्वरूप 1853 ई० एवं 1860 ई० में आयात-निर्यात करों में सुधार कर ब्रिटेन के विदेशी व्यापार पर से संरक्षण हटा दिया गया। *इंगलैंड ने अपने स्वतन्त्र व्यापार के सिद्धांत को भारत तथा अपने अन्य उपनिवेशों में* भी लागू किया। फ्रांस तथा जर्मनी में भी यह धारणा थोड़े दिनों तक प्रचलित रही किन्तु शीघ्र ही समाप्त हो गयी।

किन्तु इंगलैंड में स्वतन्त्र व्यापार की नीति का समर्थन इसलिए किया जाता था कि उसे इस प्रकार की नीति में लाभ था। औद्योगिक क्रांति के क्षेत्र में अगुआ होने के कारण इंगलैंड के लिए यह नीति विशेष रूप से लाभप्रद सिद्ध हुई। किन्तु स्वतन्त्र व्यापार के सिद्धान्त का अनुसरण कर दूसरे देश अपने औद्योगिक विकास नहीं कर सकते थे। यही कारण था कि संयुक्त राज्य अमेरिका तथा जर्मनी आदि देशों ने संरक्षण का समर्थन किया। भारत ने भी 1923 24 ई० में विवेचनात्मक संरक्षण (Discriminating Protection) की नीति को अपनाया। इन सब कारणों से परिस्थितियों में आमूल परिवर्त्तन हुआ जिसके फलस्वरूप भयानक व्यावसायिक मन्दी के काल में इंगलैंड को भी बाध्य होकर अपनी स्वतन्त्र व्यापार की नीति का परित्याग करना पड़ा।

संरक्षण की नीति का विकास

(Rise of Protectionism)

स्वदेशी उद्योगों को कुछ सुविधाएँ देकर अथवा विदेशी वस्तुओं के आयात पर अत्यधिक कर लगाकर उनके आयात को हतोत्साहित करने की नीति को संरक्षण कहते हैं। संरक्षण के पक्ष में बहुत-सारी दलीलें दी जाती हैं जिनमें आर्थिक स्वतन्त्रता, विदेशी वस्तुओं के आक्रमण से स्वदेशी उद्योगों की रक्षा करना, राष्ट्रीय साधनों का विकास, आदि विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण हैं। संरक्षण की भावना का प्रसार आर्थिक तथा राजनैतिक दोनों ही कारणों से हुआ है। किन्तु ध्यानपूर्वक विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि इनमें राजनैतिक कारणों की ही प्रधानता है।

सर्वप्रथम सुप्रसिद्ध अमरिकी अर्थशास्त्री एवं राजनीतिज्ञ एलेक्जेण्डर हैमिल्टन (Alexander Hamilton,) ने 1791 ई० में संरक्षण के सिद्धांत को प्रस्तुत किया था। उन्होंने संरक्षण के पक्ष में बहुत से तर्क प्रस्तुत किये तथा संरक्षण के कुछ तरीकों को भी बतलाया। 19 वीं शताब्दी के प्रारम्भ में कई कारणों से अमेरिका में संरक्षण के समर्थन को जोर मिला। अमेरिका एवं इंगलैंड के बीच युद्ध में जब इन दोनों देशों के बीच व्यापारिक सम्बन्ध अस्थायी रूप से स्थगित हो गया था तो अमेरिका के बहुत से उद्योगों को विशेष रूप से प्रोत्साहन मिला। इससे वहाँ की सरकार ने संरक्षण के लाभ को समझा और युद्ध के बाद भी नये नये उद्योगों की स्थापना के लिए संरक्षण की नीति को अनिवार्य समझा गया। इसी समय पेनसिलवेनिया में हेनरी कैरे (Henry Carey) के नेतृत्व में संरक्षण की नीति जोर पकड़ रही थी। कैरे को यह विश्वास था कि संरक्षण से उद्योगों में विभिन्नता आती है।

जर्मनी में संरक्षण का सर्वाधिक प्रबल समर्थक वहाँ का सुप्रसिद्ध अर्थशास्त्री फ्रेडरिक लिस्ट (Frederich List) था। जर्मनी में संरक्षण की नीति वहाँ की राष्ट्रवादी नीति का परिणाम थी। (Protectionism in German was the child of the nationalist philosophy of that country) उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में फिक्टे (Fichte) तथा हेगल (Hegel) आदि के विचारों से प्रभावित होकर लिस्ट ने संरक्षण के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। लिस्ट के अनुसार व्यक्ति का उद्देश्य अपनी अमीरी नहीं वरन् राज्य की भलाई होनी चाहिए। उनके अनुसार आदम स्मिथ (Adam Smith) अपने दृष्टिकोण में अत्यन्त भौतिकवादी व्यक्तिवादी तथा अन्तर्राष्ट्रीय था। उसने अपने विचारों में राष्ट्र, जो व्यक्ति एवं मानवता के बीच एक आवश्यक कड़ी के रूप में था, को उचित स्थान नहीं दिया। लिस्ट के अनुसार जो बात इंगलैंड के

लिए अच्छी है, यह कोई आवश्यक नहीं कि अन्य देशों के लिए भी अच्छी हो। साथ ही, उसने इस बात पर भी जोर दिया कि प्रत्येक देश में हरेक प्रकार का उद्योग होना चाहिए। लिस्ट का यह विश्वास था कि 'जो देश केवल कृषि पर आश्रित रहता है, वह ऐसे व्यक्ति के समान है जिसे एक हाथ नहीं होता।' (A nation which only carries on agriculture is like an individual who in his material production lacks an arm)

संरक्षण के सम्बन्ध में अमेरिका एवं जर्मनी के ये विचार धीरे-धीरे दूसरे देशों में भी पहुँचे जिससे अन्य देशों ने भी इस नीति को अपनाया। प्रथम महायुद्ध के बाद तो मानो स्वतन्त्र व्यापार बनाम संरक्षण का वाद विवाद ही समाप्त हो गया और आज विश्व के प्रायः सभी देशों ने विदेशी व्यापार के क्षेत्र में संरक्षण की नीति को अपनाया है।

अब स्वतन्त्र व्यापार (Free Trade) एवं संरक्षण (Protection) के पक्ष में प्रस्तुत किये जानेवाले विभिन्न तर्कों की विवेचना की जायगी।

स्वतन्त्र व्यापार के पक्ष में तर्क
(Arguments in favour of Free Trade)

प्रतिष्ठित अर्थशास्त्री (Classical Economists) स्वतन्त्र व्यापार के पक्ष में थे। वे विदेशी व्यापार के क्षेत्र में किसी भी प्रकार के नियन्त्रण के पक्ष में नहीं थे। इन लोगों ने स्वतन्त्र व्यापार के पक्ष में बहुत से तर्क प्रस्तुत किये थे जिनमें निम्नलिखित प्रमुख हैं —

(1) अधिकतम सामाजिक उत्पादन (Maximization of Social Product) — स्वतन्त्र व्यापार के अन्तर्गत प्रत्येक देश उस वस्तु के उत्पादन में विशिष्टीकरण प्राप्त करता है जिनके उत्पादन के लिए उस देश में प्राकृतिक एवं अन्य साधनों की श्रेष्ठता रहती है। इसमें उत्पादन तुलनात्मक लागत के सिद्धांत के आधार पर किया जाता है, अतएव प्रत्येक देश में उपलब्ध साधनों का अधिकतम उपयोग होता है जिससे सम्पूर्ण विश्व में धनोत्पत्ति भी अधिकतम होती है। अतएव यह कहा जाता है कि यदि विश्व के प्रत्येक राष्ट्र की आय को अधिकतम करनी है, तब इस उद्देश्य की पूर्ति केवल स्वतन्त्र व्यापार की नीति अपनाकर ही की जा सकती है क्योंकि स्वतन्त्र व्यापार की व्यवस्था में व्यापारी राष्ट्रीय हित को त्याग कर अन्तर्राष्ट्रीय हित को ही अपना उद्देश्य समझता है।

(2) उपभोक्ताओं को वस्तुएँ एवं सेवाएँ कम से कम मूल्य पर प्राप्त होती हैं —स्वतन्त्र व्यापारिक प्रतिस्पर्धा के कारण केवल कुशल व्यवसायी ही जीवित रह सकते हैं और ये ऐसे उद्योग होते हैं जिनमें उत्पादन न्यूनतम लागत पर होता है। ऐसी स्थिति में वस्तुओं का मूल्य भी बहुत कम होता है। साथ ही, स्वतन्त्र व्यापार में वस्तुओं का आयात प्रायः बिना किसी कर (Tax)आदि के ही होता है जिससे वस्तुएँ सस्ती पड़ती हैं। अतएव स्वतन्त्र व्यापार में उपभोक्ताओं को वस्तुएँ बहुत ही कम मूल्य पर प्राप्त होती हैं जिससे सम्पूर्ण विश्व के सभी व्यक्तियों की वास्तविक आय बढ़ती है।

(3) उद्योगों का स्थानीयकरण (Localisation of industries) —स्वतन्त्र व्यापार में चूँकि प्रत्येक देश किसी ऐसी वस्तुओं के उत्पादन में विशेषज्ञ होता है जिसके लिए उस देश में प्राकृतिक सुविधाएँ उपलब्ध होती हैं, अतएव इससे उद्योगों के स्थानीयकरण को प्रोत्साहन मिलता है और विभिन्न देशों को श्रम विभाजन के लाभ प्राप्त होते हैं।

(4) बाजार का क्षेत्र बहुत विस्तृत होता है —स्वतन्त्र व्यापार में विदेशी व्यापार की वस्तुओं के बाजार का क्षेत्र बहुत विस्तृत हो जाता है विशेष कर जबकि किसी देश में वस्तुओं

का उत्पादन उत्पत्ति वृद्धि नियम (Law of Increasing Returns) के अनुसार हो रहा हो। वस्तुओ का बाजार जितना ही अधिक विस्तृत होता है, विभिन्न देशो को निरपेक्ष लाभ (Absolute Advantage) तथा तुलनात्मक लाभ (Comparative Advantage) भी उतने ही अधिक प्राप्त होते है।

(5) उत्पादन की विधि मे सुधार—स्वतन्त्र व्यापार म प्रतिस्पर्धा होती है। इसके कारण एक देश के उत्पादक विदेशी उत्पादकों की स्पर्धा के भय से अपनी उत्पत्ति के तरीको म समय समय पर सुधार करते रहते हैं।

(6) एकाधिकारी सघों के निर्माण पर रोक—स्वतन्त्र व्यापार का आधार व्यापारियो की पारस्परिक प्रतिस्पर्धा है। इस प्रतिस्पर्धा एव प्रतियोगिता के कारण एकाधिकारी सघो के निर्माण म रुकावट उत्पन्न होता है जिससे वस्तुओ के मूल्य बहुत ऊँचे नही होने पाते।

(7) राष्ट्रो मे सद्भावना एव सहयोग—स्वतन्त्र व्यापार मे एक देश दूसरे देश पर निर्भर रहता है जिससे आपस मे सद्भावना एव सहयोग उत्पन्न हो जाता है।

प्रतिष्ठित अर्थशास्त्री (Classical Economists) स्वतन्त्र व्यापार के पक्ष मे उल्लिखित तर्कों को दिया करते थे। परन्तु आजकल आर्थिक राष्ट्रीयवाद तथा आयोजित अर्थ व्यवस्था के परिणामस्वरूप स्वतन्त्र व्यापार का इस नीति का केवल सैद्धान्तिक महत्त्व ही रह गया है और आज स्वतन्त्र व्यापार की नीति के स्थान पर सभी देशो ने सरक्षण की नीति को अपना लिया है।

संरक्षण के पक्ष मे तर्क

(Arguments in Favour of Protection)

सरक्षण के पक्ष मे इसके समर्थकों द्वारा समय समय पर बहुत सारे तर्क दिये गये हैं जिनम निम्नांकित विशेष रूप से उल्लखनीय है —

(1) शिशु उद्योग सम्बन्धी तर्क (Infant Industries Argument)—सरक्षण के पक्ष मे सर्वाधिक प्रमुख तर्क शिशु उद्योग सम्बन्धी तर्क है। 1791 ई० मे श्री एलेक्जेण्डर हैमिल्टन ने इस तर्क को प्रस्तुत किया था। बाद म, जर्मनी के अर्थशास्त्री लिस्ट (List) तथा सुप्रसिद्ध अगरेज अर्थशास्त्री मिल Mill) ने भी इसका समर्थन किया। इसका सार यह है कि उद्योग-धन्धो को विकास की प्रारम्भिक अवस्था मे विदेशी उद्योगो स सरक्षण प्रदान करना अनिवार्य हो जाता है। विश्व के सभी देशो मे आर्थिक विकास का स्तर एक समान नहीं रहता है। कुछ देश ऐसे भी होते हैं जिनमे आर्थिक विकास बहुत बाद मे प्रारम्भ होता है। ऐसे देशो मे कुछ विशेष प्रकार के उद्योग धन्धो के विकास के लिए प्राकृतिक तथा अन्य सुविधाएँ उपलब्ध रहती हैं। किन्तु इन सुविधाओ के बावजूद प्रारम्भिक स्थिति मे इन उद्योग धन्धो के लिए विकसित राष्ट्रो के उद्योगो की प्रतियोगिता करना बहुत कठिन हो जाता है। ऐसी स्थिति मे देश के आर्थिक विकास के लिए शिशु उद्योगो को सरक्षण प्रदान करना आवश्यक होता है। प्रो० टॉसिग (Taussing) ने इस सम्बन्ध मे ठीक ही कहा है 'प्रारम्भ मे स्वदेशी उत्पादक कुछ कठिनाइयो के कारण विदेशी उत्पादक की बराबरी नहीं कर पाते हैं किन्तु बाद में जब वे वस्तु के उत्पादन की रीतियों स पूर्ण रूपेण अवगत हो जाते हैं, तब सम्भव है कि वे अपनी वस्तुएँ विदेशियो स भी सस्ती बनाकर बाजार मे बेचने में सफल हो जायें।' (At the outset, the domestic producer has difficulties and cannot meet foreign competition In the end, he learns how to produce to the best advantages and then can bring the article to market as

cheaply as the foreigners, or even more cheaply) अतएव औद्योगिक विकास की प्रारम्भिक स्थिति में उद्योग धन्धों को संरक्षण देना अनिवार्य हो जाता है। बाद में, जब ये उद्योग विकसित हो जाते हैं तो ये संरक्षण के बगैर भी विदेशी प्रतियोगिता का सामना कर सकते हैं। इस प्रकार संरक्षण की शिशु उद्योग-सम्बन्धी युक्ति का सार निम्न कहावत में निहित है, "शिशु का पालन करो, बालक की रक्षा करो और युवक को स्वतन्त्र छोड़ दो।" (Nurse the baby, protect the child and free the adult) दूसरे शब्दों में, शिशु उद्योग को उस समय तक संरक्षण देना चाहिए जब तक कि वह पैरों पर खड़ा न हो जाय।

किन्तु शिशु उद्योग सम्बन्धी युक्ति की आलोचना भी की जाती है। इसके विरुद्ध बहुत-सी बातें कही जाती हैं। सर्वप्रथम तो किसी नये उद्योग को प्रदान किये गये संरक्षण में स्थायी होने की प्रवृत्ति पायी जाती है जैसा कि प्रो० टॉसिग ने कहा है, "साधारणतः एक बार संरक्षण मिल जाने पर मनुष्य अपने निजी स्वार्थ में अनुचित लाभ कमाने के उद्देश्य से संरक्षण हटाने के लिए तैयार नहीं होते हैं।" (Protection given in most cases creates vested interest which are averse to the removal of protection) अतएव एक बार संरक्षण मिल जाने पर उद्योग को स्वार्थ का घेरता है जिससे संरक्षण को हटाना असम्भव-सा हो जाता है। इस तर्क के विरुद्ध दूसरी बात यह कही जाती है कि एक बार इस आधार पर संरक्षण दे देने से सभी प्रकार के उद्योग संरक्षण की माँग करने लगते हैं। इससे देश में भ्रष्टाचार एवं पक्षपात की भावना को अनुचित प्रोत्साहन मिलने लगता है। तीसरी बात यह है कि इससे उपभोक्ताओं को हानि होती है क्योंकि संरक्षण की अवधि में इन्हें वस्तुओं के लिए अधिक मूल्य देना पड़ता है। किन्तु, इससे यद्यपि प्रारम्भ में देशवासियों को हानि होती है, फिर भी एक बार देश का औद्योगिक विकास हो जाने से सम्पूर्ण समाज को लाभ ही होता है। शिशु-उद्योग-सम्बन्धी तर्क के विरुद्ध अन्तिम आलोचना यह की जाती है कि कभी-कभी यह निर्णय करना कठिन हो जाता है कि कौन-सा उद्योग शिशु उद्योग है और कौन सा शिशु-उद्योग नहीं है।

किन्तु शिशु उद्योग-सम्बन्धी तर्क के विरुद्ध की जानेवाली उक्त आलोचनाओं के बावजूद विश्व के बहुत से देशों, जैसे—अमेरिका, जर्मनी इत्यादि ने इसी तर्क के आधार पर अपना औद्योगिक विकास किया है।

(7) उद्योगों की विभिन्नता सम्बन्धी तर्क (Diversification to Industries Argument)—उद्योगों की विभिन्नता-सम्बन्धी तर्क जर्मनी के सुप्रसिद्ध अर्थशास्त्री फ्रेडरिक लिस्ट (Frederich List) द्वारा प्रस्तुत किया गया था। लिस्ट के अनुसार किसी देश के संतुलित आर्थिक विकास के लिए उस देश में विभिन्न प्रकार के उद्योगों का रहना आवश्यक है। कुछ थोड़े से उद्योग पर आश्रित रहना आर्थिक एवं राजनीतिक दोनों दृष्टिकोण से हानिकारक होता है। राजनीतिक दृष्टि से तो इसका अर्थ यह है कि ऐसे देश को अधिकांश वस्तुओं के लिए विदेशी व्यापार पर आश्रित रहना पड़ता है जो युद्ध आदि के समय समाप्त हो सकता है। आर्थिक दृष्टिकोण से यह हानिकारक इसलिए है कि ऐसे उद्योगों में जिनमें उस देश ने विशिष्टता प्राप्त की है, अवसाद की स्थिति आ जाने पर देश का आर्थिक जीवन अस्त-व्यस्त हो जाता है। अतएव आधुनिक अर्थशास्त्रियों की राय में प्रत्येक देश को अपनी आवश्यकतानुसार सभी वस्तुओं का उत्पादन करना चाहिए। देश में विभिन्न प्रकार के उद्योगों के विकास से वहाँ की आर्थिक व्यवस्था अधिक संतुलित होती है जिससे युद्ध अथवा अन्य आर्थिक संकट के समय वह भंग नहीं होने पाती।

किन्तु इस युक्ति से तुलनात्मक लागत का सिद्धांत बिलकुल समाप्त हो जाता है क्योंकि इसके अनुसार कोई देश उन वस्तुओं का भी उत्पादन करता है जिनके उत्पादन में उसे अपेक्षाकृत लाभ कम हो या कुछ भी नहीं हो।

(3) सुरक्षा-सम्बन्धी तर्क (Defence Argument)—प्रत्येक देश की सुरक्षा तथा स्वतन्त्रता को बनाये रखना वहाँ की सरकार का परम कर्त्तव्य होता है। अर्थशास्त्री आदम स्मिथ (Adam Smith) के अनुसार "सुरक्षा सदैव अमीरी से अधिक महत्त्वपूर्ण होता है।" (Defence is better than opulence.) साधारणतया यह कहा जाता है कि कोई देश आर्थिक दृष्टि से समृद्धिशाली भले ही न हो किन्तु सैनिक दृष्टि से उसे बहुत अधिक शक्तिशाली होना अनिवार्य है। हिटलर ने जर्मनी में यह नारा बुलन्द किया था कि "बन्दूकें मक्खन से अच्छी होती हैं।" (Guns are better than butter) अतएव देश की सैनिक शक्ति को सुदृढ़ बनाये रखने के लिए सुरक्षा-सम्बन्धी उद्योगों को संरक्षण प्रदान करना अति अनिवार्य है।

इस प्रकार सुरक्षा-सम्बन्धी तर्क के अनुसार देश की सैनिक शक्ति को सुदृढ़ बनाये रखने के लिए कम-से कम सुरक्षा-सम्बन्धी उद्योगों को संरक्षण प्रदान करना चाहिए।

(4) प्राकृतिक साधनों के उचित उपयोग सम्बन्धी तर्क (Proper utilization of the Natural Resources Argument)—स्वतन्त्र व्यापार के परिणामस्वरूप देश के प्राकृतिक साधनों का उचित तरीके से उपयोग नहीं होता है, क्योंकि जब एक देश किसी एक वस्तु के उत्पादन में विशिष्टता प्राप्त कर लेता है तो उस वस्तु के उत्पादन से सम्बन्धित प्राकृतिक साधनों का अत्यधिक मात्रा में उपयोग होता है जिससे कभी कभी इनके समाप्त होने की सम्भावना हो जाती है। उदाहरण के लिए, भारत से मैंगनीज एवं अभ्रक का बहुत अधिक मात्रा में निर्यात किया जाता है। जेवेन्स (Jevons) ने इसी तर्क के आधार पर इंगलैंड के कोयले के निर्यात पर प्रतिबन्ध लगाने का सुझाव प्रस्तुत किया था। करे (Carey) एवं पैटेन (Patten) के अनुसार स्वतन्त्र व्यापार के परिणामस्वरूप अमेरिका की फसलों का निर्यात हो गया। इस प्रकार इस तर्क में बहुत अधिक जोर है। देश के प्राकृतिक साधनों का उचित तरीके से उपयोग नहीं होने से इनका भंडार समाप्त होने लगता है। अतएव देश के प्राकृतिक साधनों को बचाने के लिए भी संरक्षण की आवश्यकता पड़ती है।

(5) प्रमुख अथवा आधारभूत उद्योग सम्बन्धी तर्क (Key Industry Argument)—किसी देश की औद्योगिक स्थिति को अधिक सुदृढ़ एवं स्थायी बनाने के लिए प्रमुख एवं आधारभूत उद्योगों (Key and basic industries) जैसे—लोहा, इस्पात, बिजली आदि की स्थापना अनिवार्य है। ये देश के औद्योगिक ढाँचे के आधार हैं। अतएव यदि किसी देश के पास इन उद्योगों के लिए कुछ सुविधा न हो तो भी इन उद्योगों का विकास आवश्यक हो जाता है। संरक्षण की माँग इस तर्क के आधार पर भी की जाती है।

(6) सरकारी आय सम्बन्धी तर्क (The Revenue Argument)—संरक्षणात्मक करों का प्रधान उद्देश्य साधारणतया आय प्राप्त करना नहीं होकर देश के प्राकृतिक साधनों को देश के अधिकतम लाभ के लिए प्रयोग करना माना जाता है। किन्तु संरक्षात्मक करों से सरकार को आय भी होती है। वास्तव में, वर्तमान सरकारों की आय का एक बहुत बड़ा भाग आयात एवं निर्यात करों से ही प्राप्त होता है। किन्तु संरक्षण की नीति तथा संरक्षण द्वारा आय प्राप्त करना दोनों ही दो विरोधी तत्त्व हैं, क्योंकि जिन देशों में पूर्ण संरक्षण रहता है वहाँ आयात कर से प्रायः कोई आय नहीं प्राप्त होती। फिर भी, संरक्षण के पक्ष में कभी-कभी इस प्रकार का तर्क प्रस्तुत किया जाता है।

(7) स्वदेशी बाजार-सम्बन्धी तर्क (Home Market Argument) —सरक्षण द्वारा सरकार विदेशी वस्तुओं के आयात को बन्द या महँगा कर सकती है जिससे स्वदेश के बाजार मे केवल गृह-उद्योगों द्वारा निर्मित वस्तुओं की ही बिक्री होने लगती है। परिणामस्वरूप स्वदेशी उद्योगो मे रोजगार बढता है। और, देश मे रोजगार बढने से स्वदेशी उद्योगो की वस्तुओं की ओर भी अधिक बिक्री होती है। अत देश मे बनी वस्तुओ का बाजार देश मे ही उत्पन्न करने के लिए सरक्षण की नीति का समर्थन किया जाता है। परन्तु इस तर्क की आलोचना इस आधार पर भी की जाती है कि देश का आयात कम कर देने से देश का निर्यात भी कम हो जाता है। (The fall in imports is followed by a fall in exports)

(8) मजदूरी सम्बन्धी तर्क (Wage Arguments) —एक कम मजदूरी वाले देश मे वस्तुओ का लागत-व्यय एक अधिक मजदूरी वाले देश की अपेक्षा कम होता है जिससे कम मजदूरी वाला देश दूसरे देश मे वहाँ के व्यापारियों की तुलना मे अधिक माल बेचने मे सफल होता है। इसका कभी-कभी यह भी परिणाम होता है कि अधिक मजदूरी वाले देश मे उद्योग धन्धे शनैं-शनैं बन्द होने लगते हैं जिससे देश मे बेरोजगारी फैलने लगती है। अतएव ऊँची मजदूरी वाला देश अपने देश मे मजदूरी का ऊँचा स्तर तब ही कायम रख सकता है जब कि वह उन उद्योगो को जिनमे मजदूरी अधिक है सरक्षण प्रदान करे। (A wage-level higher than that of other countries can be maintained only behind a tariff wall) इस सरक्षण के पक्ष मे मजदूरी-सम्बन्धी तर्क कहते हैं। अमेरिका ने जापान से आनेवाले कपडे के आयात पर इसी कारण आयात-कर लगाया था ताकि जापानी प्रतिस्पर्धा के कारण अमरिका का वस्त्र उद्योग नष्ट नही होने पाए। परन्तु, यह तर्क भी सदैव लागू नही होता। कभी-कभी कुछ उद्योगो मे मजदूरों की कार्य क्षमता एव उत्पादकता अधिक होने के कारण भी मजदूरी ऊँची होती है। उदाहरणार्थ, इगलैंड मे जापान के कपडे के कारखानो मे काम करनेवाले श्रमिको की तुलना मे अधिक मजदूरी मिलती है, परन्तु इसका यह कारण नही है कि इगलैंड के कपडा उद्योग को वास्तव मे सरक्षण प्राप्त है। अत सरक्षण के पक्ष मे मजदूरी का तर्क दोषपूर्ण व भ्रामक है।

(9) देश के द्रव्य को देश मे ही रखने का तर्क (To keep money at home Argument)—यह तर्क सर्वप्रथम अब्राहम लिंकन (Abraham Lincoln) ने प्रस्तुत किया था। इस तर्क का आधार यह विचार है कि जब हम विदेशों से माल मँगाते हैं तब इनके भुगतान मे हमारा द्रव्य विदेशों को चला जाता है, परन्तु यदि देश मे सरक्षण की नीति अपना ली जाय और विदेशो से माल नही आने दिया जाय, तब देश मे देशी उद्योगो की निर्मित वस्तुओं की ही खपत होगी जिससे देश का द्रव्य देश के अन्दर ही रह जायगा और देश को कोई हानि नही होगी। परन्तु आजकल इस तर्क की भी बहुत-सारी आलोचनाएँ दी गयी हैं। आलोचकों का यह विचार है कि जब हम विदेशों से सस्ती वस्तुएँ प्राप्त करते हैं तब हम थोडा-सा ही द्रव्य देकर अधिक सतोष प्राप्त कर लेते हैं। इसके अतिरिक्त यह तर्क इस बात को भूल जाता है कि यदि हम वस्तुओ का आयात नही करेंगे, तब हमारी वस्तुओं का निर्यात भी घट जायगा। अन्तत., अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे द्रव्य के खोने या प्राप्त करने का कोई प्रश्न ही नहा उठता क्योंकि अन्ततोगत्वा वस्तुओं के आयातो और निर्यातो का सन्तुलन अवश्य ही होता है।

(10) लागतों मे समानता का तर्क (Equalisation of costs Argument) —इस तर्क के अनुसार स्वदेश की बनी महँगी वस्तुओं और विदेश मे बनी सस्ती वस्तुओं की लागत को आयात कर द्वारा समान कर देना चाहिए ताकि देशी उद्योगों को विदेशी उद्योगो की तुलना

मे प्रोत्साहन मिल सके और ये अपनी वस्तुओ को सुगमतापूर्वक बेच सके। अत स्वदेशी और विदेशी उत्पादकों को अपनी वस्तुओं के विक्रय के लिए समान अवसर देने के लिए यह तर्क दिया गया है कि आयात-कर द्वारा देशी एवं विदेशी वस्तुओं की लागतों मे समानता लायी जानी चाहिए। परन्तु यह तर्क भी बहुत ही दोषपूर्ण है। इस तर्क का अर्थ यह हुआ कि जो उद्योग जितना ही अधिक दुर्बल एव अकुशल है, उसको उतना ही अधिक सरक्षण देना पडेगा क्योंकि तब ही तुलनात्मक लागत का लाभ बराबर किया जा सकता है। हेबरलर (Haberler) के अनुसार "जब हम सरक्षण द्वारा तुलनात्मक लागत (Comparative costs) के लाभ को ही बराबर कर देंगे, तब अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार समाप्त हो जायगा क्योंकि तुलनात्मक लागत के सिद्धात से यह स्पष्ट है कि विदेशी व्यापार तब ही उत्पन्न होता है जबकि दो देशो की वस्तुओ की लागतों मे तुलनात्मक अन्तर रहता है।" (It is clear that the complete logical application of this postulate would destroy all international trade since this arises only because of differences in costs.)

(11) **रोजगार-सम्बन्धी तर्क** (Employment Argument) —इस तर्क का अभिप्राय यह है कि देश मे सरक्षण की नीति द्वारा रोजगार के नये-नये साधन स्थापित किये जा सकते हैं और यदि सरक्षण की नीति नही अपनायी जाती है तब कभी-कभी पुराने व्यवसाय एव रोजगार के साधन तक भी समाप्त हो जाते हैं। अत. देश मे बेकारी की समस्या को दूर या कम करने के लिए भी सरक्षण की नीति का समर्थन किया जाता है। परन्तु आलोचको ने इस तर्क को भी बहुत ही दोषपूर्ण बतलाया है। आलोचको का कहना है कि सरक्षण द्वारा यह सभव है कि सरक्षित उद्योगो मे वृद्धि हो जाय, परन्तु इस प्रकार की उन्नति अन्य उद्योगो को हानि भी पहुँचा सकती है। इसका कारण स्पष्ट है। जब देश मे आयात कम हो जायगा, तब शनै शनै देश से निर्यात भी कम हो जायगा जिससे निर्यात-उद्योगो मे बेकारी फैल जायगी। इस प्रकार सरक्षण-की नीति को अपनाने से श्रमिक केवल निर्यात-उद्योगो से हटकर सरक्षित उद्योगो मे कार्य करने लगते हैं। अत सरक्षण की नीति अपना लेने पर भी देश मे कुशल रोजगार या रोजगार के साधनो मे कोई वृद्धि नही होती। सरक्षण द्वारा देश मे बेरोजगारी की समस्या के समाधान के लिए केन्स (Keynes) ने दो सुझाव दिये हैं—(क) सरकार सरक्षण द्वारा रोजगार मे वृद्धि तब ही कर सकती है जबकि यह सरक्षण की नीति के साथ-ही-साथ विदेशियों को इस देश से वस्तुओ को खरीदने के लिए ऋण दे। जब विदेशी इस ऋण से निर्यात उद्योग की वस्तुएँ खरीदेंगे तब निर्यात उद्योगो मे बेरोजगारी नहीं फैलेगी और अन्तत. देश मे कुल रोजगार मे वृद्धि हो जायगी। अत केन्स (Keynes) ने देश मे बेरोजगारी दूर करने के लिए संरक्षण के साथ-ही-साथ विदेशियो को ऋण देने का सुझाव भी रखा है। (ख) केन्स ने यह भी कहा है कि संरक्षण करो से प्राप्त आय को निर्यात उद्योगो को आर्थिक सहायता देने मे लगाना चाहिए ताकि ये उद्योग अपनी वस्तुओ को विदेशो में सस्ते मूल्य पर बेच सकें। इस तरह इन दोनो सुझावो को कार्यान्वित करने पर एक तरफ तो सरक्षण द्वारा कुछ नये-नये उद्योगो मे रोजगार बढेगा और दूसरी ओर विदेशो को ऋण और निर्यात-उद्योगो को आर्थिक सहायता देने पर निर्यात उद्योगो मे रोजगार बढेगा। परिणामत देश मे कुल रोजगार मे वृद्धि हो जायगी। परन्तु आलोचको ने केन्स के इन दोनो सुझावों की कडी आलोचना की है क्योंकि ये दोनो ही सुझाव व्यावहारिक नही हैं। प्रथम सुझाव तो इसलिए दोषपूर्ण है कि कोई देश विदेशियो को कब तक और कहाँ तक ऋण दे सकता है? फिर जब तक हम विदेशियों की वस्तुएँ अपने देश मे आकर बिकने नही देंगे, तब तक इस ऋण की अदायगी

कम होगी ? दूसरे सुझाव के विपक्ष मे यह कहा जाता है कि जब कोई देश निर्यात उद्योगो को आर्थिक सहायता देकर विदेशो मे अपनी वस्तुएँ सस्ती दर पर बेचेगा तब इस प्रकार की सस्ती वस्तुओं के कुप्रभाव से बचने के लिए विदेशी भी अपने यहाँ प्रतिक्रियास्वरूप निर्यात उद्योगो को आर्थिक सहायता देना आरम्भ कर देंगे। अत आर्थिक सहायता (Bounties and Subsidies) की नीति द्वारा निर्यात कायम रखना कठिन हो जाता है। अतएव **सरक्षण से बेरोजगारी की समस्या का समाधान कभी नहीं हो सकता।** (One thing that protection can never do is to cure unemployment) इससे यह स्पष्ट है कि देश म रोजगार मे वृद्धि करने के लिए सरक्षण की नीति के तर्क मे बहुत बल नही है।

(12) **राशिपातन सम्बन्धी तर्क** (Dumping Argument) —राशिपातन का आशय विदेशियों को उस कार्यवाही से है जिससे वे अपनी वस्तुओं को विदेशो मे उनकी लागत से भी कम मूल्य पर या स्वदेश की अपेक्षा बहुत कम मूल्य पर बेचते हैं। इस प्रकार की अनुचित प्रतियोगिता से रक्षा के लिए सरक्षण आवश्यक हो जाता है। सरक्षण के पक्ष मे यह भी एक प्रमुख तर्क है।

(13) **आत्मनिर्भरता सम्बंधी तर्क** (Self sufficiency Argument) —प्रत्यक देश को अपने आप में पूर्ण होना चाहिए, यानी अपने प्रयोग म आनेवाली विभिन्न वस्तुओं के लिए दूसरे देशो पर निर्भर नही रहना चाहिए। इसलिए भी सरक्षण आवश्यक है। दूसरे देशो पर निर्भरता युद्ध के दिनो मे विशेष रूप से हानिकारक सिद्ध होती है और आजकल तो जबकि सदा क्षितिज पर युद्ध के बादल मँडरा रहे हैं, इस दलील का विशेष महत्त्व हो जाता है।

(14) **राष्ट्रीय भावना की जागृति सम्बन्धी तर्क** —इस तर्क के अनुसार सरक्षण की नीति को अपनाने से देश मे राष्ट्रीयता की भावना उत्पन्न होती है। इस भावना से लोग यथासम्भव देशी वस्तुओ का ही उपयोग करते हैं। इससे देशी उद्योग धन्धो को और अधिक प्रोत्साहन मिलता है।

संरक्षण के विरुद्ध तर्क

(Arguments against Protection)

इस प्रकार सरक्षण के पक्ष मे उपरोक्त सारी दलीलें पेश की जाती हैं। किन्तु अब हम सरक्षण का दूसरा पहलू देखेगे। सरक्षण के विरुद्ध साधारणतया निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत किय जाते हैं —

(1) **सरक्षण मे स्थायी होने की प्रवृत्ति** —सरक्षण से उद्योगो मे स्थायित्व आ जाता है। एक बार जब किसी उद्योग को सरक्षण मिल जाता है तो उसे वापस लेना बहुत ही कठिन हो जाता है। शिशु नाम के ये उद्योग सरक्षण के हटते ही शोर मचाने लगते हैं।

(2) **उद्योगो की कार्य कुशलता मे कमी** —सरक्षण से उद्योगो मे एक प्रकार का आलस उत्पन्न हो जाता है। विदेशी प्रतियोगिता को समाप्त हो जाने से देशी उपक्रमी लापरवाह हो जाते हैं तथा वे किसी प्रकार की उन्नति नहा करते। दूसरे शब्दो मे, सरक्षण से देशी उद्योगो की कार्य कुशलता मे कमी आ जाती है।

(3) **एकाधिकार को प्रोत्साहन** —सरक्षण से एकाधिकार का निर्माण होता है। विदेशी प्रतियोगिता समाप्त हो जाने से देशी उपक्रमी एकाधिकार का लाभ उठाना प्रारम्भ कर देते हैं। **इस प्रकार सरक्षण से एकाधिकार को प्रोत्साहन मिलता है।** (Tariff is the mother of trusts)

(4) राजनीतिक भ्रष्टाचार.—सरक्षण से राजनीति के क्षेत्र मे भ्रष्टाचार फैलता है। उद्योगपति विधान सभा के सदस्यो अथवा सरक्षण आयोग के सदस्यो को घूस दे देकर सरक्षण नही हटने देते। अमेरिका मे किसी समय इसका बडा जोर था।

(5) अरक्षित उद्योगो तथा उपभोक्ताओं को हानि—सरक्षण से अरक्षित उद्योगो एव उपभोक्ता को हानि उठानी पडती है, क्योकि आयात करो के कारण मूल्य अत्यधिक बढ जाते हैं।

(6) राष्ट्रीय आय के वितरण की विषमता मे वृद्धि—सरक्षण से धन का वितरण असमान हो जाता है। सरक्षण पूँजीपतियो का पक्ष करता है और इससे वे अधिक अमीर हो जाते है। इस प्रकार धनी एव गरीब की खाई निरन्तर बढती जाती है।

(7) राष्ट्रों मे आपसी मन मुटाव—सरक्षण से राष्ट्रो के अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार मे एक प्रकार का तनाव आ जाता है। इस प्रकार यह युद्ध का बीज बोता है।

(8) अन्तर्राष्ट्रीय श्रम विभाजन तथा विशिष्टीकरण के मार्ग मे कठिनाइयाँ—सरक्षण के विरुद्ध सबसे प्रमुख तर्क यह है कि इससे अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-विभाजन मे कठिनाइयाँ उपस्थित होती है जिसमे श्रम, पूँजी अथवा उत्पादन के दूसरे साधन सर्वाधिक पुरस्कार वाले उद्योगों मे नहीं जा सकते। इन साधनों का वितरण सरक्षण के परिणामस्वरूप अस्वाभाविक तरीके से होता है। फलस्वरूप वस्तुओ के उत्पादन मे ये अपना पूरा सहयोग नहीं दे पाते जिससे उत्पादन मे कमी होने से जीवन स्तर निम्न होने लगता है और इस प्रकार आर्थिक समृद्धि रुक जाती है।

किन्तु इस तर्क के प्रत्युत्तर मे यह कहा जाता है कि जब तक सासारिक नागरिकता प्राप्त नहीं होती तब तक आर्थिक रूप मे शक्तिवान देशो की प्रतियोगिता से अपने हितो की रक्षा के लिए पिछडे हुए देशों को सरक्षण का सहारा लेना अनिवार्य होगा। इसलिए हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि इस सिद्धात के रूप मे स्वतन्त्र व्यापार आदर्श भले ही हो, किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से कभी कभी सरक्षण आवश्यक होता है, विशेषत भारत-जैसे उन अर्द्ध-विकसित देशो मे जिनका आर्थिक विकास नही हो सका है।

सरक्षण प्रदान करने के तरीके

(Methods of Protection)

सरक्षण की नीति कई प्रकार से अपनायी जा सकती है, किन्तु साधारणत सरक्षण प्रदान करने के दो ही तरीके हैं—(1) विदेशी वस्तुओ के आयात पर कर लगाकर, तथा (2) स्वदेशी उद्योगो को आर्थिक सहायता अथवा अनुदान (Subsidies and bounties) प्रदान कर। विदेशी वस्तुओ के आयात पर कर लगाकर सरक्षण प्रदान करने की नीति पुरानी एव सर्वाधिक प्रचलित रीति है। आयात-कर सरक्षण तथा आय दोनो उद्देश्यो से लगाये जाते हैं। आयात-करो का लाभ यह है कि इनसे उद्योग धन्धो के सरक्षण के साथ-साथ सरकार को आय भी होती है। जब इन्हे सरक्षण के उद्देश्य से लगाया जाता है तो इन्हे सरक्षणात्मक-कर (Protective Duty) कहते हैं और जब आय की दृष्टि से लगाया जाता है तो आय कर (Revenue Duty) कहते हैं। आयात-निर्यात कर कई प्रकार के होते हैं—जब ये नाप, तौल अथवा सख्या के अनुसार लगाये जाते हैं तब इन्हें परिमाणात्मक कर (Specific duties) कहते हैं और जब इन्हे वस्तुओ के मूल्यानुसार लगाया जाता है तो इन्हें मूल्य पर कर (Advalorem duties) कहते हैं।

स्वदेशी उद्योगो को आर्थिक सहायता तथा अनुदान (Subsidies and bounties) प्रदान कर भी उद्योग धन्धो को सरक्षण प्रदान किया जाता है। किन्तु सरक्षण की इसी रीति की एक

निश्चित सीमा होती है जिसके बाद इस तरीके से संरक्षण प्रदान करना बहुत खर्चीला हो जाता है। अतएव संरक्षण प्रदान करने की पहली रीति ही अधिक प्रचलित है।

इसके अतिरिक्त विभिन्न देशों की सरकारें कितनी ही रीतियाँ अपनाकर विदेशी व्यापार मे बाधाएँ उत्पन्न करती हैं जिनका प्रभाव स्वदेशी उद्योगों को संरक्षण प्रदान करने की ही तरह होता है।

विदेशी व्यापार के क्षेत्र मे इस प्रकार की बाधाएँ साधारणतः निम्न प्रकार की होती हैं :—

(क) वैधानिक निषेध (Legal Prohibitions) :—कभी-कभी कुछ विशेष परिस्थितियों मे सरकार कुछ वस्तुओं के आयात अथवा निर्यात पर कानून द्वारा प्रतिबन्ध लगाकर विदेशी व्यापार मे बाधा डालती है। इस प्रकार का वैधानिक निषेध कई कारणों से लगाया जाता है, जैसे—रूमानिया अपने तेल का निर्यात इसी शर्त्त पर होने देता था जबकि उसे रूमानिया में ही साफ किया जाय।

(ख) विनिमय-नियन्त्रण (Exchange control) :—आजकल प्रत्येक देश मे विनिमय-नियन्त्रण की नीति भी सरकार द्वारा अपनायी गयी है। इसके अन्तर्गत प्रत्येक व्यापारी सरकार से ही विदेशी विनिमय का क्रय-विक्रय करता है। ऐसी स्थिति मे सरकार एक निश्चित राशन के अनुसार ही व्यापारियों को विदेशों से क्रय का अधिकार देती है। कभी-कभी विदेशी विनिमय बिलकुल ही बन्द कर दिया जाता है। इससे भी विदेशी व्यापार के क्षेत्र मे बाधा उत्पन्न होती है।

(ग) लाइसेंस-प्रणाली :—कभी-कभी सरकार वस्तुओं के आयात एवं निर्यात का अधिकार केवल लाइसेंस-प्राप्त व्यक्तियों को ही देती है। इससे देश मे विदेशी वस्तुओं की पूर्ति नियंत्रित होती है। इससे भी विदेशी व्यापार नियन्त्रित होता है।

इस प्रकार उक्त तरीकों को अपनाकर सरकार स्वदेशी उद्योग-धन्धों को संरक्षण प्रदान करती है। इनमे संरक्षण प्रदान करने की कौन-सी रीति सबसे अच्छी है, यह कहना कठिन है। वास्तव मे, प्रत्येक प्रणाली के अपने-अपने गुण एवं अपने-अपने दोष हैं। अतएव परिस्थितियों के अनुसार सरकार के लिए जो प्रणाली अच्छी होती है, उसी का प्रयोग किया जाता है।

विशेष अध्ययन-सूची

1. Ellsworth The International Economy, Chapters 4, 5 & 11 to 13.
2. Haberler : The Theory of International Trade, Chapters 14 to 17.
3. Viner : *Studies in the Theory of International Trade*, Chapters 8 & 9.

खंड : 5

"The Rupee lost its value abroad because it had already lost its value at home"

भारतीय चलन एवं बैंकिंग प्रणाली का विकास तथा समस्याएँ
(Development and Problems of Indian Currency and Banking System)

* भारतीय चलन एवं बैंकिग-सम्बन्धी कुछ स्मरणीय उद्धरण *

1. "The domestic disequilibrium, which is the fundamental cause of the external disequilibrium, would still persist and unless this domestic disequilibrium is corrected, the external value of the rupee may not be established even at the new and lower rate"

2. "Devaluation which is a consequence of inflation, may also cause further inflation by generating new rupee incomes in the economy unmatched by increase in goods and services"

अध्याय : 43

भारतीय चलन का इतिहास

(History of the Indian Currency)

प्रारम्भिक इतिहास—भारत मे अति प्राचीन काल से ही मुद्रा का प्रयोग होता आया है। प्राचीन ग्रन्थो से इस बात का पता चलता है कि भारत मे धातु के बने हुए सिक्को का उपयोग बहुत प्राचीनकाल से ही होता आ रहा है। हिन्दू काल मे यहाँ सोने तथा चाँदी के सिक्को का प्रचलन था। मुगल शासकों ने भी प्राचीन पद्धति को ही अपनाया। अकबर के शासन-काल मे सोने की मुहरें एव चाँदी के रुपये दोनो का ही प्रचलन था जिनका वजन 175 ग्रेन ट्राय था। दक्षिणी भारत मे मुगल शासन स्थापित न होने के कारण वहाँ एक पृथक् सिक्का 'पेगोडा' प्रचलित था। मुगल साम्राज्य के पतन के बाद देश कई छोटी-छोटी इकाइयों मे विभाजित हो गया जिनमे से अधिकाश ने अपनी अलग-अलग मुद्राएँ जारी की। आतरिक एव विदेशी व्यापार मे उस समय चाँदी का रुपया ही मूल्य मापन का कार्य करता था, किन्तु चाँदी के रुपये का वजन एव शुद्धता विभिन्न राज्यों के सिक्को मे भिन्न भिन्न होती थी।

ईस्ट इण्डिया कम्पनी के भारत आगमन के समय देश मे विभिन्न परिष्कार एव परिमाण के कुल 994 से भी अधिक सोने एव चाँदी के सिक्के चल रहे थे। इससे कम्पनी को अपनी आय जमा करने तथा व्यापार के सचालन मे बहुत अधिक कठिनाई उठानी पडती थी। मुद्रा-सम्बन्धी इस अव्यवस्था को दूर करने के लिए कम्पनी ने अपनी मुहर के साथ सोने एव चाँदी के सिक्के साथ-साथ जारी किये। इन सिक्को के वैधानिक अनुपात, वजन एव विशुद्धता आदि निश्चित थे। इसी बीच सोने का बाजार-मूल्य बढ जाने से सोने के सिक्के बाजार से लुप्त होने लगे। अत कम्पनी ने द्विधात्विक मान की जगह एक धातुमान अपनाने का निश्चय किया। 1818 ई० मे मद्रास प्रेसीडेंसी मे कम्पनी ने सोने के सिक्के की जगह पर चाँदी का प्रामाणिक सिक्का, जिसका वजन 180 ग्रेन था तथा जिसमे $\frac{11}{12}$ भाग शुद्ध चाँदी थी, जारी किया। यद्यपि सोने के सिक्को का टकन बन्द कर दिया गया, फिर भी, इसे अवैध घोषित नही किया गया था। आगे चलकर 1823 ई० में बम्बई में भी कम्पनी ने इसी प्रकार के चाँदी का रुपया जारी किया और अन्त में 1835 ई० मे एक अधिनियम के द्वारा कम्पनी ने अपने सभी प्रदेशो के लिए एक मात्र चाँदी के प्रामाणिक सिक्के जारी कर दिये जिनकी तौल एव विशुद्धता सर्वत्र एक समान थी।

1835 ई० का भारतीय टकन अधिनियम एव रजत-मान (The Indian Coinage Act of 1835 and the Silver Standard) —कम्पनी ने 1835 ई० के टकन अधिनियम (Coinage Act) के अनुसार सम्पूर्ण देश में रजत-मान (Silver Standard) की स्थापना की। इस अधिनियम के अनुसार चाँदी के रुपये का वजन 180 ग्रेन था। इसका $\frac{11}{12}$ भाग शुद्ध चाँदी का होता था। इस अधिनियम के अनुसार सम्पूर्ण देश के लिए कम्पनी ने एक धातुमान की पद्धति अपनायी, किन्तु सोने के सिक्को को बिलकुल समाप्त नही किया गया। इसके अनुसार जनता की माग के अनुरूप सोने की मुहरें एव पाँच रुपये, दस रुपये तथा तीस रुपये के मूल्य के सोने के सिक्को के टकन एव प्रचलन का भी अधिकार मिला। साथ ही, 1841 ई० मे एक घोषणा-पत्र द्वारा जनता की देनदारी के भुगतान के लिए सरकारी खजानो को 15 : 1 की दर से स्वर्ण मुहरें लेने का अधिकार दिया गया। 1848 ई० के बाद आस्ट्रेलिया एव कैलीफोर्निया मे सोने की खानो के पता लगाने के फलस्वरूप विश्व मे सोने का उत्पादन बढने लगा जिससे चाँदी के अनुपात मे उसका मूल्य घट गया। अत जनता ने सरकार को स्वर्ण-मुहरो मे कर आदि देना प्रारम्भ कर दिया। इससे सरकार की कठिनाई बहुत बढ गयी जिसके फलस्वरूप लार्ड डलहौजी ने 1841 ई० के घोषणा-पत्र को रद्द कर दिया। साथ ही, सोने का पूर्णरूप से विमुद्रीकरण कर लिया गया। इसी बीच 1850

ई० मे चाँदी का उत्पादन घट जाने से यह धातु अधिक मूल्यवान हो गयी जिससे लोगो ने रुपये को गला कर धातु में परिवर्तित करना प्रारम्भ कर दिया। इन कारणो से देश मे मुद्रा का अभाव हो गया जिससे व्यापार मे कठिनाई होने लगी। देश मे उस समय बैंकिंग एव साख व्यवस्था के अभाव ने इन कठिनाइयो को और भी बढा दिया। इससे देश के अनेक भागो मे सोने के टुकडे का मुद्रा के रूप मे व्यवहार किया जाने लगा। अत 1864 ई० म भारत सरकार ने एक अधिसूचना जारी की जिसके अनुसार पौंड एव आधे पौंड को क्रमश दस तथा पाँच रुपय की दर स स्वीकार किया जाने लगा। सरकार भी इन्हे भुगतान मे स्वीकार करने लगी।

मैन्सफील्ड आयोग —लेकिन, इन प्रयत्नो से भी कठिनाइयाँ दूर नही हुई। इसी बीच देश मे स्वर्ण मुद्रा मान अपनाने पर जोर दिया जाने लगा। अत. इस समस्या पर विचार करने के लिए सरकार ने 1866 ई० मे मैन्सफील्ड आयोग की नियुक्ति की जिसने इस सम्बन्ध मे निम्नलिखित सुझाव दिये—(1) पाँच, दस एव पन्द्रह रुपये के सिक्के जारी किये जायँ तथा (2) चलन मे सोने, चाँदी एव कागजी तीनो प्रकार के सिक्के रखे जायँ। सरकार ने मैन्सफील्ड आयोग की सिफारिशों को उस समय स्वीकार नही किया। साथ ही, 1868 ई० से सोने के मूल्य मे वृद्धि के कारण पौंड एव आधा पौंड के मूल्य को बढाकर क्रमश 10 रुपय आठ आने तथा 5 रुपय 4 आने कर दिया गया।

रजत मान का पतन (Break-down of the Silver Standard) —1871 ई० के बाद रजत मान की कार्य प्रणाली मे बहुत-सी कठिनाइयाँ उपस्थित हो गयी। चाँदी की नयी-नयी खानो की खोज के फलस्वरूप चाँदी की पूर्ति मे बहुत वृद्धि हो रही थी जिससे चाँदी का मूल्य धीरे धीरे कम होने लगा। 1873 ई० के पश्चात् अधिकाश यूरोपीय देशो ने (1876 ई० मे जर्मनी तथा 1874 ई० में स्वीडेन, नार्वे एव डेनमार्क आदि ने) चाँदी का विमुद्रीकरण (Demonetization) कर दिया। अधिकाश पश्चिमी देशो एवं अमेरिका ने स्वर्ण मान को ही अपनाया। इन सब कारणो से भारत मे चाँदी का आयात बढ गया तथा इसके मूल्य मे बहुत कमी आ गयी। चाँदी का मूल्य 1875 ई० मे 58 पेंस प्रति औंस से घटकर 1879 ई० मे 52 5 पेंस प्रति औंस, 1888 ई० मे 43 पेंस प्रति औंस तथा 1899 ई० मे 27 पें० प्रति औंस हो गया। चाँदी के मूल्य मे इस कमी के कारण रुपये एव पौंड की विनिमय दर 2 शिलिंग से घटकर 1892 ई० मे 1 शिलिंग 2 पेंस हो गयी। इससे वस्तुओ के मूल्य मे वृद्धि होने लगी। सरकार को गृह व्यय (Home charges) चुकाने मे अधिक देना पडने लगा। चाँदी क मूल्य मे निरन्तर कमी होने के कारण विनिमय दर स्थायी न रह सकी, जिसका अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर बहुत बुरा प्रभाव पडा। इन सब कारणो से देश मे स्वर्ण मान अपनाने की जोरदार माग की जाने लगी।

हर्शेल कमिटी 1892 (The Hersshell Committee of 1892) —इस प्रकार रजत मान की काय प्रणाली मे कठिनाइयाँ अनुभव होने लगी। साथ ही, रुपये के विनिमय मूल्य मे निरन्तर कमी के फलस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की स्थिति अच्छी नही थी। ऐसी स्थिति में भारतीय मुद्रा प्रणाली की जाँच तथा विनिमय की दर मे कमी को रोकने के सम्बन्ध मे सुझाव देने के उद्देश्य से सरकार ने लार्ड हर्शेल की अध्यक्षता मे 1892 ई० मे एक समिति की नियुक्ति की। हर्शेल कमिटी ने भारत के लिए एक पगुमान (Limping Standard) को अपनाने की सिफारिश की जिसमे—(1) सोने एव चाँदी की स्वतन्त्र मुद्रा ढलाई बन्द कर देनी चाहिए (2) रुपया असीमित वैध सिक्का रहे तथा (3) अन्तरिम काल में स्वर्ण केवल अशत चलायें के रूप में प्रयुक्त हो जिसके पश्चात स्वर्ण मान अपनाने के लिए एक निश्चित कदम उठाया जाय। कमिटी ने इस बात की भी सिफारिश की कि सोने की मुद्रा सरकारी खजानो मे 1 शि० 4 पें० की दर से स्वीकृत की जानी चाहिए तथा इसी विनिमय दर को स्थायी बनाने का प्रयत्न करना चाहिए। सरकार ने इन सिफारिशो को स्वीकार कर लिया तथा चाँदी की स्वतन्त्र ढलाई बन्द कर दी गयी। इन सिफारिशो को कार्य रूप मे परिणत करने के लिए 1893 ई० मे एक नया अधिनियम पारित किया गया जिसके अनुसार 1870 ई० के टकन अधिनियम तथा 1882 ई० के पत्र मुद्रा अधिनियम मे सशोधन किया गया। बम्बई तथा कलकत्ते के टकसालो को पत्र मुद्रा जारी करने का अधिकार दिया गया। रुपये की विनिमय-दर 1 शि० 4 प० निर्धारित की गयी। स्वर्ण मुद्रा के आशिक उपयोग से अन्ततोगत्वा पूर्ण स्वर्ण-मान की स्थापना मे सहायता की आशा की जाती थी।

फाउलर कमिटी, 1898 ई० (Fowler Committee, 1898).—धीरे-धीरे रुपये की विनिमय दर 1 शि० 4 पैं० के लगभग स्थिर हो रही थी। इसी बीच भारत सरकार ने पूर्ण स्वर्ण-मान की स्थापना के लिए भारतीय-सचिव से सिफारिश की जिसके परिणामस्वरूप 1898 ई० में सर हेनरी फाउलर की अध्यक्षता में एक फाउलर कमिटी की नियुक्ति की गयी। फाउलर कमिटी ने स्थिति की जाँच के पश्चात् सरकार के सम्मुख अपना सुझाव रखा। समिति की राय में भारत का अन्तिम उद्देश्य स्वर्ण-मुद्रा-मान (Gold Currency Standard) होना चाहिए जिससे देश में स्वतन्त्र रूप से स्वर्ण का अन्तर्प्रवाह तथा बहिर्प्रवाह हो सके। फाउलर कमिटी ने इस सम्बन्ध में निम्नलिखित सुझाव दिये—(1) देश में सॉवरेन तथा अर्द्ध-सॉवरेन विधि-ग्राह्य सिक्के मान लिये जायँ और स्वतन्त्र ढलाई हो, (2) रुपया असीमित विधि ग्राह्य-सिक्का रहे, किन्तु इसकी ढलाई न हो, (3) सरकार सोने के बदले रुपये दे, किन्तु रुपये के बदले सोना देने के लिए बाध्य न हो; (4) विनिमय-दर को 1 शि० 4 पेंस पर स्थायी बनाया जाय, (5) रुपये की ढलाई से जो लाभ प्राप्त हो उसे एक 'स्वर्ण-मान-कोष' में जमा किया जाय, तथा (6) व्यापारिक संतुलन की प्रतिकूलता को समाप्त करने के लिए सरकार सोना देने को तैयार हो।

सरकार ने फाउलर कमिटी की इन सिफारिशों को स्वीकार कर लिया तथा सितम्बर, 1899 ई० में ब्रिटिश सॉवरेन एवं अर्द्ध-सॉवरेन को सम्पूर्ण भारत में वैध-सिक्का घोषित कर दिया गया। 1900 ई० में रुपये की ढलाई से होनेवाले लाभ को जमा करने के लिए एक स्वर्ण-मान-कोष की स्थापना की गयी। सरकार ने देश में स्वर्ण मुद्रा के टंकन के लिए टकसाल खोलने का प्रयत्न किया, किन्तु ब्रिटिश ट्रेजरी ने भारत में शाही टकसाल की शाखा खोलने की स्वीकृति नहीं प्रदान की, अतः सोने की टकसाल की योजना समाप्त हो गयी।

रुपये की स्वतन्त्र ढलाई बन्द हो जाने से मुद्रा का अभाव हो गया। जनसंख्या एवं व्यापार में वृद्धि तथा अकाल की स्थिति ने मुद्रा की माँग को और भी उग्र बना दिया। अतः 1898 ई० में संकट को दूर करने के लिए अस्थायी उपचार के रूप में एक अधिनियम पारित किया गया। इसके अनुसार यह आयोजन किया गया कि भारत सचिव के कौंसिल बिलों की बिक्री से प्राप्त रकम 'भारतीय पत्र मुद्रा-कोष' के नाम से स्वर्ण के रूप में बैंक ऑफ इंगलैंड, में जमा की जाय। इस जमा किये गये सोने के आधार पर भारत सरकार पत्र-मुद्रा जारी करके भारतीय सचिव के ड्राफ्टों का भुगतान करेगी। साथ ही, स्वर्ण-मुद्रा के प्रयोग को प्रोत्साहित किया जाने लगा, किन्तु इसका उत्साहजनक परिणाम नहीं हुआ। 1900 ई० में सरकार को विवश होकर बहुत बड़े पैमाने पर चाँदी के सिक्कों का टंकन प्रारम्भ करना पड़ा। 'भारतीय पत्र मुद्रा-कोष' में जमा सोने से इंगलैंड में चाँदी खरीद कर रुपये के टंकन के लिए भारत भेजी जाती थी। इस कोष से विपरीत व्यापाराधिक्य की स्थिति में भारतीय विनिमय दर को स्थायी रखने में भी सहायता दी जाने लगी। 1900 ई० में इस अधिनियम की अवधि को दो वर्षों के लिए और बढ़ा दिया गया तथा 1902 ई० में 'भारतीय पत्र मुद्रा-कोष' को स्थायी बना दिया गया। 1906 ई० में भारत में रुपये की माँग की पूर्ति के लिए 'रुपया-रक्षित कोष' स्थापित किया गया जिसका नाम 'स्वर्ण मान रक्षित कोष की रजत शाखा' पड़ा। इसका प्रमुख उद्देश्य सॉवरेन के बदले असीमित मात्रा में चाँदी के रुपये देकर विनिमय दर को 1 शि० 4 पेंस पर स्थायी रखना था। इस प्रकार स्वर्ण मान की दो शाखाएँ हो गयी: प्रथम, लन्दन में स्टर्लिंग प्रतिभूतियों के रूप में तथा दूसरा, भारत में चाँदी के रुपये के रूप में। 1904 ई० में भारत सचिव ने यह घोषणा की कि अब से वे लन्दन में क्रेताओं को 1 शि० 4 पेंस की दर से असीमित मात्रा में कौंसिल बिलों की बिक्री करेंगे।

किन्तु, 1907 ई० में फसलों की खराबी, अकाल एवं यूरोप की आर्थिक मन्दी के फलस्वरूप भारत को विदेशी विनिमय सम्बन्धी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा जिससे विनिमय की दर घटने लगी। विनिमय-दर में ह्रास एवं प्रतिकूल व्यापारिक संतुलन के कारण बाहर सोना भेजने की आवश्यकता पड़ी। अतः भारत सचिव की सलाह से भारत सरकार ने इंगलैंड में रिवर्स कौंसिल बिल 1 शि० $3\frac{29}{32}$ पैं० प्रति रुपये की दर से बेचना प्रारम्भ कर दिया। इसके अतिरिक्त और भी प्रयत्न किये गये जिनसे स्थिति में कुछ सुधार हुआ और दूसरे वर्ष विनिमय-दर पुनः 1 शि० 4 पैं० पर स्थिर हो गयी, किन्तु इसका एकमात्र कारण समुत्थान ही था।

स्वर्ण-विनिमय मान
(Gold Exchange Standard)

भारत में 1893 ई० में रुपये की स्वतन्त्र ढलाई की समाप्ति से लेकर 1907-8 ई० के आर्थिक संकट के समय तक किये गये विभिन्न प्रयत्नों के फलस्वरूप देश में स्वर्ण-विनिमय मान (Gold Exchange Standard) की स्थापना हुई। यह प्रणाली बिना किसी पूर्व योजना के स्वतः उत्पन्न हो गयी। फाउलर कमिटी तथा भारत सरकार ने इसे प्रारम्भ में स्वीकार नहीं किया था। स्वर्ण-विनिमय मान पद्धति के अन्तर्गत देश में कागज अथवा किसी अन्य निम्न धातु की बनी मुद्रा का प्रचलन रहता है जो स्वर्ण से सम्बद्ध रहती है। मुद्रा का स्वर्ण से यह सम्बन्ध सीधा नहीं होकर किसी दूसरे देश की मुद्रा के माध्यम से होता है जहाँ स्वर्ण-मान का प्रचलन रहता है। इस प्रकार स्वर्ण विनिमय मान की निम्नलिखित प्रमुख विशेषताएँ हैं :—(1) देश की मुद्रा कागज अथवा किसी अन्य धातु की बनी हुई होती है; (2) सरकार देश की मुद्रा को एक निश्चित दर पर दूसरे देश की मुद्रा में परिवर्तित करती है जहाँ स्वर्ण-मान का प्रचलन रहता है; तथा (3) विदेशों में सोना सुरक्षित कोष में रहता है जिससे सोना दिया जाता है।

भारत में स्वर्ण-विनिमय मान (Gold Exchange Standard) के अन्तर्गत भारतीय रुपये को इंगलैंड के पौंड से सम्बन्धित कर दिया गया था जहाँ स्वर्ण-मान का प्रचलन था, इसके अन्तर्गत रुपये को प्रत्यक्ष रूप से स्वर्ण में परिवर्तित नहीं किया जाता था, किन्तु इसे 1 शि० 4 पें० की दर से पौंड में बदल दिया जाता था। पौंड एक निश्चित दर पर स्वर्ण में परिवर्तित किया जा सकता था। इस प्रकार स्वर्ण-विनिमय मान का देश में प्रचलन हुआ। इस प्रणाली को चालू रखने के लिए दो कोष स्थापित किये गये। एक रुपये के रूप में भारत में तथा दूसरा पौंड के रूप में लन्दन में। भारत-सचिव 1 शि० $3\frac{1}{8}$ पें० की दर से कौंसिल बिल लन्दन में बेचते थे। लन्दन के जिन व्यापारियों को रुपया भेजना पड़ता था वे इस कौंसिल-बिल को खरीदते थे। इसके विपरीत इंगलैंड में भुगतान करने के उद्देश्य से भारतीय व्यापारी 1 शि० $3\frac{29}{32}$ पें० की दर से रिवर्स कौंसिल-बिल भारत सरकार से खरीदते थे। इस प्रकार विनिमय मूल्य 1 शि० 4 पें० था, किन्तु व्यवहार में रुपये के पौंड मूल्य में परिवर्तन की सीमाएँ 1 शि० 4 पें० और 1 शि० $3\frac{29}{32}$ थीं।

स्वर्ण विनिमय मान के गुण एवं दोष (Merits and Demerits of Gold Exchanges Standard) :—स्वर्ण-विनिमय मान के पक्ष में बहुधा यह कहा जाता है कि यह बिलकुल स्वर्ण-मान की ही तरह कार्य करता था। देश में सोने के सिक्के प्रचलन में नहीं थे, अतः इसमें सोने के उपयोग में भी बहुत अधिक बचत होती थी। इस प्रकार भारत जैसे निर्धन देश के लिए यह निश्चय ही एक अच्छी पद्धति थी। इसका दूसरा लाभ यह बतलाया जाता था कि लन्दन में सुरक्षित कोष में रखा गया सोना भारत एवं ब्रिटेन दोनों देशों की मुद्राओं के सुरक्षित कोष का कार्य करता था।

किन्तु व्यवहार में यह प्रणाली बड़ी ही दोषपूर्ण थी। यद्यपि इस मान से विनिमय-दर में स्थायित्व आ गया, तथापि यह देश के मूल्य स्तर में स्थिरता नहीं प्रदान कर सका। इससे व्यापार में एक प्रकार की अनिश्चितता उत्पन्न हो गयी जिसका देश की आर्थिक व्यवस्था पर बहुत ही बुरा प्रभाव पड़ा। भारत में इस पद्धति का सबसे बड़ा दोष इसके सचालन से सम्बन्धित था। केन्द्रीय बैंक के अभाव में सरकारी कर्मचारी ही इसका प्रबन्ध करते थे। ये कर्मचारी मुद्रा प्रणाली के प्रबन्ध में बहुत कम प्रवीण होते थे। बाजार तथा व्यापार की परिस्थितियों से इनका कोई सम्पर्क नहीं रहता था, इसलिए इसका प्रबन्ध त्रुटिपूर्ण होता था। साथ ही, प्रबन्धित-मान (Managed Standard) होने के कारण पग-पग पर सरकार को इसके कार्य सचालन में हस्तक्षेप करना पड़ता था। अतः इस मौद्रिक मान की कटु आलोचना की जाने लगी।

1913 ई० का चेम्बरलेन आयोग[1] (Chamberlain Commission of 1913) :—उपरोक्त दोषों के कारण भारत में जनमत स्वर्ण-विनिमय मान के पक्ष में ही नहीं था। अतः देश

1. चैम्बरलेन आयोग ने निम्नांकित सुझाव प्रस्तुत किया था—
(i) Gold Exchange Standard was suitable for India. Increased use of

मे यह माग को जाने लगी कि फाउलर कमिटी के सुझावो के आधार पर स्वर्ण मान की स्थापना की जाय। जब विश्व के प्राय सभी देशो मे स्वर्ण मान का प्रचलन था तथा सभी देश इसे एकमात्र सन्तोषजनक मुद्रा-पद्धति मानते थे भारत मे जनता की इच्छाओ के बावजूद इसे नही ग्रहण करना बडा ही अनुचित जान पडता था। अत अप्रैल, 1913 ई० म भारतीय मुद्रा एव विनिमय सम्बन्धी समस्याओ पर विचार करने के लिए श्री चेम्बरलेन की अध्यक्षता म एक आयोग की नियुक्ति हुई जिसने 1914 ई० मे अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत किया। आयोग की निम्नलिखित प्रमुख सिफारिशें थी — (1) आयोग ने भारत मे स्वर्ण विनिमय मान को चालू रखने की सिफारिश की, (2) भारत में सोने के सिक्को को ढालने के लिए किसी टकसाल की आवश्यकता नहीं थी, फिर भी, भारतीय जनमत को देखते हुए इस प्रकार की टकसाल की देश मे स्थापना की जा सकती है, (3) स्वण मान कोष की कोई अधिकतम सीमा नहीं रहनी चाहिए, वरन् इसमे अधिक से अधिक सोना जमा रहना चाहिए (4) स्वर्ण मान-कोष की रजत शाखा बन्द कर देनी चाहिए, (5) पत्र मुद्रा प्रणाली को अधिक लोचदार बनाने के लिए नोटो के रक्षित भाग (Fiduciary Issue) को 14 करोड रुपये कर देना चाहिए तथा (6) सरकार को 1 शि० $3\frac{2}{3}\frac{2}{2}$ पें० की दर से रिवर्स कौंसिल बिल बेचने की जिम्मेवारी लेनी चाहिए। चेम्बरलेन आयोग की सिफारिशें फरवरी, 1914 ई० मे प्रकाशित हुई और जुलाई, 1914 ई० मे प्रथम युद्ध छिड गया। अत युद्ध के फल स्वरूप सरकार आयोग की अधिकाश सिफारिशो को कार्यान्वित नही कर सकी।

प्रथम विश्व युद्ध मे भारतीय मुद्रा प्रणाली (Indian Currency during the First World War) —प्रथम महायुद्ध का भारतीय मुद्रा प्रणाली पर बडा ही गहरा प्रभाव पडा। युद्ध प्रारम्भ होने के साथ ही जनता मे एक व्यापक भय एव अविश्वास उत्पन्न हो गया जिससे व्यापार के कार्य मे एक प्रकार की शिथिलता आ गयी। भारत सरकार ने इस बिगडती हुई स्थिति को

---

gold in internal circulation should not be encouraged and the people in the country neither desired nor needed gold as currency

(ii) There was no need for a mint for coinage of gold However, should the Indian sentiment demand it, and the Government of India was ready to bear the burden of its expense, a mint might be established to make sovereigns and half sovereigns In the event of not establis shing a mint the Government should review the notification with drawn in 1906 to receive gold at Bombay mint in exchange for notes or rupees

(iii) As regards the Gold Standard Reserve, the Commission held that no maximum limit to its amount could be prescribed but it should be largely of gold and that it should be located in London

(iv) Elasticity should be imparted to the currency system of the country by issuing notes against securities The use of notes as curreny should be encouraged and 500 rupee notes should be universalised

(v) The Commission favoured the abolition of the rupee (Indian) branch of the Reserve

(vi) The Government should undertake to sell bill in India on London at the rate of 1 sh $3\frac{2}{3}\frac{2}{3}$ d whenever called upon to do so

The report of the Commission was published in February 1914 and in July 1914, the global war broke out with the result that the Government could not act upon most of the recommendations of the Commission The Government however, abolished the silver branch of the Gold Standard Reserve and also undertook to sell Reverse Council Bills at the rate recommended by the Commission whenever need to do so arose

सुधारने तथा मुद्रा प्रणाली मे जनता के विश्वास को जमाने के लिए बहुत से प्रयत्न किये। युद्ध के प्रारम्भ मे जनता ने अपने सेविंग्स बैंक खाते से रुपया निकालना प्रारम्भ कर दिया तथा नोटो को स्वर्ण मे परिवर्तित किया जाने लगा। केवल 1 अगस्त से 4 अगस्त, 1914 ई० के बीच सरकार को 28 लाख पौंड कीमत का सोना इस प्रकार के नोटो के बदले मे देना पडा। अत 5 अगस्त, 1914 ई० को सरकार ने आवश्यक व्यापारिक कार्यों के अतिरिक्त सोना देना बन्द कर दिया। विनिमय दर के ह्रास को रोकने के लिए जनवरी, 1915 ई० तक सरकार ने 87 लाख पौंड के लगभग रिवर्स कौंसिल बिलो का विक्रय किया। 1915 ई० के अन्त मे स्थिति मे कुछ सुधार हुआ तथा पुन रुपया जमा किया जाने लगा, किन्तु मूल्य धीरे धीरे बढ रहा था और बढते बढते 27 पौण्ड प्रति औ० से 1920 ई० तक 89 पैं० प्रति औ० तक हो गया। इससे एक नयी कठिनाई उपस्थित हो गयी। इस स्थिति का सामना करने के लिए यह निश्चित किया गया कि चाँदी के मूल्य मे वृद्धि के साथ-साथ रुपये के विनिमय मूल्य मे भी वृद्धि की जाय। इस प्रकार स्वर्ण विनिमय मान प्राय समाप्त हो गया और इसकी जगह पर औपचारिक घोषणा नही की गयी थी। इसके फलस्वरूप रुपये की विनिमय दर मे परिवर्तन होने लगा। विनिमय दर, जो 1917 ई० मे 1 शि० 4 पं० थी, बढकर 1918 ई० मे 2 शि० 4 पैं० हो गयी। जनवरी एव मार्च, 1920 ई० मे विनिमय दर बढकर क्रमश 2 शि० 6 पैं० तथा 2 शि० 11 पैं० हो गयी। 1920 ई० से रिवर्स कौंसिल की बिक्री मे भी इसी दर को लागू कर दिया गया। इस कठिनाई को दूर करने के लिए निजी व्यक्तियो द्वारा चाँदी का आयात बन्द कर दिया गया। सरकार ने स्वय मुद्रा ढलाई के लिए बडी मात्रा मे चाँदी का आयात प्रारम्भ किया। 1918 ई० मे सरकार ने अमेरिका से 20 करोड औंस चाँदी खरीदने का निश्चय किया। दिसम्बर, 1917 ई० मे विनिमय के काय को सुगम बनाने के लिए 1 रु० एव $2\frac{1}{2}$ रु० के नोट जारी किये गये। इनके अतिरिक्त नोटो को रुपये मे बदलने पर भी प्रतिबन्ध लगा दिया गया, किन्तु इन सब प्रयत्नो के बावजूद सरकार स्वर्ण-विनिमय-मान की रक्षा नही कर सकी।

बैबिंगटन स्मिथ कमिटी, 1919 (The Babington Smith Committee, 1919)—मई, 1919 ई० मे भारत सरकार ने देश की मुद्रा-प्रणाली की जाँच करने तथा भविष्य में इस सम्बन्ध में सुझाव देने के लिए बैबिंगटन स्मिथ कमिटी की नियुक्ति की। कमिटी की राय मे देश की तत्कालीन परिस्थितियो मे विनिमय दर मे स्थायित्व अत्यावश्यक था। कमिटी की निम्नांकित प्रमुख सिफारिशें थी —(1) रुपये का विनिमय मूल्य 2 शि० निर्धारित किया जाय, यानी 10 रुपये बराबर 1 सॉवरेन का हो। कमिटी ने 2 शि० के अनुपात का सुझाव इस तर्क पर दिया कि इससे व्यापार मे कम से कम गडबडी होगी तथा यह उच्च विनिमय दर भी भारत के निर्यात मे कोई हानि पहुँचाये बगैर आयात एव गृह प्रभार (Home charges) के लिए लाभप्रद सिद्ध होगी। (2) रुपया असीमित वैध सिक्का रहे। (3) सोने एव चाँदी के आयात निर्यात पर कोई रुकावट नही हो तथा बम्बई मे एक टकसाल स्थापित किया जाय जहाँ जनता द्वारा दिये गये सिक्को से सॉवरेन की ढलाई की जाय। (4) स्वर्ण मान कोष का अधिकाश भाग सोने मे रहे तथा शेष सरकारी प्रतिभूतियो के रूप मे। इस कोष का एक अंश भारत में रखना चाहिए। इस प्रकार कमिटी ने बहुत से सुझाव दिये।

दो शिलिंग स्वर्ण अनुपात की असफलता—सरकार ने इस कमिटी की सिफारिशो को स्वीकार कर लिया और तदनुसार रुपये का विनिमय मूल्य 2 शि० स्वर्ण कर दिया गया। सॉवरेन को 10 रुपये की दर पर विधि ग्राह्य घोषित किया गया तथा फरवरी, 1920 ई० मे चाँदी के आयात पर से कर हटा लिया गया किन्तु सरकार इस विनिमय दर को बहुत अधिक समय तक कायम नही रख सकी। ज्योंही सरकार ने विनिमय दर को 2 शि० प्रति रुपये निश्चित किया, रिवर्स कौंसिल बिलो की माँग बढ गयी और जब सरकार ने इसे बनाये रखने का प्रयास किया तो उसे बहुत अधिक हानि उठानी पडी। यह दर आयातकर्त्ताओ के लिए विशेष लाभप्रद थी। अत इससे आयात मे वृद्धि होने लगी। इससे विदेशी व्यापार भारत के विपक्ष मे होने लगा तथा रुपये की माँग मे कमी आने लगी और स्टर्लिंग की माँग बहुत बढ़ गयी। इसी समय विनिमय की दरो मे परिकल्पना भी आरम्भ हो गयी। अत सरकार के लिए 2 शि० स्वर्ण का अनुपात कायम रखना प्राय असम्भव हो गया। ऐसी स्थिति मे सरकार ने 2 शि० स्टर्लिंग का अनुपात चलाने का

प्रयत्न किया, किन्तु इसमे भी सफलता नहीं मिल सकी। इससे 28 सितम्बर, 1920 ई० को सरकार ने इस विनिमय दर को कायम रखने का विचार छोड दिया, क्योंकि तबतक सरकार को इससे 38 करोड रुपये का नुकसान हो चुका था। फलत, जुलाई, 1921 ई० मे विनिमय दर घटकर प्राय. 1 शि० 3 पैं० हो गयी। विनिमय की दर अक्टूबर, 1924 ई० मे 1 शि० 6 पैं० हो गयी। इस प्रकार 2 शि० स्वर्ण अनुपात बिलकुल असफल रहा। वास्तव मे, सरकार ने बविंगटन स्मिथ कमिटी की सिफारिशों को कार्यान्वित करने मे अति शीघ्रता से काम लिया था। यह सरकार की बडी भारी भूल थी जिसमे देश के व्यापारियो एवं व्यावसायियों को बहुत अधिक हानि उठानी पडी।

हिल्टन यंग आयोग

(Hilton Young Commission)

1919 से 1925 ई० तक का समय भारतीय मुद्रा के इतिहास मे उथल-पुथल का समय था। इस बीच सरकार ने रुपये के विनिमय मूल्य को 2 शि० निश्चित करने के कई असफल प्रयास किये। इसका देश की मुद्रा एव विनिमय व्यवस्था पर बडा गहरा प्रभाव पडा। अतः सरकार ने मुद्रा एव विनिमय की समस्याओं पर विचार करने के लिए अगस्त, 1925 ई० मे हिल्टन यंग की अध्यक्षता मे एक आयोग की नियुक्ति की। आयोग की सिफारिशो का देश की मुद्रा, विनिमय एव बैंकिंग व्यवस्था के विकास मे बडा ही महत्वपूर्ण स्थान है। आयोग की मुख्य सिफारिशो को निम्नांकित तीन भागों मे विभाजित कर अध्ययन किया जा सकता है :—(क) मुद्रा-मान सम्बन्धी सिफारिशें, (ख) विनिमय दर सम्बन्धी सिफारिशें, तथा (ग) मुद्रा को नियन्त्रित करनेवाले अधिकारी से सम्बन्धित सिफारिशें।

(i) मुद्रा-मान का प्रश्न :—हिल्टन यंग आयोग ने उस समय देश में प्रचलित मुद्रा-मान, अर्थात् स्वर्ण-विनिमय मान का भली-भाँति विवेचन किया। आयोग के अनुसार स्वर्ण विनिमय मान रुपये के मूल्य मे स्थायित्व ला सकता था, किन्तु तत्कालीन परिस्थितियो मे इसके कई दोष थे, जैसे –(क) सर्वप्रथम तो, इस मान की कार्य-प्रणाली बडी ही जटिल थी। मुद्रा के मूल्य को स्थायी बनाये रखने के लिए कौंसिल बिल तथा रिवर्स कौंसिल-बिलो का सहारा लेना पडता था। (ख) इस पद्धति मे अन्य स्वर्ण-मानो की तरह देश की मुद्रा के स्वत संकोच एव प्रसार की व्यवस्था नहीं थी। यह कार्य मुद्रा अधिकारियो पर निर्भर करता था। इस प्रकार यह प्रणाली लोचहीन थी। (ग) इसमे कई प्रकार के कोष थे, जैसे—स्वर्ण-मान रक्षित कोष, पत्र-मुद्रा कोष, रजत मान कोष आदि। इसमे भी इस प्रणाली मे जटिलता आ जाती थी तथा इसम अपव्यय भी होता था। (घ) यह प्रणाली इगलैंड पर निर्भर होने के कारण पराधीन थी। देश की मुद्रा का स्वर्ण से सम्बन्ध प्रत्यक्ष नही होकर स्टर्लिंग के माध्यम से था। इस प्रकार स्वर्ण-विनिमय मान के उपरोक्त दोषो के फलस्वरूप आयोग इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि यह प्रणाली भारत के लिए उपयुक्त नहीं है। हिल्टन आयोग ने देश के लिए स्वर्ण मुद्रा मान (*Gold Currency Standard*) की भी जाँच की तथा निम्नांकित दोषो के फलस्वरूप इसे भी भारत के लिए अनुपयुक्त बतलाया —स्वर्ण मुद्रा मान के सफल सचालन के लिए अधिक मात्रा में सोने की आवश्यकता थी, किन्तु भारत के पास पर्याप्त मात्रा में सोना उपलब्ध नही था। अत यह मान उपयुक्त नहीं था। इस मान को अपनाने से सोना के अनुपात में चाँदी का मूल्य घट जायगा, अत देशवासियो के संचित चाँदी का मूल्य थोड़ा कम हो जायगा जिससे उन्हें हानि होगी। इसका विश्व के रजत-मूल्य पर भी प्रभाव पडेगा।

इन सब बातों पर विस्तृत रूप से विचार करते हुए हिल्टन आयोग ने बहुमत से भारत में भी इगलैंड की तरह स्वर्ण-धातु मान[1] (Gold Bullion Standard) अपनाने का सुझाव दिया। इस प्रकार के मान में चाँदी के रुपये तथा कागज के नोट ही वास्तविक प्रचलन में होंगे। सोने के सिक्को का देश में प्रचलन न होगा, किन्तु देश की मुद्रा को एक निश्चित वजन के सोने के पिण्डों में परिवर्तित किया जायगा।

---

1. आयोग के एक सदस्य सर पुरुषोत्तमदास ठाकुर दास ने स्वर्ण-धातु मान के बदले एक ऐसे मान को अपनाने का सुझाव दिया जिसमें सोने की बनी मुद्रा का प्रचलन हो।

इस प्रकार आयोग ने भारत के लिए स्वर्ण-धातु मान को अपनाने का सुझाव दिया। आयोग के अनुसार इस मान की निम्नांकित प्रमुख विशेषताएँ होगी —(1) सरकार अथवा देश के मुद्रा-अधिकारी एक निश्चित दर पर कम-से-कम 400 औंस शुद्ध सोने (1065 तोले) की पिंडो को बेचेंगे अथवा खरीदेंगे। (2) सॉवरेन विधि ग्राह्य नही रह जायगी अर्थात सोने की मुद्रा का चलन नही होगा। देश में केवल चाँदी के रुपये तथा पत्र-मुद्रा का ही प्रचलन रहेगा। नोटों के बदले चाँदी के रुपये देने की प्रणाली के सम्बन्ध में आयोग ने यह सिफारिश की कि कुछ समय तक नोटो के बदले चाँदी के रुपये देने की प्रतिज्ञा का पालन किया जाय, किन्तु नये नोटो के बदले रुपया देने का उत्तरदायित्व सरकार नही ले। आयोग ने 1 रुपये के नोट जारी करने का भी सुझाव दिया किन्तु इन्हे चाँदी में रुपये में परिवर्तित करने का उत्तरदायित्व नही होना चाहिए। (3) आयोग ने यह सुझाव दिया कि स्वर्ण मुद्रा कोष एवं पत्र-मुद्रा कोष को सम्मिलित कर दिया जाय तथा इसे लन्दन की बजाय भारत में रखा जाय। कोष की बनावट एवं अनुपात को वैधानिक ढग पर निश्चित कर देना चाहिए जिससे मुद्रा का स्वतः विस्तार एवं संकुचन होता रहे। आयोग के अनुसार इस कोष में 40 प्रतिशत स्वर्ण प्रतिभूतियाँ होनी चाहिए। (4) आयोग ने देश में निश्चित अरक्षित-नोट निर्गम प्रणाली (Fixed Fiduciary System) के स्थान पर आनुपातिक निधि-पद्धति (Proportional Reserve System) अपनाने की सिफारिश की थी।

इन सिफारिशों के आधार पर सरकार ने 1927 ई० में एक अधिनियम पारित किया जिसके अनुसार सोने की कीमत 21 रुपये 3 आने 10 पाई प्रति तोला निर्धारित की गयी। इसी कीमत पर 400 औंस के सोने की पिंड बेचे एव खरीदे जाते थे। विनिमय दर 1 शि० 6 पें० प्रति रुपया निर्धारित की गयी। सॉवरेन को विधि-ग्राह्य मुद्रा नही माना गया, किन्तु इन्हें खजाने मे प्रति सॉवरेन 13 रु० 2 आ० 4 पाई की दर से बेचा जा सकता था। यह मान देश मे सितम्बर, 1931 ई० तक रहा और जब उस समय इगलैंड ने स्वर्ण-मान का परित्याग कर दिया तो भारत ने भी स्वर्ण-धातु मान को छोड दिया।

(ii) **विनिमय की दर** —हिल्टन आयोग का सबसे अधिक विवादास्पद सुझाव विनिमय की दर से सम्बन्धित था। आयोग ने बहुमत से यह तय किया कि विनिमय की दर 1 शि० 6 पें० प्रति रुपये होनी चाहिए। आयोग के एक सदस्य सर पुरुषोत्तम दास ठाकुर दास ने अपनी एक अलग रिपोर्ट मे विनिमय की दर 1 शि० 4 पें० रखने की सलाह दी। इस प्रकार विनिमय की दर के सम्बन्ध में आयोग एक मत नही हो सका।

विनिमय की दर 1 शि० 6 पें० के पक्ष में तर्क —बहुमत 1 शि० 6 पें० प्रति रुपये के पक्ष में था। इन लोगो का कहना था कि यह एक स्वाभाविक एव प्राकृतिक दर थी, क्योंकि गत प्रायः दो वर्षों से विनिमय की दर इसी बिन्दु पर स्थायी थी। इसके फलस्वरूप देश में मजदूरी मूल्य, उत्पादन-व्यय आदि अर्थात् देश की सम्पूर्ण अर्थ व्यवस्था इसी दर पर समायोजित हो चुकी थी। सरकारी बजट भी इसी दर से तैयार किये जाते थे, अतः इसमें परिवर्तन का प्रभाव देश की सम्पूर्ण आर्थिक व्यवस्था पर पडेगा। 1 शि० 4 पें० की दर देश में 1917 ई० से 1925 ई० के बीच प्राय असफल रही। इससे देश की सम्पूर्ण आर्थिक व्यवस्था अस्त व्यस्त हो गयी थी। विनिमय की दर 1 शि० 4 पें० प्रति रुपया रखने पर मूल्य में प्राय 12½ प्रतिशत की सामान्य वृद्धि हो जायगी जिससे मजदूरी की वास्तविक दरों में भी कमी होगी। उसका समाज के निश्चित आय-वाले वर्ग पर बहुत बुरा प्रभाव पडेगा।

विनिमय की दर 1 शि० 4 पें० के पक्ष मे तर्क :—आयोग के एक सदस्य सर पुरुषोत्तम दास ठाकुर दास का मत था कि तत्कालीन परिस्थितियो मे रुपये की स्वाभाविक विनिमय दर 1 शि० 4 पें० थी। इसके पक्ष में कहा जाता था कि यह दर 1896 ई० से लेकर 1917 ई० तक प्रचलित थी, अतः देश इसका अभ्यस्त हो गया था। साथ ही, यह बात प्रमाणित नही की जा सकती कि विनिमय-दर में वृद्धि के फलस्वरूप मजदूरी में किसी प्रकार की कमी होगी। साथ ही, 1 शि० 6 पें० की दर से किसानो के ऋण में प्राय 12½ प्रतिशत की वृद्धि होगी। अतः इसका प्रभाव किसी-न-किसी वर्ग पर बहुत बुरा पडेगा। 1 शि० 4 पें० की दर का कुछ ही व्यक्तियों पर प्रतिकूल प्रभाव पडेगा, किन्तु 1 शि० 6 पें० का समाज के एक बहुत बडे वर्ग पर प्रतिकूल प्रभाव पडेगा। अतः आयोग के अल्पमत ने 1 शि० 4 पें० के सम्बन्ध में ही सुझाव दिया।

भारत सरकार ने 1927 ई० के अधिनियम के अनुसार बहुमत के प्रस्ताव से सहमत हो, जनमत के विरुद्ध विनिमय-दर 1 शि० 6 पें० प्रति रुपया निर्धारित किया, किन्तु इससे यह विवाद समाप्त नही हुआ।

(iii) **मुद्रा नियन्त्रण के लिए रिजर्व बैंक की स्थापना का सुझाव** —देश की मुद्रा एव बैंकिंग व्यवस्था में समन्वय स्थापित करने तथा मुद्रा के नियन्त्रण के लिए आयोग ने एक केन्द्रीय बैंक की आवश्यकता को महसूस किया। देश में मुद्रा नियन्त्रण का कार्य सरकार करती थी तथा साख नियन्त्रण का कार्य इम्पीरियल बैंक करता था। इससे इन दोनों की नीतियों में सहयोग एव समन्वय का अभाव था। अत आयोग ने एक केन्द्रीय बैंक की स्थापना का सुझाव दिया जिसका नाम रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया रखा जाय। यह बैंक देश में केन्द्रीय बैंक के प्राय सभी कार्यों को करेगा। इम्पीरियल बैंक[1] केन्द्रीय बैंक के कुछ कार्यों को अवश्य करता था, किन्तु यह एक व्यवसायिक बैंक था, अत इसे केन्द्रीय बैंक में परिवर्तित करने से देश को बहुत हानि होगी। आयोग के अनुसार यह बैंक एक गैर सरकारी बैंक होना चाहिए जिसके हिस्सेदार जनता एव विभिन्न सस्थाएँ हो किन्तु विभिन्न कारणो से 1934 35 ई० के पू० रिजर्व बैंक की स्थापना नही की जा सकी।

स्टर्लिंग विनिमय मान (1931-47) [Sterling Exchange Standard 1931 47] :— सितम्बर, 1931 ई० में जब ब्रिटेन ने स्वर्ण-मान का परित्याग कर दिया तब भारत सरकार ने भी स्वर्ण-धातु मान को छोड दिया। अत 1927 ई० के करेन्सी अधिनियम को रद्द कर दिया गया एव रुपये का सम्बन्ध स्टर्लिंग से स्थापित किया गया। इस प्रकार भारत म स्टर्लिंग विनिमय मान की स्थापना हुई जिसके अनुसार रुपये की विनिमय-दर 1 शि० 6 पें० निश्चित की गयी। इस दर पर बाह्य कार्यों के लिए सरकार ने नोटों को स्टर्लिंग मे बदलने की जिम्मेवारी ली, किन्तु आन्तरिक कार्यों के लिए पहले की तरह ही चलता रहा। रुपये के स्टर्लिंग के साथ इस गठबन्धन की कटु आलोचना हुई। आलोचकों का कहना था कि इससे स्वर्ण मानवाले देशो से होने वाला आयात अधिक महँगा हो जायगा, क्योकि स्टर्लिंग का 1931 ई० मे 30 प्रतिशत से अवमूल्यन हो गया था। इससे रुपये का स्वर्ण मूल्य भी कम हो जायगा जिससे भारत से स्वर्ण का निर्यात होने लगेगा। साथ ही, इससे भारत का भाग्य सदा के लिए इगलैंड के साथ बँध जायगा, अर्थात राजनैतिक गुलामी के साथ साथ आर्थिक गुलामी मे भी भारत जकड जायगा। इसके विपरीत स्टर्लिंग विनिमय मान के समर्थकों का कहना था कि यदि रुपये को स्वतन्त्र छोड दिया जाय अथवा स्टर्लिंग से इसका सम्बन्ध स्थापित नहीं किया जाय तो विनिमय-दर मे बहुत अधिक परिवर्त्तन होगा जिसका विदेशी व्यापार पर प्रतिकूल प्रभाव पडेगा। साथ ही, भारत का अधिकाश व्यापारिक सम्बन्ध इगलैंड के ही साथ था और प्रतिवर्ष गृह-व्यय के रूप मे भी भारत इगलैंड को बहुत बडी रकम चुकाता था। इस दृष्टि से भी भारत का स्टर्लिंग के साथ सम्बन्ध जोडना अधिक लाभप्रद था।

स्वर्ण एव रजत का निर्यात —जब देश मे स्टर्लिंग विनिमय मान की स्थापना हुई तो वहाँ से बहुत अधिक मात्रा मे स्वर्ण एव रजत का निर्यात होने लगा। सन् 1931 ई० के पूर्व भारत मे बहुत अधिक मात्रा मे सोने एव चाँदी का आयात हुआ करता था, परन्तु 1931 ई० के बाद इसका बहुत बडी मात्रा मे निर्यात होने लगा। अनुमान लगाया जाता है कि 1931 ई० से 1940 ई० के नौ वर्षो के बीच भारत से कुल 362 45 करोड रुपये मूल्य का प्राय 416 8 लाख औंस सोने का निर्यात हुआ। इस स्वर्ण निर्यात के निम्नलिखित कारण थे —1931 ई० के आर्थिक सकट एव मन्दी के कारण कृषि पदार्थों का मूल्य बहुत कम हो गया जिससे कृषक वर्ग को अपने सचित धन, जो स्वर्ण के रूप मे था, बेचना पडा। साथ ही, जब 1931 ई० मे स्टर्लिंग का स्वर्ण के रूप में अवमूल्यन हुआ और रुपये का सम्बन्ध स्टर्लिंग से जोड दिया गया तो भारत में स्वर्ण का मूल्य बहुत बढ गया। इससे देशवासियो को सोने के निर्यात मे लाभ प्रतीत होने लगा।

सोने के निर्यात से सरकार को विशेष राहत मिली। इस समय भारत का व्यापाराधिक्य सुगतान इसके प्रतिकूल था। ऐसी स्थिति मे 1 शि० 6 पें० की दर का बनाये रखना सरकार के लिए

1 सर पुरुषोत्तम दास ठाकुर दास ने इम्पीरियल बैंक आफ इण्डिया को ही केन्द्रीय बैंक के रूप में परिवर्तित करने का सुझाव दिया था। इनके अनुसार रिजर्व बैंक नामक एक पृथक् बैंक की स्थापना का कोई आवश्यकता नहीं थी।

कठिन हो रहा था। सोने के निर्यात से स्थिति में कुछ सुधार अब भी हुआ तथा सरकार ने विनिमय के अनुपात को बनाये रखने के साथ-साथ बहुत बड़ी मात्रा में स्टर्लिंग भी खरीद लिया जिससे भारतीय 'मुद्रा के रक्षित कोष' में भी पर्याप्त वृद्धि हुई, किन्तु भारत में जनता स्वर्ण-निर्यात को बन्द करने के पक्ष में थी। लोगों का कहना था कि सरकार एवं रिजर्व बैंक को सोना स्वयं खरीदना चाहिए। इससे रिजर्व बैंक में सुरक्षित कोष में वृद्धि हो सकती थी।

रिजर्व बैंक आफ इण्डिया की स्थापना :—1926 ई० में हिल्टन यंग आयोग की सिफारिशों के अनुसार देश में रिजर्व बैंक की स्थापना नहीं की जा सकी। पुन: 1931 ई० में बैंकिंग जाँच-समिति ने देश में एक केन्द्रीय बैंक की स्थापना पर जोर दिया। अतएव 6 अगस्त, 1934 ई० को भारतीय विधान सभा में रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया अधिनियम पारित हुआ जिसके अनुसार 1 अप्रैल, 1935 ई० को रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया की स्थापना हुई। इस बैंक की स्थापना से देश की मुद्रा प्रणाली में कई महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए। सर्वप्रथम तो, रिजर्व बैंक को देश में पत्र-मुद्रा जारी करने का एकाधिकार हो गया। साथ ही, इस बैंक की स्थापना से साख एवं मुद्रा दोनों के नियन्त्रण का कार्य एक ही संस्था को सौंपा गया। विदेशी विनिमय दर को 1 शि० 6 पें० की दर पर स्थायी रखने का दायित्व भी रिजर्व बैंक को दिया गया। रिजर्व बैंक विनिमय दर के परिवर्तन को स्वर्ण के क्रय-विक्रय द्वारा $17\frac{3}{4}$ तथा $18\frac{3}{16}$ पें० के बीच रखने का सदा प्रयत्न करता था। इस प्रकार देश की मुद्रा एवं विनिमय व्यवस्था के इतिहास में रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया की स्थापना का एक महत्त्वपूर्ण स्थान है।

भारतीय पत्र-मुद्रा

(Indian Paper Currency)

प्रारम्भिक इतिहास :—1861 ई० के पूर्व भारत में पत्र-मुद्रा जारी करने का अधिकार कम्पनी द्वारा केवल बम्बई, मद्रास तथा बंगाल के प्रेसीडेंसी बैंकों एवं कुछ अन्य बैंकों को ही दिया गया था, किन्तु इनके नोट विधि-ग्राह्य नहीं होते थे तथा एक सीमित क्षेत्र में ही चलते थे। 1861 ई० में भारत सरकार द्वारा 'पत्र-मुद्रा अधिनियम' (Paper Currency Act) पारित किया गया जिसके अनुसार सरकार ने नोट जारी करने का अधिकार प्रेसीडेंसी बैंकों के हाथ से अपने हाथ में ले लिया। इस अधिनियम के अनुसार नोट जारी करने के करेंसी-सिद्धान्त (Currency principle) को अपनाया गया तथा निश्चित अरक्षित नोट निर्गम प्रणाली (Fixed Fiduciary System) के आधार पर सरकार नोट छापने लगी। केवल 4 करोड़ रुपये के नोट सरकारी प्रतिभूतियों के आधार पर छापे जा सकते थे। शेष के लिए नोट की रकम के बराबर सिक्के, स्वर्ण अथवा रजत पिण्डों का कोष रखना आवश्यक था। सरकारी प्रतिभूतियों के आधार पर छापे जानेवाले नोटों (Fixed Fiduciary Issue) की सीमा को समय-समय पर विशेष कानूनों द्वारा बदला गया। 1871 ई० में इसे 6 करोड़, 1897 ई० में 8 करोड़, 1890 ई० में 10 करोड़ तथा 1905 ई० में यह सीमा 12 करोड़ रुपये कर दी गयी। इससे स्पष्ट है कि नोट जारी करने की तत्कालीन प्रणाली पर्याप्त मात्रा में लोचदार नहीं थी। 1903 ई० में 5 रुपये के नोट को, 1910 ई० में 10 रुपये तथा 25 रुपये के नोट और 1911 ई० में 100 रुपये के नोट को सर्वमान्य वैध मुद्रा घोषित किया गया। इसी प्रकार धातु कोष के सम्बन्ध में समय-समय पर परिवर्तन किये गये।[2]

इस प्रकार की नोट निर्गमन-प्रणाली के बहुत-से लाभ थे। सर्वप्रथम तो, इसमें सुरक्षा की मात्रा बहुत अधिक थी। इस प्रणाली में एक निश्चित सीमा के बाद नोटों के निर्गमन के लिए शत प्रतिशत स्वर्ण अथवा रजत का कोष रखना अनिवार्य था। इससे इस व्यवस्था के अन्तर्गत मुद्रा-प्रसार का भय बहुत ही कम था। साथ ही, इस प्रणाली में नोटों को चाँदी के रुपयों में परिवर्तित भी किया जा सकता था। अत: इसमें परिवर्तनशीलता का गुण भी वर्तमान था, किन्तु इस प्रणाली के कुछ दोष भी थे। सबसे बड़ा दोष इस प्रणाली का बेलोचदार होना था। एक

1. रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया का विस्तारपूर्वक विवरण एक पृथक अध्याय में किया गया है।
2. 500 तथा 1000 रुपये के नोट 1931-32 ई० में सर्वमान्य वैध मुद्रा घोषित किये गये।

निश्चित सीमा से अधिक मूल्य के नोट जारी करने के लिए इसमे शत प्रतिशत कोष की आवश्यकता पडती थी। इससे यह प्रथा अमितव्ययी भी थी।

प्रथम महायुद्ध का भारतीय पत्र-मुद्रा पर प्रभाव —प्रथम युद्ध प्रारम्भ होते ही लोगो का पत्र मुद्रा पर से विश्वास समाप्त होने लगा और प्रारम्भ मे सोने तथा बाद मे चाँदी के सिक्को की माग होने लगी, किन्तु युद्धकाल मे धीरे-धीरे बढते हुए व्यापार के कारण अधिक मुद्रा की माग होने लगी और इस बढी हुई माग की पूर्ति चाँदी के अभाव मे चाँदी के सिक्के से नही कर पत्र-मुद्रा ही की गयी। इससे पत्र मुद्रा मे जनता का विश्वास बढने लगा। सितम्बर, 1917 ई० मे 2½ रु० के तथा जनवरी, 1918 ई० मे 1 रुपये के नोट भी जारी किये गये। सितम्बर, 1919 ई० मे सरकार ने प्रतिभूतियो पर जारी किये जानेवाले नोटो की सीमा को बढा कर 120 करोड रुपये कर दिया गया।

हिल्टन यग आयोग ने 1926 ई० मे देश की पत्र मुद्रा प्रणाली के सम्बन्ध मे कई महत्त्वपूर्ण सुझाव दिये थे जिनमे निम्नलिखित प्रमुख हैं :—(1) देश मे एक केन्द्रीय बैंक की स्थापना की जाय जिसे नोट जारी करने का एकाधिकार हो। (2) एक रुपये के नोट पुन जारी किये जायँ जो रुपये मे परिवर्तनशील नही होनी चाहिए। (3) नोट रुपयो की बजाय 400 औंस के स्वर्ण पिंडो (Gold Bullion) मे परिवर्तित होना चाहिए। आयोग ने भारत मे आनुपातिक कोष प्रणाली (Proportional Reserve System) के आधार पर नोट जारी करने की सिफारिश की और इसके लिए 40 प्रतिशत सुरक्षित कोष का सुझाव दिया।

भारतीय पत्र-मुद्रा की वर्तमान प्रणाली (Present system of note-issue in India) — 1934 ई० मे रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया अधिनियम पारित हुआ तथा 1 अप्रैल, 1935 ई० से रिजर्व बैंक ने अपना कार्य करना प्रारम्भ किया। इस अधिनियम के अनुसार नोट जारी करने का अधिकार रिजर्व बैंक को दिया गया जिसके लिए पृथक नोट विभाग (Issue Department) की स्थापना की गयी। प्रारम्भिक विधान के अनुसार रिजर्व बैंक जितनी पत्र-मुद्राएँ जारी करता था। उसका 40 प्रतिशत भाग उसे सोने तथा विदेशी प्रतिभूतियो[1] के रूप मे सुरक्षित कोष मे रखना आवश्यक था। इस सुरक्षित कोष मे से कम-से कम 40 करोड रुपये (1956 ई० के पूर्व 21 रु० 6 आने 10 पाई प्रति तोला की दर से) का स्वर्ण होना चाहिए था। सुरक्षित कोष मे स्वर्ण एव विदेशी प्रतिभूतियो के अतिरिक्त 60 प्रतिशत भाग रुपये के सिक्के, भारत सरकार के ऋण-पत्र तथा तीन महीने मे भुगतान होनेवाली हुण्डियाँ आदि रहती थी। यदि स्वर्ण एव विदेशी ऋण पत्रो का अनुपात कभी 40 प्रतिशत से घट गया तो इसके लिए रिजर्व बैंक को सरकार की स्वीकृति लेनी पडती थी। साथ ही, कम रकम पर ब्याज भी देना पडता था। इस प्रकार रिजर्व बैंक की स्थापना के बाद देश मे पत्र मुद्रा जारी करने की आनुपातिक कोष प्रणाली प्रारम्भ हुई।

यह प्रथा प्राय 20 वर्षो तक चलती रही, किन्तु स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद देश के आयोजित विकास के फलस्वरूप देश मे पत्र मुद्रा की मात्रा मे बहुत अधिक वृद्धि की आवश्यकता हुई। साथ ही, बैंक के विदेशी मुद्रा कोष मे भी योजनाकरण के कारण बहुत अधिक कमी होने लगी। अत, 1956 ई० मे रिजर्व बैंक ऑफ इन्डिया अधिनियम मे एक सशोधन किया गया जिसके अनुसार पत्र मुद्रा जारी करने की प्रणाली में परिवर्तन किया गया। सशोधित विधान के अनुसार नोट जारी करने के लिए आनुपातिक कोष-प्रणाली के बदले न्यूनतम कोष-प्रणाली को अपनाया गया जिसके अनुसार रिजर्व बैंक को अपने सुरक्षित कोष मे कम से कम 115 करोड रुपये का स्वर्ण तथा 400 करोड रुपये की विदेशी मुद्रा रखनी पडती है। साथ ही, सुरक्षित कोष मे रखे गये सोने का मूल्य आजकल अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के द्वारा निर्धारित मूल्य 62 रु० 50 पै० प्रति तोला की दर से आँका जाता है। इस प्रकार रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया (सशोधन) अधिनियम, 1956 ई० के अनुसार आनुपातिक कोष-प्रणाली की जगह नोट जारी करने के लिए एक निश्चित न्यूनतम (Fixed minimum) सुरक्षित कोष की प्रणाली को अपनाया गया। सुरक्षित कोष की निम्नतम सीमा 515 करोड रुपये निश्चित कर दी गयी जिसमे कम से-कम 115 करोड रुपये के मूल्य का स्वर्ण होना

1 1948 ई० के पूर्व विदेशी प्रतिभूतियो का अभिप्राय केवल स्टर्लिंग प्रतिभूतियों से था, किन्तु इसके बाद इसमें सशोधन हुआ जिसके अनुसार आजकल अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष के किसी भी सदस्य-राष्ट्र की मुद्रा तथा प्रतिभूतियो को इसके अन्तर्गत रखा जा सकता है।

चाहिए था। 31 अक्टूबर, 1957 ई० को एक अध्यादेश जारी किया गया जो आगे चलकर Reserve Bank of India (Second Amendment) Act, 1957 हो गया जिसके अनुसार सुरक्षित कोष की निम्नतम सीमा घटाकर 200 करोड़ रुपये कर दी गयी जिसमे कम-से-कम 115 करोड रुपये का स्वर्ण आवश्यक था। साथ ही, संशोधन के अनुसार रिजर्व बैंक सरकार की अनुमति से विदेशी मुद्रा के कोष को बिल्कुल समाप्त भी कर सकता है।

द्वितीय महायुद्ध काल मे देश की पत्र-मुद्रा मे बहुत अधिक वृद्धि हुई। युद्ध प्रारम्भ होने के समय सितम्बर 1939 मे कुल 196 करोड रुपये के नोट चलन मे थे। युद्ध समाप्ति के बाद सितम्बर, 1945 ई० मे 1147 करोड रुपये के नोट चलन मे आ गये, यानी युद्धकाल मे नोटो की मात्रा मे प्राय: 951 करोड रुपये की वृद्धि हुई। दिसम्बर, 1972 ई० मे देश मे कुल 4751 करोड रुपये के नोट प्रचलन मे थे।

द्वितीय महायुद्ध और भारतीय मुद्रा

(Indian Currency during the Second World War)

सितम्बर 1939 ई० मे द्वितीय महायुद्ध प्रारम्भ हुआ। उस समय भारत मे स्टर्लिंग विनिमय मान का प्रचलन था। आतरिक मुद्रा मे पत्र-मुद्रा चाँदी का रुपया एव अठन्नी ½ शुद्धता के अपरिमित विधि-ग्राह्य थे। विनिमय की दर 1 शि० 6 पें० पर लगभग स्थायी रहती थी। युद्ध प्रारम्भ होते ही जनता का देश की मुद्रा-प्रणाली पर से विश्वास कम होने लगा तथा लोगो ने चाँदी के सिक्को का सग्रह करना आरम्भ कर दिया। जून, 1940 ई० मे फ्रास की हार के बाद तो यह प्रवृत्ति और भी बढ गयी। इस परिस्थिति का सामना करने के लिए रिजर्व बैंक ने सीमित मात्रा मे रुपया देना आरम्भ कर दिया तथा डिफेन्स ऑफ इण्डिया ऐक्ट के अन्तर्गत आवश्यकता से अधिक रुपया रखना अपराध भी घोषित कर दिया गया। युद्धकाल मे 2 रुपये के नोट जारी किये गये। साथ ही, देश मे सिक्को की बढती हुई माग को पूरा करने के लिए सरकार ने 1940 ई० मे भारतीय टकन अधिनियम (Indian Coinage Act) मे संशोधन द्वारा रुपये, अठन्नी एव चवन्नी की शुद्धता (Fineness) को $\frac{11}{12}$ से घटाकर ½ भाग कर दिया। इसके अतिरिक्त अक्टूबर, 1940 ई० में सरकार के आदेशानुसार विक्टोरिया के छापेवाले रुपये तथा अठन्नियो का विमुद्रीकरण कर दिया। तथा इसी प्रकार दिसम्बर, 1941 ई० में एक आदेशानुसार सप्तम एडवर्ड तथा नवम्बर, 1941 ई० में जॉर्ज पंचम के छापेवाले रुपये एवं अठन्नियो को भी बन्द कर दिया गया। इन सब प्रयत्नो से धीरे-धीरे सिक्को के संग्रहीकरण की प्रवृत्ति कम हो गयी।

द्वितीय महायुद्ध-काल में मुद्रा-प्रसार बहुत हुआ तथा बैंको के जमा में भी अप्रत्याशित रूप से वृद्धि हुई। सितम्बर, 1939 ई० में कुल प्राय 196 करोड रुपये के नोट चलन में थे जो सितम्बर, 1945 ई० में बढकर 1127 करोड रुपये के हो गये अर्थात युद्धकाल से नोटो की मात्रा में प्राय. 951 करोड रुपये की वृद्धि हुई। युद्धकाल में साख-मुद्रा भी 126 करोड रुपये से बढकर 444 करोड रुपये हो गयी। पत्र-मुद्रा एव साख-मुद्रा में यह वृद्धि मुख्यतः युद्धजनित परिस्थितियो के फलस्वरूप ही हुई थी और नोटो का निर्गमन स्टर्लिंग जमा के आधार पर किया जाता था। सितम्बर, 1939 ई० में रिजर्व बैंक के निर्गमन विभाग में स्टर्लिंग जमा की रकम 605 करोड रुपये थी जो बढकर सितम्बर, 1945 ई० में प्राय 1042 करोड रुपये हो गयी।

साम्राज्य डॉलर-कोष (Empire Dollar Pool) :—युद्ध के सफल संचालन के लिए 1939 ई० में ब्रिटिश सरकार ने स्टर्लिंग क्षेत्र के सभी देशो को विदेशी विनिमय निधियो का नियन्त्रण अपने हाथ मे ले लिया। युद्धकाल मे स्टर्लिंग क्षेत्र के किसी भी देश का अमेरिका अथवा अन्य देशो के साथ जो व्यापाराधिक्य होता था उसका भुगतान ब्रिटेन अपने स्टर्लिंग मे करता था। इस प्रकार इस क्षेत्र का कोई भी देश व्यापाराधिक्य तथा अन्य किसी कारण से जो डॉलर प्राप्त करता था उसे साम्राज्य डॉलर कोष में जमा करके स्टर्लिंग के रूप मे साख प्राप्त कर लिया करता था। इस प्रकार सम्पूर्ण स्टर्लिंग क्षेत्र की विदेशी विनिमय-सम्बन्धी आय इसी सामूहिक कोष में जमा कर दी जाती थी। इसे साम्राज्य डॉलर कोष का नाम दिया गया। इस कोष का उपयोग सभी सदस्य अपने आवश्यकतानुसार करते थे। युद्धकाल मे भारत भी इस कोष का प्रमुख सहायक रहा एवं इससे प्राय: 4 5 करोड रुपये कीमत का डॉलर इस कोष मे जमा किया तथा 420 करोड रुपये कीमत का डॉलर व्यय किया।

पौंड पावना

(Sterling Balances)

द्वितीय महायुद्ध काल मे भारत की मौद्रिक व्यवस्था की सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता पौंड पावने की रकम का जमा होना था। युद्ध के पूर्व भारत पर इगलैंड का ऋण था, किन्तु युद्धकाल मे विभिन्न परिस्थितियो के फलस्वरूप भारत ने न केवल इगलैंड का पुराना ऋण चुका दिया, वरन उलट भारत के अरबो रुपये की रकम पौंड पावने के रूप में इगलड मे जमा हो गयी। पौंड पावने की रकम जमा होने के निम्नलिखित तीन कारण थे—(1) भारत ने इगलड के लिए युद्धकाल मे बहुत सी सामग्री प्रदान की थी जिनका मूल्य इसे स्टर्लिंग प्रतिभूतियो के रूप मे प्राप्त हुआ, (3) भारत सरकार ने इगलैंड की सरकार के लिए भारत मे बहुत सी रकम व्यय की जिनका भुगतान उसे स्टर्लिंग के रूप मे ही प्राप्त हुआ, (3) भारत के अनुकूल व्यापार तथा डॉलर कोष मे जमा की गयी विदेशी विनिमय की रकम के बदले भी इसे स्टर्लिंग ही प्राप्त हुआ। इस प्रकार 1945 46 ई० मे पौंड पावने की रकम 1733 करोड रुपये हो गयी। यह रकम निश्चय ही बहुत अधिक थी। इसके फलस्वरूप इगलैंड भारत का देनदार हो गया। पौंड पावने की रकम भारत के युद्धकालीन त्याग एव कष्ट के परिणामस्वरूप ही एकत्र हुई थी। ब्रिटिश सरकार ने आरम्भ मे इस रकम को कम करने का प्रयत्न किया किन्तु वह इसमे पूर्णतया असफल रही। पौंड पावने की रकम को घटाने के विरुद्ध बहुत-से तर्क प्रस्तुत किये जाने लगे। किन्तु ब्रिटिश सरकार की इस नीति से भारत मे बहुत असन्तोष हुआ और अन्त में दोनो देशो के बीचसमझौते हुए जिनके अनुसार ब्रिटिश सरकार ने पौंड पावने की रकम को चुकता करने की बात का निश्चय किया। अबतक इसका अधिकाश भाग भारत ने प्राप्त कर लिया है। अब यह रकम प्राय समाप्त हो चली है।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष एव भारतीय मुद्रा (International Monetary Fund and Indian Currency) —युद्धकाल मे ही मित्र राष्ट्रो ने मुद्रा एव विदेशी विनिमय सम्बन्धी कठिनाइयो के समाधान के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय सस्था के निर्माण के प्रश्न पर विचार करना प्रारम्भ किया था। इस उद्देश्य से ब्रेटनवुड्स नामक स्थान मे 1944 ई०मे विशेषज्ञो की एक बैठक हुई। इसके फलस्वरूप दो अन्तर्राष्ट्रीय सस्थाओं का निर्माण हुआ (1) अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (International Monetary Fund), तथा (2) अन्तर्राष्ट्रीय विकास बैंक (International Bank for Reconstruction and Development)। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष का प्रधान उद्देश्य सदस्य देशो की मुद्रा की विनिमय-दरो मे स्थायित्व प्रदान करना था। भारत प्रारम्भ से ही इन सस्थाओं का सदस्य है। इन सस्थाओ की सदस्यता स्वीकार करने से मुद्रा-सम्बन्धी नीति मे कुछ परिवर्तन की आवश्यकता पडी। इसस रुपये का अन्तर्राष्ट्रीय मूल्य अब डॉलर तथा स्वर्ण के रूप मे निश्चित किया गया है। 1966 ई० के अवमूल्यन के बाद से रुपये का विनिमय मूल्य 0 1185 ग्राम शुद्ध सोना या 13 333 सेंट हो गया है। साथ ही, इस सदस्यता के फलस्वरूप रिजर्व बैंक अब किसी भी विदेशी मुद्रा का क्रय तथा विक्रय कर सकता है। इस प्रकार रुपये एव स्टर्लिंग का वैधानिक सम्बन्ध समाप्त हो गया यद्यपि व्यवहार मे यह सम्बन्ध आज भी बना आ रहा है।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की सदस्यता स्वीकार करने से रिजर्व बैंक अधिनियम मे भी कुछ सशोधन की आवश्यकता पडी। पहले रिजर्व बैंक नोट जारी करने के लिए 40 प्रतिशत भाग स्वर्ण या स्टर्लिंग प्रतिभूतियो के रूप मे रखता था। अब यह सभी देशो की मुद्राएँ खरीद एव बच सकता है। साथ ही, नोटो की जमानत के रूप मे किसी देश की मुद्रा को रख सकता है, बशर्ते कि वह देश अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष का सदस्य हो।

1947 ई० मे देश विभाजन का प्रभाव भी देश की मुद्रा प्रणाली पर पडा। देश विभाजन के फलस्वरूप भारतीय मुद्रा का भी भारत और पाकिस्तान के बीच 13 3 के अनुपात मे विभाजन हुआ। साथ ही, यह व्यवस्था की गयी कि 30 सितम्बर, 1947 ई० तक भारतीय नोट पाकिस्तान में प्रचलित रहेंगे। 31 मार्च, 1948 ई० तक रिजर्व बैंक ही पाकिस्तान के लिए भी नोट जारी करेगा। 1 जुलाई, 1948 ई० को पाकिस्तान के स्टेट बैंक की स्थापना हुई और तब भारत एव पाकिस्तान की मौद्रिक व्यवस्था बिल्कुल अलग अलग हो गयी।

रुपये का अवमूल्यन

(Devaluation of the Rupee)

द्वितीय विश्व-युद्ध तथा युद्धोत्तरकाल (Post-war Period) में स्टर्लिंग क्षेत्र के सभी देशों विशेषतः ब्रिटेन का व्यापारिक सतुलन डॉलर क्षेत्र के साथ निरन्तर प्रतिकूल होते जा रहा था। इसके फलस्वरूप 'डॉलर गैप' बढने लगा। 1946 ई० मे यह 22·6 करोड से बढकर 1947 ई० 102·4 करोड पौंड हो गया। इससे स्टर्लिंग क्षेत्र मे डॉलर का अत्यधिक अभाव (Scarcity) होने लगा। इस प्रतिकूल व्यापारिक संतुलन के विभिन्न कारण थे। युद्ध के बाद आर्थिक पुनर्संगठन के लिए स्टर्लिंग क्षेत्र के प्राय सभी देश पूँजीगत मालों के लिए अमेरिका पर अत्यधिक मात्रा में निर्भर करने लगे थे। द्वितीय युद्धकाल मे अमेरिका ने अधिक औद्योगिक कुशलता हासिल कर ली थी जिससे संसार के अधिकाश देश अपनी पूर्ति के लिए अमेरिका पर ही आश्रित रहने लगे। अत डॉलर की माग बढ गयी जिससे इसका अभाव होने लगा। युद्ध ने ब्रिटेन की सम्पूर्ण आर्थिक व्यवस्था को अस्त-व्यस्त कर दिया था। इन कठिनाइयों से छुटकारा पाने के लिए इंगलैंड ने 18 सितम्बर, 1949 ई० को अपनी मुद्रा का अवमूल्यन घोषित किया। इसके अनुसार पौंड के मूल्य को 30.5 प्रतिशत कम कर दिया गया जिससे पौंड और डॉलर का अनुपात 1 पौंड=4·403 डॉलर मे घटकर 1 पौंड=2·80 डॉलर हो गया।

भारत का व्यापारिक संतुलन भी डॉलर क्षेत्र के साथ इसी प्रकार प्रतिकूल रहता था। आयात एवं निर्यात मे भारी असंतुलन था। अतएव, स्टर्लिंग के अवमूल्यन होते ही स्टर्लिंग क्षेत्र के सभी देशो ने (पाकिस्तान को छोडकर) थोडे दिनो में ही अपनी-अपनी मुद्रा का अवमूल्य न घोषित कर दिया। भारतीय रुपये का भी स्टर्लिंग के अवमूल्यन के शीघ्र ही बाद अवमूल्यन घोषित किया गया। इसके फलस्वरूप रुपये का डॉलर एवं स्वर्ण-मूल्य 30.5 प्रतिशत घटा दिया गया' अर्थात् 1 रुपया=30·125 सेंट से घटाकर 1 रुपया=21 सेंट हो गया। इस प्रकार अमेरिका से 1 डॉलर की वस्तुओ के आयात के लिए पहले 3 रुपये 5 आने देने पडते थे, अब उसी एक डॉलर के लिए 5 रुपये 12 आने देना पडने लगा। इस समय रुपये के अवमूल्यन मे भारत ने पौंड का ही पूरा-पूरा अनुकरण किया।[1]

1949 ई० मे भारतीय रुपये के अवमूल्यन के प्रभाव (Effects of the Devaluation of the Indian Rupee in 1949) —अवमूल्यन का देश की आर्थिक व्यवस्था पर निम्नलिखित प्रभाव पडा :—

(i) देश के भुगतान सतुलन की स्थिति में पर्याप्त सुधार हुआ :—अवमूल्यन के फलस्वरूप भारत के व्यापाराधिक्य की प्रतिकूलता मे पर्याप्त कमी हुई। यद्यपि यह सुधार अस्थायी ही थी, फिर भी, इसका प्रमुख कारण भारतीय रुपये का अवमूल्यन था। अवमूल्यन के फलस्वरूप डॉलर क्षेत्र की वस्तुओं का भारतीय रुपये के रूप मे मूल्य बहुत बढ गया। इसके विपरीत भारतीय वस्तुएँ इस क्षेत्र मे सस्ती पडने लगी। इस प्रकार भारत का डॉलर क्षेत्र के साथ व्यापाराधिक्य, जो 1949 ई० मे 53 करोड रुपये से प्रतिकूल था, 1950 ई० मे 19 करोड रुपये से भारत के पक्ष मे हो गया।

(ii) अवमूल्यन के फलस्वरूप देश के मूल्य-तल मे वृद्धि हुई :—अवमूल्यन के फलस्वरूप प्रारम्भ मे कुछ आवश्यक वस्तुओ के मूल्य मे कमी हुई, किन्तु पुनः मूल्य मे वृद्धि आरम्भ हो गयी। इस प्रकार मूल्य का सामान्य सूचनाक जो अगस्त, 1949 ई० मे 389·9 था, जून, 1950 ई० मे 395.6 हो गया। कोरियन युद्ध के फलस्वरूप तो मूल्य-तल अक्टूबर, 1950 ई० मे 413.5 हो गया।

(iii) पौंड-पावने का मूल्य भी कम हो गया :—अवमूल्यन के बाद भारत ने पौंड-पावने का

---

1. While announcing devaluation in the Indian Parliament, Dr. John Mathai, the then Finance Minister said, "I feel that in this matter, I have had to act, not on conviction born of logic necessarily, but so to speak, by the compulsion of events, since sterling was devalued, there was no other course open to us.

जितना भाग डॉलर-क्षेत्र मे व्यय किया था उसका मूल्य 39 5 प्रतिशत से घट गया।

(iv) विदेशी ऋण के भार में वृद्धि —भारत ने अमेरिका तथा विश्व बैंक से जो ऋण लिया था, उनके भार मे अवमूल्यन के फलस्वरूप बहुत अधिक वृद्धि हो गयी।

(v) अवमूल्यन के फलस्वरूप डॉलर क्षेत्र मे निर्यात को प्रोत्साहन मिला तथा वहाँ के आयात मे कमी हो गयी —अमेरिकी वस्तुएँ भारत मे महँगी पड़ने लगीं जिसमे भारत को यन्त्र तथा खाद्य-सामग्री खरीदने मे कठिनाई होने लगी। साथ ही, पाकिस्तान ने भी अपनी मुद्रा का अवमूल्यन नही किया था। अतः वहाँ से भी कच्चा जट तथा कपास आदि मँगाने का खर्च बढने लगा।

इस प्रकार अवमूल्यन ने देश की आर्थिक व्यवस्था को बहुत अधिक प्रभावित किया। इसके प्रभावो के मूल्याकन से स्पष्ट है कि यद्यपि भारत को अवमूल्यन से प्रारम्भ मे कुछ लाभ अवश्य हुआ, किन्तु दीर्घकाल मे इससे कोई विशेष लाभ नहीं हुआ। व्यापारिक संतुलन मे स्थायी रूप से कोई सुधार नही हो सका। निर्यात व्यापार को प्रोत्साहन अवश्य मिला, किन्तु खाद्य सकट की स्थिति को दूर करने के लिए बहुत-बडी मात्रा मे अमेरिका से खाद्यान्न आदि का आयात करना पडा। पाकिस्तान ने भी अपनी मुद्रा का अवमूल्यन नही किया जिससे भारत की कठिनाइयाँ और भी बढ गयीं। भारत को पाकिस्तान से कच्चा जूट एवं कपास खरीदने के लिए अब अधिक मूल्य चुकाना पडता था। इससे दोनो देशो के बीच का व्यापार प्राय बन्द सा हो गया। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि अवमूल्यन का भारतीय आर्थिक व्यवस्था पर बहुत अच्छा एव स्थायी प्रभाव नही पडा। वास्तव मे, अवमूल्यन इस प्रकार की समस्या का कोई स्थायी समाधान भी नहीं है।

जून, 1966 मे अवमूल्यन —दूसरी बार पुन 6 जून, 1966 ई० को भारत सरकार ने अपनी मुद्रा का अवमूल्यन किया। इसकी सविस्तार व्याख्या अगले अध्याय मे की गयी है।

पंचवर्षीय योजनाओं मे भारतीय मुद्रा

(1951-1970)

1951-52 ई० मे भारत के आर्थिक विकास के लिए पंचवर्षीय योजनाएँ प्रारम्भ हुईं। पंचवर्षीय योजनाओं का देश की मौद्रिक व्यवस्था पर तीन प्रकार से प्रभाव पड़ा है —(1) योजना काल में देश में सामान्य मूल्य तल में उत्तरोत्तर वृद्धि की प्रवृत्ति जारी रही जिसके परिणामस्वरूप भारतीय मुद्रा के आन्तरिक मूल्य में कमी हुई। (2) योजनाकरण का भारतीय मुद्रा की विदेशी विनिमय-दर पर भी प्रभाव पडा। (3) योजना काल में देश में मुद्रा की कुल पूर्ति में अत्यधिक वृद्धि हुई।

आयोजित विकास की अवधि में देश में मूल्य-तल में निश्चित रूप से वृद्धि हुई है जो निम्नांकित तालिका से स्पष्ट है —

थोक मूल्यों का सूचनांक (1952-53 = 100)

वर्ष	मूल्य-सूचनाक
1955 56	92·5
1960-61	124 9
1961-62	125 1
1962-63	127 9
मार्च, 1964	139·2
मार्च, 1965	151 5
मार्च, 1966	172 3
मार्च, 1967	202 9
मार्च, 1968	201·1
मार्च, 1969	211 5

तालिका से यह स्पष्ट है कि पचवर्षीय योजनाकाल में थोक-मूल्यों के सूचनाक मे अत्यधिक

वृद्धि हुई है। मूल्य-तल में यह वृद्धि तृतीय योजना तथा इसके बाद वाले वर्षों में और भी तीव्र हो गयी। जैसा कि स्पष्ट है कि द्वितीय योजना काल के 5 वर्षों में मूल्य तल में केवल 32 4 प्रतिशत की वृद्धि हुई, जबकि तृतीय योजनाकाल में पांच वर्षों में मूल्य तल में 47 4 प्रतिशत तथा केवल 1966-67 के एक वर्ष की अवधि में मूल्य-तल में 30 6 प्रतिशत की वृद्धि हुई। उपभोक्ता वस्तुओं के मूल्य तल में भी योजनाकाल में इसी प्रकार से हुई। मूल्य-तल म इस वृद्धि के परिणामस्वरूप योजनाकाल म भारतीय मुद्रा की क्रय-शक्ति में बहुत अधिक कमी हुई। मूल्य-तल में इस वृद्धि, यानी भारतीय मुद्रा की क्रय-शक्ति में कमी का प्रधान कारण पंचवर्षीय योजनाओं मे घाटे की वित्त व्यवस्था (Deficit financing) की नीति को अपनाने के कारण देश मे चलन मे मुद्रा की कुल पूर्ति मे अत्यधिक वृद्धि है।

प्रथम तीन पंचवर्षीय योजनाकाल में घाटे की वित्त व्यवस्था के रूप मे 2600 करोड रुपये की रकम प्राप्त हुई। चतुर्थ योजना में घाटे की वित्त-व्यवस्था के रूप में प्राय 1000 करोड रुपये की रकम प्राप्त की गयी। इसके अतिरिक्त इस अवधि मे विदेशी भुगतान सतुलन के घाटे की पूर्ति के लिए विदेशो से बहुत अधिक रकम ऋण के रूप मे भी ली गयी। तीनों पंचवर्षीय योजनाओं तथा 1966 67 एव 1967 68 मे भारत के विदेशी व्यापार का कुल घाटा 6452 करोड रुपये था जिसका अन्दाजा निम्नांकित तालिका से लगाया जा सकता है—

(करोड रुपये मे)

	आयात	निर्यात	व्यापार का घाटा
प्रथम योजना (1951-52 से 1955-56)	3617	3029	— 588
द्वितीय योजना (1956 57 से 1960 61)	4882	3046	—1836
तृतीय योजना (1961-62 से 1965 66)	6138	3807	—2331
1966 67	2078	1156	— 922
1967-68	1974	1199	— 775
1951-52 से 1967-68 तक कुल घाटे की रकम			—6452

इसी प्रकार पंचवर्षीय योजनाओं की अवधि मे मुद्रा की कुल पूर्ति मे भी पर्याप्त मात्रा मे वृद्धि हुई जिसका अन्दाजा निम्नांकित तालिका से लगाया जा सकता है—

जनता के हाथ सम्पूर्ण मुद्रा (करोड रुपये मे)[1]

अन्तिम शुक्रवार को	जनता के हाथ मुद्रा की पूर्ति (Money Supply with the Public)
1950 51	2020 6
1955-56	2217 0
1960 61	2868 6
1965-66	4529 4
1967-68	5351 8
1969 70	6386 5
1970 71	7136 0
1971-72	8042 0
जनवरी, 1973	8663 7

इस प्रकार 5 जनवरी, 1973 ई० को मुद्रा की कुल पूर्ति 8663 7 करोड रुपये थी। इसमे जनता के पास (Currency with the Public) 4967 4 करोड रुपये तथा बैंकों

1. India—1974

(Net Demand Deposit of Banks and other Deposits with the Reserve Bank) की मात्रा 3696 3 करोड रुपये थी। स्पष्ट है कि 1950-51 से 1972 73 के बीच जनता के पास मुद्रा की कुल पूर्ति मे लगभग चार गुना से भी अधिक की वृद्धि हुई है जबकि वास्तविक राष्ट्रीय आय मे इस अवधि मे केवल 70 प्रतिशत की ही वृद्धि हुई। दूसरे शब्दो मे, इस अवधि मे, मुद्रा की कुल राशि मे राष्ट्रीय उत्पादन मे वृद्धि की तुलना मे अधिक वृद्धि हुई। इस अवधि मे जनता के पास मुद्रा की मात्रा मे वृद्धि के दो महत्वपूर्ण कारण हैं—प्रथमत केन्द्रीय सरकार के बजट मे बढ़ता हुआ घाटा और राज्यो द्वारा रिजर्व बैंक से अधिविकर्ष (Overdrafts) तथा द्वितीयत, निजी क्षेत्र विशेषत व्यापारियो का दिये जाने वाले ऋण मे अत्यधिक वृद्धि। कारण जो भी हो, एक बात स्पष्ट है कि इसके परिणामस्वरूप भी मूल्य तल मे अत्यधिक वृद्धि हुई है। केवल चतुर्थ योजना के चार वर्षों (1969 70 से 1971-73) के बीच मुद्रा की पूर्ति में प्राय 2884 4 करोड रुपये, यानी प्राय 50 प्रतिशत की वृद्धि हुई जबकि इन चार वर्षों में वास्तविक राष्ट्रीय आय में प्राय बहुत ही कम वृद्धि हुई। तृतीय योजनाकाल में भी यही बात थी। यही कारण है कि तृतीय योजनाकाल तथा बाद के वर्षों में कीमतो में भारी वृद्धि हुई। कीमतो में इस वृद्धि के परिणामस्वरूप भारतीय रुपये के आन्तरिक मूल्य में भारी कमी हो गयी है।

विशेष अध्ययन-सूची

1 Reserve Bank of India : Reports on Currency and Finance
2 B R Ambedkar History of Indian Currency & Banking
3 Jather and Bery Indian Economics (Chapters on Indian Currency and Exchange)

———

अध्याय : 44

भारतीय रुपये का अवमूल्यन
(Devaluation of the Indian Rupee)

अवमूल्यन का अर्थ (Meaning of Devaluation) :—सरकारी तौर पर किसी देश की मुद्रा के अन्य देशो की मुद्राओ के रूप मे मूल्य कम करने को 'अवमूल्यन' कहते हैं। (Devaluation means the lowering of the external value of a country's currency unit by an official act.) दूसरे शब्दो मे, जब कोई देश अपनी मुद्रा के बदले पहले से कम ही दूसरे देश की मुद्रा लेने के लिए तैयार हो जाता है, तो उसे मुद्रा का अवमूल्यन कहते हैं। जैसे मान-लीजिये भारत का 100 रुपया 35 डॉलर के बराबर है। यदि किसी कारणवश भारत सरकार 100 रुपये की विनिमय-दर अब घटाकर 20 डॉलर निर्धारित कर दे, तो इसे हम भारतीय रुपये का अवमूल्यन कहेंगे।

अवमूल्यन की विभिन्न परिभाषाएं दी जाती हैं। इनमे से कुछ महत्त्वपूर्ण परिभाषाएं इस प्रकार हैं : **डॉ० गोपुली के अनुसार,** "अवमूल्यन का अभिप्राय देश की मुद्रा के बाह्य मूल्य मे कमी कर देना है।"

इसी प्रकार **पाल एनजिग के अनुसार,** "देश की मुद्रा का अन्य देशो की मुद्राओ के मूल्य के साथ निर्धारित सरकारी समता (Official Parites) मे कमी करना ही अवमूल्यन है।"

अवमूल्यन के उद्देश्य (Objectives of the Devaluation).—किन्तु अब प्रश्न यह है कि अवमूल्यन क्यों किया जाता है? वास्तव मे, अवमूल्यन के निम्नांकित प्रधान उद्देश्य हो सकते हैं—

(1) **भुगतान सतुलन को प्रतिकूलता को दूर करना** :—अवमूल्यन का सर्वाधिक प्रधान कारण भुगतान सतुलन की प्रतिकूलता (adverse balance of payment) को दूर करना है। अवमूल्यन के परिणामस्वरूप देशी वस्तुएं विदेशों मे सस्ती हो जाती है। इसका कारण स्पष्ट है। अवमूल्यन से देश की मुद्रा के सस्ती हो जाने से विदेशी पहले से कम ही मुद्रा देकर अधिक सामान खरीद सकते हैं। इससे निर्यात प्रोत्साहित होते हैं जबकि स्वदेश मे आयातित माल महँगा हो जाने से आयात निरुत्साहित होते हैं। परिणामत देश का भुगतान असन्तुलन दूर हो जाता है। अधिकांश अवमूल्यन प्रायः इसी उद्देश्य से किये जाते है।

(2) **उद्योग-धन्धो को सरक्षण प्रदान करना** :—जब किसी देश मे राशिपातन की दृष्टि से कोई दूसरा देश अपनी सस्ती वस्तुएं भेजकर वहाँ के उद्योग-धन्धो को नष्ट करना चाहता है तो इसे देश की मुद्रा के अवमूल्यन द्वारा रोका जाता है; क्योंकि अवमूल्यन के परिणामस्वरूप स्वदेश मे आयातित माल महँगा हो जाता हैं।

(3) **देश की मुद्रा के आन्तरिक मूल्य को ऊँचा करना** :—आन्तरिक मूल्य स्तर को ऊँचा उठाने के लिए भी अवमूल्यन किया जाता है। अवमूल्यन के परिणामस्वरूप देशी वस्तुएं विदेशियो के लिए सस्ती हो जाती है जिससे वे अधिक मात्रा मे वस्तुएं खरीदने लगते हैं। विदेशो मे स्वदेशी वस्तुओ की माग बढ़ जाने के कारण देश के आतरिक मूल्य-तल मे वृद्धि होने लगती है।

(4) **अधिमूल्यन की स्थिति मे सुधार** :—अधिमूल्यन, यानी देशी मुद्रा के बाह्य मूल्य के पहले से अधिक होने पर भी अवमूल्यन के द्वारा इसमे सुधार किया जा सकता है।

(5) **निर्यात व्यापार** (Export) :—मे अपनी स्थिति को पूर्ववत बनाये रखने के उद्देश्य से भी कभी-कभी अवमूल्यन किया जाता है।

साराश यह कि अवमूल्यन के उपरोक्त कई कारण होते हैं, किन्तु इसका सर्वाधिक प्रधान कारण निर्यात मे वृद्धि तथा आयात मे कमी है।

इस प्रकार अवमूल्यन के उपरोक्त सारे उद्देश्य होते हैं। अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष (International Monetary Fund) की स्थापना से विश्व मे मुद्रा के अवमूल्यन के एक युग का ही समारम्भ होता है। 1948 से 1967 के बीच के 20 वर्षों मे कुल 109 देशो ने अपनी मुद्रा का अवमूल्यन किया। इनमे से 24 देशो ने अपनी मुद्रा मे 75 प्रतिशत तक अवमूल्यन किया तथा 38

देशो मे 40 से 25 प्रतिशत के बीच अवमूल्यन किया गया। इस अवधि मे अफ्रिका के सबसे अधिक 36 देशो तथा लैटिन अमेरिका के 23 देशो ने अपनी मुद्राओ का अवमूल्यन किया। इस अवधि में स्वय भारत ने भी दो बार सितम्बर, 1949 तथा जन, 1966 मे अपने रुपये का अवमूल्यन किया।

1949 मे **भारतीय रुपये का अवमूल्यन** (Devaluation of the Indian Rupee in 1949) —18 सितम्बर, 1949 को इगलैड के तत्कालीन वित्त मन्त्री सर स्टफोर्ड क्रिप्स (Sir Stafford Cripps) ने स्टलिंग का डॉलर मूल्य 30 5 प्रतिशत से कम कर दिया। इसस स्टर्लिंग का डॉलर मूल्य एक पौड—4 03 डॉलर से घटकर 2 8 डालर ही रह गया। ब्रिटेन का अनुसरण करते हुए 10 अन्य राष्ट्रो ने भी अपनी मुद्राओ का अवमूल्यन 30 5 प्रतिशत कर दिया, कुछ अन्य राष्ट्रो ने केवल 5 6 प्रतिशत अवमूल्यन किया तथा पाकिस्तान सहित 12 अन्य राष्ट्रो ने अपनी-अपनी मुद्राओं का अवमल्यन करना आवश्यक नही समझा। भारत ने भी 20 सितम्बर, 1949 को रुपये का 30 5 प्रतिशत अवमूल्यन कर दिया। अवमल्यन के पूर्व 1 रुपया=30 225 सेंट था परन्तु अवमूल्यन के पश्चात् 1 रुपया=21 सेंट हो गया। इसकी सविस्तार व्याख्या भारतीय मुद्रा वाले पिछले अध्याय मे की गयी है।

6 जून, 1966 **को भारतीय रुपये का अवमूल्यन** (Devaluation of the Indian Rupee on 6th June, 1966) —पुन भारत सरकार ने देश की बिगडती हुई आर्थिक स्थिति को सुधारने के लिए 6 जून, 1966 ई० को भारतीय रुपये का अवमूल्यन किया। इसके अनुसार रुपये के बाह्य मूल्य (external value) मे 36 5 प्रतिशत की कमी की गयी। अवमूल्यन के परिणामस्वरूप भारतीय रुपये एवं अमेरिकन डालर की नयी समता दर 7 5 भारतीय रुपये—1 अमेरिकन डॉलर हो गयी। दूसरे शब्दा में, 1 भारतीय रुपया अब 13 333 अमरिकन सेंट के बराबर हो गया। इसके पूर्व इनकी समता दर 4 7619 भारतीय रुपये=अमेरिकन डॉलर थी। इस प्रकार अवमूल्यन के पश्चात अब 100 अमेरिकन डॉलर के लिए 750 भारतीय रुपये देने पडते है जब कि इसके पर्व इसके लिए केवल 476 19 रुपये ही देने पडते थे। इसी प्रकार पहले 12 33 भारतीय रुपये ब्रिटन के 1 पौंड के बराबर होता था, अवमूल्यन के बाद ब्रिटन का 1 पौड=21 भारतीय रुपये के बराबर हो गया है। अवमल्यन के कारण रुपये की स्वर्ण समता मूल्य मे भी परिवर्तन हुआ है। अवमूल्यन के परिणामस्वरूप 100 रुपये के समता-मूल्य को 18 66 ग्राम स्वर्ण से घटाकर 11 85 ग्राम स्वर्ण कर दिया गया। इस प्रकार भारत सरकार ने भारतीय रुपये का 36 5 प्रतिशत अवमूल्यन किया है। दूसरे शब्दो मे, भारतीय मुद्रा के रूप मे विदेशी मुद्रा का मूल्य अवमूल्यन के परिणामस्वरूप 57 5 प्रतिशत से बढ गया है।

इसके पूर्व भारत ने 20 सितम्बर 1949 ई० को भी अपनी मुद्रा का 30 5 प्रतिशत से अवमूल्यन किया था जिसने रुपये के विनिमय मूल्य को अमरिकन डॉलर के रूप मे 1 रुपया= 30 225 सेंट से घटाकर 1 रुपया=21 सेंट कर दिया गया था। दूसरे शब्दो मे, स्वर्ण के रूप मे भारतीय रुपये की समता दर को 0 268691 ग्राम शुद्ध स्वर्ण कर दिया गया था।

इस प्रकार प्राय 18 वर्षो के बाद भारत ने अपनी मुद्रा का दूसरी बार अवमूल्यन किया। 1966 ई० मे भारतीय रुपये का अवमूल्यन प्रधानत निर्यात मे वृद्धि के लिए किया गया था। अवमूल्यन के फलस्वरूप निर्यात मे वृद्धि का प्रधान कारण यह है कि अवमूल्यन वाले देश की वस्तुएँ विदेशो मे पहले की अपेक्षा सस्ती हो जाती हैं जिससे विदेशियो को इनके लिए कम ही मूल्य चुकाना पडता है। एक उदाहरण द्वारा इसे अधिक स्पष्ट किया जा सकता है। अवमूल्यन के पूर्व अमरिका के 100 डालर द्वारा भारत को 476 19 रुपये की वस्तुएँ प्राप्त हो जाती थी। अवमूल्यन के परिणामस्वरूप भारतीय मुद्रा का विनिमय मूल्य घट गया है, अतएव अब 100 डॉलर के द्वारा भारत स 750 रुपये की वस्तुएँ प्राप्त की जा सकती हैं। इससे स्पष्ट है कि अवमूल्यन से भारतीय वस्तुएँ विदेशो मे सस्ती हो जायँगी। इसके विपरीत अवमूल्यन के परिणामस्वरूप विदेशी वस्तुएँ भारत मे महँगी पडने लगती हैं, जिससे आयात हतोत्साहित होता है। उपरोक्त उदाहरण के आधार पर इसे भी अधिक स्पष्ट किया जा सकता है। मान लिया कि सयुक्त राज्य अमेरिका मे किसी मशीन की कीमत 100 डॉलर है। उसे भारत में आयात के लिए अवमूल्यन के पूर्व 476 19 रुपय देने पडते

थे, किन्तु अवमूल्यन के बाद उसी यन्त्र को भारत में मँगाने के लिए अब 750 रुपये देने पड़ते हैं। इससे स्पष्ट है कि विदेशी वस्तुएँ अवमूल्यन वाले देश में महँगी हो जाती हैं जिससे आयात हतोत्साहित होता है।

इस प्रकार अवमूल्यन के फलस्वरूप देश की मुद्रा की विनिमय दर कम हो जाती है, यानी इसके विदेशी विनिमय मूल्य में भारी कमी आ जाती है। अतएव, परिणामस्वरूप निर्यात में वृद्धि होती है तथा आयात हतोत्साहित होता है।

भारतीय रुपये के अवमूल्यन के लिए उत्तरदायी परिस्थितियाँ
(Circumstances leading to the Devaluation of the Indian Rupee)

अब हम उन परिस्थितियों की व्याख्या करेंगे जिनके परिणामस्वरूप 1966 में भारतीय रुपये का अवमूल्यन अनिवार्य हो गया। 6 जून, 1966 ई० को रुपये के अवमूल्यन की घोषणा करते हुए भारत के तत्कालीन वित्त मन्त्री श्री सचीन्द्र चौधरी ने बहुत सारी परिस्थितियों की चर्चा की जिनके परिणामस्वरूप अवमूल्यन अनिवार्य हो गया था। इनमें निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं —

1 **आन्तरिक मूल्य तल में वृद्धि के कारण रुपये के आन्तरिक मूल्य में भारी कमी :—** सर्वप्रथम तो वर्त्तमान समय में भारतीय मुद्रा की क्रय शक्ति में पिछले दस वर्षों की अपेक्षा बहुत कमी आ गयी। भारत में पिछले कुछ वर्षों से मूल्य तल में निरन्तर वृद्धि हो रही है। वर्त्तमान समय में भारतीय मूल्य तल में दस वर्ष पहले की अपेक्षा प्राय 80 प्रतिशत की वृद्धि हुई। विश्व के अधिकांश देश, जिनसे हमलोगों का व्यापारिक सम्बन्ध है, में मूल्य तल में इस बीच इतनी अधिक वृद्धि नहीं हुई है, परन्तु रुपये की विदेशी विनिमय-दर में 1949 ई० से कोई परिवर्तन नहीं हुआ। अतएव ऐसी स्थिति में विदेशी बाजार में हमलोगों के निर्यात को कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है जबकि हमें अपनी योजनाओं को कार्यान्वित करने के लिए अधिकाधिक मात्रा में निर्यात की आवश्यकता है। निर्यात की इन कठिनाइयों को दूर करने के लिए भारत सरकार को बहुत-सारे उपायों जैसे निर्यातकों को आर्थिक सहायता, करों में छूट, आयात का हक आदि अपनाना पड़ा था, किन्तु इन उपायों से भी एक सीमित मात्रा में ही सफलता मिली थी। साथ ही, ये सारे उपाय केवल अल्पकालीन हैं। दीर्घकाल तक इन्हें नहीं अपनाया जा सकता। हमारे वित्त मन्त्री के अनुसार ऐसी स्थिति में रुपये के बाह्य मूल्य को कम करने के अतिरिक्त कोई दूसरा विकल्प नहीं रह गया था।

2 **चतुर्थ पंचवर्षीय योजना के लिए बड़े पैमाने पर विदेशी सहायता की आवश्यकता —** इसका दूसरा कारण चतुर्थ पंचवर्षीय योजना को कार्यान्वित करने के लिए बड़े पैमाने पर विदेशी सहायता की आवश्यकता बतलाया गया था। वास्तव में, विकास की योजनाओं को कार्यान्वित करने के लिए बड़े पैमाने पर विदेशी विनिमय की आवश्यकता पड़ती है और पर्याप्त मात्रा में निर्यात के अभाव में विदेशी विनिमय के लिए हमें विदेशी सहायता पर ही निर्भर रहना पड़ता है। वित्त मन्त्री के शब्दों में ही हमलोगों के विदेशी विनिमय की स्थिति इस प्रकार की है कि पर्याप्त मात्रा में विदेशी *सहायता के अभाव में आर्थिक विकास की गति निश्चित रूप से मन्द पड़ जायगी।* औद्योगिक उत्पादन में 1965 ई० में केवल 4 प्रतिशत की वृद्धि हुई, कृषि का उत्पादन भी अपेक्षित गति से नहीं बढ़ा। इसे बढ़ाने के लिए विदेशों से खाद एवं उर्वरक के आयात की प्रबल आवश्यकता है। विदेशी ऋणों की वापसी के लिए भी हमारी देनदारी बहुत अधिक है। ऐसी स्थिति में पर्याप्त मात्रा में विदेशी सहायता के लिए भारतीय मुद्रा का अवमूल्यन अनिवार्य हो गया। वित्त मन्त्री के शब्दों में, "A truncated plan, without aid or aid in much smaller amount will not meet the requirements of the situation or enable us to deal with our deeprooted economic problems satisfactorily"

3 **निर्यात प्रोत्साहन की विफलता —** 1966 ई० के अवमूल्यन का तीसरा प्रधान कारण सरकार द्वारा निर्यात को प्रोत्साहित करने के लिए अपनाये गये विभिन्न उपायों की विफलता भी था। प्रथम योजना के अन्त में 9970 करोड़ रुपये राष्ट्रीय आय के विरुद्ध हमारा वार्षिक निर्यात केवल 605 करोड़ रुपये, यानी कुल राष्ट्रीय आय का केवल 6 प्रतिशत भाग ही था। इसी प्रकार द्वितीय योजना में औसत वार्षिक निर्यात राष्ट्रीय आय का 4 6 प्रतिशत तथा तृतीय योजना में 4 3 प्रतिशत था, यानी इसमें सापेक्षिक रूप में निरन्तर ह्रास हो रहा था। अतः निर्यात में प्रोत्साहन के लिए अवमूल्यन आवश्यक समझा जाने लगा।

4. आयात मे निरन्तर वृद्धि —एक ओर तो देश के निर्यात में कोई वृद्धि नही हो रही थी और दूसरी ओर इसके आयात मे इस अवधि मे निरन्तर वृद्धि हो रही थी जिसके परिणामस्वरूप भुगतान संतुलन की विपक्षता बढने लगी। अतएव, आयात को हतोत्साहित करने के लिए भी अवमूल्यन आवश्यक समझा गया।

5. भुगतान सतुलन का निरन्तर विपक्ष में होना (Continued Adverse Balance of Payments) :—पिछले कुछ वर्षो से भारत का भुगतान सतुलन निरन्तर इसके विपक्ष मे रहता आ रहा था। व्यापारिक सतुलन को विपक्षता का तात्पर्य यह है कि हमलोग निर्यात की अपेक्षा आयात अधिक करते हैं। भारत के व्यापारिक सन्तुलन मे इस विपक्षता के कई कारण हैं, जैसे—भारत से निर्यात की कमी, किन्तु बडे पैमाने पर खाद्यान्न तथा यन्त्र एव अन्य उपकरणो का आयात। भुगतान सन्तुलन की इस विपक्षता को हमे विदेशो की सरकारो, मुद्रा-कोष एवं विश्व बैंक तथा निजी व्यक्तियों से ऋण लेकर पूरा करना पडता है। इसके फलस्वरूप विदेशी विनिमय कोष मे निरन्तर कमी होती जा रही है। उदाहरण के लिए, तृतीय योजना के प्रथम चार वर्षों मे भारत के विदेशी विनिमय कोष मे ७० करोड रुपये की कमी हो गयी। इस बीच अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष से भारत के ऋण में भी वृद्धि हुई। तृतीय योजना के प्रारम्भ में अन्तराष्ट्रीय मुद्रा कोष की कुल बकाया रकम 12 75 करोड़ डॉलर थी, अवमूल्यन के समय बढकर 32·5 करोड डॉलर हो गयी।

भुगतान सतुलन की इस निरन्तर विपक्षता का देश के आर्थिक विकास की योजनाओ पर प्रतिकूल प्रभाव पडा। इसे दूर करने के लिए सरकार द्वारा आयात पर कठोर नियन्त्रण लगाये गये तथा निर्यात को कई प्रकार से प्रोत्साहित किया गया। किन्तु इन सबके बावजूद भुगतान संतुलन की विपक्षता निरन्तर बढती गयी। अवमूल्यन के द्वारा इस समस्या का भी समाधान किया जा सकता है। अवमूल्यन से निर्यात मे वृद्धि तथा आयात मे कमी की आशा की जाती है जिससे भुगतान सतुलन को विपक्षता को समस्या का समाधान सुगम जान पडता है।

अवमूल्यन के प्रभाव

(Effects of Devaluation)

अब प्रश्न यह है कि क्या यह अवमूल्यन हमारी वर्तमान आर्थिक समस्याओ के समाधान में सहायक हो सकता है? रुपये का अवमूल्यन इसलिए हुआ कि इसके बाह्य मूल्य मे बहुत कमी आ गयी थी, किन्तु ऐसा क्यो हुआ? इसमें कोई सन्देह नहीं कि अवमूल्यन देश की अत्यन्त खराब आर्थिक स्थिति का परिणाम है। दूसरे शब्दों मे, अवमूल्यन पिछले 19 वर्षों मे देश की आर्थिक व्यवस्था के गलत तरीके से संचालन का परिणाम था। यदि प्रारम्भ से ही देश को आर्थिक व्यवस्था को उचित रूप मे सचालित किया गया होता तो इतने बडे पैमाने पर अवमूल्यन की कोई आवश्यकता ही नहीं पडती। और इस सम्बन्ध मे सबसे बडी बात तो यह है कि "भारतीय रुपये के बाह्य मूल्य में कमी इसके आंतरिक मूल्य में कमी का परिणाम है। (The Rupee lost its value abroad because it had already lost its value at home.) अवमूल्यन के द्वारा हम अपनी मुद्रा के बाह्य मूल्य को प्रभावित कर सकते हैं तथा विदेशी मुद्राओ के साथ नयी समता-दर की स्थापना की जा सकती है, किन्तु अवमूल्यन के द्वारा रुपये के आतरिक मूल्य मे ह्रास को रोका नहीं जा सकता। दूसरे शब्दो मे, आन्तरिक अव्यवस्था, जो बाह्य अव्यवस्था का प्रधान कारण है अभी ज्यो-कि त्यो बनी रहेगी और जबतक आन्तरिक व्यवस्था को ठीक नहीं किया जायगा तबतक इस नये एवं कम मूल्य पर भी रुपये के बाह्य मूल्य को स्थायी नहीं बनाया जा सकता। (The domestic disequilibrium, which is the fundamental cause of the external disequilibrium, would still persist and unless this domestic disequilibrium is corrected, the external value of the rupee may not be stabilised even at the new lower rate) दूसरे शब्दो मे, अवमूल्यन का उद्देश्य तबतक पूरा नहीं हो सकता जबतक कि रुपये के आतरिक मूल्य, यानी वस्तुओं तथा सेवाओ के रूप में इसकी क्रय-शक्ति सुदृढ नहीं की जाय। ऐसा जबतक नहीं होगा, तबतक सम्भव है कि अवमूल्यन से उन शक्तियों को प्रोत्साहन मिलेगा जिनके द्वारा रुपये की आतरिक क्रय-शक्ति मे और कमी होगी और इस प्रकार देश मे मुद्रा-स्फीति

को और भी प्रश्रय मिलेगा । इसे इस प्रकार भी कहा जा सकता है : "Devaluation which is a consequence of inflation may also cause further inflation by generating new rupee incomes in the economy unmatched by increase in goods services." अतः आवश्यकता इस बात की है कि अवमूल्यन के साथ-साथ आतरिक अपस्फीतिजनक नीति का अनुकरण किया जाय । फ्रांस ने अवमूल्यन की सफलता का प्रधान कारण यही था । किन्तु कई कारणो से भारत सरकार के लिए अपस्फीतिजनक नीति का अनुकरण करना कठिन है, अतएव अधिकाश देशों मे अवमूल्यन के साथ इस नीति का अनुकरण नही किया जाता । यही कारण है कि बहुत से देशो मे अवमूल्यन स्थायी सुधार के रूप मे कार्य नही कर केवल एक अस्थायी उपचार ही सिद्ध हुआ है। भारत मे यही बात देखने को मिलती है ।

इससे स्पष्ट है कि अवमूल्यन मुद्रा-स्फीति की समस्या के समाधान मे बहुत हद तक सहायक नही हो सकता । वास्तव मे, अवमूल्यन के परिणामस्वरूप मूल्य-तल मे कमी हुई भी नही है। इसके लिए सरकार को मुद्रा के आतिरक मूल्य को सुदृढ बनानेवाले उपायो का अनुकरण करना पडेगा जिसके लिए भारत सरकार तथा हमारे वित्त मन्त्री शायद अभी तैयार नही हैं ।

अवमूल्यन का निर्यात पर प्रभाव (Effects of Devaluation on Export) :—दूसरी बात यह है कि क्या अवमूल्यन से भारतीय निर्यात मे वृद्धि होगी । निर्यात मोटे तौर पर दो वर्गों मे विभाजित किया जा सकता है—पहला परम्परागत निर्यात (traditional exports) जैसे—कहवा, तिलहन तथा जूट की बनी वस्तुएँ इत्यादि । दूसरी श्रेणी मे नये-नये निर्यातों को रखा जा सकता है; जैसे—बिजली के सामान, सूती वस्त्र, यन्त्र इत्यादि । जहाँ तक परम्परागत निर्यात का सम्बन्ध है इस प्रकार की वस्तुओ का भारत से निर्यात बहुत पहले से ही होता आ रहा है । अत. इनके निर्यात के लिए व्यापारिक सगठन पहले से ही काम कर रहा है । इन वस्तुओ के निर्यात के सम्बन्ध मे भारत की स्थिति पहले से ही अच्छी है, अतएव केवल इनके उत्पादन मे वृद्धि तथा इनकी लागत मे कमी अनिवार्य है जिससे निर्यात बढाने के लिए पर्याप्त मात्रा मे इनका आधिक्य हो सके । किन्तु इनमे से अधिकाश वस्तुओ के उत्पादन मे वृद्धि मे पर्याप्त समय लगेगा; क्योकि उत्पादन मे वृद्धि तथा उत्पादन व्यय मे कमी के लिए इन उद्योगों को अपने सगठन मे सुधार करना होगा जिसमे कुछ समय का लगना अनिवार्य है । अतएव, परम्परागत वस्तुओ के निर्यात पर अवमूल्यन के प्रभावों के अध्ययन के लिए इस 'समय के तत्व' पर ध्यान देना अनिवार्य है क्योंकि समय व्यतीत होने के साथ-साथ अवमूल्यन का प्रभाव भी धीरे-धीरे घटने लगेगा । साथ ही, सरकार द्वारा अवमूल्यन के बाद इस प्रकार की 12 वस्तुओ पर निर्यात करो मे वृद्धि की गयी । इसका भी इनके निर्यात पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा ।

जहाँ तक गैर-परम्परागत वस्तुओं के निर्यात का सम्बन्ध है, सरकार इनके निर्यात को प्रोत्साहित करने के लिए अवमूल्यन के पहले इन्हें विभिन्न प्रकार की आर्थिक सहायता प्रदान करती थी । खास-खास उद्योगो को तो निर्यात के लिए सरकार 200 प्रतिशत या इससे भी अधिक *सहायता प्रदान करती थी । अवमूल्यन के पश्चात् इन्हें समाप्त कर दिया गया है ।* ऐसी स्थिति मे अवमूल्यन का इस प्रकार के निर्यात पर क्या प्रभाव पडेगा अभी निश्चित रूप से नही कहा जा सकता । किन्तु इनमे से अधिकाश वस्तुओ का उत्पादन व्यय हमारे देश मे अन्य देशो की अपेक्षा अधिक ऊँचा है । अतएव, अब प्रश्न यह है कि क्या भारतीय रुपये के 36 5 प्रतिशत अवमूल्यन से अपनी वर्तमान लागत पर ये विदेशी बाजार मे सफलतापूर्वक प्रतियोगिता कर सकते हैं? यह बिलकुल सदिग्ध है । सबसे बडी बात तो यह है कि यदि ये अपने निर्यात को बढाने मे सफल भी हो जायँ तो इन वस्तुओ की देश मे कमी हो जायगी जिससे इनके आतरिक मूल्य मे वृद्धि होगी ।

फिर भी, अवमूल्यन के परिणामस्वरूप देश के कुल निर्यात मे वृद्धि अवश्य हुई है । अवमूल्यन के पूर्व, तृतीय योजना के पाँच वर्षों मे निर्यात का वार्षिक औसत 762 करोड रुपये था, जबकि *1966 67 तथा 1967-68 मे वार्षिक निर्यात क्रमश. 1079 करोड रुपये तथा* 1255 करोड रुपये था । किन्तु निर्यात मे यह वृद्धि आयात के मूल्य मे वृद्धि के द्वारा समाप्त हो गयी और परिणामस्वरूप व्यापार के घाटे मे इस अवधि मे बहुत अधिक वृद्धि हुई ।

अवमूल्यन का आयात पर प्रभाव (Effects of the Devaluation on Imports) —जहाँ तक आयात पर अवमूल्यन के प्रभाव का प्रश्न है, भारतीय रुपये के 36 5 प्रतिशत अवमूल्यन

से आयात के मूल्य मे 57·5%की वृद्धि हो गयी। इसका तात्पर्य यह है कि यदि 1966-67 ई० मे आयात को 1965-66 ई० के स्तर (1350 करोड रुपये) पर भी रखा जाय तो इसके मूल्य मे रुपये के रूप मे प्राय. 776 करोड़ रुपये की वृद्धि होगी। इसका तात्पर्य यह है कि 1965-66 ई० के बराबर आयात, यानी 1966 67 मे भी 1350 करोड रुपये मूल्य के आयात के लिए भारत को 2126 करोड रुपये व्यय करना पडेगा। वास्तव मे—1966-67 तथा 1967-68 ई० मे आयात क्रमश 1886 करोड रुपये तथा 2070 करोड हुआ। ऐसी स्थिति मे आयात के सामान प्रयोग करनेवाले उद्योगो का उत्पादन-व्यय बढ जायगा जिससे इनकी वस्तुओ के मूल्य मे वृद्धि होगी। आयात की जानेवाली कुछ वस्तुओ पर सरकार ने अवमूल्यन के बाद आयात करो मे कुछ छूट दी है। उदाहरण के लिए, यन्त्रो के आयात पर से आयात करो को 45 प्रतिशत से घटाकर 27½ प्रतिशत कर दिया गया है, किन्तु इस प्रकार की छूट का प्रभाव बिलकुल नगण्य है, क्योकि इस घटा हुई दर पर भी आयात के बढते हुए खर्च के कारण छूट की रकम प्राय वही रह जायगी। अवमूल्यन के बाद बाद सरकार अपनी आयात नीति को भी अधिक उदार बना रही है। सरकार का उद्देश्य आवश्यक उद्योगो के लिए कच्चे पदार्थ तथा मशीन आदि के आयात को अधिक उदार बनाना है। इससे इन उद्योगो के विकास को अच्छा प्रोत्साहन मिलेगा। साथ ही, अवमूल्यन के परिणामस्वरूप खाद्यान्न एव खाद के आयात-मूल्य मे जिस हद तक वृद्धि होगी उस हद तक सरकार इन्हें आर्थिक सहायता प्रदान करेगी जिससे इनके विक्रय मूल्य मे कोई वृद्धि नही होने पाये। वास्तव मे, अवमूल्यन के पश्चात् आयात में कमी अवश्य हुई जो अगले पृष्ठ की तालिका से स्पष्ट है। 1968-69 ई० मे आयात मे कमी अवश्य हुई है, किन्तु आयात मे यह कमी मुख्यत खाद्यान्नो के उत्पादन मे वृद्धि के कारण इनके आयात मे कमी का परिणाम थी।

आन्तरिक मूल्य-तल पर प्रभाव (Effects on Internal Prices) :—अन्त मे, हमे यह देखना है कि अवमूल्यन का आतरिक मूल्य-तल पर क्या प्रभाव पडेगा? अवमूल्यन के समर्थकों का कहना है कि अवमूल्यन मूल्य-तल को स्थायी बनाता है और कभी कभी इसमे कमी भी लाता है। किन्तु वास्तव मे इस प्रकार का तर्क तथ्यहीन जान पडता है। जैसा कि हम देख चुके हैं कि अवमूल्यन का प्रधान उद्देश्य निर्यात को प्रोत्साहित तथा आयात को हतोत्साहित करना है। निर्यात मे वृद्धि से निर्यात की वस्तुओ के मूल्य मे वृद्धि होती है और मूल्य मे यह वृद्धि केवल निर्यात तक ही सीमित नही रहकर देश के उपभोक्ता-उद्योगो को भी प्रभावित करती है। साथ ही, निर्यात की वस्तुओ के मूल्य मे वृद्धि से इनके लिए कच्चे पदार्थों तथा मजदूरी की दर मे भी वृद्धि होगी और इस प्रकार इनके मूल्य में वृद्धि का प्रभाव धीरे धीरे सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था पर पडने लगता है। इसी प्रकार आयात के महँगा हो जाने के कारण आयात की जानेवाली वस्तुओ तथा इनकी स्थानापन्न वस्तुओ के मूल्य मे वृद्धि हो जाती है। जिन उद्योगो मे आयात किये गये यन्त्रो अथवा कच्चे पदार्थों का प्रयोग किया जाता है, उनका उत्पादन व्यय भी बढ जायगा जिससे इनके द्वारा निर्मित वस्तुओं के मूल्य मे वृद्धि होगी। मूल्य-वृद्धि की मात्रा किसी वस्तु-विशेष के उत्पादन मे आयात की गयी वस्तुओ के महत्त्व पर निर्भर करती है। और, इस प्रकार इन वस्तुओं के मूल्य मे वृद्धि का प्रभाव धीरे-धीरे सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था पर पडेगा।

किन्तु, अवमूल्यन के परिणामस्वरूप मूल्य-तल मे इस वृद्धि को सरकार उचित आर्थिक, मौद्रिक तथा प्रशासनिक उपायो द्वारा रोक सकती है। भारत सरकार भी इस सम्बन्ध मे जागरूक है तथा मूल्य-तल मे वृद्धि को रोकने के लिए बहुत-सारे उपाय अपनाये जा रहे है, जैसे—खाद्यान्न एव खाद जैसे आधारभूत आयातो पर आर्थिक सहायता देना, आवश्यक वस्तुओ के मूल्य पर नियन्त्रण तथा इनके वितरण की व्यवस्था के लिए सरकारी एव सहकारी भडारो की स्थापना और उदार आयात नीति का अनुकरण इत्यादि। किन्तु, इन उपायो का मूल्य तल पर अनुकूल प्रभाव नहीं पडा है। साथ ही, यह बहुत कुछ मौनसून की प्रकृति तथा घाटे की वित्त व्यवस्था की मात्रा पर निर्भर करता है। यदि मौनसून की प्रकृति उचित रही तथा कृषि की उपज पर्याप्त मात्रा मे हुई एवं सरकार घाटे की वित्त-व्यवस्था को एक सीमा के अन्तर्गत रखने मे समर्थ हुई तो इससे मूल्य तल मे वृद्धि की प्रवृत्ति अवश्य ही रुकेगी।

किन्तु, अवमूल्यन का देश की आर्थिक व्यवस्था पर अनुकूल प्रभाव नही पडा है। इससे निर्यात मे अपेक्षित वृद्धि नही हुई तथा आवश्यक वस्तुओ के आयात मे भी अत्यधिक वृद्धि हुई।

दूसरे शब्दो मे, इससे अवमूल्यन के बाद के वर्षों मे व्यापार के घाटे मे अत्यधिक वृद्धि हुई जो निम्नाकित तालिका से स्पष्ट है—

1950 51 से 1968 69 ई० के बीच भारत का व्यापारिक सतुलन
(करोड रुपये मे)

	अवमूल्यन के पूर्व			अवमूल्यन के बाद			
	प्रथम योजना (1951 56)	द्वितीय योजना (1956 61)	तृतीय योजना (1961 66)	1966 67	1967 68	1968 69	1969 70
आयात	3617	4882	6138	2078	2008	1909	1569
निर्यात	3029	3046	3807	1157	1199	1358	1413
व्यापार का घाटा	—588	—1836	—2331	—921	809	- 551	—155
वार्षिक औसत	—117 6	—367 2	—466 2	—921	—809	—551	—155

स्पष्ट है कि अवमूल्यन से देश की आर्थिक स्थिति में कोई स्पष्ट सुधार नही हो सका है। 1968 69 तक व्यापार के घाटे मे कोई कमी नही दिखायी दी है, किन्तु 1969 70 मे इसमे बडे पमाने पर कमी हुई जैसा कि उपरोक्त तालिका से स्पष्ट है।

विशेष अध्ययन सूची

1 Eastern Economist — June 9 and 17, 1966
2 Commerce — June 11, 1966

———

अध्याय : 45

भारतीय बैंकिंग व्यवस्था का विकास

(Development of the Indian Banking System)

प्रथम महायुद्ध तक बैंकिंग व्यवस्था का विकास —आधुनिक आर्थिक व्यवस्था मे बैंको का बडा ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। बैंक हमारी आर्थिक व्यवस्था मे विभिन्न प्रकार से सहायता प्रदान करते है। उत्पादन, विक्रय, आन्तरिक एव विदेशी व्यापार आदि सभी क्षेत्रो मे ये अनेक प्रकार से सहायक सिद्ध होते हैं। इगलण्ड तथा सयुक्त राज्य अमेरिका जैसे विकसित देशो मे बैंको का जमा 90 प्रतिशत तक मुद्रा का कार्य करता है।

अँगरेजो के भारत आगमन के सदियो पूर्व भारत मे बैंकिंग का कार्य देशी महाजन तथा साहूकारो द्वारा किया जाता था। ये महाजन एव साहूकार जनता का जमा ग्रहण करते, उन्हे उधार देते तथा देश के व्यापार मे विभिन्न प्रकार से सहायता प्रदान करते थे, किन्तु अँगरेजो के भारत आगमन के पश्चात् भारतीय बैंकिंग व्यवस्था का ह्रास प्रारम्भ हो गया। अँगरेजो ने देशी बैंकिंग प्रणाली का उपयोग नही किया तथा इसके बदले स्थान स्थान पर एजेन्सी गृहों (Agency houses) की स्थापना को प्रोत्साहित करने लगे। इन एजेन्सी गृहो मे कम्पनी के कर्मचारियो की पूँजी जमा रहती थी। बाद मे, इन्होने जनता से भी जमा प्राप्त करना प्रारम्भ कर दिया। किन्तु, 1813 ई०मे कम्पनी का व्यापारिक अधिकार समाप्त हो गया जिससे इन एजेन्सी गृहो के व्यापार को बहुत बडा धक्का लगा। साथ ही, इन्होने सट्टेबाजी मे भी हाथ बँटाना प्रारम्भ कर दिया था जिससे 1830-31 ई० तक अधिकाश एजेन्सी गृह समाप्त कर दिये गये। इनमे से कुछ अच्छी आर्थिक स्थितिवाले गृहो ने असीमित देय की मिश्रित पूँजीवाले बैंको की स्थापना की थी। इन बैंको मे स कुछ ने पत्र मुद्रा चलाने का कार्य भी प्रारम्भ कर दिया था, किन्तु 1831-32 ई० म ये सब भी फेल कर गये। तब से लेकर 1880 ई० तक देश मे बैंकिंग व्यवस्था का विकास बडा ही मन्द रहा।

— कम्पनी की आज्ञा के अनुसार 1806 ई० मे कलकत्ता मे, 1840 ई० मे बम्बई मे तथा 1843 ई० मे मद्रास मे एक-एक प्रसीडेंसी बैंक की स्थापना की गयी। कम्पनी ने इन तीनो बैंको मे अपनी पूँजी लगायी। इन बैंको को पत्र-मुद्रा जारी करने का भी अधिकार दिया गया। 1862 ई० तक इन प्रसीडसी बैंको ने नोट जारी करने का काम किया। इसके बाद सरकार ने पत्र मुद्रा जारी करने का कार्य स्वय अपने हाथ मे ले लिया। 1876 ई० मे प्रेसीडेंसी बैंक अधिनियम पारित होने के बाद सरकार ने इन बैंको से अपना सम्बन्ध विच्छेद कर लिया। ये बैंक 1920 ई० तक सफलतापूर्वक कार्य करते रहे। उसी वर्ष इन तीनो बैंको को मिलाकर इम्पीरियल बैंक ऑफ इण्डिया की स्थापना की गयी।

1880 ई० के बाद भारत में तीव्र गति से बैंको का विकास प्रारम्भ हुआ तथा देश में बहुत से बैंको की स्थापना हुई। इनमे से अधिकाश बैंक यूरोपियन पूँजी एव व्यवस्था के अन्तर्गत स्थापित किये गये थे। अवध कॉमर्शियल बैंक भारतीय पूँजी एव व्यवस्था द्वारा स्थापित सर्वप्रथम बैंक था। इसके बाद पजाब नेशनल बैंक, दि बैंक ऑफ बडौदा, सट्रल बैंक ऑफ इण्डिया, इलाहाबाद बैंक आदि बैंको की स्थापना हुई। आज भी ये भारत के मुख्य व्यावसायिक बैंक हैं। इनके अतिरिक्त बहुत से छोट छोटे बैंको की भी स्थापना हुई, जिनकी सख्या 1913 ई० तक 560 हो गयी थी। बैंको के इस अनियोजित विकास के परिणामस्वरूप भारतीय बैंको को बहुत सारी कठिनाइयो का सामना करना पडा। फलत, 1913-17 ई० के बीच 87 बैंक फेल कर गये।

1913-17 ई० का बैंकिंग सकट (Banking Crisis of 1913-17) —सन् 1913-17 ई० के बीच का समय भारतीय बैंको के लिए सकट का समय था। इस सकट के कई महत्त्वपूर्ण

कारण थे—(1) 1905 ई० के बाद बैंको की स्थापना द्रुतगति से प्रारम्भ हुई जिसका भारतीय बैंको पर बहुत बुरा प्रभाव पडा। (2) नये नये बैंक युद्धकालीन परिस्थितियो का सामना नही कर सके तथा युद्धजनित परिस्थितियों के स्वय शिकार हो गये। (3) युद्धकाल मे सरकार ने बहुत बडी मात्रा म बाजार से धन लेना प्रारम्भ कर दिया जिससे मुद्रा बाजार में धन का अभाव हो गया। (4) भारतीय मुद्रा एव साख प्रणाली में लोच का अभाव भी इसका एक प्रमुख कारण था। भारत में साख व्यवस्था का अभी पूर्णरूपेण विकास नही हुआ था। इसमे आवश्यकता पडने पर बैंको को सहायता नही मिल सकी। (5) देश में एक केन्द्रीय बैंक का अभाव था। देश की बैंकिंग व्यवस्था के सफल सचालन के लिए एक केन्द्रीय बैंक की आवश्यकता होती है जो पथ प्रदर्शक का काम करता है। भारत मे उस समय ऐसी सस्था का प्राय अभाव था। इन सब कारणो स 1913 ई० से बैंकिंग सकट का दीर्घकाल प्रारम्भ हुआ। सर्वप्रथम दि पिपुल्स बैंक ऑफ इण्डिया 1913 ई० मे इस सकट का शिकार हुआ। 1917-18 ई० तक यह सकटकाल रहा जिसमे कुल 87 बैंक फेल कर गये।

बैंको के फेल होने के कारण (Causes of Bank failures) —इस सकट के काल मे अत्यधिक मात्रा मे बैंको के फेल होने के बहुत से कारण थे जिनमे से कुछ का सम्बन्ध तो उस समय की परिस्थितियों से था तथा कुछ का सम्बन्ध देश की बैंकिंग व्यवस्था के दोषो से था जिनमे से आज भी बहुत से वर्तमान हैं। सक्षेप मे, भारत मे बैंको के फेल होने के निम्नाकित प्रमुख कारण थे —

(1) **सुयोग्य बैंक सचालकों का अभाव** —देश मे बैंको की स्थापना को 1905 ई० के स्वदेशी आन्दोलन से बहुत अधिक प्रोत्साहन मिला तथा बहुत बडी सख्या मे बैंको की स्थापना की जाने लगी, किन्तु इन बैंको के लिए सुयोग्य सचालको का अभाव था। सुयोग्य सचालको के अभाव में इन बैंकों को तरह तरह की कठिनाइयो का सामना करना पडा। इनकी कार्यवाही बैंकिंग के सिद्धान्तो के आधार पर नही होती थी। परिणामस्वरूप बहुत से बैंक फेल कर गये।

(2) **ब्याज की दर का अधिक होना** —बैंको के पास परिदत्त पूँजी का अभाव था, अतएव वे अपने कार्य सचालन के लिए ऊची ब्याज की दर पर जमा ग्रहण करते थे। कभी-कभी तो ऋण लेने तथा देने की दरो मे बहुत कम अन्तर होता था। इस प्रकार अपने पास समुचित नकद जमा (Cash Reserve) रखे बगैर ही बैंको ने जमाकर्ता के धनो को दीर्घकाल के लिए उधार देना प्रारम्भ कर दिया। कभी कभी तो ये अपनी पूँजी ऐसे कार्यों मे लगाते थे जिसका वापस होना सम्भव नहीं जान पडता था। ऐसी परिस्थिति मे बैंको का फेल होना बिल्कुल स्वाभाविक था।

(3) **सट्टेबाजी मे धन का विनियोग** —बहुत से बैंको ने अपने धन का सट्टेबाजी मे विनियोग करना प्रारम्भ कर दिया था। इससे इन्हे बहुत अधिक क्षति उठानी पडी। बैंक इस बात को बहुत गुप्त रखते थे।

(4) **बैंक के साधनों का निजी कार्यों मे उपयोग** —कुछ बैंको के सचालको ने बैंको के धन को अपने निजी कार्यों में भी लगाना प्रारम्भ कर दिया जिससे सकटकाल में अधिकाश बैंक फेल कर गये।

(5) **नकद कोष (Cash Reserve) का कम अनुपात** —भारत मे बैंक प्रारम्भ से ही अपने कुल जमा का एक बहुत छोटा भाग नकद कोष के रूप मे रखते थे। अत ग्राहकों की माग बढ जाने पर इसे पूरा करना इस प्रकार के बैंको के लिए बहुत ही कठिन हो जाता था जिससे बैंक आर्थिक सकट मे फँस जाते थे।

(6) **केन्द्रीय बैंक का अभाव** —देश की बैंकिंग व्यवस्था के समुचित नियन्त्रण के लिए एक केन्द्रीय बैंक की आवश्यकता पडती है, किन्तु भारत मे रिजर्व बैंक की स्थापना के पूर्व इस प्रकार के केन्द्रीय बैंक का सर्वथा अभाव था। अत उचित पथ प्रदर्शन एव निर्देशन के अभाव मे बैंको का अत्यधिक मात्रा मे फेल होना बिल्कुल स्वाभाविक ही था। साथ ही, 1913 ई० तक देश मे बैंको के लिए कोई विधान नही था जिससे प्राय सभी बैंक स्वतन्त्रतापूर्वक कार्य करते थे।

दोनो महायुद्धो के बीचवाले समय मे बैंको का विकास
(Development of Banking in the Inter-War Period)

1913 ई० से 1917 ई० के बीच बैंकिंग सकट के फलस्वरूप जनता का बैंको पर से

विश्वास धीरे-धीरे कम होने लगा। प्रथम महायुद्धकाल के प्रारम्भ में यह कठिनाई बहुत बढ गयी थी, किन्तु युद्ध के अन्तिम भाग मे धीरे-धीरे परिस्थिति मे सुधार होने लगा। युद्ध-काल में मुद्रा-स्फीति के कारण जनता के पास अधिक मात्रा में धन आया जिससे बैंको के जमा मे वृद्धि होने लगी तथा बैंको का टूटना भी कम हो गया। स्थान स्थान पर नये-नये बैंको की भी स्थापना की जाने लगी। 1920 ई० मे तीनो प्रेसीडेन्सी बैंको को मिलाकर एक इम्पीरियल बैंक ऑफ इण्डिया (Imperial Bank of India) की स्थापना की गयी। इस बैंक ने देश की बैंकिंग व्यवस्था के विकास मे महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। 1922 ई० मे पुन मुद्रा-स्फीति तथा आर्थिक मन्दी के कारण बैंको के समक्ष सकट उपस्थित हो गया। यह सकट 1929 30 ई० की मन्दी में और भी गम्भीर हो गया तथा 1936 ई० तक चलता रहा। 1929 36 ई० के बीच मे देश मे कुल 481 बैंक फेल कर गये जिनमे से 98 पजाब मे, 64 उत्तर-प्रदेश मे तथा 57 बम्बई मे थे। 1930 ई० मे एक केन्द्रीय बैंकिंग जाँच-समिति (Central Banking Enquiry Committee) की नियुक्ति हुई जिसका उद्देश्य देश की बैंकिंग व्यवस्था मे सुधार के लिए आवश्यक सुझाव देना था। इस समिति ने इस सम्बन्ध मे बहुत से सुझाव दिये जिनमें निम्नलिखित दो प्रमुख थे—(1) देश मे एक केन्द्रीय बैंक की स्थापना की जाय, तथा (2) बैंकिंग व्यवस्था के समुचित विकास के लिए एक बैंकिंग विधान बनाया जाय। सरकार समिति की सिफारिशो को शीघ्र कार्यान्वित नहीं कर सकी, फिर भी 1934 ई० मे एक रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया अधिनियम पारित हुआ जिसके अनुसार 1935 ई० मे रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया की स्थापना हुई। देश की बैंकिंग व्यवस्था के इतिहास मे इस बैंक की स्थापना का बडा ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। साथ ही 1936 ई० मे बैंकिंग कम्पनियो पर नियन्त्रण रखने के लिए इण्डियन कम्पनीज ऐक्ट (Indian Companies Act) मे भी आवश्यक सशोधन किया गया।

इस काल मे देश की बैंकिंग व्यवस्था का अत्यत अव्यवस्थित तरीके से विकास हुआ। एक ओर तो बम्बई, मद्रास, उत्तर-प्रदेश, पजाब तथा बगाल मे बैंको की सख्या मे बहुत अधिक वृद्धि हुई तो दूसरी ओर असम, उडीसा, बिहार तथा मध्य-प्रदेश आदि प्रान्तो मे बैंकिंग सुविधाओ मे कोई वृद्धि नही हुई। इन प्रान्तो को मे बैंको.शाखाओ का भी अभाव था। शाखा स्थापित करते समय बैंक बहुधा इम्पीरियल बैंक की ही नकल करते थे। अत बैंको की शाखाएँ मुख्यत बडे बडे नगरो मे ही स्थापित की गयी जिससे देश के अधिकाश भाग मे बैंकिंग की सुविधाओं का पर्याप्त मात्रा मे विकास नहीं हो पाया। बैंकिंग के इस अव्यवस्थित विकास के फलस्वरूप बैंकों के जमा में भी केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति दीख पडने लगी। 1922 से 1939 ई० के बीच बैंको की जमा राशि 70 करोड रुपये से बढकर 110 करोड रुपये की हो गयी जिसका 83 प्रतिशत भाग इम्पीरियल बैंक तथा अन्य सात प्रमख बैंको के पास था।

द्वितीय महायुद्धकाल मे बैंकिंग व्यवस्था—द्वितीय महायुद्ध का देश की बैंकिंग व्यवस्था पर बडा ही अच्छा प्रभाव पडा। एक ओर तो पुराने बैंको ने उन्नति की और दूसरी ओर नये-नये बैंको की स्थापना भी हुई। युद्ध काल मे मुद्रा-स्फीति के फलस्वरूप बैंको के जमा की राशि मे महत्त्वपूर्ण वृद्धि हुई। बैंको का कुल जमा 1939 ई० मे 159 45 करोड रुपये से बढकर 1944 45 ई० मे 1097 करोड रुपये हो गया। युद्धकाल मे बैंको की संख्या मे भी आश्चर्यजनक गति से वृद्धि हुई। 1946 ई० तक अनुसूचित बैंको (Scheduled Banks) की सख्या बढ कर 93 तथा इनके कार्यालयो की सख्या बढकर 3106 हो गयी। युद्ध काल मे बैंको की आय मे भी पर्याप्त वृद्धि हुई, किन्तु युद्ध के पूर्व की तरह इस काल मे भी बैंको का प्रसार बिना किसी पूर्व निश्चित योजना के ही हुआ, अत युद्ध-काल मे भी बैंको के असतुलित विकास की प्रकृति को विशेष बल मिला। साथ ही, बैंको का प्रसार इतनी तजी के साथ हुआ कि योग्य, अनुभवी एव कुशल प्रबन्धको तथा कर्मचारियो का अभाव होने लगा। देश की बैंकिंग व्यवस्था पर इसका भी बडा ही बुरा प्रभाव पडा।

युद्ध के बाद 1947 ई० में देश को स्वतन्त्रता प्राप्त हुई। स्वतन्त्रता प्राप्ति के साथ-साथ देश विभाजन भी हुआ जिसका प्रभाव पजाब एव बगाल के बैंको पर बहुत बुरा पडा। देश मे उत्पादन कम हो गया, आयात निर्यात घट गये तथा बहुत बडे पैमाने पर जान माल का भी विनाश हुआ। इसका देश के बैंको पर बहुत ही बुरा प्रभाव पडा जिसके परिणामस्वरूप केवल 1947 ई० मे 30 बैंक फेल कर गये।

भारतीय वैंकों की वर्तमान स्थिति

(Present Position of Banks in India)

1972 ई० के अंत में भारत में अनुसूचित वैंकों (Scheduled Banks) की संख्या 74 थी, जब की इनकी संख्या 1950 51 में 93 थी। 1972 में इनकी कुल शाखाएँ 14,739 थी। साथ ही असूचित वैंको (Non-scheduld BankS) की संख्या 1956 ई० में 354 से घटकर 1972 ई० के केवल 9 रह हो गयी। इस अवधि में बैंकों का सम्मिश्रण (Amalgamation of Banks) ही इनकी संख्या में इस कमी का प्रधान कारण था। दिसम्बर 1972 ई० में अनुसूचित बैंकों का कुल जमा (Total deposit) 8146 करोड़ रुपया था जिसमें माग जमा 3458 करोड रुपये तथा सवाधि जमा 4688 करोड रुपये था।

गॅडगिल समिति के अनुसार देश के कुल बैंक जमा का प्राय. एक-तिहाई भाग कलकत्ता तथा बम्बई दो नगरो से प्राप्त होता है तथा आधा से अधिक बैंक साख इन्हीं दो नगरो मे प्रदान किया जाता है। प्रति व्यक्ति औसत जमा सम्पूर्ण देश के लिए 143 रुपये हैं। यह औसत सबसे अधिक 200 रुपये चडीगढ मे तथा सबसे कम लगभग 13 रुपये उडीसा में।

भारतीय वैंकिग व्यवस्था के दोष तथा इसे सुदृढ़ बनाने के उपाय

आजकल भारतीय वैंकिग व्यवस्था मे अनेक दोष पाये जाते हैं जिनमें से निम्नलिखित प्रमुख हैं—(1) देश में वैंकिंग कम्पनियो की संख्या अत्यधिक है। अत्यधिक संख्या मे होने के कारण अधिकांश कम्पनियो का आकार बहुत छोटा होता है। (2) वैंकों के व्यापार के तरीकों मे भी भिन्नताएं पायी जाती हैं। भिन्न-भिन्न बैंक विभिन्न तरीकों का अनुसरण करते हैं जिससे इनका समुचित विकास नही हो पाता। (3) अचल सम्पत्ति के आधार पर भारतीय बैंक अत्यधिक कर्ज देते हैं जिससे इसे वसूलने मे बहुत कठिनाई होती है। कभी-कभी तो ये अपर्याप्त जमानत पर भी कर्ज दे देते हैं। (4) शाखाओं की स्थापना मे भी वैंक बहुधा अनियोजित ढंग से कार्य करते हैं। शाखाओं की स्थापना मे आर्थिक लाभों की बजाय प्रतियोगिता को ही प्राथमिकता दी जाती है। (5) वैंको का दोषपूर्ण प्रबन्ध भी भारतीय वैंकिंग व्यवस्था का एक प्रमुख दोष है। भारत में वैंकों के संचालन एवं प्रबन्ध के लिए सुयोग्य व्यक्तियों का अभाव है। वैंकों का कुछ व्यापार से अनुचित सम्बन्ध भी रहता है जिसका प्रभाव भी वैंकों पर बहुत बुरा पडता है। (6) इनके अतिरिक्त भारतीय वैंक बहुधा झूठे आँकड़े देकर अपनी वास्तविक स्थिति को छिपाने का प्रयत्न करते हैं।

रिजर्व वैंक द्वारा भारतीय वैंको की स्थिति के सम्बन्ध मे समय-समय पर जाँच की गयी है तथा इनके दोषों को दूर करने के लिए सुझाव दिये गये हैं। इनमे से कुछ प्रमुख सुझाव इस प्रकार हैं—

(1) **वैंकों द्वारा प्रबन्ध के सम्बन्ध में सुझाव :**—भारतीय वैंकों को बहुधा सुयोग्य एवं कुशल संचालकों की सेवाएं उपलब्ध नहीं हो पाती हैं जिससे इनकी कार्यवाही मे विभिन्न प्रकार के दोष आ जाते हैं। वैंकिंग व्यवस्था के समुचित विकास के लिए वैंको का प्रबन्ध कुशल एवं योग्य व्यक्तियों के हाथ मे होना चाहिए। अत, रिजर्व बैंक ने कर्मचारियों के प्रशिक्षण एवं उनकी नियुक्ति मे सावधानी तथा उनकी कार्य-प्रणाली मे सुधार की सिफारिश की है।

(2) **विनियोग नीति के सम्बन्ध मे सुझाव** —प्राय ऐसा देखा जाता है कि भारतीय वैंक अपने धन का विनियोग सरकारी प्रतिभूतियों मे बहुत कम करते हैं। असूचित वैंकों (Non-Scheduled Banks) के साथ तो यह बात विशेष तौर से पायी जाती है। जाँच से यह पता चलता है कि 113 वैंकों ने या तो सरकारी प्रतिभूतियों मे अपना धन बिल्कुल ही नहीं लगाया है अथवा लगाया भी है तो यह उनके कुल जमा का प्राय. 1 प्रतिशत भाग से पर भी कम है। वे बैंक बहुधा ऐसी कम्पनियों के शेयर मे अपने धन का विनियोग करते हैं जिनमें संचालकों का हित

रहता है। इस प्रकार की प्रवृत्ति निश्चय ही दोषपूर्ण है। अतः इसमे सुधार आवश्यक है। इसलिए रिजर्व बैंक ने यह सुझाव दिया कि बैंकों को अपने धन का अधिकतर भाग सरकारी प्रतिभूतियो मे लगाना चाहिए।

(3) ऋण-सम्बन्धी नीति के लिए सुझाव.—कुछ बैंक अपर्याप्त जमानत अथवा ऋणी की स्थिति की समुचित जांच किये बगैर ही ऋण दे दिया करते है जिससे ऋण की वसूली मे कठिनाई होती है। कभी-कभी अधिक लाभ कमाने की लालच मे बैंक अपनी शक्ति से भी अधिक ऋण दे देते हैं। बैंको को ऋण देने मे बहुत अधिक सावधानी की आवश्यकता है। ऋण देने के पूर्व ऋणी की स्थिति के सम्बन्ध मे पूरी जांच आवश्यक है। सन् 1949 ई० के बैंकिंग कम्पनीज अधिनियम की 24 वी धारा के अनुसार बैंको को अपनी माग एवं मुद्दती देनदारी का 20 प्रतिशत भाग तरल सम्पत्ति के रुप मे रखना अनिवार्य बना दिया गया है।

(4) शाखा खोलने के सम्बन्ध मे सुझाव:—युद्धकाल मे व्यापारिक समृद्धि के कारण बैंको ने बगैर सोचे-समझे ही शाखाएँ स्थापित करना प्रारम्भ कर दिया था। इसका भी बैंकिंग व्यवस्था के विकास पर बहुत बुरा प्रभाव पडा है। ग्रामीण बैंकिंग जाच-समिति ने इस सम्बन्ध मे सुझाव दिया था कि शाखाओं की स्थापना की अनुमति इस प्रकार दी जानी चाहिए जिससे कि बैंको मे आपस मे प्रतियोगिता नही हो सके।

(5) लाभांश का वितरण—प्राय. यह देखा जाता है कि बहुत-से बैंक अपने लाभ का अधिकतर भाग हिस्सेदारो के बीच बांट देते हैं, वे सुरक्षित कोष पर बहुत कम ध्यान देते हैं। इससे उनकी आर्थिक स्थिति सुदृढ नही हो पाती। 1949 ई० के बैंकिंग कम्पनीज-अधिनियम के अन्तर्गत इस दोष को दूर करने के लिए यह व्यवस्था की गयी है कि प्रत्येक बैंक को अपने लाभ का 20 प्रतिशत भाग सुरक्षित कोष मे तबतक जमा करना आवश्यक है जबतक कि उनका सुरक्षित कोष उनकी परिदत्त पूंजी के बराबर नही हो जाय। इन सारे सुझावो के अतिरिक्त बैंको की कार्य-प्रणाली मे सुधार के अन्य कई सुझाव भी दिये गये हैं जिससे बैंको का समुचित ढंग से विकास हो सके।

रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया

(Reserve Bank of India)

मुद्रा तथा बैंकिंग व्यवस्था मे स्थायित्व लाने के लिए भारत मे भी एक केन्द्रीय बैंक की आवश्यकता का अनुभव लोगो को बहुत समय पहले से होता आ रहा था, किन्तु 1935 ई० के पूर्व देश मे इस प्रकार की संस्था की स्थापना नही की जा सकी। सन् 1920 ई० मे ब्रूसेल्स की अन्तर्राष्ट्रीय अर्थ-परिषद् (International Economic Conference) में स्वर्ण-मान की पुनर्स्थापना के लिए इस आशय का एक प्रस्ताव पारित किया कि जिन देशो में केन्द्रीय बैंक नहीं हैं वहाँ शीघ्र ही इसकी स्थापना की जानी चाहिए। वास्तव में, स्वर्ण-मान की सफलता केन्द्रीय बैंक पर बहुत कुछ आधारित है। अत इस कमी को दूर करने के लिए भारत सरकार द्वारा तीनो प्रेसिडेन्सी बैंको को मिलाकर 1920 ई० मे इम्पीरियल बैंक आफ इण्डिया की स्थापना की गयी। किन्तु, इम्पीरियल बैंक केन्द्रीय बैंक का काय सफलतापूर्वक नही कर सका क्योंकि यह प्रधानतया एक व्यावसायिक बैंक था जिसे केन्द्रीय बैंक के कुछ ही कार्य दिये गये थे। साथ ही, देश की साख एव मौद्रिक व्यवस्था पर सरकार एवं इम्पीरियल बैंक का दोहरा नियन्त्रण देश की आर्थिक व्यवस्था के लिए हितकर नही जान पडा। इन्ही कारणो एव उपरोक्त दोषो को दूर करने के लिए 1926 ई० मे हिल्टन यग आयोग (Royal Commission on Currency and Finance) ने एक स्वतन्त्र केन्द्रीय बैंक की स्थापना की सिफारिश की थी। उसने मुद्रा एव साख व्यवस्था के उचित सचालन एव नियंत्रण के लिए भारत सरकार से एक स्वतन्त्र केन्द्रीय बैंक की स्थापना की सिफारिश की जिसका नाम रिजर्व बैंक आफ इण्डिया रखा जाय। सन् 1928 ई० मे इस आशय का एक विधेयक भी विधान सभा के समक्ष प्रस्तुत किया गया, किन्तु चन्द वैधानिक कठिनाइयो से उस समय उसे स्थगित कर दिया गया। केन्द्रीय बैंकिंग जाँच-समिति ने भी सन् 1930 ई० मे भारत में एक केन्द्रीय बैंक की स्थापना की सिफारिश की थी। उपरोक्त आर्थिक

आधारों के अतिरिक्त देश को बढती हुई राष्ट्रीय चेतना ने भी केन्द्रीय बैंक की स्थापना मे तात्कालिक सहयोग प्रदान किया। इन सब प्रयत्नों के फलस्वरूप 1934 ई० मे रिजर्व बैंक आफ इण्डिया[1] अधिनियम पारित हुआ तथा पहली अप्रैल, 1935 ई० से रिजर्व ऑफ इण्डिया ने अपना कार्य आरम्भ कर दिया।

जमा बीमा निगम
(Deposit Insurance Corporation)

भारत मे बैंकिंग व्यवस्था के विकास के इतिहास से यह स्पष्ट है कि देश मे समय-समय पर बहुत से बैंक फेल होते रहे हैं। सन् 1913 17 ई० में तो बैंको को बडे पैमाने पर असफलता का सामना करना पडा था। सन् 1947 के बाद भी बैंको का फेल होना पूर्णत बन्द नही हुआ। उदाहरणार्थ, जून, 1960 में महाराष्ट्र का लक्ष्मी बैंक (Lakshmi Bank) तथा अगस्त, 1960 मे केरल का पलाई सेण्ट्रल बैंक (Palai-Central Bank) फेल हो गये। इन बैंको के फेल हो जाने से देश की बैंकिंग व्यवस्था पर से जनता के विश्वास को भारी धक्का लगा और बहुत से लोगो ने डर से अपनी रकम निकालना आरम्भ कर दिया। इस स्थिति का सामना करने एवं छोटे तथा मध्यम वर्ग के जमाकर्त्ताओं के हितों को सुरक्षित रखने के लिए 1 जनवरी, 1962 को भारत सरकार ने एक जमा बीमा निगम की स्थापना की थी।

निगम की अधिकृत एवं परिदत्त पूंजी 1 5 करोड रुपया है जो रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया द्वारा प्रदान की गयी है। निगम चाहे तो रिजर्व बैंक से 5 करोड रुपये तक का ऋण ले सकता है। रिजर्व बैंक के गवर्नर इस निगम के अध्यक्ष हैं। निगम के लिए 5 सदस्यों का एक सचालक मडल भी नियुक्त किया गया है।

देश के सभी बैंको के लिए निगम का सदस्य होना अनिवार्य है। निगम ने प्रत्येक बैंक मे जमाकर्त्ता की जमाराशि (deposit) के बीमा की सीमा को 1 जनवरी, 1968 से बढाकर 5000 रुपये तथा अप्रैल, 1970 से 10000 रुपये कर दिया है। दूसरे शब्दों मे, यदि कोई बैंक फेल हो जाता है तो उसके सभी जमाकर्त्ताओ के 10,000 रुपये तक की सीमा की जमाराशि सुरक्षित रहती है। इस प्रकार स्पष्ट है कि जमा बीमा निगम की स्थापना से छोटी श्रेणी के जमाकर्त्ताओं के जमा (deposit) अधिक सुरक्षित हो गये हैं। परन्तु केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों तथा बैंकिंग कम्पनियों की जमा राशियों पर यह योजना लागू नहीं होती। केन्द्रीय सरकार की पूर्व अनुमति से जमा बीमा निगम की बीमा में वृद्धि करने का भी अधिकार है। इस समय सदस्य बैंको से निगम 4 पैसे सैकडे प्रति वर्ष बीमा शुल्क (Premium) के रूप में वसूल करता है। निगम इस शुल्क को बढाकर 15 पैसे सैकडे प्रति वर्ष कर सकता है। यदि कोई सदस्य बैंक अपने प्रीमियम (अथवा बीमा शुल्क) का भुगतान नही करता तो निगम उसे 8 प्रतिशत वार्षिक की दर से ब्याज भी वसूल कर सकता है। जमा बीमा निगम की सफलता के लिए यह नितात आवश्यक है कि रिजर्व बैंको के कार्यों का प्रभावपूर्ण निरीक्षण करे और उन्हे किसी प्रकार की वित्तीय अनियमितताएँ करने के अवसर न दे।

1971 ई० के अंत मे 81 व्यावसायिक बैंक तथा 384 सहकारी बैंक बीमाकृत थे। 1962 से 1971 तक निगम ने बैंको से सम्बन्धित 75 लाख रुपये के दावे स्वीकार किये थे। 31 दिसम्बर 1971 को इसका कुल जमा बीमा कोष 20 97 करोड रुपये था जो कुल बीमाकृत जमा का 0 5 प्रतिशत भाग था।

बैंकों का सामाजिक नियत्रण (Social Control over Commercial Banks) — दिसम्बर, 1967 में तत्कालीन वित्तमंत्री ने ससद् मे व्यावसायिक बैंको पर सामाजिक नियन्त्रण के सम्बन्ध मे एक विधेयक प्रस्तुत किया जो आगे चलकर कानून बन गया। सामाजिक नियन्त्रण के अन्तर्गत व्यावसायिक बैंको के सचालन मण्डल मे महत्त्वपूर्ण परिवर्तन की व्यवस्था की गयी। साथ ही, सामाजिक नियंत्रण कार्यक्रम के अन्तर्गत दिसम्बर 1967 मे एक राष्ट्रीय साख परिषद्

1 रिजर्व बैंक आफ इण्डिया का सविस्तार विवरण 26 वें अध्याय में किया गया है।

(National Credit Council) की नियुक्ति की गयी। वित्त मंत्री इसके अध्यक्ष बने। परिषद् में कुल 26 सदस्य होंगे। यह बैंकों के सम्बन्ध में एक व्यापक साख नीति का निर्धारण करेगी। प्रारम्भ में, सामाजिक नियन्त्रण की नीति को 25 करोड़ रुपये से अधिक जमावाले बैंकों पर लागू करने की व्यवस्था थी।

प्रमुख बैंकों का राष्ट्रीयकरण (Nationalisation of Major Commercial Banks) — किन्तु, 19 जुलाई, 1969 को राष्ट्रपति ने एक अध्यादेश जारी कर 50 करोड़ से अधिक जमावाले 14 बड़े व्यावसायिक बैंकों का राष्ट्रीयकरण कर दिया। इन बैंकों के नाम हैं—(1) सेन्ट्रल बैंक ऑफ इण्डिया, (2) बैंक ऑफ इण्डिया, (3) पंजाब नेशनल बैंक, (4) बैंक ऑफ बड़ौदा, (5) युनाइटड कमर्शियल बैंक, (6 कैनारा बैंक, (7) युनाइटेड बैंक ऑफ इण्डिया, (8) डेना बैंक, (9) सिंडिकेट बैंक, (10) युनियन बैंक ऑफ इण्डिया, (11) इलाहाबाद बैंक, (12) इण्डियन बैंक, (13) बैंक ऑफ महाराष्ट्र, तथा (14) इण्डियन ओवरसीज बैंक।

बैंकों के सामाजिक नियन्त्रण तथा राष्ट्रीयकरण के सम्बन्ध में विस्तृत व्याख्या पहले ही 28वें अध्याय में की जा चुकी है।

बैंकिंग आयोग (Banking Commission) :—3 फरवरी, 1969 को भारत सरकार ने श्री आर० जी० सरैया (R. G. Saraiya) की अध्यक्षता में एक बैंकिंग आयोग की नियुक्ति की घोषणा की। इस आयोग का प्रधान उद्देश्य समुचित आधार पर बैंकों के विकास के सम्बन्ध में सुझाव प्रस्तुत करना था। 9 फरवरी, 1972 को आयोग ने अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत किया। आयोग ने राजकीय क्षेत्र के बैंकों को दो या तीन अखिल भारतीय बैंक (All India Banks) तथा 6 अन्य ऐसे बैंक जो एक वृहत् क्षेत्र में बैंकिंग सेवाओं के विकास में विशिष्टता प्राप्त करेंगे, के रूप में पुनर्गठित करने का सुझाव दिया। बैंकों के पुनर्गठन में पिछड़े हुए क्षेत्रों को विशेष सुविधा प्रदान की जानी चाहिए। निजी क्षेत्र के बैंकों को अधिक प्रभावपूर्ण बनाने के लिए आयोग ने एक निश्चित अवधि के अतर्गत बैंकों के आपस में मिलाने (Merger and amalgamation) का सुझाव दिया है। ग्रामीण क्षेत्रों में ग्रामीण बैंकों (Rural Banks) की स्थापना का भी सुझाव दिया गया। इस प्रकार के बैंकों की स्थापना में आयोग के अनुसार सुदृढ प्राथमिक सहकारी समितियों को व्यावसायिक बैंकों के सहायक (Subsidiary) के रूप में विकसित करने को प्रोत्साहित करना चाहिए या व्यावसायिक बैंकों को ग्रामीण क्षेत्रों में सहायक बैंकों की स्थापना के लिए प्रोत्साहित करना चाहिए।

आयोग ने मौद्रिक नीति को प्रभावपूर्ण तरीके से कार्यान्वित करने के लिए गैर-बैंकिंग वित्तीय मध्यस्थों पर कठोर नियन्त्रण लगाने का सुझाव दिया। साथ ही, देशी बैंकों को सगठित बैंको से मिलाने पर (Linking indigenous banking agencies with organised banking system) सुझाव दिया। आयोग की सिफारिशों पर रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया तथा भारत सरकार द्वारा विचार किया जा रहा है।

विशेष अध्ययन-सूची

1. B. R. Ambedkar : History of the Indian Currency and Banking.
2. Reserve Bank of India : Functions and Working
3. „ „ „ : Reports on Currency and Exchange.

अध्याय : 46

स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया

(State Bank of India)

अखिल भारतीय ग्रामीण साख-सर्वेक्षण समिति (All India Rural Credit Survey Committee) की सिफारिशो के आधार पर 1 जुलाई, 1955 ई० को इम्पीरियल बैंक ऑफ इण्डिया के राष्ट्रीयकरण द्वारा स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया की स्थापना हुई।

इम्पीरियल बैंक (Imperial Bank) —सन 1920 ई० के इम्पीरियल बैंक ऑफ इण्डिया एक्ट के अनुसार कलकत्ता, बम्बई तथा मद्रास के तीनो प्रेसीडेन्सी बैंको को मिलाकर इम्पीरियल बैंक ऑफ इण्डिया की स्थापना की गयी थी। भारत मे आधुनिक बैंकिंग व्यवस्था के इतिहास मे इम्पीरियल बैंक की स्थापना का विशेष महत्व है। इसकी स्थापना के साथ ही देश मे आधुनिक बैंकिंग पद्धति का भी आविर्भाव हुआ। इसकी अधिकृत पूँजी 12 15 करोड रुपये तथा परिदत्त पूँजी 5 75 करोड रुपये थी। यद्यपि यह एक व्यावसायिक बैंक था तथापि रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया की स्थापना के पूर्व यह केन्द्रीय बैंक के बहुत सारे कार्यों का भी सम्पादन करता था।

इम्पीरियल बैंक का प्रबन्ध :—इम्पीरियल बैंक एक्ट के अनुसार इसका प्रबन्ध एक केन्द्रीय सचालक मण्डल द्वारा किया जाता था। इसमे 16 सदस्य थे। केन्द्रीय सचालक मण्डल के अतिरिक्त बम्बई, कलकत्ता एव मद्रास में तीन स्थानीय बोर्ड कार्य करते थे। केन्द्रीय मण्डल ही बैंक की नीति निर्धारित करता था।

रिजर्व बैंक की स्थापना के पूर्व इम्पीरियल बैंक ही देश मे केन्द्रीय बैंक के प्राय सभी कार्यों को करता था। इस प्रकार आरम्भ मे इसका कार्य दोहरा था। देश के केन्द्रीय बैंक के रूप मे यह सरकार कोष जमा करता था, सरकारी ऋणो की व्यवस्था करता था, बैंको के बैंक के रूप मे कार्य करता था तथा कोषो के एक स्थान से दूसरे स्थान मे हस्तान्तरण करने का कार्य भी करता था। साथ ही, एक साधारण हिस्सेदारो के बैंक के रूप मे यह व्यावसायिक बैंक-सम्बन्धी प्राय सभी कार्यों को भी सम्पन्न करता था, किन्तु सन् 1935 ई० मे रिजर्व बैंक की स्थापना के पश्चात् इम्पीरियल बैंक के केन्द्रीय बैंकिंग सम्बन्धी कार्यों को समाप्त कर दिया गया तथा इसके दूसरे कार्यों पर से भी प्रतिबन्ध हटा लिये गये। इसके बाद यह केन्द्रीय बैंक के एजेन्ट के रूप मे कार्य करने लगा। केन्द्रीय बैंक के प्रतिनिधि के रूप मे इम्पीरियल बैंक केन्द्रीय बैंकिंग सम्बन्धी सभी कार्यों को करता था। यह केन्द्रीय एव राज्य सरकारो का जमा प्राप्त करता था और उसपर किसी प्रकार का ब्याज नही चुकाता था। इम्पीरियल बैंक सार्वजनिक ऋण का प्रबन्ध करता, समाशोधन गृह का कार्य करता तथा एक जगह से दूसरी जगह सरकारी रकम को भेजने का भी कार्य करता था।

इम्पीरियल बैंक व्यावसायिक बैंक के सामान्य कार्यों को भी करता था। वास्तव मे, अपने कार्यकाल मे यह देश का सबसे बडा व्यावसायिक बैंक था।

इन सभी सेवाओ के उपरान्त भी इम्पीरियल बैंक की आलोचना होती रही। इसके निम्नांकित कारण थे :—

(1) **भारतीय हितों की उपेक्षा** —यूरोपियनो के हाथ मे बैंक का प्रबन्ध होने के कारण भारतीय व्यवसायी फर्मो को यह उतनी सुविधा नही प्रदान करता था जितना कि यूरोपियन फर्मो को। साथ ही, यह भारत मे विदेशी हितो का समर्थक था और भारत के निवासियो को बैंक व्यवस्था मे उच्च शिक्षा नही प्रदान करता था।

(2) **विदेशियो का आधिपत्य** —इम्पीरियल बैंक की अधिकाश पूजी विदेशियो के हाथ मे थी। अतएव, इसका प्रबन्ध भी विदेशियो के हाथ मे ही था जिससे वे भारतीय हितो की उपेक्षा करते थे।

(3) **शाखा-सम्बन्धी नीति त्रुटिपूर्ण थी** —इम्पीरियल बैंक ने अपनी शाखाएँ उन्ही स्थानो

मे स्थापित की थीं जहाँ पर अन्य बैंकों की शाखाएँ पहले से थी। इससे वह भारतीय बैंको से एक प्रकार से अनुचित प्रतियोगिता करता था।

(4) सुव्यवस्थित बिल बाजार के विकास में असफलता :—इम्पीरियल बैंक देश मे बिल बाजार की स्थापना भी नहीं कर सका था। यह बिलो के भुगतान की उपेक्षा कर ऋणों को ही प्राथमिकता प्रदान करता था जिसके परिणामस्वरूप देश मे बिल बाजार मे विकास मे यह सक्रिय सहयोग नहीं प्रदान कर सका।

, इन्ही सब कारणो से इस बैंक के राष्ट्रीयकरण का माँग उत्तरोत्तर बढती गयी। फलस्वरूप, अखिल भारतीय ग्रामीण साख सर्वेक्षण समिति (All India Rural Credit Survey Committee) की सिफारिशो के आधार पर इम्पीरियल बैंक का राष्ट्रीयकरण किया गया तथा 1 जुलाई 1955 ई० को स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया की स्थापना हुई। इसके फलस्वरूप इम्पीरियल बैंक की समस्त भारत स्थित सम्पत्ति एवं दायित्व स्टेट बैंक के नाम से कर दिये गये। इस बैंक की स्थापना का मुख्य उद्देश्य देश की विभिन्न बैंकिंग संस्थाओं तथा सहकारी बैंको को सहायता पहुँचाना एवं सरकार की आर्थिक नीति को कार्यान्वित करना है।

स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया के मुख्य उद्देश्य

(Main Objectives of the State Bank of India)

स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया की स्थापना निम्नांकित उद्देश्यों को ध्यान मे रख कर की गयी थी—

(1) ग्रामीण साख-व्यवस्था मे सरकार की साझेदारी :—स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया का मुख्य उद्देश्य सहकारी साख-व्यवस्था मे सरकार की साझेदारी स्थापित करना है। अतः इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए स्टेट बैंक राज्य सरकारो को ऋण देने के लिए तैयार रहता है।

(2) लाइसेंसदार गोदामों एवं भंडार-गृहों की स्थापना मे सहायता देना :—स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया देश के विभिन्न भागो मे लाइसेंसदार गोदामों एवं बिक्री समितियों की स्थापना मे भी आर्थिक सहायता प्रदान करता है। इससे कृषि-पदार्थों के संचय आदि मे बहुत अधिक सुविधा होती है।

(3) छोटे उद्योगों को आर्थिक सहायता देना :—स्टेट बैंक का एक उद्देश्य यह भी है कि देश मे स्थापित किये गये छोटे-छोटे उद्योगो को ऋण आदि के रूप मे आर्थिक सहायता प्रदान करना।

(4) छोटी-छोटी बचतो को प्रोत्साहित करना :—स्टेट बैंक ग्रामीण क्षेत्रों एवं छोटे-छोटे कस्बो मे शाखाएँ स्थापित करके बचतो को प्रोत्साहित करता है ताकि इन्हे एकत्र करके देश के औद्योगिक विकास मे लगाया जा सके। इस उद्देश्य से बैंक की शाखाएँ ग्रामीण क्षेत्रों मे स्थापित की जा रही हैं।

(5) धन के स्थानान्तरण की सुविधा प्रदान करना :—स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया सस्ती दरो पर धन के स्थानान्तरण की सुविधा भी प्रदान करता है। इससे देश के बैंकिंग-व्यवस्था के विकास मे सहायता मिलती है।

स्टेट बैंक की पूँजी :—स्टेट बैंक की अधिकृत पूँजी (Authorised Capital) 20 करोड रुपये तथा परिदत्त पूँजी 5 625 करोड रुपये हैं। सम्पूर्ण पूँजी को एक-एक सौ रुपये के 20 लाख अंशो मे विभाजित किया गया है। बैंक की सम्पूर्ण हिस्सा-पूँजी का 55 प्रतिशत भाग रिजर्व बैंक एवं केन्द्रीय सरकार ने खरीदा है और शेष 45 प्रतिशत भाग जनता के हाथो मे बेचा गया है जिसमे इम्पीरियल बैंक के पुराने हिस्सेदारों को प्राथमिकता दी गयी है।

प्रबन्ध (Management) :—स्टेट बैंक के प्रबन्ध के लिए एक केन्द्रीय मण्डल का निर्माण किया गया है जिसमे एक चेयरमैन, एक उप-चेयरमैन तथा 2 प्रबन्ध संचालकों (Managing Directors) के अतिरिक्त 16 सदस्य हैं। मण्डल के चेयरमैन एवं एक उप-चेयरमैन की नियुक्ति भारत सरकार रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया के परामर्श से करती है। केन्द्रीय मण्डल मे चेयरमैन एवं उप-चेयरमैन के अतिरिक्त प्रबन्ध संचालक, हिस्सेदारों द्वारा निर्वाचित 6 संचालक तथा रिजर्व बैंक

के परामर्श पर केन्द्रीय सरकार द्वारा नियुक्त 8 संचालक, जिनमे दो ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था एवं सहकारिता के विशेषज्ञ होते हैं, रहते हैं। केन्द्रीय मण्डल के अतिरिक्त मद्रास, बम्बई तथा कलकत्ता मे एक-एक स्थानीय मण्डल भी हैं।

स्टेट बैंक के कार्य
(Functions of the State Bank)

स्टेट बैंक के कार्यों को दो वर्गों मे विभाजित किया जा सकता है—

(क) केन्द्रीय बैंकिंग सम्बन्धी कार्य, तथा

(ख) साधारण बैंकिंग-सम्बन्धी कार्य।

(क) केन्द्रीय बैंकिंग सम्बन्धी कार्य —स्टेट बैंक उन स्थानो पर जहाँ रिजर्व बैंक की शाखा नही है, इसके एजेन्ट के रूप मे कार्य करता है। इस प्रकार स्टेट बैंक केन्द्रीय बैंकिंग-सम्बन्धी भी कुछ कार्य करता है। यह सरकारो के बैंक के रूप मे केन्द्रीय एव राज्य सरकारो के लेन देन का कार्य करता है, सार्वजनिक ऋण की व्यवस्था करता है तथा बैंको के बैंक के रूप मे भी कार्य करता है। इसके यहाँ देश के अन्य बैंक भी अपना धन जमा करते हैं जिससे यह उनके आर्थिक सकट के काल मे सहायता पहुँचाता है। यह रिजर्व बैंक की ओर से बैंको के समाशोधन-गृह (Clearing house) का भी कार्य करता है।

(ख) साधारण बैंकिंग सम्बन्धी कार्य .—स्टेट बैंक व्यावसायिक बैंक-सम्बन्धी सामान्य कार्यों को भी सम्पन्न करता है। वास्तव मे, यह एक व्यावसायिक बैंक की ही तरह है, यद्यपि साधारण व्यावसायिक बैंको से इसकी स्थिति कुछ भिन्न है। व्यावसायिक बैंक के रूप मे यह साधारणतया निम्नांकित कार्यों को सम्पन्न करता है :—

(1) यह बैंक अन्य व्यावसायिक बैंको की तरह सरकारी एव अच्छी प्रतिभूतियो एव ट्रजरी बिलो मे विनियोग करता है।

(2) अन्य व्यावसायिक बैंको की तरह जनता की बचत को जमा के रूप मे प्राप्त करता एव जनता की बहुमूल्य वस्तुओ को सुरक्षित रखता हैं।

(3) बहुमूल्य धातुओ का क्रय विक्रय करता है।

(4) उद्योग एव व्यापार मे सहायता पहुँचाने के दृष्टिकोण से चल या अचल सम्पत्ति, स्वीकृत प्रतिज्ञा पत्र, ऋण पत्र माल के अधिकार-पत्र पर किसी व्यक्ति या सस्था को ऋण प्रदान करने का कार्य करता है।

वर्जित कार्य (Prohibited Functions) :—स्टेट बैंक आफ इण्डिया अधिनियम की धारा 34 के अनुसार स्टेट बैंक अपने अशो तथा अचल सम्पत्ति की जमानत के आधार पर 6 महीने से अधिक की अवधि के लिए ऋण अथवा अग्रिम नही दे सकता। बैंक किसी भी ऐसे विनिमय-साख पत्र, जिसकी अवधि 15 माह से अधिक है, को खरीद नही सकता तथा ऐसे साख-पत्र की जमानत पर ऋण अथवा अग्रिम नही दे सकता।

1957 ई० के State Bank of India (Subsidiary Banks) Act के अनुसार 1951 मे स्टेट बैंक ने हैदराबाद बैंक, तथा 1960 ई० मे बैंक ऑफ जयपुर, बैंक ऑफ इन्दौर, बैंक ऑफ बिकानेर, ट्रावनकोर बैंक, बैंक ऑफ मैसूर, बैंक ऑफ पटियाला तथा स्टेट बैंक ऑफ सौराष्ट्र की व्यवस्था को अपने हाथ में लिया।

स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया की प्रगति :—1 जुलाई, 1955 ई० से इस बैंक ने अपना कार्य प्रारम्भ किया। अधिनियम के अनुसार इम्पीरियल बैंक की भारत-स्थित समस्त सम्पत्ति एव दायित्व (Assets and Liabilities) स्टेट बैंक को हस्तातरित कर दिये गये हैं। उस समय इम्पीरियल बैंक की 475 शाखाएँ थी। बैंक का एक प्रमुख उद्देश्य देश के ग्रामीण एव अविकसित क्षेत्रो मे बैंकिंग की सुविधा का प्रसार करना है। इस उद्देश्य से यह निश्चित किया गया था कि स्टेट बैंक प्रथम पाँच वर्षों मे 400 नयी शाखाएँ स्थापित करेगा। नयी शाखाओ की स्थापना मे जो पहले हानि होगी उसकी क्षति-पूर्ति के लिए एक एकीकरण एव विकास-कोष (Integration and development Fund) की स्थापना की गयी। बैंक ने 1961 ई० तक 500 नयी शाखाएँ

स्थापित कर ली थी। इसके फलस्वरूप ग्रामीण क्षेत्रो मे बैंकिंग की सुविधा मे पर्याप्त वृद्धि हुई है। 30 जून, 1972 ई० को स्टेट बैंक की कुल 3072 तथा इसके सहायको (Subsidiaries) की कुल 1651 शाखाएँ थी। स्टेट बैंक की कुल 2575 शाखाओ मे 1105 ग्रामीण क्षेत्रो मे, 944 अर्द्ध शहरी क्षेत्रो मे, 284 नागरिक क्षेत्रो मे तथा 242 बडे बडे नगरो तथा बन्दरगाहो मे थी। इसी प्रकार सहायको की 707 ग्रामीण क्षेत्रो, 442 अर्द्ध-नागरिक क्षेत्रो, 135 नागरिक तथा 99 बडे बडे केन्द्रो मे थी। स्टेट बैंक देश मे बैंकिंग व्यवस्था के विकास के लिए अनुसूचित बैंको तथा सहकारी सस्थाओ को एक सप्ताह मे दो बार निःशुल्क एक स्थान से दूसरे स्थान पर रकम भेजने की सुविधा प्रदान करता है। दिसम्बर, 1966 ई० मे स्टेट बैंक तथा इसके सहायकों का कुल जमा 797 करोड रुपये तथा सम्पूर्ण बैंकिंग व्यवस्था के जमा का प्राय एक-तिहाई भाग है।

इस प्रकार भारतीय बैंकिंग प्रणाली मे स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया या इसके सहायक बैंको को एक विशेष महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। निम्न तालिका से भी यह स्पष्ट है —

15-12-1966 ई० को करोड रुपये

	कुल अनुसूचित बैंक	स्टेट बैंक ऑफ इंडिया	सहायक बैंक
कुल जमा (Total Deposit)	1,921 6	602 8	195 0
कुल अग्रिम (Total Advances)	6,187 7	489 6	116·2
कुल निवेश (Total Investment)	825 0	226 1	59 1

देश के लोगो मे बैंकिंग-सम्बन्धी आदत को प्रोत्साहित करने के उद्देश्य से स्टेट बैंक ने 1 जनवरी, 1962 ई० से विशेष साख अन्तरण योजना (Special Credit Transfer Scheme) चालू की है। यह योजना निम्न तथा मध्यम आयवाले वर्गों की आवश्यकताओ की पूर्ति करती है। इस योजना के अन्तर्गत बैंक के वे ग्राहक जिनका बैंक की किसी भी शाखा मे खाता है, देश मे किसी भी स्थान से जहाँ पर स्टेट बैंक की शाखा है, अपने हिसाब मे जमा करने के लिए 1000 रुपये तक की राशि को बिना किसी खर्च के स्थानान्तरण कर सकते हैं। यह योजना भारतीय बैंकिंग के इतिहास की एक नवीन विशेषता है।

स्टेट बैंक एव ग्रामीण साख (State Bank and Rural Credit) —स्टेट बैंक का एक प्रमुख कार्य ग्रामीण साख की सुविधा प्रदान करना है। इस उद्देश्य से बैंक विभिन्न प्रकार की सहकारी समितियो को साख की सुविधा प्रदान करता है। रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया की प्रेषण-सुविधा योजना के अन्तर्गत स्टेट बैंक ने 1965 ई० मे सहकारी सस्थाओ को 262 करोड रुपये की धनराशि की प्रेषण सुविधाएँ प्रदान की थी। इसके अतिरिक्त बैंक ने अपनी निजी प्रेषण योजना के अन्तर्गत 224 करोड रुपये की धनराशि के प्रेषण की सुविधाएँ प्रदान की थी। 1965 ई० मे बैंक ने सहकारी बैंको तथा सहकारी केन्द्रीय भूमि-बन्धक बैंको को क्रमश 31 5 करोड रुपये तथा 87 करोड रुपये की ऋण सीमा को सहायता प्रदान की थी। बैंक ने भूमि-बन्धक बैंको को उनके ऋण-पत्रो की जमानत पर ऋण लेकर भी सहायता की थी। दिसम्बर 1965 ई० के अन्त मे स्टेट बैंक के पास सहकारी केन्द्रीय भूमि बन्धक बैंको के 9 1 करोड रुपये के ऋण-पत्र थे। 1965 ई० मे बैंक ने सहकारी चीनी मिलो को 9 4 करोड रुपये के 28 अग्रिम प्रदान किये थे। 1965 ई० मे बैंक ने अन्य सहकारी प्रोसेसिंग तथा विपणन समितियो को भी 1 6 करोड रुपये के 176 अग्रिमो की स्वीकृति प्रदान की थी। इनके अतिरिक्त बैंक ने कुछ अन्य सहकारी सस्थाओ को भी, जिनमे औद्योगिक सहकारी सस्थाएँ भी सम्मिलित हैं, वित्तीय सहायता प्रदान की थी। 1965 ई० मे औद्योगिक सहकारी सस्थाओ को दी गयी प्रत्यक्ष अग्रिम सहायता की राशि 72 7 लाख रुपये थी। 1965 ई० मे बैंक ने अन्य सभी प्रकार की सहकारी सस्थाओ को 87.5 लाख रुपये के 55 अग्रिमो की

स्वीकृति प्रदान की थी। इसके अतिरिक्त 1965 ई० मे केन्द्रीय तथा राजकीय भण्डार-गृह निगमो को बैंक ने 3·5 करोड रुपये के 1,503 अग्रिमो की स्वीकृति प्रदान की थी।

लघु उद्योगों को सहायता (Assistance to Small Scale Industries) :—स्टेट बैंक का एक प्रमुख कार्य लघु उद्योगो को सहायता प्रदान करना है। गत 10 वर्षों मे बैंको के इस कार्य-क्षेत्र मे पर्याप्त प्रगति हुई। बैंक की उदार ऋण-योजना के अन्तर्गत लघु उद्योगो को दी गयी कुल वित्तीय सहायता की राशि 31 दिसम्बर, 1965 ई० को 53 1 करोड रुपये थी। इसके अतिरिक्त 5 लाख रुपये से अधिक पूंजीवाले 53 लघु उद्योगो को 1·4 करोड रुपये की वित्तीय सहायता प्रदान की गयी थी। भारत सरकार की साख-प्रत्याभूति योजना (Credit Guarantee Scheme) के अन्तर्गत 1965 ई० के अन्त तक बैंक ने 28 3 करोड रुपये के अग्रिमो के प्रार्थना पत्र रिजर्व बैंक को प्रस्तुत किये थे। राष्ट्रीय लघु उद्योग निगम प्रत्याभूति योजना के अन्तर्गत बैंक ने 1965 ई० मे 17 लघु उद्योगो को 10 7 लाख रुपये की साख सीमा की स्वीकृति प्रदान की थी।

निष्कर्ष :—किन्तु, इन सबके बावजूद स्टेट बैंक की कार्यवाही के विरुद्ध बहुत-सी आलोचनाएँ भी दी जाती हैं। सर्वप्रथम तो यह कहा जा सकता है कि सरकारी बैंक होने के कारण इसके दिन-प्रतिदिन के कार्यों मे अधिक सरकारी हस्तक्षेप की सम्भावना सदा रहती है। इससे बैंक की कार्यपद्धति राजनीतिक स्वार्थों पर आधारित हो जाती है, किन्तु इस प्रकार की आलोचना मे कोई तथ्य नही है। इसके विरुद्ध दूसरी आलोचना यह दी जाती है कि स्टेट बैंक नागरिको को समुचित मात्रा मे बैंकिंग की सुविधा नहीं प्रदान करता है, किन्तु यह आलोचना भी तथ्यहीन जान पडती है। स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया अधिनियम मे यह स्पष्ट रूप से बतलाया गया है कि यह बैंक व्यावसायिक रीति-रिवाज तथा सिद्धान्तो के आधार पर कार्य करेगा। इस प्रकार इन सब आलोचनाओ के बावजूद यह कहा जा सकता है कि भारतीय बैंकिंग व्यवस्था स्टेट बैंक का एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। वास्तव मे, **"स्टेट बैंक निजी क्षेत्र को पहले से अधिक लाभान्वित कर रहा है।"** (The Bank has been serving the private sector better than before)

1969 ई० के बाद प्रगति —जुलाई, 1969 मे 50 करोड रुपये से अधिक जमावाले 14 बडे-बडे व्यावसायिक बैंको के राष्ट्रीयकरण के साथ-साथ सरकार ने बैंको के ऋण को कृषि, लघु उद्योग तथा व्यापार के लिए अधिक उदार बनाने पर जोर दिया है। जून, मे 1969 मे स्टेट बैंक तथा इसके सहायको की कुल 2462 शाखाएँ थी। इनकी संख्या बढकर जून, 1974 मे 4723 हो गयी, यानी 5 वर्षों की अवधि में स्टेट बैंक तथा इसके सहायको की सख्या मे प्राय. 100 प्रतिशत वृद्धि हुई।[1] नयी शाखाओ की स्थापना मे ग्रामीण तथा अर्द्ध-शहरी क्षेत्रो को प्राथमिकता दी जाती है।

विशेष अध्ययन-सूची

1. Reports of the Annual General Meetings of the State Bank of India.
2. S. B. I Monthly Bulletins.
3. S. R. K. Rao : The Indian Money Market, Chapter III

1. Reserve Bank of India Bulletin, August, 1974.

अध्याय : 47

भारत मे मिश्रित पूँजीवाले बैंक (व्यावसायिक बैंक)

[Joint Stock Banks in India (Commercial Banks)]

भारत मे व्यावसायिक बैंको का इतिहास कोई बहुत पुराना नही है। अगरेज व्यापारियों ने कम्पनी के शासनकाल मे ही कुछ एजेन्सी गृहो की स्थापना की थी। भारत मे आधुनिक बैंकिंग व्यवस्था का विकास इन्ही एजेन्सी गृहो मे आरम्भ हुआ है। इन एजेंसी गृहो मे से कुछ ने आधुनिक तरीके पर बैंकिंग व्यवस्था का भी सगठन किया था, किन्तु भारत मे व्यावसायिक बैंको की प्रगति वास्तव मे 1860 ई० के बाद से ही प्रारम्भ हुई। 1868 ई० तक देश मे बैंको की सख्या बढकर 25 हो गयी। इसके बाद 1900 ई० तक इनकी सख्या मे कोई विशेष प्रगति नही हुई, किन्तु इसके पश्चात व्यावसायिक बैंको का द्रुतगति से विकास प्रारम्भ हुआ। 1905 ई० के बाद स्वदेशी आन्दोलन से प्रभावित हो कितने ही बैंक स्थापित किये गये। 1935 ई० मे रिजर्व बैंक की स्थापना के पश्चात् मिश्रित पूँजीवाले बैंको[1] को दो वर्गों मे विभाजित किया गया —(1) अनुसूचित बैंक (Scheduled Banks), तथा (2) असूचित बैंक (Non Scheduled Banks)। अनुसूचित बैंक (Scheduled Banks) वे बैंक हैं जिनका नाम रिजर्व बैंक की द्वितीय अनुसूची मे दर्ज रहता है। इनकी चुकता पूँजी (Paid up Capital) एव सचित कोष (Reserve Fund) मिलाकर 5० लाख रुपये के बराबर होना चाहिए। वर्तमान समय मे इन्हे अपनी कुल Demand तथा Time Deposit का 5 प्रतिशत भाग Reserve Bank के पास नकद मुद्रा के रूप मे जमा करना पड़ता है तथा उन्हें प्रति सप्ताह अपना तल पट (Balance Sheet) रिजर्व बैंक के पास जमा करना पडता है इस प्रकार अनुसूचित बैंको को कुछ शर्त्ते पूरी करनी पडती हैं जिनके बदल मे उन्हे रिजर्व बैंक द्वारा बहुत सी सुविधाएँ प्राप्त होती हैं। असूचित अथवा गैर-अनुसूचित बैंको को अपना नाम रिजर्व बैंक की अनुसूची मे दर्ज नहीं करना पड़ता है।

भारत मे व्यावसायिक बैंकों के कार्य

(Functions of the Commercial Banks in India)

भारत मे व्यावसायिक बैंक साधारण बैंकिंग के प्राय सभी कार्यों को सम्पन्न करते हैं। सक्षेप मे, इनके निम्नलिखित प्रमुख कार्य हैं —

(1) **ग्राहकों से जमा प्राप्त करना** —सर्वप्रथम तो, व्यावसायिक बैंक अपने ग्राहकों का जमा ग्रहण करते हैं। यह इन बैंको का एक प्रमुख कार्य है। व्यावसायिक बैंक मुख्यतया तीन प्रकार के खाते मे जमा ग्रहण करते हैं —स्थायी जमा खाता, चालू खाता तथा बचत बैंक का खाता। बैंक जमा की गयी रकम पर प्राय ब्याज भी देते हैं।

(2) **ऋण प्रदान करना** —व्यावसायिक बैंकों का दूसरा प्रमुख कार्य ऋण अथवा उधार देना है। बैंक विभिन्न प्रकार से ऋण प्रदान करते है जिनमे बिलो को पुन बट्टा करना (Re discounting of Bills), अधि विकर्ष (Overdraft), नकद साख (Cash credit), अल्पकालीन ऋण (Loans at Call and Short notice) आदि प्रमुख हैं। ऋण अथवा उधार देने की क्रिया मे व्यावसायिक बैंक साख का सृजन भी करते हैं। इस प्रकार इन बैंको का यह एक प्रमुख कार्य है। व्यावसायिक बैंक साधारणतया व्यापारियो तथा उद्योगपतियो को अल्पकालीन कर्ज प्रदान करते हैं। किसानो को ये बहुधा ऋण नहीं प्रदान करते। इसके दो प्रधान कारण हैं—सर्वप्रथम तो, चूँकि इनका अधिकाश जमा अल्पकालीन अवधि का होता है, अत ये दीर्घकालीन

---

1 'मिश्रित पूँजीवाले बैंक' वाक्याश से भारत में व्यावसायिक बैंको (Commercial Banks) का ही बोध होता है। दूसरे शब्दो में, मिश्रित पूँजीवाले बैंक का तात्पर्य उन बैंको से है जिनका सगठन मिश्रित पूँजी कम्पनी के आधार पर किया गया हो, किन्तु भारत में मिश्रित पूँजीवाले बैंक शब्द का प्रयोग व्यावसायिक बैंक के लिए ही किया जाता है।

ऋण नही प्रदान करते । द्वितीयत, व्यापारियो तथा व्यावसायियो स इन्हें उच्च दर से ब्याज प्राप्त होती है । किन्तु, 14 बडे बडे व्यावसायिक बैंको के राष्ट्रीयकरण के बाद अब किसानो, लघु उद्योगो तथा फुटकर व्यापारियो को ऋण की सुविधा प्रदान करने पर जोर दिया जा रहा है ।

(3 एजेन्सी सम्ब धी कार्य —व्यावसायिक बैंक अपने ग्राहको के एजेन्ट के रूप म भी कार्य करत है । इस रूप मे ये ग्राहको का प्रीमियम चुकाते हैं विनिमय साध्य पत्रो को एकत्र करते हैं सुरक्षा सम्बन्धी काय करते हैं धन सम्बन्धी सलाह देते हैं तथा सस्थाओ के ऋणो का अभिगोपन करते हैं । इस प्रकार व्यावसायिक बैंक अनेक कार्य करते हैं ।

(4) विविध कार्य —इनके अतिरिक्त व्यावसायिक बैंक अपने ग्राहको के अन्य बहुत सारे कार्यो का भी सपादन करते हैं । उदाहरण के लिए,

(अ) ये अपने ग्राहको के जेवर, जायदाद तथा बहुमूल्य कागजातो को सुरक्षित रखने के लिए लॉकर्स आदि की सुविधा प्रदान करते हैं,

(ब) ये धन के स्थानान्तरण की सुविधा भी प्रदान करते हैं,

(स) ग्राहको की आर्थिक स्थिति एव साख के सम्ब ध मे रिपोर्ट देते हैं,

(द) अशो एव ऋण-पत्रो का अभिगोपन करते हैं,

(य) साख प्रमाण पत्र (Letter of Credit) जारी करते हैं, इत्यादि ।

भारत मे व्यावसायिक बैंको के विकास मे कठिनाइयाँ एव दोष

(Difficulties and Defects in the Development of Commercial Banking in India)

भारत मे व्यावसायिक बैंको का समुचित विकास नही हो पाया है । इनके विकास के माग मे कुछ प्रमुख कठिनाइयाँ हैं जिनके फलस्वरूप इनका समुचित विकास नही हो पाता है । साथ ही, इन बैंको के कुछ अपने दोष भी हैं जिनके फलस्वरूप इनके विकास का मार्ग अवरुद्ध सा हो जाता हैं । यद्यपि द्वितीय महायुद्ध के दौरान देश मे बैंक का पर्याप्त विकास हुआ है, फिर भी, अभी इस क्षत्र मे हमारा देश अन्य देशो से बहुत ही पिछडा है । इस प्रकार जबकि स्विट्जरलैंड मे प्रति 1333 व्यक्तियो के पीछ एक बैंक तथा इगलैंड में 3900 व्यक्तियो के पीछे एक बैंक है भारत मे प्रति 2 लाख 76 हजार व्यक्तियो के पीछे एक बैंक है । इससे भारत मे बैंकिंग विकास की मन्द गति का अन्दाजा लगाया जा सकता है ।

भारत मे व्यावसायिक बैंकों के विकास की मन्द गति के बहुत से कारण हैं जिनमें निम्न लिखित प्रमुख हैं —

(1) समय समय पर आनेवाले बैंकिंग सकट (Banking Crisis) —देश मे समय समय पर बैंकिंग सकट के फलस्वरूप बैंको का विकास अवरुद्ध हो जाता है । सकट काल मे बहुत से बैंक फेल कर जाते हैं ।

(2) देश की जनता मे बैंकिंग सम्बन्धी आदतो का अभाव —भारत मे प्रति व्यक्ति आय बहुत ही कम है जिसके फलस्वरूप बचत भी बहुत कम होती है । इतना ही नही हमारे देश मे कुछ व्यक्ति जो थोडा बहुत बचाते हैं उसे बैंक मे रखना नही चाहते वरन उसे अपने पास नकद मुद्रा के रूप मे जमीन के नीचे गाड कर रखना ही अधिक सुरक्षित समझते हैं । इस प्रकार भारत के जन साधारण मे बैंकिंग सम्बन्धी आदतो का सामान्य रूप से अभाव पाया जाता है । इसके कई प्रमुख कारण हैं जिनमे जनता की सकुचित मनोवृत्ति, शिक्षा का अभाव तथा बैंको की काय प्रणाली सम्बन्धी त्रुटियाँ आदि विशेष तौर से महत्त्वपूर्ण हैं ।

(3) सरकारी प्रोत्साहन का अभाव —भारत मे सरकार तथा विभिन्न सरकारी सस्थाओं द्वारा बैंको को प्रोत्साहन नही मिलता । ये सस्थाएँ आम व्यावसायिक बैंको के साथ अपना सम्बन्ध नही रखती । रिजर्व बैंक, स्टेट बैंक तथा अन्य राष्ट्रीयकृत बैंक ही इनके सारे बैंकिंग सम्बन्धी कार्यों को करते हैं । इसका भी बैंको पर बहुत अधिक प्रभाव पडता है ।

(4) विदेशी विनिमय बैंकों से प्रतियोगिता —भारत मे व्यावसायिक बैंको को विदेशी विनिमय बैंको से अधिक प्रतियोगिता करनी पडती है । भारत का सम्पूण विदेशी व्यापार प्राय विदेशी विनिमय बैंकों के हाथ मे ही है । इनकी आर्थिक स्थिति तथा सगठन भारतीय बैंको की

अपेक्षा अधिक सुदृढ होता है जिससे भारतीय जनता का इन पर अधिक विश्वास रहता है। साथ ही, इन बैंकों की शाखाएँ विश्व के प्राय सभी प्रमुख व्यावसायिक केन्द्रों मे होती हैं। इससे भी विदेशी विनिमय बैंकों को बहुत अधिक लाभ होता है। ये विदेशी बैंक भारतीय बैंको से देशी व्यापार एवं साधारण बैंकिंग-सम्बन्धी कार्यों में भी प्रतियोगिता करते हैं जिससे व्यावसायिक बैंकों के साथ व्यापार की कमी रहती है।

(5) **स्टेट बैंक तथा देशी बैंकर्स एव महाजनो से प्रतियोगिता**.—भारतीय व्यावसायिक बैंकों की स्टेट बैंक (पहले इम्पीरियल बैंक) तथा देशी महाजनो एव साहूकारो से भी प्रतियोगिता करनी पडती है। देशी बैंक एव महाजनो की कार्य-प्रणाली सीधी एव सरल होती है जिससे व्यावसायिक बैंको को इनसे प्रतियोगिता करना कठिन हो जाता है।

(6) **बैंको की शाखाओं का कम होना**.—हमारे देश मे शाखा बैंकिंग प्रणाली का प्रचलन है, फिर भी, औसत रूप से व्यावसायिक बैंकों की बहुत कम शाखाएँ हैं। शाखाओ के अभाव में जोखिम का प्रादेशिक वितरण नही हो पाता। साथ ही, ग्रामीण क्षेत्रो मे शाखाओं के अभाव से जनता मे बैंकिंग-सम्बन्धी आदतो का विस्तार भी बहुत ही कम हो पाया है।

(7) **बैंकों की कार्य-प्रणाली मे त्रुटियाँ** भारतीय व्यावसायिक बैंको की कार्य-प्रणाली मे बहुत-से दोष पाये जाते हैं जिनके चलते इनका समुचित विकास नही हो पाता है। इन त्रुटियो मे निम्नलिखित प्रधान हैं—(क) व्यावसायिक बैंक व्यापारिक बिलो को बहुत कम प्रोत्साहित करते हैं। ये सरकारी प्रतिभूतियो मे ही अधिकाशत अपनी रकम का विनियोग करते हैं। (ख) ये किसी अन्य व्यक्ति अथवा स्वीकृत प्रतिभूतियों को जमानत पर ऋण देते हैं। पश्चिमी देशों की तरह अपने ग्राहको को व्यक्तिगत जमानत पर ऋण नहीं देते। इसका कारण यह है कि बैंको को ग्राहको के सम्बन्ध मे विशेष जानकारी नही रहती है। विशेष जानकारी के अभाव मे ऋण देना बडा ही जोखिमपूर्ण हो जाता है। पश्चिमी देशो मे 'एक व्यापारी एक बैंक (One man one bank) की प्रथा पायी जाती है, किन्तु हमारे देश मे व्यापारी किसी एक बैंक से अपना सम्बन्ध रखना नही चाहते। (ग) इसके अतिरिक्त भारत मे व्यावसायिक बैंको मे बहुधा पारस्परिक सहयोग का अभाव पाया जाता है। कभी-कभी तो इनमे प्रतियोगिता भी पायी जाती है जिसका इनकी स्थिति पर बडा ही बुरा प्रभाव पडता है। (घ) कुछ व्यावसायिक बैंक सामान्यत बैंकिंग सिद्धान्तो का भी अनुकरण नहीं करते तथा अपने धन को सट्टेबाजी वगैरह में लगाते हैं, ऊँचे ऊँचे लाभाश का वितरण करते हैं, रक्षित कोष पर जोर नहीं देते आदि।

इनके अतिरिक्त बैंको की अकुशल सेवा, अगरेजी भाषा मे कार्य, शाखाओ का अभाव आदि कारणो से भी भारत मे व्यावसायिक बैंको की विशेष प्रगति नही हो पायी है। इन सब दोषो के कारण भारत मे व्यावसायिक बैंको का समुचित विकास नही हो पाया है।

व्यावसायिक बैंकों के दोषों को दूर करने के सुझाव

इस प्रकार भारतीय व्यावसायिक बैंको के समक्ष अनेक कठिनाइयाँ हैं तथा इनकी कार्यप्रणाली भी अत्यत दोषपूर्ण हैं। देश के आर्थिक विकास के लिए एक सुविकसित बैंकिंग व्यवस्था का विकास आवश्यक है और एक सुनियमित बैंकिंग व्यवस्था के लिए व्यावसायिक बैंक के इन दोषो एव कठिनाइयों को दूर करना अनिवार्य है। इसमे कोई सन्देह नही कि 1949 ई० के बैंकिंग कम्पनीज अधिनियम ने भारतीय बैंकिंग व्यवस्था के बहुत सारे दोषो को दूर कर दिया है, फिर भी, इनके विकास के लिए सामान्य रूप से निम्नलिखित सुझाव दिये जा सकते हैं —

(1) **बैंकों मे जनता का विश्वास उत्पन्न करने के लिए सक्रिय प्रयास**—इस उद्देश्य की पूर्त्ति के लिए सरकार एव सरकारी संस्थाओ को प्रमुख व्यावसायिक बैंको मे अपना व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित करना चाहिए। ऐसा करने से जनता का व्यावसायिक बैंको मे विश्वास बढेगा। सरकार द्वारा बैंकों को स्टाम्प तथा रजिस्ट्रेशन फी आदि मे भी छूट देनी चाहिए।

(2) **अधिक शाखाओ की स्थापना के लिए प्रोत्साहन**.—देश मे समुचित बैंकिंग व्यवस्था के विकास के लिए बैंको को ग्रामीण क्षेत्रो एव छोटे-छोटे नगरो मे शाखाएँ स्थापित करने के लिए भी प्रोत्साहन देना चाहिए, किन्तु शाखाओ की स्थापना मे सदा इस बात को ध्यान मे रखना

अनिवार्य है कि इससे बैंको मे ,समुचित प्रतियोगिता को प्रश्रय नही मिले। रिजर्व बैंक एव स्टेट बैंक ग्रामीण क्षेत्रो मे बैंकिंग सम्बन्धी सुविधाओ के विस्तार मे विशेष सहयोग प्रदान कर सकता है।

(3) विनिमय बैंको के कार्यो पर नियन्त्रण —विनिमय बैंको के कार्य-क्षेत्र को सीमित करना अनिवार्य है। इनके कार्य क्षेत्र को केवल आयात-निर्यात तक ही सीमित कर देना चाहिए ताकि ये सामान्य बैंकिंग के कार्यो मे व्यावसायिक बैंको से प्रतियोगिता नही कर सकें। 1949 ई० के बैंकिंग कम्पनीज अधिनियम मे विनिमय बैंको पर नियन्त्रण की व्यवस्था अवश्य की गयी है परन्तु इस क्षेत्र मे अभी और अधिक तत्परता की आवश्यकता है।

(4) देशी बैंकर्स तथा महाजनों पर नियन्त्रण —देशी बैंको तथा महाजनो पर भी नियन्त्रण की आवश्यकता है। इसमे कोई सन्देह नही कि आज भी महाजन तथा साहूकार देश की आर्थिक व्यवस्था मे महत्त्वपूर्ण सहयोग प्रदान कर रहे हैं। फिर भी, इनके कार्यो पर उचित नियन्त्रण लगाकर इन्हें सगठित रूप देना व्यावसायिक बैंको के विकास के लिए अनिवार्य है।

(5) छोटे छोटे बैंकों का एकीकरण (Amalgamation) —देश मे बैंकिंग व्यवस्था के समुचित विकास के लिए छोटे छोटे बैंको का एकीकरण आवश्यक है। 1949 ई० के बैंकिंग कम्पनीज अधिनियम मे रिजर्व बैंक को इस प्रकार का अधिकार दिया गया है। अत रिजर्व बैंक को अलाभकर एव छोटे-छोटे बैंको के एकीकरण मे शीघ्रता से काम लेना चाहिए।

(6) बैंकों की कार्य प्रणाली मे सुधार —व्यावसायिक बैंको को अपनी कार्य-प्रणाली मे भी आवश्यक सुधार लाने की कोशिश करना चाहिए। इन्हें अपने धन के विनियोग मे अत्यन्त सावधानी से करना चाहिए तथा बैंकिंग के सामान्य सिद्धान्तो का अनुकरण करना चाहिए। इसमे कोई सन्देह नही कि आजकल व्यावसायिक बैंक इस ओर बहुत अधिक सचेष्ट हैं, किन्तु इस क्षेत्र मे अभी और अधिक तत्परता की आवश्यकता होगी। बैंको को उत्पादन-कार्यो के लिए ही ऋण प्रदान करना चाहिए तथा ऋण-सम्बन्धी जमानत के नियमो को अधिक उदार बनाना चाहिए। स्टेट बैंक को भी व्यावसायिक बैंको के प्रति अधिक उदार नीति का अनुसरण करना चाहिए।

(7) रिजर्व बैंक एव स्टेट बैंक की सहयोगपूर्ण नीति —रिजर्व बैंक एव स्टेट बैंक को भी व्यावसायिक बैंकों के प्रति अधिक उदार नीति का अनुसरण करना चाहिए। आर्थिक सकट के समय रिजर्व बैंक को सदा व्यावसायिक बैंको को सहायता देने के लिए तैयार रहना चाहिए। इसी प्रकार स्टेट बैंक को भी इन बैंको के साथ प्रतियोगिता नही करनी चाहिए, वरन प्रतियोगिता के स्थान पर सहयोग की नीति अपनानी चाहिए।

भारत मे व्यावसायिक बैंको का भविष्य (Future of the Commercial Banks in India) —उक्त उपायो द्वारा भारत मे व्यावसायिक बैंको की सारी त्रुटियो को दूर किया जा सकता है। 1949 ई० के बैंकिंग कम्पनीज-अधिनियम के अनुसार रिजर्व बैंक को इन बैंको पर नियन्त्रण के बहुत सारे अधिकार दिये गये हैं। साथ ही, रिजर्व बैंक अधिनियम मे भी इस आशय के बहुत-से सशोधन किये गये हैं। आशा है कि रिजर्व बैंक के नेतृत्व मे देश के व्यावसायिक बैंक उक्त सुझावो के आधार पर अपने को अधिक सगठित बनाने का प्रयास करेंगे।

जून, 1974 मे देश मे कुल 73 अनुसूचित बैंक थे जिनकी कुल शाखाओ की सख्या 16,936 थी। (जून, 1969 मे इनकी केवल 8262 शाखाएँ थी।) जून, 1973 मे उनकी कुल 15,362 शाखाएँ थी। 1950 51 मे इन बैंको की सख्या 93 थी बैंकों के सम्मिश्रण के कारण अनुसूचित बैंको की सख्या मे निरतर कमी हो रही है। जून, 1974 मे इनका कुल जमा 9018 करोड रुपये था जिसमे से राजकीय क्षेत्र के बैंक का जमा 7570 करोड रुपये तथा शेष जमा की रकम 1448 करोड रुपये थी। इस वर्ष उनके पास कुल 541 करोड रुपये नकद जमा थे, यानी कुल जमा नकद जमा का अनुपात (Cash deposit ratio) 6 6 प्रतिशत था। पिछले कुछ वर्षो मे भारतीय बैंको की जमा राशि मे बहुत अधिक वृद्धि हुई है जिसका अन्दाजा निम्नाकित तालिका से लगता है :—

पिछले कुछ वर्षों मे बैंको के जमा मे वृद्धि (करोड रुपये मे)

वर्ष	माँग जमा	सावधि जमा	कुल जमा	नकद जमा का अनुपात
1950-51	592 5	288·1	880·6	10·6
1955-56	630·8	412·4	1043 2	8·1
1960 61	719·7	1026·3	1746 0	6 7
1965-66	1426·9	1623 0	3049 9	6·8
1966-67	1649 1	1775 7	3434 8	6·3
दिसम्बर, 1972	3458 0	4688 0	8146 0	6 6

स्पष्ट है कि पिछले 19 या 20 वर्षों में बैंको के कुल जमा मे नौ-गुना से भी अधिक वृद्धि हुई है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि देश मे बैंकिंग-सम्बन्धी आदतो का धीरे-धीरे विकास हो रहा है।

पहले व्यावसायिक बैंक अपने कुल साधनो का अधिकाश भाग अपने सचालको तथा उनसे सम्बन्धित उद्योगों मे ही लगाते थे। अत इस अव्यवस्था को दूर करने के लिए वर्षों से इनके राष्ट्रीयकरण की मांग की जा रही थी। परिणामस्वरूप, 19 जुलाई, 1969 को भारत सरकार ने एक अध्यादेश द्वारा 50 करोड रुपये से अधिक जमा वाले 14 बड़े-बडे व्यावसायिक बैंको का राष्ट्रीयकरण कर दिया। व्यावसायिक बैंको के राष्ट्रीयकरण की विस्तृत व्याख्या पहले ही की जा चुकी है। राष्ट्रीयकरण के पश्चात् बैंको की कार्यवाही मे आमूल परिवर्तन हुआ है। सर्वप्रथम तो, बैंको ने कृषि, लघु उद्योग तथा फुटकर व्यापारियो को ऋण देना प्रारम्भ कर दिया है। साथ ही, राष्ट्रीयकृत बैंक ग्रामीण क्षेत्रों तथा ऐसे क्षेत्रो मे, जहाँ अभी तक बैंकिंग-सम्बन्धी सुविधाओ का अभाव था, मे अपनी शाखाओ का विस्तार कर रहे हैं।

देश मे बैंकिंग-सम्बन्धी सेवाओ के विस्तार मे राजकीय क्षेत्र के बैंको का योगदान बडा ही महत्वपूर्ण रहा है। राष्ट्रीयकरण के बाद इनकी शाखाओं का, विशेषत. ग्रामीण क्षेत्रों मे बहुत अधिक विस्तार हुआ है। निम्नांकित तालिका से यह स्पष्ट है :—

भारत में व्यावसायिक बैंकों का भौगोलिक वितरण

शाखाओं की संख्या

क्षेत्र	जून, 1969	जून 1972	जून 1974
ग्रामीण	1832	48,14	6175
	(22 4)	(35 3)	(36·15)
अर्द्ध शहरी	3322	4,385	5 094
	(40 1)	(32 2)	(30 1)
शहरी क्षेत्र	1447	2323	2891
	(17 5)	(17·11)	(17 0)
बडे-बडे शहर तथा बन्दरगाह	1,661	2100	2,700
	(90 0)	(15·4)	(16 4)
कुल	8,262	13,622	16,936
	(100 0)	(100 0)	(100 0)

(कोष्ठक के अक कुल के प्रतिशत को दिखलाते हैं)

जून 1969 से जून 1974 के बीच कुल 8,674 नयी शाखाएँ स्थापित की गयी। इनमे 7,146 राजकीय क्षेत्र के बैंको तथा शेष निजी क्षेत्र के बैंको की शाखाएं थी। जून 1974 को कुल शाखाओ मे से 13,741 राजकीय क्षेत्र के बैंको तथा शेष निजी क्षेत्र के बैको की शाखाएं थी। इनमें से स्टेट बैंक उसके सहायको की 4,724 तथा 14 राष्ट्रीयकृत बैंको की 9,017 शाखाएं थी।

लीड बैंक योजना (Lead Bank Scheme) :—नारिमन समिति तथा गॉडगिल अध्ययन दल के सुझावो के आधार पर 1969 के अन्त में रिजर्व बैंक ऑफ इंडिया ने बैंको के विकास को अधिक प्रोत्साहित करने के उद्देश्य से एक 'Lead Bank Scheme' तैयार किया। इस योजना के अन्तर्गत देश के प्रत्येक जिले में बैंकिंग-सम्बन्धी सेवाओ के विकास का कार्य एक

राष्ट्रीयकृत बैंक को सौंपा गया है। प्रत्येक बैंक अपने जिले में बैंकों के विकास की प्रक्रिया को तीव्र बनाने के लिए प्रभावपूर्ण तरीके से कार्य करेगा। बैंकिंग-सम्बन्धी सेवाओं के विकास के साथ-साथ Lead Bank राज्य तथा जिला अधिकारियों से सम्पर्क स्थापित कर उस जिले के आर्थिक विकास के लिए भी कार्य करेगा। इस उद्देश्य से प्रत्येक बैंक द्वारा पहले उसके अन्तर्गत के जिले का विस्तारपूर्वक सर्वेक्षण किया जाता है। जून, 1974 तक देश के कुल 338 जिलों में सर्वेक्षण का कार्य पूरा हो गया था। साथ ही, कुछ जिलों के चुने हुए क्षेत्रों का अधिक गहन रूप से सर्वेक्षण किया गया है जिसके आधार पर इन जिलों के विकास की कई योजनाएं तैयार की जा रही हैं।

विशेष अध्ययन-सूची

1. Reserve Bank of India . Reports on Currency and Exchange
2. Reserve Bank of India . Functions and Working.
3. B R Ambedkar History of the Indian Currency and Banking.
4. Govt. of India : Report of the Banking Commission, 1972
5. Reserve Bank of India Trends and progress of Banking in India 1973 74.

खंड 6

"National Income statistics provide a wide view of the country's entire economy as well as of the various groups in the population who participate as producers and income receivers" *National Income Committee*

राष्ट्रीय आय
(National Income)

कुछ स्मरणीय उद्धरण

1 "The labour and capital of a country, acting upon its natural resources produce annually a certain net aggregate of commodities, material and immaterial, including services of all kinds. And net income on account of foreign investment must be added in it This is the true net annual income or revenue of the country or the national dividend."

·Alfred Marshall.

2. "National dividend is that part of the objective income of the community, including, of course, income derived from abroad, which can be measured in money" *—A C Pigou*

3. "National dividend or income consists solely of services as received by ultimate consumers, whether from their material or from their human environment" *—Irving Fisher.*

अध्याय : 48

राष्ट्रीय आय

(National Income)

राष्ट्रीय आय की परिभाषा (Meaning of National Income) —किसी देश की राष्ट्रीय आय किसी वर्ष विशेष मे वस्तुओ तथा सेवाओ के उत्पादन के कुल योग के बराबर होती है। दूसरे शब्दो मे, राष्ट्रीय अर्थ व्यवस्था में उत्पादन के विभिन्न साधन मिलकर जिन वस्तुओ तथा सेवाओ का उत्पादन करते हैं उनके कुल योग को राष्ट्रीय आय कहा जाता है। इसका कुछ अश उपभोग मे तथा कुछ अश पूंजी के रूप मे पुन उत्पादन के कार्य मे लगाया जाता है। राष्ट्रीय आय[1] पदार्थों एव सेवाओं के प्रचलित मूल्य पर किसी वर्ष मे उपभोग के लिए उत्पन्न वस्तुओ के मूल्य तथा पूंजीगत पदार्थो के लिए दिये गये मूल्यो के आधार पर पूंजो की वृद्धि के योग मे से वर्तमान पूंजीगत पदार्थो की घिसावट एव उनके प्रचलन के लिए अपेक्षित धन राशि को घटाने से प्राप्त होती है। राष्ट्रीय आय में किन-किन वस्तुओ तथा सेवाओ को रखना चाहिए, इस सम्बन्ध में अभी विद्वानो मे एकमत नही हो पाया है।

वास्तव मे, भिन्न भिन्न अर्थशास्त्रियो ने राष्ट्रीय आय की विभिन्न तरीके से परिभाषाएँ दी हैं। इनमे निम्नांकित परिभाषाएँ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं —

(1) मार्शल (Marshall) द्वारा दी गयी परिभाषा,
(2) प्रो० पीगू (Pigou) द्वारा दी गयी परिभाषा, तथा
(3) फिशर (Fisher) द्वारा दी गयी परिभाषा।

अब इनका निम्न विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है —

प्रो० मार्शल के विचार

(Marshall on National Income)

मार्शल के अनुसार "किसी देश की पूंजी एव श्रम का उसके प्राकृतिक साधनों पर प्रयोग करने से प्रतिवर्ष वस्तुओ का एक शुद्ध समूह उत्पन्न होता है जिसमे भौतिक पदार्थ एव सभी प्रकार की सेवाएँ सम्मिलित रहती हैं। इस सम्पूर्ण विशुद्ध उत्पत्ति को देश की वास्तविक वार्षिक आय या वार्षिक राजस्व या राष्ट्रीय आय कहते हैं।" (The labour and capital of the country acting on the natural resources produce annually a certain net aggrregate of commodities—material and immaterial including services of all kinds This is the true net annual income or revenue of the country, or the national dividend)

मार्शल के अनुसार राष्ट्रीय आय की गणना वार्षिक आधार पर की जाती है। इनके अनुसार देश के सभी व्यवसायो की शुद्ध आय का कुल योग राष्ट्रीय आय अथवा लाभांश होता है। तात्पर्य यह है कि कुल उत्पत्ति (Gross Product) मे से अचल पूंजी की घिसावट तथा चल पूंजी

---

1 'The national income for any period consists of the money value of goods and services which become available for consumption during that period reckoned at current selling value plus additions to capital reckoned at the prices actually paid for the new capital goods and adding the net accretion of, or deducting the net drawings upon stock, also reckoned at current prices services provided at non profit making basis by state and local authorities are included on the basis of charges made . Where taxation is levied on particular commodities and services, such as the custom and excise duties on commodities or the entertainment tax, taxes are not included in the selling value"

Colin Clark—National Income, pp 1—2

का प्रतिस्थापन व्यय आदि निकालने के बाद जो शेष बचता है, वही राष्ट्रीय आय है। मार्शल की परिभाषा के अनुसार राष्ट्रीय आय के अन्तर्गत वस्तुओं के साथ साथ सेवाओं की गणना भी की जाती है। इसी प्रकार यदि देशवासियों की कुछ पूंजी विदेशों में विनियोजित है तो इस पर प्राप्त ब्याज की रकम को भी राष्ट्रीय आय में सम्मिलित किया जाता है। इसी समस्त शुद्ध आय अथवा राष्ट्रीय आय में से उत्पादन के साधनों को उनका हिस्सा मिलता है। राष्ट्रीय आय बढ़ने पर हिस्सा बढ़ जाता है तथा घटने पर घट जाता है।

प्रो० मार्शल के विचारों की आलोचना (Criticisms of the ideas of Prof. Marshall) :—सैद्धान्तिक दृष्टि से राजकीय आय के सम्बन्ध में मार्शल के विचार सही अवश्य जान पड़ते हैं, किन्तु व्यावहारिक जीवन में कई कारणों से इनकी उपयोगिता बहुत कम हो जाती है। सर्वप्रथम तो, देश में उत्पन्न विभिन्न प्रकार की वस्तुओं एवं सेवाओं की शुद्ध उत्पत्ति को मापना अत्यन्त कठिन ही नहीं, अपितु असम्भव भी है। इसका कारण यह है कि समाज में केवल असंख्य वस्तुओं तथा सेवाओं का ही उत्पादन नहीं होता, वरन् प्रत्येक वस्तु तथा सेवा के अगणित प्रकार भी होते हैं। समाजवादी आर्थिक व्यवस्था के अन्तर्गत, जहाँ उत्पादन के साधनों एवं उनकी व्यवस्था पर राज्य का पूरा-पूरा नियन्त्रण रहता है, इसे पता लगाना कुछ सुविधाजनक अवश्य है, किन्तु प्रजातान्त्रिक व्यवस्थावाले देशों में इसे पता लगाना बिल्कुल ही असम्भव है। द्वितीयतः, शुद्ध उत्पत्ति की मात्रा को यदि किसी प्रकार जोड़ा भी जाय तो दुहराव (Double Counting) की सम्भावना सदा बनी रहती है और अन्त में, मार्शल के अनुसार किसी देश की राष्ट्रीय आय वस्तुओं एवं सेवाओं के रूप में व्यक्त की जाती है। इससे भी व्यावहारिक दृष्टि से इनकी उपयोगिता कम हो जाती है। उदाहरण के लिए, यदि हम कहें कि हमारे देश की राष्ट्रीय आय 75 लाख क्विंटल गेहूँ, 50 लाख क्विंटल चावल, 10,000 घड़ियाँ, 2 लाख जूते, 2,500 गैलन शराब इत्यादि है, तब इस प्रकार की सैकड़ों वस्तुओं एवं सेवाओं के रूप में राष्ट्रीय आय को व्यक्त करने से इसका व्यावहारिक दृष्टि से कोई उपयोग नहीं रह जाता; क्योंकि इससे वितरण की समस्याओं का अध्ययन ठीक प्रकार से नहीं हो सकेगा। द्रव्य के रूप में राष्ट्रीय आय की गणना करने पर ही इसका अन्तर्राष्ट्रीय तुलना के लिए उपयोग हो सकता है। यह स्वाभाविक ही है कि द्रव्य के रूप में राष्ट्रीय आय को मापने के लिए हम केवल उन वस्तुओं एवं सेवाओं पर ध्यान देंगे जिनका मूल्यांकन हो सकता है। इन्हीं कारणों से पीगू (Pigou) ने मार्शल के विचारों में सुधार करने का प्रयत्न किया है।

प्रो० पीगू के विचार

(Pigou on National Income)

प्रो० पीगू[1] के अनुसार, **"राष्ट्रीय आय किसी देश की वस्तुनिष्ठ अथवा भौतिक आय (Objective income) का वह भाग है जिसमें विदेशों से प्राप्त आय भी सम्मिलित रहती है, जो मुद्रा के रूप में मापी जा सके।"** (National dividend is that part of the objective income of the community including, of course, income derived from abroad, which can be measured in money.)

इस प्रकार पीगू के अनुसार राष्ट्रीय आय में केवल उन्हीं वस्तुओं एवं सेवाओं को सम्मिलित किया जाता है जिन्हें मुद्रा के द्वारा मापा जा सके, यानी जिनका विनिमय किया जा सके। दूसरी ओर, जिन वस्तुओं तथा सेवाओं को मुद्रा के द्वारा नहीं मापा जा सकता है उन्हें राष्ट्रीय आय के अन्तर्गत नहीं रखा जाता है। अतः पीगू के अनुसार मनुष्य की वे सेवाएँ जो वह स्वयं अपने लिए करता है, या अपने परिवार के लिए निःशुल्क करता है अथवा अपनी निजी वस्तु जैसे कुर्सी, टेबुल इत्यादि या सार्वजनिक सम्पत्ति,—जैसे-नदी-नाले, पुल इत्यादि से प्राप्त लाभ को राष्ट्रीय आय में नहीं गिना जाता। कारण यह है कि इन सेवाओं का मुद्रा द्वारा विनिमय नहीं होता है। पीगू ने इस सम्बन्ध में एक उदाहरण दिया है—एक व्यक्ति एक नौकरानी को घर का काम-काज करने के लिए वेतन पर रखता है। नौकरानी का यह वेतन राष्ट्रीय आय का एक अंश है, किन्तु जब वह व्यक्ति

1: Pigou : Economics of Welfare, p. 31

उसी नौकरानी से शादी कर लेगा तो राष्ट्रीय आय में कमी आ जायगी क्योंकि तब उस व्यक्ति को नौकरानी की सेवाओं के लिए कोई वेतन नहीं चुकाना पड़ेगा।

प्रो० पीगू की परिभाषा की सर्वाधिक प्रमुख विशेषता द्रव्य के मापदण्ड का उपयोग है। द्रव्य के माप दण्ड के उपयोग के द्वारा पीगू ने राष्ट्रीय आय के विचारों को अधिक निश्चित, व्यावहारिक एव उपयुक्त बना दिया है। इस प्रकार मार्शल की परिभाषा में जो प्रधान दोष था उसे पीगू ने दूर करने का प्रयास किया है। किन्तु, प्रश्न यह है कि क्या केवल उन्हीं वस्तुओं तथा सेवाओं जिनका मुद्रा के द्वारा क्रय विक्रय होता है, को सम्मिलित करने से वास्तविक राष्ट्रीय आय का पता लगाया जा सकता है। वस्तुत, बहुत ही कम परिस्थितियों में, जहाँ देश के समस्त उत्पादन का विनिमय होता है, के अतिरिक्त पीगू द्वारा प्रस्तावित राष्ट्रीय आय तथा वास्तविक राष्ट्रीय आय में अन्तर होगा।

प्रो० पीगू के विचारों की आलोचना (Criticisms of the views of the Prof Pigou) —इस प्रकार यद्यपि प्रो० पीगू द्वारा दी गयी परिभाषा में व्यावहारिकता की मात्रा बहुत अधिक पायी जाती है, फिर भी कई कारणों से इनकी आलोचना भी की जाती है। सर्वप्रथम तो पीगू ने वस्तुओं के बीच एक प्रकार का कृत्रिम अन्तर किया है—जिन वस्तुओं का मुद्रा के द्वारा विनिमय होता है, तथा जिनका इस प्रकार विनिमय नहीं होता है। यह यथार्थत अव्यावहारिक है क्योंकि इस प्रकार की वस्तुओं में वस्तुत कोई अन्तर नहीं जान पड़ता। द्वितीयत, यदि पीगू की परिभाषा के आधार पर राष्ट्रीय आय की गणना भी की जाय तो राष्ट्रीय आय के अन्तर्गत केवल उन्हीं वस्तुओं और सेवाओं को सम्मिलित किया जायगा जिनका मुद्रा के द्वारा विनिमय होता है। इससे ऐसा हो सकता है कि कभी कभी राष्ट्रीय आय घटता हुइ प्रतीत होती हो जबकि वास्तव में राष्ट्रीय आय में वृद्धि हो रही हो अथवा कम से कम कमी नहीं हो रही हो। उदाहरण के लिए, पीगू के ही अनुसार औरतों की सेवाओं की गणना राष्ट्रीय आय में तभी की जाती है जब उन्हें उनके लिए मुद्रा के रूप में पारिश्रमिक मिलता है। अतएव यदि कोई व्यक्ति अपनी नौकरानी से शादी कर लेता है तो शादी के बाद उसकी सेवा की गणना राष्ट्रीय आय में नहीं की जा सकती। किन्तु, क्या इससे राष्ट्रीय आय में वस्तुत कोई कमी हुई है ? हो सकता है कि शादी के बाद वह औरत अधिक प्रभावपूर्ण तरीके से सेवा करती हो। अतएव वस्तुनिष्ठ सेवाओं में किसी प्रकार की कमी आये बगैर राष्ट्रीय आय में इस प्रकार की कमी से निश्चय ही एक प्रकार का विरोधाभास जान पड़ता है। पीगू के विरुद्ध अन्तिम आलोचना यह दी जाती है कि इनकी परिभाषा के अनुसार जिन देशों में अभी वस्तु विनिमय प्रणाली का प्रचलन है, उनकी राष्ट्रीय आय प्राय नगण्य है। ऐसे देशों की राष्ट्रीय आय की गणना में इस परिभाषा से कोई सहायता नहीं मिलती, क्योंकि पीगू के अनुसार राष्ट्रीय आय में केवल उन्हीं वस्तुओं तथा सेवाओं की गणना की जाती है जिनका मुद्रा के द्वारा विनिमय होता हो।

प्रो० फिशर के विचार

(Fisher on National Income)

फिशर द्वारा दी गयी परिभाषा (Fisher's Definition of National Income)—प्रो० फिशर के अनुसार 'वास्तविक राष्ट्रीय आय एक वर्ष के अन्तर्गत उत्पादित वास्तविक तथा शुद्ध सम्पत्ति का वह अंश है जिसका उस वर्ष में प्रत्यक्ष रूप से उपयोग किया जाता है।" (The true national income is that part of the annual net produce which is directly consumed during that year) फिशर की परिभाषा अधिक तार्किक मालूम पड़ती है, क्योंकि उन्होंने उत्पादन की जगह उपभोग को राष्ट्रीय आय का मापदण्ड माना है। फिशर के शब्दों में, "राष्ट्रीय आय में केवल वे वस्तुएँ तथा सेवाएँ सम्मिलित की जाती हैं जो कि अन्तिम रूप से उपभोक्ताओं को प्राप्त होती हैं, चाहे ये सेवाएँ उन्हें भौतिक अथवा मानव के वातावरण से ही क्यों न प्राप्त हो। इस प्रकार पियानो (Piano) अथवा एक बड़ा कोट जो मेरे लिए तैयार किया गया है, इस वर्ष की आय का हिस्सा नहीं है, वरन् यह केवल पूँजी में वृद्धि है।"[1] अतएव फिशर

---

1 "National Dividend or income consists solely of services as received by ultimate consumers, whether from their material or from their human envi

के अनुसार राष्ट्रीय आय सम्पूर्ण उत्पादन की मात्रा नही, वरन् यह एक वर्ष के वास्तविक उत्पादन का यह अश है जो उस वर्ष मे वास्तव मे उपभोग किया जाता है।

प्रो० फिशर के विचारो की आलोचना (Criticisms of the ideas of Prof Fisher) —प्रो० फिशर द्वारा दी गयी परिभाषा अधिक तर्कयुक्त होते हुए भी विभिन्न दोषो से परिपूर्ण है। इस परिभाषा के आधार पर राष्ट्रीय आय की गणना बहुत ही कठिन हो जाती है क्योंकि इस बात का पता तो सुगमता से लगाया जा सकता है कि किसी एक वर्ष मे कितनी वस्तुओ एव सेवाओ की उत्पत्ति हुई, किन्तु वर्ष भर मे उपभोग मे आने वाली वस्तुओ तथा सेवाओ की सूची तैयार करना निश्चय ही बहुत कठिन कार्य है क्योंकि किसी एक व्यक्ति द्वारा उत्पन्न सामान का सैकडो अथवा हजारो व्यक्तियो द्वारा उपभोग किया जाता है। उदाहरण के लिए, किसी एक किसान द्वारा उत्पन्न १०० क्वि० गेहूँ किसी एक व्यक्ति के प्रयोग मे नही आता, वरन् कई व्यक्तियो द्वारा प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार उपभोग की गणना का कार्य उत्पादन की गणना की अपेक्षा कई गुना कठिन है।

इस प्रकार राष्ट्रीय आय की विभिन्न परिभाषाएँ[1] दी गयी हैं। इनमे से मार्शल, पीगू तथा फिशर द्वारा दी गयी उपर्युक्त परिभाषाएँ ही विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। किन्तु इन तीनो परिभाषाओ मे से कौन सी परिभाषा अधिक अच्छी है इसका उत्तर केवल उस उद्देश्य की पृष्ठभूमि मे ही दिया जा सकता है जिस उद्देश्य से राष्ट्रीय आय या लाभाश शब्द का प्रयोग किया जाता है।

राष्ट्रीय आय के अध्ययन का महत्त्व

(Importance of the Study of National Income)

किसी देश की राष्ट्रीय आय का अध्ययन कई कारणो से महत्त्वपूर्ण है। इससे देश की आर्थिक स्थिति का अन्दाजा लगता है। भारत की राष्ट्रीय आय समिति (National Income Committee) का इस सम्बन्ध मे निम्नांकित कथन विशेष रूप से उल्लेखनीय है "National income statistics provide a wide view of the country's entire economy as well as of the various groups in the population who participate as producers and income receivers and that if available over a substantial period, they reveal clearly the basic changes in the country's economy in the past and suggest, if not fully reveal, the trend for the future" वास्तव मे, राष्ट्रीय आय का अध्ययन निम्नलिखित कारणो से अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है —

(1) सर्वप्रथम तो हमे राष्ट्रीय आय के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि देश के प्राकृतिक साधनो का कहाँ तक उपयोग हो पाया है। साथ ही, इससे यह भी पता चलता है कि कृषि, उद्योग तथा वाणिज्य व्यापार आदि का कितना विकास हुआ है। इससे यह भी जान पडता है कि राष्ट्रीय आय कितना उत्पन्न होती है और इसका विभाजन किस प्रकार होता है। विशेष रूप से हमको यह ज्ञात होना चाहिए कि किसी देश की राष्ट्रीय आय का कितना भाग उपभोग के काम मे आता है और

---

ronments Thus, a piano or an overcoat for me this year is not a part of this year's income but an addition to capital Only the services rendered to me during this year by these things are income" —*Fisher*

1 राष्ट्रीय आय की कुछ अन्य परिभाषाएँ भी दी गयी है। उदाहरण के लिए भारत की National Income Committee के अनुसार "A national income estimate measures the volume of commodities and services turned out during a given period, counted without duplication"

पुन इसी कमिटी के अनुसार "National Income estimates or accounts are measures of the total net product of a country's economy with contribution among significant operating sectors and the several economic functions all gauged on a consistent basis permitting quantitative measurement These measures tell us how much the various sectors have produced, distributed and consumed and they tell it for the economy as a whole without omission and without duplication"

कितना बचाया जाता है और विनियोग की मात्रा बचत के बराबर है या नहीं ।

(2) सरकार को बजट बनाने और करारोपण के समय भी राष्ट्रीय आय का ज्ञान आवश्यक होता है। आजकल बजट का उद्देश्य देश को मुद्रा स्फीति और बेरोजगारी से बचाकर आर्थिक और सामाजिक उन्नति की ओर अग्रसर करना होता है। राष्ट्रीय आय के अध्ययन से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि मुद्रास्फीति से बचने के लिए कितनी बचत करनी होगी या कितना करारोपण करना होगा तथा बेरोजगारी से बचने के लिए राज्य को कितना विनियोग करना होगा । जिन देशों में आर्थिक विकास के लिए आर्थिक नियोजन की नीति अपनायी जाती है उनमें राष्ट्रीय आय के अध्ययन का महत्व विशेष होता है । आर्थिक विकास के लिए राष्ट्रीय आय का उत्तरोत्तर अधिक भाग बचाकर विनियोग करना आवश्यक होता है और इसके लिए उपयुक्त मौद्रिक नीति तथा कीमत और मजदूरी-सम्बन्धी नीतियाँ अपनानी पड़ती हैं ।

(3) दो या दो से अधिक देशों के बीच किसी सामान्य भार के न्यायोचित विभाजन में भी राष्ट्रीय आय के आँकड़ों की सहायता ली जाती है ।

राष्ट्रीय आय एवं आर्थिक प्रगति

(National Income and Economic Progress)

साधारणत, राष्ट्रीय आय या प्रति व्यक्ति आय (राष्ट्रीय आय÷जनसंख्या) को देश की आर्थिक प्रगति का द्योतक माना जाता है । निःसन्देह यदि राष्ट्रीय आय जनसंख्या की तुलना में अधिक तेजी से बढ़ती है तो प्रति व्यक्ति आय बढ़ जाती है और साधारणत प्रति व्यक्ति आय बढ़ने का अर्थ होता है कि देश की आर्थिक क्षमता, उत्पादन तथा उपभोग की सम्भावनाओं में वृद्धि हो रही है । परन्तु निम्नांकित कारणों से प्रति व्यक्ति आय सदा देश के सुख एवं समृद्धि को ठीक-ठीक प्रकट नहीं करती —

(1) मौद्रिक आय बढ़ जाने से भी यदि मुद्रा की क्रय शक्ति घट जाती है तो वास्तविक उपभोग तथा सन्तुष्टि नहीं बढ़ती ।

(2) मौद्रिक मूल्य सदा वस्तुओं की सामाजिक उपयोगिता को प्रकट नहीं करता । प्रति व्यक्ति मौद्रिक आय बढ़ने का तात्पर्य है कि पहले की तुलना में प्रति व्यक्ति उत्पादन का मूल्य अधिक है । परन्तु इससे यह प्रकट नहीं होता कि किसी प्रकार की वस्तुओं का उत्पादन बढ़ा है । युद्ध के दिनों में अस्त्र शस्त्र के उत्पादन के बढ़ने से राष्ट्रीय आय और प्रति व्यक्ति आय बढ़ जाती है परन्तु इससे राष्ट्र का जीवन स्तर नहीं बढ़ने पाता । इसी प्रकार शांति-काल में भी यदि शराब आदि नशीली वस्तुओं का उत्पादन बढ़ जाता है तो इससे वास्तविक जीवन स्तर नहीं बढ़ता ।

(3) राष्ट्रीय आय के आँकड़ों से यह प्रकट नहीं होता कि इसे प्राप्त करने के लिए नागरिकों को कितना श्रम करना पड़ता है । आराम (Leisure) कम कर कठिन परिश्रम द्वारा राष्ट्रीय आय बढ़ायी जा सकती है परन्तु इससे वास्तविक सुख का स्तर नहीं बढ़ता ।

(4) इसी प्रकार बगैर सोचे समझे देश के प्राकृतिक साधनों का उपयोग करके अल्प-काल में राष्ट्रीय आय बढ़ायी जा सकती है । परन्तु यह दीर्घकालीन दृष्टि से अच्छा नहीं माना जा सकता ।

(5) राष्ट्रीय आय उत्पादन का मूल्य बतलाती है, उपभोग की मात्रा नहीं बतलाती । परन्तु जीवन स्तर को उन्नत बनाने के लिए उपभोग में वृद्धि आवश्यक है । यदि बढ़ी हुई राष्ट्रीय आय को बचाकर विनियोग में लगाया जाता है तो इससे भावी आय बढ़ती है, परन्तु वर्तमान उपभोग एवं जीवन स्तर नहीं बढ़ता । फिर 'उपभोग' के सम्बन्ध में जो आँकड़े एकत्र किये जाते हैं वे उपभोक्ता वस्तुओं और सेवाओं पर किये जाने वाले खर्च को बतलाते हैं, उपभोक्ताओं द्वारा उनसे प्राप्त होने वाली सन्तुष्टि को नहीं बतलाते ।

(6) और, अन्तत प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि से केवल यह मालूम होता है कि औसत आय बढ़ी है । परन्तु यदि औसत आय बढ़ने के साथ ही साथ आय के वितरण की विषमता भी बढ़ जाती है तो जनसाधारण का जीवन स्तर बढ़ने की जगह घट सकता है । अतएव राष्ट्रीय आय या प्रति-व्यक्ति आय को देखकर आर्थिक कल्याण के सम्बन्ध में कोई निष्कर्ष निकालने में बड़ी सावधानी से कार्य लेना चाहिए ।

भारत की राष्ट्रीय आय के सम्बन्ध में अनुमान
(Estimates of India's National Income)

भारत की राष्ट्रीय आय के सम्बन्ध मे समय-समय पर विभिन्न व्यक्तियो द्वारा भिन्न-भिन्न अनुमान लगाये गये है। इस सम्बन्ध मे सर्वप्रथम दादा भाई नौरोजी ने 1868 ई० में देश की प्रति-व्यक्ति आय का अनुमान 20 रु० लगाया था। तब से लेकर आज तक इस सम्बन्ध में विभिन्न व्यक्तियों तथा समितियों द्वारा भिन्न-भिन्न अनुमान लगाये गये हैं जिनका अन्दाजा निम्नांकित तालिका से लगाया जा सकता है :—

क्रम-संख्या	लेखक	अनुमान के वर्ष	प्रति व्यक्ति आय का अनुमान (रुपये में)
1.	दादा भाई नौरोजी	1868	20
2.	लार्ड क्रोमर एव बार्बर	1880	27
3.	एम० जे० एटकिन्सन	1895	39 5
4.	लार्ड कर्जन	1900	30 0
5.	विपलिम डिगबो	1901	18·5
6.	वकील एव मुरजन	1910-11	58·5
7.	वाडिया और जोशी	1913-14	44 34
8.	शाह और खबाटा	1921	74
9	फिन्डले शिराज	1922	116
10.	साइमन आयोग	1929	111
11.	डा० वी० के० आर० वी० राव	1925-26	76
12.	डा० वी० के० आर० वी० राव	1931-32	65
13.	इस्टर्न इकोनोमिस्ट	1940-41	70
14	राष्ट्रीय आय समिति[1] (National Income Committee)	1948-49	246·9
		1949-50	256 0
		1950-51	265·5
		1951-52	274·2
		1952-53	266 4
		1953-54	278 1
		1955-56	281 0
		1960-61	325·7

उपरोक्त आंकडो के अध्ययन से देश की राष्ट्रीय आय का अन्दाजा लगाया जा सकता है, किन्तु इन अनुमानों में विभिन्नता पायी जाती है। अगस्त, 1949 ई० में भारत सरकार ने राष्ट्रीय आय एवं तत्सम्बन्धित विषयो पर विचार करने के उद्देश्य प्रो० पी० सी० महालनोबिस की अध्यक्षता मे एक राष्ट्रीय आय समिति (National Income Committee) की नियुक्ति की थी। इस समिति के अनुमान बहुत अधिक निकट जान पडते हैं। समिति ने देश में राष्ट्रीय आय-सम्बन्धी आंकडो को एकत्र करने की प्रणाली के दोषो पर विचार किया तथा इनमे आवश्यक सुधार लाने की सिफारिश की।

1- अगस्त, 1949 ई० में भारत सरकार ने प्रो० पी० सी० महालनोबिस की अध्यक्षता में एक राष्ट्रीय आय समिति की नियुक्ति की थी जिसका उद्देश्य देश की राष्ट्रीय आय के सम्बन्ध में अनुमान लगाना था। समिति ने अपनी पहली रिपोर्ट 1951 ई० में तथा अन्तिम रिपोर्ट 1954 ई० में प्रकाशित की।

किन्तु, आज भी हमारे देश में राष्ट्रीय आय सम्बन्धी अनुमान सरकारी आँकडों पर ही आधारित हैं। केन्द्र तथा राज्य सरकारों से प्राप्त आँकडे ही इसके लिए प्रयोग किये जाते हैं। किन्तु इन आँकडों की अनेक सीमाएँ हैं। कृषि एवं तत्सम्बन्धी उद्योगों के आँकडे तो बिल्कुल अपूर्ण होते हैं। कृषि का हमारे देश की आर्थिक व्यवस्था में महत्त्वपूर्ण स्थान है, फिर भी इसके सम्बन्ध में सही आँकडे उपलब्ध नहीं हैं। हमारे देश में इन आँकडों को एकत्र करने की प्रणाली आज भी पूर्णतया दोषपूर्ण है। कारखाना संस्थानों के अन्तर्गत भी छोटे-छोटे कारखानों के सम्बन्ध में सन्तोषजनक आँकडे उपलब्ध नहीं हैं। किन्तु इन छोटे-छोटे कारखानों का हमारी आर्थिक व्यवस्था में बड़ा ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। सरकारी कार्यों एवं अन्य सेवाओं के सम्बन्ध में भी आर्थिक वर्गीकरण करना कठिन हो जाता है। इन सब कठिनाइयों के साथ-साथ राष्ट्रीय आय के अनुमान से सम्बन्धित एक महत्त्वपूर्ण कठिनाई देश की जनता की निरक्षता एवं हिसाब नहीं रखने की आदत भी है। साथ ही, हमारे देश में आज भी वस्तु-विनिमय प्रणाली, विशेषत ग्रामीण क्षेत्रों में बडे पैमाने पर प्रचलित है। इससे भी इस क्षेत्र में कठिनाई उपस्थित हो जाती है।

इस प्रकार देश में राष्ट्रीय आय के आँकडे एकत्र करने की प्रणाली बडी ही दोषपूर्ण है। राष्ट्रीय आय समिति के अनुसार भी सरकारी गणनाओं में 10 प्रतिशत तक अशुद्धि की सम्भावना रहती है। किन्तु उपरोक्त तथ्यों के विवेचन से यह कहा जा सकता है कि सरकारी गणनाओं में विशेषत कृषि एवं छोटे-छोटे उद्योगों से सम्बन्धित अनुमानों में 10 प्रतिशत से भी अधिक अशुद्धि की सम्भावना है। राष्ट्रीय आय समिति ने आँकडे एकत्र करने की प्रणाली में सुधार के लिए बहुत-से उपाय प्रस्तावित किया जिन्हें सरकार आजकल अमल में लाने का प्रयास कर रही है। आँकडों के निरन्तर एवं विधिवत संग्रह के लिए सरकार द्वारा 1950 ई० में एक राष्ट्रीय न्यादर्श सर्वेक्षण (National Sample Survey) की स्थापना की गयी जिससे इस कार्य में बहुत अधिक सुविधा की आशा की जाती है।

विभिन्न उद्योगों एवं सेवाओं से प्राप्त आय

(National Income by Industrial Origin)

किसी देश की राष्ट्रीय आय विभिन्न साधनों के सहयोग का परिणाम है। भारत में विभिन्न औद्योगिक स्रोतों द्वारा प्राप्त आय का अन्दाजा निम्नांकित तालिका[1] से लगाया जा सकता है :—

विभिन्न उद्योगों एवं सेवाओं से प्राप्त आय (करोड़ रुपये में) प्रचलित मूल्य पर

उद्योग	1960-61	1965-66	1967-68	1968-69
कृषि	6,570	9,523	14,665	13,916
वन-उद्योग	174	298	417	449
मत्स्य उद्योग	77	124	153	166
कुल	6,821	9 945	15,235	14,531
खनिज	144	234	291	318
कारखाना संस्थान	1,071	1,839	2,067	2,243
लघु संस्थान	785	1,225	1,458	1,560
निर्माण (Construction)	620	942	1,098	1,169
विद्युत्, गैस तथा जल-आपूर्ति	68	144	202	245
कुल	[illegible],688	4 384	5 116	5,535

1 India-1974

रेलवे	252	426	413	469
अन्य यातायात	254	475	592	679
संचार	63	132	143	175
व्यापार, संचय तथा होटल इत्यादि	1301	2,659	3,129	3,122
कुल	1,870	3 692	4,277	4,445
बैंकिंग एवं बीमा	158	364	385	432
वास्तविक संपत्ति तथा निवासस्थान	386	615	638	671
सार्वजनिक सेवाएँ	538	1,099	1,249	1,357
अन्य सेवाएँ	905	1,538	1,715	1,860
कुल	1,987	3,616	3,987	4,330
कुल राष्ट्रीय आय	13,366	23,872	28 615	28,841

इस प्रकार उपरोक्त तालिका से पिछले कुछ वर्षो मे देश की राष्ट्रीय आय का अन्दाजा लगता है। निम्नांकित तालिका[1] से राष्ट्रीय आय मे विभिन्न साधनो के सहयोग का तुलनात्मक तरीके से अन्दाजा लगाया जा सकता है —

राष्ट्रीय आय मे विभिन्न साधनो का हिस्सा (प्रतिशत) प्रचलित मूल्यो पर

उद्योग	1948 49	1950 51	1955 56	1960 61	1965 66	1967 68	1969 70
1 कृषि एवं तत्सम्बन्धी उद्योग	49 1	49 0	47 9	51 0	47 8	52 0	49 7
2 खनिज, निर्माण एवं लघु संस्थान	17 1	16 7	16 8	20 1	21 1	18 3	19 9
3 वाणिज्य एवं यातायात	18 5	18 3	18 8	14 0	15 2	14 7	15 3
4 अन्य सेवाएँ	15 3	15 5	16 5	14 9	15 9	15 0	15 1
कुल	100 0	100 0	100 0	100 0	100 0	100 0	100

1 India Pocket Book of Economic Information, 1972 ।

उपरोक्त तालिका से स्पष्ट है कि देश की कुल राष्ट्रीय आय का एक बड़ा भाग कृषि से ही प्राप्त होता है। 1960-61 मे कृषि से देश की कुल आय का प्रायः 51 प्रतिशत भाग प्राप्त हुआ था। परन्तु 1965-66 तथा 1966-67 मे खराब फसल के कारण कृषि से प्राप्त आय में अत्यधिक कमी हो गयी। परन्तु पुन: 1967-68 मे कृषि से प्राप्त आय मे वृद्धि हुई। पिछले कुछ वर्षों से खनिज, निर्माण एवं लघु उद्योगों से प्राप्त आय मे निरन्तर वृद्धि हो रही है जबकि वाणिज्य, बैंकिंग, यातायात तथा अन्य संस्थानो के प्रतिशत प्रायः समान हैं।

डा० राव ने 1931-32 ई० एवं 1950-51 मे देश की राष्ट्रीय आय की तुलना की है। इनके अनुसार इन दोनो वर्षों मे प्रति व्यक्ति वास्तविक आय मे प्राय कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। साराश यह है कि भारतीय अर्थ-व्यवस्था दो दशाब्दियों के बीच पूर्णत स्थायी रही है। इसके विस्तृत विवेचन से स्पष्ट है कि इस अवधि के बीच मे देश के औद्योगीकरण एवं कृषि मे विकास के लिए किए गये प्रयत्नो से वास्तविक आय मे प्रायः कोई वृद्धि नही हुई।

विश्व के अन्य देशों से तुलना (Comparison with other countries of the World).—भारत की प्रति-व्यक्ति औसत आय विश्व के प्राय सभी सुसभ्य देशों से कम है। इससे हमारी निर्धनता का अन्दाजा लगता है। भारत की निर्धनता आज विश्व-विख्यात है। यहाँ सर्वत्र भुखमरी एवं दरिद्रता का विस्तृत साम्राज्य है। हमारा प्रति व्यक्ति औसत आय विश्व के प्राय. सभी सुसभ्य देशो से कम है जो निम्नांकित तालिका[1] से स्पष्ट है :—

देश	प्रति-व्यक्ति औसत आय (1970 ई० मे) (यू० एस० डॉलर में)
ब्रिटेन	1993
सयुक्त राज्य अमेरिका	4274
कैनाडा	3214
जापान	1658
लंका	150
भारत	88

इस प्रकार भारत की प्रति-व्यक्ति औसत आय की तुलना मे संयुक्त राज्य अमेरिका, ग्रेट-ब्रिटेन तथा कैनाडा की प्रति-व्यक्ति औसत आय क्रमश 45 गुना, 16 गुना तथा 35 गुना अधिक है। इससे हमारी राष्ट्रीय आय की अपर्याप्तता का अन्दाजा लगाया जा सकता है।

राष्ट्रीय आय समिति
(National Income Committee)

अगस्त, 1949 ई० मे राष्ट्रीय आय एवं तत्सम्बन्धित विषयो पर विचार करने के उद्देश्य से भारत सरकार ने प्रो० पी० सी० महालनोबिस की अध्यक्षता मे एक राष्ट्रीय आय समिति *(National Income Committee) की नियुक्ति की थी। राष्ट्रीय आय समिति ने देश की* राष्ट्रीय आय का अनुमान 1948-49 एवं 1950 51 ई० के लिए लगाया था। समिति की पहली रिपोर्ट 1951 मे तथा अन्तिम रिपोर्ट 1954 मे प्रकाशित हुई।

समिति के अनुसार 1948-49 ई० मे भारत की कुल राष्ट्रीय आय 8650 करोड़ रुपये तथा प्रति-व्यक्ति औसत आय 246 9 करोड रुपये थी। इसी को डॉलर के रूप मे परिवर्तित करने पर 58 7 डॉलर के लगभग होता है। इसकी तुलना यदि हम उस वर्ष मे सयुक्त राज्य अमेरिका की प्रति-व्यक्ति आय 2303 डॉलर तथा कैनाडा की 1408 डॉलर से करते हैं तो हमारी भीषण निर्धनता स्पष्ट हो जाती है। भारत में प्रति व्यक्ति आय के कम होने का प्रधान कारण अधिकाश देशवासियों की घोर निर्धनता है। समिति के अनुसार देश की राष्ट्रीय आय मे विभिन्न साधनो के हिस्से के अध्ययन से देश की असतुलित अर्थ व्यवस्था का अन्दाजा लगता है। भारत मे 1969-70 ई० में राष्ट्रीय आय का प्रायः 49 7 प्रतिशत भाग केवल कृषि (पशु-पालन सहित) से प्राप्त हुआ

1. India Pocket Book of Economic Information, 1972.

था, वाणिज्य, यातायात एवं संवादवाहन से 15 3 प्रतिशत तथा निर्माण उद्योगों, हस्तकला एवं खनिज से केवल 19 9 प्रतिशत आय प्राप्त हुई थी। इसके विपरीत इंगलैंड में 1961 ई० में उद्योग धन्धों से कुल राष्ट्रीय आय का 45 प्रतिशत भाग तथा कृषि से केवल 4 प्रतिशत भाग प्राप्त हुआ था। इससे भारत की असंतुलित आर्थिक व्यवस्था का अन्दाजा लगता है। राष्ट्रीय आय समिति की पहली रिपोर्ट के अनुसार भारत में कुल राष्ट्रीय आय का प्राय आधा भाग खाद्यान्न पर व्यय किया जाता है। राष्ट्रीय न्यादर्श सर्वेक्षण 1955 (National Sample Survey, 1955) के अनुसार भी ग्रामीण क्षेत्रों में कुल आय का दो तिहाई भाग खाद्यान्न तथा एक तिहाई भाग वस्त्र पर व्यय किया जाता है। इस प्रकार हमारे देश में भोजन एवं वस्त्र व्यय की दो प्रधान मदें हैं जिनपर राष्ट्रीय आय का अधिकांश भाग व्यय किया जाता है। इनसे पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत अत्यधिक मात्रा में घाटे की वित्त व्यवस्था का परिणाम भी स्पष्ट हो जाता है कि घाटे की वित्त-व्यवस्था के परिणामस्वरूप जो अतिरिक्त आय का सृजन होगा उससे भोजन एवं वस्त्र की माँग बढ़ेगी। अतएव भारत जैसे अविकसित देश में मुद्रा स्फीति के दबाव को रोकने के लिए खाद्यान्न एवं वस्त्र की पूर्ति का पर्याप्त मात्रा में लोचपूर्ण होना अति आवश्यक है।

राष्ट्रीय आय समिति के मुख्य विचार —भारत की राष्ट्रीय आय के सम्बन्ध में राष्ट्रीय आय समिति के निम्नांकित प्रमुख विचार हैं—

(1) समिति के अनुसार भारत की राष्ट्रीय आय चालू कीमतों के अनुसार 1948-49 ई० में 8650 करोड़ रुपये थी जो बढ़कर 1949 50 ई० में 9010 करोड़ रु० तथा 1950 51 ई० में 9530 करोड़ रु० हो गयी। इस प्रकार इन तीन वर्षों में राष्ट्रीय आय में 880 करोड़ रु० या प्राय 10 2 प्रतिशत की वृद्धि हुई। परन्तु इस अवधि में कीमतों में भी वृद्धि हो रही थी। समिति ने यह बतलाया कि 1948 49 ई० की कीमतों के आधार पर राष्ट्रीय आय, जो 1948 49 ई० में 8650 करोड़ रु० थी, 1950-51 ई० में केवल 8850 करोड़ रु० हो गयी, यानी 1948-49 ई० के मूल्य तल पर राष्ट्रीय आय में केवल 200 करोड़ रुपये की ही वृद्धि हुई। इस प्रकार तीन वर्षों में राष्ट्रीय आय में वास्तविक वृद्धि केवल 2 3 प्रतिशत की ही हुई।[1]

(2) समिति के अनुसार भारत में प्रति व्यक्ति आय चालू कीमतों के अनुसार 1948-49 ई० में 246 9 रु० थी जो बढ़कर 1950 51 में 265 2 रु० हो गयी, यानी चालू कीमतों के आधार पर इन तीन वर्षों में प्रति व्यक्ति आय में 7 4 प्रतिशत की वृद्धि हुई। परन्तु यदि स्थिर कीमतों के आधार पर हिसाब लगाया जाय तो ज्ञात होता है कि इस अवधि में प्रति व्यक्ति आय लगभग एक समान रही। वास्तव में, यह 1949 50 ई० में 0 7 प्रतिशत बढ़ी, परन्तु 1950-51 ई० में की तुलना से 0 9 प्रतिशत घट गयी।

(3) समिति के प्रतिवेदन से यह स्पष्ट है कि 1950 51 ई० में हमारी राष्ट्रीय आय में कृषि का हिस्सा 51 3 प्रतिशत, खनिज उद्योग, माल तैयार करने के कारखानों और छोटे उद्योगों का 16 1 प्रतिशत, वाणिज्य-परिवहन और संचार का 17 7 प्रतिशत और अन्य सेवाओं का 15 1 प्रतिशत था। इन आँकड़ों से भारत की अर्थ-व्यवस्था का असंतुलन प्रकट होता है। यह भी स्पष्ट है कि इस असंतुलन को दूर करने के लिए भारत में उद्योगों का विकास आवश्यक है। किन्तु संतोष का विषय है कि हमारी पंचवर्षीय योजनाओं में इस ओर विशेष प्रयत्न किया जा रहा है।

(4) समिति के प्रतिवेदन से यह स्पष्ट होता है कि 1950 51 ई० में भारत के विशुद्ध घरेलू उत्पादन की कीमत 9550 करोड़ रु० थी जिसमें 6290 करोड़ रु० का उत्पादन कृषि एवं छोटे उद्योगों में हुआ और लगभग 1070 करोड़ रुपये का उत्पादन बड़े उद्योगों से हुआ था। इन आँकड़ों से भारत की अर्थ व्यवस्था में कृषि तथा लघु उद्योगों की प्रधानता स्पष्ट हो जाती है जिनके उत्पादन का मूल्य बड़े उद्योगों की अपेक्षा प्राय 6 गुना अधिक है। हमारी द्वितीय पंचवर्षीय योजना में छोटे उद्योगों का महत्व स्वीकार करके इनके विस्तार और पुनर्संगठन की व्यवस्था भी की गयी थी।

(5) राष्ट्रीय आय समिति के अनुमान के अनुसार चालू कीमतों के आधार पर 1948 49 एवं 1952-53 के बीच राष्ट्रीय आय में कृषि तथा तत्सम्बन्धित उद्योगों का योगदान 49 1 प्रतिशत से बढ़कर 51 3 प्रतिशत हो गया जबकि खनिज तथा निर्माण उद्योगों का भाग 17-1 प्रतिशत

1. Final Report of the National Income Committee, Feb 1954, p 144

से घटकर 16.1 प्रतिशत रह गया परन्तु यदि स्थिर कीमतों के आधार पर हिसाब लगाया जाय तो स्थिति में कोई विशेष अन्तर नहीं प्रकट होता।

(6) समिति की रिपोर्ट से यह प्रकट होता है कि करों से प्राप्त आय विशेषत परोक्ष करों की आय, सरकारी व्यय और सार्वजनिक क्षेत्रों में विनियोग बढ़ा है। ये बातें भारतीय अर्थव्यवस्था में सरकार के बढ़ते हुए महत्त्व को स्पष्ट करती हैं।

(7) राष्ट्रीय आय समिति के प्रतिवेदन की 38 वीं एवं 39 वीं सारणियों से यह स्पष्ट होता है कि इस अवधि में भारत में विदेशी पूँजी का आयात घट गया था। इसका कारण स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् इस सम्बन्ध में सरकारी नीति की अनिश्चितता एवं विदेशी पूँजी का अधिकाधिक मात्रा में बाहर जाना है।

पंचवर्षीय योजनाओं में राष्ट्रीय आय
(National Income in Five Year Plans)

प्रथम एवं द्वितीय पंचवर्षीय योजनाओं में राष्ट्रीय आय (National Income in the First and Second Five Year Plans) —भारत में योजनाकरण का प्रधान उद्देश्य देशवासियों के जीवन-स्तर को ऊँचा उठाना है। भारत की प्रति-व्यक्ति आय बहुत ही कम है। यही कारण है कि हमारा जीवन-स्तर इतना निम्न है। अत, पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत उत्पादन में चतुर्दिक वृद्धि द्वारा देश की राष्ट्रीय आय को बढ़ाने का प्रयत्न किया जा रहा है। प्रथम पंचवर्षीय योजना तैयार करने के समय योजना आयोग ने इस सम्बन्ध में एक दीर्घकालीन नीति अपनायी थी जिसके अनुसार 1967-68 ई० तक राष्ट्रीय आय को तथा 1973-74 ई० तक प्रति-व्यक्ति आय को दुगुनी करने का आयोजन था। किन्तु, प्रथम योजना में राष्ट्रीय आय एवं प्रति व्यक्ति आय दोनों में आयोजित लक्ष्य से भी अधिक वृद्धि हुई जिससे यह अनुमान किया जाने लगा कि ये लक्ष्य कम ही समय में पूरे हो जायेंगे। अतएव आयोग ने आगे चलकर इनमें परिवर्तन किया। **प्रथम एवं द्वितीय पंचवर्षीय योजना में राष्ट्रीय** आय एवं प्रति-व्यक्ति औसत में वृद्धि का अन्दाजा निम्नांकित तालिका से लगता है :—

	इकाई	1950-51	1955-56	1960-61	दस वर्षों में प्रतिशत वृद्धि
राष्ट्रीय आय, (1960-61 ई० के मूल्य-तल पर)	करोड़ रु० में	10,240	12,130	14,140	42 6
जनसंख्या	दस लाख में	361	397	439	21 5
प्रति-व्यक्ति आय 1960-61 ई० के मूल्य तल पर	रुपये में	284	306	326	16

योजना आयोग के अनुसार प्रथम योजनाकाल में राष्ट्रीय आय में 18 4 प्रतिशत तथा प्रति-व्यक्ति आय में प्राय 11 प्रतिशत की वृद्धि हुई। द्वितीय पंचवर्षीय योजना में भी राष्ट्रीय आय में वृद्धि पर पर्याप्त जोर दिया गया था। द्वितीय पंचवर्षीय योजना में राष्ट्रीय आय में कुल 25 प्रतिशत वृद्धि का आयोजन था, किन्तु पाँच वर्षों में राष्ट्रीय आय में 20 4 प्रतिशत की ही वृद्धि हुई। इसी प्रकार 10 वर्षों में, यानी 1951-52 से 1960-61 ई० के बीच राष्ट्रीय आय में 42 6 प्रतिशत तथा प्रति-व्यक्ति आय में 16 0 प्रतिशत की वृद्धि हुई। इस प्रकार स्पष्ट है कि प्रथम एवं द्वितीय योजनाकाल के दस वर्षों में राष्ट्रीय आय में औसत रूप से 4 प्रतिशत प्रतिवर्ष की वृद्धि हुई। किन्तु चूँकि इस बीच जनसंख्या में अनुमानित दर से भी अधिक वृद्धि हुई, अतएव प्रति-व्यक्ति आय में केवल 1·6 प्रतिशत की ही वृद्धि हुई।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना के पाँच वर्षों में प्रति-व्यक्ति औसत आय 1948 49 ई० के मूल्य-तल पर 1956-57 ई० में 275·6 रुपये, 1957-58 ई० में 267 7 रुपये, 1958-59 ई० में 280·1 रुपये, 1959-60 ई० में 276·2 रुपये तथा 1960 61 ई० में 293 7 रुपये थी। किन्तु 1960 61 ई० के मूल्य-तल के आधार पर प्रति-व्यक्ति आय द्वितीय योजना के अन्त में 326 रुपये हो गयी।

तृतीय पंचवर्षीय योजना में राष्ट्रीय आय (National Income in the Third Five Year Plan) :—तृतीय पंचवर्षीय योजना में भी राष्ट्रीय आय में पर्याप्त वृद्धि का आयोजन था। यदि योजना के सभी कार्यक्रम पूरे हो जाते तो राष्ट्रीय आय में (1960 61 ई० के मूल्य-तल पर) 34 प्रतिशत वृद्धि की आशा थी। किन्तु राष्ट्रीय आय मे इतनी वृद्धि के लिए इसमे बहुत अधिक प्रयत्नो की आवश्यकता थी। अतएव योजना आयोग का यह अनुमान था कि योजनाकाल मे राष्ट्रीय आय मे प्रतिवर्ष 5 प्रतिशत की ही वृद्धि होगी।

किन्तु तृतीय पंचवर्षीय योजना के इस लक्ष्य की पूर्ति नहीं हो सकी तथा 1960 61 ई० के मूल्य-तल के आधार पर तृतीय योजना के प्रथम चार वर्षों मे राष्ट्रीय आय मे 20 प्रतिशत की वृद्धि हुई, किन्तु 1965-66 मे इसमे 5 7% की कमी हुई। योजना काल में राष्ट्रीय आय मे 1961-62 ई० में 3 9 प्रतिशत तथा 1962-63 ई० मे केवल 2 1 प्रतिशत की वृद्धि हुई। इसके पश्चात् इसकी गति मे कुछ सुधार हुआ तथा राष्ट्रीय आय मे 1963-64 ई० मे 6·1 प्रतिशत तथा 1964-65 ई० मे 8 प्रतिशत की वृद्धि हुई। किन्तु 1965-66 ई० मे भयानक सूखा तथा पाकिस्तानी आक्रमण के कारण राष्ट्रीय आय मे 5·7 प्रतिशत की कमी ही हुई। इस प्रकार तृतीय योजना काल मे राष्ट्रीय आय मे प्राय 2 5 प्रतिशत वार्षिक की दर से वृद्धि हुई, जबकि लक्ष्य 5 प्रतिशत से भी अधिक वार्षिक वृद्धि का था। और चूंकि तृतीय योजना काल मे जनसंख्या मे प्रायः 2·5 प्रतिशत वार्षिक दर से वृद्धि हुई, अतएव प्रति व्यक्ति आय (Per-capita income) में इस अवधि में प्रायः कोई वृद्धि नहीं हुई, यानी 1965-66 ई० के अन्त में प्रति व्यक्ति आय प्राय उतनी ही थी जितनी कि तृतीय योजना के प्रारम्भ, यानी 1960-61 ई० में। तृतीय योजना के बाद वाले वर्ष यानी, 1966-67 में राष्ट्रीय आय में 1·1 प्रतिशत की वृद्धि हुई, किन्तु 1967-68 में राष्ट्रीय आय में 9 प्रतिशत तथा 1968-69 में लगभग 3 प्रतिशत की वृद्धि हुई।

तृतीय योजना के प्रारम्भ से लेकर 1970-71 तक राष्ट्रीय आय एवं प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि का अन्दाजा निम्नांकित तालिका से लगाया जा सकता है :—

राष्ट्रीय आय एवं प्रति व्यक्ति आय (1960-61 के मूल्य तल पर)[1]

वर्ष	शुद्ध राष्ट्रीय आय (करोड़ रु० में)	राष्ट्रीय आय का सूचनांक (1960-61 = 100	प्रति व्यक्ति आय (रु० में)	प्रति व्यक्ति आय सूचनांक (1960 61 = 100)
1960-61	13,284	100 0	306 3	100 0
1961-62	13,740	103 4	309 5	101·1
1962-63	14,008	105 5	308 5	100 8
1963-64	14,771	116 2	318 3	104 0
1964-65	15,896	119 7	335 4	109 6
1965 66	15,025	113 1	309 8	101 2
1966-67	15,267	114 9	308·4	100 8
1967-68	16,694	125 7	329·9	107 8
1968-69	16,815	126 6	324 6	106 0
1969-70	18,038	135 8	341 0	111 4
1970-71	18,876	142 1	348 9	114 0
तृतीय योजना मे वृद्धि	2·5	×	+0·2	×
वार्षिक वृद्धि की दर				
1966 67		1·1	−0 5	
1967-68		9 3	+7·0	
1968-69		0 7	−1 6	
1969-70		7·3	+5·1	
1970-71		4 6	+2 3	

1. Government of India : Economic Survey 1972-73.

चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में राष्ट्रीय आय (National Income in the Fourth Five Year Plan):—चतुर्थ पचवर्षीय योजना में भी राष्ट्रीय आय मे महत्त्वपूर्ण वृद्धि का आयोजन था। चतुर्थ योजना में विकास के विभिन्न कार्यक्रमों के परिणामस्वरूप ऐसी आशा की जाती थी कि योजना काल में वार्षिक विकास की दर 5 5 होगी। योजना आयोग के अनुसार चतुर्थ योजना काल में विभिन्न उद्योगो की शुद्ध उत्पत्ति में वृद्धि का अन्दाजा निम्नांकित तालिका[1] से लगाया जा सकता है :—

चतुर्थ योजना मे शुद्ध उत्पत्ति का अनुमान (1968-69 के मूल्य तल पर करोड रु० मे [2]

मदें	1968 69	1973 74
1. कृषि एव तत्सम्बन्धी उद्योग	14,864	18,951
2 खनिज, निर्माण तथा लघु सस्थान	5,497	8,058
3. वाणिज्य, यातायात एवं सचार	4,414	6,142
4. अन्य	4,295	5,155
5. विदेशों से प्राप्त आय	(—)270	(—)406
	28,800	37,900

चतुर्थ योजना काल मे जनसख्या मे औसत प्रतिवर्ष 2 5 प्रतिशत की दर से वृद्धि की आशा की गयी थी है। अतएव इस आधार पर यह अनुमान था कि योजना काल मे प्रति व्यक्ति आय मे अनुमानत. 3 प्रतिशत की वार्षिक वृद्धि होगी। विकास के उपरोक्त लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए चतुर्थ योजना काल मे आन्तरिक बचत के दर के 1968-69 को 9 प्रतिशत से बढ़ाकर 1973-74 मे 11·9 प्रतिशत तथा विनियोग की दर को 1968 69 के 11 3 प्रतिशत से बढ़ाकर 1973-74 मे 11·9 प्रतिशत करने का आयोजन था। किन्तु चतुर्थ योजना के प्रथम दो वर्षों मे विनियोग तथा बचत 1968-69 की ही तरह रही। विनियोग की दर 1969-70 मे 9·2 तथा 1970 71 मे 9 6 एव बचत की दर क्रमश. 8·4 प्रतिशत तथा 8·3 प्रतिशत थी।

इस प्रकार वास्तव मे चतुर्थ योजना काल में आयोजित दर से बहुत ही कम वृद्धि हुई। 1969-70 मे विकास की दर 5 8 प्रतिशत तथा 1970-71 मे 4 2 प्रतिशत से घट कर 1972-73 मे केवल 0 6 प्रतिशत थी।[3]

1. Fourth Plan : Mid term Appraisal 1972.
2. Draft Fifth Plan 1974 79.
3. तृतीय योजना में अगले 15 वर्षों में राष्ट्रीय आय में वृद्धि का निम्नांकित लक्ष्य निर्धारित किया गया था :—

वर्ष	राष्ट्रीय आय (1960-61 ई० के मूल्य-तल पर)	प्रति व्यक्ति आय (1960-61 के मूल्य तल पर)
1960 61 (द्वितीय योजना के अन्त में)	14,500 करोड रु०	330 रु०
1965-66 (तृतीय योजना के अन्त में)	19,000 ,, ,,	385 ,,
1970-71 (चतुर्थ योजना के अन्त में)	25,000 ,, ,,	450 ,,
1975-76 (पचम योजना के अन्त में)	33,000 करोड़ रु० से 34, 000 करोड रु०	530 ,,

वकास की दीर्घकालीन प्रत्याशा (The long-term Perspective) —तृतीय योजना के निर्माण के समय देश के आर्थिक विकास के लिए एक दीर्घकालीन उद्देश्य निश्चित किया गया था जिसके अनुसार आगे आने वाले वर्षों मे 6 प्रतिशत वार्षिक विकास की आशा की गयी थी।[1] किन्तु कई कारणो से तृतीय योजना तथा बाद के दो वर्ष (1966 67 एव 1967-68) कठिनाइयो से परिपूर्ण सिद्ध हुए जिससे आयोग के दीर्घकालीन उद्देश्यो की पूर्ति नही हो सकी। अतएव चतुर्थ योजना काल म 5 5 प्रतिशत विकास की दर निश्चित की गयी जिसके अनुसार 1973 74 मे प्रत्याशित राष्ट्रीय आय तृतीय योजना के दीर्घकालीन लक्ष्य स कम ही होगी। किन्तु चतुर्थ योजना मे किये प्रयासो तथा आगे की योजनाओ मे ऊँची दर से विनियोग के कारण पाँचवी तथा आगे आने वाली पच वर्षीय योजनाओ मे विकास की दर मे और वृद्धि, अनुमानत 6 प्रतिशत वार्षिक वृद्धि की आशा की गयी थी। इस आधार पर 1980 81 मे राष्ट्रीय आय (1967 68 के मूल्य-तल पर) के 582 बिलियन, यानी 1967 68 मे दुगुना होने की आशा की गयी थी। किन्तु इस अवधि मे चूँकि जनसख्या मे भी एक तिहाई के लगभग वृद्धि की आशा की गयी थी, अत 1980 81 मे प्रतिव्यक्ति आय 1957 68 की तुलना मे 53 प्रतिशत ही अधिक होने को थी। दीर्घकालीन विकास के इस परिवर्तित क्रम के अनुसार तृतीय योजना काल म निर्धारित 1975 76 के लक्ष्य की पूर्ति 1980-81 ई० यानी तीन चार वर्ष बाद म होगी। चतुर्थ योजना के अनुसार 1968 69 1980 81 के बीच राष्ट्रीय आय मे वृद्धि का लक्ष्य निम्नांकित तालिका[1] से स्पष्ट हो जाता है —

वर्ष	राष्ट्रीय आय (1968 69 के मूल्य तल पर करोड़ मे)	जनसख्या (लाख म)	प्रति व्यक्ति आय (रु० मे)
1968 69	290 7	527	552
1973-74	383 1	596	643
1978-79	517 0	656	775
1980 81	582 2	690	844
1967 68 को तुलना मे 1980 81 मे वृद्धि का सचनाक	200 0	131	153

निष्कर्ष —इस प्रकार पचवर्षीय योजनाओ का प्रधान उद्देश्य देश की राष्ट्रीय आय म पर्याप्त मात्रा मे वृद्धि करना है। किन्तु जनसख्या म द्रुतगति से वृद्धि के फलस्वरूप राष्ट्रीय आय एव प्रति व्यक्ति आय मे समान रूप से वृद्धि नही होती। इसलिए यह कहा जा सकता है कि जिस अनुपात मे राष्ट्रीय आय मे वृद्धि हो रही है उस अनुपात मे हमारी औसत समृद्धि में वृद्धि नही हो रही है। साथ ही, यह बढ़ी हुई राष्ट्रीय आय कहाँ तक हमारी आर्थिक समृद्धि की वृद्धि मे सहायक होगी, यह राष्ट्रीय आय के समुचित वितरण पर निर्भर करता है। राष्ट्रीय आय पर

1 Fourth Five Year Plan, 1969-74 P 32

मूल्य-तल का भी प्रभाव पड़ता है। मल्य तल मे वृद्धि के फलस्वरूप राष्ट्रीय आय की वृद्धि स हमारी आर्थिक समृद्धि मे आनुपातिक दर से वृद्धि नही हो सकती। इस प्रकार पचवर्षीय योजनाओ म बढ़ी हुइ राष्ट्रीय आय स जनसाधारण तभी लाभान्वित हो सकता है जबकि मूल्य-तल म विशेष वृद्धि नही हो तथा आय का वितरण अधिक समान एव न्यायपूर्ण तरीके से हो। अत आज देश का आर्थिक समृद्धि के लिए उत्पादन म वृद्धि के साथ साथ निम्नाकित बातो पर ध्यान देना आवश्यक है —(1) मूल्य-तल मे वृद्धि की प्रवृत्ति को रोकना, (2) जनसख्या की वृद्धि पर नियन्त्रण, तथा, (3) आय का अधिक उचित एव न्यायपूर्ण तरीके स वितरण।

विशेष अध्ययन सूची

1. Final Report of the National Income Committee Feb, 1954.
2. V K R V Rao National Income of British India, 1939
3 N C A E R Distribution of National Income by States 1960 61.
4. Govt of India, 1974
5. First, Second, Third and Fourth Five Year Plans of India
6. Draft Fifth Five Year Plan
7. Govt. of India Economic Survey 1973 74

खंड : 7

"Public Finance deals with the provision, custody and disbursement of resources needed for the conduct of public or governmental functions."

—*H L Lutz*

"Public Finance is the science which is concerned with the manner in which public authorities obtain their income and spend it"

—*Findlay Shirras*

राजस्व
(Public Finance)

कुछ स्मरणीय उद्धरण

1. "Public Finance is one of those subjects which lie on the border line between Economics and Politics. It is concerned with the income and expenditure of Public Authorities and with the adjustment of the one to the other." —*Dalton*

2. "The Science which deals with the activities of statesmen in obtaining and applying the material means necessary for fulfilling the proper functions of the state." —*Plehn*

3. "The best system of public finance is that which secures the maximum social advantage from the operations which it conducts." —*Dalton*

4. "The main objective of public expenditure is to direct the productive resources in such a way that there may be maximum production of economic welfare." —*Dalton*

5. "A tax is a compulsory contribution or payment for the support of Government or other public purposes. Taxes may be employed to raise revenues, to regulate certain activities or promote social objectives or for both revenue and regulation." —*Buhler*

6. "Direct and Indirect Taxes are like two attractive sisters between whom I have to be perfectly impartial. Because, as Chancellor of the Exchequer it is not only allowable but an act of duty to pay my address to them both." —*Gladstone*

"Taxable capacity is the limit of squeezability—it is the taxability of a nation, the maximum amount of taxation that can be raised and spent to produce the maximum economic welfare in that community."

—*Findlay Shirras*

अध्याय : 49

राजस्व : परिचय

(Public Finance . Introduction)

प्राक्कथन :—'धन से ही गाडी चलती है' (Money makes the mare go) यह एक साधारण कहावत है। दूसरे शब्दो मे, यह कहा जा सकता है कि **"प्रत्येक उपक्रम का आरम्भ राजस्व है।"** (The beginning of every undertaking is finance.) किसी भी कार्य को करने मे प्रत्येक व्यक्ति धन की आवश्यकता का अनुभव करता है। अतएव यदि किसी व्यक्ति के लिए धन का इतना अधिक महत्त्व है तो राज्य के लिए इसका महत्त्व और भी अधिक है। वास्तव मे, किसी राज्य के कार्यों की सीमा एवं उसकी कार्यक्षमता मुख्य रूप से उसके वित्तीय कोष की शक्ति पर ही निर्भर करती है। प्रारम्भ मे, राज्य का काम केवल बाहरी आक्रमण तथा आतरिक अशान्ति से देश की सुरक्षा करना समझा जाता था, किन्तु आजकल राज्यो के कार्य क्षेत्र मे इतनी अधिक वृद्धि हुई है कि इन्हे पूरा करने के लिए बहुत अधिक मात्रा मे आय की आवश्यकता पड़ती है। आधुनिक समय मे तो किसी देश की सरकार का आय-व्ययक (Budget) उस देश की आर्थिक समृद्धि का एक अच्छा मापदण्ड भी समझा जाता है। अमेरिका तथा इगलैंड जैसे आर्थिक दृष्टि स समृद्धिशाली देशो की सरकार का आय-व्ययक भारत जैसे अर्द्ध विकसित आर्थिक व्यवस्था वाले देशो की तुलना मे कई गुना अधिक रहता है।

इस प्रकार आधुनिक युग मे किसी राष्ट्र के आर्थिक जीवन मे राजस्व का बड़ा ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। आजकल इसे केवल राज्य की समृद्धि का साधन-मात्र ही नहीं माना जाता, वरन् आज यह सामाजिक न्याय का एक शक्तिशाली अस्त्र भी बन गया है। कोल्बर्ट के शब्दो मे, **"राजस्व अब केवल मात्र बत्तख पकड़ने की वह क्रिया नहीं माना जाता जिससे कि वह कम-से-कम शोर करे।"** (Public Finance is no longer considered simply the art of so plucking the goose as to secure the least amount of squealing.) राजस्व के द्वारा आधुनिक सरकारें समाज मे धनी एवं गरीब के बीच के अन्तर को दूर करने का कार्य भी करती हैं।

राजस्व की परिभाषा

(Definition of Public Finance)

राजस्व अर्थशास्त्र विज्ञान का एक महत्त्वपूर्ण विभाग है। डाल्टन (Dalton) के अनुसार "यह उन विषयों मे से एक है जो अर्थशास्त्र एव राजनीति शास्त्र की सीमा-रेखा पर स्थित है।" राजस्व के अन्तर्गत सार्वजनिक सस्थाओ की आय एव व्यय का अध्ययन किया जाता है। सार्वजनिक सस्थाओ के अन्तर्गत स्थानीय सरकारो से लेकर केन्द्रीय सरकार तक सभी सस्थाएँ आ जाती हैं। राज्य किस प्रकार अपनी आय प्राप्त करता है और किस प्रकार इसे व्यय करता है, यही प्रधानत: राजस्व का विषय है। दूसरे शब्दो मे, राजस्व एक विस्तृत शब्द है जिसमे राजकीय संस्थाओ की वित्तीय व्यवस्था का अध्ययन किया जाता है।

राजस्व की विभिन्न परिभाषाएँ दी जाती हैं जिनमे निम्नलिखित विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण हैं —

डाल्टन (Dalton) के अनुसार **"राजस्व उन विषयों मे से एक है जो अर्थशास्त्र तथा राजनीति शास्त्र की सीमा-रेखा पर स्थित है। इसका सम्बन्ध सार्वजनिक संस्थाओं की आय एवं व्यय तथा एक को दूसरे से समायोजित करने की क्रिया से है।"**

(Public Finance is one of those subjects which lie on the border line between Economics and Politics It is concerned with the income and expenditure of public authorities and with the adjustment of the one to the other —Dalton)

चैपमैन (Chapman) के अनुसार "राजस्व राजकीय अर्थशास्त्र का वह विभाग है जो सरकार की आय प्राप्त करने तथा उसके प्रबन्ध करने की क्रिया की विवेचना करता है।" (Public Finance is that part of political economy which discusses the way in which Government obtains revenues and manages them —Chapman)

फिण्डले सिराज (Findlay Shirras) के अनुसार "राजस्व वह विज्ञान है जिसका सम्बन्ध सार्वजनिक संस्थाओं के द्वारा प्राप्त आय तथा उनके व्यय करने की पद्धति से है।" (Public Finance is the science which is concerned with the manner in which public authorities obtain their income and spend it—Findlay Shirras)[2] इनके अनुसार राजस्व उन सिद्धान्तों का अध्ययन है जिनके अनुसार राजकीय संस्थाओं के कोषों का एकत्रीकरण एवं व्यय होता है।

श्रीमती उर्सला हिक्स (Mrs U K Hicks) के अनुसार "राजस्व का मुख्य विषय उन विधियों का निरीक्षण एवं मूल्यांकन करना है जिनके द्वारा सरकारी संस्थाएँ आवश्यकताओं की सामूहिक रूप से सन्तुष्टि करने का प्रबन्ध करती हैं और अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए आवश्यक कोष प्राप्त करती हैं "

इसी प्रकार बैस्टेबेल (Bastable) के अनुसार 'राजस्व किसी राष्ट्र की सार्वजनिक संस्थाओं के आय-व्यय, उसके पारस्परिक सम्बन्ध, वित्तीय प्रशासन एवं नियन्त्रण का अध्ययन करता है।" (Public Finance deals with expenditure and income of public authorities of the state and their mutual relation as also with financial administration and control)

आर्मिटेज स्मिथ (Armitage Smith) के शब्दों में, 'राजकीय व्यय एवं राजकीय आय की प्रकृति एवं सिद्धान्तों की जाँच को राजस्व कहा जाता है।"(The investigation into the nature and principles of state expenditure and state revenue is called Public Finance)[3]

प्लेहन (Plehn) के अनुसार, "राजस्व वह विज्ञान है जिसमें उन क्रियाओं का अध्ययन किया जाता है जो एक राजनीतिज्ञ किसी राज्य के कर्त्तव्य को पूरा करने के लिए आवश्यक भौतिक साधन प्राप्त करने तथा उन्हें व्यय करने के लिए प्रयत्न करता है। (Public Finance is the science which deals with the activities of the statesman in obtaining and applying the material means necessary for fulfilling the proper functions of the State)

लुट्ज (Lutz) के शब्दों में "राजस्व उन साधनों की व्यवस्था, सुरक्षा तथा वितरण का अध्ययन करता है जो राजकीय अथवा प्रशासन सम्बन्धी कार्यों को चलाने के लिए आवश्यक होते हैं।' (Public Finance deals with the provision, custody and disbursement of resources needed for the conduct of public or Governmental functions)[4]

1 Dalton . Principles of Public Finance, P 1
2 Shirras Science of Public Finance, P 1
3 Armitage Smith . Principles and Methods of Taxation, P, 14.
4 H Lutz Public Finance P 3

इस प्रकार विभिन्न अर्थशास्त्रियो द्वारा राजस्व की उक्त सारी परिभाषाएँ दी गयी हैं।[1] इन परिभाषाओ से यह स्पष्ट है कि राजस्व एक ऐसा विज्ञान है जो सार्वजनिक सस्थाओ की आय एव व्यय से सम्बन्धित है। इसके अन्तर्गत इस बात का अध्ययन किया जाता है कि सार्वजनिक सस्थाए किस प्रकार आय प्राप्त करती है, किस प्रकार इसका व्यय करती हैं और अपनी आय एव व्यय मे किस प्रकार से सामजस्य स्थापित करती हैं। सार्वजनिक सस्थाओ (Public Authorities) के अन्तर्गत केन्द्रीय सरकार, राज्य सरकारें, स्थानीय स्वायत्त शासन एव ग्राम-पचायत की सस्थाए आदि आ जाती हैं।

राजस्व की विषय-सामग्री
(Subject matter of Public Finance)

राजस्व की विभिन्न परिभाषाओं से इसकी विषय-सामग्री स्पष्ट हो जाती है। राजस्व के अन्तर्गत इस बात का अध्ययन किया जाता है कि राज्य तथा इससे सम्बन्धित सस्थाएँ किस प्रकार धन एकत्र करती हैं और किस प्रकार इसे व्यय करती हैं। इस प्रकार राज्य की क्रियाओ के साथ यह भी आवश्यक है कि उसकी आय के साधनों एवं व्यय की मदों का भी ज्ञान प्राप्त हो। राजस्व के अन्तर्गत हम राज्य की केवल उन क्रियाओ का ही अध्ययन नहीं करते जिनका सम्बन्ध आवश्यकताओं की सामूहिक सतुष्टि से होता है, वरन् उनका अध्ययन वित्तीय दृष्टिकोण से करते हैं और उनकी वित्तीय जटिलताओ पर भी दृष्टिपात करते हैं। कल्याणकारी राज्य की धारणा के प्रचार के बाद से तो यह निश्चित करना ही दुर्लभ हो गया है कि राज्य की किन क्रियाओ से सम्बन्धित वित्तीय जटिलताओं का अध्ययन राजस्व में किया जाय, क्योकि आजकल तो राज्य की प्राय सारी क्रियाएँ आपस मे इस प्रकार एक-दूसरे से सम्बन्धित हैं कि किसी एक क्रिया को अलग करना या उसके किसी भी पहलू की ओर संकेत करना सम्भव नहीं है। हाँ, इतना अवश्य है कि राज्य के द्वारा सम्पन्न की जानेवाली सामाजिक क्रियाओ की वाछनीयता अर्थात् बुराइयो तथा अच्छाइयो के सम्बन्ध मे खोज करना राजस्व का विषय नहीं है। यह तो राजकीय अर्थशास्त्र का विषय है। राजस्व में केवल आय प्राप्त करने से सम्बन्धित क्रियाओ का ही अध्ययन किया जाता है। इन क्रियाओ की वाछनीयता के विषय मे खोज की जाती है और उचित सिद्धान्तो को प्रतिपादित किया जाता है एव समाज तथा देश पर इनके प्रभावो का अध्ययन किया जाता है।

राजस्व के क्षेत्र के सम्बन्ध में सुप्रसिद्ध अर्थशास्त्री डाल्टन ने जो सीमा निर्धारित की है, यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। डाल्टन के शब्दो मे राजस्व अर्थशास्त्र और राजनीति शास्त्र की सीमा-रेखा पर स्थित है। सरकारों को राज्य के प्रशासन के लिए जहाँ एक ओर राजनीति-शास्त्र के सिद्धान्त के अनुसार चलना पडता है, वहीं दूसरी ओर अर्थशास्त्र के उद्देश्यो की पूर्ति के लिए और जनकल्याण की अधिकतम वृद्धि के लिए अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों का भी पालन करना आवश्यक हो जाता है, क्योकि राजस्व अर्थशास्त्र का एक अभिन्न अग है। अर्थशास्त्र का उद्देश्य सीमित साधनो का सर्वोत्तम प्रयोग करके जन-कल्याण को अधिकतम बनाना होता है। इन लक्ष्यो को निर्धारित करने का कार्य सरकार या शासक वर्ग करता है। अत विधिवत् राष्ट्रीय नीति को निर्धारित करना तथा ऐसे सिद्धान्तो एव विधियो का उल्लेख करना जिससे जनता की सुख-समृद्धि मे आशातीत वृद्धि हो, सरकार का कार्य होता है। परन्तु इन कार्यों को करने में धन की आवश्यकता होती है और धन-सम्बन्धी क्रियाएँ राजस्व के अन्तर्गत आ जाती हैं। राजस्व के दो पैरों मे से राजनीति-शास्त्र और दूसरा अर्थशास्त्र में फँसा हुआ है। इन पैरो को फैलाने की सीमा जानने के सम्बन्ध मे इतना ही कहा जा सकता है कि राजस्व के अन्तर्गत सरकार तथा लोक-सत्ताधिकारियो की सब क्रियाओं का अध्ययन किया जाता है जिनका सम्बन्ध राज्य के आय-व्यय से होता है। इस शास्त्र के अन्तर्गत यह अध्ययन करना हमारा कार्य नहीं है कि सरकार को कौन-कौन से कार्य करने चाहिए, क्योकि इनका विवेचन राजस्व के कलेवर से बाहर की वस्तु हो

1. राजस्व की कुछ अन्य परिभाषाएँ भी दी गयी हैं। उदाहरण के लिए, मेहता एव अग्रवाल के अनुसार "Public Finance then constitutes a study of the monetary and credit resources of the State."

जाता है। अतः इस विषय का अध्ययन न केवल राजकीय प्राधिकारियो के कार्यों से सम्बद्ध है वरन् इन कार्यों को सम्पन्न करने के लिए सरकार के पास धन होने तथा उसके व्यय करने से है। ज्ञान की इस शाखा मे सरकार की क्रियाओ से सम्बन्धित वित्तीय परिणामों (Financial implications) का भी अध्ययन किया जाता है। सरल शब्दो मे यह कहा जा सकता है कि "जहाँ सरकार द्वारा सम्पन्न की जानेवाली क्रियाओ मे धन (मुद्रा एव साख सहित) का सम्बन्ध आ जाता है, वही राजस्व के अध्ययन की विषय-सामग्री बन जाता है। और, यही इस शास्त्र के अध्ययन की सीमा भी है।

राजस्व के मुख्य विभाग

(Main Divisions of Public Finance)

व्यापक दृष्टि से राजस्व को निम्नांकित पाँच मुख्य विभागो मे विभाजित किया जा सकता है :—

(1) सार्वजनिक व्यय (Public Expenditure);
(2) सार्वजनिक आय (Public Revenue),
(3) सार्वजनिक ऋण (Public Debt),
(4) वित्तीय प्रशासन (Financial Administration), एवं
(5) संघीय वित्त (Federal Finance)।

(1) **सार्वजनिक व्यय** (Public Expenditure).—राजस्व के इस विभाग के अन्तर्गत राजकीय व्यय के सिद्धान्तो, समस्याओ एवं विभिन्न पहलुओ का अध्ययन किया जाता है।

(2) **सार्वजनिक आय** (Public Revenue) :—राजस्व के इस विभाग के अन्तर्गत राज्य के विभिन्न खर्चों की पूर्ति के लिए प्राप्त आय के विभिन्न साधनो एवं समस्याओ इत्यादि का अध्ययन किया जाता है।

(3) **सार्वजनिक ऋण** (Public Debt) :—प्रायः यह देखा जाता है कि कभी-कभी सरकार को बड़े-बड़े खर्चो की पूर्ति के लिए आन्तरिक अथवा बाह्य ऋण भी लेने पड़ते है, जैसे—युद्ध, अकाल एव आर्थिक नियोजन इत्यादि के समय। राजस्व के इस विभाग के अन्तर्गत सरकार द्वारा लिये जाने वाले ऋण तथा इनके भुगतान-सम्बन्धी सिद्धान्तो एवं समस्याओ का अध्ययन किया जाता है।

(4) **वित्तीय प्रशासन** (Financial Administration) :—राजस्व के इस विभाग मे सरकारी आय-व्यय का लेखा-जोखा रखने के तरीको तथा उन्हे तैयार करने की प्रणालियो का वैज्ञानिक रूप से अध्ययन किया जाता है।

(5) **संघीय वित्त** (Federal Finance).—आजकल संघीय वित्त का महत्त्व राजस्व के एक अंग के रूप मे बहुत बढ गया है। विश्व के कुछ प्रमुख देशो मे संघीय शासन-व्यवस्था (Federal Government) है, जैसे—भारत, आस्ट्रेलिया, स्वीट्जरलैंड, संयुक्त राज्य अमेरिका इत्यादि। अतएव इन देशो की वित्तीय व्यवस्था का एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि संघ सरकार एवं इसकी विभिन्न इकाइयो मे किस प्रकार का वित्तीय सम्बन्ध हो, विभिन्न क्रियाओ का विभाजन कैसे हो, इत्यादि। इन सब बातो का अध्ययन संघीय वित्त के अन्तर्गत ही किया जाता है।

वैयक्तिक वित्त-व्यवस्था एवं राजकीय वित्त-व्यवस्था में अन्तर

(Distinction between Private Finance and Public Finance)

राजस्व के अध्ययन के पूर्व वैयक्तिक एवं राजकीय अर्थ-व्यवस्था मे अन्तर की जानकारी उचित होगी। इससे राजकीय अर्थ-व्यवस्था की प्रकृति को समझने मे सुविधा होती है। **साधारणतया, वैयक्तिक एवं राजकीय अर्थ व्यवस्था में निम्नांकित मुख्य अन्तर हैं :—**

(1) **आय एवं व्यय का समायोजन** (Adjustement of Income and Expenditure) :—वैयक्तिक अर्थ-व्यवस्था एवं राजकीय अर्थ-व्यवस्था मे प्रधान अन्तर आय एवं व्यय

के सम्बन्ध को लेकर पाया जाता है। साधारणतया जबकि व्यक्ति अपनी आय के अनुसार ही अपना व्यय करता है, राजकीय संस्थाएँ पहले अपना व्यय निश्चिय कर लेती हैं और उसी के अनुसार अपने आय को समायोजित करने का प्रयास करती है।" (While an individual's income determines the amount of his possible expenditure, a public authority's expenditure determines the amount of its necessary income.) दूसरे शब्दों में, व्यक्ति अपनी आय के अनुसार अपने व्यय को रखने का प्रयास करता है, किन्तु सरकारी संस्थाएँ अपने व्यय के अनुसार ही अपनी आय प्राप्त करती हैं, यानी राज्य की आय उसके व्यय से निर्धारित होती है। वैयक्तिक अर्थ-व्यवस्था के सम्बन्ध मे यह कहावत कि 'उतना पांव पसारिये जितनी चादर होय' (Cut your coat according to your cloth) पूर्ण रूप से सत्य होती है। किन्तु सरकार पहले चादर की लम्बाई चौडाई निश्चित कर लेती है और तब इसके लिए कपडे की व्यवस्था करती है।

किन्तु, इसके अपवाद भी हैं। कभी-कभी व्यक्ति भी अपने व्यय के अनुसार आय प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। उदाहरण के लिए, जब कोई व्यक्ति शादी करता है जिससे उसके आश्रितो की संख्या बढती है तो इससे उसका व्यय भी बढ जाता है जिसकी पूर्ति के लिए वह अधिक काम कर अपनी आय मे वृद्धि करने का प्रयास करता है। अतएव इस प्रकार यह कथन सदैव सही नही होता कि व्यक्ति उतना ही पांव पसारता है जितनी लम्बी कि उसकी चादर होती है। कभी-कभी वह अपनी चादर की माप जानता है और किसी-न किसी तरह मे उसके लिए कपडा प्राप्त करता है। इसी प्रकार कभी-कभी सरकारें भी अपनी आय के अनुसार ही व्यय को समायोजित करने का प्रयास करती हैं। जब सरकारें आय का आधिक्य अनुभव करती हैं तब वे कुछ इच्छित दिशाओ मे व्यय मे वृद्धि करने का निर्णय कर सकती हैं। इस प्रकार आय बढने पर सरकार अधिक खर्च करती है या दुर्दिन मे जब सरकार की आय कम हो जाती है तो छँटनी (Retrenchment) आदि के द्वारा व्यय को कम भी किया जाता है।

किन्तु, इसके बावजूद यह कहा जा सकता है कि सरकार एवं व्यक्ति की अर्थ-व्यवस्था के तरीकों में वास्तविक अन्तर होता है। साधारणत, व्यक्ति अपनी आय जानता है, अतएव उसी के अनुसार अपने व्यय की योजनाएँ बनाना उसके लिए आवश्यक हो जाता है। इसके विपरीत सरकार पहले विभिन्न विभागो एव कार्यों मे व्यय का अनुमान कर लेती है और उसी के अनुसार कर अथवा ऋण आदि द्वारा आय प्राप्त करने का प्रयत्न करती है।

(2) राजकीय आय की लोच (Public Revenue is much elastic)—राजकीय आय व्यक्तिगत आय की अपेक्षा अधिक लोचपूर्ण होती है। साधारणतया यह देखा जाता है कि राज्य अपनी आय को सुगमतापूर्वक बढा सकता है किन्तु व्यक्तिगत आय के सम्बन्ध मे यह सम्भव नही है। साथ ही, जैसा कि श्रीमती हिक्स का विचार है, राज्य उस अनुपात मे परिवर्तन कर सकता है जिसमे देश की सम्पूर्ण आय राज्य एवं नागरिको के बीच विभाजित होती है।

(3) समय की अवधि (Period of time)—व्यक्ति के आय व्यय की कोई निश्चित अवधि नही होती, किन्तु राजकीय संस्थाएँ प्रतिवर्ष अपनी आय एवं व्यय का बजट प्राय एक वर्ष के लिए तैयार करती हैं। सरकार इस अवधि के अन्तर्गत अपनी आय एवं व्यय को संतुलित करने का प्रयास करती है, किन्तु व्यक्ति के लिए इस अवधि का कोई महत्त्व नही होता। वह एक निश्चित अवधि के अन्तर्गत अपनी आय एवं व्यय को संतुलित करने का प्रयास नही करता। व्यक्ति साधारणत आय प्राप्त करते जाता है और उसे व्यय करते जाता है। शायद ही कोई ऐसा परिवार होगा जो एक निश्चित अवधि मे अपनी आय एवं व्यय को संतुलित करने का प्रयास करता हो। किन्तु सरकार के साथ ऐसी बात नही है। सरकार एक निश्चित अवधि, साधारणत, एक वर्ष के लिए ही अपना बजट तैयार करती है।

(4) ऋण लेने की सुविधा —आय से अधिक व्यय होने पर व्यक्ति तथा सरकार दोनों ही ऋण लेते हैं, किन्तु इनके ऋण लेने की सुविधाओं मे अन्तर होता है। जब सरकार का व्यय उसकी आय से अधिक होता है तो वह बाह्य तथा आन्तरिक (External and Internal) दोनो ही प्रकार से कर्ज प्राप्त कर सकती है। दूसरे शब्दो में, सरकार अपने देश के नागरिको से आन्तरिक कर्ज

ले सकती है। साथ ही, यह विदेशी सरकार या विदेशियो से बाह्य ऋण भी ले सकती है। किन्तु व्यक्ति के लिए यह सुविधा उपलब्ध नही रहती। वह केवल बाह्य कर्ज (External Loan) यानी अपने बैंक से अथवा अडोस-पडोस से ही कर्ज ले सकता है। इस प्रकार व्यक्ति को सरकार की तरह आन्तरिक ऋण की सुविधा उपलब्ध नही रहती।

(5) सीमान्त उपयोगिता का समीकरण (Equalisation of Marginal Utility) — प्रत्येक व्यक्ति सम-सीमान्त उपयोगिता नियम के आधार पर अपने व्यय को इस प्रकार से व्यवस्थित करता है कि व्यय की सभी मदो मे उसे समान सीमान्त उपयोगिता तथा कुल मिलाकर अधिकतम उपयोगिता (Maximum Utility) प्राप्त हो। किन्तु सरकार जब अपने धन को व्यय करती है तो उसके लिए इस प्रकार सरलतापूर्वक विचार करना सम्भव नही है क्योंकि उपयोगिता निराकार (Subjective) होती है। किन्तु इसका अर्थ यह नही कि राजकीय व्यय अविवेकपूर्ण होता है। वास्तव मे, सरकार सम्पूर्ण समाज की उपयोगिता को ध्यान मे रखकर ही अपना व्यय करती है। वह अपनी आय को विभिन्न मदो मे इस प्रकार से खर्च करती है जिसमे कि देश तथा समाज को अधिकतम सामाजिक कल्याण (Maximum Social Advantage) प्राप्त हो।

(6) मुद्रा-प्रसार अथवा अतिरिक्त पत्र-मुद्रा जारी करना सरकारों के लिए विशेष प्रक्रिया (Inflation or printing of more Paper notes a peculiar priviledge of the Govt) —आय से व्यय अधिक होने पर सरकार के लिए आय मे वृद्धि का एक दूसरा साधन भी उपलब्ध है। सरकार मुद्रण यन्त्र की सहायता से अतिरिक्त पत्र मुद्रा भी जारी कर सकती है। युद्ध के समय अपने खर्चों की पूर्ति के लिए प्रत्येक देश मे सरकार द्वारा अत्यधिक मात्रा मे पत्र मुद्रा जारी की जाती है। आर्थिक नियोजन के समय भी प्राय यही बात पायी जाती है। किन्तु व्यक्ति को यह साधन उपलब्ध नही है।

(7) आधिक्य बजट वैयक्तिक अर्थ-व्यवस्था का एक प्रधान गुण है, किन्तु राजकीय अर्थ व्यवस्था के लिए नहीं (Surplus budgeting is a virtue for an individual but not for the State) —व्यक्ति को अपनी आय से कम व्यय करना चाहिए। दूसरे शब्दों मे आधिक्य बजट (Surplus Budget) व्यक्तिगत अर्थ-व्यवस्था का एक प्रमुख गुण माना जाता है, किन्तु राज्य के लिए आधिक्य बजट एक गुण नही है। इसमे कोई सदेह नही कि घाटे का बजट (Deficit Budgeting) भी बुरा एवं राजस्व के अस्थायित्व का प्रतीक है। किन्तु बचत का बजट भी अच्छा नही है। इसका अर्थ यह होता है कि या तो करो का स्तर अनावश्यक रूप से ऊँचा रखा गया है, या राजकीय व्यय को अनुचित रूप से नीचा रखा गया है जिससे कल्याण के कार्यों पर विशेष जोर नही दिया जा रहा है। इस प्रकार यदि प्रतिवर्ष सरकारी बजट मे अधिक मात्रा मे आधिक्य हो तो या तो करदाताओ को छूट देनी चाहिए या सामाजिक व्यय के स्तर मे वृद्धि करनी चाहिए।

(8) सार्वजनिक वित्त मे सोच-विचार कर भारी परिवर्तन करना आसान है (Deliberate & big changes in Public Finance is easier) —किसी व्यक्ति के लिए आय अथवा व्यय मे कोई बडा परिवर्तन करना सुगम नही है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी आय को बढाना चाहता है। किन्तु ऐसा कितने लोग कर सकते है? इसी प्रकार एक व्यक्ति रहन सहन के एक निश्चित स्तर का आदी हो जाता है जिसमे आसानी से परिवर्तन नही हो पाता, लेकिन सरकार राजकीय व्यय की योजना मे अच्छी तरह बडे एव मौलिक परिवर्तन करने मे समर्थ होती है। उदाहरण के लिए, यदि समाजवादी दल के हाथ मे सत्ता आ जाय तो वह निश्चय ही राजकीय आय और व्यय दोनो मे क्रान्तिकारी परिवर्तन कर सकता है। किन्तु राजकीय अर्थ प्रबन्ध की तरह व्यक्तिगत अर्थ-प्रबन्ध मे इस प्रकार की लोच का प्राय: अभाव पाया जाता है।

(9) भविष्य के लिए व्यवस्था (Provision for the future) —भविष्य के लिए व्यवस्था के सम्बन्ध मे भी सरकार को बहुत अधिक उदार और दूरदर्शी होना पडता है। राजनीतिज्ञ भावी पीढियो के लिए प्रन्यासी (Trustees) होता है। सरकार विभिन्न योजनाओं पर भारी रकमे खर्च करती है जिनके बदले मे शीघ्र कुछ लाभ नही प्राप्त होता। यदि होता भी है

तो कई पीढियों बाद । इसके विपरीत व्यक्ति शीघ्र लाभ प्राप्त करने को उत्सुक रहता है । मानव जीवन इतना अधिक अनिश्चित होता है कि व्यक्ति भविष्य की विशेष चिन्ता नही करता, परन्तु समाज व्यक्तियों के आवागमन के बाद भी जीवित रहता है, यह हमेशा स्थायी रहता है, इसलिए राज्य भविष्य के लिए ठोस व्यवस्था करने को बाध्य होता है । डाल्टन (Dalton) का इस सम्बन्ध में निम्न कथन विशेष रूप से उल्लेखनीय है—"The statesman is a trustee for the future no less than for the present. Individuals die but the community of which they form part lives on. The statesman, therefore, should prefer a larger social advantage in the future to a smaller one to-day"

(10) **वैयक्तिक अर्थ-व्यवस्था रहस्य में छिपी रहती है** (Individual Finance is shrouded in mystery) —वैयक्तिक अर्थ-प्रबन्ध गुप्त रहता है, यह सर्वविदित नही होता; क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति अपनी आर्थिक स्थिति के विषय में लोगो के सामने अस्पष्ट चित्र प्रस्तुत करने का प्रयास करता है किन्तु इसके विपरीत राजकीय अर्थ-व्यवस्था का सार ही प्रचार करना है । इसी उद्देश्य से राज्य के बजट प्रकाशित होते हैं, संसद् मे उनपर बहस होती है तथा उनका अधिकतम प्रचार किया जाता हैं ।

(11) **राजकीय संस्थाएँ साधारणतः आम जनता से धन लेकर उसे जन कल्याण के कार्यों में व्यय करती हैं**, किन्तु व्यक्ति अपनी आय स्वय प्राप्त करता है और साधारणत: उसे अपने परिवार की भलाई के कार्य मे व्यय करता है ।

राजस्व का क्षेत्र

(Scope of the Public Finance)

आज से लगभग सो-डेट-सो वर्ष पूर्व राज्य का कार्य-क्षेत्र बहुत ही सकुचित था । समाज मे व्यक्तिवादी धारणा का प्रचलन था तथा सभी इस बात को समझते थे कि राज्य अपने न्यूनतम कार्यों की सीमा के बाहर कोई भी कार्य अच्छी तरह से नही कर सकता था । उस समय प्रत्येक कर को बुरा (Every tax is an evil) समझा जाता था । प्रमुख अर्थशास्त्री जे० बी० से (B Say) का यह कथन कि "कम-से कम व्यय करने की योजना ही राजस्व की सबसे अच्छी योजना है तथा वही कर सबसे अच्छा है जो कम-से-कम परिमाण में हो" (The very best of all plans of finance is to spend little and the best of all taxes is that which is least in amount.)—राजस्व के प्रति आज से 150 वर्ष पूर्व विद्वानो की धारणा को अच्छी तरह से व्यक्त करता है ।

किन्तु आजकल राजस्व के क्षेत्र के सम्बन्ध मे आम धारणा बिलकुल बदल गयी है । आज का युग कल्याणकारी राज्य (Welfare State) का युग है जिसका प्रधान उद्देश्य अधिकतम सामाजिक कल्याण की प्राप्ति है । आज राज्य का उद्देश्य केवल सुरक्षा तक ही सीमित नही है, वरन् देश मे धन एवं आय के वितरण की विषमता को यथासम्भव दूर करना तथा समाज मे पूर्ण रोजगारी (Full-employment) की व्यवस्था करना भी है । इन उद्देश्यों के कारण आजकल राज्य की आर्थिक एवं सामाजिक क्रियाओ का क्षेत्र बढता ही जा रहा है जिनकी पूर्ति के लिए अधिक मात्रा में आय की आवश्यकता पडती है । इस प्रकार राजकीय आय एवं व्यय, दोनो मे वर्तमान युग मे, विशेषत प्रथम विश्व-युद्ध के बाद से, महत्वपूर्ण वृद्धि हुई है । अतएव, आधुनिक समय मे समाजवादी एवं कल्याणवादी सिद्धान्तो के प्रसार के फलस्वरूप राजस्व का क्षेत्र भी अति व्यापक होते जा रहा है ।

अर्द्ध-विकसित देशों में राजस्व

(Public Finance in Under-developed Countries)

साधारणत', विकसित एवं अर्द्ध-विकसित देशो मे राजस्व नीति के उद्देश्य एक समान होते हैं । किन्तु, वास्तव मे विकसित एवं अर्द्ध-विकसित देशो की आर्थिक व्यवस्था मे कुछ मौलिक अन्तर पाये जाते हैं । उदाहरण के लिए, विकसित देशो की प्रमुख आर्थिक समस्या आर्थिक स्थायित्व की समस्या होती है जबकि अर्द्ध-विकसित देशों मे साधनों की दुर्लभता तथा पूंजी-निर्माण एवं

विनियोग के अभाव की समस्या पायी जाती है। अतएव कुछ अर्थशास्त्री इस बात को मानते हैं कि अर्द्ध-विकसित आर्थिक व्यवस्था वाले देशों में आधुनिक तरीके की वित्तीय संस्थाओं का अभाव पाया जाता है जिससे ऐसी अर्थ-व्यवस्था में वित्तीय नीति प्रभावोत्पादक नहीं हो पाती। किन्तु इस प्रकार की धारणा तथ्यहीन है। वास्तव में, एक अर्द्ध-विकसित आर्थिक व्यवस्थावाले देश में भी वित्तीय नीति का बड़ा ही महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। इसके कई कारण हैं :— सर्वप्रथम तो अर्द्ध-विकसित देशों में आर्थिक विकास के लिए राज्य को सक्रिय रूप से भाग लेना पड़ता है। राज्य इस उद्देश्य से देश के आर्थिक जीवन को नियमित एवं नियन्त्रित करता है और राज्य के इस कार्य में वित्तीय नीति (Fiscal Policy) एक महत्त्वपूर्ण अस्त्र का कार्य करती है। द्वितीयत, अर्द्ध-विकसित देशों की प्रधान समस्या पूंजी का निर्माण है और इस कार्य में करारोपण का बड़ा ही महत्त्वपूर्ण स्थान है, जैसा कि नर्क्से (Nurkse) ने कहा है "अर्द्ध-विकसित देशों में पूंजी-निर्माण की समस्या के समाधान में राजस्व का एक नया और महत्त्वपूर्ण स्थान होता है।" (I believe that public finance assumes a new significance in the face of problems of capital formation in under developed countries)[1] और अन्तत आर्थिक नियोजन के सफल कार्यान्वयन के क्षेत्र में राजस्व का बड़ा ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। वास्तव में, भौतिक नियोजन की ही तरह आज के युग में वित्तीय नियोजन भी महत्त्वपूर्ण स्थान है और वित्तीय नियोजन समुचित वित्तीय नीति पर ही आधारित है।

इस प्रकार अर्द्ध-विकसित आर्थिक व्यवस्था वाले देशों के लिए भी राजस्व का विशेष रूप से महत्त्व है।

विशेष अध्ययन सूची

1. Dalton : Public Finance, Chapter—I.
2. Hicks . Public Finance, Chapter—I
3. Groves Financing of Government, Chapter—I.

अध्याय : 50

अधिकतम सामाजिक कल्याण का सिद्धांत

(The Principle of Maximum Social Advantage)

प्राक्कथन —हमारे जीवन मे कुछ ऐसे कार्य अथवा कुछ ऐसी आवश्यकताएँ हैं जिनका सम्पादन अथवा जिनकी पूर्ति हम अकेले नही कर सकते। अतएव ऐसे कार्यों के सम्पादन मे सरकार या सार्वजनिक संस्थाओं के लिए हाथ बँटाना अनिवार्य हो जाता है। सामाजिक अथवा सामूहिक आवश्यकताएँ, जैसे—देश की सुरक्षा, सार्वजनिक चिकित्सा, स्वास्थ्य तथा सफाई एवं पूर्ण रोजगारी की व्यवस्था इत्यादि ऐसी आवश्यकताएँ हैं जिनकी पूर्ति के लिए हमे मुख्य रूप से राज्य के ऊपर निर्भर करना पडता है। सरकार समाज के प्रतिनिधि होने के नाते हमारी इन आवश्यकताओं की पूर्ति मे पूरा-पूरा सहयोग प्रदान करती है।

आज से लगभग 150-200 वर्ष पूर्व यह सिद्धान्त सर्वमान्य था कि राज्य को कम-से-कम व्यय करना चाहिए तथा कम-से-कम कर वसूलना चाहिए। आज भी इस विचारधारा के बहुत-से समर्थक हैं जो ऐसा कहते हैं कि प्रत्येक कर एक अभिशाप है। (Every tax is an evil.) सुप्रसिद्ध विद्वान जे० बी० से (J. B. Say) के अनुसार **"राजस्व की सभी योजनाओं में सबसे अच्छी योजना सबसे कम खर्च करने की है और सभी करों में वही कर अच्छा है जो कम से कम मात्रा में हो।"** (The very best of all plans of Public Finance is to spend little and the best of all taxes is that which is least in amount.) वास्तव मे, इस प्रकार की धारणा व्यक्तिवादी विचारधारा की देन थी जो इस बात पर आधारित थी कि सरकार को व्यक्ति की सम्पत्ति एवं स्वतन्त्रता मे अनावश्यक रूप से हस्तक्षेप करना सर्वथा अनुचित है। इन लोगों की यह धारणा थी कि सबसे अच्छी सरकार वही है जो सबसे कम शासन करे। प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियो, जिनमे आदम स्मिथ (Adam Smith) तथा रिकार्डो (Ricardo) भी सम्मिलित थे, के अनुसार **"अधिकांश वैयक्तिक व्यय जिन्हें कर रोकता है, उत्पादक हैं तथा अधिकांश सार्वजनिक व्यय अनुत्पादक हैं।"** ग्लैडस्टोन के समय तक सार्वजनिक व्यय को उपेक्षा की दृष्टि से देखा जाता था। स्वयं ग्लैडस्टोन ने लोगो की जेब मे पैसा पड़े रहने की घोषणा की थी मानो पैसा वहाँ पक्का देता हो। (Leaving money to fructify in the pockets of the people as though it were a ripening cheese.) दूसरे शब्दो मे, इनकी राय मे व्यक्तियों द्वारा व्यय किया गया द्रव्य उत्पादक तथा सरकार द्वारा व्यय किया गया धन अनुत्पादक होता था।

किन्तु, यह कहना कि प्रत्येक कर एक अभिशाप है, उचित नही है। उदाहरण के लिए, अल्कोहल पर कर लगाने से उसका भाव बढ जाता है जिससे उसकी खपत कम हो जाती है। इससे लोगो की भलाई होती है। इसी प्रकार यह कहना कि लोग सदा अच्छी मदों मे ही अपना पैसा व्यय करते हैं, पूर्णत सत्य नही है। जैसे—आजकल धनी-मानी व्यक्ति बहुत अधिक रकम जुआ आदि बुरे व्यसनों पर व्यय करते हैं। इसी प्रकार यह भी नही कहा जा सकता कि सरकार द्वारा सदा अच्छे कार्यों पर ही धन खर्च किया जाता है। उदाहरण के लिए, युद्ध तथा युद्ध की तैयारी पर किया जाने वाला व्यय अवश्य ही एक अभिशाप है। इस प्रकार राजस्व की किसी भी क्रिया के दोनों पक्षों पर विचार किये बगैर इसे अच्छा या बुरा नही कहा जा सकता। सरकार कर आदि के द्वारा जनता से धन संग्रह करती है और उसे पुन सार्वजनिक कार्यों मे व्यय करती है। अतएव सार्वजनिक व्यय के लाभ को देखे बगैर कर के बोझ (burden of taxation) के सम्बन्ध मे निरपेक्ष रूप से चर्चा करना सर्वथा अनुचित है। यदि सरकार कर वसूलकर सार्वजनिक हित के कार्यों, जैसे—शिक्षा, स्वास्थ्य आदि पर व्यय करती है तो इससे समाज के आर्थिक एवं सामाजिक

कल्याण में वृद्धि होती है। कितने लोग सार्वजनिक व्यय में वृद्धि देखकर सरकार की निन्दा करते हैं, किन्तु जैसा कि हमलोग देखते हैं, सभ्यता के विकास एवं मानवीय आवश्यकताओं में वृद्धि के साथ-साथ सार्वजनिक व्यय भी बढ़ते जा रहा है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि वैयक्तिक अर्थ-नीति की तरह राजस्व में भी मितव्ययिता का बहुत बड़ा महत्व है, किन्तु इस सम्बन्ध में सच्ची एवं झूठी मितव्ययिता में विभेद करना अनिवार्य है।

अधिकतम सामाजिक कल्याण के सिद्धान्त की व्याख्या

एक व्यक्ति की अर्थ-नीति की तरह सार्वजनिक अर्थ नीति का भी एक निश्चित उद्देश्य होना चाहिए। अब प्रश्न यह है कि राजस्व (यानी सार्वजनिक अर्थ-नीति का) क्या उद्देश्य होना चाहिए? व्यक्ति की तरह राज्य भी आजकल अपनी आय एवं व्यय का इस प्रकार सामंजस्य करता है कि वह सामाजिक कल्याण को अधिकतम बना सके। इस प्रकार अधिकतम सामाजिक कल्याण की प्राप्ति ही राजस्व का मौलिक उद्देश्य है। दूसरे शब्दों में, राज्य की वित्तीय क्रियाओं का नियमन अधिकतम सामाजिक कल्याण की प्राप्ति के उद्देश्य से होता है।

राजस्व शास्त्र में 'अधिकतम सामाजिक कल्याण के सिद्धान्त' (Principle of Maximum Social Advantage) के प्रतिपादन का श्रेय सुप्रसिद्ध अर्थशास्त्री डाल्टन (Dalton) को है। **डाल्टन के अनुसार, "राजस्व की सर्वोत्तम व्यवस्था वह कहलायगी जिसकी क्रियाओं से अधिकतम सामाजिक कल्याण की प्राप्ति होती हो।"** (The best system of Public Finance is that which secures the maximum social advantage from the operations which it conducts)

हम जानते हैं कि राजस्व की सभी क्रियाओं से क्रय शक्ति का हस्तांतरण होता है जिसके फलस्वरूप आर्थिक साधनों के उपयोग में भी परिवर्तन होता है। सरकार कर तथा अन्य रूप में जनता से क्रय शक्ति लेती है और उसे पुनः राजकीय व्यय के रूप में जनता के हाथ में हस्तांतरित कर देती है। जनता के हाथ में क्रय शक्ति का हस्तांतरण दो तरीकों से होता है —कुछ लोगों को जैसे पुलिस या शिक्षक, आदि को उनकी सेवाओं के बदले तनख्वाह अथवा पेन्सन आदि तथा कुछ जैसे शिक्षा एवं दवा-दारू की व्यवस्था के रूप में बिना किसी सेवा के बदले जनता को हस्तांतरित किया जाता है। राजस्व की इन क्रियाओं के परिणामस्वरूप समाज में धन के उत्पादन एवं वितरण में भी परिवर्तन होता है। अब यदि इन परिवर्तनों का समाज पर अच्छा प्रभाव पड़ता हो तो राजस्व की क्रिया को उचित एवं यदि अच्छा प्रभाव नहीं पड़ता हो तो अनुचित कहा जायगा।

इस सिद्धान्त की व्याख्या एक-दूसरी तरह से भी की जा सकती है। इस सिद्धान्त के अनुसार राजकीय व्यय हर दिशा में उस विन्दु तक बढ़ाते रहना चाहिए जहाँ तक कि इस व्यय से उत्पन्न होनेवाले सन्तोष (यानी सीमान्त उपयोगिता) राज्य द्वारा लगाये गये करों से उत्पन्न होने वाले असंतोष (यानी सीमांत अनुपयोगिता) के बराबर न हो जाय। इस प्रकार राजस्व की क्रियाओं से संतोष उस समय अधिकतम होगा जबकि संतोष एवं असन्तोष दोनों पूर्ण सन्तुलन की स्थिति में होंगे।

इस प्रकार राजस्व की क्रियाओं का समाज में धन एवं आय के वितरण पर प्रभाव पड़ता है। यह प्रभाव निम्नांकित तरीके से पड़ता है —

(1) आय के वितरण में परिवर्त्तन (Changes in the distribution of income) —राजस्व की क्रियाओं के परिणामस्वरूप समाज में आय के वितरण में भी परिवर्तन होता है। सरकार कर के रूप में धनी-वर्ग के लोगों से आय प्राप्त करती है और उसे निर्धन-वर्ग के लोगों की आवश्यकताओं की पूर्ति पर व्यय किया करती है। इससे धनी वर्ग के लोगों के आर्थिक कल्याण (Economic Welfare) में कमी तथा निर्धन-वर्ग के लोगों के आर्थिक कल्याण में वृद्धि होती है। इस प्रकार अमीरों तथा गरीबों के बीच की गहरी खाई को पाटने का प्रयत्न किया जाता है। इससे आय के वितरण में परिवर्तन होता है। राजस्व की इस प्रकार की नीति निस्सन्देह अधिकतम सामाजिक कल्याण के सिद्धान्त का पालन करती है।

(2) उत्पादन की सम्पूर्ण मात्रा पर प्रभाव (Effects on the total volume of production) —करों का प्रभाव देश की उत्पादन की मात्रा पर भी पड़ता है। कर चुकाने के

लिए लोग या तो उपभोग कम करते हैं या बचत कम करते हैं। इन दोनों का उत्पादन पर प्रभाव पड़ता है। आमदनी पर ऊँची दर से कर लगाने से पूँजी-निर्माण (Capital formation) कम हो जाता है और अन्ततः देश के उत्पादन की कुल मात्रा मे भी कमी होती है। अत अधिकतम सामाजिक कल्याण के सिद्धान्त के पालन के लिए कर इस प्रकार लगाया जाय जिससे कि देश मे उत्पादन की कमी नही हो।

(3) **बचत पर प्रभाव** (Effects on saving) :—कर का प्रभाव समाज की बचत पर भी पड़ता है। अधिकतम सामाजिक कल्याण की प्राप्ति के लिए यह आवश्यक है कि कर इस प्रकार से लगाया जाय जिससे कि समाज मे बचत को प्रोत्साहन मिले। बचत को प्रोत्साहन देने से देश में अधिक पूँजी का निर्माण होगा और उत्पादन की मात्रा बढ़ेगी। इससे लोगो को उपभोग के लिए अधिक-से-अधिक वस्तुएँ प्राप्त हो सकेंगी।

अतएव अधिकतम सामाजिक कल्याण की प्राप्ति के लिए उक्त सारी बातों पर ध्यान देना आवश्यक है। जो सरकार इनका समाधान अच्छे-से-अच्छे ढंग मे करेगी वही 'अधिकतम सामाजिक कल्याण' के सिद्धान्त का पालन कर सकेगी।

अधिकतम सामाजिक कल्याण का सिद्धान्त उपयोगिता ह्रास नियम पर आधारित है। जैसे-जैसे किसी व्यक्ति के पास धन की मात्रा बढ़ती जाती है, धन की प्रत्येक वृद्धि के साथ साथ उसकी उपयोगिता उस व्यक्ति के लिए घटती जाती है। इसके विपरीत व्यक्ति के पास धन की मात्रा कम होने के साथ-साथ उसकी उपयोगिता भी बढ़ती जाती है। अतएव सरकार जब नया कर लगाती है तो उससे समाज को पहले की अपेक्षा अधिक अनुपयोगिता प्राप्त होती है। इसी प्रकार सरकार को करो मे जो आय प्राप्त होती है उसे सामाजिक कल्याण की प्राप्ति के लिए व्यय करती है, तो व्यय की प्रत्येक अगली इकाई समाज को पहले की अपेक्षा कम उपयोगिता प्रदान करती है। अतएव "अधिकतम सामाजिक कल्याण के उद्देश्य की प्राप्ति के लिए सरकार को कर लगाकर अपनी क्रियाएँ उस सीमा तक बढ़ानी चाहिए जहाँ पर कर की मात्रा में वृद्धि होने से समाज को प्राप्त होनेवाली अनुपयोगिता (disutility) कर को व्यय करने से समाज को प्राप्त होनेवाली उपयोगिता (utility) के बराबर होती है।" (The, *state should push taxation and along with it the* expenditure to the point where a further dose of taxation causes disutility just equal to the utility yielded by its expenditure.)

इसे चित्र द्वारा निम्न प्रकार से दिखाया जा सकता है :—
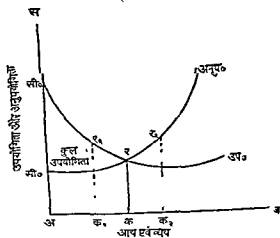
उपरोक्त चित्र मे अ ब रेखा पर आय एवं व्यय तथा अ स रेखा पर उपयोगिता एवं ोगिता को दिखलाया गया है। 'सी० उप०' रेखा सरकारी व्यय की सीमान्त उपयोगिता

तथा 'सी० अनुप०' रेखा करो की सीमान्त अनुपयोगिता को दिखलाती है। सार्वजनिक व्यय में वृद्धि के साथ-साथ सीमान्त उपयोगिता घटती जायगी जैसा कि 'सी० उप०' रेखा से स्पष्ट है। इसी प्रकार कर के भुगतान से करदाता की सीमान्त अनुपयोगिता बढ़ती जाती है, जैसा कि 'सी० अनुप०' रेखा से स्पष्ट है। ये दोनों रेखाएँ एक-दूसरे को 'र' विन्दु पर काटती हैं। इसी विन्दु पर कुल संतुष्टि अधिकतम होती है।

यदि कर को $क_2$ विन्दु तक बढ़ाया जाय और उसे व्यय किया जाय तो समाज को अनुपयोगिता अधिक तथा उपयोगिता कम होगी, अतएव आय व्यय की यह नीति उचित नहीं होगी। इसी प्रकार यदि सरकार $क_1$ विन्दु तक कर वसूल करती है और उसे व्यय करती है तो भी कुल उपयोगिता अधिकतम नहीं होगी। अतएव सरकार को अपना आय-व्यय क विन्दु तक रखना ही अधिक उचित होगा।

अधिकतम सामाजिक कल्याण की जाँच के आधार

(Tests of Maximum Social Advantage)

किन्तु करो से उत्पन्न सीमान्त अनुपयोगिता तथा सार्वजनिक व्यय से प्राप्त सीमान्त उपयोगिता के सम्बन्ध का पता लगाना बहुत ही कठिन है। राज्य के लिए यह सम्भव नहीं है कि वह इस प्रकार की उपयोगिता एवं अनुपयोगिता का पूर्ण ब्योरा तैयार कर उनमें संतुलन स्थापित करे।

अतएव यह निश्चित करने के लिए कि राजस्व की क्रियाओं से अधिकतम सामाजिक कल्याण की प्राप्ति हुई या नहीं, डाल्टन (Dalton) ने निम्नलिखित आधार बतलाया है —

(1) **आंतरिक अशान्ति एवं बाह्य आक्रमण से देश की सुरक्षा (The preservation of the community against internal disorders and external attacks)** :— अधिकतम सामाजिक कल्याण की प्राप्ति के लिए सर्वप्रथम यह आवश्यक है कि सरकार को सदा देश एवं समाज को आतरिक अशाति एवं बाह्य आक्रमण से रक्षा करने का प्रयास करना चाहिए। यह राज्य का मौलिक कर्त्तव्य है कि वह अपने देश को इन आपत्तियों मे सुरक्षित रखे। शान्ति के बगैर देश की प्रगति बिलकुल सम्भव नही है। यह कैसे किया जा सकता है, इस विषय की चर्चा इस पुस्तक के क्षेत्र से बाहर की बात हो जायगी। किन्तु यहाँ इतना कहना उचित होगा कि यह मुख्यतः राज्य की घरेलू तथा विदेशी नीति पर निर्भर करता है।

(2) **आर्थिक कल्याण में वृद्धि (Increase in Economic Welfare)** —डाल्टन के अनुसार अधिकतम सामाजिक कल्याण की प्राप्ति का दूसरा आधार समाज के आर्थिक कल्याण में वृद्धि है। आर्थिक कल्याण मे वृद्धि के लिए निम्नांकित दो बातो पर ध्यान देने की आवश्यकता है—

(क) देश के उत्पादन मे वृद्धि (Improvement in Production), एवं
(ख) उत्पादित धन के वितरण मे समुचित सुधार (Improvement in the distribution of what is produced)।

(क) देश के उत्पादन में वृद्धि (Improvement in Production) —उत्पादन में वृद्धि साधारणतया निम्नांकित बातों पर निर्भर करती है —

(i) देश की उत्पादन-शक्ति मे वृद्धि जिससे प्रति श्रमिक उत्पादन अधिक हो सके,
(ii) उत्पादन के संगठन मे सुधार जिसमे बेरोजगारी तथा अन्य कारणो से आर्थिक साधनों की बरबादी कम-से-कम हो सके, तथा
(iii) उत्पादन की बनावट या ढाँचे मे सुधार जिससे समाज की अधिकतम आवश्यकताओं की पूर्ति हो सके।

इस प्रकार इन सब बातों का आशय यह है कि राजस्व की क्रियाओं से उत्पादन मे वृद्धि होनी चाहिए और उत्पादन मे वृद्धि के लिए देश की उत्पादन शक्ति मे वृद्धि, उत्पादन के संगठन

तथा उत्पादन की बनावट या ढाँचे में सुधार आदि अनिवार्य है। यदि राजस्व की किसी भी क्रिया से इन उद्देश्यों की पूर्ति होती है तो यह कहा जायगा कि इससे अधिकतम सामाजिक कल्याण की प्राप्ति होती है, अन्यथा नहीं।

(ख) वितरण में सुधार (Improvement in the distribution of what is produced) : - इसी प्रकार वितरण में सुधार निम्नांकित बातों पर निर्भर करता है :—

(i) विभिन्न व्यक्तियों एवं परिवारों की आय के वितरण में व्याप्त विषमता को कम करना (Reduction in great inequalities in the distribution of income) :— इस प्रकार की विषमता को दूर करना इसलिए आवश्यक है कि इससे समाज की आय का वितरण लोगों की आवश्यकताओं के अनुसार होता है। साथ ही, इसमें आय का समुचित तरीके से प्रयोग भी सम्भव होता है। उपार्जित आय (Earned income) के वितरण में थोड़ी-बहुत विषमता योग्यता तथा दायित्व आदि में अन्तर के कारण रह भी सकती है, किन्तु अनुपार्जित आय (Unearned income) के वितरण में विषमता को कम करना सर्वाधिक आवश्यक है।

(ii) भिन्न-भिन्न समय के बीच व्यक्तियों तथा परिवार की आय के उच्चावचनों को कम करना (Reduction in the great fluctuations between different period of times in the income of particular individuals and families) :—इसके साथ ही भिन्न-भिन्न समय के बीच आय के परिवर्तनों को भी कम करना वाञ्छनीय है। इससे व्यक्तियों की आय एवं रोजगारी अधिक स्थायी होती है जिससे समाज का आर्थिक जीवन भी स्थायी बनता है। आजकल पूर्ण रोजगार (Full employment) की प्राप्ति पर भी बहुत अधिक जोर दिया जा रहा है। प्रत्येक देश की आर्थिक नीति का प्रधान उद्देश्य पूर्ण रोजगारी की प्राप्ति हो गया है। अतएव राजस्व की नीति का उद्देश्य भी पूर्ण रोजगारी की प्राप्ति में सहायता करना होना चाहिए।

इस प्रकार राजस्व की प्रत्येक क्रिया जिसका उद्देश्य धन के वितरण की विषमताओं को कम करना हो, आय के उच्चावचनों को न्यूनतम बनाना हो एवं देश में रोजगार तथा आय के साधनों में वृद्धि करना हो जिसके परिणामस्वरूप देश का आर्थिक जीवन अधिक स्थायी बना रहे, वह न्यायोचित होगी और इसमें सामाजिक कल्याण भी अधिकतम होगा। इसके अतिरिक्त राजस्व न्यायोचित होगी और इसमें सामाजिक कल्याण भी अधिकतम होगा। इसके अतिरिक्त राजस्व की क्रियाओं में भविष्य पर भी समुचित ध्यान देना अनिवार्य है। वास्तव में, सामाजिक कल्याण का अनुमान लगाते समय वर्तमान एवं भविष्य दोनों बातों पर समान रूप से ध्यान देना चाहिए और उनकी तुलना करके ही कोई निर्णय लेना चाहिए। इसका कारण यह है कि वित्त मन्त्री भविष्य का न्यासी होता है। व्यक्ति मरते हैं, किन्तु समाज, जिसका वह सदस्य है, निरन्तर चलते रहता है। अतः, वित्त मन्त्री को वर्त्तमान में कम लाभ की अपेक्षा भविष्य में अधिक लाभ को प्राथमिकता देनी चाहिए। (The statesman is a trustee for the future, no less than for the present. Individuals die, but the community of which they form part, lives on. The statesman, therefore, should prefer a larger social advantage in the future to a smaller one to day.)

सिद्धांत की सीमाएँ अथवा व्यावहारिक कठिनाइयाँ

(Limitations or Practical Difficulties)

सैद्धांतिक दृष्टि से अधिकतम सामाजिक कल्याण का सिद्धान्त बहुत ही उपयुक्त है किन्तु व्यावहारिक जीवन में इस सिद्धान्त के प्रयोग करने में हमें अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। स्वयं डाल्टन ने इसे स्वीकार करते हुए कहा है कि "यह सिद्धान्त सरल एवं स्पष्ट है परन्तु इसे व्यवहार में लागू करना बड़ा ही कठिन है।" (The principle is obvious, simple and far reaching though its practical application is often very difficult.) इसकी निम्नांकित प्रमुख व्यावहारिक कठिनाइयाँ हैं :—

(1) सर्वप्रथम तो करों से उत्पन्न सीमांत अनुपयोगिता तथा राजकीय व्यय से प्राप्त सीमांत उपयोगिता का पता लगाना तथा इनमे सामंजस्य स्थापित करना बहुत ही कठिन कार्य है। राज्य के सम्बन्ध मे तो यह कठिनाई बहुत ही उग्र हो जाती है क्योंकि कर वसूली तथा सार्वजनिक व्यय के कार्य सरकार के विभिन्न विभागों एवं विभिन्न स्थानों मे भिन्न-भिन्न व्यक्तियों द्वारा सम्पन्न किये जाते हैं।

(2) द्वितीयत, राज्य की क्रियाएँ—आर्थिक, गैर आर्थिक तथा राजनैतिक आदि अनेक बातों से प्रभावित होती हैं। इस प्रकार राज्य के लिए यह सम्भव नहीं कि वह अनुपयोगिताओं एवं उपयोगिताओं का पूरा पूरा ब्योरा तैयार कर उनमे संतुलन स्थापित करे।

इन कारणों से व्यावहारिक जीवन मे इस सिद्धांत को काम मे लाने मे कठिनाई होती है। डाल्टन ने इस सम्बन्ध में ठीक ही कहा है कि राजस्व के किसी भी प्रभाव की विवेचना करते समय उस प्रस्ताव से उत्पन्न होने वाले प्रभावों को ध्यान मे रखना चाहिए, उससे समाज को होने-वाले लाभ तथा हानियों का पता लगाना चाहिए और इसकी तुलना अन्य प्रस्तावों के लाभ तथा हानियों से करके जो निष्कर्ष निकले उसी के आधार पर कार्य करना चाहिए। किन्तु इस प्रकार का निर्णय बहुत ही कठिन है क्योंकि एक तो भविष्य के विषय मे सही अनुमान लगाना ही कठिन है और दूसरे अधिकांश निर्णय आर्थिक एवं गैर-आर्थिक दोनों उद्देश्यों से प्रभावित होते हैं। किन्तु अधिकतम सामाजिक कल्याण की प्राप्ति के लिए ऐसा करना नितांत आवश्यक है। डा० डाल्टन के अनुसार जो लोग इस लेखे जोखे की कठिनाइयों से आक्रांत हो उठते है, उन्हे इस प्राचीन यूनानी कहावत से सांत्वना प्राप्त करनी चाहिए कि "सरल चीजें नहीं, अपितु कठिन चीजें ही सुन्दर हुआ करती है।" (It is not the easy but difficult things that are beautiful) और इसे सम्पन्न करने का कोई सुगम ढंग भी नहीं है।

श्रीमती हिक्स के विचार

(Views of Mrs Hicks)

श्रीमती उर्सला हिक्स ने सामाजिक कल्याण के सिद्धान्त को दूसरी तरह से समझाया है। श्रीमती हिक्स के अनुसार सार्वजनिक वित्त की नीति और कार्यों को निश्चित करते समय दो बातों को आधार बनाना चाहिए—

(क) उत्पादन-स्तर (Production-Optimum), तथा
(ख) उपयोगिता स्तर (Utility Optimum)।

श्रीमती हिक्स के अनुसार राजस्व का अन्तिम उद्देश्य सामाजिक आवश्यकताओं की संतुष्टि करना है, अतः अधिकतम आवश्यकताओं की संतुष्टि करने के लिए उत्पादन अधिकतम करना चाहिए। यदि साधन स्थिर हो और उत्पादन को अधिकतम नहीं किया जाता हो तो यह स्पष्ट है कि वस्तु का वितरण चाहे किसी प्रकार भी क्यों न किया जाय, सामाजिक संतुष्टि कम ही प्राप्त होगी। अतः आदर्श उत्पादन प्राप्त करने के लिए साधनों का उचित वितरण भी अनिवार्य है। दूसरे शब्दों मे, 'आदर्श उत्पादन स्तर तभी प्राप्त किया जा सकता है जब उत्पादन के साधनों का विभाजन उपयुक्त ढंग से किया गया हो।' इस सम्बन्ध मे श्रीमती हिक्स ने लिखा है—

इस प्रकार "उत्पादन को अधिकतम बनाने" या 'उत्पादन स्तर' का साधनों के वितरण से सम्बन्ध है। श्रीमती हिक्स के अनुसार "उत्पादन की अधिकतम सीमा तभी प्राप्त होती है कि जब उत्पादित वस्तुओं के स्थिर रहने की दशा मे, साधनों के वितरण मे परिवर्तन द्वारा किसी दूसरी वस्तु के उत्पादन को कम किये बगैर, किसी वस्तु के उत्पादन मे वृद्धि करना असम्भव हो।" (The conditions for maximization of output is that it is impossible re-allocate factors to increase the output of one product without diminishing that of another.) श्रीमती हिक्स ने आगे लिखा है कि—"यद्यपि उत्पादन स्तर का आधार बहुत पहले ही साधनों के समान सीमान्त उत्पत्ति के नियम के रूप मे प्रकट हो चुका था और यह कोई नया विचार नहीं है, परन्तु एक तो यह अधिक सूक्ष्म है और दूसरे इसमे वस्तुओं का प्रतिस्थापन मूल्य के आधार पर नहीं किया जाता, इसलिए यह सभी क्षेत्र मे लागू होता है।"

राजस्व का दूसरा आधार उपयोगिता आदश को प्राप्त करना है जिसमे ऐसी व्यवस्था का चयन करना आवश्यक है जिससे कि सतुष्टि अधिकतम हो सके। यहां पर एक व्यक्ति की सतुष्टि को दूसरे व्यक्ति की सतुष्टियो से तुलना करने मे कठिनाई अनुभव होती है। फिर भी इसे क्षतिपूति की विधि द्वारा दूर किया जा सकता है। श्रीमती हिक्स के शब्दो मे "यदि वस्तुओ का कोई विशेष पुनर्वितरण पहले व्यक्ति को पहले से इतनी अधिक सतुष्टि प्रदान कर दे कि वह दूसरे व्यक्ति को क्षतिपूर्ति कर और फिर भी अधिक अच्छा रहे (उस स्थिति मे जैसा कि प्रारम्भ मे था) तो दोनो ही इसमे सहमत होगे कि यह परिवतन पहली स्थिति से अच्छा होगा। इस प्रकार सतुष्टियो को अधिक्तम करना या 'उपयोगिता स्तर' को भी ठीक उसी प्रकार परिभाषित किया जा सकता है, जैसे कि 'उत्पादन स्तर'। श्रीमती हिक्स के अनुसार "उपयोगिता उस समय अधिक्तम होती है जब एक व्यक्ति की सतुष्टि को कम किये वगैर दूसरे की सतुष्टि को बढाना असम्भव हो।" (Utility is maximum when it is impossible to increase the satisfaction of one individual without diminishing the satisfaction of another, after full allowance has been made for consumption)

श्रीमती हिक्स के विश्लेषण से यही प्रकट होता है कि सावजनिक वित्त की वही क्रिया उपयुक्त है जिसके सम्पादन करने से यदि एक मनुष्य की सतुष्टि मे वृद्धि हो तो दूसरे मनुष्य की सतुष्टि में कमी भी हो परन्तु पहले मनुष्य की सतुष्टि की वृद्धि दूसरे मनुष्य की सतुष्टि की कमी से अधिक होनी चाहिए। श्रीमती हिक्स का सावजनिक वित्त के विषय मे यह विचार व्यावहारिक दृष्टि से उतना ही कठिन और अनुपयोगी है जिस प्रकार डाल्टन का अधिकतम सामाजिक लाभ का विचार कठिन है। सामाजिक कल्याण के नियम की तरह श्रीमती हिक्स द्वारा बताये गये आधार भी केवल सैद्धांतिक दृष्टिकोण से ही महत्वपूर्ण हैं, क्योकि इनको कायरूप प्रदान करने के लिए बडी सतर्कता की आवश्यकता है। इसके अतिरिक्त व्यक्ति को बहुत ही निष्पक्ष और हिसाब किताब मे निपुण होना जरूरी है। फिर भी कहा जा सकता है कि यदि इन आधारो पर सार्वजनिक नीतियां को निर्धारित किया जाय तो समाज को अपेक्षाकृत अधिक लाभ प्राप्त होगा। पर इनकी सफलता मे इतनी कठिनाइयां भरी पडी हैं कि सरलता से उन्हे दूर नही किया जा सकता।

विशेष अध्ययन सूची

1 Dalton · Public Finance
2 Hicks Public Finance
3 Taylor The Economics of Public Finance.

अध्याय : 51

सार्वजनिक व्यय

(Public Expenditure)

सार्वजनिक व्यय के अध्ययन का महत्त्व (Importance of the study of Public Expenditure) .—राजकीय क्रियाओ के सचालन के लिए राज्य अथवा सरकार द्वारा किये गये व्यय को राजकीय व्यय कहते हैं। सार्वजनिक व्यय (Public Expenditure) राज्य की आर्थिक क्रियाओ का आदि एवं अंत दोनो ही है। सार्वजनिक व्यय के परिमाण एवं प्रकृति के अध्ययन से हमें समाज के आर्थिक जीवन मे राज्य की क्रियाओ का अन्दाजा लगता है। इससे इस बात का भी अन्दाजा लगता है कि राज्य किस हद तक नागरिको के संरक्षक के रूप मे कार्य करता है। साथ ही, हम देख चुके हैं कि राज्य पहले अपने व्यय को देखता है और तब उसी के अनुसार अपनी आय को समायोजित करने का प्रयास करता है। इससे स्पष्ट है कि सार्वजनिक व्यय राजस्व का एक प्रधान विभाग है। वास्तव मे, जिस प्रकार अर्थशास्त्र मे उपभोग के अध्ययन का महत्त्व है, ठीक उसी प्रकार राजस्व के अध्ययन मे भी सार्वजनिक व्यय का महत्त्व होता है।

उन्नीसवी शताब्दी तक राजस्व के अध्ययन मे सार्वजनिक व्यय पर आय की अपेक्षा बहुत ही कम ध्यान दिया जाता था। राजकीय व्यय की इस उपेक्षा का प्रधान कारण संभवतः यह था कि उस समय इसकी रकम बहुत थोड़ी होती थी, क्योंकि राज्य के कार्यों का क्षेत्र साधारणतः सीमित था। प्राचीन युग मे राज्य का कार्य केवल उसके अस्तित्व को बनाये रखने तक ही सीमित था। उस समय लोग सरकार को अपव्ययी मानते थे। अतएव यह समझा जाता था कि सामाजिक व्यवस्था को बनाये रखने तथा विदेशी आक्रमण से देश की सुरक्षा के लिए आवश्यक व्यय के अतिरिक्त व्यय का अत्यंत छोटा भाग भी अपव्यय एवं अनुचित है तथा जनता के ऊपर निर्दयतापूर्वक दबाव भी तरह है।" (Every particle of expenditure beyond what necessity absolutely requires for the preservation of social order and for protection against foreign attack is waste and unjust and oppressive imposition on public.) लेकिन ये सब विचार अब पुराने पड गये हैं तथा आधुनिक समय मे जैसा कि डाल्टन का कहना है, "केवल व्यक्ति की ही आवश्यकताएँ होती है किन्तु इनमे से कुछ आवश्यकताओ की पूर्ति राज्य अधिक उत्तम तरीके से कर सकता है।" (The truth is, of course that only individuals have needs, but some of these needs can be most effectively satisfied through the agency of the state and by means of public expenditure.) वर्तमान शताब्दी मे राज्य एवं कल्याणकारी राज्य (Weliare State) हो गया है और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए राज्य को बहुत-सारे सामाजिक कार्यों को सम्पन्न करना पड़ता है जिसके लिए उसे बहुत बडी मात्रा मे खर्च करने की आवश्यकता भी पड़ती है। इस प्रकार वर्तमान [illegible] सरकारी कार्यों के क्षेत्र मे वृद्धि के परिणामस्वरूप सार्वजनिक व्यय की रकम [illegible] बहुत बढ़ गयी है। अतएव राजस्व के अध्ययन मे सार्वजनिक व्यय पर समुचित [illegible] ध्यान देना अनिवार्य हो जाता है।

आधुनिक समय में सार्वजनिक व्यय में वृद्धि (Increase in Public Expenditure in Recent times) :—आधुनिक युग मे सार्वजनिक व्यय की एक प्रधान विशेषता इसके आकार मे अत्यधिक वृद्धि है। यदि हम आधुनिक राज्यो के व्यय और इनसे सम्बन्धित आँकड़ो की ओर ध्यान दें तो स्पष्ट होगा कि राज्य के कार्यो मे केवल विस्तृत वृद्धि ही नही हुई है, वरन् गहन वृद्धि भी हुई है।[1] विस्तृत वृद्धि (Extensive increase) का अभिप्राय यह है कि राज्य के कार्यों की सख्या पहले की अपेक्षा बहुत बढ़ गयी है। दूसरे शब्दो में, राज्य के कार्यों का आकार एवं क्षेत्र पहले की अपेक्षा बहुत अधिक बढ़ गया है। गहन वृद्धि (Intensive

1. Taylor : The Economics of Public Finance, p. 48.

increase) का अभिप्राय यह है कि राज्य के जो कार्य पहले मौलिक समझे जाते थे वे पहले की अपेक्षा अधिक व्ययपूर्ण हो गये हैं।

निम्नांकित आँकडो से प्रथम महायुद्ध के बाद इगलैंड एव अमेरिका के सार्वजनिक व्यय मे वृद्धि का अन्दाजा लगता है —

इगलैंड (केवल केन्द्रीय सरकार का व्यय)		संयुक्त राज्य अमेरिका (केन्द्रीय, राज्य तथा स्थानीय सरकारो का कुल व्यय)	
वर्ष	व्यय	वर्ष	व्यय
1913-14	175 मिलियन पौण्ड	1913	1,766 मिलियन डालर
1938-39	927 ,, ,,	1940	17,216 ,, ,,
1958-59	5076 ,, ,,	1958	112,328 ,, ,,

इसी प्रकार निम्नलिखित तालिका से पिछले कुछ वर्षो मे भारत मे केन्द्रीय एव राज्य सरकारो के चालू व्यय (Expenditure on Revenue Accounts) मे वृद्धि का अन्दाजा भी लगता है —

भारत मे केन्द्रीय तथा राज्य सरकारो का व्यय (करोड रुपये मे)

	1921-22	1938 39	1950 51	1965-66	1970 71
केन्द्रीय सरकार	102 22	89 03	346 64	2116 48	3103 14
राज्य सरकारें	70 12	80 53	392 61	1547 00	3306 80
कुल व्यय	172 34	169 56	739 25	3663 48	6409 94

उपरोक्त तालिकाओ से भारत, इगलैंड एव अमेरिका मे पिछले कुछ वर्षो मे सार्वजनिक व्यय मे हुई वृद्धि का अन्दाजा लगता है। तालिका मे यह स्पष्ट है कि भारत मे 1921 22 ई० से 1970 71 ई० के बीच सार्वजनिक व्यय मे 35 गुनी से भी अधिक वृद्धि हुई है। इसी प्रकार 1913 14 ई० से 1958 59 ई० के बीच इगलैंड के केन्द्रीय सरकार के व्यय मे प्राय 29 गुनी तथा 1913 ई० से 1958 ई० के बीच अमेरिका मे केन्द्रीय, राज्य एव स्थानीय सरकारो के व्यय मे प्राय 28 गुनी वृद्धि हुई है। इसी बीच इन देशो की जनसख्या एव मूल्य तल मे भी वृद्धि अवश्य हुई है, किन्तु इनकी अपेक्षा सार्वजनिक व्यय मे वृद्धि की दर बहुत ही अधिक है।

सार्वजनिक व्यय मे वृद्धि के कारण

(Causes of Increase in Public Expenditure)

सार्वजनिक व्यय मे इस प्रकार से वृद्धि के विभिन्न कारण हैं जिनका अध्ययन इन्हें निम्नांकित चार शीर्षकों मे विभाजित करके किया जाता है —

(क) सामाजिक कारण

(1) जनसख्या एव क्षेत्रफल मे वृद्धि,
(2) सामाजिक सुरक्षा एव सेवाओ मे वृद्धि,

(ख) आर्थिक कारण

(3) मूल्य-स्तर मे वृद्धि,
(4) राष्ट्रीय सम्पत्ति, राष्ट्रीय आय एव जीवन स्तर मे वृद्धि,
(5) आर्थिक नियोजन,
(6) कल्याणकारी राज्य की स्थापना,
(7) उद्योग धधो का राष्ट्रीयकरण,
(8) कृषि तथा उद्योगो को आर्थिक सहायता,
(9) व्यापार-चक्र विरोधी नीति,

(ग) राजनीतिक कारण

(10) राजनीतिक जागृति,

(11) युद्ध-व्यय एव युद्ध निवारण सम्बन्धी व्यय,
(12) नागरिक प्रशासन सम्बन्धी व्यय मे वृद्धि,
(13) प्रजातन्त्र का भार,
(14) सामाजिक एव राजनीतिक चेतना का विकास,

(ग) अन्य कारण

(15) अन्तर्राष्ट्रीय सगठनो का प्रभाव, तथा
(16) स्थानीय एव सामयिक समस्याएँ ।

अब इन कारणो पर सक्षेप मे व्याख्या की जायगी —

(1) राज्यों की जनसंख्या एवं क्षेत्रफल में वृद्धि (Increase in the Population and Area of States) —सार्वजनिक व्यय म वृद्धि का सर्वप्रथम कारण राष्ट्रो की सीमा म व्यापक प्रसार है। आजकल "अराजक क्षेत्रो" (No mans' land) मे भी सगठित शासन होने लगा है। साथ-ही साथ जहाँ क्षेत्र मे वृद्धि नही भी हुई है, वहाँ की जनसख्या पर्याप्त मात्रा म बढ गयी है। पिछले दो सो वर्षों मे विश्व के प्राय सभी राष्ट्रो की जनसख्या मे अत्यधिक वृद्धि हुई है। इस बढती हुई जनसख्या के लिए जीविकोपार्जन के साधनो मे उत्तरोत्तर वृद्धि करन के उद्देश्य से भी सार्वजनिक व्यय मे वृद्धि हुई है। राज्य को उन स्थानो के करोडो अतिरिक्त लोगो की आवश्यकताओं का प्रबन्ध करना पडता है जो कि विस्तृत क्षेत्र मे फैले हुए हैं। कहा भी जाता है कि सरकार का कार्य क्रमागत उत्पत्ति-ह्रास नियम (Law of Diminishing Returns) अथवा प्रति व्यक्ति व्यय मे वृद्धि (Increasing cost per person) के सिद्धा त पर चलता है। जितने अधिक व्यक्तियो की सेवा की जाती है, उतना ही प्रति व्यक्ति खर्च अधिक होता है।

(2) सामाजिक सुरक्षा एवं सेवाओं में अभिवृद्धि —आधुनिक राज्य कल्याणकारी राज्य है। कल्याणकारी राज्य होन क कारण सभी प्रमुख राज्यो मे श्रमिको को विभिन्न प्रकार की जोखिमो के विरुद्ध व्यापक रूप स सामाजिक सुरक्षा (Social Security) की व्यवस्था पर जोर दिया जा रहा है। सामाजिक सुरक्षा के अन्तर्गत सामाजिक बीमा, वृद्धावस्था पेंशन, मातृत्व लाभ आदि प्रदान किये जाते हैं। इनके परिणामस्वरूप राजकीय व्यय मे निश्चित रूप से बहुत अधिक वृद्धि हुई है।

(3) मूल्य स्तर में वृद्धि (Increase in Price Level) —सार्वजनिक व्यय मे वृद्धि का दूसरा प्रधान कारण उच्च मूल्य-स्तर है। चौदहवी शताब्दी क उत्तरार्द्ध से मूल्य तल मे वृद्धि प्रारम्भ हुई जो उत्तरोत्तर बढती ही गयी। दोनो विश्व युद्धो के परिणामस्वरूप मूल्य तल मे और अधिक वृद्धि हुइ है। जिन्होंने भारत के 'पुराने अच्छे दिन' देखे हैं या उनके विषय मे सुना है उनका कथन है कि एक समय था जब घी रुपये के चार सेर बिकता था जबकि आज इसका भाव रुपये मे 100 ग्राम भी नहीं है। अन्य वस्तुओ के मूल्यो मे भी इसी प्रकार की वृद्धि हुई है। मूल्य-तल मे इस वृद्धि के फलस्वरूप व्यक्ति की तरह सरकारो को भी इन वस्तुओं एवं सेवाओं को खरीदने के लिए अधिक धन व्यय करने की व्यवस्था करनी पडती है। इसके फलस्वरूप सार्वजनिक व्यय मे आजकल बहुत अधिक वृद्धि हो गया है।

(4) राष्ट्रीय सम्पत्ति, राष्ट्रीय आय एवं जीवन स्तर में वृद्धि (Increase in National Wealth, National Income and the Standard of Living) —पिछले कुछ वर्षों मे प्राय प्रत्येक देश की राष्ट्रीय आय मे भी बहुत अधिक वृद्धि हुई है। हर देश मे कृषि, व्यापार एव उद्योगो मे निरन्तर विकास हुआ है, यद्यपि भारत जैसे कुछ देशो मे इसकी गति बहुत ही धीमी रही है। राष्ट्रीय आय मे वृद्धि से प्रति व्यक्ति आय मे भी पर्याप्त वृद्धि हुई है और इसके फलस्वरूप जीवन स्तर मे भी सुधार हुआ है। राष्ट्रीय आय मे वृद्धि एव जीवन-स्तर मे सुधार के फलस्वरूप भी सार्वजनिक आय (Public Revenue) एव सार्वजनिक व्यय (Public Expenditure) मे बहुत अधिक वृद्धि हुई है। इस सम्बन्ध मे 'धनी जनता धनी राष्ट्र' (Rich people rich state) की कहावत पूर्ण रूप से चरितार्थ हो रही है।

(5) आर्थिक नियोजन (Economic Planning) —प्रथम महायुद्ध एवं 1929-33

ई० की भयानक आर्थिक मन्दी के बाद प्रत्येक राष्ट्र मे आर्थिक नियोजन के द्वारा अपने देश के आर्थिक विकास का प्रयत्न किया जा रहा है। सोवियत सघ (U. S. S. R.) मे आर्थिक नियोजन को सफलता ने विश्व म योजनाकरण को ओर भी लोकप्रिय बना दिया है। आर्थिक नियोजन को कार्यान्वित करने के लिए भी बहुत अधिक रकम की आवश्यकता पडती है। इससे भी सार्वजनिक व्यय मे अत्यधिक वृद्धि हुई है।

निम्नांकित तालिका से भारत में पंचवर्षीय योजनाओं में सार्वजनिक क्षेत्र में व्यय की जानेवाली रकम का अन्दाजा लगता है :—

योजना	कुल व्यय
प्रथम पचवर्षीय योजना (वास्तविक व्यय)	1,960 करोड रुपये
द्वितीय पंचवर्षीय योजना (वास्तविक व्यय)	4,600 " "
तृतीय पचवर्षीय योजना (वास्तविक व्यय)	8,577 " "
चतुर्थ पचवर्षीय योजना (वास्तविक व्यय)	16,774 " "
पचम पचवर्षीय योजना (आयोजित व्यय)	37,250 " "

उपरोक्त तालिका से स्पष्ट है कि 1951 ई० से 1966 ई० के बीच भारत मे आर्थिक नियोजन पर केवल सार्वजनिक क्षेत्र मे 15,137 करोड रुपये व्यय हुए तथा पचम पचवर्षीय योजना मे सार्वजनिक क्षेत्र मे 37,250 करोड रुपये व्यय की व्यवस्था है। इससे स्पष्ट है कि आर्थिक नियोजन के कारण भी सार्वजनिक व्यय मे अत्यधिक वृद्धि हुई है।

(6) कल्याणकारी राज्य की स्थापना (Establishment of Welfare State) — प्राचीन समय में राज्य का कार्य केवल सुरक्षा तक सीमित था। आदम स्मिथ (Adam Smith) भी सरकारी हस्तक्षेप के क्षेत्र को आन्तरिक शान्ति एवं बाह्य आक्रमण से देश की सुरक्षा तक ही सीमित माना था। किन्तु आधुनिक समय मे राज्य एक 'कल्याणकारी राज्य' (Welfare State) हो गया है। आधुनिक सरकारो का प्रधान उद्देश्य जन-कल्याण मे अधिकतम वृद्धि है जिसके लिए सरकार को विभिन्न प्रकार की सामाजिक सेवाओ, जैसे—विद्यालय, चिकित्सालय, पुस्तकालय आदि पर अधिक व्यय करना पडता है। इससे भी व्यय की मात्रा में अत्यधिक वृद्धि हुई है।

(7) उद्योग धन्धों का राष्ट्रीयकरण (Nationalization of Industries) —आधुनिक युग मे समाजवादी अर्थ-नीति से प्रभावित होकर राज्य अधिकाधिक मात्रा मे उद्योगो को अपने हाथ मे लेने जा रहे हैं। उद्योग-धन्धो के राष्ट्रीयकरण से सरकार को बडी-बडी राशियाँ मुआवजा के रूप मे देनी पडती हैं। साथ ही, आधुनिक सरकारें स्वय भी बडे पैमाने पर उद्योग-धन्धो की स्थापना कर रही हैं जिससे राजकीय व्यय दिन-प्रतिदिन बढता जा रहा है।

(8) कृषि तथा उद्योग धन्धो को आर्थिक सहायता :—इतना ही नहीं आधुनिक समय में प्राय सभी देशो में राज्य कृषि तथा उद्योग धन्धो क उत्पादन मे वृद्धि के लिए अधिकाधिक मात्रा में ऋण, अनुदान, तकनीकी सहायता आदि प्रदान करते है जिससे सार्वजनिक व्यय में निरन्तर वृद्धि होती जा रही है।

(9) व्यापार-चक्र विरोधी नीति —पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था का एक प्रधान विशेषता तेजी तथा मन्दी का होना है। इनका देश के आर्थिक जीवन पर बडा ही प्रतिकूल प्रभाव पडता है। अत आजकल सभी देशो में राज्य की आर्थिक नीति का प्रधान उद्देश्य पूर्ण रोजगार के स्तर पर आर्थिक स्थायित्व की स्थापना है। राज्य को अपने इन उद्देश्यो की पूर्ति के लिए समय-समय पर विशेषत मन्दी के समय बडी-बडी रकमें व्यय करनी पडती हैं। उदाहरण के लिए तीसा की भयानक आर्थिक मन्दी के समय रूजवेल्ट प्रशासन ने अमेरिका म बडी-बडी रकमें व्यय की थी।

(10) युद्ध एवं युद्ध निवारण सम्बन्धी व्यय (War and prevention of war) — आधुनिक युद्ध बडा खर्चीला होता है। उदाहरण के लिए, द्वितीय युद्ध में इगलैंड 150 लाख पौण्ड दैनिक खर्च कर रहा था। आज, जब युद्ध नहीं चल रहा है, तब भी उसकी तैयारी या उसे रोकने के उपायो पर प्रत्येक राष्ट्र मे भारी रकम खर्च की जा रही है। इस उद्देश्य से नित्य नये-नये

यन्त्रो तथा नयी-नयी प्रणालियो की जांच भी जा रही है जिन पर खर्च बहुत अधिक पड जाता है। इसी प्रकार आधुनिक युद्धो की व्यवस्था तथा इनके निवारण सम्बन्धी उपायो मे सरकार द्वारा सर्वत्र बहुत अधिक रकम व्यय की जा रही है। 1913-14 ई० मे इंगलैंड मे 87 मिलियन पौण्ड सुरक्षा पर व्यय था जबकि 1958-1959 ई० मे यह 1476 मिलियन पौण्ड हो गया। भारत मे भी 1972-73 ई० मे सुरक्षा सम्बन्धी व्यय 1404 करोड रुपये था। इसी प्रकार यह हिसाब लगाया गया है कि 1879 ई० से 1920 के बीच के वर्षों मे अमेरिका की सघ-सरकार के कुल खर्चों मे 78 9% खर्च केवल युद्ध सम्बन्धी खर्च था।

(11) नागरिक प्रशासन (Civil Administration) .—राजकीय कार्यों मे वृद्धि के परिणामस्वरूप नौकरशाही तथा प्रशासनिक मशीनरी मे भी बहुत अधिक वृद्धि हुई है। इसके फलस्वरूप भी सार्वजनिक व्यय मे अत्यधिक वृद्धि की आवश्यकता पडी है। आजकल सरकारी संस्थाओ की सख्या मे अनावश्यक रूप से वृद्धि हो गयी है जिससे सार्वजनिक व्यय मे वृद्धि हुई है। अत प्रशासन-प्रणाली मे जटिलता एव कर्मचारियों की सख्या मे वृद्धि के कारण भी सार्वजनिक व्यय मे बहुत अधिक वृद्धि हुई है।

(12) प्रजातन्त्र का भार (Incidence of Democracy) :—प्रजातन्त्र राज्य मे कई एक राजनीतिक दल होते है और उनमे से प्रत्येक दल जनता का सक्रिय समर्थन प्राप्त करने को उत्सुक रहता है। इन दलो के समर्थक सार्वजनिक कोष (Public Fund) से अधिकाधिक,लाभ व सुविधाओ के लिए निरन्तर जोर देते रहते है। देश के हर कोने तथा हर वर्ग की ओर से अधिकाधिक सुविधा, शिक्षा, चिकित्सा, सडक आदि के लिए आवाज उठायी जाती हैं। अतएव प्रजातान्त्रिक शक्तियो के द्वारा सरकारों पर सार्वजनिक व्यय का बोझ बढ गया है।

(13) सामाजिक एवं राजनैतिक चेतना का विकास (Growth of Social and Political Consciousness) —आधुनिक युग मे मानव मे सामाजिक एव राजनीतिक चेतना का बहुत अधिक विकास हुआ है। इस सामाजिक एव राजनीतिक चेतना मे वृद्धि के कई कारण हैं, जिनमे बालिग मताधिकार, स्त्री मताधिकार, श्रमिक सघो की स्थापना आदि प्रधान हैं। इन सबसे आज प्रत्येक व्यक्ति अपने अधिकार के सम्बन्ध मे अधिक जागरूक हो गया है। अतएव लोग आज अधिक सुविधाओ की माग करते है जिनकी पूर्ति के लिए सार्वजनिक व्यय मे वृद्धि करनी पडती है।

(14) अन्तर्राष्ट्रीय सगठनो का प्रभाव .—आज अन्तर्राष्ट्रीय सगठन के विकास के साथ-साथ अनेक अन्तर्राष्ट्रीय सस्थाएं जन्म ले चुकी हैं और ले रही है। ये सस्थाएँ किसी-न-किसी रूप मे राष्ट्रो की सार्वजनिक आय का कुछ भाग अवश्य ही व्यय करा देती हैं। उदाहरण के लिए, अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-सगठन की सिफारिशो को क्रियात्मक रूप देने मे सरकारो के व्ययो मे कुछ-न कुछ वृद्धि अवश्य हुई है।

(15) स्थानीय व सामयिक समस्याएँ :—कभी-कभी किसी देश के समक्ष अनेक स्थानीय और सामयिक समस्याए भी उपस्थित हो जाती हैं जिनका तात्कालिक समाधान अनिवार्य हो जाता है। इन समस्याओ के समाधान मे बहुत बडी-बडी रकमो के व्यय की आवश्यकता पडती है। उदाहरण के लिए, 1947 मे देश विभाजन के बाद शरणार्थियो के पुनर्वास, 1967-68 मे बिहार के अकाल तथा 1971 ई० मे बगला देश से आये शरणार्थियो मे भारत सरकार को बहुत बडी रकमे व्यय करनी पडी थी।

इस प्रकार आधुनिक युग मे सार्वजनिक व्यय मे वृद्धि के उक्त सारे कारण हैं। इन कारणो की विवेचना से यह स्पष्ट है कि आधुनिक समय मे सार्वजनिक व्यय मे वृद्धि का प्रधान कारण राज्य के कार्यों मे वृद्धि है। वैगनर (Wagner) के सिद्धान्त के अनुसार राज्य के कार्यों मे गहन (intensive) एव विस्तृत (extensive) दोनों रूप से वृद्धि हुई है। (Comprehensive comparisons of different countries and different times show that among progressive people with which alone we are concerned, an increase regularly takes place in the activites of both the central and local governments. This increase is both extensive and intensive—Wagner.) विस्तृत वृद्धि

(Extensive increase) का अभिप्राय राज्य के कार्यों की संख्या मे पहले की अपेक्षा अत्यधिक वृद्धि से है। इसी प्रकार गहन वृद्धि (Intensive increase) का अर्थ पुराने कार्यों को और अच्छे ढग से सम्पादित करना है जिससे इनके लिए बहुत अधिक मात्रा मे व्यय करने की आवश्यकता पडती है। आधुनिक युग मे सार्वजनिक नीति राज्य के कार्यों मे वृद्धि की ही रही है और जैसा कि डिजरैली ने कहा था, "व्यय नीति पर निर्भर करता है" (Expenditure depends on policy) तथा लॉवे (Lowe) ने कहा था, 'राजस्व सार्वजनिक नीति की कठपुतली है।" (Finance is the handmaid of Public Policy.) अतएव इन सबके परिणामस्वरूप भी सार्वजनिक व्यय मे वृद्धि अनिवार्य है।

अत आज के युग मे राज्य के क्षेत्र मे वृद्धि के परिणामस्वरूप सार्वजनिक व्यय मे बहुत अधिक वृद्धि हुई है। राज्य द्वारा आजकल सार्वजनिक स्वास्थ्य, शिक्षा, शान्ति की स्थापना पुस्तकालय तथा कला-केन्द्र आदि जैसे अनेक अविभाज्य लाभो की अधिकाधिक व्यवस्था की जा रही है। इन सब कार्यों से सार्वजनिक व्यय म वृद्धि अनिवार्य हो जाती है।

सार्वजनिक व्यय के सिद्धान्त

(Canons of Public Expenditure)

आधुनिक समय मे राज्य का कार्य क्षेत्र बहुत अधिक विस्तृत हो गया है जिससे सार्वजनिक व्यय की मात्रा मे बहुत अधिक वृद्धि हुई है। अतएव सरकार के समक्ष सार्वजनिक व्यय के लिए रकम प्राप्त करना सर्वप्रथम समस्या है। प्रत्येक राज्य के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि विभिन्न मदों मे व्यय करने के पहले वह यह विचार कर ले कि सार्वजनिक व्यय को पूरा करने के लिए धन किन किन साधनो से प्राप्त किया जाय और पुन विभिन्न मदों मे इस धन का व्यय उचित रूप में हुआ है या नही। ऐसा करने से ही राजकीय व्यय से अधिकतम सामाजिक कल्याण की प्राप्ति हो सकेगी। सैद्धान्तिक दृष्टि से सार्वजनिक व्यय का सर्वोत्तम सिद्धान्त अधिकतम सामाजिक कल्याण (Maximum Social Advantage) की प्राप्ति है। किन्तु व्यावहारिक दृष्टिकोण से यह जानने के लिए कि राज्य का व्यय न्यायसगत एव उचित है या नही कुछ नियम बनाये गये हैं। प्रो० फिण्डले शिराज (Findley Shirras) ने सार्वजनिक व्यय के सम्बन्ध में निम्नलिखित चार सिद्धान्तों को प्रस्तुत किया है —

(i) लाभ का सिद्धान्त (Canon of Benefit),
(ii) मितव्ययिता का सिद्धान्त (Canon of Economy),
(iii) अनुमोदन का सिद्धान्त (Canon of Sanction), तथा
(iv) आधिक्य का सिद्धान्त (Canon of Surplus)।

इनके अतिरिक्त सार्वजनिक व्यय के निम्नांकित और दो सिद्धान्त प्रस्तुत किये गये हैं—
(v) लोच का सिद्धान्त (Canon of Elasticity), तथा
(vi) धन के उत्पादन एव वितरण पर प्रतिकूल प्रभाव नहा होना चाहिए।

(i) लाभ का सिद्धान्त (Canon of Benefit) —सार्वजनिक व्यय का सर्वाधिक प्रमुख सिद्धान्त यह है कि सरकार के द्वारा खर्च की योजना इस तथ्य पर तैयार की जानी चाहिए जिससे कि समाज को अधिकतम लाभ प्राप्त हो सके जिसके द्वारा देश की उत्पादन शक्ति म वृद्धि हो, सम्पत्ति का उत्पादन हो तथा उत्पादित सम्पत्ति का समाज मे उचित रीति स वितरण हो। सरकार द्वारा ऐसे ही कार्यों पर अधिक खर्च किया जाना चाहिए जिनके द्वारा समाज के बहुसख्यक लोगो को लाभ हो। सरकारी व्यय ऐसे कार्यों पर नही किया जाना चाहिए जिससे केवल अल्पसख्यक व्यक्ति जैसे किसी खास धर्म या समूह के लोगो को लाभ हो। उदाहरण के लिए, सरकार स्कूल, अस्पताल आदि पर खर्च कर सकती है किन्तु मन्दिर तथा गिरजाघर पर नहीं।

किन्तु इस सिद्धान्त का अर्थ यह नहीं समझना चाहिए कि कुछ खास मदें अन्य मदो स अधिक महत्वपूर्ण होती हैं, अतएव सदा उन्हीं मदो में अधिक खर्च करना चाहिए। व्यय की रकम किसी वर्ष मे किस मद म अधिक या किस मद में कम होनी चाहिए, यह देश की आर्थिक, सामाजिक एव राजनैतिक स्थिति पर भी निर्भर करता है।

(ii) मितव्ययिता का सिद्धान्त (Canon of Economy) :—व्यक्ति हो अथवा राज्य दोनों ही के लिए मितव्ययिता का नियम अत्यन्त उपयोगी है। सरकार जनता से जो कर वसूल करती है उसे चुकाने में कर-दाताओं को कष्ट सहन कर मौद्रिक त्याग करना पड़ता है। अतएव यह एक प्रकार की धरोहर होती है जिसका प्रयोग बड़ी सतर्कता से करना चाहिए। दूसरे शब्दों में, राज्य का यह कर्तव्य होता है कि वह इस रकम को बुद्धिमत्ता और मितव्ययिता के साथ खर्च करे। मितव्ययिता का अर्थ यह है कि सरकार को केवल सही मदों पर एवं उसी समय व्यय करना चाहिए जब आवश्यकता हो। साथ ही, इसका तात्पर्य कंजूसी अथवा आवश्यकताओं में कटौती नहीं होकर अनावश्यक एवं अनुत्पादक व्यय को रोकना है। इसके लिए सरकार को उचित सोच-विचार करने के बाद ही खर्च करना चाहिए और प्रयास होना चाहिए कि खर्च के दोहराव (Duplication) से बचा जाय। साथ ही-साथ किसी भी कार्य को अधूरा नहीं छोड़ा जाय। इससे भी व्यय का अनुचित उपयोग कम होता है। आजकल भारत में सरकारी व्यय के विरुद्ध यह विशेष रूप से शिकायत की जाती है कि यह एक निश्चित योजना के आधार पर नहीं किया जाता है। उदाहरण के लिए, भारत में 'अधिक अन्न उपजाओ आन्दोलन' के अन्तर्गत सरकार ने करोड़ों रुपये व्यय किये जिसका परिणाम बहुत अच्छा नहीं हुआ। इससे जनता का धन बेकार ही खर्च हो जाता है।

(iii) अनुमोदन का सिद्धान्त (Canon of Sanction) —अनुमोदन अथवा स्वीकृति के सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक अधिकारी को व्यय करते समय अपने से उच्च अधिकारी से आवश्यक अनुमोदन प्राप्त कर लेना चाहिए। इससे मूर्खतापूर्ण तथा अन्धाधुन्ध खर्च में रुकावट होती है। इसी सिद्धान्त के अनुसार सरकार प्रति वर्ष अपने खर्च का बजट बनाकर संसद या विधान मण्डल से पास कराने को बाध्य होती है। लेकिन स्वीकृति के नाम पर अनावश्यक विलम्ब करना या आवश्यक व्यय की रकम में कटौती करके स्वीकृति देना भी इस उद्देश्य के विरुद्ध है। अतएव प्रशासन को इसके विरुद्ध भी सतर्क रहना चाहिए। इस सिद्धान्त के अनुसार सार्वजनिक व्यय का उचित अंकेक्षण (Proper auditing) भी आवश्यक है जिससे धन का अनुचित प्रयोग नहीं किया जा सके। इस प्रकार आजकल अनुमोदन कार्य का रूप अति विस्तृत हो गया है।

(iv) आधिक्य का सिद्धान्त (Canon of Surplus) :—वैयक्तिक अर्थ-प्रबन्ध की तरह ही सार्वजनिक अर्थ-प्रबन्ध को भी यह सुदृढ़ प्रणाली है कि बजट को बराबर, सन्तुलित रखने, तथा आय-व्यय में सामंजस्य लाते रहने का प्रयास होना चाहिए। फिण्डले शिराज (Findley Shirras) के शब्दों में, "आधिक्य सिद्धान्त का अभिप्राय सार्वजनिक व्यय में हीनता या घाटे (deficit) को दूर करना होना चाहिए। राजकीय संस्थाओं को भी अपनी आय एवं व्यय साधारण व्यक्तियों की तरह समान करना चाहिए, यानी व्यक्तिगत बजट के समान संतुलित बजट ही राजस्व की सामान्य नीति होनी चाहिए।" (The canon of surplus is the avoidance of deficits in public expenditure Public authorities must earn their living and their way like ordinary citizens. Balanced budgets must, as in private expenditure be the order of the day) इसी प्रकार निरन्तर घाटे का बजट बनाना उचित नहीं है। किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि सार्वजनिक व्यय का उद्देश्य प्रतिवर्ष बहुत अधिक मात्रा में आधिक्य प्राप्त करना होना चाहिए क्योंकि "आधिक्य बजट से नागरिक इस बात का अनुभव करने लगते हैं कि उन पर कर का बोझ अधिक है। अतएव देश की आर्थिक व्यवस्था के स्थायित्व को बनाये रखने के लिए संतुलित बजट ही अधिक आवश्यक होते हैं। किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि बजट में कभी भी घाटा या बचत नहीं होनी चाहिए। वास्तव में, परिस्थितियों के अनुसार इन सबों का भी अपना-अपना महत्त्व है। उदाहरण के लिए मंदी (depression) में घाटे के बजट (deficit budget) तथा मुद्रा-स्फीति के समय बचत के बजट (surplus budget) का महत्वपूर्ण स्थान है।

शिराज ने सार्वजनिक व्यय के केवल चार उपरोक्त सिद्धान्तों को बतलाया है। किन्तु आधुनिक अर्थशास्त्रियों ने इस सम्बन्ध में और दो निम्नांकित सिद्धान्तों की व्याख्या की है :—

(v) लोच का सिद्धान्त (Canon of Elasticity) :—सार्वजनिक व्यय में 'लोच' का गुण होना भी आवश्यक है जिससे आवश्यकता पड़ने पर परिस्थितियों के अनुकूल इसमें परिवर्तन लाया जा सके। इससे सार्वजनिक अधिकारियों के लिए आवश्यकता एवं स्थिति के अनुसार व्यय

अध्याय : 52

सार्वजनिक व्यय के आर्थिक प्रभाव
(Economic Effects of Public Expenditure)

प्राक्कथन .—राजकीय व्यय राजस्व शास्त्र का एक प्रधान अंग है। इसका समाज की आर्थिक व्यवस्था पर बड़ा ही महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। राजकीय व्यय मे वृद्धि से उत्पादन प्रोत्साहित होता है तथा उसमे वृद्धि होती है। साथ ही, इसका समाज मे धन एव आय के वितरण पर भी प्रभाव पड़ता है। आधुनिक युग मे पूर्ण रोजगारी की प्राप्ति मे भी राजकीय व्यय का महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियो के अनुसार, जिनमे आदम स्मिथ (Adam Smith) प्रमुख है, सार्वजनिक व्यय उत्पादन मे कोई योगदान नही देता।[1] आदम स्मिथ के अनुसार "सार्वजनिक व्यय अनुत्पादक श्रम के लिए किया गया भुगतान है और इसलिए इससे राष्ट्रीय सम्पत्ति मे कोई वृद्धि नही होती।"[2] इसलिए इन्होने सार्वजनिक व्यय पर जो धन खर्च होता है उसे राष्ट्रीय आय मे से घटाया है और इनकी आय उत्पन्न करनेवाली शक्ति पर ध्यान नही दिया है। किन्तु इस प्रकार की धारणा वास्तव मे, युक्तिसंगत नही है। वास्तव मे, इस प्रकार के विचारक यह नहीं समझते थे कि राज्य अपने कोषो से निजी आय की धारा मे नयी आय उत्पन्न करने मे सहायक होता है। जैसा कि हम जानते हैं, किसी एक व्यक्ति का व्यय दूसरे व्यक्ति की आय है। यदि व्यक्तिगत व्यय के सम्बन्ध मे यह सही है तो सार्वजनिक व्यय के सम्बन्ध मे भी यह निश्चय ही सत्य है। अतएव सार्वजनिक व्यय का भी राष्ट्रीय सम्पत्ति के उत्पादन एवं वितरण पर निश्चित रूप से प्रभाव पड़ता है।

सार्वजनिक व्यय के प्रभाव का अध्ययन निम्नांकित शीर्षकों के अन्तर्गत किया जाता है —

(1) सार्वजनिक व्यय का उत्पादन पर प्रभाव,
(2) सार्वजनिक व्यय का वितरण पर प्रभाव, तथा
(3) सार्वजनिक व्यय का आर्थिक स्थिरता एवं रोजगार पर प्रभाव।

1. सार्वजनिक व्यय का उत्पादन पर प्रभाव
(Effects of Public Expenditure on Production)

सार्वजनिक व्यय का धन के उत्पादन पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। सार्वजनिक व्यय से या तो उत्पादन मे कमी होती है या वृद्धि होती है। इसका अधिकांश भाग प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से उत्पादक होता है। प्रत्येक देश मे सरकारें स्वय कुछ उद्योगो का संचालन करती है जो प्रत्यक्ष रूप मे उत्पादक होते है। उदाहरण के लिए, सरकार द्वारा नहर, रेल, डाक तार तथा कुछ उद्योगो आदि की व्यवस्था की जाती है। ये राजकीय उद्योग उत्पादन मे प्रत्यक्ष योगदान देते है। इसी प्रकार भूमि का सुधार कर उसे कृषि योग्य बनाने और जंगल लगाने की योजनाएँ भी प्रत्यक्ष रूप मे उत्पादक होती है। अतएव जैसा कि **प्रो० डॉल्टन** (Dalton) का कहना है कि "जिस प्रकार, अन्य बातो के समान रहने पर, करारोपण का उद्देश्य उत्पादन मे कम-से-कम कमी करना होना चाहिए, उसी प्रकार राजकीय व्यय से उत्पादन मे अधिक-से-अधिक वृद्धि होनी चाहिए।" (Just as taxation, other things being equal, should reduce production as little as possible, so public expenditure should increase it as much as possible.)

1. Taylor : The Economics of Public Finance, p. 78.
2. Adam Smith : The Wealth of Nations.

& localities) '—सार्वजनिक व्यय आर्थिक साधनों के उपयोग में भी परिवर्तन लाता है। विभिन्न स्थानों एवं उपयोगों में आर्थिक साधनों के स्थानान्तरण-सम्बन्धी प्रभाव दो प्रकार के होते हैं—प्रत्यक्ष और परोक्ष। प्रत्यक्ष रूप में सार्वजनिक व्यय स्वयं साधनों का स्थानान्तरण है। राज्य व्यक्तियों का धन स्वयं व्यय करता है। यदि राज्य ऐसा न करे तो यह धन व्यक्तियों द्वारा बिलकुल भिन्न प्रकार से प्रयोग किया जाता। राज्य साधारणतः उन कार्यों को करता है जिन्हें व्यक्ति अपने व्यक्तिगत रूप में नहीं कर सकते हैं, जैसे—सिंचाई की योजनाओं को कार्यान्वित करने पर व्यय, रक्षा-सम्बन्धी व्यय या चिकित्सा पर व्यय, इत्यादि। परोक्ष रूप मे सार्वजनिक व्यय व्यक्तियों मे इस बात की रुचि उत्पन्न करता है कि वे अपने घर के व्यय के ढंग को बदलें। उदाहरण के लिए यातायात के साधनों अथवा जल शक्ति के विकास पर राजकीय व्यय से उद्योगों की स्थापना मे सुविधा प्रदान कर जन साधारण को उद्योगों की स्थापना के लिए प्रोत्साहित किया जाता है।

इतना ही नहीं, सरकार के कुछ व्यय इस प्रकार के भी होते हैं जिनमे कि व्यक्तियो को अपने कुछ साधन भविष्य के लिए बचाकर रखना पड़ता है, जैसे—स्वास्थ्य अथवा बेकारी सम्बन्धी बीमा, वृद्धावस्था पेंशन (Old age pensions) इत्यादि। इसमे व्यक्तियों के साधनो का हस्तान्तरण स्वयं वर्तमान उपयोगो मे भविष्य के उपयोगो मे हो जाता है। वास्तव मे, पूंजीगत वस्तुओं पर किये गये प्रत्येक व्यय की यही प्रकृति होती है।

प्राचीन विद्वानों की राय में राजकीय व्यय द्वारा साधनो का स्थानान्तरण सदैव ही हानिकारक होता था। इनकी राय मे इससे व्यक्तिगत हित अग्रसर नहीं होता। पूर्ण प्रतियोगिता में मूल्य नियन्त्रण के संचालन से और व्यक्तियों के स्वतः हित से प्रेरित होने के कारण साधनों का सर्वोत्तम बँटवारा होता है। राजकीय व्यय इस सर्वोत्तम बँटवारे को भंग करता है। अतएव राज्य को इस विषय मे कोई हस्तक्षेप नही करना चाहिए। किन्तु समय ने इसे मिथ्या सिद्ध कर दिया है।

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि सार्वजनिक व्यय का उत्पादन पर बड़ा ही महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है।

(2) सार्वजनिक व्यय का वितरण पर प्रभाव

(Effects of Public Expenditure on Distribution)

समाज मे धन के वितरण पर सार्वजनिक व्यय का बड़ा ही महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। सार्वजनिक व्यय से समाज मे व्याप्त असमानताओ को दूर किया जा सकता है। डाल्टन (Dalton) के अनुसार "सर्वोत्तम सार्वजनिक व्यय प्रणाली वह है जिसमे समाज मे व्याप्त विषमता को समाप्त करने की क्षमता सर्वाधिक हो।" (That system of public expenditure is best, which has the strongest tendency to reduce the inequality of incomes) बात को सब जानते है कि राजकीय क्रियाओ द्वारा गरीबो को पहुंचाये जानेवाले लाभ धनियो को पहुंचाये जानेवाले लाभ से बहुत अधिक होते हैं। धनी व्यक्ति अपना संरक्षण स्वयं कर सकता है। वह अपनी शिक्षा तथा चिकित्सा आदि की व्यवस्था स्वयं कर सकता है। परन्तु एक निर्धन मनुष्य असहाय होता है। अतएव सार्वजनिक कार्यों से निर्धन ही अधिक लाभान्वित होते हैं। सार्वजनिक व्यय किस सीमा तक धनो तथा निर्धन की खाई को पाटने का प्रयत्न करता है यह उसके लक्ष्य पर निर्भर करता है।

कुछ व्यय ऐसे होते हैं जिनमे गरीबों का ही मुख्यतः हित होता है, जैसे—गरीबों की सहायता, वृद्धावस्था मे पेंशन, बेकारो एवं अस्वस्थो को सहायता इत्यादि। इन कार्यों से गरीबो को जो लाभ होता है उसे उनकी आय मे योग कहा जा सकता है। जब कि हम यह जानते हैं कि धनिको पर कर लगा कर राजस्व प्राप्त किया जाता है और उसे निर्धनो के कल्याण पर व्यय किया जाता है, तब हम इसी परिणाम पर पहुँचते हैं कि सार्वजनिक व्यय द्वारा एक सीमा तक धन के वितरण को असमानताओं को कम कर दिया गया है।

आनुपातिक (Proportional), प्रगतिशील (Progressive) एवं प्रतिगामी (Regressive) व्यय:—किन्तु, फिर भी सार्वजनिक व्यय का वितरण पर प्रभाव उसको

अध्याय : 53

सार्वजनिक आय के विभिन्न साधन

(Different Sources of Public Revenue)

प्राक्कथन :—सार्वजनिक आय राजस्व का एक प्रधान विभाग है। डाल्टन के अनुसार सार्वजनिक आय का अर्थ संकुचित तथा व्यापक दोनों ही हो सकता है। व्यापक अर्थ में सार्वजनिक आय के अंतर्गत सरकार की सभी प्रकार की आय तथा प्राप्तियों को सम्मिलित किया जाता है जिन्हें साधारणतया आगम (Revenue) कहा जाता है। किन्तु संकुचित अर्थ में इसके अन्तर्गत सरकार को केवल करों से वास्तविक रूप मे प्राप्त होने वाली आय को ही सम्मिलित किया जाता है। हमने पिछले अध्याय में इस बात का अध्ययन किया है कि आधुनिक समय में राज्य के कार्यों में बहुत अधिक वृद्धि हुई है। इन कार्यों को सम्पन्न करने के लिए राज्य को बहुत अधिक मात्रा मे व्यय करना पड़ता है। सार्वजनिक व्यय मे इस वृद्धि के परिणामस्वरूप राज्य के आय-प्राप्ति के विभिन्न साधनों का अध्ययन अनिवार्य हो जाता है।

सार्वजनिक आय के विभिन्न साधन

(Different Sources of Public Revenue)

राज्य अपनी आय मुख्यतः निम्नलिखित साधनों से प्राप्त करता है :—(1) कर, (2) राजकीय सम्पत्ति एवं उद्योग, (3) फीस, (4) विशेष-निर्धारण, (5) कीमत, (6) जुर्माना एवं दंड, तथा (7) उपहार एवं अनुदान।

अब इनका निम्न विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है —

(1) कर (Tax) :—कर राज्य की आय का एक प्रधान साधन है। इसे कई प्रकार से परिभाषित किया गया है जिनमें निम्नांकित उल्लेखनीय हैं :—

प्लेहन[1] (Plehn) के शब्दों में **"कर धन के रूप में दिया गया वह अनिवार्य अंशदान है जो राज्य के निवासियों को सामान्य लाभ पहुँचाने के लिए किये गये व्यय को पूरा करने के लिए व्यक्तियों से लिया जाता है।"** (Taxes are, in general, compulsory contribution of wealth levied upon persons, natural or corporate to defray the expenses incurred in conferring a common benefit upon the residents of the state)

इसी प्रकार प्रो० **डाल्टन** (Dalton) के अनुसार, **"कर सार्वजनिक अधिकारी द्वारा लगाया जानेवाला वह अनिवार्य अंशदान है जिसका सम्बन्ध करदाता को प्राप्त होनेवाली सेवा से नहीं रहता है।"** (A tax is a compulsory contribution imposed by a public authority irrespective of the exact amount of services rendered to the taxpayer in return.)

सेलिगमैन (Seligman) ने भी कर की परिभाषा इसी प्रकार से दी है। इनके अनुसार **"कर एक व्यक्ति का उन खर्चों को पूरा करने के लिए सरकार को अनिवार्य अंशदान है जो सबके सामान्य हित में किये जाते हैं और जिनका संकेत विशेष लाभों की प्राप्ति की ओर नहीं होता।"** (A tax is a compulsory contribution from a person to the Government to defray the cost of expenses incurred in common interest of all, without reference to special benefits conferred.)

टेलर (Taylor) ने भी कहा है कि **"वे अनिवार्य भुगतान जिन्हें करदाता सरकार से बिना किसी प्रत्यक्ष लाभ की आशा किये देता है, कर हैं।"** (Taxes are compulsory

---

1. Introduction to Public Finance, p. 59.

(2) राजकीय सम्पत्ति एवं उद्योग से आय (Income from Public properties and enterprises) .—आधुनिक समय मे राज्य को उद्योगो के संचालन एवं सम्पत्ति के उपयोग से भी आय प्राप्त होती है। सम्पत्ति के उपयोग से प्राप्त आय की प्रधानता प्रारम्भ से ही रही है। उदाहरण के लिए, भारत मे भूमि, जंगल एवं खनिज पदार्थों से सरकार को प्रर्याप्त मात्रा मे आय प्राप्त होती है। किन्तु राजकीय उद्योगो से प्राप्त आय का महत्त्व पिछले कुछ वर्षों से बढ रहा है। राज्य द्वारा उद्योगो का सचालन कई कारणो से किया जाता है। कुछ उद्योगो को तो सरकार इसलिए चलाती है कि यदि ये निजी व्यक्तियो द्वारा संचालित किये जाएँ तो उनमे उपभोक्ताओ के शोषण की सम्भावना रहेगी। उदाहरण के लिए पानी, बिजली तथा डाक-तार जैसी जनोपयोगी सेवाएँ। कुछ उद्योग राज्य इसलिए संचालित करता है, कि वे निजी उद्योगपतियो के सामर्थ्य से बाहर से होते हैं जैसे, रेल्वे की व्यवस्था। कुछ उद्योग राज्य केवल उनके उपभोग को नियमित करने के लिए चलाता है जैसे मादक-द्रव्यो का सेवन। आधुनिक समय मे समाजीकरण की नीति के अन्तर्गत भी राज्य कुछ उद्योगो का सचालन स्वयं करता है; जैसे—भारत मे जीवन-बीमा की व्यवस्था। इस प्रकार राजकीय उद्योगों का महत्त्व आजकल बढते ही जा रहा है। इन उद्योगो से जो मुनाफा प्राप्त होता है वह भी राजकीय आय का एक प्रधान साधन है।

पिछले कुछ वर्षों मे भारत मे भी सार्वजनिक उद्योग से प्राप्त आय मे उत्तरोत्तर वृद्धि हो रही है। उदाहरण के लिए, तृतीय पचवर्षीय योजना मे सार्वजनिक उद्योगो से 550 करोड रुपये, 1966-69 के बीच तीन-एकवर्षीय योजनाओ मे सार्वजनिक क्षेत्र के उद्योगों से 409 करोड रुपये तथा चौथी योजना मे 1135 करोड रुपये की आय प्राप्त हुई थी जबकि पंचम पंचवर्षीय योजना मे इस मद से 5984 करोड रुपये आय का आयोजन है।

इस प्रकार की आय मे जैसा-को-तैसा सम्बन्ध पाया जाता है। नागरिक राज्य से प्रत्यक्ष वस्तुएँ तथा सेवाएँ प्राप्त करते है और उनके बदले उन्हे मूल्य चुकाना पडता है। इस प्रकार का मूल्य सेवा की मात्रा के अनुसार उपभोक्ताओ को चुकाना पडता है। उदाहरण के लिए, कोई व्यक्ति यदि 10 इकाई बिजली का उपयोग करता है तो उस एक पूर्व निश्चित दर से केवल 10 इकाई, के लिए मूल्य देना पडता है तथा दूसरा 50 इकाई का उपयोग करता है तो उसे 50 इकाई का मूल्य देना पडता है।

(3) फीस अथवा शुल्क (Fee) .—कर की ही तरह फीस या शुल्क भी एक अनिवार्य भुगतान है। यह उन लोगों द्वारा दी जाती है, जो बदले मे राज्य द्वारा निश्चित सेवा प्राप्त करते है। फीस की गयी सेवा की लागत के एक अंश को सामान्यतः पूरा करने के लिए ली जाती है। यह सेवा की लागत से अधिक नही होती। उदाहरण के लिए, प्रशासन अथवा न्याय सम्बन्धी सेवाओ के लिए भुगतान। प्लेहन (Plehn) के शब्दो मे, "फीस व्यक्ति द्वारा सार्वजनिक शक्ति के अधिकार के अन्तर्गत धन के रूप में दिया गया वह अनिवार्य भुगतान है जो सरकार द्वारा किये गये कार्यों की कुल लागत अथवा उनके एक भाग को पूरा करने के लिए ली जाती है जो सामान्य लाभ प्रदान करने के साथ-साथ विशेष लाभ की भी व्यवस्था करता है अथवा जो मध्यस्थतापूर्वक माना जाता।" (A fee may be defined as a compulsory contribution of wealth made by a person, natural or corporate under the authority of public power to defray a part or all of the expenses in some action of the Govt., which while creating a common benefit also confers a special benefit or one that is arbitrarily so regarded.) सक्षेप मे, फीस सार्वजनिक हित के लिए की गयी किसी विशेष सेवा के लिए ली जाती है। सेलिगमैन (Seligman) के अनुसार, "फीस वह भुगतान है जो सरकार द्वारा प्रदान की गयी प्रारम्भिक रूप से जनहित मे परन्तु फीस दाता को विशेष लाभ पहुँचाते हुए बराबर उत्पन्न होनेवाली प्रत्येक सेवा की लागत को पूरा करने के लिए दी जाती है।" (A fee is a compulsory payment to defray cost of each recurring services undertaken by the Govt. primarily in the public interest but conferring a measurable special advantage on the fee-payer.)

ments, the amount of charge being determined by pro rata cost or pro rata benefit)

उपरोक्त परिभाषाओ से यह स्पष्ट है कि विशेष निर्धारण एक अनिवार्य शुल्क है जो विशेष लाभ के अनुपात मे लिया जाता है। यह जनहित की दृष्टि से सम्पत्ति के विशेष सुधार के व्यय के भुगतान के लिए वसूल किया जाता है। कर स इसकी समता यह है कि ये दोनो अनिवार्य भुगतान हैं लेकिन विशेष कर तथा कर मे अन्तर यह है कि विशेष कर के दाताओ ने निश्चित तथा प्रत्यक्ष लाभ पाया है और उसी के बदले मे विशेष कर दे रहे है। किन्तु कर के साथ ऐसी बात नही पायी जाती है। उदाहरण के लिए, कभी कभी सरकार किसी विशेष क्षेत्र के आर्थिक विकास के लिए उसमें रेल, सडक, नहर, बाँध या पार्क, इत्यादि का निर्माण करती है जिसने उस क्षेत्र की सम्पत्ति के मूल्य मे वृद्धि हो जाती है। अत सरकार उनके व्यय को पूरा करने के लिए उस क्षेत्र के लोगो पर एक विशेष कर लगाती है, क्योकि उस क्षेत्र के निवासियो ने सरकार के इस कार्य से विशेष लाभ प्राप्त किया है। विशेष निर्धारण बहुधा सरल ना होता है अतएव इसके सम्बन्ध मे कुछ समस्याएँ होती हैं। इन समस्याओ को दूर करने के लिए कुछ सामान्य सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया गया है। इन समस्याओ को दूर करने के लिए कुछ सामान्य सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया गया है। किन्तु उनका केवल सैद्धातिक महत्त्व ही है। व्यवहार मे प्रत्येक देश मे स्थानीय अधिकारियो ने अपनी सुविधानुसार इस सम्बन्ध मे नियम बना लिया है।

(5) कीमत (Price)—आधुनिक युग में राज्य द्वारा कुछ सामान्य सेवाओ का भी आयोजन किया जाता है। ऐसी वस्तुओ की बिक्री से सरकार को जो आय प्राप्त होती है उसे कीमत (Price) कहते है। उदाहरण के लिए, सरकार रेल, डाक-तार इत्यादि सेवाओ का प्रबन्ध करती है और जनता को इनके उपयोग के बदले कीमत चुकानी पड़ती है। ये सेवाएँ भी आधुनिक सरकार की आय के मुख्य साधन है।

प्रो० टेलर (Taylor) ने इस प्रकार की आय को व्यापारिक आय (Commercial Revenue) कहा है। इनके अनुसार, "**व्यापारिक आय सरकार द्वारा उत्पादित वस्तुओं तथा सेवाओं के मूल्य के रूप में प्राप्त होती है।**" (The revenues which we call commercial are received in the form of prices paid for Government produced commodities and services) इसी प्रकार **डिमार्को** के अनुसार, "दर वह मूल्य है जो सेवाओ के प्रयोग के बदले लिया जाता है।"

यद्यपि सरकार द्वारा इन सेवाओ के सचालन का उद्देश्य लाभोपार्जन नहीं होता, फिर भी सरकारी आय का यह एक महत्वपूर्ण साधन है। किन्तु कीमत मे "अनिवार्यता" (Compulsion) का गुण नही पाया जाता है। इन सेवाओ के बदले मे कीमत वही चुकाता है जो उनका उपयोग करता है। उदाहरण के लिए, जो पोस्ट कार्ड खरीदता है वही उसकी कीमत देता है तथा जो रेलगाडी पर चढता है वही उसका किराया भी देता है।

(6) जुर्माना तथा दण्ड (Fines and Penalties) .—जुर्माना तथा दण्ड के द्वारा भी सरकार को आय प्राप्त होती है। जो व्यक्ति सरकारी कानून को भग करते हैं अथवा जो समाज के अमन-चैन मे बाधा उत्पन्न करते है, वैसे व्यक्तियो से सरकार दण्ड अथवा जुर्माना वसूल करती है। यद्यपि दण्ड और जुर्माना आय प्राप्त करने के ख्याल से नही वसूल किये जाते, फिर भी इनसे सरकार को अच्छी आय प्राप्त होती हैं।

(7) उपहार एवं अनुदान (Gifts and Grants) —कभी-कभी ऐसा होता है कि देश के कुछ उदार एव धनी मानी व्यक्ति स्वेच्छापूर्वक सरकार को कुछ रुपये या सम्पत्ति आदि भेंट अथवा उपहार के रूप मे देते है जिनका उपयोग जन कल्याण के लिए किया जा सकेगा। इससे भी सरकार को कुछ आय प्राप्त होती है, मगर इसकी मात्रा बहुत कम होती है। इस प्रकार के उपहार बगैर किसी दबाव के दिये जाते है, किन्तु युद्ध आदि के अवसरो पर इनमे दबाव का अश भी वर्तमान रहता है। इस प्रकार के उपहार का सार्वजनिक आय के साधनों में कोई विशेष महत्त्व नही होता। अनुदान (Grants) की प्रथा मुख्यत सघीय सरकारो द्वारा अपनायी जाती है। सघीय

इस प्रकार सार्वजनिक आय का वर्गीकरण कई आधार पर किया जाता है, किन्तु इनमे सबसे सरल वर्गीकरण निम्नांकित है :—

सार्वजनिक आय (Public Revenue)

- कर-सम्बन्धी आय
  - प्रत्यक्ष कर जैसे—आय कर, सम्पत्ति कर, मृत्यु-कर इत्यादि
  - अप्रत्यक्ष कर जैसे—उपभोग कर, उत्पादन कर, बिक्री से प्राप्त आय पर कर आदि।
- गैर-कर-सम्बन्धी आय
  - राजकीय सम्पत्ति से
  - उपहार एवं जुर्माना से
  - अनुदान
  - वस्तुओ एवं सेवाओ के विक्रय से
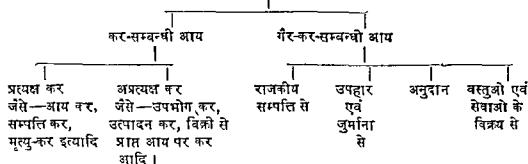
बैस्टेबिल ने राजकीय आय के दो वर्ग किये है :—

(क) वह आय,जो सरकार को एक बडा प्रमण्डल होने के नाते तथा जनता को वस्तुएँ अथवा सेवाएँ उपलब्ध कराने के कारण प्राप्त होती है। इसके अन्तर्गत न्यायाधीश के रूप मे राज्य की प्राप्त आय भी सम्मिलित रहती है।

(ख) वह आय जो राज्य अपनी सत्ता के कारण समाज की आय मे से ले लेता है।

इसी प्रकार आदम स्मिथ (Adam Smith) ने सरकारी आय को निम्नांकित तीन वर्गों मे विभाजित किया है —

(क) प्रत्यक्ष आय (Direct revenue) :—इसके अंतर्गत सार्वजनिक उद्योगो, उपहारो तथा जब्त सम्पत्तियो स प्राप्त आय सम्मिलित रहती है।

(ख) व्युत्पन्न आय (Derivative revenue) :—इसमे करो, शुल्को तथा जुर्मानो आदि से प्राप्त आय सम्मिलित रहती है।

(ग) प्रत्याशित आय (Anticipatory revenue) :—इसमे सरकार को ट्रेजरी बिलो तथा अन्य प्रकार के ऋणो से प्राप्त आय भी सम्मिलित रहती है।

इस प्रकार राजकीय आय का विभिन्न दृष्टिकोणो से वर्गीकरण किया जाता है।

विशेष अध्ययन-सूची

1. Dalton . Public Finance.
2. Hicks : Public Finance.
3. Taylor : The Economics of Public Finance.

सामान्य सिद्धान्तो का प्रतिपादन हुआ है। कर के सिद्धान्त का तात्पर्य कर-सम्बन्धी नीति से है। कोई कर उचित है या अनुचित, इसे इन्ही सिद्धान्तो की कसौटी पर रखकर देखा जाता है।

करारोपण के सिद्धान्त
(Canons of Taxation)

करारोपण के उक्त उद्देश्यों की पूर्ति के लिए प्रत्येक देश मे सरकार द्वारा विभिन्न प्रकार के कर लगाये जाते है। आधुनिक युग मे करारोपण का कार्य बडा ही क्रमबद्ध एवं वैज्ञानिक हो गया है, अतः इसके लिए कुछ सिद्धान्तो की रचना हुई है। किसी भी कर का इन्ही सिद्धान्तो के आधार पर जाँचकर देखा जाता है कि वह कर उचित है अथवा नही। करारोपण के विभिन्न सिद्धान्तो को मोटे तौर पर दो वर्गो मे विभाजित किया जाता है—

(क) आदम स्मिथ के कर-सिद्धान्त, तथा

(ख) अन्य सिद्धान्त।

अब, इसका निम्न विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है—

आदम स्मिथ के कर-सिद्धान्त

कर-नीति निर्धारण के सिद्धान्तो की व्याख्या सर्वप्रथम सुप्रसिद्ध अर्थशास्त्री आदम स्मिथ ने की थी। आदम स्मिथ के अनुसार करों के निम्नलिखित चार सिद्धान्त (Four Canons of Taxation) है—

(1) समानता या योग्यता का सिद्धान्त (The Canon of Equality of Ability),

(2) निश्चितता का सिद्धान्त (The Canon of Certainty),

(3) सुविधा का सिद्धान्त (The Canon of Convenience), तथा

(4) मितव्ययिता का सिद्धान्त (The Canon of Economy)।

(1) **समानता या योग्यता का सिद्धान्त (The Canon of Equality or Ability)**—आदम स्मिथ के अनुसार "प्रत्येक राज्य की प्रजा को अपने क्षमतानुसार अर्थात् उस आय के अनुपात मे जिसका आनन्द वे राज्य की संरक्षणता में प्राप्त करते हैं, सरकार के सहयोग के लिए योगदान देना चाहिए।" (The subject of every state, ought to contribute towards the support of the Govt. as nearly as possible, in proportion to their respective abilities, that is, in proportion to the revenue which they enjoy under the protection of the State.)

कर के इस सिद्धान्त मे समानता या न्याय का सिद्धान्त निहित है। इस सिद्धांत का तात्पर्य यह नही है कि सभी व्यक्तियो को कर की समान मात्रा का भुगतान करना चाहिए, वरन् इसका तात्पर्य यह है कि सभी व्यक्तियो को अपनी-अपनी योग्यताओ के अनुसार यानी अपने धन के अनुपात मे ही कर देना चाहिए। कर का वितरण समाज के विभिन्न वर्गों पर इस ढग से किया जाय कि समाज के धनी तथा निर्धन सभी वर्ग के लोगो को समान त्याग करना पडे। यहाँ पर समानता या योग्यता का अर्थ त्याग से है। सभी लोग अपनी योग्यता के अनुसार त्याग करें। अतः इस सिद्धान्त के आधार पर निर्धन लोगो पर कम मात्रा मे कर लगाना चाहिए और अमीरो पर अधिक मात्रा मे। क्योकि ऐसा प्रायः देखा जाता है कि अमीर व्यक्ति के लिए रुपये की सीमांत उपयोगिता और उसका मूल्य कम होता है और गरीबो के लिए उसकी सीमांत उपयोगिता और उसका मूल्य अधिक होता है। उदाहरण के लिए, कोई गरीब व्यक्ति पर अगर 5 रुपये कर लगा दिये जायँ तो यह रकम उसके लिए बहुत भारी हो जायगी। किन्तु यही रकम एक अमीर व्यक्ति के लिए बहुत ही कम सिद्ध होगी। अतः दोनो के त्याग को बराबर करने के लिए यह आवश्यक है कि अमीरों से अधिक कर वसूल किया जाय और गरीबो से कम। आदम स्मिथ (Adam Smith) ने पुनः इस बात का जिक्र किया है कि "अमीरों को न केवल अपनी आय के अनुपात मे, वरन उससे अधिक सार्वजनिक व्यय में योगदान अधिक उचित होगा।" (It is not very unreasonable that the rich should contribute to the public expenses, not

(iii) कर चुकाने का तरीका सुविधाजनक होना चाहिए (The process of tax payment must be convenient) ।

तात्पर्य यह है कि कर भुगतान का समय, स्थान एवं इसके तरीके का सुविधाजनक होना नितान्त अनिवार्य है ।

(4) **मितव्ययिता का सिद्धान्त** (The Canon of Economy) :—आदम-स्मिथ के करारोपण के सिद्धान्त मे मितव्ययिता का सिद्धान्त अन्तिम है । इसके अनुसार **"प्रत्येक कर की रचना इस प्रकार से की जानी चाहिए कि जो रकम राजकीय खजाने को प्राप्त हो उसके अतिरिक्त कर-दाता की जेब से कम-से-कम रकम बरबाद हो ।"** (Every tax ought to be so contrived as both to take out and to keep out of the pockets of the people as little as possible over and above what it brings to the state treasury.) इस सम्बन्ध मे आदम स्मिथ की यह धारणा थी कि कर वसूलने का व्यय कम-से कम होना चाहिए, यानी कर का स्वभाव तथा उसके वसूल करने का ढग ऐसा होना चाहिए जिससे कि कर-वसूली मे कम-से-कम खर्च करना पड़े । अगर कर-वसूली मे खर्च कम होगा तो सरकार के खजाने में कर की आय का अधिक हिस्सा जायगा जिसके व्यय से वह समाज को अधिकतम सामाजिक तथा आर्थिक कल्याण प्रदान कर सकेगी । दूसरी ओर, अगर कर की वसूली में ही अधिक खर्च करना पड़े तो उन खर्चों को निकल जाने के बाद सरकारी खजाने मे कर से प्राप्त आय की मात्रा अपेक्षाकृत कम होगी जिसके व्यय के द्वारा वह समाज को कम ही आर्थिक और सामाजिक कल्याण प्रदान कर सकेगी । अत कर-वसूली के खर्च की मितव्ययिता वाछनीय है ।

इस प्रकार आदम स्मिथ ने करारोपण के सम्बन्ध मे उक्त सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया है । इनमे से पहला नियम सैद्धान्तिक है तथा अन्य प्रशासकीय हैं ।

करारोपण के अन्य सिद्धान्त

आदम स्मिथ (Adam Smith) के कर के उपरोक्त चार सिद्धान्तो के अतिरिक्त अर्थशास्त्रियो ने करारोपण के कुछ अन्य सिद्धान्त भी बतलाये हैं जिनमे निम्नांकित प्रधान हैं :—

(5) उत्पादकता का सिद्धान्त (The Canon of Productivity),
(6) लोच का सिद्धान्त (The Canon of Elasticity),
(7) सरलता का सिद्धान्त (The Canon of Simplicity),
(8) विविधता का सिद्धान्त (The Canon of Diversity), तथा
(9) एकरूपता का सिद्धान्त (The Canon of Uniformity) ।

अब इनका निम्न विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है ।

(5) **उत्पादकता का सिद्धान्त** (The Canon of Productivity)—यह भी करारोपण का एक प्रमुख सिद्धान्त है । उत्पादकता का आशय यह है कि राज्य को कर से पर्याप्त मात्रा मे आय प्राप्त होनी चाहिए । कोई भी कर तभी उत्पादक समझा जाता है जब उसे एकत्र करने मे कम से-कम व्यय हो । यही कारण है कि अनेक छोटे छोटे करो की अपेक्षा एक बडा कर अच्छा होता है । इसे **बैस्टेबल** (Bastable) ने प्रतिपादित किया था । उत्पादकता के सिद्धान्त का अर्थ दो प्रकार का होता है—एक तो यह कि सरकार को कर लगाते समय इस बात पर अवश्य ध्यान देना चाहिए कि कर का देश की उत्पादन-शक्ति पर बुरा प्रभाव न पड़े और दूसरा यह है कि कर द्वारा प्राप्त आय को उत्पादक कार्यों पर खर्च किया जाय । उत्पादक कार्यों का तात्पर्य वैसे कार्यों से है जिन पर खर्च करने से देश की सम्पत्ति एव आर्थिक कल्याण मे वृद्धि होती हो । साथ ही, उत्पादकता वर्तमान तथा भविष्य दोनो ही दृष्टिकोणो से होनी चाहिए ।

(6) **लोच का सिद्धान्त** (The Canon of Elasticity) :—लोच के सिद्धात का तात्पर्य यह है कि किसी देश की कर-प्रणाली ऐसी होनी चाहिए जिसमे कि आवश्यकतानुसार परिवर्तन किया जा सके । आज के कल्याणकारी राज्य (Welfare State) मे सरकार का कार्यक्षेत्र दिन-प्रतिदिन बढते ही जा रहा है जिन्हे सम्पन्न करने के लिए अधिक-से अधिक आय प्राप्त करने की आवश्यकता होती है । इससे सरकारी व्यय मे दिनप्रति दिन वृद्धि होती जा रही है । अतएव देश

द्वितीयत., कर-प्रथा का **मितव्ययितापूर्ण** होना भी अनिवार्य है। मितव्ययितापूर्ण का अर्थ यह है कि करो को एकत्र करने पर खर्च कम से-कम होना चाहिए। इससे जनता द्वारा दिये गये करों का समुचित रूप मे उपयोग होता है।

तृतीयत एक अच्छी कर-प्रणाली मे **उत्पादकता** (Productivity) का गुण भी होना चाहिए। उत्पादकता का आशय यह है कि देश की कर-व्यवस्था इस प्रकार की होनी चाहिए जिसका कि उत्पादन पर विपरीत प्रभाव न पड़े। इससे देश के आर्थिक विकास मे सहायता मिलनी चाहिए।

चतुर्थत, इसमे **निश्चितता** (Certainty) का गुण भी होना चाहिए। निश्चितता का तात्पर्य यह है कि करों की मात्रा तथा इनके चुकाने का तरीका निश्चित होना चाहिए। कर-प्रथा आधुनिकतम तथ्यो एव आँकडो पर आधारित होनी चाहिए। साथ ही, विभिन्न प्रकार के करो के प्रभाव के सम्बन्ध मे भी उचित ज्ञान रहना चाहिए।

साथ ही, एक अच्छी कर-प्रणाली **सुविधाजनक** भी होनी चाहिए, यानी कर-प्रणाली ऐसी हो जिसमे करदाता करो के भार को यथासम्भव कम अनुभव करे। इस सम्बन्ध मे यह कहा जाता है कि 'अमीरो को जितना वे सोचते हैं उससे अधिक कर देना चाहिए जबकि गरीबो को समझना चाहिए कि जितना वे कर दे सकते हैं उससे अधिक दे रहे हैं। इस प्रकार के दोहरे भ्रम से अमीर सतुष्ट और गरीब ईमानदार रहेगे" (The rich should pay more taxes than they think, while poor should think they pay more than they do. This double illusion will keep the rich contended and the poor virtuous.) किन्तु इस आदर्श को प्राप्ति मे बहुत अधिक व्यावहारिक कठिनाइयाँ है।

सातवीं बात यह है कि एक अच्छी कर-प्रणाली को पूर्ण रूप से **सद्भावनापूर्ण** होना आवश्यक है। सभी करो को इस प्रणाली मे ठीक ठीक जम जाना चाहिए जिससे कि वे मिले-जुले एक सम्पूर्ण अग की तरह दीख पडे। एक अच्छी कर-प्रणाली को पर्याप्त मात्रा मे लोचपूर्ण (Flexible) भी होना चाहिए। लोच का अभिप्राय यह है कि कर-प्रणाली ऐसी होनी चाहिए कि आवश्यकतानुसार बिना किसी बडी उथल-पुथल के नये कर लगाये जायँ तथा पुराने कर निकाल दिये जा सकें।

अंतत, इसमे सिराज के अनुसार **पर्याप्तता** (Sufficiency) का गुण भी होना चाहिए। जहाँ तक पर्याप्तता का सम्बन्ध है यह बडी ही अस्पष्ट धारणा जान पडती है। पर्याप्तता का सम्बन्ध आवश्यकताओ से है। दूसरे शब्दो मे, पर्याप्तता इस बात पर निर्भर करती है कि राज्य की आवश्यकताएँ कितनी हैं। इस प्रकार वस्तुतः यह एक निरपेक्ष गुण है तथा बहुत-सी परिस्थितियो पर निर्भर करता है।

क्या भारतीय कर-प्रणाली उत्तम है ? —अतएव एक अच्छी कर-प्रणाली मे उपरोक्त सभी गुणो का होना अनिवार्य है। वास्तव मे, एक अच्छी कर-प्रणाली वह है जिसका समाज पर सर्वाधिक अनुकूल आर्थिक प्रभाव पडे। (The best system of taxation from economic point of view is that which has the best or least bad economic effects) अब हमे यह देखना है कि भारतीय कर प्रथा मे कहाँ तक ये गुण पाये जाते हैं। प्रशासन की दृष्टि से भारतीय कर-प्रथा भी बहुत सुन्दर है। इसमे निश्चितता का गुण पाया जाता है, करो को जमा करने का व्यय भी बहुत ही कम है, इसमे सरलता का गुण भी पाया जाता है, यह कर प्रणाली लोचपूर्ण है तथा बिल्कुल विस्तृत भी है। इसमें प्राय. सभी व्यक्तियो को कुछ-न-कुछ कर अवश्य ही चुकाना पडता है। इस प्रकार भारतीय कर-प्रथा में एक अच्छी कर प्रणाली के प्रायः सभी गुण पाये जाते हैं। किन्तु हमारी कर प्रणाली आदर्श कर-प्रणाली नही कही जा सकती। यहाँ उद्योग-धन्धो की आवश्यकताओ को समझे बगैर ही आयात निर्यात कर लगाये जाते हैं। सबसे बडी बात तो यह है कि इसमे समानता के नियम के अनुसरण का अभाव है। भारतीय कर-प्रथा अमीरो के विरुद्ध गरीबो के प्रति भेद-भाव रखती है। आय-कर प्रगतिशील अवश्य है, किन्तु इसकी प्रगति उतनी ढालू नही है। साथ ही, लगान, चुगी, आबकारी तथा रेलवे किराया पर कर, कुल मिलाकर अमीरो की अपेक्षा यहाँ गरीबो को ही प्राय अधिक कर चुकाना पडता है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि भारतीय कर-प्रथा की प्रवृत्ति प्रधानतः प्रतिगामी है।

एक-कर प्रणाली के विपरीत है। (In general, the weight of arguments is against a single tax.) बहु-कर प्रणाली (Multiple tax system) द्वारा इन दोषों को दूर किया जा सकता है। इस प्रकार की कर-प्रणाली मे विभिन्न प्रकार के करों-को लगाकर कर के आधार को विस्तृत बनाया जा सकता है। बहुत प्रकार के करों के कारण इसमें कर के भार को भी उचित रूप से विभाजित किया जा सकता है। साथ ही, करों की चोरी को भी बहुत हद तक रोका जा सकता है तथा सरकार इससे आवश्यकतानुसार आय प्राप्त कर सकती है। इस प्रकार एक-कर प्रणाली की अपेक्षा बहु-कर प्रणाली अधिक व्यावहारिक है। फिर भी, इस प्रकार की कर-प्रणाली में बहुत-से करों का होना उचित नहीं है। (Great multiplicity of taxes is not desirable) किसी खास समय में किसी देश की सरकार द्वारा कितने करों को लगाया जाना चाहिए यह उस देश की परिस्थितियों पर निर्भर करता है। इस प्रकार बहु-कर प्रणाली अधिक व्यावहारिक है। यही कारण है कि विश्व के प्रायः सभी देशों में आजकल इसी प्रणाली का प्रचलन है।

विशेष अध्ययन-सूची

1. Dalton : Public Finance
2. Pigou : A Study of Public Finance.

(3) लाभ अथवा जैसा-का-तैसा सिद्धान्त (The Penefit or *Quid-pro-quo* Theory) :—लाभ के सिद्धान्त के अनुसार कर की दर उस लाभ के अनुसार होनी चाहिए जो कि प्रत्येक नागरिक को राज्य की संरक्षणता मे प्राप्त हो । सार्वजनिक सेवाओ से जिस व्यक्ति को जितना ही लाभ हो उसे राजकीय व्यय मे भी उतना ही अपने हिस्से के रूप मे चुकाना चाहिए । जिन कारणो का उल्लेख किया गया है, उन्ही के फलस्वरूप लाभ-सिद्धान्त भी इस समय व्यावहारिक दृष्टि से स्वीकार्य नही है । बहुत-सा सार्वजनिक व्यय साझे अथवा अविभाज्य लाभो के लिए किया जाता है । अतएव यह हिसाब लगाना कठिन है कि एक विशेष कार्य के लिए कितना लाभ किसी समय मे बढकर होता है । बहुत थोड़े ऐसे कार्य हैं, जहाँ व्यक्ति के लाभ का हिसाब लगाया जा सकता है; जैसे वृद्धावस्था की पेंशन । सेलिगमैन (Seligman) के अनुसार सरकार कोई भी कार्य किसी विशेष व्यक्ति के लिए नही करती, वरन् व्यक्ति को समाज का एक अंग मानकर करती है । इस प्रकार विशेष लाभ सामान्य लाभ मे विलीन हो जाता है । इसके अतिरिक्त राज्य की कुछ ऐसी सेवाएँ भी हैं जिनका अन्दाजा नही लगाया जा सकता; जैसे—सामाजिक सुरक्षा, आर्थिक सहायता इत्यादि ।

(4) डिमार्को का आय-सिद्धान्त (Demarco's Income Theory) :—डिमार्को ने इस सम्बन्ध मे आय का सिद्धान्त (Income Theory) प्रस्तुत किया है जो बहुत कुछ लाभ-सिद्धान्त से मिलता-जुलता है । डिमार्को के अनुसार राज्य एवं नागरिको मे प्रकार से विनिमय का सम्बन्ध है । राज्य सार्वजनिक सेवाओ का उत्पादक है और नागरिक इन सेवाओ के क्रेता एवं उपभोक्ता हैं । नागरिक इनका उपयोग अपनी आय के अनुपात में करते है । (There is no doubt that our income is the index by which we measure the total of our consumption, present and prospective, individual and collective.) अतएव प्रत्येक व्यक्ति को अपनी आय के अनुसार ही कर देना चाहिए ।

किन्तु, डिमार्को का सिद्धान्त भी आजकल बहुतो को स्वीकार्य नही है क्योकि इन्होने इस बात पर बहुत जोर दिया है कि राज्य की प्रत्येक सेवा का उपयोग व्यक्ति अपनी आय के अनुपात में ही करता है । कल्याणकारी राज्य का विचार तो ठीक इसके विपरीत है । इस प्रकार करारोपण का यह सिद्धात भी अधिकाश व्यक्तियो को मान्य नही है ।

कर-दान योग्यता का सिद्धान्त

(Ability to Pay Theory of Taxation)

अधिकतम लोकप्रिय तथा न्याय का विश्वसनीय सिद्धान्त यह है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी क्षमता अथवा योग्यता के अनुसार कर देना चाहिए । डाल्टन (Dalton) के अनुसार भी प्रत्येक व्यक्ति को अपनी भुगतान करने की क्षमता के अनुसार ही कर देना चाहिए (The principle that Taxation should be distributed between individuals in accordance with their ability to pay is on the face of it, some what more practicable.) आदम स्मिथ के कर-सिद्धान्तो की व्याख्या करते समय भी हम इस सिद्धान्त की चर्चा कर चुके हैं । यह सिद्धात करारोपण का बहुत ही उचित एव न्यायसंगत सिद्धात है । इसके अनुसार कर का भार व्यक्तियो पर उनकी कर-दान योग्यता के अनुसार होना चाहिए । परन्तु इसको भी व्यवहार मे लाना बहुत ही कठिन कार्य है । इस सिद्धात को कार्य रूप देने मे सर्वप्रथम कठिनाई यह है कि कर-दान की योग्यता कैसे तथा किस आधार पर निश्चित की जाय । दूसरी ओर, कर-दान क्षमता के उचित आधार की खोज के लिए हमे दो दिशाओ पर चलना होगा । एक तो भावात्मक (Subjective) और दूसरा वस्तुगत (Objective) । प्रथम दृष्टिकोण मे हम कर-दाता का, विशेषकर निजी दृष्टिकोण लेंगे और दूसरे मे बाह्य पदार्थों की दृष्टि से अध्ययन करेंगे ।

भावात्मक दृष्टिकोण (Subjective Approach) :—यदि व्यक्तिगत दृष्टि से हम कर-दाता की कर देने की समस्या पर विचार करें तो हमे उनमे निहित असुविधा और त्याग पर विचार करना होगा । इस बात के लिए निम्नांकित तीन स्पष्ट सिद्धान्त सामने रखे गये हैं :—

इनको आय मे वृद्धि के अनुसार बढती हुई दर से कर वसूलना चाहिए। परन्तु इस प्रकार की प्रणाली को व्यवहार मे लाना सरल नही है।

किन्तु, त्याग के सिद्धान्त मे केवल वर्तमान सिद्धान्तो की ही व्याख्या की गयी है, भविष्य मे करो के प्रभाव पर जरा भी ध्यान नही दिया गया है। ये सिद्धान्त तीव्र गति से प्रगतिशील करो को महत्व प्रदान करते हैं। किन्तु इस प्रकार के करारोपण से बचत हतोत्साहित होती है। इसका प्रभाव उत्पादन एवं रोजगार पर भी पडता है। इस प्रकार त्याग के सिद्धान्तो का केवल सैद्धातिक महत्व है, इनका व्यावहारिक महत्व बिलकुल नही है। वास्तव मे, त्याग भावात्मक (Subjective) है, इसका सम्बन्ध कर दाता मे है। इसे मापना एक कठिन कार्य है। अधिक त्याग का अर्थ सदा अधिक हानि नही है। उदाहरण के लिए, शराब पर अधिक कर से उपभोक्ताओ को अधिक असुविधा होती है, किन्तु इससे कोई नही हानि होती है। अतएव कर-दान क्षमता की जाँच के लिए त्याग के सिद्धान्त का उपयोग नही किया जा सकता।

वस्तुगत दृष्टिकोण (Objective approach) :—कुछ अर्थशास्त्रियो ने कर-दान को माँगने के लिए एक वस्तुगत दृष्टिकोण (Objective approach) अपनाया है। इन लेखकों के अनुसार मनुष्य की कर-दान-क्षमता निम्नांकित तीन बातों से जानी जा सकती है—

(1) मनुष्य का उपभोग-स्तर,
(2) सम्पत्ति (Property); एवं
(3) आय (Income)।

(1) उपभोग (Consumption) —कुछ लेखको ने उपभोग-स्तर या व्यय को कर-दान क्षमता का अच्छा प्रमाण माना है। इनके अनुसार जिनका उपभोग-स्तर ऊँचा है, अर्थात् जो अधिक व्यय कर सकते हैं उन्हें अधिक कर देना चाहिए। किन्तु उपभोग अथवा व्यय के आधार पर करारोपण को न्यायसगत नही ठहराया जा सकता है। उदाहरण के लिए, किसी व्यक्ति की मासिक आय 100 रुपये है। वह अकेला है। अतएव 50 रुपये खर्च कर ही अपना कार्य चला लेता है। इसके विपरीत एक दूसरे व्यक्ति को प्रति माह आय भी 100 रुपये है, किन्तु, परिवार के सदस्यो की संख्या अधिक होने के कारण वह 100 रुपये व्यय कर देता है। सोचिये, किसकी कर-दान-क्षमता अधिक है। पहले की या दूसरे की। उपभोग अथवा व्यय के आधार पर दूसरे व्यक्ति की कर दान-क्षमता अधिक है, किन्तु वास्तव मे पहले व्यक्ति की ही कर-दान-क्षमता अधिक होगी। साथ ही, उपभोग को कर-दान-क्षमता का आधार मानने से उपभोग हतोत्साहित होगा। इस प्रकार उपभोग को कर-दान-क्षमता का आधार नही माना जा सकता है।

(2) सम्पत्ति (Property) :—कुछ लेखको ने सम्पत्ति को कर-दान-क्षमता का अधिक उचित एव अच्छा आधार माना है। इनके अनुसार जिस व्यक्ति के पास अधिक सम्पत्ति है उसकी कर-दान क्षमता अधिक है। किन्तु निम्नाकित कारणो से सम्पत्ति भी कर-दान-क्षमता का अच्छा आधार नही है —

प्रथमतः, समाज मे बहुत सारे व्यक्ति ऐसे हैं जिनकी आय अधिक होती है, परन्तु जो सम्पत्ति एकत्र करने की अपेक्षा ऊँचा जीवन स्तर व्यतीत करना ही अधिक उत्तम समझते है। यदि सम्पत्ति के अनुसार कर लगाया जाय तो ऐसे व्यक्तियो को कोई भी कर नही देना पडेगा।

द्वितीयतः, सम्पत्ति का वास्तविक मूल्य आँकना भी बहुत ही कठिन है। एक ही समान मूल्य की दो सम्पत्तियो पर भिन्न-भिन्न आय प्राप्त हो सकती है। अतएव इसके आधार पर किसी व्यक्ति की कर-दान-क्षमता का उचित तरीके से अनुमान नही लगाया जा सकता है।

तृतीयत, एक समान मूल्यवाली सम्पत्तियो पर आश्रितो की सख्या भी कम या अधिक हो सकती है। अतएव एक समान कर लगाने पर अधिक आश्रितो वाले व्यक्तियो के साथ एक प्रकार का अन्याय होगा। इसलिए कर-निर्धारण का यह आधार भी न्यायसगत नही है।

(3) आय (Income) :—आय को भी कर-दान-क्षमता का आधार माना गया है। वास्तव मे, करारोपण का आजकल यही मुख्य आधार है। ऊँची आय वालो पर अधिक कर लगाया जाता है तथा नीची आय वालो पर कम। परन्तु मौद्रिक आय को भी कर-दान-क्षमता का सन्तोषप्रद

कर-दान-क्षमता क्या है ? (What is Taxable Capacity) :— डॉ० डाल्टन (Dalton) के अनुसार कर-दान-क्षमता का प्रयोग दो अर्थों में किया जाता है—निरपेक्ष कर-दान-क्षमता (Absolute Taxable capacity) एवं सापेक्षिक कर-दान-क्षमता (Relative Taxable capacity)। पहले अर्थ मे इसका प्रयोग कर के भुगतान के परिणामो को ध्यान मे रखकर किया जाता है और दूसरे अर्थ मे दो देशों की सापेक्षिक कर-दान-क्षमता की बातें की जाती हैं। कर-दान-क्षमता की विभिन्न परिभाषाएँ दी गयी हैं। निरपेक्ष क्षमता का अर्थ यह है कि एक निरपेक्ष समुदाय करो के रूप मे बगैर कोई प्रतिकूल प्रभाव उत्पन्न किये कितना कर अदा कर सकता है। इसके विपरीत सापेक्षिक या तुलनात्मक कर अदा करने की शक्ति का अर्थ यह है कि केन्द्रीय खर्च के प्रान्तीय योगदान मे दो समुदायो को अलग-अलग कितना देना चाहिए। स्टाम्प (Stamp) के अनुसार "कर-दान-क्षमता वह अधिकतम धन-राशि है जो कि एक देश के नागरिक राजकीय पदाधिकारियो के व्यय की ओर अपने अंशदान के रूप मे बिना आनन्दरहित एवं पददलित जीवन व्यतीत किये और आर्थिक संगठन मे बिना अधिक उथल-पुथल किये दे सकते है। दूसरे शब्दो मे, स्टाम्प के अनुसार, कुल उत्पादन मे से जनसंख्या को जीवन-निर्वाह के स्तर पर बनाये रखने के लिए आवश्यक खर्च घटा कर जो शेष बचता है वह कर-दान-क्षमता है। (Taxable capacity is the total production minus the amount required to maintain the population at a subsistance level) इस प्रकार शिराज ने कहा है कि "कर-दान-क्षमता न्यूनतम उपभोग के ऊपर उत्पादन का वह कुल आधिक्य है जो उतने ही उत्पादन को प्राप्त करने के लिए चाहिए जिससे जीवन-स्तर पूर्ववत् बना रहे।" इन्होने कर-दान-क्षमता को निचोड की सीमा (Limit of squeezability) भी कहा है। इनके अनुसार "Taxable capacity is the limit of squeezability, it is the taxability of a nation, the maximum amount of taxation that can be raised and spent to produce the maximum economic welfar in that community."

कर दे सकने की क्षमता की सीमा कब बढ़ जाती है ? (When is the limit of taxable capacity exceeded ?) :— इस सम्बन्ध मे विभिन्न दृष्टिकोणो मे अन्तर है कि कर दे सकने की क्षमता को बढाये जाने की पहचान क्या है ? स्टाम्प ने कर दे सकने की क्षमता के लिए दो सीमाओ का उल्लेख किया है—(अ) कुल उत्पादन पर अंकुश, (ब) आय पर अंकुश। किन्तु अत्यधिक कर-निर्धारण के अतिरिक्त अंकुश के और भी कारण हो सकते हैं। कर-निर्धारण ही एक ऐसी वस्तु नही है जो उत्पादन पर प्रभाव डालता है। एलिन्गर के अनुसार 'कर दान क्षमता की सीमाओ तक उस समय पहुँचा जायगा जबकि कर-दाता की जेब से इतना लिया जाय कि उत्पादन के लिए किये गये प्रयत्नो मे कमी हो जाय और जब कमी को पूरा करने के लिए आवश्यक पूँजी की व्यवस्था तथा बढती हुई जनसख्या मे नये श्रमिको को काम पर लगाने के लिए अपर्याप्त शेष रह जाता है।" किन्तु उन्होने भी उत्पादन पर सार्वजनिक व्यय के लाभप्रद प्रभाव को स्पष्टतया ध्यान मे नही रखा। तथ्य यह है कि कर दे सकने की क्षमता को जटिलता के साथ निर्धारित नही किया जा सकता। यह एक गतिशील बिन्दु है तथा ऐसे बहुत-से कारणो से सम्बन्धित है जिनमे होने वाला कोई भी परिवर्तन राष्ट्र के कर दे सकने की क्षमता के सम्बन्ध मे किये गये हमारे अनुभवो को बदल देगा।

कर-दान-क्षमता के निर्धारक तत्त्व

(Factors Governing the Taxable Capacity)

किसी समुदाय की कर दान-क्षमता निम्नांकित बातो पर निर्भर करती है :—

(1) जनसंख्या (Population) :— जिस देश मे जितनी ही अधिक जनसख्या होगी उतनी ही अधिक सरकारी खर्च मे उस समुदाय द्वारा कर दे सकने की क्षमता अधिक होगी। इस दृष्टिकोण से भारत का स्थान उत्तम है। उसकी कर दे सकने की क्षमता उस समय निश्चित रूप से बढेगी, जबकि देश का उचित रूप से आर्थिक विकास किया जायगा।

(2) सार्वजनिक व्यय के आधार एवं उद्देश्य (Extent and Objectives of Public Expenditure) :— कर-दान-क्षमता पर सार्वजनिक व्यय का भी प्रभाव पडता है।

अध्याय : 56

करो का वर्गीकरण

(Classification of Taxes)

प्राक्कथन :—आज विश्व के प्राय सभी देशो मे राज्य की आवश्यकताओ में वृद्धि के परिणामस्वरूप विभिन्न प्रकार के कर लगाय जाते हैं। ये कर कई प्रकार के होते हैं, किन्तु साधारणतया इनका वर्गीकरण निम्नांकित तीन आधार पर किया जाता है :—

(क) प्रत्यक्ष एव परोक्ष अथवा अप्रत्यक्ष कर,
(ख) आनुपातिक, प्रगतिशील, प्रगतिगामी तथा अधोगामी कर, तथा
(ग) विशिष्ट एवं मूल्यानुसार कर।

(क) प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष कर

(Direct and Indirect Taxes)

इस प्रकार करो का वर्गीकरण भिन-भिन्न आधार पर किया जाता है। एक वर्गीकरण के अनुसार कर निम्नाकित दो प्रकार के होते हैं :—

(1) प्रत्यक्ष कर (Direct Taxes), तथा
(2) अप्रत्यक्ष अथवा परोक्ष कर (Indirect Taxes)।

प्रत्यक्ष एव अप्रत्यक्ष करो के बीच अन्तर कर के भार एव कराघात के आधार पर स्पष्ट किया जा सकता है। प्रत्यक्ष कर वे कर हैं जो पूर्णत. उसी व्यक्ति द्वारा चुकाये जाते हैं जिसपर ये कर लगाय जाते हैं। दूसरे शब्दो में, जब किसी कर का आघात (Impact) एव भार (Incidence) अन्तिम रूप से एक ही व्यक्ति पर पड़ता है तो उसे प्रत्यक्ष कर कहा जाता है। ऐसे कर के भार को दूसरे व्यक्तियो पर नही टाला जा सकता। आय कर (Income Tax) इसका सबसे अच्छा उदाहरण है। डाल्टन (Dalton) के अनुसार 'प्रत्यक्ष कर वह कर है जिसका भुगतान वास्तव में उसी व्यक्ति द्वारा किया जाता है जिस पर यह कानूनी तौर से लगाया जाता है।" (A direct tax is really paid by the person on whom it is legally imposed)

इसके विपरीत, अप्रत्यक्ष कर (Indirect Tax) वे कर हैं जिनका भुगतान दूसरे व्यक्तियों पर टाला जा सकता है। दूसरे शब्दो मे, इस प्रकार के कर का आघात (Impact) किसी एक व्यक्ति पर पड़ता है जो इस कर के मौद्रिक भार (incidence) को अन्य व्यक्तियो के कन्धे पर टाल देता है। डाल्टन (Dalton) के अनुसार "अप्रत्यक्ष कर किसी एक व्यक्ति पर लगाया जाता है, किन्तु उसका भुगतान पूर्णतः या अंशतः दूसरे व्यक्तियो द्वारा किया जाता है।" (An indirect tax is imposed upon one person but paid partly or wholly by another.) वस्तुओ और सेवाओ पर लगाये गये कर अप्रत्यक्ष कर होते हैं, जैसे—विक्रय कर (Sales Tax), आयात एवं निर्यात-कर (Export and Import duties) इत्यादि। इन करो का करदाता वस्तुओं तथा सेवाओ के मूल्य मे कर के अनुसार वृद्धि कर इनके भार को उपभोक्ताओं पर टाल देता है।

इसी प्रकार हिमार्को के अनुसार प्रत्यक्ष कर वह कर है जिसे वसूल करने के लिए करदाताओ का सूची तैयार की जाती है तथा इस सूची के आधार पर एक निश्चित समय पर उनस कर वसूल किया जाता हैं। इसके विपरीत परोक्ष कर वे कर है जो एक निश्चित काम करते समय ही वसूल किये जाते हैं। इसका कोई निर्धारित समय नहीं होता और न इनके करदाताओं

एक निश्चित सीमा से कम आयवालों पर इसका भार बिल्कुल नही पड़ता है। इस प्रकार यह कर देने की योग्यता के अनुसार लगाया जाता है।

(ii) **मितव्ययिता** (Eonomy) :—प्रत्यक्ष करो के वसूल करने मे खर्च भी कम होता है, क्योकि ये कर अधिक आय तथा सम्पत्ति वाले कुछ ही लोगो पर लगाये जाते हैं। साथ ही, अधिकांश कर स्रोत पर (at source) ही प्राप्त हो जाते हैं। अत: इनके द्वारा मितव्ययिता के सिद्धान्त (Canon of Economy) का भी पालन किया जाता है।

(iii) **उत्पादकता** (Productivity) .—प्रत्यक्ष कर उत्पादकता के नियम की भी संतुष्टि करते है, क्योकि इन करो से पर्याप्त मात्रा मे आय प्राप्त होती है। साथ ही, देश के आर्थिक विकास के साथ-साथ इन करो से प्राप्त आय भी बढती जाती है। इस प्रकार इन करो से सरकार को पर्याप्त मात्रा मे आय भी प्राप्त होती है।

(iv) **लोचपूर्णता** (Elasticity) :—प्रत्यक्ष कर लोचपूर्ण होते हैं। जनता की आय तथा सम्पत्ति मे वृद्धि होने पर इनकी दर भी बढ़ायी जा सकती है और उनकी आय तथा सम्पत्ति घटने पर इनकी दर भी बढायी-घटायी जा सकती है। साथ ही, सरकार इन करो मे आवश्यकतानुसार वृद्धि भी कर सकती है। अतएव युद्ध आदि आर्थिक संकट के समय इनसे अधिक आय प्राप्त की जा सकती है।

(v) **निश्चितता** (Certainty) :—प्रत्यक्ष कर निश्चितता के सिद्धात (Canon of certainty) का भी पालन करते हैं। इसमे कर-दाताओ को पहले से ही इन सारी बातो का ज्ञान रहता है कि उन्हे कर को कितनी मात्रा किस समय मे तथा किस तरीके से भुगतान करनी है। साथ ही, राज्य को भी इस बात की जानकारी रहती है कि इन करो से सरकार को कितनी आय प्राप्त होगी।

(vi) **प्रगतिशीलता** (Progressivenes) .—प्रत्यक्ष करो का सर्वाधिक प्रमुख गुण यह है कि इन्हें प्रगतिशील बनाया जा सकता है। जिस व्यक्ति के पास जितनी ही अधिक आय और सम्पत्ति रहती है उस पर उतना ही अधिक कर लगाया जाता है। दूसरे शब्दो मे, इन करो को इस प्रकार से लगाया जा सकता है कि करो का सबसे अधिक भार अधिक चौड़े कंधो पर पड़े।

(vii) **इस प्रकार के करों से नागरिकता का भाव जागृत होता है** (These taxes develop civic consciousness) .—प्रत्यक्ष कर चुकाने पर हरेक नागरिक इस बात का अनुभव करता है कि वह राज्य को एक निश्चित रकम कर के रूप मे चुकाता है। इससे उसमे राजनीतिक चेतना जागृत होती है। इस प्रकार प्रत्यक्ष कर कर-दाताओ को राज्य के नागरिक के रूप मे अपने अधिकारो एव दायित्वो के प्रति अधिक सचेत एवं सावधान बनाते है।

प्रत्यक्ष करो के दोष

(Demerits of Direct Taxes)

किन्तु उपरोक्त लाभो के साथ साथ प्रत्यक्ष करों के कुछ दोष भी है जिनमें निम्नांकित उल्लेखनीय हैं :—

(i) **कर भार का अधिक महसूस होना** :—प्रत्यक्ष करो का आघात (Impact) एवं करभार (Incidence) दोनो एक ही व्यक्ति पर पडता है जिससे वह इन करो के भार को बहुत अधिक अनुभव करता है। इसका प्रभाव उसके मस्तिष्क एव कार्य क्षमता पर पडता है जिससे प्राय: लोग इन करो के विरुद्ध आवाज उठाते है।

(ii) **प्रत्यक्ष कर असुविधाजनक होते हैं** (Direct taxes are inconvenient).—प्रत्यक्ष करो मे कुछ असुविधाएं भी होती है। इसमे कर-दाताओ को बहुत-सारी चीजो का हिसाब-किताब रखना पड़ता है जिसे अधिकारियो के समक्ष समय-समय पर जाँच के लिए प्रस्तुत करना पड़ता है। इससे कर-दाताओ को असुविधा का सामना करना पडता है।

(iii) **इसमें कर अपवंचन की सम्भावना अधिक होती है** (There can be evasion of direct taxes) :—प्रत्यक्ष करो का सीधा भार कर-दाताओं पर पड़ता है। इसलिए वे

अप्रत्यक्ष करों के दोष
(Demerits of Indirect Taxes)

किन्तु परोक्ष अथवा अप्रत्यक्ष करों के विरुद्ध अनेक आपत्तियाँ उठायी जाती हैं जिनमें निम्नलिखित मुख्य हैं :—

(i) ये कर कर-दान योग्यता पर आधारित नहीं होते (These taxes are not based on ability to pay) :—परोक्ष करों में धनी एवं निर्धन दोनों ही वर्गों को कर लगी हुई वस्तु का उपभोग करने पर कर का भुगतान समान दर से करना पड़ता है जिससे व्यवहार में ये प्रतिगामी (Regressive) हो जाते हैं क्योंकि इनका भार धनिकों की अपेक्षा निर्धनों पर ही अधिक पड़ता है, अत. ये कर न्याययुक्त नहीं होते ।

(ii) अप्रत्यक्ष करों से समाज में आर्थिक विषमता फैलती है (Indirect Taxes tend to create inequalities in the society) :—ये कर समानता के सिद्धान्त का उल्लंघन करते हैं । ये कर प्राय: अनिवार्यताओं पर अधिक लगाये जाते हैं । चूँकि निर्धन व्यक्ति अपनी आय का अधिकांश भाग अनिवार्यताओं पर ही व्यय करते हैं, इसलिए इन्हें धनी व्यक्तियों की अपेक्षा अधिक कर देना पड़ता है । इस प्रकार इस कर का भार धनी व्यक्तियों की अपेक्षा निर्धन व्यक्तियों पर ही अधिक पड़ता है जिससे ये कर प्रतिगामी (Regressive) हो जाते हैं । परन्तु कर-नीति ऐसी होनी चाहिए की समाज में धन का वितरण अधिक समान हो । अत: परोक्ष करों का यह दोष है कि ये धन के वितरण की असमानता को प्रोत्साहित करते हैं ।

(iii) ये कर प्राय: अनिश्चित होते हैं (These taxes are uncertain) :—अनिवार्यताओं पर लगे कर को छोड़कर अन्य करों से प्राप्त होनेवाली आय अनिश्चित होती हैं; क्योंकि इन वस्तुओं पर लगे करों की दर में वृद्धि होने से उनकी मांग बहुत कम हो जाती है, जिससे सरकार की आय भी घट जाती है । इसके अतिरिक्त कर की मात्रा तथा उसके वसूल करने का समय भी सदा अनिश्चित रहता है ।

(iv) इनमें मितव्ययिता नहीं रहती (Indirect Taxes are not economical) :—इन करों को वसूल करने में खर्च बहुत अधिक होता है जबकि इनसे प्राप्त आय इतनी अधिक नहीं होती ।

(v) उत्पादन पर बुरा प्रभाव (Adverse effects on Production) :—इन करों का उत्पादन पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है । ये उपभोग को हतोत्साहित कर वस्तुओं की मांग को घटा देते हैं, अतएव इनसे उत्पादन भी कम होता है ।

निष्कर्ष (Conclusion) :—प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष करों के गुण एवं दोषों के अध्ययन के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर आते हैं कि किसी देश की कर-प्रणाली को न्यायपूर्ण बनाने तथा करदान योग्यता के सिद्धान्त पर आधारित करने के लिए इन दोनों ही करों को लगाना चाहिए । इन दोनों प्रकार के करों में किस पर कम जोर तथा किस पर अधिक जोर दिया जाय, यह देश की आर्थिक स्थिति पर निर्भर करता है । कुछ खास परिस्थितियों में प्रत्यक्ष कर अच्छे होंगे तथा अन्य परिस्थितियों में अप्रत्यक्ष कर अच्छे होंगे ।

इस प्रकार किसी देश की कर-प्रणाली में इन दोनों प्रकार के करों का समन्वय अनिवार्य है । इस सम्बन्ध में **ग्रेट स्कॉटमैन** (Great Scottman) का निम्न कथन अधिक महत्त्वपूर्ण है—"मैं प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष करों के विषय में और कुछ नहीं सोच सकता सिवा इसके कि मैं इन दोनों को दो आकर्षक बहनों की तरह मानूँ जो कि लन्दन के सुन्दर संसार में आयी हैं । दोनों ही विपुल भाग्यशालिनी हैं, दोनों के माता-पिता एक हैं—मेरा विश्वास है कि दोनों के माता-पिता आवश्यकता एवं आविष्कार हैं, इनमें अन्तर केवल इतना ही हो सकता है जितना कि दो बहनों में होता है ।" (I can never think of Direct and Indirect Taxes except as I should think of two attractive sisters who have been introduced into the gay world

को नियन्त्रित न किया जाय, तो विकास की गति मन्द पड़ने की संभावना रहती है। कृषि-प्रधान देशों की योजनाओं में कृषि-उत्पादन में जो वृद्धि होती है उसे यदि कृषक निजी उपभोग में ही लाते रहें तो बाजार के लिए कुछ भी अतिरेक नहीं बच पाता है या बहुत कम बच पाता है। इसलिए आवश्यक है कि कृषि-उत्पादन की वस्तुओं पर परोक्ष करारोपण के द्वारा इस प्रवृत्ति को रोक-थाम की जाय।

आनुपातिक, प्रगतिशील, प्रतिगामी तथा अधोगामी कर

(Proportional, Progressive, Regressive and Degressive Taxes)

करों का वर्गीकरण एक-दूसरे आधार पर निम्नांकित चार वर्गों में किया जाता है :—

(1) आनुपातिक कर (Proprtional Tax);
(2) प्रगतिशील कर (Progressive Tax);
(3) प्रतिगामी कर (Regressive Tax), तथा
(4) अधोगामी कर (Degressive Tax)।

करों का यह वर्गीकरण करों की दर एवं कर-दाताओं की आर्थिक स्थिति के सम्बन्ध पर आधारित है। अब इन करों का पृथक-पृथक् रूप से निम्नलिखित विवरण प्रस्तुत किया जाता हैं :—

(1) आनुपातिक कर (Proportional Tax) :—आनुपातिक कर वह कर हैं जिसकी दर सभी कर-दाताओं के लिए एक समान होती है। उदाहरण के लिए, 100 रुपये आय वाले व्यक्ति पर जब 5 प्रतिशत कर लगाया जाय और 1 लाख रुपये आयवाले पर भी 5 प्रतिशत ही कर लगाया जाय तो इसे आनुपातिक कर कहते हैं। आनुपातिक कर-प्रणाली के बहुत-से गुण हैं :—

(क) सरलता :—इस प्रकार की कर प्रणाली का सबसे बड़ा लाभ यह है कि यह बहुत ही सरल होती है। दूसरे शब्दों में, आनुपातिक कर सरलता के सिद्धान्त (Canon of simplicity) की पुष्टि करते हैं।

(ख) धन का वितरण पूर्ववत् ही रहता है —इसका दूसरा गुण यह है कि यह समाज मे धन के वितरण को पूर्ववत् रखता है। इसका प्रधान कारण यह है कि इसमे कर की दर सभी के लिए एक समान होती है।

किन्तु आनुपातिक कर प्रणाली के निम्नांकित दोष भी हैं —

(i) यह न्याय के सिद्धान्त के विरुद्ध है —इसका सर्वाधिक प्रमुख दोष यह है कि यह सामाजिक न्याय के सिद्धांत के बिलकुल विरुद्ध है, क्योंकि इसमे कर का बोझ कम आय वाले व्यक्तियों पर अपेक्षाकृत अधिक पड़ता है। उपरोक्त उदाहरण मे 100 रुपये आय वाले व्यक्ति के लिए रुपये की सीमान्त उपयोगिता 1 लाख रुपये आय वाले व्यक्ति की अपेक्षा बहुत अधिक होगी, अतएव 100 रूपये आय वाले व्यक्ति पर कर का भार अपेक्षाकृत अधिक होगा।

(ii) लोच का अभाव :—आनुपातिक करो मे लोच का भी अभाव रहता है। आनुपातिक करों से अधिक मात्रा में आय नहीं प्राप्त की सकती है क्योंकि इसमे करो की दरों मे वृद्धि करने से निर्धन व्यक्तियों को कष्ट होता है।

(2) प्रगतिशील कर (Progressive Tax) :—प्रगतिशील कर वह कर है जिसकी दर आय में वृद्धि के साथ-साथ बढ़ती जाती है। इस प्रकार के कर के अन्तर्गत कम आय वाले व्यक्तियों को कम दर से कर देना पड़ता है तथा अधिक आय वाले व्यक्तियो को बढ़ती हुई यानी अधिक दर से कर देना पड़ता है। दूसरे शब्दों में, आय मे वृद्धि के साथ साथ कर की दर भी बढ़ती जाती है। इस प्रकार की कर-प्रणाली में विभिन्न आय वालो को कुछ सामान्य वर्गों मे विभाजित कर दिया जाता है और इन्हीं वर्गों के अनुसार कर लगाया जाता है। उदाहरण के लिए —

1000 रुपये तक की आय पर 5%
1000 रुपये से लेकर 5000 रुपये तक की आय पर 10%

श्यकता इस बात की है कि धनी व्यक्तियों पर भारी कर लगा कर धन प्राप्त किया जाय और उसे निर्धन व्यक्तियों के कल्याण पर व्यय किया जाय। इससे समाज में उपभोग की मात्रा पहले से अधिक होगी एवं रोजगार के साधनों में और अधिक वृद्धि होगी।

प्रगतिशील करों के दोष (Defects of Progressive Taxes) :—आजकल तो प्रगतिशील करों को सर्वमान्यता प्राप्त हो गयी है, किन्तु प्राचीन समय में इनके विरुद्ध निम्नलिखित आलोचनाएँ भी दी जाती थी :—

(अ) उत्पादन-शक्ति पर प्रतिकूल प्रभाव :—कुछ लोगों की राय में प्रगतिशील करों से बचत कम होती है, पूँजी का प्रवाह देश के बाहर होने लगता है और देश में उत्पादन कम होने लगता है। इसका प्रधान कारण यह है कि बड़ी-बड़ी आय तथा ऊँची ऊँची सम्पत्ति पर प्रगतिशील करों के अंतर्गत अधिक दरों से कर चुकाना पड़ता है। किन्तु वास्तविकता यह है कि कर का प्रभाव प्रत्येक वर्ग पर एक समान नहीं पड़ता। अधिक कर लगाने से कुछ व्यक्तियों की बचाने तथा कार्य करने की इच्छा पर बुरा प्रभाव पड़ता है तो कुछ लोगों पर इसका अच्छा प्रभाव भी पड़ता है। प्रगतिशीलता अधिक तीव्र होने से भी इसका बचत एवं कार्य करने की इच्छा पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है।

(ब) आय की सीमान्त उपयोगिता का सही-सही अन्दाजा नहीं लगाया जा सकता :—प्रगतिशील कर इस मान्यता पर आधारित हैं कि आय की सीमान्त उपयोगिता सभी व्यक्तियों के लिए एक समान नहीं है। किन्तु, वास्तव में मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता को मापने के लिए कोई साधन उपलब्ध नहीं है। संतुष्टि एक मानसिक स्थिति है, जिससे इसकी कोई माप नहीं की जा सकती। अतएव यह पता लगाना कि आय में कितनी वृद्धि से मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता में कितनी कमी हुई, बहुत कठिन हो जाता है।

(स) कर निर्धारण में मनमाने ढंग से काम लिया जाता है :—इस प्रकार के कर के विरुद्ध यह कहा जाता है कि प्रगतिशील करों की दरों के निर्धारण में मनमाने ढंग से काम लिया जाता है। प्रगतिशीलता का क्या आधार होना चाहिए इसका कोई निश्चित मानदण्ड नहीं है। अतएव इससे इस प्रकार की कर प्रणाली में अन्याय की गुंजाइश बहुत अधिक रहती है। इस सम्बन्ध में मैक कुलो (MacCulloch) का निम्न कथन दुहराया जा सकता है—"जब आप सरल सिद्धान्त (अनुपातिक करों) को छोड़ देते हैं तो आप समुद्र में बिना किसी पतवार और कुतुबनुमा के हो जाते हैं और कोई भी मात्रा अन्याय की नहीं होगी, जो आप न कर सकें।" किन्तु इसके विरुद्ध यह भी कहा जाता है कि कर-निर्धारण की हर एक प्रणाली में करों के निर्धारण की कोई प्रामाणिक माप तो अभी तक निश्चित नहीं की जा सकी है। साथ ही, यदि अधिकतम सामाजिक कल्याण की प्राप्ति करने में कुछ लोगों के साथ अन्याय भी हो, तो इसे बुरा भी नहीं कहा जा सकता।

(द) यह ईमानदारी पर कर है :—कुछ लोगों का कहना है कि प्रगतिशील करों में एक प्रकार से ईमानदारों एवं बुद्धिमानों को सजा दी जाती है। वे लोग जो अपव्ययी एवं बेकार हैं उन्हें कर नहीं देना पड़ता। इसके विपरीत जो अधिक परिश्रमी एवं बचत करने वाले होते हैं उन पर कर का भार अधिक पड़ता है। मिल तो इस प्रकार के कर को अति अन्यायपूर्ण समझते थे और करों की प्रगतिशीलता उनके लिए प्रगतिशील चोरी की तरह थी। किन्तु इस प्रकार की आलोचना में कोई तथ्य नहीं है क्योंकि सरकार करों को जनता के बीच व्यय करने के लिए ही जमा करती है।

डिमार्कों के विचार :—प्रो० डिमार्कों के अनुसार करों में प्रगतिशीलता आर्थिक कारणों से ही नहीं, वरन् राजनैतिक कारणों से स्थापित की जाती है। इनके अनुसार आनुपातिक एवं प्रगतिशील कर-सम्बन्धी विवेचन वस्तुगत (Objective) और भावात्मक (Subjective) दृष्टिकोण से नहीं किया जा सकता है। डिमार्कों का विचार है कि कर वह देन है जो व्यक्ति राजकीय सेवाओं के उपयोग के बदले में देता है। प्रत्येक व्यक्ति राजकीय सेवाओं का उपयोग अपनी आय के अनुपात में ही करता है, अतएव जो व्यक्ति जितनी ही अधिक आय कमाता है उसे उतना ही अधिक

अर्द्ध-विकसित देशों में प्रगतिशीलता का सिद्धांत

(Principle of Progression in Under developed Countries)

अब अर्द्ध विकसित देशों में प्रगतिशीलता के सिद्धान्त के सम्बन्ध में यहाँ पर कुछ विचार करना अनिवार्य है। अधिकांश विद्वानों की यह धारणा है कि प्रगतिशीलता का सिद्धान्त व्यापक रूप से विकसित तथा अर्द्ध विकसित दोनों ही प्रकार की आर्थिक व्यवस्थाओं मे लागू होता है। किन्तु वास्तविकता कुछ और ही है। आर्थिक दृष्टि से विकसित राष्ट्रों में प्रगतिशील करो का उद्देश्य समाज में आय के वितरण की विषमता को दूर करना होता है। किन्तु अविकसित तथा अर्द्ध विकसित देशो मे राजस्व सम्बन्धी नीति का प्रधान उद्देश्य धन एव आय के वितरण की विषमता को दूर करना नही होकर तीव्र गति से आर्थिक विकास होता है। तीव्र विकास के लिए अधिक मात्रा मे विनियोग की आवश्यकता पडती है जो अधिक आय वाले व्यक्ति ही कर सकते हैं। साथ ही अर्द्ध विकसित देशो मे प्रगतिशीलता का सीमित मात्रा में ही प्रयोग किया जा सकता है क्योंकि इस प्रकार की अर्थ व्यवस्था मे प्रत्यक्ष करो का बडे पैमाने पर प्रयोग नहीं किया जा सकता। यही कारण है कि अर्द्ध विकसित आर्थिक व्यवस्था वाले देशो मे परोक्ष करो का अपेक्षाकृत अधिक महत्त्व होता है। अतएव अर्द्ध विकसित अथवा अविकसित देशों मे प्रगतिशीलता के सिद्धान्त का प्रयोग सीमित क्षेत्र मे ही सम्भव है।

विशिष्ट कर तथा मूल्यानुसार कर

(Specific Taxes and Ad Valorem Taxes)

विशिष्ट कर (Specific Tax) —जब किसी वस्तु पर उसके वजन अथवा उसकी इकाई या आकार के अनुसार कर लगाया जाता है, तब इसे विशिष्ट कर या आकारानुसार कर (Specific Tax) कहते हैं, जैसे—प्रति गैलन पेट्रोल पर कर। इस प्रकार के कर को एकत्र करना सरल एव सुविधाजनक होता है। यदि कर वजन के अनुसार लगाया जाता है तो यह अपेक्षाकृत बहुत ही सुविधाजनक होता है। परन्तु यदि कर वस्तु की इकाई के अनुसार लगाया जाता है, तब, इसमे अपेक्षाकृत कुछ असुविधा होती है।

मूल्यानुसार कर (Ad valorem Tax) —जब किसी वस्तु पर उसके मूल्य के अनुसार कर लगाया जाता है तब उसे मूल्यानुसार कर (Ad-Valorem Tax) कहते हैं जैसे—कपडे पर 10 पैसे प्रति रुपये का कर। इस प्रणाली मे कपडे का आकार या वजन चाहे कुछ भी हो, परन्तु कर इसके मूल्य के अनुसार ही लिया जाता है। इस प्रकार के कर विशिष्ट करो की तुलना मे अधिक न्यायसंगत होते हैं क्योंकि इनका भार प्राय धनिको पर अधिक पडता है। इस कर को लागू करने मे बहुत अधिक कठिनाई होती है क्योंकि किसी वस्तु का मूल्य ठीक ठीक मालूम करना कठिन होता है। इसलिए इस प्रकार का कर साधारणत करदाता की ईमानदारी पर ही निर्भर करता है। इसमे करदाता कर से बचने मे बहुत कुछ सफल हो जाता है।

विशेष अध्ययन सूची

1 Dalton — Public Finance.
2 Prest — Public Finance in Under-developed Countries,
3 Divitti de Marco — First Principle of Public Finance

— o —

(ख) काम करने तथा बचाने की इच्छा पर प्रभाव—(Effects of taxation on will to work and save) —करारोपण का व्यक्तियो के काम करने तथा बचाने की इच्छा पर भी प्रभाव पड़ता है। किन्तु इस प्रकार के प्रभाव को मापना कठिन है क्योंकि इच्छा एक मानसिक स्थिति है। कर लगाने से कर-दाताओं के मन में विभिन्न प्रकार की मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रियाएँ (Psychological Reactions) उत्पन्न होती है। किन्तु इस प्रकार का प्रभाव मुख्यत: उस व्यक्ति की आय की माग की लोच पर निर्भर करता है। यदि किसी व्यक्ति ने यह निश्चय कर लिया है कि उसे एक निश्चित मात्रा में आय प्राप्त करनी है, चाहे इसके लिए उसे कितना भी अधिक परिश्रम क्यो न करना पड़े तो आय के लिए उसकी माग बेलोच कही जायगी। इस प्रकार यदि किसी व्यक्ति की आय के लिए माग बेलोच है तो करारोपण से उसकी काम करने तथा बचाने की इच्छा कम नही होगी। इसके विपरीत यदि किसी व्यक्ति की आय की माग लोचदार है, यानी वह अपनी आय बढ़ाने के लिए अधिक परिश्रम करने को तैयार नहीं है, तो करारोपण का उसकी काम करने तथा बचाने की इच्छा पर बुरा प्रभाव पड़ेगा। इससे स्पष्ट है कि यदि व्यक्तियो की आय के लिए माग लोचदार है तो करारोपण का उसकी काम करने तथा बचाने की इच्छा पर बुरा प्रभाव पड़ेगा। किन्तु यहा यह देखना आवश्यक है कि यदि करारोपण बहुत प्रगतिशील है तो मनुष्य की आय प्राप्त करने तथा बचाने की इच्छा अवश्य ही प्रभावित हो जायगी क्योंकि ऐसी स्थिति मे पुरानी आय को बनाये रखने के लिए उस व्यक्ति को बहुत अधिक परिश्रम करना पड़ेगा। किन्तु करारोपण का प्रभाव परिस्थितियो पर भी निर्भर करता है। यदि आर्थिक समृद्धि के समय मे कर लगाया गया है तो उससे काम करने तथा बचाने की इच्छा पर कोई बुरा प्रभाव नही पड़ेगा क्योंकि ऐसे समय मे लाभ की आशा भी बहुत अधिक रहती है। इसके विपरीत मन्दी काल मे एक साधारण कर भी काम करने तथा बचाने की इच्छा को बहुत अधिक प्रभावित कर सकता है।

(ग) आर्थिक साधनो के पुनर्वितरण पर प्रभाव—जहां तक आर्थिक साधनो के पुनर्वितरण का सम्बन्ध है, कुछ कर ऐसे होते है जिनका पुनर्वितरण पर प्रायः कोई प्रभाव नही पड़ता, जैसे आकस्मिक लाभ, भूमि की स्थिर पर कर, एकाधिकार पर कर इत्यादि। ऐसे कर सम्पत्ति के उपयोगो पर प्रायः समान प्रभाव डालते हैं। इसके विपरीत कुछ कर ऐसे हैं जिनसे उत्पादन मे वृद्धि होती है, या समाज को सामान्य रूप से लाभ होता है। मादक द्रव्यो अथवा उपभोग की अन्य हानिकारक वस्तुओं पर कर का प्रभाव प्राय: इसी प्रकार होता है। इन पर कर लगाने से इनका उपभोग हतोत्साहित होता है तथा इनमे लगी पूंजी एवं श्रम अन्य उद्योगो मे प्रयोग किये जाने लगते हैं। इस प्रकार जो धन उपभोक्ता पहले इन वस्तुओ के उपभोग पर व्यय करता था वह अब इन पर नहीं व्यय करके अच्छी एवं लाभप्रद वस्तुओ पर व्यय करेगा। इन दोनो ही बातो के कारण विनियोग को प्रोत्साहन मिलेगा तथा देश की आर्थिक उन्नति होगी। इनसे व्यक्तियो की कार्य-क्षमता मे भी वृद्धि होगी। इसी प्रकार का प्रभाव विलासिता की वस्तुओ पर कर लगाने से भी पड़ेगा। इससे साधनों का स्थानान्तरण सामाजिक हित मे लाभप्रद होगा। किन्तु, कभी-कभी साधनो का पुनर्वितरण समाज के लिए हानिकारक भी सिद्ध होता है। अधिकाश करो का प्रभाव इसी प्रकार से पड़ता है। इस प्रकार करारोपण का धन के उत्पादन पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है।

(2) करारोपण का धन के वितरण पर प्रभाव

(Effects of Taxation on Distribution of Wealth)

अब इस बात की व्याख्या की जायगी कि करारोपण का वितरण पर क्या प्रभाव पड़ता है? धन एवं आय के वितरण मे व्याप्त विषमता का राष्ट्र के आर्थिक, सामाजिक एवं राजनैतिक जीवन पर बड़ा ही बुरा प्रभाव पड़ता है। अतएव आजकल राजस्व की क्रियाओ का प्रधान उद्देश्य धन की इन विषमताओं को कम करना है। करो का भी आजकल प्रायः यही उद्देश्य होता है। प्राचीन लेखक करो केवल आय-प्राप्ति का साधन मात्र मानते थे। उनलोगो के अनुसार राज्य का न तो कोई दूसरा कर्त्तव्य है और न कोई अतिरिक्त लाभ ही है। किन्तु समय की प्रगति के साथ-साथ अब अधिकाश लेखको की यह राय हो गयी है कि राजकीय व्यय

वास्तव मे, आय पर कर लगाने से व्यक्तियो की सन्तुष्टि इतनी कम नही प्राप्त होती जितना कि वस्तुओ पर कर लगाने से, क्योकि वस्तुओ पर कर लगाने से इनके मूल्य मे वृद्धि होती है, अतएव उपभोक्ताओ को इनका उपभोग कम करना पडता है।

करारोपण एवं आर्थिक स्थायित्व
(Taxation and Economic Stability)

जिस प्रकार से राजकीय व्यय द्वारा आर्थिक जीवन को स्थायी बनाया जा सकता है, उसी प्रकार करो के द्वारा भी देश की आर्थिक क्रियाओ का नियमन कर देश मे मूल्य-तल एव रोजगार के स्तर को स्थायी बनाया जा सकता है और पूर्ण रोजगार की स्थिति स्थापित की जा सकती है। प्रो० लर्नर (Lerner) के अनुसार करारोपण का एक-मात्र उद्देश्य देश मे आर्थिक क्रियाओं अर्थात् उत्पादन, वितरण एव उपभोग सम्बन्धी क्रियाओ के आकार को नियमित बनाना होना चाहिए। वास्तव मे, करारोपण का कोई भी उद्देश्य क्यो न हो इतना अवश्य है कि इनका आर्थिक क्रियाओ पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव पडता है। करारोपण व्यक्तियों के उपभोग एव विनियोग को प्रभावित कर व्यापार, उद्योग एव रोजगार की स्थिति को प्रभावित करता है। मुद्रा-स्फीति के समय मे कर द्वारा क्रय शक्ति मे कमी की जा सकती है और इस प्रकार क्रय शक्ति को कम कर मूल्य मे वृद्धि की प्रवृत्ति को नियन्त्रित किया जा सकता है। आय-कर तथा व्यय कर इस सम्बन्ध मे अधिक प्रभावपूर्ण सिद्ध होते हैं। चूंकि मुद्रा-स्फीति मुख्यत मुद्रा के परिमाण मे वस्तुओ की मात्रा के कम होने के कारण उत्पन्न होती है, अतएव कुछ विशेष प्रकार के करो मे छूट के द्वारा भी उत्पादन मे वृद्धि की जा सकती है। इसके विपरीत मन्दी काल मे करो मे छूट एव राजकीय व्यय मे वृद्धि की आवश्यकता पडती है।

इस प्रकार मुद्रा-स्फीति मे नये नये करो को लगाकर तथा पुराने करो की दरो मे वृद्धि कर एव मुद्रा सकुचन के समय मे करो मे छूट देकर मूल्य तल एव रोजगार को स्थायी बनाया जा सकता है। वास्तव मे, आजकल प्रत्येक देश की राजस्व नीति का प्रधान उद्देश्य आर्थिक स्थायित्व ही हो गया है।

विशेष अध्ययन सूची

1 Dalton — Public Finance, Chapters X to XIII.
2 Taylor — The Economics of Public Finance, Chapter 26.
3 Allen and Brownlee — Economics of Public Finance, Chapter XIII

यहाँ कर के भार (*Incidence of tax*) एवं कर के प्रभाव (*Effects of taxation*) में अन्तर देखना आवश्यक है। कर का भार तथा कर का प्रभाव दोनों दो पृथक् चीजें हैं। ये वस्तुतः एक दूसरे से भिन्न हैं। जब करारोपण से करदाता अपने उपभोग या बचत का कार्य करने में हतोत्साहित होता हो, या वस्तुओं का मूल्य बढ़ जाता हो तो इसे कर का प्रभाव कहते हैं। किन्तु कर के भार (Incidence of Taxation) में इन बातों के अध्ययन पर ध्यान नहीं दिया जाता। करभार के अध्ययन का सम्बन्ध तो केवल इस बात से है कि वास्तव में कर की राशि का अन्तिम रूप में कौन भुगतान करता है। कर के प्रत्यक्ष मौद्रिक भार के अतिरिक्त उसके अन्य प्रभाव भी होते हैं, जैसे—अप्रत्यक्ष मौद्रिक भार, प्रत्यक्ष वास्तविक भार तथा परोक्ष वास्तविक भार। डाल्टन (Dalton) ने इनमें भी अन्तर किया है। उपरोक्त उदाहरण में यदि उत्पादक मूल्यों को कर की मात्रा के अनुसार बढ़ाने में सफल हो जाते हैं तो कर का प्रत्यक्ष भार चीनी के उपभोक्ताओं पर पड़ता है जिन्हें मूल्य की वृद्धि के कारण अधिक मूल्य देना पड़ता है। किन्तु, यदि उत्पादक पहले से ही कर के रूप में कुछ धन सरकार को देते हैं, जो कई वर्षों में चीनी के स्टॉक की समाप्ति के बाद वसूल होता है तो उत्पादकों को ब्याज वगैरह के रूप में निश्चय ही हानि उठानी पड़ती है। इसे कर का अपरोक्ष मौद्रिक भार कहते हैं जो उत्पादकों को वहन करना पड़ता है। यह कर-भार के अध्ययन में सम्मिलित नहीं रहता है। मूल्य में वृद्धि के फलस्वरूप निर्धन उपभोक्ताओं को अधिक कठिनाई उठानी पड़ती है तथा उन्हें धनिकों की अपेक्षा अपनी आय का अधिक भाग व्यय करना पड़ता है। इस प्रकार उन पर कर का प्रत्यक्ष वास्तविक भार अधिक पड़ता है। इसके विपरीत करारोपण के परिणामस्वरूप चीनी के मूल्य में वृद्धि से उपभोक्ताओं को या तो चीनी का उपभोग कम करना पड़ता है या यदि ऐसा नहीं करते तो उन्हें अन्य वस्तुओं का उपभोग कम करना पड़ता है। दोनों ही प्रकार से उनका कुल सन्तोष कम होता है। इसे कर का परोक्ष वास्तविक भार कहते हैं। यह भी कर-भार के अध्ययन के क्षेत्र से बाहर है। श्रीमती हिक्स ने उपरिक (Formal) कर-भार तथा प्रभाव युक्त (effective) कर-भार में भी अन्तर किया है। इनके अनुसार, "कर-दाताओं पर पड़नेवाले करों के भार दो विचारों से सम्बन्धित हैं। प्रथमतः उस विधि की सांख्यिकीय गणना है जिसके द्वारा किसी विशेष कर से आय प्राप्त की जाती है, यानी वस्तु का बाजार-मूल्य जिस पर कर लगाया जाता है और उसकी उत्पादन लागत के बीच के अन्तर को नागरिकों के बीच विभाजित किया जाता है। इस गणना के परिणाम को उपरिक (Formal) भार कहते हैं।" इससे स्पष्ट है कि हिक्स के अनुसार कर का प्रत्यक्ष मौद्रिक भार ही कर का उपरिक भार है। श्रीमती हिक्स के अनुसार, "किसी कर के सम्पूर्ण आर्थिक परिणामों का पता लगाने के लिए हमें दो चित्र बनाने पड़ते हैं और उनकी तुलना करनी पड़ती है। एक वह आर्थिक स्थिति है जो कर विशेष के लागू होने से उत्पन्न होती है और दूसरी वह जो कर के अभाव में उत्पन्न होती है। इन दोनों के अन्तर को कर का भार कहना सुविधाजनक होगा।"

कर-भार के अध्ययन का महत्त्व (*Importance of the Study of Incidence of Taxation*)—आधुनिक समय में कर के भार (Incidence of Tax) के अध्ययन का बहुत अधिक महत्त्व है। इसका कारण यह है कि आजकल करारोपण के द्वारा सरकार का उद्देश्य केवल सार्वजनिक व्यय के लिए पर्याप्त मात्रा में रकम प्राप्त करना ही नहीं है, वरन् इसके द्वारा समाज में धन एवं आय के वितरण को समान बनाना तथा उत्पादन पर पड़ने वाले इसके बुरे प्रभावों को रोकना भी है। विभिन्न व्यक्तियों पर कर-भार के न्यायपूर्ण वितरण पर ही करारोपण की न्यायशीलता निर्भर करती है। परन्तु यह पता लगाने के लिए कि कर का भार न्यायपूर्ण है या नहीं, वित्त मंत्री को यह पता लगाना पड़ता है कि विभिन्न वर्गों पर करों का मौद्रिक-भार किस प्रकार से पड़ता है। कर-विवर्तन के कारण करारोपण का उद्देश्य ही बदल जाता है। उदाहरण के लिए, सरकार एक विशेष वर्ग पर कर लगाना चाहती है, किन्तु इसका वास्तविक मौद्रिक-भार किसी दूसरे वर्ग पर पड़ता है तो इससे कर लगाने का उद्देश्य पूरा नहीं होता। इस प्रकार कर-भार की समस्या का अध्ययन आजकल विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण हो गया है।

किन्तु कर-भार की समस्या के अध्ययन में हमें अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। सर्वप्रथम कठिनाई तो मूल्य-तल में निरन्तर चढ़ाव-उतार की है। मूल्यों में परिवर्तन करा-

केवल भूमि से ही आधिक्य (Surplus) का उत्पादन नही होता, वरन् व्यापारी तथा श्रमिक भी आधिक्य उत्पन्न करते हैं, अतएव कर का भार सम्पूर्ण समाज पर फैलता है। हैमिल्टन ने ब्रिटिश ससद् मे इस सम्बन्ध मे यह कहा था कि "प्रसार के आशावादी सिद्धान्त से कदाचित अधिक सच्चाई यह है कि करो की प्रवृत्ति फैलने तथा समान होने की रहती है और यदि वे निश्चित तथा एकसारिता से लगाय जायँ तो वे प्रसारित होकर प्रत्येक सम्पत्ति पर ही अपना भार डालेंगे।" इसी प्रकार लार्ड मेंसफिल्ड का कहना था कि "कर उस पत्थर के समान है, जो झील मे गिरते हुए एक गोला बनाता है जो दूसरे गोले को बनाता है और गति प्रभावित करता है।" इस प्रकार सम्पूर्ण परिधि में हल्चल हो जाती है। अतएव प्रसार के सिद्धान्त का सार इस बात में है कि किसी वस्तु पर जो कर लगाया जाता है उसका भार सम्पूर्ण समाज पर पडता है। इसमे किसी प्रकार का भेद-भाव नही रहता।

उपरोक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि इन दोनो सिद्धान्तो में बहुत कुछ समानता है। ये दोनो इस बात को स्वीकार करते है कि कर का भुगतान आधिक्य आय से होता है। अन्तर इतना ही है कि निर्वाधावादी केवल भूमि की उपज को ही आधिक्य आय मानते थे, किन्तु फ्रासीसी लेखको के अनुसार प्रत्येक वस्तु के उत्पादन से आधिक्य प्राप्त होता है। व्यक्तिगत रूप से देखने पर निर्वाधावादी सिद्धान्त का दोष यह है कि कृषि ही केवल एक-मात्र उत्पादक व्यवसाय नही है। दूसरी ओर, फ्रासीसी अर्थशास्त्रियो का यह विचार है कि कर का भार अन्त मे सभी व्यक्तियो पर फैलता है, भी उचित नही है क्योकि सभी करो का विवर्तन नही हो सकता। कर-विवर्तन के लिए कुछ विशेष परिस्थितियो की आवश्यकता होती है। अतएव यह विचार भी उचित नही जान पडता।

आधुनिक विचार —करो के विवर्तन के आधुनिक सिद्धान्त मे विनिमय, अर्थ एवं मूल्य का सहारा लिया गया है। आधुनिक लेखको के अनुसार करो का भुगतान केवल आधिक्य से ही होता है। यदि किसी व्यक्ति को कोई भी आधिक्य प्राप्त होता है तो वह कर का भुगतान अवश्य करेगा और यदि कोई भी आधिक्य प्राप्त नही हो रहा है तो उस कर का विवर्तन उस समय तक होगा जब तक कि ऐसी परिस्थिति नहीं उत्पन्न हो जाती है कि उसे आधिक्य प्राप्त होने लगे। यदि किसी वस्तु पर कर लगाया जाता है और उस वस्तु के क्रेता तथा विक्रेता दोनों को आधिक्य प्राप्त हो रहा है तो कर का भार दोनों व्यक्तियो को वहन करना पडेगा। इन लोगो के अनुसार कर भी उत्पादन-लागत का एक अश है। अतएव वस्तु का मूल्य ऐसा होना चाहिए कि उससे कर का भुगतान भी किया जा सके। यदि कर की पूर्ति वर्तमान मूल्यो से ही हो जाती है तो इसका अर्थ यह है कि वर्तमान मूल्यों पर ही आधिक्य प्राप्त हो रहा है। यदि वर्तमान मूल्यो मे भुगतान नहीं होगा तो मूल्य उस समय तक बढेगा जब तक कि कर का पूरा-पूरा भुगतान नहीं होने लगे। अतएव कर-विवर्तन केवल उसी समय तक होता है जब तक कि विनिमय का कार्य किया जाय। इस प्रकार कर-दाता कितना कर दूसरो पर टाल सकता है, यह कई बातो पर निर्भर करता है, जैसे कर की प्रकृति वस्तु के उत्पादन की परिस्थितियाँ, वस्तु की माँग एवं पूर्ति की लोच इत्यादि।

कर-भार वस्तुओं की मांग एवं पूर्ति की लोच पर निर्भर करता है —कर का भार (Incidence of Tax) वस्तुओ की माग एवं पूर्ति की लोच पर भी निर्भर करता है। यदि अन्य बातें समान रहे तो वस्तुओं की माग जितनी ही अधिक लोचदार होगी उतना ही अधिक कर का भार विक्रेताओं पर पडेगा। इसके विपरीत वस्तु की पूर्ति जितनी ही अधिक लोचदार होगी, कर का भार उतना ही अधिक उपभोक्ताओं पर पडेगा। माग के बेलोचदार होने का अर्थ यह है कि मूल्य मे वृद्धि का वस्तु की माग पर प्राय कोई प्रभाव नही पडता है, अतएव करारोपण के कारण यदि मूल्य बढता भी है तो उपभोक्ता उतनी ही मात्रा मे वस्तुओ का क्रय करेंगे। इसके विपरीत माग अधिक लोचदार होने का अर्थ यह है कि मूल्य बढने से माग कम होगी और मूल्य घटने से माग बढ़ेगी। ऐसी स्थिति मे करारोपण के परिणामस्वरूप मूल्य मे जो वृद्धि होगी उससे माग कम होगी। अतएव सामान्य रूप से वस्तु की माग लोचदार होने पर कर का भार व्यापारियों को वहन करना पडेगा तथा बेलोचदार होने पर उपभोक्ताओ को।

इसी प्रकार पूर्ति के लोचदार होने का तात्पर्य यह है कि कर लगाने से माँग मे जो कमी होती है उसके अनुसार पूर्ति को कम किया जा सकता है। ऐसी स्थिति मे विक्रेता कर भार उप-

निश्चित राशि में कर लगा दिया जाता है, तो इस कर का विवर्तन वह उपभोक्ताओं पर नही कर सकता। इसका कारण यह है कि एकाधिकारी अपने लाभ की मात्रा को अधिकतम करने के लिए पहले से ही मूल्य अथवा पूर्ति को नियन्त्रित किये हुए रहता है। अतएव कर लगाने के बाद यदि वह अपनी पूर्व निश्चित योजना मे कोई परिवर्तन करता है तो उसका कुल लाभ कम हो जायगा और यदि वह अपनी पूर्व निश्चित योजना मे कोई परिवर्तन नही करे तो कर देने के बाद भी उसका लाभ अधिकतम होता है। इसी प्रकार यदि एकाधिकारी के कुल लाभ या कुल बिक्री के अनुसार कर लगाया जाय तो उसका भी विवर्तन नही हो सकता क्योंकि कर की राशि तो कुल लाभ प्राप्त अथवा कुल बिक्री हो जाने के पश्चात् ही निर्धारित होगी, इसलिए कर का उपभोक्ताओं पर विवर्तन नही किया जा सकेगा। किन्तु व्यवहार मे प्राय यह देखा जाता है कि एकाधिकारी क्रेताओं से साधारणतया एकाधिकार-मूल्य मे कम ही मूल्य लेता है और जब कर लगाया जाता है तो अपने ग्राहकों को एकाधिकार मूल्य पर वस्तु बेचना प्रारम्भ कर देता है। किन्तु इसे भी कर विवर्तन नही कहा जा सकता। कर विवर्तन वास्तव मे उसी स्थिति मे संभव है जबकि एकाधिकारी पर उसकी उत्पत्ति के अनुसार कर लगाया जाय, यानी उत्पत्ति बढने के साथ-साथ कर भी बढता जाय और उत्पत्ति कम होने के साथ-साथ कर भी कम होता जाय। इस प्रकार का कर उत्पादन व्यय का एक अंग बन जायगा। किन्तु, एकाधिकार की स्थिति मे एकाधिकारी किस मात्रा मे या किस अंश तक का विवर्तन कर सकेगा या अपने ग्राहकों से वसूल कर सकेगा, यह वस्तु की पूर्ति एवं माग की लोच के अनुपात पर निर्भर करता है।

कर-भार एवं स्थानापन्न वस्तुएँ —कर भार की समस्या के सम्बन्ध मे एक महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि स्थानापन्न वाली वस्तुओं के कर का भार किस प्रकार निश्चित होता है। स्थानापन्न वाली वस्तुओं पर कर लगाने से यदि उसका मूल्य बढ जाता है, तो उपभोक्ता शीघ्र ही उनका उपयोग छोडकर उसकी दूसरी स्थानापन्न वस्तुओं का उपभोग प्रारम्भ कर देंगे जिस पर कोई कर नही है। ऐसी स्थिति मे कर का भार विक्रेताओं पर पडेगा। किन्तु कभी-कभी इन वस्तुओं के कर का भार उपभोक्ताओं को भी वहन करना पडता है। यह विशेषत उन वस्तुओं के सम्बन्ध मे होता है जिनके उपभोग के लोग अभ्यस्त हो जाते हैं। ऐसा तब तक होता है जब तक कि उपभोक्ता स्थानापन्न वस्तुओं के उपभोग की आदत नही उत्पन्न कर लेते हैं।

अब यहाँ पर कुछ विभिन्न प्रकार के करों के भार की विस्तारपूर्वक व्याख्या की जायगी।

आयात तथा निर्यात करों का भार (Incidence of Import and Export duties) —आयात एवं निर्यात करों का भार व्यापार की जानेवाली वस्तुओं की माग की लोच पर निर्भर करता है। उदाहरण के लिए, यदि भारत एवं पाकिस्तान के बीच व्यापार हो रहा हो और भारत के लिए पाकिस्तान की कपास की माग बेलोच हो, परन्तु पाकिस्तान के लिए भारतीय कपडे की माग लोचदार हो तो ऐसी स्थिति मे आयात एवं निर्यात करों का भार मुख्यत भारत को ही वहन करना पडेगा। इसका कारण स्पष्ट है। भारत को पाकिस्तान से कपास मँगानी ही होगी चाहे पाकिस्तान कितना भी निर्यात-कर क्यों न लगा दे। दूसरी ओर, भारत कपडे पर आयात कर नही लगा सकता। यद्यपि कुछ लोग यह कहते हैं कि इन करों का भार सदैव उसी देश पर पडता है जो इन्हें लगाता है यानी इसमे कर के भार को विदेशियों पर नही टाला जा सकता, किन्तु इस प्रकार का मत वास्तव मे भ्रमात्मक है। यदि किसी देश को कोई एक वस्तु के उत्पादन मे एकाधिकार प्राप्त है तो वह देश उस वस्तु के निर्यात पर लगाये गये कर के भार को दूसरों पर टाल सकता है तथा विदेशी जो वस्तु इसके बदले मे निर्यात करेंगे उसका आयात कर भी विदेशियों को ही वहन करने के लिए बाध्य कर सकता है।

डाल्टन के अनुसार आयात एवं निर्यात करों को विनिमय पर एक प्रकार का बाधा माना जा सकता है और इस प्रकार की बाधा के प्रत्यक्ष मौद्रिक भार को विनिमय के दोनों पक्षों के बीच उनकी माग की लोच के विपरीत अनुपात मे विभाजित किया जा सकता है। दूसरे शब्दों में 'इनका विभाजन उसकी क्रमिक आवश्यकताओं की तात्कालिकता के प्रत्यक्ष अनुपात मे होता है। (Taxes on export and imports may be regarded as an obstacle to exchange andthe direct money-burden of any such obstacle is divided between the two

अध्याय : 59

सार्वजनिक ऋण

(Public Debt)

सार्वजनिक ऋण क्या है ? (What is Public debt ?) —सार्वजनिक ऋण राज्य द्वारा लिया गया ऋण है। यह राज्य की आय का एक प्रधान साधन है और विगत कुछ वर्षो से यह राजकीय वित्त-व्यवस्था का एक महत्वपूर्ण अग बन गया है। सरकार द्वारा ऋण लेने की प्रणाली 19 वीं शताब्दी मे प्रारम्भ हुई। 18 वीं शताब्दी तक इसे कोई नही जानता था। आवश्यकता पडने पर राजा वगैरह अपनी साख पर ही ऋण ले लिया करते थे। किन्तु, 19 वी शताब्दी मे इन निजी ऋणो का स्थान सार्वजनिक ऋणो ने ग्रहण कर लिया और एक बार प्रारम्भ होने पर इसका विकास बहुत महत्वपूर्ण सिद्ध हुआ। ऋण लेने के सम्बन्ध मे राज्य और व्यक्ति मे कोई आमूल अन्तर नहीं है। जिस प्रकार व्यक्ति के जीवन मे अनेक ऐसे अवसर आते हैं जब उसे अपनी आय से अधिक खर्च करना पडता है, उसी प्रकार राज्य को भी विशेष परिस्थितियो मे अपनी आय से अधिक व्यय करना पडता है और इस कमी की पूर्ति के लिए उसे ऋण लेना पडता है। कभी-कभी जैसे—आर्थिक संकट, युद्ध, अकाल वगैरह के समय ऋण लेना इतना अधिक आवश्यक हो जाता है कि यदि ऋण नही लिया जाय तो देश का अस्तित्व ही खतरे मे पड जायगा। इस प्रकार आधुनिक समय में सार्वजनिक ऋण के साधनो मे बहुत अधिक वृद्धि हुई है। सार्वजनिक ऋण सरकार की आय का एक प्रधान साधन है, किन्तु यह स्थायी नहीं होती क्योकि राज्य जो ऋण लेता है उसे लौटना पडता है। अतएव सार्वजनिक ऋण को केवल अल्पकालीन दृष्टि से ही आय कहा जा सकता हैं, दीर्घकालीन दृष्टि से नही। साथ ही, सरकारो को यह बात भी ध्यान मे रखनी चाहिए कि ऋण लेना खुशहाली का द्योतक नही है, अत केवल उत्पादक कार्यों के लिए ही सरकारोको ऋण लेना चाहिए। (Government must remember that borrowing is not a short cut to prosperity and a policy of borrowing must not be resorted to except for what can reasonably be regarded as productive expenditure —Shirras.)

सार्वजनिक एवं व्यक्तिगत ऋण में अन्तर (Distinction between Public and Private Debts) —यद्यपि राज्य भी व्यक्तियो की तरह ऋण प्राप्त करता है, फिर भी इन दोनो प्रकार के ऋणो की व्यवस्था एव इनके उपयोग के क्षेत्र मे कुछ मौलिक अन्तर हैं।

वास्तव में, सार्वजनिक एवं व्यक्तिगत ऋण में निम्नांकित प्रधान अन्तर हैं :—

(1) व्यक्तिगत ऋण व्यक्ति केवल लाभ के उद्देश्य से लेता है, किन्तु राज्य अपने नागरिको के लाभ के लिए ही ऋण लेता है। इसलिए सरकार को आन्तरिक ऋण प्रदान करनेवालो को भी उस ऋण से लाभ होता है क्योकि सरकार अपने देशवासियो की भलाई के लिए ही उसे खर्च करती है।

(2) व्यक्तिगत ऋण बहुधा अल्पकालीन होते हैं क्योकि एक व्यक्ति की आयु सीमित एवं अनिश्चित होती है तथा ऋण भुगतान का दायित्व केवल व्यक्ति के ऊपर ही होता है। दूसरी ओर, राज्य व्यक्तियो की तरह अस्थायी नही है। व्यक्ति आते-जाते रहते है, किन्तु राज्य सदा अपने स्थान पर टिका रहता है। अतएव राज्य के ऋण बहुधा दीर्घकालीन होते हैं।

(3) राज्य के पास सत्ता होती है, अतएव यह नागरिको को ऋण देने तथा कम ब्याज लेने के लिए भी बाध्य कर सकता है। इसके अतिरिक्त नागरिक भी देश प्रेम की भावना से प्रभावित होकर राज्य को ऋण देते हैं। किन्तु व्यक्तिगत ऋण इस प्रकार से प्राप्त नहीं किये जाते।

(4) राज्य अपनी सत्ता के कारण ऋणो का भुगतान करने से इनकार भी कर सकता है। किन्तु, इस प्रकार की बात कम पायी जाती है क्योकि ऐसा करने के भीषण परिणाम हो सकते हैं।

समय बैंक वगैरह से ऋण लेकर सरकार सार्वजनिक कार्यों पर अधिक व्यय करती है जिससे समाज की आय एवं रोजगारी में वृद्धि होती है तथा मूल्य-तल भी स्थायी रहता है।

(छ) उपरोक्त उद्देश्यों के अतिरिक्त आजकल प्रत्येक देश मे राज्य की आर्थिक एवं मौद्रिक नीति का प्रधान उद्देश्य पूर्ण-रोजगारी (Full employment) की व्यवस्था करना हो गया है। इस उद्देश्य से भी राज्य को कभी-कभी निजी व्यय में कमी की पूर्ति के लिए बहुत अधिक रकम खर्च करनी पड़ती है। इसके लिए भी सरकार को ऋण लेने की आवश्यकता पड़ती है।

सार्वजनिक ऋण किन-किन परिस्थितियों में न्यायसंगत हैं ?

ऋण लेने के सम्बन्ध में यह बात कही जाती है कि साधारणतया सरकार को ऋण का प्रयोग उत्पादक कार्यों में ही करना चाहिए तथा चालू व्ययो की पूर्ति करो के द्वारा करनी चाहिए क्योंकि ऐसा करने मे अपव्ययिता कम होती है और आनेवाली सरकारो पर ऋण का बोझ भी अधिक नही पडता। फिर भी, असाधारण परिस्थितियो मे चालू व्ययो की पूर्ति भी ऋण द्वारा की जा सकती है। किन्तु इस प्रकार की संकटकालीन परिस्थितियों मे व्यय करने के पहले यह देख लेना चाहिए कि परिस्थितियों की प्रकृति अल्पकालीन है अथवा दीर्घकालीन। यदि संकटकालीन परिस्थितियाँ अल्पकालीन हैं तो ऋण द्वारा इनकी पूर्ति करने मे कोई हानि नही होगी, किन्तु दीर्घकालीन परिस्थितियो के लिए देश की आर्थिक व्यवस्था मे आमूल परिवर्तन लाना अनिवार्य हो जाता है। उदाहरण के लिए, युद्ध वगैरह के समय सरकार केवल ऋण अथवा कर पर ही निर्भर नही रह सकती। इनमे से किसी एक का निश्चित रूप मे सहारा लेना पडेगा। इसी तरह वृहद सार्वजनिक कार्य तथा आर्थिक विकास की योजनाएँ ऐसी होती है जिन्हें पूरा करने के लिए बहुत अधिक धन की आवश्यकता पड़ती है। इतनी अधिक मात्रा मे धन प्राप्त करने के लिए ऋण का सहारा लेना अनिवार्य हो जाता है। ऐसे ऋणो मे देश की जनता पर कोई अनुचित भार भी नही पडता क्योंकि ये सारे व्यय उत्पादक होते हैं और उनकी आय से ऋणो के मूल धन तथा ब्याज दोनो का सुगमतापूर्वक भुगतान किया जा सकता है। आर्थिक जीवन को स्थायी बनाने मे भी राजकीय ऋणो का बडा ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। लर्नर (Lerner) के अनुसार तो राजकीय ऋणो का उद्देश्य धन-प्राप्ति करना नही होकर आर्थिक जीवन को अधिक सन्तुलित बनाना होना चाहिए। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए मुद्रा स्फीति तथा मुद्रा-संकुचन दोनो परिस्थितियो मे राजकीय ऋण अति लाभदायक सिद्ध होते हैं।

सार्वजनिक ऋण से लाभ

(Advantages of Public Debt)

सार्वजनिक ऋण के कई लाभ हैं जिनमें निम्नांकित प्रमुख हैं :—

(1) सार्वजनिक ऋण से पूँजी मे वृद्धि नही होती, फिर भी यह पूँजी को अधिक उत्पादक बना देती है और इससे *उत्पादन का विकास होता है* एवं राष्ट्रीय सम्पत्ति मे वृद्धि होती है जिससे धीरे-धीरे जीवन-मान भी ऊँचा होते जाता है।

(2) सार्वजनिक ऋण की सहायता मे आर्थिक योजनाएँ कार्यान्वित की जा सकती हैं। योजनाओ के कार्यान्वयन मे देश का आर्थिक विकास होता है।

(3) सार्वजनिक ऋण ही प्राकृतिक आपदाओ जैसे—बाढ, भूकम्प, अकाल आदि के समय देश में साधारण स्थिति बनाये रखने का एक मात्र उपाय है। इस प्रकार की दुर्घटनाओ का समाधान सामान्य राजस्व से नही किया जा सकता। अतएव इस प्रकार की संकटकालीन परिस्थितियो मे राजकीय ऋण प्रायः आवश्यक हो जाते हैं।

(4) आधुनिक युद्ध भी सार्वजनिक ऋण के बगैर नही लडे जा सकते हैं। दूसरे शब्दो में, सार्वजनिक ऋण राज्य की सुरक्षा एवं स्वतन्त्रता को बनाये रखने मे सहायक होते हैं। इस प्रकार, सार्वजनिक ऋण का सुरक्षा की दृष्टि से भी बहुत अधिक महत्त्व है।

(5) जनता द्वारा दिये गये सार्वजनिक ऋण से ही पिछडे देश अपने प्राकृतिक साधनों का विकास करके अपनी आर्थिक शक्ति बढा सकते हैं।

अब इनकी निम्न व्याख्या प्रस्तुत की जा रही है —

(1) आन्तरिक एवं बाह्य ऋण (Internal and External Debt) —राज्य देश के भीतर से जो ऋण लेता है उसे आन्तरिक ऋण (Internal Debt) कहते हैं और जो ऋण विदेशियों से प्राप्त किये जाते हैं उन्हें विदेशी ऋण (External Debt) कहते हैं। साधारणतया कोई देश राज्य के भीतर से ही ऋण प्राप्त करने का प्रयास करता है, किन्तु जब वह अपने इन प्रयत्नों में सफल नहीं होता तो विदेशी सरकार एवं पूंजीपतियों से भी उधार लेता है। आंतरिक ऋण उधार लेने वाले देश की मुद्रा में ही अपनी सीमा के अन्तर्गत से प्राप्त हो जाते हैं, किन्तु बाह्य ऋण विदेशी मुद्रा में देश के बाहर रहने वाले व्यक्तियों अथवा विदेशी सरकारों से प्राप्त होते हैं। आंतरिक ऋण इच्छित तथा अनिच्छित दोनों ही प्रकार के हो सकते हैं, किन्तु बाह्य ऋण केवल इच्छित ही होते हैं।

आन्तरिक ऋणों का भार (Burden of the Internal Debts) —आन्तरिक ऋणों में देश के साधन देश के बाहर नहीं जाते, केवल इनसे धन का पुनर्वितरण होता है। अतएव ऐसे ऋणों का कोई प्रत्यक्ष मौद्रिक भार नहीं पड़ता है। जहाँ तक आन्तरिक ऋणों के वास्तविक भार का सम्बन्ध है वह इस बात से निश्चित होता है कि ऋण द्वारा प्राप्त रकम का किस प्रकार प्रयोग किया जाता है। यदि ऐसे ऋणों से देश में धन के वितरण की विषमता बढ़ती है तो इनका वास्तविक भार बहुत अधिक होगा। यदि ऋण-सम्बन्धी प्रतिभूतियों को धनी व्यक्तियों ने खरीदा है और इनका भुगतान निर्धन व्यक्तियों पर कर लगा कर किया जाता है तो इसका वास्तविक भार बहुत अधिक होगा। इसके विपरीत यदि ऋण-पत्रों को निर्धन व्यक्तियों ने खरीदा है और उनका भुगतान धनी व्यक्तियों पर कर लगा कर किया जाता है तो इसका वास्तविक भार बहुत कम पड़ेगा। दूसरी ओर, यदि सार्वजनिक ऋण का प्रयोग अनुत्पादक कार्यों में किया जाता है तो व्यक्तियों पर इसका भार बहुत अधिक पड़ेगा। इसके विपरीत यदि इसका प्रयोग उत्पादक कार्यों में किया जाता है तो इससे राष्ट्र की आय में भी वृद्धि होती है। इससे इसका वास्तविक भार बहुत कम होता है। परन्तु व्यावहारिक जीवन में आन्तरिक ऋणों का भार बहुत अधिक होता है क्योंकि सरकार ऋण धनी व्यक्तियों से लेता है और भुगतान के लिए कर निर्धन व्यक्तियों को चुकाना पड़ता है। आन्तरिक ऋणों का प्रभाव व्यक्तियों के बचाने तथा काम करने की क्षमता पर भी पड़ता है। कभी-कभी तो ऋणों का उपयोग ऐसे कार्यों में किया जाता है कि उनका लाभ बहुत बाद में प्राप्त होता है, अतएव देश में उत्पादन कम होने तथा धन के वितरण की असमानता बढ़ने से आन्तरिक ऋणों का भार देश के व्यक्तियों पर अप्रत्यक्ष रूप से भी पड़ता है। युद्ध-काल में लिये गये ऋणों का भार नागरिकों पर बहुत अधिक पड़ता है। युद्ध समाप्त होने के बाद बेरोजगारी, मूल्य-स्तर में ह्रास आदि कारणों से वास्तविक भार बहुत अधिक हो जाता है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि आन्तरिक ऋणों का मौद्रिक भार यद्यपि कुछ भी नहीं होता, फिर भी इनका वास्तविक भार बहुत अधिक होता है।

बाह्य ऋणों का भार (Burden of the External Debt) —बाह्य ऋणों का भार ऋणी देश के नागरिकों पर पड़ता है। बाह्य ऋण का मौद्रिक भार उस रकम से जाना जाता है जो ऋण के मूल-धन तथा ब्याज के रूप में चुकायी जाती है और प्रत्यक्ष वास्तविक भार उस हानि से मापा जाता है जो ऋणी देश में से उतना धन निकल जाने के बाद वहाँ के नागरिकों को वहन करना पड़ता है। यदि इस प्रकार के ऋणों का भुगतान धनी व्यक्तियों से कर वसूल कर किया जाता है तो इसका वास्तविक भार अपेक्षाकृत कम होता है। इस प्रकार ऋणों का अप्रत्यक्ष भार भी देश के नागरिकों पर पड़ता है क्योंकि सरकार इसके भुगतान के लिए कर लगाती है जिसका भार नागरिकों को वहन करना पड़ता है। किन्तु, यह बात पूर्णतया सत्य नहीं है। वास्तविकता यह है कि विदेशी ऋणों का उपयोग यदि उत्पादक कार्यों में किया जाता है तो इससे देश की राष्ट्रीय आय में वृद्धि होती है जिससे लाभ भी होता है। लाभ यह है कि विदेशी ऋणों से देश के आर्थिक विकास में सहायता मिलती है जिससे विदेशी निर्भरता कम होती है और जो धन हमें विदेशी वस्तुओं के आयात में खर्च करना पड़ता है उसकी बचत होती है अतएव यह सोचना कि बाह्य ऋणों का देश के नागरिकों पर भार बहुत अधिक पड़ता है, भ्रमपूर्ण है। वास्तव में, इसके पक्ष एवं विपक्ष में बहुत-सारे तर्क दिये गये हैं जिनमें निम्नलिखित प्रमुख हैं —

शोध्य ऋण तथा अशोध्य ऋण (Redeemable and Irredeemable Debts) :— जिन ऋणो का भुगतान किसी सरकार को एक निश्चित तिथि तक ब्याज सहित करना पडता है उन्हें शोध्य ऋण (Redeemable Debts) कहा जाता है। इसके विपरीत ऋण केवल सूद देने पर ही सदा के लिए प्राप्त होते हैं उन्हे अशोध्य ऋण (Irredeemable Debts) कहते हैं। इस प्रकार के ऋण में मूलधन नही लौटाना पडता है। किन्तु ब्याज सदा निश्चित दरो के अनुसार घटती रहती है।

ऋण को कम करने या चुकाने का तरीका
(Methods of Debt-Redumption or Repayment)

आधुनिक समय मे सरकारें अपना ऋण चुकाना एक सम्मानपूर्ण कार्य समझती हैं। ऋण चुकाने से उनकी साख और शक्ति बनी रहती है। ऋण नही चुकाने से जब कभी राष्ट्र पर सकट आता है, तो बाद मे उसके लिए ऋण प्राप्त करना कठिन हो जाता है। साथ ही, ऋण चुका देने से व्यापार और उद्योग के लिए ऋण की रकम मुक्त हो जाती है।

सार्वजनिक ऋण चुकाने के निम्नांकित प्रमुख उपाय हे —

(1) **आधिक्य आगम का उपयोग** (The Utilization of Surplus Revenue) :— यह एक प्राचीन उपाय है, लकिन आधुनिक परिस्थितियो मे कार्यशील नही रह गया है क्योकि आधुनिक समय मे आय-व्ययक (Budget) का आधिक्य साधारणत सम्भव नही है और यदि आय-व्यय मे आधिक्य हो भी तो वह इतना महत्त्वहीन होता है कि ऋण को कम करन मे उपयोगी नही सिद्ध हो सकता है।

(2) **वार्षिक वृत्ति** (Terminal Annuities) —जब यह पूर्ण निश्चय कर लिया जाता है कि सरकार को अपने स्थायी ऋणो का भुगतान करना है तो वह प्रतिवर्ष कुछ निश्चित धन वार्षिकी (Annuities) के रूप में ऋणदाताओ (Creditors) को उधार चुकाने के लिए बाँध देती है। इसी भुगतान को वार्षिकी कहते हैं। यह स्पष्ट है कि जिस काल मे यह वार्षिकी दी जा रही होगी, उसमे केवल ब्याज देने के काल की अपेक्षा सरकारी अर्थ-कोष पर अधिक दबाव पडता होगा।

(3) **रूपान्तरण** (Conversion) —ऋण के भार को दूर करने का यह एक अच्छा उपाय है। जब सरकार ने ऊँची सूद की दर के समय ऋण लिया हो और बाद मे ब्याज की दर घट गयी हो तो सरकार ऊँचे ब्याज की दर वाले ऋणो को कम ब्याज की दर मे परिवर्तित कर सकती है। ऐसे समय मे सरकार ऋण दाताओ को यह सूचना देती है कि वे या तो अपने ब्याज की दर को कम करें या अपना रुपया वापस ले लें। यदि ऋण दाता ब्याज की दर को कम करना स्वीकार नही करते तो सरकार कम ब्याज पर दूसरा धन उधार लेकर उस धन से पिछले ऋणो को चुका देती है। इस प्रकार ऊँचे ब्याज की दर को कम ब्याज की दर मे परिवर्तित करने से सरकार का आर्थिक बोझ बहुत कुछ हल्का हो जाता है।

(4) **ऋण-परिधान कोष** (Sinking Fund) —यह उपाय बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। प्रतिवर्ष राजस्व मे एक निश्चित धन ऋण चुकाने के लिए निकाल लिया जाता है। यह इस हिसाब से निकाला जाता है कि एक निश्चित समय के अन्दर ऋण को ब्याज-सहित चुकाने में सुगमता होती है।

ऋण चुकाने के इन साधारण उपायो के अतिरिक्त कुछ और भी तरीके हैं जिनमे निम्न-लिखित विशेष रूप से प्रमुख हैं —

(5) **ऋण-निषेध** (Debt Repudiation) —जब कोई नयी क्रान्तिकारी सरकार बनती है तो यह पहली सरकार द्वारा लिये गये ऋणो को चुकाने से इनकार कर सकती है। यह सभी होता है, जब नयी सरकार का निर्माण क्रान्ति द्वारा हो। लेकिन अधिकाश राजनीतिज्ञ इन प्रस्तावो को स्वीकार नहीं करते क्योंकि सरकारो के लिए प्राय यह एक चलन-सा हो गया है कि वे अपने पूर्वाधिकारियो के वचनो का सम्मान करें।

अध्याय : 60

भारतीय वित्त-व्यवस्था

केन्द्र एवं राज्य के बीच आय के साधनों का वितरण :—प्रारम्भ में भारत की वित्त-व्यवस्था केन्द्रीभूत थी एव सारी शक्तियां केन्द्रीय सरकार के हाथ में ही केन्द्रित थी। आगे चलकर धीरे-धीरे इसका विकास संघीय ढग पर होने लगा और आज यहां की वित्तीय व्यवस्था पूर्ण रूप मे संघीय हो गयी है। संविधान मे केन्द्र एव राज्यो की विषय-सूची निर्धारित कर दी गयी है और यह स्पष्ट कर दिया गया है कि कौन-कौन कर केन्द्रीय सरकार लगा सकती है तथा कौन-कौन कर राज्य सरकारें लगा सकती हैं। 1951 ई० के वित्त आयोग के अनुसार भारत की वित्तीय व्यवस्था के इतिहास को हम निम्नलिखित चार कालो मे विभाजित कर सकते हैं :—

(1) ब्रिटिश शासनकाल के प्रारम्भ से लेकर 1919 ई० तक;
(2) 1919 ई० से लेकर 31 मार्च 1937 ई० तक,
(3) 1 अप्रैल, 1937 ई० से लेकर 1947 ई० तक, तथा
(4) 1947 ई० में स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद का समय।

प्रथम काल (1919 ई० के पूर्व का समय) :—ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने अपने शासनकाल के प्रारम्भ मे शासन की विभिन्न इकाइयो की वित्तीय मामलो मे पूरी स्वतन्त्रता दी थी। किन्तु इससे विभिन्न क्षेत्रो के बीच शासन सम्बन्धी भारी अन्तर उत्पन्न हो गये। अतः 1833 ई० मे एक नियम द्वारा वित्त तथा राजस्व-पद्धति का केन्द्रीयकरण किया गया। इससे केन्द्रीय शासन तो सुदृढ हो गया, परन्तु इसने एक साथ कई गम्भीर समस्याएं उत्पन्न कर दीं। प्रान्तीय सरकारें गैर-जिम्मेदार तरीके से खर्च करने लगीं। सभी प्रान्तीय सरकारो ने अपनी आवश्यकता को बढा-चढ़ा कर दिखलाना प्रारम्भ कर दिया जिससे कि केन्द्रीय सरकार से अधिक धन प्राप्त किया जा सके। परिणाम यह हुआ कि अपव्यय, अकुशलता तथा प्रान्तीय सरकारो के बीच आपसी संघर्ष बढने लगे। सर जॉन स्ट्रेची के शब्दो मे "सरकारी आय के विभाजन में प्रांतों के बीच झगडा-फसाद होता था जिसमे अधिक झगडालू प्रान्त ही अधिक लाभ मे रहते थे।"

इस पद्धति को "निस्सार एकरूपता एवं दुराग्रहपूर्ण केन्द्रीयकरण" (Barren uniformity and pedantic centralisation) की पद्धति कहा जाता था। लार्ड मेयो ने इन दोषो को दूर करने के लिए 1871 ई० में विकेन्द्रीकरण की पद्धति को अपनाया जिसके अनुसार जेल, रजिस्ट्रेशन, पुलिस, शिक्षा एवं सडकें प्रान्तीय सरकारो को सौंप दी गयीं। सरकारी कार्यों के समुचित सम्पादन के लिए प्रान्तो को इन विभागों को आय के अतिरिक्त निश्चित मात्रा मे केन्द्र ने अनुदान देना भी प्रारम्भ कर दिया। किन्तु, इस योजना ने प्रान्तीय अर्थ-व्यवस्था की असमानताओं को और भी बढा दिया। 1877 ई० मे लार्ड लिटन ने प्रान्तीय सरकारो को कुछ स्थानीय महत्व के साधनों का उत्तरदायित्व सौंप दिया तथा आय के कुछ साधनो को भी प्रदान किया। 1882 ई० मे लार्ड रिपन ने वार्षिक अनुदान की जगह पर प्रान्तो को कुछ साधनो से प्राप्त सम्पूर्ण आय तथा कुछ आंशिक आय देने का निश्चय किया। परिणामस्वरूप आय की तीन मुख्य मदें हो गयीं :—(1) साम्राजीय मदें (Imperial heads) जैसे—वाणिज्य विभागो के लाभ एवं अफीम, नमक आदि से प्राप्त आय, (2) प्रान्तीय मदें (Provincial heads) जैसे—नागरिक विभाग एवं प्रान्तीय कार्य, तथा (3) विभाजित मदें (Divided heads) जैसे—उत्पादन शुल्क, स्टाम्प, रजिस्ट्रेशन तथा वन इत्यादि। प्रत्येक पांच वर्षो पर स्थिति का पुनर्वीक्षण किया जाता था। यह प्रणाली दीर्घकालीन दृष्टिकोण को अपनाने में सहायक अवश्य थी, किन्तु केन्द्रीय सरकार ने इसके अनुसार अपने लिए सदा अधिक-से-अधिक रखने का प्रयत्न किया था। इस प्रकार इस पद्धति से भी असन्तोष पूर्णतया समाप्त न हो सका। इसका सबसे बडा कारण यह था कि सरकारी आय पांच वर्षों के लिए ही निश्चित रहती थी। इसे दूर करने के लिए लार्ड कर्जन ने 1904 ई० से

1936 ई० मे उक्त विधान की धारा 138 एव 140 ,12 के अन्तर्गत केन्द्र एव प्रान्तो के वित्तीय सम्बन्धो की **जाँच** के लिए सर **ओटो नेमियर** (Sir Otto Niemeyer) की नियुक्ति हुई। सर नेमियर ने यह सुझाव दिया कि निम्नलिखित निश्चित प्रतिशत के आधार पर आय-कर से प्राप्त होने वाली आय के 50 प्रतिशत को प्रान्तो के बीच वितरित किया जाय, मद्रास 15, बम्बई 20, बगाल 20, सयुक्त प्रान्त 15, पजाब 8, बिहार 10, मध्यप्रदेश 5, असम 2, उडीसा 2, सिन्ध तथा उत्तरी पश्चिमी सीमा प्रान्त 1। जूट निर्यात-कर के सम्बन्ध म सर नेमियर ने यह सिफारिश की थी कि प्रान्तो को मिलने वाली आय का प्रतिशत .2 से बढकर 62 कर दिया जाय। सर नेमियर के अन्य सुझावो मे निम्नलिखित प्रमुख थ—(क) प्राचीन सघटित ऋण को कम करके प्रान्तो का वित्तीय निवारण किया जाय, तथा (ख) प्रान्तो की आय की कमी को पूरा करने के लिए केन्द्र द्वारा वार्षिक अनुदान एव आर्थिक सहायता प्रदान की जाय।

प्रान्तीय सरकारें सर नेमियर के सुझावो से सतुष्ट नही थी। आय-कर के वास्तविक विभाजन से हर प्रात अपने अलग-अलग कारणों से असतुष्ट था। इसके अतिरिक्त प्रातो की वित्तीय सहायता देने की योजना भी असतोषजनक नही थी क्योकि इससे उनके वित्तीय स्तर म विशेष अतर का भय था।

चतुर्थ काल (1947 ई० से अब तक) —1947 ई० मे देश का विभाजन हुआ एव स्वतन्त्रता प्राप्त हुई जिससे नेमियर के सूत्रो मे परिवर्तन की आवश्यकता पडी। अत भारत सरकार ने अस्थायी तौर पर आय-कर के वितरण के विषय मे एक अध्यादेश निकाला जिसके अनुसार प्रातो को आय-कर व अर्द्ध भाग के वितरण का प्रतिशत इस प्रकार से निश्चित किया गया—मद्रास 18, बम्बई 11, पश्चिमी बगाल 12, सयुक्त प्रात 19, पूर्वी पजाब 5, बिहार 13, मध्य प्रदेश तथा बरार 6, उडीसा एव असम 3। इस सूत्र क अनुसार 1950 ई० तक काम किया गया।

देशमुख अवार्ड (Deshmukh Award) —नवम्बर, 1947 ई० मे भारत सरकार ने श्री सी० डी० देशमुख को विभाजन के बाद की नवीन परिस्थितियो को ध्यान मे रखते हुए प्रातो मे आय-कर तथा जूट निर्यात कर व वितरण के सम्बन्ध मे सुझाव प्रस्तुत करने के लिए नियुक्त किया। श्री देशमुख ने राज्यो की जनसख्या तथा आर्थिक स्थिति को ध्यान मे रखते हुए राज्यो के बीच आय कर के वितरण के लिए निम्नाकित सूत्र दिया जो 1 अप्रैल 1955 ई० से लागू हुआ—मद्रास 17 5, बम्बई 11, पश्चिमी बगाल 13 5, उत्तर प्रदेश 18, पजाब 5 5, बिहार 12 5 मध्य प्रदेश 6, असम तथा उडीसा 3। श्री देशमुख ने जूट निर्यात कर मे से पश्चिमी बगाल को 105 लाख, असम को 40 लाख, बिहार को 35 लाख तथा उडीसा को 5 लाख रुपये देने का सुझाव दिया।

इस प्रकार वर्तमान समय मे कुछ करो से प्राप्त आय का पूर्णत केन्द्रीय सरकार द्वारा उपयोग किया जाता है, कुछ करो से प्राप्त आय का केन्द्र एव राज्यो के बीच वितरण किया जाता है तथा कुछ करो से प्राप्त आय पूणत राज्यो के बीच वितरित कर दी जाती है।

नये संविधान के वित्तीय उपबन्ध

(Financial Provisions of the New Constitution)

भारत के नये सविधान मे 1935 ई० के सविधान मे दी गयी वित्तीय व्यवस्था को व्यवहारत स्पष्ट रूप से स्वीकार कर लिया गया है। सविधान की सातवी अनुसूची मे करो को निम्नाकित तीन प्रधान मदो मे वितरित किया गया है —

(1) स घ के अधिकार-क्षेत्र के कर (Sources of Revenue of the Union) —इनमे निम्नलिखित प्रधान कर सम्मिलित है —कृषि सम्बन्धी आय के अतिरिक्त अन्य आय पर कर (Taxes on Income other than agricultural income), निगम कर (Corporation Tax), मादक वस्तुओ के अतिरिक्त अन्य वस्तुओ के उत्पादन पर कर, कृषि भूमि के अतिरिक्त अन्य प्रकार की जायदाद पर कर, मृत्यु कर, कुछ प्रकार के स्टाम्प कर, अखबारो

व्यवस्था बनाये रखने के सम्बन्ध मे केन्द्र को अपनी आवश्यकताओ को ध्यान मे रखना चाहिए;

(ख) केन्द्र द्वारा राज्यो को दिये जाने वाले अनुदान के वितरण मे सभी राज्यो के साथ एक ही सिद्धान्त का पालन किया जाना चाहिए; तथा

(ग) वितरण की व्यवस्था इस प्रकार से होनी चाहिए जिससे राज्यो की आपसी विषमता कम-से कम हो सके।

आय कर का वितरण—आयोग ने आय-कर के वितरण मे इस बात की सिफारिश की कि राज्यो का अश 50 प्रतिशत से बढाकर 55 प्रतिशत कर दिया जाय। इसका कारण यह दिया गया कि एक ओर तो सभी राज्य अधिक अश की माग कर रहे थे और दूसरी ओर पहले इसका वितरण केवल 9 राज्यो मे किया जाता था, किन्तु अब इसका वितरण 16 राज्यो के बीच करना था। आय कर के वितरण को निश्चित करने मे आयोग ने निम्नलिखित सात बातो पर विचार किया—(1) विभिन्न राज्यो मे वसूल की गयी आय कर की धन-राशि; (2) विभिन्न राज्यो मे रहने वाले व्यक्तियो की आय, चाहे वह जहाँ से भी प्राप्त की गयी हो, पर वसूल किया गया कर, (3) आय के स्रोतो के अनुसार विभिन्न राज्यो मे एकत्र आय कर, (4) प्रत्येक राज्य की जनसख्या, (5) प्रत्येक राज्य म औद्योगिक श्रमिको की सख्या, (6) प्रत्येक राज्य की प्रति व्यक्ति आय, तथा (7) जनसख्या का घनत्व एवं आर्थिक विकास का स्तर, इत्यादि।

आय कर के वितरण मे आयोग ने उक्त बातो को ध्यान मे रखा। आयोग के समक्ष इस सम्बन्ध मे बहुत से सुझाव दिये गये थे। कुछ राज्यो ने इस प्रकार का सुझाव रखा था कि आय कर के वितरण मे विभिन्न राज्यो मे वसूल की गयी धन-राशि को ही आधार मानना चाहिए। किन्तु आयोग के अनुसार राज्य द्वारा वसूल की गयी धन-राशि को आधार मानना भी उचित नही होगा क्योकि आय कर मे प्राप्त होने वाली कुल धन राशि का प्राय 75 प्रतिशत भाग केवल बम्बई तथा पश्चिमी बगाल से प्राप्त होता था और इन धन-राशि का भी अधिकाश भाग केवल बम्बई तथा कलकत्ता के नगरो से ही प्राप्त होता था। अत केवल इस बात पर अधिक जोर देने का अर्थ यह होता कि अधिकाश भाग इन्ही दो राज्यो को मिल जाता। इसी प्रकार प्रत्येक राज्य की आवश्यकताओ की जानकारी के लिए वित्त-आयोग ने न तो औद्योगिक श्रम को ही आधार माना और न प्रति व्यक्ति आय को ही। आयोग के अनुसार औद्योगिक श्रम से भी केवल आशिक स्थिति का ही सकेत मिल सकता है। साथ ही, राज्यो की प्रति व्यक्ति आय के सम्बन्ध में उपयुक्त आँकडे उपलब्ध भी नही हैं, अत आयोग ने यह माना कि वर्त्तमान परिस्थितियों मे प्रत्येक राज्य की आवश्यकताओ का पता लगाने के लिए उसकी जनसंख्या ही उपयुक्त साधन है।

इस आधार पर आयोग ने यह सिफारिश की कि राज्यो को दिये जाने वाले आय कर का 20 प्रतिशत भाग राज्यो मे संग्रहित आय के अनुपात मे तथा 80 प्रतिशत भाग 1951 ई० की जनगणना के अनुसार उनकी जनसंख्या के आधार पर वितरित किया जाय। इस प्रकार आयोग द्वारा 'क' एव 'ख' वर्ग के राज्यो के निम्नलिखित प्रतिशत निश्चित किये गये —

राज्य	ओटो नेमियर सूत्र के अनुसार प्रतिशत	प्रथम वित्त आयोग द्वारा निर्धारित प्रतिशत
'क' वर्ग के राज्य		
1 मद्रास[1]	15	15 25
2. बम्बई	20	17 50
3· पश्चिमी बंगाल[2]	20	11·25
4 उत्तर प्रदेश	15	15 75
5. पंजाब	8	3 25
6. बिहार	10	9 75
7. मध्य प्रदेश	5	5 25
8. असम	2	2 25
9. उडीसा	2	3·50

1. मद्रास राज्य के कुल हिस्से का 39 प्रतिशत भाग आन्ध्र को मिला।
2. ओटो नेमियर सूत्र के अन्तर्गत के प्रतिशत विभाजन के पूर्व के है।

अनुदान (Grants in aid) —वित्त आयोग ने केन्द्रीय राजस्व मे से राज्यो को अनुदान देने के प्रश्न पर भी विचार किया। इस सम्बन्ध म आयोग ने सिद्धान्तो पर विचार किया, जैसे—बजट-सम्बन्धी आवश्यकताएँ, करो का प्रभाव, समाज सेवाओ का स्तर, विशेष जिम्मेवारियो तथा राष्ट्रीय महत्व के काय इत्यादि। आयोग के अनुसार किसी राज्य को अनुदान की आवश्यकता है या नही, यदि है तो कितनी है तथा राज्य अपनी कर-प्रणाली का किस हद तक उपयोग करता है आदि के अध्ययन से किसी राज्य की आवश्यकता के सम्बन्ध म विशेष जानकारी प्राप्त की जा सकती है। इस सम्बन्ध मे समाज सेवाओं के स्तर तथा विभिन्न परिस्थितियो एव जिम्मेवारियो का भी विशेष महत्व है। आयोग ने पश्चिमी बगाल के लिए 80 लाख रुपय तथा पूर्वी पजाब के लिए 125 लाख रुपये का अनुदान निर्धारित किया क्योकि विभाजन के फलस्वरूप इन राज्यो मे कुछ विशेष समस्याएँ उत्पन्न हो गयी थी। इनके अतिरिक्त असम को 1 करोड, उडीसा को 75 लाख, ट्रावनकोर कोचीन को 45 लाख एव सौराष्ट्र को 40 लाख रुपये का अनुदान निर्धारित किया गया। विभिन्न राज्यो के अनुदान के निर्धारण मे आयोग ने बहुत-से उद्देश्यो को अपने समक्ष रखा था। आयोग के अनुसार अनुदान का मुख्य उद्देश्य राज्यो की पिछडी हुई आर्थिक व्यवस्था, आय के साधनो का अभाव तथा आर्थिक समस्याओ पर विशेष रूप से ध्यान दिया गया था। इसके अतिरिक्त आयोग ने बिहार, मध्य प्रदेश, मध्य भारत, हैदराबाद, राजस्थान, उडीसा, पजाब तथा पेप्सू राज्यो मे प्रारम्भिक शिक्षा की सुविधाओ मे विस्तार के लिए अनुदान की भी सिफारिश की थी।

प्रथम वित्त आयोग की सिफारिशों की समीक्षा (An Appraisal of the Recommendations of First Finance Commission) :—प्रथम वित्त आयोग की सिफारिशो की कई बातो को लेकर आलोचना भी की गयी थी। कहा गया था कि आयोग द्वारा निर्धारित सिद्धान्त न्यायोचित नही थे। आयोग ने यह मान लिया था कि राज्य की आवश्यकताओं को वितरण के मापन का सबसे उचित साधन उसकी जनसख्या ही है। किन्तु, यह उचित नही जान पडता। वास्तव मे, जनसख्या के साथ साथ राज्यो के आर्थिक पिछडेपन, वित्तीय कठिनाइयो तथा विशेष परिस्थितियो एव जिम्मेवारियो पर भी उचित ध्यान देना आवश्यक है। आयोग ने आय कर तथा उत्पादनशुल्क दोनो के वितरण मे उक्त बातो पर अधिक जोर नही दिया किसी राज्य से प्राप्त होने वाली आय को भी वितरण का आधार मानना न्यायसगत नही है। इसी प्रकार बम्बई जसे धनी राज्य की आवश्यकता असम एव उडीसा जैसे राज्यो से निश्चय ही बहुत कम है। अत न्यायोचित यह होता कि गरीब एव पिछडे राज्यो को, चाहे उनकी जनसख्या कम हो अथवा अधिक, धनी एव विकसित राज्यो की तुलना मे राजस्व मे वितरण म प्राथमिकता प्रदान की जानी चाहिए थी। किन्तु, आय कर एव उत्पाद शुल्क के वितरण मे आयोग ने इस बात पर उचित ध्यान नही दिया।

भारत सरकार ने प्रथम वित्त आयोग की सभी सिफारिशो को स्वीकार कर लिया। वास्तव मे, आयोग की सिफारिशो के कार्यान्वयन से केन्द्र एव राज्यो के वित्तीय सम्बन्ध मे बहुत कुछ सुधार हुआ। साथ ही, आयोग की सिफारिशें नेमियर तथा देशमुख के निर्णय की अपेक्षा अधिक न्यायोचित भी थी। इसके फलस्वरूप राज्यो को केन्द्र से प्रतिवर्ष 21 करोड रुपये की अतिरिक्त रकम प्राप्त होने लगी। आयोग ने पिछडे राज्यो को विशेष अनुदान की व्यवस्था कर सघ की वित्तीय व्यवस्था मे एक नये अध्याय का प्रादुर्भाव किया। अन्य वित्त आयोग ने भी प्रथम आयोग द्वारा दिखाय गय माग का अनुसरण कर पिछडे राज्यो की समस्याओ के समाधान मे विशेष सहयोग प्रदान करने का प्रयास किया।

द्वितीय वित्त आयोग

(Second Finance Commission)

सविधान के 280 वें अनुच्छेद मे यह व्यवस्था है कि प्रति पाँच वर्षो पर राष्ट्रपति द्वारा एक वित्त आयोग की नियुक्ति की जायगी। इसी आधार पर जून, 1956 ई० मे श्री के० सन्तानम की अध्यक्षता मे द्वितीय वित्त आयोग की नियुक्ति हुई जिसने सितम्बर, 1957 ई० मे अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत किया। द्वितीय वित्त आयोग की सिफारिशो से राज्यो को पहले से अधिक लाभ

प्राप्त हुआ तथा इन्हे केन्द्र मे अनुदान एवं अंशदान के रूप मे प्रायः 140 करोड रुपये मिलने लगे (रेलवे भाडा पर लगाये गये कर से प्राप्त 15 करोड रुपये के अतिरिक्त) जबकि प्रथम वित्त आयोग की सिफारिशो के आधार पर इन्हे औसत रूप से वार्षिक 93 करोड रुपये ही प्राप्त होते थे।

आयोग ने आय कर मे से राज्यो को अंशदान के रूप मे मिलने वाली रकम को 55 प्रतिशत से बढाकर 60 प्रतिशत कर दिया। केन्द्र द्वारा शासित प्रदेशो को शुद्ध-प्राप्ति (Net proceeds) के 1 प्रतिशत भाग देने की व्यवस्था की गयी। आयोग ने विभिन्न राज्यो के बीच इस अंशदान के वितरण मे 10 प्रतिशत भाग राज्यो द्वारा संग्रहित आय के अनुपात मे तथा 90 प्रतिशत भाग उनकी जनसख्या के अनुपात मे वितरित करने की सिफारिश की। (प्रथम आयोग के अनुसार 20 प्रतिशत संग्रहित आय तथा 80 प्रतिशत जनसंख्या के आधार पर वितरण किया जाता था।)

प्रथम वित्त-आयोग ने तम्बाकू, दियासलाई तथा वनस्पति घी पर लगाये गए उत्पाद-शुल्क के 40 प्रतिशत भाग को राज्यो मे बांटने की सिफारिश की थी। द्वितीय आयोग ने उत्पाद-शुल्क में राज्यो के हिस्से को 40 प्रतिशत से घटाकर 25 प्रतिशत करने की सिफारिश की। किन्तु तम्बाकू, दियासलाई तथा वनस्पति घी के अतिरिक्त राज्यो को चीनी, चाय, कहवा तथा कागज के उत्पाद-शुल्क की रकम से 90 प्रतिशत जनसख्या के आधार पर वितरित करने की सिफारिश की गयी। मिल के कपडे, चीनी तथा तम्बाकू पर बिक्री कर की जगह लगाये जाने वाले अतिरिक्त उत्पाद शुल्क मे से 1 प्रतिशत केन्द्रीय शासित प्रदेशो को तथा 1½ प्रतिशत जम्मू एवं कश्मीर को देने की सिफारिश की गयी। शेष रकम के विभिन्न राज्यो मे विभाजन के लिए भी आयोग ने एक निश्चित प्रतिशत निर्धारित किया था।

मृत्यु कर, जो सर्वप्रथम 1953 ई० मे लगाया गया था, की आय को विभिन्न राज्यो के बीच आय-कर के अनुपात मे ही विभाजित किया जाता था। आयोग ने इस सम्बन्ध मे यह सिफारिश की थी कि केन्द्र द्वारा शासित प्रदेशो के लिए 1 प्रतिशत काट कर कुल आय मे से स्थायी सम्पत्ति स मृत्यु-कर के रूप मे प्राप्त आय को राज्यो के बीच उनकी स्थायी सम्पत्ति से सग्रहित आय के आधार पर तथा शेष रकम को राज्यो की जनसंख्या के आधार पर विभाजित किया जाना चाहिए।

रेलो के भाडे पर लगाये गये कर (Tax on Railway fares) के सम्बन्ध मे आयोग ने यह सिफारिश की कि इससे प्राप्त कुल आय में से 1 प्रतिशत केन्द्र द्वारा शासित प्रदेशो के लिए काटकर शेष राज्यो के बीच वितरित कर देना चाहिए।

द्वितीय वित्त आयोग की सिफारिशो के आधार पर राज्यो को केन्द्र से अंशदान एवं अनुदान के रूप मे प्रतिवर्ष 140 करोड रुपये प्राप्त होने लगे जब कि प्रथम आयोग की सिफारिशों के आधार पर उन्हे औसतन 93 करोड रुपये प्रति वर्ष ही प्राप्त होते थे। इस प्रकार राज्यो के लिए द्वितीय आयोग की सिफारिशें निश्चय ही लाभदायक थीं। आयोग की सिफारिशो का सविस्तार विवरण पृष्ठ 647 पर दिया गया है।

तृतीय वित्त आयोग

(Third Finance Commission)

संविधान के 280 वें अनुच्छेद के अनुसार राष्ट्रपति ने 2 दिसम्बर, 1960 ई० को तृतीय वित्त आयोग की नियुक्ति की जिसने 14 दिसम्बर, 1961 ई० को अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत किया। तृतीय वित्त आयोग को निम्नलिखित विषयो के सम्बन्ध मे अपना प्रतिवेदन देना था—(क) करो से प्राप्त शुद्ध आय का केन्द्र एव राज्यों के बीच किस सिद्धात के अनुसार विभाजन हो; तथा (ख) किस आधार पर केन्द्रीय सरकार राज्यो को अनुदान दे। इनके अतिरिक्त आयोग को राष्ट्रपति को निम्नांकित विषयो के सम्बन्ध मे भी सिफारिशें देनी थीं—(i) तृतीय पचवर्षीय योजना की आवश्यकताओ एवं राज्य के साधनो को ध्यान मे रखते हुए राज्यो के बीच अनुदान के विभाजन का क्या सिद्धान्त होना चाहिए, (ii) कृषि-भूमि के अतिरिक्त अन्य सम्पत्ति पर लगाये गये मृत्यु-कर

तृतीय वित्त आयोग की मुख्य सिफारिशें

राज्य	मृत्यु कर का हिस्सा[1]	आय कर का हिस्सा $66\frac{2}{3}\%$	275 (1) अनुच्छेद के अन्तर्गत अनुदान (लाख रुपये मे)		35 वस्तुओं के उत्पाद-कर से प्राप्त आय का हिस्सा	रेल के भाड़े पर कर के बदले 12 50 करोड़ रुपये	अतिरिक्त उत्पाद कर	
			राज्य के राजस्व	सचार के विकास के लिए अतिरिक्त			1956-57 राज्यों की आय लाख रुपये में	शेष का
	प्रतिशत	प्रतिशत			प्रतिशत			प्रतिशत
1 आन्ध्र	8 34	7 71	1200	50	8 23	1 11	235 64	7 75
2. असम	2 75	2 44	900	75	4 73	0 34	85 08	2·60
3 बिहार	10 78	9 33	800	75	11 56	1 17	110 16	13 00
4. गुजरात	4 78	4 78	950	100	6 45	0 68	323 45	5 40
5 जम्मू एव कश्मीर	0 83	0 70	325	50	2 02	—	—	—
6 केरल	3 92	3 55	850	75	5 46	0 23	95 08	4 25
7 मध्य प्रदेश	7 51	6 41	265	175	8 46	1 04	155 17	7 00
8 मद्रास	7 80	8 13	800		6 08	0 81	285 34	9 00
9 महाराष्ट्र	9·16	13 41			5 73	1 35	637 77	10 69
10 मैसूर (कर्नाटक)	5·46	5 13	775	50	5 82	0 56	100 10	5 25
11 उडीसा	4 08	3 44	1600	175	7 07	0 22	85 10	4 50
12 पजाब	4 71	4 49	27 5	—	6 79	1 01	115 19	5 25
13 राजस्थान	4 67	3 97	875	75	5 93	0 85	90 20	4 00
14 उत्तर प्रदेश	17 10	14 42	200		10 68	0 34	575 81	15 50
15 पश्चिमी बगाल	8 11	12 09	850		5 01	0 700	280 81	99
कुल	100 00	100 00	100 25	900	100 00	12 50	3254 00	100 00

1 इसमें अस्थायी सम्पत्ति के अतिरिक्त रेवन्य अन्य प्रकार की सम्पत्ति मे संग्रहित कर सम्मिलित है।

वस्तुओं के केन्द्रीय उत्पाद-कर से प्राप्त शुद्ध आय का 20 प्रतिशत भाग विभिन्न राज्यों के बीच आयोग द्वारा निर्धारित प्रतिशत में विभाजित किया जाय।

अतिरिक्त उत्पाद-कर (Additional duties on Excise in lieu of Sales tax on Sugar, Tobacco and Textiles) :—वित्त आयोग ने इस सम्बन्ध में निम्नांकित सिफारिश दी। 1966-67 से 1970-71 ई० के बीच सूती वस्त्र, रेशमी एवं कृत्रिम रेशम के वस्त्र, ऊनी वस्त्र, चीनी तथा तम्बाकू पर विक्रय कर के बदले लगाये गये अतिरिक्त उत्पाद कर की शुद्ध आय का (क) 1 प्रतिशत भाग केन्द्र द्वारा शासित क्षेत्रों (Union Territories) के लिए रखा जाय, 1·50 प्रतिशत भाग जम्मू एवं कश्मीर के लिए पृथक् कर दिया जाय, (ग) 0·05 नागालैंड राज्य को दिया जाय, तथा (घ) 97·45 प्रतिशत भाग में से 1946-47 ई० में विभिन्न राज्यों द्वारा इनसे प्राप्त विक्रय-कर की 3254 लाख रुपये की रकम के अनुसार उनके बीच विभाजित कर दिया जाय, तथा 3254 लाख रुपये से अतिरिक्त रकम को राज्यों के बीच आयोग द्वारा निर्धारित प्रतिशत में विभाजित कर दिया जाय।

चतुर्थ वित्त आयोग की प्रमुख सिफारिशें अगले पृष्ठ पर दी गयी हैं।

पंचम वित्त आयोग

(Fifth Finance Commission)

31 अक्टूबर, 1968 ई० को भारत सरकार ने श्री महावीर त्यागी की अध्यक्षता में पाँचवें वित्त आयोग की नियुक्ति की जिसने 31 जुलाई, 1969 को अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत किया। आयोग के समक्ष विचाराधीन विषयों में निम्नांकित उल्लेखनीय है—(i) वितरण किये जाने वाले करों का केन्द्र एवं राज्यों के बीच विभाजन, (ii) केन्द्रीय सरकार द्वारा राज्यों को दिये जानेवाले अनुदान के लिए सिद्धान्तों को निर्धारित करना, (iii) कुछ राज्यों द्वारा अनधिकृत अधिविकर्ष (Unauthorised overdraft) की समस्या तथा उसका निदान, (iv) राज्यों को प्रदत्त विषयों तथा संविधान की 269 वी धारा के अन्तर्गत राज्यों की आय में वृद्धि की सम्भावना, तथा (v) चीनी, तम्बाकू एवं वस्त्र पर विक्रय कर के बदले अतिरिक्त उत्पाद-कर की व्यवस्था का पुनरावलोकन।

पंचम वित्त आयोग (Fifth Finance Commission) की प्रमुख सिफारिशें निम्नांकित हैं —

मृत्यु-कर (Death duty) —आयोग के अनुसार कृषि-भूमि के अतिरिक्त अन्य सभी प्रकार की सम्पत्ति से प्राप्त मृत्यु-कर में से 2 प्रतिशत केन्द्र द्वारा शासित प्रदेशों (Union territories) के लिए रखा जाय। शेष अगतिशील (immovable) एवं अन्य सम्पत्ति (Property other than immovable) से प्राप्त आय के आधार पर अलग-अलग किया जाय और अगतिशील सम्पत्ति से प्राप्त आय को विभिन्न राज्यों के बीच इनकी कुल अगतिशील सम्पत्ति के मूल्य के अनुपात में वितरित किया जाय तथा अन्य प्रकार की सम्पत्ति से प्राप्त आय को राज्यों को जन-संख्या के आधार पर इनके बीच 654 पृष्ठ की तालिका पर दिये गये प्रतिशत में वितरित किया जाय।

रेलवे भाड़े पर कर के बदले में अनुदान (Grants in lieu of taxation on Railway Fare) —1957 ई० में रेलवे भाड़े पर एक कर लगाया गया था जिसे 1961 ई० में रेलवे भाड़े में मिला दिया गया। किन्तु संघीय सरकार ने रेलवे भाड़े के बदले में 12·50 करोड़ रुपये की रकम को राज्यों के बीच वितरित करने का निर्णय किया। पंचम आयोग ने भी इतनी ही रकम को राज्यों के बीच पृष्ठ 654 पर दी गयी तालिका के अनुसार वितरित करने की सिफारिश की।

आय कर (Income Tax) —पंचम वित्त आयोग ने कृषि-आय तथा केन्द्रीय सरकार द्वारा दिये गये पारिश्रमिक के ऊपर संग्रहित कर के अतिरिक्त अन्य सभी प्रकार की आय पर प्राप्त आय कर का 75 प्रतिशत भाग राज्यों के बीच विभाजित करने की सिफारिश की। (चतुर्थ

पंचम वित्त आयोग की मुख्य सिफारिशें

राज्य	मृत्यु-कर का हिस्सा[1]	आय-कर का हिस्सा 75%	275 (1) अनुच्छेद के अन्तर्गत अनुदान (लाख रुपये में)	सभी वस्तुओं के उत्पादन कर से प्राप्त आय (20 प्रतिशत) का हिस्सा	रेलवे भाड़े पर कर के बदले राज्यों का हिस्सा प्रतिशत में	वस्तुओं के विक्रय-कर के बदले अतिरिक्त उत्पाद कर	
	प्रतिशत	प्रतिशत	पाँच वर्षों में कुल रकम	प्रतिशत		स्थाया रकम	शेष का प्रतिशत
					8 56		
1. आन्ध्र	8 37	8 01	6501	7 15	2·88	235 24	8·13
2. असम	2 76	2 67	10197	2 51	10 86	85·38	2 47
3. बिहार	10 80	9·99	....	13 81	6·91	130·16	8 40
4 गुजरात	4 00	5·18	.	4·17	0 01	323·25	6 33
5 जम्मू एवं कश्मीर	0 83	0 79	7398	1 12	2 46	.	..
6. हरियाणा	1·76	1·73	4965	1 49	1·78	65 49	1 70
7. केरल	3 93	3 83	...	4 28	9 92	95·08	4 84
8. मध्य प्रदेश	7 53	7·09	2282	8 48	5 54	155·17	·34
9. तमिलनाडु	7 83	8·18		6·50	9·12	285·34	9·63
10. महाराष्ट्र	9 20	11·34	....	0 93	3 86	637·77	13 89
11. मैसूर (कर्नाटक)	5·48	5·40	1799	4 65	0·01	100·10	6·00
12. नागालैंड	0 09	0 08	7795	0 08	2 66	.	....
13. उड़ीसा	4 08	3·05	10467	4·72	4·76	85·10	3·13
14. पंजाब	2·59	2·55	.	2 17	6·43	96 07	2 98
15. राजस्थान	4 68	4 34	5149	5 28	5·54	90 10	4 42
16. उत्तर प्रदेश	17 05	16 01	....	18 82	19·06	575 81	12 99
17. पश्चिम बंगाल	8 02	9·11	7262	6 84	5 51	280·41	8 75
कुल	100·00	100 00	63785	100 00	100 00	3240·37	100 00

1. इसमें अस्थायी सम्पत्ति के अतिरिक्त अन्य प्रकार की सम्पत्ति से सम्बन्धित कर केवल सम्मिलित है।

अध्याय : 56

केन्द्रीय एवं राज्य सरकारों का आय-व्यय
(Income and Expenditure of the Central and State Governments)

बजट का अर्थ एवं महत्त्व (Meaning and Importance of The Budget) — भारतीय संविधान मे केन्द्र तथा राज्य सरकारो के कार्यो का अलग-अलग उल्लेख किया गया है। उदाहरण के लिए केन्द्र के जिम्मे सुरक्षा, यातायात, करेंसी, बैंकिंग एवं अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध आदि तथा राज्य सरकारो के जिम्मे पुलिस, शिक्षा, चिकित्सा, कृषि तथा वन इत्यादि हैं। इसी प्रकार संविधान मे राज्यो तथा केन्द्र के बीच आय एवं व्यय के साधनो के भी वितरण की व्यवस्था है। संविधान के अनुसार केन्द्रीय सरकार की आय के निम्नांकित प्रमुख साधन हैं—आयात-निर्यात कर, उत्पाद-कर, आय-कर, निगम-कर, रेलवे, डाक-तार, मुद्रा एवं टकसाल तथा रिजर्व-बैंक मे प्राप्त आय, इत्यादि। इसी प्रकार केन्द्रीय सरकार के व्यय की निम्नलिखित प्रधानमदें हैं · डाक तार सुरक्षा व्यय, कर वसूलने का व्यय एवं नागरिक व्यवस्था सम्बन्धी व्यय इत्यादि।

सभी सरकारें प्रति वित्तीय वर्ष के प्रारम्भ मे अपने एक वर्ष के संभावित आय एवं व्यय का एक ब्योरा संसद् के सम्मुख प्रस्तुत करती है जिसे आय-व्ययक या बजट (Budget) कहते हैं। अतएव भारत सरकार भी प्रतिवर्ष अपना बजट संसद् मे प्रस्तुत करती है। किसी देश के आर्थिक जीवन मे बजट का बडा ही महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। वास्तव मे बजट प्रत्येक देश की आर्थिक नीतियो को व्यावहारिक स्वरूप प्रदान करता है। देश की आर्थिक नीति उसीसे परिलक्षित होती है। बजट से देश मे वस्तुओ एवं सेवाओ की कुल माग प्रभावित है और उसी पर देश मे बचत एवं विनियोग का स्तर, आय एवं रोजगार का स्तर आदि निर्भर करते हैं। बजट मे परिवर्तन से देश की सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था में परिवर्तन हो जाता है। वास्तव मे, राजकोषीय नीति में परिवर्तन के द्वारा देश की सम्पूर्ण आर्थिक रूप-रेखा को ही परिवर्तन किया जा सकता है।

बजट के विभिन्न प्रकार (Different types of Budget) —

बजट निम्नांकित तीन प्रकार के होते हैं :—

(1) **आधिक्य बजट (Surplus Budget)** —जब राज्य को जो आय प्राप्त होती है उससे कम रकम व्यय की जाती है तो इस प्रकार के बजट को आधिक्य का बजट कहते हैं। उदाहरण के लिए यदि आय 100 करोड रुपये एवं व्यय 80 करोड रुपये हो तो यह आधिक्य का बजट कहा जायगा।

(2) **घाटे का बजट (Deficit Budget)** —जब राज्य आय से अधिक व्यय करता है तो इसे घाटे का बजट (Deficit Budget) कहते हैं। उदाहरण के लिए, यदि आय 100 करोड रुपये तथा व्यय 120 करोड रुपये हो तो इसे घाटे का बजट कहते हैं।

(3) **संतुलित बजट (Balanced Budget)** —इसके विपरीत जब राज्य के बजट मे आय एवं व्यय दोनो बराबर होते हैं तो उसे संतुलित बजट कहते हैं। उदाहरण के लिए, जब आय तथा व्यय दोनो ही 100 करोड रु० हो तो यह संतुलित बजट हुआ।

1975-76 ई० का भारत सरकार का बजट
(Budget of the Government of India for the year 1974-75)

28 फरवरी 1975 ई० को भारत सरकार के वित्त मन्त्री श्री सी० सुब्रह्मण्यम ने भारतीय संसद् के सम्मुख 1975-76 का बजट प्रस्तुत किया। इस बजट के अन्तर्गत राजस्व

सामाजिक एवं विकासात्मक सेवाएँ	159·20	440·82	482·3
अन्य मदें	—	91·67	115·1
मुद्रा एवं टकसाल	22·03	21·09	20·6
विविध सेवाएँ	104·45	517·10	935·0
विशेष मदें	—	10·59	10·60
राज्यों का अनुदान एवं अन्य	323·39	965·49	1227·9
कुल	—	4590·62	6490·9

उपरोक्त तालिका को देखने से राजस्व खाते में केन्द्रीय सरकार की आय एवं व्यय की विभिन्न मदों का अन्दाजा लगता है।

भारत सरकार का पूँजीगत बजट (करोड़ रुपये में)

(Capital Budget of the Govt. of India)

पूँजीगत प्राप्तियाँ	1966-67 (संशोधित)	1975-76 (बजट)
1. राजकीय ऋण		
भारत से	279·29	324·9
विदेशों से (PL 480 के अतिरिक्त)	642·24	612 7
2. PL 480 कोष में जमा	323·36	—
3. ऋण एवं अनुदान का भुगतान	384·00	1395·0
4. अल्प बचत (शुद्ध)	125·00	380·4
5. अन्य	...	715·4
कुल पूँजीगत प्राप्तियाँ	...	3428·4
पूँजीगत व्यय		
1. नागरिक एवं अन्य व्यय	326·17	935·7
2. रेल्वे	175·71	182·5
3. पोस्ट एवं टेलीग्राफ	27·60	17·9
4. प्रतिरक्षा	114·96	237·7
5. ऋण एवं अग्रिम—		
राज्य एवं केन्द्रीय क्षेत्र	1413·34	2743·9
अन्य		
कुल पूँजीगत व्यय		4276·7
पूँजीगत घाटा	—	—848·3

केन्द्रीय सरकार की आय के प्रमुख साधन

(Main Sources of Revenue of the Central Govt.)

आय-कर (Income Tax) :—आय-कर का भारतीय कर-व्यवस्था में बड़ा ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह एक प्रत्यक्ष कर (Direct Tax) है। भारत में आय-कर सर्वप्रथम 1860 ई० में लगाया गया था। किन्तु 1865 ई० में कुछ कारणों से इसे बन्द कर दिया गया। पुनः 1869 ई० में यह कर लगाया गया और तब से इसका भारतीय कर-व्यवस्था में एक प्रमुख स्थान हो गया है। 1886 ई० में इसमें आमूल परिवर्तन लाकर इसे सरकारी आय का एक स्थायी साधन बनाया गया। तबसे इसमें समय-समय पर देश की वित्तीय आवश्यकताओं के अनुसार परिवर्तन होते रहे हैं। कर-मुक्त आय की सीमा को 500 रुपये से बढ़ाकर 1903 ई० में 1000 तथा 1919 ई० में 2000 रुपया कर दिया गया। प्रथम युद्ध-काल में एक अतिरिक्त कर (Super Tax) लगाया गया जिसे युद्ध के उपरान्त बन्द कर दिया गया। 1931 ई० में कर-मुक्त आय की सीमा को घटाकर

समाप्त कर दिया गया। 1970-71 ई० के बजट मे ऊँची आय पर करो की दर मे और वृद्धि की गयी।

1972-73 ई० के संशोधित अनुमान के अनुसार इस मद मे कुल 602 करोड रुपये की आय हुई थी जब कि 1975-76 ई० के बजट मे 7?1 करोड रुपये की आय का अनुमान था। 1971-72 ई० के बजट मे आय-कर सम्बन्धी प्रस्तावो में महत्वपूर्ण संशोधन किये गये थे। उदाहरण के लिए 15 हजार रुपये से अधिक आय पर अतिरिक्त सरचार्ज (additional Surcharge) की रकम को 10 प्रतिशत से बढाकर 15 प्रतिशत कर दिया गया। 1973-74 ई० के बजट में कृषि से 5000 रुपये वार्षिक प्राप्त आय से अधिक आय को कर-निर्धारण की दरो के निर्धारण के लिए कुल आय में सम्मिलित करने की व्यवस्था की गयी।

अधिकतम आय की सीमा (Ceiling on Income) —भारत में गत कुछ वर्षों से व्यक्तिगत आय की सीमा निर्धारण के सम्बन्ध मे भी बातचीत चल रही है। कर जाँच आयोग (Taxation Enquiry Commission) के अनुसार व्यक्तिगत आय की अधिकतम सीमा निश्चित कर देनी चाहिए, जो कर देने के पश्चात् देश में औसत प्रति परिवार की आय के 37 गुना से अधिक नही होनी चाहिए। किन्तु इस प्रकार की सीमा-निर्धारण केवल कर के द्वारा ही सम्भव नही है, वरन् इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए बहुत अधिक प्रयत्नो की आवश्यकता पड़ेगी। साथ ही, इसे शीघ्रतापूर्वक लागू नहीं किया जा सकता। कर जाँच आयोग की उपरोक्त सिफारिशो के बाद देश में समाजवादी विचारधारा के व्यक्तियो ने अधिकतम आय की सीमा निर्धारण के लिए नारा बुलन्द करना आरम्भ किया।

किन्तु, व्यक्ति की आय की अधिकतम सीमा-निर्धारण के क्षेत्र में बहुत-सी व्यावहारिक कठिनाइयाँ हैं। साथ ही, आय में व्याप्त विषमता को इस सीमा-निर्धारण के द्वारा दूर भी नही किया जा सकता है। हमारे भूतपूर्व प्रधान मन्त्री एवं राष्ट्र निर्माता श्री जवाहरलाल नेहरू ने आय की अधिकतम सोमा-निर्धारण के द्वारा समाजवाद लाने के सम्बन्ध में कहा था कि "समाजवाद का अर्थ निर्धनतानही है, इसका अर्थ एक निश्चित ऊँचाई से अधिकतम आय वाले व्यक्तियों के सर को काटना नही है।"[1] इसके लिए समाज मे अधिकतम आय वाले व्यक्तियो की आय को कर के द्वारा कम करना तथा कम आय वाले व्यक्तियो की आय को सार्वजनिक सुविधाओ की व्यवस्था द्वारा बढाने का प्रयत्न करना होगा।

प्रो० काल्डोर के अनुसार भी समाज मे व्याप्त आर्थिक विषमता को आय की सीमा-निर्धारण द्वारा नहीं दूर किया जा सकता है। इस प्रकार व्यक्तिगत आय की अधिकतम सीमा-निर्धारण का समाज पर बहुत अच्छा प्रभाव नही पडेगा। इससे आर्थिक क्षेत्र मे प्रेरणा (Incentive) के समाप्त होने की आशका है।

निगम कर (Corporation Tax) —यह रजिस्टर्ड कम्पनियो पर लगाया जाता है। सर्वप्रथम युद्धकाल म यह कर लगाया गया था। सभी कम्पनियो पर कर की दर एक समान होती है। 196 -62 ई० मे इससे 156 करोड रुपये तथा 1965-66 ई० मे 230 करोड रुपये की आय प्राप्त हुई थी। 1972-73 ई० के सशोधित अनुमान के अनुसार इस कर से 558 करोड रुपये आय हुई तथा 1975-76 ई० मे इसम 780 5 करोड रुपये आय की आशा की गयी थी। इस प्रकार निगम कर से प्राप्त आय मे भी क्रमश वृद्धि हो रही है। निगम कर से प्राप्त सम्पूर्ण आय केन्द्रीय सरकार को ही प्राप्त होती है।

आयात निर्यात कर (Customs) —यह कर एक परोक्ष कर (Indirect Tax) है। आधुनिक समय मे केन्द्रीय सरकार की आय का यह एक प्रमुख साधन है। आयात-निर्यात करो से होनेवाली सम्पूर्ण आय केन्द्रीय सरकार को ही प्राप्त होती है। प्रथम महायुद्ध तक देश मे स्वतन्त्र व्यापार की नीति का प्रचलन था, अत आयात निर्यात करो मे बहुत ही कम आय प्राप्त होती था। किन्तु युद्ध के उपरान्त 1922-23 ई० मे भारत सरकार ने विवेचनात्मक सरक्षण की नीति को अव-

1. Socialism is not something which can be defined as a dead level of poverty. It does not mean cutting of the head of everybody above a certain height."

को बात चली आ रही थी। 1924-25 ई० की कर जाँच समिति ने भारत में मृत्यु-कर लगाने के प्रश्न पर विस्तारपूर्वक विचार किया था। 1935 ई० के संविधान मे भी इस प्रकार के कर की व्यवस्था की गयी थी जिसके अनुसार कृषि-भूमि के अतिरिक्त केन्द्रीय सरकार अन्य सभी प्रकार की सम्पत्ति पर उत्तराधिकार कर लगा सकती थी किन्तु इस प्रकार के करो से प्राप्त आय को राज्यो को देने की व्यवस्था थी। 1946 ई० मे सरकार ने उत्तराधिकार कर लगाने के उद्देश्य से एक विधेयक भी विधान सभा के सम्मुख रखा था, किन्तु उस समय वह कानून का रूप नही धारण कर सका। 1948 ई० में इस आशय का एक दूसरा असफल प्रयास किया गया। पुन 1952 ई० मे इस आशय से एक विधेयक प्रस्तुत किया गया जो कानून बन गया तथा अक्तूबर, 1952 ई० मे लागू किया गया। इस अधिनियम के अनुसार यह सम्पत्ति पर (कृषि-भूमि को छोडकर) लगाया जाता है। इसके अनुसार हिन्दू परिवार के लिए कम से-कम 50 हजार रुपये तथा अन्य हालतो मे 1 लाख रुपये तक की सम्पत्ति पर कोई कर नही लगता। इससे अधिक सम्पत्ति पर उत्तरोत्तर बढती हुई दरो पर खण्ड प्रणाली (Slab system) के अनुसार यह कर लगता है। इस कर से निम्नलिखित प्रकार की सम्पत्ति को छूट दी जाती है (क) मृत्यु के छ महीने के भीतर सार्वजनिक कार्य के लिए 2500 रुपये तक का दिया गया दान, (ख) मृत्यु के दो साल के अन्दर तक 1500 रुपये तक के कोई अन्य उपहार, (ग) 50, 000 रुपये तक मृत्यु कर चुकाने के लिए ली गयी बीमा पॉलिसी (घ) सरकार के पास मृत्यु-कर चुकाने के लिए 50 हजार रुपये तक जमा की गयी रकम, (च) मृतक की जिन्दगी पर 50 हजार रुपये तक के लिए जीवन बीमा, तथा (छ) किसी लडकी अथवा लडकियों के ब्याह के लिए पृथक रूप मे रखी गयी रकम जो अधिक से अधिक प्रति लडकी 5 हजार रुपये तक होगी। प्रथम मृत्यु के पश्चात् तीन महीनो की अवधि मे होनेवाली सभी मृत्युओ को एक ही मौत गिना जाता है। 1963-64 ई० मे इससे 13 लाख रुपये की आय प्राप्त हुई थी। 1964-65 ई० मे मृत्यु कर की दर मे वृद्धि की गयी जिसके अनुसार 10 लाख रुपये से ऊपर की जायदाद पर 40 प्रतिशत मृत्यु कर के रूप मे लिया जायगा। 1973-74 ई० के बजट मे इससे 19 25 करोड रुपये आय की आशा थी।

उपहार-कर (Gift Tax) —भारत मे मृत्यु-कर से बचने के लिए अधिकांश लोगो ने उपहार देना प्रारम्भ कर दिया। अतः इस प्रकार की बुराई को दूर करने के लिए डा० कालडोर ने एक उपहार-कर (Gift Tax) लगाने का सुझाव दिया। भारत सरकार ने डॉ० कालडोर के सुझावो के आधार पर 1958-59 ई० मे इस प्रकार का एक कर लगाया गया। 1965-66 ई० के सशोधित बजट अनुमान के अनुसार इससे 300 लाख रुपये की आय हुई थी। इस कर का प्रधान उद्देश्य मृत्यु कर से बचने की प्रवृत्ति को कम करना है। 1964 65 ई० के बजट मे इस कर की दरो मे और वृद्धि की गयी। 1967-68 ई० मे इस मद से 175 लाख रुपये आय की आशा थी। 1972 73 के सशोधित अनुमान मे इस मद मे 3 75 करोड रुपये आय प्राप्ति हुई थी तथा 1975 76 के बजट मे इस मद मे 4 50 करोड रुपये आय प्राप्त होने की आशा थी। इस प्रकार के कर मे वृद्धि का प्रधान उद्देश्य बडे बडे उपहारो को रोकना है।

सम्पत्ति-कर (Wealth Tax) —सम्पत्ति कर भारत मे 1 अप्रैल, 1955 ई० से लगाया गया। इस प्रकार का कर 1 लाख रुपये से अधिक सम्पत्ति वाले व्यक्तियों तथा 2 लाख रुपये से अधिक सम्पत्ति वाले सम्मिलित हिन्दू परिवारो को देना पडता है। कृषि-सम्बन्धी सम्पत्ति, प्रोविडेन्ड फण्ड तथा बीमा पॉलिसी की रकम के अतिरिक्त अन्य सभी प्रकार की सम्पत्ति पर यह कर लगाया जाता है। 25 हजार रुपये तक के जेवर को भी इस कर से मुक्त कर दिया गया है। व्यक्ति के सम्बन्ध मे प्रथम एक लाख, सम्मिलित परिवार के सम्बन्ध मे दो लाख रुपये की सम्पत्ति पर कोई कर नही लगता। उसके बाद व्यक्ति के सम्बन्ध मे अगले चार लाख तथा सम्मिलित परिवार के सम्बन्ध मे तीन लाख पर 1 प्रतिशत की दर से तथा उसके बाद अगले 5 लाख पर 2 प्रतिशत की दर से कर लगाया जाता है। कम्पनियो के सम्बन्ध मे बैंकिंग, बीमा तथा जहाजी कम्पनियो को इससे पूर्णत मुक्त कर दिया गया है। अन्य कम्पनियो के सम्बन्ध मे भी विभिन्न प्रकार की रियायतें दी गयी हैं। 1961-62 ई० मे इस कर से 8 26 करोड रुपये तथा 1965-66 ई० मे 24 करोड रुपये की आय प्राप्त हुई थी। 1972-73 ई० के संशोधित अनुमान के अनुसार इससे 43 करोड रुपये की आय हुई थी तथा 1975 76 ई० के बजट में इससे 43

प्रकार के करो को एकत्र करने मे किया जाता है। 1962-63 ई० मे इस मद मे कुल 23 47 करोड रुपये तथा 1963 64 ई० मे 23 67 करोड रुपये व्यय हुआ था जबकि 1973 74 ई० के बजट मे इस मद मे 63 5 करोड रुपये का अनुमान है। इससे स्पष्ट है कि इस मद मे व्यय भी निरन्तर बढता जा रहा है। इसे किसी प्रकार भी उचित नहीं कहा जा सकता। इसका प्रमुख कारण नये करो मे वृद्धि है, अत आवश्यकता इस बात की है कि इस व्यय मे यथासम्भव कमी की जाय।

सूद तथा ऋण का भुगतान (Payment of Interest and Loans) —ऋण पर भी भारत सरकार आजकल बहुत अधिक रकम खर्च करती है। सरकार विकास एव अन्य कार्यों के लिए देश एव विदेशो से कर्ज लेती है जिस पर व्याज चुकाना पडता है। द्वितीय महायुद्ध काल के समय से इन ऋणो का महत्व बहुत बढ रहा है जिससे सूद भी बढती जा रही है। आजकल पच वर्षीय योजनाओ के लिए सरकार बहुत अधिक ऋण ले रही है। 1967 68 ई० के सशोधित बजट के अनुसार इस मद मे 508 3 करोड रुपये व्यय किये गये जबकि 1961 62 ई० म इस मद में केवल 83·85 करोड ही व्यय हुआ था। 1972 73 इ० के सशोधित अनुमान के अनुसार 768 6 करोड रुपये व्यय हुआ तथा 1975 76 के बजट मे इस मद मे 1187 8 करोड रुपये व्यय करने की व्यवस्था है।

व्यय का एक महत्वपूर्ण शीर्षक प्रशासनिक सेवाएँ (Administrative Services) भी है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद मे इसमे निरन्तर वृद्धि होती जा रही है। 1962 63 ई० मे इस मद मे कुल 75 ? करोड रुपये व्यय हुआ था जबकि 1973 74 ई० के बजट मे इस मद मे प्राय 279 41 करोड रुपये व्यय की व्यवस्था है। इस मद मे भी कमी की बडी आवश्यकता है। कर जाँच समिति के अनुसार इस मद मे अपव्यय को दूर करने तथा मितव्ययिता को लाने की बडी आवश्यकता है। किन्तु वर्तमान समय म बढते हुए मूल्य-तल तथा प्रशासनिक जटिलता के कारण इसमें कमी की बहुत कम सम्भावना है। सार्वजनिक निर्माण (Public works) का कार्य राज्य। सरकारो के अधीन है, फिर भी केन्द्र को इस मद मे थोडा बहुत व्यय करना पडता है। 1973 74 ई० के बजट इस मद मे 46 96 करोड रुपये व्यय करने का आयोजन था।

इनके अतिरिक्त मुद्रा एव टकसाल पर भी भारत सरकार प्रति वर्ष कुछ रकम व्यय करती है।

राज्यों को अनुदान (Grants in aid to states) —केन्द्रीय सरकार प्रतिवर्ष राज्य सरकारो को विशेष कार्यों के लिए अनुदान भी प्रदान करती है। अनुदान विभिन्न उद्देश्यो मे दिये जाते है। इनका महत्व दिन प्रतिदिन बढता जा रहा है। चतुर्थ वित्त आयोग की सिफारिशो के अनुसार केन्द्र को आजकल बहुत अधिक रकम अनुदान के रूप से देनी पड रही है। 1972 73 ई० मे राज्यो तथा केन्द्र द्वारा शासित प्रदेशो को कुल 965 5 करोड रुपये अनुदान दिया गया तथा 1975 76 मे 1158 करोड रुपये के अनुदान की व्यवस्था है।

अन्त मे अप्रत्याशित व्यय (Extraordinary Items) है। इस प्रकार का व्यय अनियमित प्रकृति का होता है। उदाहरण के लिए, बाढ, दुर्भिक्ष एव अन्य प्रकार के सकट आदि को दूर करने का व्यय, इत्यादि। 1973 74 के बजट मे इस मद मे 10 6 करोड रुपये व्यय की व्यवस्था है।

राज्यों की वित्त व्यवस्था

(State Finances)

भारतीय सविधान के अनुसार देश का सगठन सघीय आधार पर किया गया है। अतएव इसमे प्रत्येक राज्य अथवा इकाई को कार्य सचालन की स्वतन्त्रता दी गयी है। राज्यो की आय के साधन तथा व्यय की मदे भी निश्चित की गयी है। निम्नांकित तालिका मे 1973-74 ई० के बिहार सरकार की आय एव व्यय को दिखलाया गया है जिससे कि राज्यों की आय एव व्यय का सामान्य रूप से अन्दाजा लगाया जा सकता है —

जर्मनी मे 28·6 प्रतिशत भाग, संयुक्त राज्य अमेरिका मे 25 9 प्रतिशत भाग करो के रूप मे प्राप्त होता है। इस प्रकार विकसित देशो की तुलना मे भारत म यह वास्तव मे बहुत ही कम है।

भारत मे करो से प्राप्त आय के निम्न होने के कई कारण है। इनमे सर्वाधिक प्रधान कारण बडे पैमाने पर करो की चोरी (Tax evasion) है। अतएव करो की वर्तमान दरो मे वृद्धि करने की अपेक्षा भारत तथा राज्य सरकारो द्वारा करो की वसूली के तरीको मे सुधार से भी अधिक लाभ की आशा की जा सकती है।

विशेष अध्ययन सूची

1. Budgets of the Govt of India and of Bihar.
2. India—1975
3. Eastern Economists Budget Number, 1975
4. Reserve Bank of India Bulletin June, 1974

———

11. "By generalising purchasing power money helps the consumer in obtaining equimarginal utilities from his expenditure and in presenting his demand in the form which suits him most" Explain this statement.
"क्रय शक्ति का सामान्यीकरण कर मुद्रा उपभोक्ता को अपने व्यय से सम-सीमांत उपयोगिता प्राप्त करने में सहायक होती है।" इस कथन की व्याख्या कीजिए।

12. "Thus money which is a source of so many blessings to mankind becomes, also, unless we control it, a source of peril and confusion". Discuss
"इस प्रकार मुद्रा, जो कई कारणों से मानव के लिए वरदान सिद्ध होता है नियन्त्रण के अभाव में, संकट एवं अशांति का कारण बन सकती है।" समझाइए।

13 Discuss the services which money performs for the producer and the consumer Can you dispense with money in a planned economy?
उत्पादक तथा उपभोक्ता के लिए मुद्रा जो कार्य करता है उसकी व्याख्या कीजिए। क्या आयोजित अर्थ-व्यवस्था में मुद्रा के बगैर कार्य किया जा सकता है?

14 "Money is an unmixed blessing". Discuss and explain the role of money in a planned economy
"मुद्रा एक अमिश्रित वरदान है।" समझाइए तथा आयोजित अर्थ-व्यवस्था में इसके महत्त्व की व्याख्या कीजिए।

15. Examine the fundamental function of money as the regulator of the entire economy How does the regulatory function in a free economy differ from that in a controlled economy?
सम्पूर्ण अर्थ व्यवस्था के संचालक के रूप में मुद्रा के मूलभूत कार्यों की व्याख्या कीजिए। मुद्रा के संचालन सम्बन्धी कार्य के सम्बन्ध में नियन्त्रित तथा अनियन्त्रित अर्थ-व्यवस्था में क्या अन्तर है?

16 "Social economy has always been and probably will remain, a monetary economy, Discuss Examine the significance of money in a capitalist as well as socialist economy
"सामाजिक अर्थ-व्यवस्था सदा मौद्रिक अर्थ-व्यवस्था रही है और सम्भवतः रहेगी।" विवेचना कीजिए। समाजवादी तथा पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था में मुद्रा के महत्त्व को स्पष्ट करें।

17. Discuss the circumstances in which money "becomes also, unless we control it, a source of peril and confusion"
उन परिस्थितियों का वर्णन कीजिए जिनमें मुद्रा, यदि नियन्त्रित नहीं की जाय, तो खतरा एवं अशांति का कारण बन जाता है।

18 "Money is the epitome of paradox It is at once the most and the lest important of economic goods' Elucidate and discuss the evils of money
"मुद्रा विचित्रताओं से भरी है। एक ही साथ, यह सर्वाधिक तथा सबसे कम महत्त्वपूर्ण है।" स्पष्ट कीजिए और मुद्रा के दोषों की व्याख्या कीजिए।

19 "The introduction of money has facilitated and promoted economic activities to a great extent' Discuss.
"मुद्रा के प्रयोग ने आर्थिक क्रियाओं को बहुत हद तक प्रोत्साहित किया है।" व्याख्या कीजिए।

20 "It is impossible for any complex economic system to function with any reasonable degree of efficiency without a price mechanism" Explain and discuss the role of money in regulating the economic system of a country

7. 'Loans create credit' Discuss the statement and point out the limitations on the powers of banks to create credit.
"ऋण जमा का सृजन करते हैं।" इस कथन की व्याख्या कीजिये तथा बैंकों के साख सृजन की शक्ति सीमाओं का वर्णन कीजिए।
8. 'Every loan creates a deposit' Discuss. Are there any limitations on the powers of banks to create credit?
"प्रत्येक ऋण जमा का सृजन करता है।" समझायें। बैंकों के जमा-सृजन की शक्ति की सीमाओं की व्याख्या कीजिए।
9. 'Loans are the children of deposits and deposits are the children of loans' Discuss this statement.
"जमा से ऋण का सृजन होता है और ऋण जमा का सृजन करते हैं।" इस कथन की व्याख्या कीजिए।
10. 'A commercial bank creates liabilities by acquiring assets.' Discuss.
"व्यावसायिक बैंक सम्पत्ति को ग्रहण करके दायित्व का सृजन करता है।" समझाइये।
11. "Banks are not merely purveyors of money but also in an important sense, manufacturers of money.' Explain the above statement Are there any limitations on the powers of banks to create credit?
"बैंक केवल मुद्रा के व्यापारी ही नहीं वरन् महत्वपूर्ण अर्थ में मुद्रा के उत्पादक भी होते हैं।" इस कथन की व्याख्या कीजिए। बैंक के जमा-सृजन की शक्ति की सीमाओं की व्याख्या कीजिए।
12. Discuss the methods o credit creation by a commercial bank. What are its guiding principles?
व्यावसायिक बैंकों द्वारा साख-सृजन के तरीकों की व्याख्या कीजिए। इस सम्बन्ध में इनके सिद्धांत क्या हैं?

मुद्रा का मूल्य एवं निर्देशांक

1. What do you understand by 'value of money'? How are changes in the value of money measured?
मुद्रा के मूल्य से आप क्या समझते हैं? मुद्रा के मूल्य में परिवर्तन को किस प्रकार से मापा जाता है?
2. What is the meaning of value of money? Explain how index numbers *measures the changes in the value* of money from time to time.
मुद्रा के मूल्य का क्या तात्पर्य है? स्पष्ट करें कि किस प्रकार सूचनांक समय-समय पर मुद्रा के मूल्य में हुए परिवर्तनों को मापते हैं?
3. How are variations in the value of money measured? What are the difficulties in construction of Index Numbers and how can they be removed?
मुद्रा के मूल्य के परिवर्तनों को कैसे मापा जाता है? निर्देशांकों के निर्माण की क्या कठिनाइयाँ हैं और वे किस प्रकार दूर की जा सकती हैं?
4. What is an Index Number? Examine the difficulties inherent in any attempt to measure the changes in the value of money.
निर्देशांक क्या है? मुद्रा के मूल्य में परिवर्तन को मापने की कठिनाइयों की व्याख्या कीजिये।
5. "Index numbers measure the changes in price-levels but the items included in the Index have different importance, therefore, the Index

5. Discuss the effects of changes in the value of money on different classes of the society.
मुद्रा के मूल्य में परिवर्तन से समाज के विभिन्न वर्गों पर प्रभाव की विवेचना कीजिये ।
6. 'Inflation is unjust and inequitable and deflation is inexpedient' (Keynes) Elucidate.
"मुद्रा-स्फीति अन्यायपूर्ण तथा विस्फीति अयुक्तिसंगत है ।" स्पष्ट कीजिये ।

मुद्रा का परिमाण सिद्धांत

1. Critically examine the Quantity Theory of Money.
मुद्रा के परिमाण सिद्धात की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिये ।
2. What do you mean by the demand for money ? What are the factors which influence the demand for money ?
मुद्रा की माग से आप क्या समझते हैं ? मुद्रा की माग को प्रभावित करनेवाले तत्त्वो की व्याख्या कीजिए ।
3. What is meant by the velocity of circulation of money ? Discuss the factors that determine it.
मुद्रा के भ्रमण-प्रवाह से आप क्या समझते हैं ? इसको प्रभावित करने वाले तत्त्वों की व्याख्या कीजिये ।
4. Examine critically the Quantity Theory of Money.
मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिये ।
5. Explain the Quantity Theory of Money. Can this theory be helpful in dealing with trade cycles ?
मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त की व्याख्या कीजिये । क्या यह सिद्धान्त व्यापार-चक्र की समस्याओ के समाधान में सहायक होगा ?
6. "The value of money like the value of anything else is mainly a question of demand and supply." Elucidate.
"अन्य वस्तुओ के मूल्य की तरह मुद्रा का मूल्य भी मुख्यत: माग एवं पूर्ति पर निर्भर करता है ।" स्पष्ट कीजिए ।
7. "The modern tendency in economic thinking is to discard the old notion of the quantity of money as a determinate of the value of money." Explain and discuss the shortcomings of the Quantity Theory of Money.
"आर्थिक विचारधारा की वर्त्तमान प्रवृत्ति मुद्रा के परिमाण को मुद्रा के मूल्य के निर्धारक तत्त्व के रूप मे समझने की प्राचीन विचारधारा के परित्याग की है ।" व्याख्या कीजिये तथा मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त के दोषो को बतलाइये ।
8. "The Quantity Theory of Money is right in principles but defective in details." Discuss.
"मुद्रा का परिमाण सिद्धात सिद्धान्ततः ठीक है, किन्तु व्यवहार में दोषपूर्ण है ।" व्याख्या कीजिए ।
9. Explain the Cambridge Version of the Quantity Theory of Money. How does it differ from the Fisher's Version ?
मुद्रा के परिमाण सिद्धात के कैम्ब्रिज रूप की व्याख्या कीजिए । फिशर की व्याख्या से यह किस प्रकार भिन्न है ?
10. "The Quantity Theory of Money can at best explain the level and not the ebb and flow of the trade cycle." Explain.

6 "The Quantity Theory of money explains as it were the average level of the sea, the Saving and investment Theory explains the violence of the tide" Discuss

"मुद्रा परिमाण सिद्धान्त समुद्र के सामान्य-तल को मापता है तथा बचत एव विनियोग का सिद्धान्त उसके ज्वार भाट के वेग को मापता है।" व्याख्या कीजिए।

7 "The Quantity Theory of Money can at best explain the level and not the ebb and flow of tides" Explain

"मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त अधिक से अधिक सामान्य तल को माप सकता है, लहरो के ज्वार भाट को नही।" व्याख्या कीजिये।

व्यापार-चक्र

1 Explain the nature of Trade Cycle Do you agree with the view that trade cycle is a monetary phenomena

व्यापार-चक्र की प्रकृति की व्याख्या कीजिये। क्या आप इस बात से सहमत हैं कि व्यापार-चक्र एक विशुद्ध मौद्रिक प्रवृत्ति है। व्याख्या कीजिए ?

2 "Trade Cycle is a purely Monetary phenomenon." Discuss

"व्यापार चक्र एक विशुद्ध मौद्रिक प्रवृत्ति है।' समझाइये।

व्यावसायिक बैंको का संगठन

1 Discuss the merits of Branch Banking versus Unit Banking with special reference to Indian conditions

भारतीय परिस्थितियो को ध्यान मे रखते हुए शाखा बैंकिग तथा इकाई बैंकिग के अपने-अपने गुणो की व्याख्या कीजिये।

2 "The debate over unit and branch banking is really a part of those large controversies which are not solely economic but are for a large part political and sociological, over large scale business verssus small scale business, or over centralisation versus decentralisation Discuss

"इकाई एव शाखा बैंकिग के सम्बन्ध मे वाद विवाद वस्तुत इस व्यापक वाद विवाद, जो केवल आर्थिक नही होकर राजनीतिक एव सामाजिक है—बडे पैमाने के व्यवसाय बनाम छोटे पैमाने के व्यवसाय या केन्द्रीयकरण व नाम विकेन्द्रीयकरण का एक अग है।" समझाइये।

3 Compare the relative merits and demerits of Branch Banking and Unit Banking Systems Which of the two will be more suitable for India ?

शाखा एव इकाई बैंकिग-व्यवस्था के गुण एव दोषो की व्याख्या कीजिए। इन दोनो में से कौन भारत के लिए अधिक उपयुक्त है ?

4. Discuss the relative merits and demerits of branch and unit Banking systems

इकाई एव शाखा बैंकिग पद्धति के गुण एव दोषो की व्याख्या कीजिए।

5 Describe the advantages and disadvantages of unit and branch banking

इकाई एव शाखा बैंकिग के लाभ एव दोषो की विवेचना कीजिए।

6 Discuss in brief the organisation of Comnmercial Banks in England, U S A and India

इगलैंड, सयुक्त-राज्य अमेरिका तथा भारत की बैंकिग प्रणाली के सगठन की संक्षिप्त व्याख्या कीजिए।

7. Indicate the importance of clearing house system in modern banking

व्यावसायिक बैंक अपने साधनो के वितरण मे किन किन सिद्धातो का अनुगमन करता है ? इस सम्बन्ध म विन का क्या महत्त्व है ?

10 "The success of commercial banking lies in proper reconciliation of the opposite principles of liquidity and profitability in the distribution of its assets." Elucidate

"सफल बैंक व्यवसाय का रहस्य इस बात मे है कि बैंक किस प्रकार अपने साधनो की तरलता तथा लाभदायकता के दो विपरीत तत्वो मे समन्वय स्थापित करता है।" स्पष्ट कीजिए।

11 "A constant tug of war between the competing aims of liquidity and profitability summarises the functions of a modern commercial bank" Discuss

"तरलता तथा लाभदायकता के दो प्रतियोगी उद्देश्यो के बीच लगातार खीचा-तानी ही आधुनिक व्यावसायिक बैंक के व्यवसाय का सार है।" स्पष्ट कीजिए।

12 "The secret of successful banking business is to distribute resources between various forms of assets in s ch a way as to get a sound bala nce between the opposite considerations of liquidity and profitability" Discuss

"बैंकिंग व्यवसाय की सफलता का रहस्य अपने साधनो की विभिन्न प्रकार की सम्पत्ति के बीच इस प्रकार के वितरण म है जिससे तरलता तथा लाभदायकता के दो विपरीत तत्वो के बीच समन्वय स्थापित किया जा सके।" स्पष्ट कीजिए।

13 Discuss the role of treasury bills in the distribution of commercial bank's assets in the inter war period Would you advocate larger investments in treasury bills by commercial banks in India ?

दोनो युद्धो के बीच वाले समय मे व्यावसायिक बैंक के साधनो के वितरणमे ट्रेजरी बिलो के महत्त्व की व्याख्या कीजिए। क्या आप भारतीय बैंको द्वारा ट्रेजरी बिल मे अधिक विनियोग के पक्ष मे है ?

साख-पत्र

1 "Like all useful and delicate instruments credit is dangerous when abused" Discuss

"प्रत्येक लाभदायक साधन की तरह, साख के दुरुपयोग करने पर यह भी खतरनाक हो जाता है।" स्पष्ट कीजिए।

2 Discuss the main features of different types of credit instruments

विभिन्न प्रकार के साख-पत्रो की प्रधान विशेषताओ की व्याख्या कीजिए।

मुद्रा बाजार

1. What is the utility of discount market ? Can you visualize a discount market in India of the type of London Discount Market ?

बट्टा बाजार की क्या उपयोगिता है ? क्या आप लन्दन बट्टा बाजार की तरह भारत मे भी बट्टा बाजार के विकास को सभव मानते हैं ?

2 Examine the main features of the English Money Market Discuss the importance of discount houses in it

इगलैंड के मुद्रा बाजार की प्रमुख विशेषताओ की व्याख्या कीजिए तथा इसमे बट्टा-गृहो के महत्त्व का वर्णन कीजिए।

3 Compare the London Money Market with the New York Money Market What are the reasons of the supremacy of the latter after the first World War ?

6. Describe the different methods of note-issue. Do you think that the present system of note-issue in India is helpful in developing the economy of the country?

   पत्र-मुद्रा जारी करने के विभिन्न तरीकों की व्याख्या कीजिए। क्या आप यह सोचते हैं कि भारत में पत्र-मुद्रा जारी करने की वर्तमान रीति देश की अर्थ-व्यवस्था को विकसित करने में सहायक होगी?

7. Describe the various systems of note-issue. Which of them do you consider to be the best and why?

   पत्र-मुद्रा जारी करने के विभिन्न तरीकों की व्याख्या कीजिये। इनमे से आप कौन तरीका आप सबमे उत्तम समझते हैं और क्यो?

8. Discuss the main functions of a Central Bank with special reference to the Reserve Bank of India. In which ways Central Bank can assist in developing the economy of an under-developed conntry?

   रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया को ध्यान मे रखते हुए केन्द्रीय बैंक के प्रमुख कार्यों की व्याख्या कीजिए। किसी अद्ध-विकसित देश की अर्थ-व्यवस्था को विकसित करने मे केन्द्रीय बैंक किस प्रकार से सहायक सिद्ध हो सकता है?

9. Discuss the guiding principles of note-issue. Examine the various systems of note-issues with reference of India.

   पत्र-मुद्रा जारी करने के महत्वपूर्ण सिद्धातो की व्याख्या कीजिए। भारत के सन्दर्भ मे पत्र-मुद्रा जारी करने के तरीकों की व्याख्या कीजिए।

10. Explain the implications of the role of Central Bank as the lender of the last resort. What handicaps has the Reserve Bank of India faced in performing this role?

    अन्तिम क्षण के सहायक के रूप मे केन्द्रीय बैंक के कार्य के आशय की व्याख्या कीजिए। इस कार्य के सम्पादन मे रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया किन-किन कठिनाइयो का अनुभव करता है?

11. Describe the important functions of Central Bank.

    केन्द्रीय बैंक के महत्वपूर्ण कार्यों की व्याख्या कीजिए।

12. Examine the functions of the Central Bank of a country with special reference to the Bank of England or the Reserve Bank of India.

    बैंक ऑफ इंगलैंड अथवा रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया को ध्यान मे रखते हुए केन्द्रीय बैंक के कार्यों की समीक्षा कीजिए।

13. Are you in favour of nationalisation of Central Bank? Give reasons for your arguments.

    क्या आप केन्द्रीय बैंक के राष्ट्रीयकरण के पक्ष मे है? अपने मत के कारण बताइये।

साख-नियन्त्रण

1. Discuss the different objectives of credit control. What are the conditions essential for the success of the policy of credit control?

   साख-नियन्त्रण के विभिन्न उद्देश्यो को बतलाइये। साख-नियन्त्रण की नीति की सफलता के लिए आवश्यक शर्तें क्या हैं?

2. Examine the different objectives of Credit Control and discuss the significance of qualitative control in modern monetary management.

   साख-नियन्त्रण के विभिन्न उद्देश्यो की समीक्षा कीजिए तथा आधुनिक मौद्रिक व्यवस्था मे गुणात्मक नियन्त्रण के महत्त्व को बताइये।

14. Discuss the importance of variations in the Cash Reserve Ratio as an instrument of credit control. Is it an effective instrument of credit-control ?
साख-नियन्त्रण के साधन के रूप में नकद जमा अनुपात में परिवर्तन के महत्व की व्याख्या कीजिए। क्या यह साख-नियन्त्रण का महत्त्वपूर्ण साधन है ?
15. Explain the significance of credit-control in modern monetary management. How do you account for the recent trends towards selective credit control and away from quantitative control ?
आधुनिक मौद्रिक व्यवस्था में साख-नियन्त्रण के महत्व की व्याख्या कीजिए। आजकल परिमाणात्मक नियन्त्रण से दूर तथा गुणात्मक नियन्त्रण की ओर बढ़ने की प्रवृत्ति के लिए आप क्या कारण दे सकते है ?
16. "Not only quantitative but also qualitative control of Bank credit is necessary for the success of a policy of national planning." Do you agree ?
"आर्थिक नियोजन की नीति की सफलता के लिए बैंक-साख का केवल परिमाणात्मक नियंत्रण ही नहीं, वरन् गुणात्मक नियन्त्रण भी अनिवार्य है।" क्या आप इस विचार से सहमत है ?
17. What do you mean by selective credit control ? How has this control been exercised by the Reserve Bank of India in recent times ?
चयनात्मक साख-नियन्त्रण से आप क्या समझते हैं ? रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया आजकल गुणात्मक साख-नियन्त्रण की नीति को किस प्रकार से प्रयोग मे ला रहा है ?

रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया

1. Discuss the main functions of the Reserve Bank of India. In what ways has the Reserve Bank assisted in the development of the Indian economy ?
रिजर्व बैंक ऑफ इंडिया के प्रमुख कार्यों की व्याख्या कीजिए। किस प्रकार रिजर्व बैंक ने भारत के आर्थिक विकास मे सहायता प्रदान की है ?
2. Examine the functions of the Reserve Bank of India.
रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया के कार्यों की व्याख्या कीजिये।
3. Examine the role of the Reserve Bank of India in the Indian economy. How far it has helped in developing rural finance ?
भारतीय अर्थ-व्यवस्था मे रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया के कार्यों की समीक्षा कीजिए। ग्रामीण साख के विकास में यह कहाँ तक सहायक सिद्ध हुआ है ?
4. Give an account of the working of the Reserve Bank of India. How far has it helped in providing agricultural credit ?
रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया की कार्य-प्रणाली की व्याख्या कीजिये। कृषि-साख की पूर्ति मे यह कहाँ तक सहायक सिद्ध हुआ है ?
5. "In India the usual methods of credit control are not operative in an effective manner." Discuss.
"भारत मे साख-नियन्त्रण के सामान्य तरीके प्रभावपूर्ण रूप मे क्रियाशील नहीं हुए हैं।" व्याख्या कीजिये।
6. Discuss the achievements of the Reserve Bank of India in organising and expanding agricultural credit in the country.
देश मे कृषि-साख के संगठन तथा विस्तार के क्षेत्र मे रिजर्व बैंक की उपलब्धियों की व्याख्या कीजिये।

4 What in your opinion should be the objective of monetary policy ? Do you think that money can be neutral ?

आपकी राय मे मौद्रिक नीति का क्या उद्देश्य होना चाहिए ? क्या मुद्रा तटस्थ हो सकती है ?

5 Describe in brief the objectives and scope of monetary policy in a country. How far in your opinion is it successful in India ?

किसी देश की मौद्रिक नीति के उद्देश्य तथा क्षेत्र की संक्षिप्त व्याख्या करें। आपकी राय में भारत मे यह कहाँ तक सफलीभूत हो सकती है ?

6 Mention the main objectives of m netary policy ? How far in your opinion, is the Reserve Bank of India following a suitable monetary policy ? Can you suggest improvements in it ?

मौद्रिक नीति के प्रमुख उद्देश्यो की व्याख्या कीजिए। आपकी राय मे रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया कहाँ तक उचित नीति का अनुकरण कर रहा है ? क्या आप इसमे सुधार के लिए सुझाव दे सकते हैं ?

7. "The proper aim of a monetary policy is neither price stability nor neutrality of money, but optimum utilization of resources " Discuss

"मौद्रिक नीति का प्रधान उद्देश्य न तो मूल्य तल का स्थायित्व है और न मुद्रा की तटस्थता ही है, वरन साधनो का आदर्शतम उपयोग है। व्याख्या कीजिये।

सस्ती मुद्रा नीति

1. "Low rates of interest have come to stay despite the shortcomings of the Cheap Money Policy " How do you explain this phenomenon

"सस्ती मुद्रा नीति की बुराइयो के बावजूद निम्न ब्याज की दर एक वास्तविकता हो गयी है।" आप इस प्रवृत्ति की व्याख्या किस प्रकार कर सकते है ?

2 What is meant by cheap money policy ? Under what circumstances its adoption is profitable ?

सस्ती मुद्रा नीति का क्या तात्पर्य है ? किन-किन परिस्थितियो मे इसे अपनाना लाभदायक सिद्ध होता है ?

मुद्रा-स्फीति एवं मुद्रा-सकुचन कारण एवं निदान

1 What do you mean by inflation and deflation ? Discuss their causes

मुद्रा-स्फीति एव विस्फीति से आप क्या समझते है ? इनके कारणो की व्याख्या कीजिये।

2 Discuss the different methods that can be employed to cure inflation *Examine the importance of monetary policy in this connection*

मुद्रा-स्फीति को दूर करने के लिए अपनाय जा सकने वाले उपायो की व्याख्या कीजिए। इस सम्बन्ध मे मौद्रिक नीति के महत्त्व को बतलाइये।

3 "Exclusive reliance upon monetary policy as the means to cope with inflation is a dangerously one-sided weapon A many sided attack on the problem is needed " Discuss

"मुद्रा-स्फीति को दूर करने लिए एक मात्र मौद्रिक नीति पर निर्भर करना बिल्कुल खतरनाक है। इस समस्या पर विभिन्न तरीके से आक्रमण अनिवार्य है।' स्पष्ट कीजिए।

4. Account for the inflationary pressure in a developing economy What measures can be taken to counteract it ?

विकासशील अर्थ-व्यवस्था मे स्फीतिजनक दबावो के कारणो की व्याख्या कीजिये। इसका निदान कैसे हो सकता है ?

5 What do you understand by inflation and deflation ? Discuss their effects upon production, price level and distribution.

"स्वर्ण-मान के अलग-अलग रूप हैं।" व्याख्या कीजिये। स्वर्ण-मान के लाभ अथवा हानि की व्याख्या कीजियें।

12. Describe the conditions necessary for the successful functioning of the Gold Standard. What were the causes of the general break-down of the Gold Standard ?

    स्वर्ण-प्रमाप के सफल संचालन की शर्तों की व्याख्या कीजिये। स्वर्ण-मान की समाप्ति के थाम कारण क्या थे ?

13. Discuss and explain the reasons for the break-down of the Gold Exchange Standard in India.

    भारत मे स्वर्ण-विनिमय-मान की समाप्ति के कारणों की व्याख्या कीजिये।

14. Explain the conditions for the successful functioning of the Gold Standard. Why did it break-down during the Inter-war period ?
    स्वर्ण-मान के सफल सचालन के लिए आवश्यक शर्तों की व्याख्या कीजिये। दोनो युद्धो के बीच वाले समय मे इसके समाप्त होने के कारणो की व्याख्या कीजिये।

15. What do you understand by the Gold Standard ? Give an account for its breakdown in the inter-war period.
    स्वर्ण-प्रमाप से क्या समझते हैं ? दोनो युद्धो के बीच वाले समय मे इसकी समाप्ति के कारणो की व्याख्या कीजिए।

16. "The gold standard is a fair weather craft." Examine the statement and discuss the various factors that led to the breakdown of the gold standard.
    "स्वर्ण-मान केवल अनुकूल परिस्थितियो का मान है।" इस कथन की विवेचना कीजिए तथा स्वर्ण-मान के पतन के विभिन्न कारणो की व्याख्या कीजिए।

17. Describe the functions of the Gold Standard. What is meant by the golden rule of the gold Standard ?
    स्वर्ण-मान के कार्यों की व्याख्या कीजिये। स्वर्ण-मान के सुनहले नियम का क्या तात्पर्य है ?

18. Discuss the limitations of the gold Standard in the context of an expanding economy. Would you advocate its restoration to day ?

    विकासशील अर्थ-व्यवस्था के संदर्भ मे स्वर्ण-प्रमाप की सीमाओ की व्याख्या कीजिये। क्या आजकल इसे पुन अपनाने का आप सुझाव दे सकते हैं ?

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष तथा अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण विकासार्थ बैंक

1. "The International Monetary Fund and the International Bank for Reconstruction and Development are complementary institutions." Discuss and show how far they have been able to achieve the objectives for which they were meant.
   "अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष तथा पुनर्निर्माण एवं विकासार्थ बैंक एक दूसरे के पूरक हैं।" स्पष्ट कीजिए तथा यह बतलाइयें कि ये कहां तक अपने उद्देश्यो की पूर्ति मे सफल हुए हैं।

2. Discuss the objects of the International Monetary Fund. How does it differ from the International gold Standard ?

   अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के उद्देश्यो की व्याख्या कीजिये। अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्ण-मान से यह किस प्रकार यह भिन्न है ?

3. Discuss the functions of the World Bank and the International Monetary Fund.

   विश्व-बैंक अथवा अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष के कार्यों की व्याख्या कीजिये।

सस्थाओ के उद्देश्यो की व्याख्या कीजिये तथा यह बतलाइये कि भारत इनसे कहाँ तक लाभान्वित हुआ है ?

11. "Gold standard has been abolished, but gold still occupies an important place in the management of the International Monetary Fund" Discuss

"स्वर्ण प्रमाप समाप्त कर दिया गया, परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के व्यवहार में स्वर्ण का अभी भी महत्वपूर्ण स्थान है।" इस कथन की व्याख्या कीजिये।

12 Examine briefly the organisation and functions of the International Monetary Fund

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के कार्यों तथा सगठन की सक्षिप्त व्याख्या कीजिये।

13 Discuss the following—(i) The Funds plan is the exact opposite of the Gold Standard (ii) The fund plans is essentially a Gold Standard plan

निम्नांकित कथन का व्याख्या कीजिए—(क) "कोष की योजना स्वर्ण मान के ठीक विपरीत है।" (ख) "कोष की योजना वस्तुत स्वण मान की योजना है।"

14 Can the International Monetary Fund be described as an International Central Bank ? How has its existence affected the Monetary policies of member countries ?

क्या अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष को अन्तर्राष्ट्रीय केन्द्रीय बैंक कहा जा सकता है ? इसके अस्तित्व ने सदस्य राष्ट्रो की मौद्रिक नीति को कहाँ तक प्रभावित किया है ?

15 Discuss the objectives and functions of the International Monetary Fund How does it differ from International Gold Standard ?

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के उद्देश्यो तथा कार्यों की व्याख्या कीजिए। अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्ण-मान से यह किस प्रकार भिन्न है ?

16 Discuss the principal objectives of the International Bank for Reconstruction and Development Has the working of the Bank been able to achieve these objectives ?

अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण एव विकासार्थ बैंक के प्रधान उद्देश्यो की व्याख्या कीजिए। क्या अपनी कार्यवाही मे बैंक इन उद्देश्यो की प्राप्ति मे सफल हो पाता है ?

17 What are the purposes of the International Bank for Reconstruction and Development ? How far has the bank assisted in development of backward countries ?

अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण एव विकासार्थ बैंक के क्या उद्देश्य हैं ? पिछड़े देशो के विकास मे बैंक ने कहाँ तक सहायता प्रदान की है ?

18 What are the functions of the International Bank for Reconstruction and Development ? How far has this bank helped in the development of the backward countries ?

अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण तथा विकासार्थ बैंक के क्या कार्य है ? पिछड़े देशो के विकास मे इस बैंक ने कहाँ तक सहायता प्रदान की है ?

19 Explain the aims and objects of the International Bank for Reconstruction and Development Has India been benefitted by it ?

पुनर्निर्माण तथा विकास सम्बन्धी बैंक के उद्देश्यो एव लक्ष्यो की व्याख्या कीजिए। क्या भारत इससे लाभान्वित हुआ है ?

20 How does the International Bank of Reconstruction and Development function ? Describe the aid it has secured for Indian projects

अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण एव विकासार्थ बैंक किस प्रकार कार्य करता है ? भारतीय योजनाओ के लिए इसके द्वारा प्रदत्त सहायता की व्याख्या कीजिए।

विनिमय-नियंत्रण

1. Discuss the objectives of exchange control and the methods adopted by various countries in recent years
   विनिमय नियंत्रण के उद्देश्यों तथा हाल के वर्षों में विभिन्न देशों द्वारा अपनाये गये विनिमय-नियंत्रण के भिन्न भिन्न तरीकों की व्याख्या कीजिए।
2. What is the need for exchange control? Examine its objectives and mention the measures that are adopted for this purpose
   विनिमय-नियंत्रण की क्या आवश्यकता है? इसके उद्देश्यों की व्याख्या कीजिए तथा इसके लिए अपनाये गये उपायों को बतलाइये।
3. Describe the various methods of exchange control adopted by modern Governments
   आधुनिक सरकारों द्वारा अपनाये गये विनिमय नियंत्रण के विभिन्न उपायों की व्याख्या कीजिये।
4. What do you mean by exchange control? Discuss the various methods of exchange control adopted by the Govt of India at the present moment
   विनिमय नियंत्रण से आप क्या समझते हैं? वर्तमान समय में भारत सरकार द्वारा अपनाये गये विनिमय नियंत्रण के विभिन्न प्रकार के उपायों की व्याख्या कीजिए।
5. Discuss the need for exchange control How far in your opinion is Government interference in exchange control desirable? Mention some of the important measures adopted by the Govt towards this end in recent years
   विनिमय-नियंत्रण की आवश्यकता का वर्णन कीजिए। विनिमय नियंत्रण के रूप में सरकारी हस्तक्षेप आपकी राय में कहाँ तक उचित है? इस उद्देश्य से सरकार द्वारा अपनाये गये कुछ उपायों की व्याख्या कीजिए।
6. What is exchange control? Discuss its merits and demerits
   विनिमय-नियंत्रण क्या है? इसके गुण एवं अवगुण की व्याख्या कीजिए।
7. "A Government may intervene in the foreign exchange market either to hold the value of its currency up or to hold it down" Explain this statement in the light of recent experiences
   "सरकार विदेशी विनिमय बाजार में अपनी मुद्रा के मूल्य को अधिक या कम करने के लिए हस्तक्षेप कर सकती है।" आधुनिक अनुभवों के आधार पर इस कथन की व्याख्या कीजिए।
8. What do you understand by Exchange Control? Discuss its methods
   विनिमय नियंत्रण से आप क्या समझते हैं? इसके तरीकों की व्याख्या कीजिए।
9. "The most important reason for controlling the exchange market is to make the rate of exchange different from what it would be without control" Discuss this statement What should be the object of exchange management?
   "विनिमय बाजार को नियंत्रित करने का सबसे बड़ा कारण विदेशी विनिमय दर को उस दर से भिन्न बनाना है जो यह बिना नियंत्रण के होगा।" इस कथन की व्याख्या कीजिये। विनिमय-व्यवस्था का क्या उद्देश्य होना चाहिए?

भारतीय चलन का इतिहास

1. Discuss the circumstances which led to the devaluation of the Indian Rupee in Sept 1949 Discuss its consequences
   सितम्बर, 1949 ई० में भारतीय रुपये के अवमूल्यन के लिए उत्तरदायी परिस्थितियों की व्याख्या कीजिए। इसके परिणामों को बतलाइये।
2. Discuss the main changes which the Second World War brought about in the currency and exchange system in India

देश में कृषि-साख-व्यवस्था के संगठन तथा विस्तार में रिजर्व बैंक के कार्यों की व्याख्या कीजिये।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार

1. Why should there be a separate theory of international trade ? What are the advantages of participating in international trade ?
   अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिए एक पृथक् सिद्धान्त की क्यों आवश्यकता है ? अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में भाग लेने के क्या लाभ हैं ?
2. Why is a seperate theory of international trade considered necessary ? Explain the conditions under which international trade is possible ?
   अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिए पृथक् सिद्धान्त क्यों आवश्यक है ? अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार जिन परिस्थितियों मे सम्भव है उनकी व्याख्या कीजिये।
3. What are the gains from international trade ? How are they shared among the differenct participating countries ?
   अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे क्या लाभ हैं ? भाग लेनेवाले विभिन्न देशों में यह किस प्रकार वितरित किया जाता है ?
4. What constitutes the gains from international trade ? How is the gain shared by different countries participating in the world trade ?
   अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के क्या लाभ हैं ? विश्व व्यापार मे भाग लेनेवाले विभिन्न देशों के बीच यह किस प्रकार से वितरित किया जाता है।
5. Explain the following—
   (a) Why does a country import a commodity that it can produce more cheaply ?
   (b) Why does a country produce a commodity which it also imports ?
   निम्नांकित कथन की व्याख्या कीजिये—(क) कोई देश उस वस्तु को जिसे वह अधिक सस्ती दर मे उत्पन्न कर सकता है क्यों आयात करता है ?. (ख) कोई देश उस वस्तु का आयात क्यों करता है, जिसे वह स्वयं भी उत्पन्न करता है ?
6. Explain the gains from international trade, How are these gains shared ?
   अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लाभों की व्याख्या कीजिये। इन लाभों का वितरण किस प्रकार होता है ?
7. "The principle of Comparative Costs gives us a fundamental explanation of why international trade takes place." Discuss.
   "तुलनात्मक लागत का सिद्धान्त इस बात की व्याख्या करता है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार क्यों होता है।" विवेचना कीजिये।
8. Examine critically the Principle of Comparative Costs as an explanation in international trade
   अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की व्याख्या के रूप मे तुलनात्मक लागत के सिद्धान्त की व्याख्या कीजिये।
9. "Each country will produce those articles in the production of which its superiority is most marked or its inferiority is least marked." Explain and examine the Comparative Cost Theory of International Trade.
   "प्रत्येक देश उन्ही वस्तुओ का उत्पादन करेगा जिनके उत्पादन मे उसकी श्रेष्ठता अत्यधिक है अथवा निम्नता सबसे कम है।" व्याख्या कीजिये तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के तुलनात्मक लागत के सिद्धान्त को बतलाइये।

4. Describe the different methods of correcting an adverse Balance of Payments.
   प्रतिकूल भुगतान-संतुलन को ठीक करने के विभिन्न तरीकों की व्याख्या कीजिये।
5. Explain the term 'balance of payments'. Discuss the factors that cause disequilibrium in the balance of payments of a country.
   'भुगतान-संतुलन' शब्द की व्याख्या कीजिए। किसी देश के भुगतान-संतुलन में असंतुलन उत्पन्न करनेवाले तत्वों की व्याख्या कीजिये।
6. How can there be a favourable or an adverse balance of payments? What are the various methods by which an adverse balance of payment can be corrected?
   अनुकूल अथवा प्रतिकूल भुगतान संतुलन किस प्रकार हो सकता है? प्रतिकूल भुगतान-संतुलन को ठीक करने के विभिन्न तरीके कौन-कौन हैं?
7. Distinguish between Balance of trade & Balance of payments Explain the items constituting the balance of payments of a country.
   व्यापाराधिक्य तथा भुगतान संतुलन मे अन्तर कीजिये। किसी देश के भुगतान-संतुलन की विभिन्न मदो की व्याख्या कीजिये।
8. Analyse the dictum that "Exports pay for Imports." How should this notion affect the tariff policy?
   इस कथन—"निर्यात आयातों का भुगतान करते हैं" की व्याख्या कीजिये। यह धारणा कर-नीति को किस प्रकार से प्रभावित करती है?
9. "Balance of Payments must balance." How can then there be a favourable or an adverse balance of payments
   "भुगतान-संतुलन सदा संतुलित रहता है।" तब अनुकूल या प्रतिकूल भुगतान संतुलन क्यों होता है? प्रतिकूल भुगतान संतुलन को आप किस प्रकार ठीक कीजिएगा?
10. What is meant by Balance of Payments? Describe the various methods by which an adverse balance of Payment can be corrected.
    भुगतान-संतुलन का क्या तात्पर्य है? उन विभिन्न तरीको, जिनके द्वारा भुगतान संतुलन की विपक्षता को दूर किया जाता है, की व्याख्या कीजिये।

स्वतन्त्र व्यापार बनाम संरक्षण

1. Explain the arguments for free trade and protection.
   स्वतन्त्र व्यापार एवं संरक्षण के पक्ष मे तर्कों की विवेचना कीजिए।
2. "Infant industry protection is particularly suited to a young and *rising* nation, a developed industrial economy should provide an environment in which its infant can thrive without artificial respiration." Bring out the implication of the Infant industry argument in the light of the above statement.
   "शिशु-उद्योग-सम्बन्धी तर्क नये तथा विकासोन्मुख देश के लिए उत्तम है, एक विकसित औद्योगिक व्यवस्था वाले देश को ऐसे वातावरण का सृजन करना चाहिए जिसमे कृत्रिम सहायता के बगैर ही शिशु विकसित हो सके।" इस कथन के संदर्भ मे शिशु उद्योग-सम्बन्धी तर्क के आशय का वर्णन कीजिये।
3. "One thing that protection can never do is to cure unemployment." Discuss.
   "एक बात जिसे संरक्षण कभी ठीक नहीं कर सकता है वह बेरोजगारी है।" विवेचना कीजिये।

3. Account carefully for the changing emphasis on Public Expenditure in modern states. Are all modern states moving towards socialism ?
आधुनिक राज्यों मे सार्वजनिक व्यय के बढते हुए महत्त्व के कारणो की व्याख्या कीजिए। क्या सभी आधुनिक राज्य समाजवाद की ओर अग्रसर हो रहे हैं ?
4. How do you justify a given increase in Public Expenditure ? What factors have led to an increase in public expenditure in recent years ?
सार्वजनिक व्यय मे वृद्धि को आप किस प्रकार उचित ठहरा सक्ते है ? आधुनिक समय मे सार्वजनिक व्यय मे किन-किन कारणो से वृद्धि हुई है ?
5. *Discuss the fact that the Goverament should spend as much as it possibly* can. How will this increased Public Expenditure affect the individual and the nation ?
"सरकार को, जितना अधिक व्यय कर सकती है, व्यय करना चाहिये।" इस विचार की व्याख्या कीजिए। यह बढा हुआ राजकीय व्यय किस प्रकार व्यक्ति तथा राष्ट्र को प्रभावित कर सकता है ?
6. Discuss the main effects of Public Expenditure on Production and Distribution of wealth in a community.
समाज मे धन के उत्पादन तथा विवरण पर सार्वजनिक व्यय के प्रभावो की व्याख्या कीजिये।

सार्वजनिक आय

1. Discuss the characteristic features of the main sources of Public Revenue with special reference to India.
भारत के संदर्भ मे सार्वजनिक आय के विभिन्न साधनो की व्याख्या कीजिये।
2. Write a short note on the classification of public income.
सार्वजनिक आय के वर्गीकरण पर एक संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।

करारोपण के सिद्धान्त

1. "A single tax on income not only satisfies all the principles of taxation but serves all the purposes of the state." Examine critically this statement.
"आय पर अकेला कर न तो केवल करारोपण के सिद्धान्त को संतुष्टि करता है, वरन् राज्य के सभी कार्यों की भी पूर्ति करता है।" इस कथन की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिये।
2. Examine the ability to pay theory of taxation. How will you measure the ability of tax payers to-pay ?
करारोपण के कर-दान योग्यता सिद्धान्त की व्याख्या कीजिये। करदाताओ की कर-दान योग्यता को आप कैसे माप सकते हैं ?
3. Explain the characteristics of a good tax-system Why is the policy of *progressive taxation gaining popularity ?*
एक अच्छी कर प्रणाली के गुणो को व्याख्या कीजिए। प्रगतिशील करारोपण की नीति आज-कल अधिक लोकप्रिय क्यों हो रही है ?
4. Examine critically the ability to pay theory of taxation.
कर-दान योग्यता के सिद्धान्त की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए।
5. Examine the concept of taxable capacity. How far can it be measured ?
कर-दान क्षमता की धारण की व्याख्या कीजिए। इसे कहां तक मापा जा सकता है ?
6. What do you mean by equity in taxation ? Discuss the various methods by which it is realised in modern states.
करारोपण में समानता का क्या आशय है ? आधुनिक राज्यो मे इसे प्राप्त करने के विभिन्न उपायों की व्याख्या कीजिए।

करों का वर्गीकरण

1. Distinguish between proportional and progressive taxation. What are the arguments in favour of progressive taxation ?

कराघात एवं कर के भार मे अन्तर कीजिये। (क) आय कर तथा (ख) आयात-निर्यात करो के भार की समस्या की व्याख्या कीजिए।

6. Distingush between incidence and effects of taxation with reference to Income Tax or Import duties.
आय कर अथवा आयात कर के संदर्भ मे कर के भार एव कर के प्रभाव मे अन्तर की व्याख्या कीजिए।

7. Distinguish between the effects and incidence of a tax. Examine the incidence of the following taxes :—Sales-tax, Jute Export Duty and Inheritance Tax.
कर के प्रभाव तथा कर के भार मे अन्तर की व्याख्या कीजिए। निम्नांकित करो के भार की व्याख्या कीजिये—विक्रय कर, जूट पर निर्यात कर तथा उत्तराधिकार कर।

59130

सार्वजनिक ऋण

1. Under what circumstances and for what purposes are public loans justified ? What do you consider to be the best method for the repayment of public loans ?
किन-किन परिस्थितियो तथा किन-किन उद्देश्यो के लिए राजकीय ऋण न्यायोचित होते हैं ? राजकीय ऋणो के भुगतान के लिए आप किसको सर्वोत्तम तरीका मानते हैं ?

2. What are the circumstances under which and the purposes for which public loans are justified ?
किन-किन परिस्थितियो तथा किन-किन उद्देश्यो के लिए राजकीय ऋणो को उचित ठहराया जा सकता है ?

3. Describe the various methods of debt-redemption. Should a state finance its development works by loans ?
ऋण भुगतान के विभिन्न तरीको की व्याख्या कीजिए। क्या राज्य को अपने विकास की योजनाएँ ऋण द्वारा कार्यान्वित की जानी चाहिए ?

4. Discuss the purposes for which public debts may be incurred. Is the Govt. of India justified in creating public debt for importing food grains from foreign countries ?
उन उद्देश्यो की व्याख्या कीजिए जिनके लिए राजकीय ऋण लिये जा सकते है ? क्या विदेशो से खाद्यान्न के आयात के लिए भारत सरकार को ऋण लेना चाहिए ?

5. Examine critically the various methods for the redemption of public debt.
सार्वजनिक ऋण के भुगतान के विभिन्न तरीको की आलोचनात्मक समीक्षा करें।

6. What are the different forms of Public debts ? Suggest measures by which the burden of public debts may be diminished.
सार्वजनिक ऋण के विभिन्न रूप कौन-कौन हैं ? उन उपायो की व्याख्या कीजियें जिनके द्वारा सार्वजनिक ऋणो के बोझ को कम किया जा सकता है ?

7. When would you justify Public borrowing ? To what extent is growth in Public debt in India in recent years justified ?
किन-किन परिस्थितियो मे आप सार्वजनिक ऋण को उचित ठहरा सकते हैं ? भारत मे हाल के वर्षो मे सार्वजनिक ऋण मे वृद्धि किस हद तक उचित है ?

भारतीय वित्त-व्यवस्था

1. Give a brief outline of the main recommendations of the first Indian Finance Commission (1951).
प्रथम वित्त आयोग (1951) की प्रधान सिफारिशो की व्याख्या कीजिए।